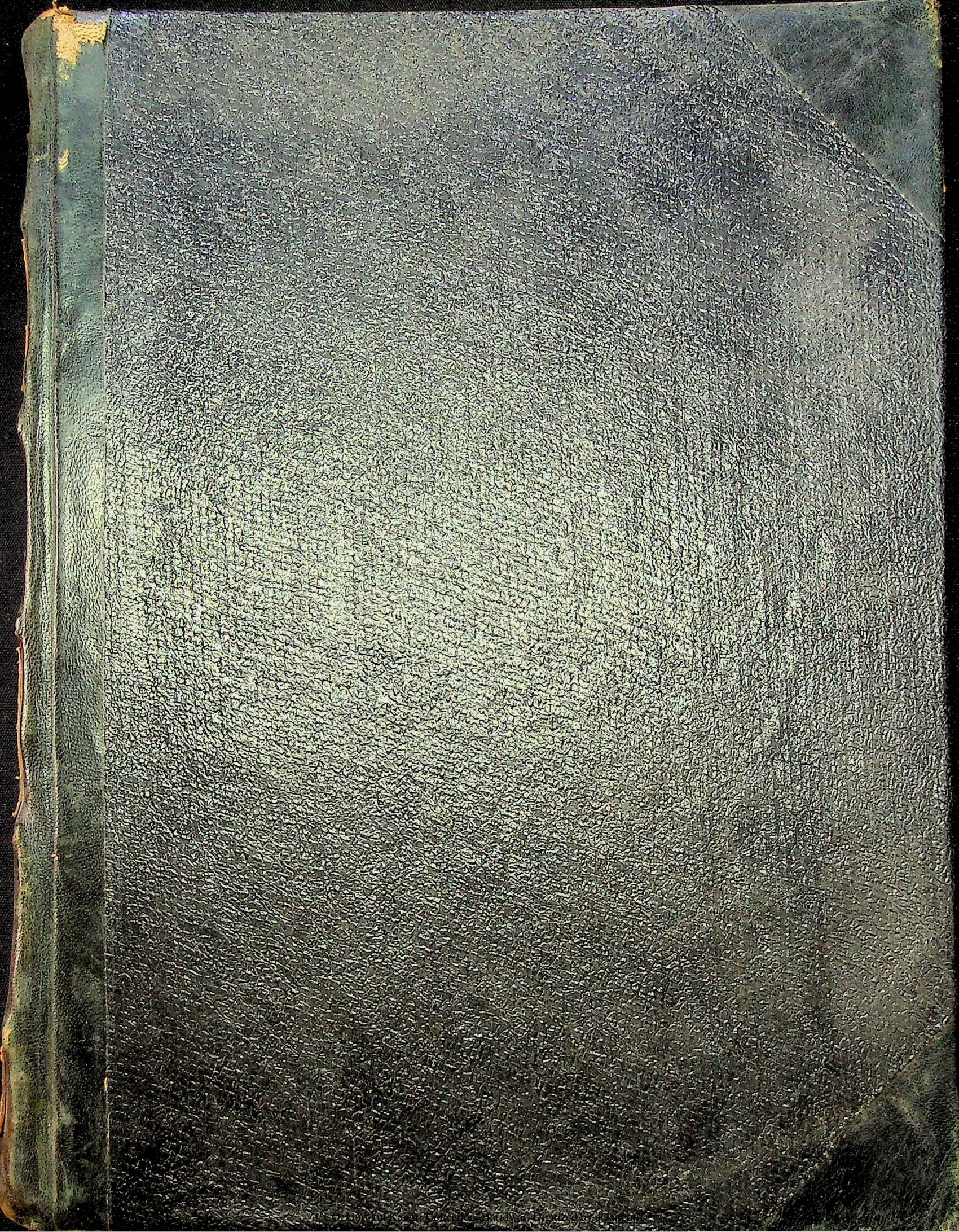

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

151425

151425

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जनवरी १९३२ से दिसम्बर १९३२ तक

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

१३

अंक १

क्रमांक १४५

पौष

संवत् १९८८

जनवरी

सन १९३२

14,VED-D

151425

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =)वी. पी. से ।॥=)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वैदिक धर्म की देरी।

"वैदिक धर्म" का यह (जनवरी) पौषका अंक (क्रमांक १४५) ग्राहकों के पास भेजा जाता है। संपादक अन्यान्य कार्योंमें लगे रहनेके कारण देरी हुई। पाठक क्षमा करें। फर्वरी मासका अंक भी थोडेहि दिनमें ग्राहकों के पास भेजा जायगा। प्रबंधकर्ता "वै० धर्म"

विषयसूची

१	उपासना।	१
२	श्रीगीतादर्शन।	२
३	अथर्ववेदका स्वाध्याय। (कांड १५ संपूर्ण)	१
५	श्रीमद्भगवद्गीता।	२७३

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं। प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद्के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा. व्य.।) है। जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रम से आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है। भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते। परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है। इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपने पास रखे। मूल्य केवल।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक १
क्रमांक १४५

पौष
संवत् १९८८
जनवरी
सन १९३२

वैदिक धर्म.

वैदिक-तत्त्व-ज्ञान-प्रचारक-मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल,औंध, [illegible] सातारा)

उपासना १

त्र्यंबकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ३३ ॥

ऋग्वेद ७। ५९। १२

"तीन प्रकार से संरक्षण करनेवाले, पोषक ईश्वरकी हम सब उपासना करते हैं,इस से संतुष्ट होकर वह ईश्वर हमें मृत्युपाशोंसे मुक्त करें, जिस प्रकार फल पक्व होनेपर वृक्षके बन्धसे मुक्त होता है, वैसे हम भवबन्धसे मुक्त हों। अमृतरूपमोक्ष का संबंध हमारा सदा बना रहे।"

परमश्वर का यश सर्वत्र फैल रहा है, क्योंकि वह हम सब का पोषण करता है, और वही आध्यात्मिक आधिभौतिक, और आधिदैविक इन तीनों कार्यक्षेत्रोंमें हम सबकी रक्षा करता है। उस अमृत देनेवाले देवसे हमारा संबंध सदा बना रहे और वह देव हमें सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त करके मुक्ति का आनन्द हमें देवे।

यह काम, यह क्रोध है, (जो मनुष्यसे, उसकी इच्छाके विरुद्धभी, पाप करा लेता है ।) जो रजोगुणसे (पूर्व संस्कारोद्भव वासना समूहसे) उत्पन्न होता है । यह बहुत खानेवाला (इतनाहि नहीं, कभी तृप्त न होनेवाला) और महापापी (सभी पापोंका प्रेरक) है । अतः इसेहि इस संसारमें तू अपना (परम) शत्रु समझ ।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९

हे अर्जुन, इस कामरूप ज्ञानीके नित्य शत्रुसे जो हुताशनके समान दुष्पूर (आहुतियोंद्वारा) शान्त करनेको कठिन (असंभव) है, (पुरुषका) ज्ञान आच्छादित हुआ करता है ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४०

इंद्रियां, मन और बुद्धि इसके लभिय समय सत्प्रेरणा जाता है । (इनके उपर यह अपना ७ लेता है ।) इनके द्वारा (पुरुषके) ज्ञानको आच्छादित (व्यर्थ) करता हुआ यह आत्माको लुभा लेता है ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१

इसलिये, हे अर्जुन, प्रथम तू इंद्रियोंका नियमन करके (उनको स्वाधीन और सतत सत्कार्यप्रवृत्त बनाकर) ज्ञान और विज्ञान (अनुभव) का नाश करनेवाले इस पापी (काम) का निःपात कर ।

इंद्रियाणि पराण्याहुः इंद्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२

(जिनके द्वारा हम विषयोंका साक्षात्कार करते हैं वे) इंद्रियाँ (विषयोंसे) पर (भिन्न और श्रेष्ठ) हैं । (बाह्य) इन्द्रियोंसे मन (अंतःकरण) श्रेष्ठ है । बुद्धि (अंतःकरणसे किसी विषयके संबंधमें जो निश्चय हम कर लेते हैं वह) मनसेभी श्रेष्ठ है । और जो बुद्धिसे भी परे, अर्थात् उससेभी श्रेष्ठ है, वही ' वह ' (ज्ञेय आत्मा) है ।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३

इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ आत्माका विनिश्चय करके, और अपने आपको अच्छी तरह सम्हाल, सामर्थ्यवान् होकर, जो पकडनेको भी परम कठिण है, उस कामरूप शत्रुको जीत लो ।

इन श्लोकोंका सारांश यह है—

पुरुषको पाप करनेको प्रवृत्त करनेवाला, इसलिये उसका परम शत्रु, उसीके हृदयमें पैदा होनेवाला ' काम ' है । यह इंद्रियां और मनको अपने वश में कर लेता और जीवात्माको पापमें फंसाता है । इसके सामने पुरुषका ज्ञान और अनुभव सब व्यर्थ हुआ करता है । अतः इंद्रियोंका नियमन करके, अपना शाश्वत कल्याण चाहनेवाले पुरुषको इसे जीत लेना चाहिये ।

अब इसका जरा अधिक विचार कीजिये । इस पहुंचती है । वासना (काम) पूर्वजन्मार्जित [illegible] नुरूप हुआ करती है । यह [illegible] (काम) ही सब अनर्थोंका मूल है । जिनकी ओर यह मनको दौडाती है, वे विषय अत्यल्प और क्षणभंगुर सुख (आनंद) देनेके बदलेमें जीवको 'शांति' मृत्यु, जराव्याधि दुःखदोषादिकोंके जालमें चिरकाल फंसा लेते हैं । बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह विषयानन्द और अपना शाश्वत कल्याण इनका विचार करके, दूसरेके लिये पहलेका परित्याग करें ।

२ शत्रुको जीतनेवाला ।

सभी पापोंका प्रेरक और इसलिये अपना परम शत्रु जो ' काम ' उसे स्वाधीन करके धर्माविरुद्ध बनानेके लिये, उसके अधिष्ठानभूत इंद्रियां, मन और बुद्धि इनका निग्रह आत्मार्थी पुरुषका प्रथम कर्तव्य है । मन और इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेको बुद्धिकी स्थिरता अभीष्ट है । जिसने बुद्धिका स्थैर्य संपादन किया है उसे हम ' स्थितप्रज्ञ " कह सकते हैं । इसीका दर्शन आज गीतामें करना है ।

अर्जुन उवाच-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥२।५४

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जिसने अपने बुद्धिको साम्यावस्था प्राप्त होनेतक स्थिर किया है, उस स्थिरबुद्धिवाले पुरुषका क्या लक्षण है? उसका भाषण, आसन, गमन आदि व्यवहार कैसे होना चाहिये?

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५

(विषयेन्द्रियसंयोगसे प्राप्त होनेवाला शारीर सुख, तथा किसी संकल्पकी सिद्धिकी प्रतीक्षा या प्रत्यक्ष सिद्धिमें होनेवाला मानस सुख, अत्यल्प और क्षणभंगुर, तथा सुखरूप आत्माका केवल प्रतिबिंबभूत है,वस्तुतः स्वयं आत्माहि अखंड सुख-स्वरूप, सत्, चित्, आनंदघन हैं, यह समझकर) जो आत्मामेंहि संतुष्ट होता हुआ हृदयस्थ सब कामोंका परित्याग कर देता है, वह (उस अवस्था में) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६

(आत्मामेंहि संतुष्ट होनेका आदि होनेके कारण) (शारीर या मानस) दुःख प्राप्त होनेपर उद्विग्न नहीं होता, तथा जिसकी सुखोंकी स्पृहा भी नष्ट हुई है, और जो स्नेह, भय और क्रोध इन विकारों से भी मुक्त हुआ है, वह स्थिरबुद्धि पुरुष 'मुनि' कहा जाता है।

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०

(बुद्धिको स्थिर करनेका) प्रयत्न करनेवाले विद्वान् पुरुषका भी मन, उसकी बलवान् इंद्रियां जोरसे हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१

उन सभीका संयम करके, उनको मेरी ओर लगाओ। जिसकी इंद्रियां स्वाधीन हुई हैं, उसकी बुद्धि भी स्थिर रहती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि॥ ६७

जिस समय इंद्रियां विषयोंका सेवन करती रहती हैं उस समय यदि मन भी उनका अनुसरण करे, तो वह (मानसिक संस्कार) हि पुरुषकी बुद्धिको (कालांतरसे प्राप्तसदृश अवस्थामें) आकृष्ट करता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४

इंद्रियोंको अपने वशमें रखता हुआ, और मनका राग या द्वेष उनके साथ न रहते हुए, जो आत्मार्थी पुरुष विषयोंका सेवन करता है वह प्रसाद-निर्मलत्व-विषयोंसे विरक्ति प्राप्त कर लेता है।

आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठम् समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०

प्रतिपल परिपूर्ण किया जानेवाला किन्तु अपनी प्रतिष्ठासे अचल, ऐसे समुद्रमें जलप्रवाह जिस [illegible] हैं,(और उसीमें लीन हो जाते हैं) [illegible] षयोंसे संबद्ध) सब 'काम' जिसके हृदयमें प्रवेश करनेपर भी उसे विचलित न करते ही उसमें लीन हो जाते हैं, वह पुरुष शान्ति प्राप्त करता है, न कामासक्त।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैतां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२

ऐसी (बुद्धिकी स्थिरता हि) 'ब्राह्मी अवस्था' (जिसकी परम सीमा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' 'अहं ब्रह्मास्मि।' ऐसा साक्षात्कार है।) है, जिसको प्राप्त करनेपर, पुरुष मोहसे अलिप्त रहता है, और मृत्युके समय भी इसीमें रहता हुआ, (जन्ममृत्युको पार करके) परम गति निःश्रेयसको प्राप्त होता है।

अब इन श्लोकोंका मनन कीजिये। जिसे अपने शत्रुको जीतना है, उसे समर करना पडता है और समरविजयी पुरुषको रथकी आवश्यकता है। यह कौनसा रथ है? देखिये—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुः॥ कठ उप०

यह संसारी जीव शरीररूपी रथपर सवार हुआ है। रथका गंतव्य है—

Jain Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तत्पदम् यस्माद्भूयो न जायते।

वह परमात्मपद जिसको प्राप्त करनेपर जन्ममृत्यु नष्ट होते हैं। मनरूपी ग्रहसे इन्द्रियरूप अश्वोंको रोककर मार्गपर रखता हुआ तथा लक्ष्य (परमात्मा) की ओर लगाई हुई बुद्धिसे प्रदर्शित पथका आक्रमण करता हुआ, अन्तमें जीव परम धामको पहुंच जाता है।

३ पार्थसारथि।

पार्थ, यह जीव (पृथाका पुत्र) शरीररूपी रथ पर सवार हुआ है। इसने अपना सारथि बुद्धिको परमात्मामें लगाकर, मानो उसेहि प्रत्यक्ष अपना सारथि बना लिया है, क्योंकि-

'शिष्यस्तेऽहं, शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥'

इस प्रकार अनन्य भावसे शरण आये हुए पुरुषकी बुद्धिमें कृपालु भगवान् स्वयं समय समय सत्प्रेरणा करते रहते हैं।

पार्थसारथि, स्वयं भगवान्, श्रीकृष्ण चन्द्रजीका दर्शन उन्हींके उपदिष्ट गीतामें करनेके समान पुण्यप्रद दूसरा क्या हो सकता हैं?

अपना 'विभूतियोग' विस्तारसे कथन करनेके अनंतर दशमाध्यायके अंतमें भगवान् कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥१०।४२

हे अर्जुन, तूने मेरी विभूतिके संबंधमें अबतक जो कुछ जान लिया है, उसमें बडा महत्व तो है हि नहिं। क्योंकि मैं एकहि अंशसे समग्र विश्वको व्याप्त करता हुआ शेषतो अव-शिष्टहि हूं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ ४।८

इस कथनके अनुसार परमात्मा दुष्टोंका संहार, भक्तोंका संरक्षण और विश्वका कल्याण करनेके लिये, समय समय पर जो अवतार लेते हैं, जो लीलाविग्रह धारण करते हैं, वे सप्रयोजन होनेके कारण, उस विशिष्ट प्रयोजनके सिद्ध होनेके बाद, अंतर्हित हो जाते हैं। वह भगवान् का वास्तविक स्वरूप नहीं है। भगवानके भक्तोंको चाहिये की वे उनका वास्तविक रूपहि जान लें।

स्वस्वरूपके संबंधमें भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ ४।६

(वस्तुतः) अजन्मा (और इसलिये) अविनाशी होनेपर और प्राणिमात्रका अंतर्यामी और नियामक होनेपरभी, (परित्राणाय साधूनां आदि प्रयोजनसे अवश्य होनेपर, अन्य जीवोंके समान प्रकृतिके वश न होकर उस) अपनी प्रकृतिको आधीन करके, अपनी (दूसरी शक्ति)माया सें मैं अवतार धारण करता हूं।

श्रीरामचंद्र, भगवान् श्रीकृष्ण, अथवा अन्य किसी अवतारविशेषके संबंधमें भगवद्भावना धारण करनेवाले भक्तके हृदयको 'आज वे उस रूपमें प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं हैं' इस सत्यसे चोटसी पहुंचती है। भगवत्स्वरूपसंबधी इस विप्रतिपत्ति के कारण भक्त तडपता रहे, यह उचित नहीं। प्रल्हाद या ध्रुव सरीखे भक्तके लिये सशरीर होनेवाले भगवान्का वास्तव और शाश्वतरूप अशरीर हि है इस सत्य को जाननेके बादहि भक्त 'शांति' पा सकता है। पंचमाध्याय के अन्तमें भगवान् कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥५।२९

यज्ञरूप तपस्या जहां कहां भी होती रही हो, उसका भोक्ता मैं हि हूं। तथा अखिल विश्वका एकमात्र नियंता होनेके कारण, उस तपस्याका उचित फल देनेवाला भी मैंहि हूं। इतनाहि नहीं, भूतमात्रका परम सुहृद् भी मैं हूं। इसप्रकार जो मुझे जान लेता है, वही शांति प्राप्त कर सकता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ६।३०

जो मेरा अनन्य भक्त मुझे सर्वदा और सर्वत्र समव्याप्त देखने लगा है, उसका और मेरा वियोग, भला कैसे हो सके?

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय॥ ७।६-७

यह विश्व मुझसे उत्पन्न होकर मुझमेंहि विलीन होता है। इसलिये किसी कालमें मेरे सिवा और कुछ है हि नहीं।

पाठकवृन्द, भगवद्दर्शनसे आप कृतार्थ हो गये। आपसरीखे भक्तोंको स्वयं भगवान् कौनसे आदेश देते हैं यह अब देखना है।

भगवद्भक्त

इस दुर्लभ मानवजीवनका परम और चरम साध्य सच्चिदानंदघन परमात्माकी प्राप्ति है, यह जिन्होंने जान या मान लिया है, उन्हें हम भगवद्-भक्त कह सकते हैं। इस साध्यके सिद्धयर्थ अनुष्ठान करते हुए भक्तके चित्तको समय समयपर, अनेक शंकाकुशंकाएं उद्विग्न करती रहती हैं। उनका निवारण करके, साधकको अपने पथपर दृढ कर-नेके लिये, भगवान् श्रीकृष्ण चंद्रजीने गीतामें जगह जगह जो आश्वासन दिये हैं, उनका अब मनन कीजिये।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥१८।६६

'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इस न्यायसे अनिवार्य-तया यदि तेरे हाथोंसे कुछ पाप हो गया हो तोभी शोक मत कर। प्रायश्चित्तादि विधानोंसे पाप-निवृत्ति होगी' ऐसा भरोसा न हो, तो उन्हेंभी छोड दो और मुझे शरण आ, मैंहि सब पापोंसे तुझे मुक्त करूंगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ ४।३६

सब पापियोंसे अधिक पापी होनेपरभी, (मुझ संबंधी सत्य) ज्ञान रूपी नौकाके सहारें तूं उस पापको पार करेगा।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥ ६।४

हे अर्जुन, मेरा भक्त 'कल्याणकृत्' होनेके कारण इस जीवनमें या इसके उपरान्त उसकी दुर्गति संभवती नहीं।

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९।१२

जो मेरे भक्त अनन्य भावसे मुझे शरण आते हैं, उनके योगक्षेमका भार मैं स्वयं मेरे ऊपर लेता हूं। इतनाहि क्यों?

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥१२।७

उनका इस जन्ममृत्युपरंपरासे भी मैं शीघ्रहि उद्धार करता हूं। इसलिये—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥१८।६५

मुझमें मन लगाओ, मेरा भक्त बनो, सब हि 'कर्म' मेरेहि लिये किया करो, और मेरेहि सामने अपना सिर झुकाओ। मुझे तू प्रिय है, इसलिये प्रतिज्ञापूर्वक तुझे कहता हूं, कि ऐसा करनेपर तू मुझेहि प्राप्त होगा।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ १२।४

अपनी इन्द्रियोंको स्वाधीन रखकर, (सभीका अंतर्यामी मैं हूं ऐसी) समबुद्धि धारण करके, सतत प्राणिमात्रके हितके लिये जो उद्यत रहते हैं, वे मुझे हि प्राप्त होते हैं।

गीतोक्त साध्यसाधनविवेक

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीयोंका एक प्रधान तत्व-ज्ञानग्रंथ है, जो श्रीकृष्णार्जुनसंवादके रूपमें लिखा गया है।

तत्वज्ञानका विषय है जीवजगत् और जगन्नि-यंता, और उसका अधिकारी है, वह जीव जिसे—

'कोऽहं, कथमिदं जातं, को वा कर्तास्य विद्यते?'

अर्थात् 'मैं' कौन हूं? यह चराचर विश्व कैसे निर्माण हुआ? तथा, इसका कर्ता कौन है? यह जिज्ञासा हुई है।

व्यतिरेकसे, जो जडवादी और मंदबुद्धि महा-शय स्थूल शरीरके परे, इस स्वानुभूत 'मैं' के अस्तित्वकोहि नहीं मानते, किंवा उसके संबंधमें संशय करते हैं, और जिनके लिये जीवनका प्रयोजन 'खाना, पीना और मजेमें रहना' इतनाहि है, वे तत्वज्ञानके अधिकारी नहीं है। अस्तु।

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

गीताग्रन्थमें श्रीकृष्णकी भूमिका है स्वयं भगवान् की-परमात्माकी, और अर्जुन है संसारको प्राप्त हुआ आत्मा-जीव।

संसारको प्राप्त हुए जीवात्माका साध्य क्या है? और उस साध्यको सिद्ध करनेके साधन कौनसे हैं? इन प्रश्नोंका उत्तर गीता क्या देती है यह देखना है।

गीताके सभी अध्यायोंके नामोंको योग शब्द जोड दिया गया है। योग शब्दका अर्थ है मीलन—एक हो जाना। इससे गीताका साध्य आत्मा और परमात्माका मीलन है यह बात सूचित होती है।

पहले अध्यायका नाम है 'अर्जुनविषादयोग।' ऊपर कहा है कि अर्जुनके मानो है यह संसारी जीव। स्वयं सद्बुद्धि धारण कर, सन्मार्गका अनुसरण करनेवाला पुरुषभी जगत्के व्यवहारोंसे ऊब उठता है। ऐसे पुरुषने अपने विषादका उपयोग 'योग' साधनसा, परमात्मप्राप्तिके साधनसा करना चाहिये, यह प्रथमाध्यायके नामसे व्यक्त होता है।

दूसरा अध्याय हैं 'सांख्य योग'। यह विषादप्राप्त पुरुष यदि अर्जुनके समान परमात्माके वचनोंसे ज्ञानोपदेश हृदयंगम करके, तदनुसार 'कर्म' का अनुष्ठान करता है, तो वह अपने साध्यकी ओर उत्तरोत्तर अधिकाधिक अग्रसर हो, अन्तमें उसे प्राप्त कर सकता है।

पाठक इसी प्रकार सब अध्यायनामोंका रहस्य स्वयं जान सकते हैं। संसारको प्राप्त हुए जीवका साध्य गीता क्या बनाती है? यह देखनेके पूर्व, हमें देखना चाहिये कि प्रत्येक जीव अपना साध्य क्या समझता है, वह क्या चाहता है? इस दृष्टिसे विचार करनेपर यहि जान पडता है कि—

"सुखार्थमिह जन्तूनां प्रायः सर्वाः प्रवृत्तयः"

प्रत्येक जीव "सुख" चाहता है, और उसके लियेहि प्रयत्न करता है। परंतु समस्त संसारमें आजतक क्या कोई पुरुष सुखी हुआ है? सुखोपभोगोंसे तृप्त हुआ है? उसे 'शान्ति' मिली है? संसारके सभी 'सुखोंमें' पुरुष स्त्रीसुखको परम सुख समजता है। उस सुखको भोगते भोगते स्वयं जीर्ण शीर्ण हुए, किन्तु अतृप्त रहे, ययाति राजाने अपने पुत्रसे तारुण्य लेकर फिर उसका भोग किया। किन्तु क्या वह तृप्त हुआ? उसीके शब्दोंमें सुनिये—

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥

यह कामाग्नि कभी शान्त होनेवाला नहीं है। भोगोंकी आहुतियों द्वारा वह बढताहि जाता है। तात्पर्य, जीव सुख चाहता है, इंद्रियभोगोंसे सुख प्राप्त करनेका यत्न करता है, किन्तु उसे तृप्ति, शान्ति, सच्चा सुख नहीं मिलता। अब गीता क्या कहती है देखिये—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमान् चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ २।७

समस्त संकल्पोंका परित्याग करके, किसी अभिलाषाको हृदयमें न रखता हुआ जो व्यवहार करता है, जिसका 'अपना' पन नष्ट हुआ है, तथा जिसका (परमात्मासे भिन्न "मैं" एक देहधारी जीव हूं यह) अहंकार भी विलीन हो गया है, वही शान्ति-सच्चा-सुख पाता है।

इस अवस्थाको 'ब्राह्मी स्थिति' कहा है, जो प्राप्त होना परम कठिन है। किन्तु सच्चा सुख चाहनेवालों को दूसरा मार्गहि नहीं है।

यह साध्यका सितारा निश्चित हो चुकनेपर, उसके सिद्धयर्थ जो अति दीर्घकालतक अनुष्ठान करना पडता है, उस साधकावस्थामें पुरुषका आचरण कैसे होना चाहिये यह अब देखना होगा।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिंद्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥५।११

(योगिनः) हजारोंमेंसे कोई बिरलेहि भाग्यवान् पुरुष, जो सच्चिदानंदस्वरूप परमात्माकी प्रतीतिको सच्चा सुख और मनुष्यजीवनका साध्य जानकर तत्सिद्धयर्थ उद्यत हुए हैं, (आत्मशुद्धये) अपनेहि हृदयमें उस प्रभुका साक्षात्कार करनेके लिये अपने आपको विशुद्ध बनानेके उद्देशसे, (कायेन मनसा बुद्धया) अपना शरीर, मन, तथा

बुद्धिके द्वारा (अपि वा केवलैः इंद्रियैः) अथवा, उन्होंने अपना शरीर,मन,तथा बुद्धि मुझे समर्पणकी होनेके कारण, केवल इंद्रियोंसेहि, (संगं त्यक्त्वा) आसक्ति छोडकर (कर्म कुर्वन्ति ।) कर्म करते हैं।

अपने सच्चे सुखस्वरूपको भूल बैठा हुआ जीव, अक्षय्य सुख, जिसकी उसे चाह है,और जिसे बाहरसे प्राप्त करनेके प्रयत्नमें यह सदा लगा रहता है, कैसे प्राप्त कर सकता है, यह अब सुनिये।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ ५।२१

बाहरसे जो सुख या दुःख प्राप्त होते हैं उनकी स्पृहा तथा घृणा करना छोड देनेपर साधकको आत्मरतिमेंहि जो अंतःसुख मिलता है, वहि अंदर और बाहर सर्वत्र और सर्वदा समव्याप्त ब्रह्मरूप परमात्मामें, उसका अंतकरण लगा होनेके कारण अक्षय्य हुआ करता है।

यह अक्षय्य सुख ब्रह्मरूप हो जानेपरहि मिलता है और वही जीवका साध्य है।

यह कौन और कैसे प्राप्त करते हैं ? देखिये—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् ऋषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ ५।२५

जिनके समस्त दोष क्षीण हो जानेके कारण जो 'ऋषि' पदवीको प्राप्त हुए हैं, जिनके हृदयसे द्विधाभाव नष्ट हो चुका है, जिन्होंने अपने (मन और इंद्रियोंको) स्वाधीन कर लिया है और जो प्राणिमात्रके हितसाधनमें रममाण रहते हैं वे परमगति ब्रह्मभावको प्राप्त होते हैं।

इस दृष्टिसे पाठकवृन्द शेष ग्रंथका मनन स्वयं कर सकते हैं।

गीताका साधनसोपान

गीतामें, 'शान्ति' (निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति। २।७१) 'अक्षय्य सुख' (स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते। ५। २१) 'परमं श्रेयः' (परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ। ३।११) 'संसिद्धि' (कर्मणैवहि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। ३। २०) 'ब्रह्मनिर्वाण' (लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं ऋषयः क्षीणकल्मषाः। ५। २५) परमा गति'(ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म,..स याति परमां गतिम्। ८। १३) 'परम धाम' (यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम। १५। ६५) 'परमात्मप्राप्ति' (ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। १२।१४) इत्यादि भिन्न भिन्न नामोंसे जिस एकही साध्य 'निःश्रेयस्' का निर्देश जगह जगह हुआ है, उस जन्ममृत्युसे मोक्षरूप, जीवके परम साध्यका साधनसोपान गीतामें किस प्रकार प्रदर्शित किया गया है, इस संबंधमें कुछ विचार करना है।

जहां साध्यका निर्देश हुआ है, उसी स्थानपर साधनकाभी मिलता है, यह स्पष्ट होनेके लिये उपर स्थाननिर्देशसहित श्लोकार्ध उद्धृत किये गये हैं।

गीता ग्रन्थका उद्देश्य 'सभी साधन संप्रदायोंका यावच्छक्य समन्वय करना' होनेके कारण, उसमें उनका उल्लेख होना अवश्य अपरिहार्य था। इसीसे तत्तत्संप्रदायके अभिमानी आचार्योंको गीता प्रमुखतया मेरेही संप्रदायका पुरस्कार करती है' ऐसा प्रतिपादन करनेका अवकाश मिला है। किन्तु बात ऐसी नहीं दिखायी देती। गीता सिर्फ इतनाही कहती है,"मनुष्य जन्मको प्राप्त हुए भाग्यवान् जीवों! मेरे भक्त बनो और जन्ममृत्यु पार करो।'

साधकका जैसा अधिकार हो, वैसाहि साधनका उपदेश उसे गीता देती है। कर्मके अधिकारीको गीता कहती है, 'आसक्ति छोडो और परहितार्थ कर्म करो।' (तदर्थं कर्म कौंतेय, मुक्तसंगः समाचर। ३।९) जिज्ञासुको उपदेश देती है, 'सत्य ज्ञानको प्राप्त करनेपर तू सभी पापोंसे मुक्त होगा।' (सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। ४। ३६) ध्यानयोगके अधिकारीको "एकांतमें रहकर योगीको आत्मशुद्धिके लिये चित्तैकाग्र्य रूप ध्यानयोगका अनुष्ठान करना चाहिये" (योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। ६। १०) ऐसी आज्ञा देती है। तो भक्तको प्रतिज्ञापूर्वक विश्वास देती है कि "मेरा भक्त नाशको नहीं प्राप्त होता।" (९। ३१) पाठकोंको चाहिये कि वे गीता ग्रंथका परिशीलन किसी संप्रदायके पूर्वग्रहसे न कर गीतोपदेशको आचरणमें लेनेके उपदेशसे करते रहें,जिससे बहुत लाभ हो सकता है।

धर्म अथवा वर्णाश्रमधर्म ठीक रीतिसे पालन होनेपर कोई किसी प्रकार किसीपर अत्याचार करहि नहीं सकता। श्रुतिस्मृतिके नियम उच्च वर्णियोंको कष्टतर और नीच वर्णियोंको सुखप्रद ही हैं।

ब्राह्मण लोग विनापरिश्रम मीठे पदार्थ खाते हैं, ऐसा दीखता है, परंतु उनके पीछे जो तपस्याका धर्मनियमाचरण लगाया है वह देखा जाय तो कोई दूसरा वर्णीय मनुष्य ब्राह्मण बननेकी इच्छाहि नहीं करेगा। क्षत्रियोंके अधीन बडा अधिकार है ऐसा प्रतीत होता है परंतु क्षत्रियको राज्यशकट चलानेका तो दुःखदायी कार्य है, उसके लिये ये अधिकार उसके साथ रहनाही आवश्यक है। वैश्य पूंजीपति इसी लिये होता है कि उसका यह संग्रहित धन राष्ट्रके हितके लिये खर्च करनेका पुण्य प्राप्त हो। ये त्रैवर्णिक आयुष्यका प्रथम भाग ब्रह्मचर्याश्रम में तपस्या का कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, उस में इनके लिये भोग की प्राप्तिहि नहीं है। ब्रह्मचर्यके पश्चात् बीस पचीस वर्ष गृहसौख्य भोगते हैं, पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास ये तपस्याकेहि आश्रम लेते हैं। वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करनेके पूर्व द्विज प्रायः सर्वमेध यज्ञ द्वारा अपनी कमाई सब राष्ट्र के लिये त्याग देता है, जाती की भलाई के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करता है। इसप्रकार वैदिक धर्म में धर्माचरण करनेवाला ब्राह्मण पोप नहीं, क्षत्रिय क्षत्रप नहीं और वैश्य भी पूंजिपति नहीं। अर्थात् आजकल के ये निन्दनीय शब्द वैदिक धर्मियोंके लिये प्रयुक्त करना बडा अन्याय करना है। जहां प्रत्येक गृहस्थी इष्ट, मित्र पारिवारिक जन नौकर चाकर आदि सब का भोजन यथायोग्य रीतिसे होनेके पश्चात् ही स्वयं भोजन करनेवाला होता है, परिचारकोंके पूर्व कोई गृहस्थी का भोजन होना असंभव है, और वह भोजन भी अवशिष्ट अन्न का होगा, वहां विषमतावाद उपस्थितहि कैसे हो सकता है? वर्णाश्रमधर्म समतावाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका विशेष विवरण करनेका स्थल यहां नहीं है, तथापि संक्षेपसे यह बात यहां दर्शायी है, उतनी वैदिक धर्मके साम्यवाद का निदर्शन करनेके लिये पर्याप्त है। ये चार वर्ण मिलकर एक राष्ट्रदेह होता है, देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
ऋ० १०।९०।१२

"ब्राह्मण इस समाज का मुख है, क्षत्रिय इस समाज का बाहू बनाया है, जो वैश्य है वह इस समाज का ऊरू है, और पांवोंके लिये शूद्र है।" इस तरह ये चार वर्ण राष्ट्रपुरुष के चार अवयव के लिये माने हैं। जैसा सिर, बाहु, ऊरु और पांव ये शरीर की सुस्थितिके लिये आवश्यक हैं, समतावादी के मतानुसार शरीरमें केवल सब अवयव सिर, अथवा सर्वत्र बाहु, किंवा सब स्थानपर पांव ही पांव बनाये जांय तो अनिष्ट होगा, उसी प्रकार समाज की सुस्थिति के लिये भी सब लोग केवल ब्राह्मण, केवल क्षत्रिय, केवल वैश्य अथवा केवल शूद्र बनाये अथवा प्रत्येक मनुष्यमें सब वर्णोंकी खिचडी बनानेका यत्न किया जाय, तो भी समाज की आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती। वैसा होनेपर समाज असुर बनेगा, और उसमें आर्यत्व न रहेगा। इसका कारण यह है कि—

मनकी विषमता।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। ऋ० १०।७१।७

"आंखवाले और कानवाले सभी लोक समानतया होते हैं, परंतु ये सब मनके वेगमें विषम होते हैं।" इस लिये उनमें विषमता रहती है। समतावादी मनोवेगका विचार नहीं करते, इस लिये फंसते हैं। और वैदिक वर्णाश्रमधर्ममें इस मनोवेगका विचार उत्तम रीतिसे किया है, इसी लिये यह एकहि धर्म जगत् का उद्धार करनेके लिये समर्थ है।

अर्जुन उवाच- अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच- हे वार्ष्णेय! अथ केन प्रयुक्तः अयं पूरुषः, अनिच्छन् अपि बलात् नियोजितः इव, पापं चरति ? ॥ ३६ ॥

अर्जुनने पूछा- हे श्रीकृष्ण! अब (यह बतलाओ कि) किसकी प्रेरणासे यह मनुष्य, इच्छा न रहनेपरभी, बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश, पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

भावार्थ— मनुष्यकी इच्छा पाप करनेकी ओर न होते हुए भी, किसीके आधीन होकर कार्य करनेके समान, यह मनुष्य किसी किसी समय पापाचरण करता है मनुष्यकी ऐसी प्रवृत्ति किस हेतुसे होती है ?

ऊपर लिखित चारों वर्णोंमें क्षत्रियका और शूद्रका धर्म कष्टप्रद है यह बात सत्य है, और ब्राह्मणका और वैश्य का घरबैठा व्यवहार होनेके कारण उस प्रकारके कष्ट इनमें नहीं है यह बात भी सत्य है। परंतु उनमें बिलकुल कष्ट नहीं है ऐसी बात नहीं है। एक वर्णके धर्ममें एक प्रकार के कष्ट हैं तो दूसरे वर्ण के धर्म में दूसरे प्रकार के कष्ट हैं और एकमें एक प्रकार का सुख है, तो दूसरेमें दूसरे प्रकारका सुख है। विचार करनेपर पता लग जायगा कि सब वर्णों के लिये सुख और कष्ट समानतया बांटनेका यत्न धर्मस्थापकोंने किया है और यदि कुछ विशेष किया है तो यही है कि उच्च वर्णियोंको तपका जीवन अधिक रखा है और निचले वर्ण को भोग का जीवन अधिक रखा है।

इस प्रकार प्रत्येक वर्ण में कुछ कष्ट और कुछ सुख है, इसी लिये अपना जन्मप्राप्त स्वधर्म-विषयक कर्तव्य का त्याग करके दूसरेका धर्म सुसाध्य प्रतीत होता है, इस लिये उसका स्वीकार करना मूढता का कार्य है। जिसका जो कर्तव्य स्वभाव से प्राप्त है, स्ववर्णसे आया है, सहजन्म-सहज-से हि प्राप्त हुआ है, वही उसको सुकर है। दूसरे का कर्म आज सुकर प्रतीत हुआ, तो भी अन्तमें वह भ्रम था ऐसा ही अनुभव होगा। और स्वधर्मत्याग और परधर्मानुष्ठान करनेका यत्न अन्तमें हानिकारक हि सिद्ध होगा।

इसीलिये कहा है कि (स्वधर्मे निधनं श्रेयः) स्वधर्म आचरण करते करते मरण आगया, तो भी वह कल्याणकारी होगा, परंतु परधर्म के आचरणसे कुछ अभ्युदय होता है ऐसा भी प्रारंभ में प्रतीत हुआ, तो भी वह (परधर्मो भयावहः) परधर्म भयंकर हानिकारक है।

हानिकारक होते हुए मनुष्य क्यों उस पाप कर्म में प्रवृत्त होता है, कौनसा अन्दरका भाव है जिससे यह मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है, यह उत्तम प्रश्न यहां अर्जुनने किया है, यह प्रश्न और उसका उत्तर अब देखिये—

(३६) प्रत्येक मनुष्य पापाचरण के लिये तुला होता है ऐसी बात नहीं। प्रायः मनुष्य जानताभी है कि, पापका फल दुःख है और इस कारण वह पापसे बचना भी चाहता है, बचने का यत्न भी करता है। परंतु इसकी पाप न करनेकी इच्छा होनेपरभी किसीके दबावमें आनेके समान यह मनुष्य पापकर्म में खींचा जाता है, और इच्छा न रहनेपरभी इससे पाप होता है। बचना चाहता हुआ भी बचता नहीं है। यह क्या चमत्कार है? कौन इसको पापकर्ममें प्रवृत्त करता है? मनुष्यका

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(१२) पापप्रवृत्तिका कारण ।

श्रीभगवानुवाच— काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः— रजोगुण-समुद्भवः महाशनः महापाप्मा एषः कामः, एषः क्रोधः (अस्ति; त्वं) एनं इह वैरिणं विद्धि ॥ ३७ ॥ यथा धूमेन वह्निः, यथा च मलेन आदर्शः आव्रियते; यथा उल्बेन गर्भः आवृतः, तथा तेन इदं आवृतम् ॥ ३८ ॥

रजोगुणसे उत्पन्न हुआ, बडा खानेवाला और बडा पापी, यह काम और यह क्रोध (मनुष्यका प्रेरक है । परंतु तू) इसको इस लोकमें शत्रु समझ ॥३७ जिसप्रकार धूवेंसे अग्नि और मलसे दर्पण ढका जाता है और जैसा झिल्लीसे गर्भ वेष्टित होता है, उसी प्रकार इस (काम)से यह सब (ज्ञान) आच्छादित होता है ॥ ३८ ॥

ऐसा कौन चालक है जो इसको घसीटे लेजाता है और पाप करवाता है ?

अर्जुनका यह प्रश्न श्रवण कर श्रीभगवान् श्रीकृष्ण उसका उत्तर देते हैं ।

(३७-४१) अर्जुन ने प्रश्न किया था कि "मनुष्यकी इच्छा न होते हुए भी मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति क्यों होती है?" इसके उत्तर में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन! मनुष्य के इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें काम रहता है, वह मनुष्य की इच्छा न होनेपर भी उसको पापकर्ममें प्रवृत्त करता है। यह काम सदा भूखा और पापमें प्रवृत्त रहता है, कभी कितना भी भोग प्राप्त हुआ तथापि तृप्त और शान्त नहीं होता। जैसा काष्ठों और घी से अग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार भोगोंसे यह काम कदापि शान्त नहीं होता। यह मनुष्यका शत्रु है और यह मनुष्य के ज्ञान विज्ञान को घेर कर मनुष्य के कल्याण का नाश करता है। इस लिये कोई मनुष्य इस काम के आधीन न बने, परंतु सब इंद्रियोंका संयम करके इस को रहनेके लिये अपनी इंद्रियोंमें कोई स्थान मिलने न दें।"

छः शत्रु!

मनुष्य के छः शत्रु हैं, उनके नाम काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये हैं। इन शत्रुओंका मुखिया काम है, क्यों कि कामके कारणहि अन्य शत्रु मनुष्यमें रहते हैं। देखिये—

कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः ॥ भ० गी० २।६२

"कामसे क्रोध होता है और क्रोधसे मोह होता हैं।" कामसे लोभ भी होता है इसी प्रकार अन्यान्य विकार भी होते हैं। अतः काम मुख्य है और शेष विकार उसके अनुयायी हैं। यह काम ही मनुष्यका प्रेरक है। यहां काम शब्दका अर्थ स्त्रीविषयक भोगभावना है, इसके अतिरिक्त काम का अर्थ 'इच्छा' भी है—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! नित्यवैरिणा एतेन दुष्पूरेण कामरूपेण अनलेन ज्ञानिनः ज्ञानं आवृतम् ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानं उच्यते । एषः एतैः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति ॥ ४० ॥ हे भरतर्षभ! तस्मात् त्वं आदौ इन्द्रियाणि नियम्य, ज्ञानविज्ञाननाशनं एनं पाप्मानं प्रजहिहि ॥ ४१ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! सबके नित्यवैरी, कभी तृप्त न होनेवाले इस अग्नि सदृश कामसे ज्ञानीका ज्ञान ढक जाता है ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (कामरूपी शत्रु) का निवास स्थान कहा जाता है, यह (काम) इनके द्वारा ज्ञानको आच्छादित करके देहधारी जीवात्माको विशेष मोहित करता है ॥४०॥ हे भरतश्रेष्ठ! इसलिये तू पहिले इन्द्रियोंका संयम करके, ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापीका परित्याग कर ॥ ४१ ॥

भावार्थ— रजोगुणसे काम और कामसे क्रोध उत्पन्न होता है। यह काम सदा अतृप्त, भूखा और मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति करनेवाला है। अतः यह मनुष्यका शत्रु है। इस काम और क्रोधसे मनुष्यका ज्ञान नष्ट होता है। मनुष्यके इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें यह घर करके निवास करता है और यह मनुष्यके ज्ञानको घेर कर उसको मोहित करता है। इसलिये मनुष्य संयम द्वारा अपने सब इन्द्रियोंको स्वाधीन करे और ज्ञानविज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी शत्रुकी संगति छोड देवे ॥ ३७-४१ ॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्द-न्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

ऋग्वेद १०।१२९।४

"(अग्रे यत् मनसः प्रथमं रेतः आसीत्) प्रारंभमें जो मनका पहिला वीर्य प्रकट हुआ वह काम (अर्थात् प्रवृत्ति शक्तिरूप काम) हुआ। यही (असति सतः बन्धुं निरविन्दन्) असत् सृष्टि के अन्दर सत् आत्माके साथ संबंध करनेवाला है, यह बात ज्ञानी लोगोंने मनमें विचार कर निश्चित की है।"

इस मंत्रमें कहा है कि सृष्टिके प्रारंभमें ईश्वरके मनसे जो वीर्य प्रकट हुआ वह काम है। काम का अर्थ सृष्टि निर्माण करनेकी इच्छा, कार्य करनेकी इच्छा, अपनी शक्ति प्रकट करने की इच्छा, निवृत्ति छोड प्रवृत्तिमें आनेकी इच्छा। यही काम गृहस्थाश्रमियोंमें स्त्री की प्राप्तिकी इच्छासे प्रकट होता है और संतान निर्माण करने की इच्छा इसी काम का एक अंश गृहस्थाश्रमियों में निवास करता है।

गृहस्थीका परोपकार।

वस्तुतः देखाजाय तो यह काम जो परमेश्वरके

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मनसे प्रारंभ में प्रकट हुआ, उसमें सब जीवोंपर उपकार करनेकी इच्छा प्रधानतया थी। सब जीवोंको मुक्तिधाम का मार्ग खुला हो जावे, इस लिये सृष्टि निर्माण करनेका काम आप्तकाम परमेश्वरके मनमें प्रकट हुआ। इसी प्रकार गृहस्थियोंके मनमें जो सन्तानोत्पत्तिका काम उत्पन्न होता है, वह यदि धर्ममर्यादातकहि नियमित रहा, तो उसमें भी जीवोंपर उपकार करनेकी ही भावना है। पाठक यहां आश्चर्ययुक्त न हों और गृहस्थी के गर्भाधान करनेमें परोपकार कहां है ऐसा कह कर इस गंभीर विषयका उपहास न करें। यह गर्भाधानका विषय भी धर्मानुकूल रहनेपर परोपकारका हेतु हो सकता है। विवाहबंधनसे जो स्त्रीपुरुष एकत्रित होते हैं, उनके एकत्र सहवासमें धर्मनियमके अनुसार देखा जाय तो कामुकताका गन्ध भी नहीं है। शुद्धाचारके स्त्रीपुरुष अपना संयम चलाते हुए और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, जो गर्भाधानार्थ सहवास करते हैं, उस से जीवात्माओंको इस कर्मभूमिमें आकर अपना मुक्तिधामका मार्ग आक्रमण करनेके लिये पवित्र अवसर मिलता है। यह अवसर देना बडे परोपकार का कर्तव्य है। जिन जीवोंने पूर्व जन्ममें मुक्तिका आधामार्ग काटा है और जो शेष मार्ग शीघ्र आक्रमण करना चाहते हैं, वे योगभ्रष्ट लोग संयमी योगियोंके घरोंमेंहि जन्म लेते हैं। वे सामान्य आचारभ्रष्टों के घरोंमें नहीं आसकते, क्योंकि कहा है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥४३॥

भ० गी० ६।४१-४३

"पुण्य करनेवाले लोग जिस लोक को पाते हैं, उसे पाकर, वहां दीर्घ कालतक रहकर, योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र योगसाधनसंपन्न योगी के घर जन्म लेता है। किंवा वह ज्ञानयोगी के ही घर जन्म लेता है। संसारमें इस प्रकार का जन्म अत्यंतहि दुर्लभ है। वहां उसे पूर्वजन्मके बुद्धिसंस्कार मिलते हैं और वह वहां से मोक्ष के लिये आगे प्रगति करता है।"

इस तरह पाठक जान सकते हैं कि संयमी योगी जो गर्भाधान के लिये सहवास करते हैं, वह अपने कामसुखके लिये नहीं, प्रत्युत योगी जीवोंको आगेका मार्ग आक्रमण करनेका अवसर दिलानेके लियेहि है। वस्तुतः यह काम इतना परोपकार का हेतु है, परंतु यह सामान्य भोगी जीवोंके आधीन होनेके कारण इतना तिरस्करणीय हो गया है। यहां जिस भोगरूप काम का तिरस्कार किया है, वह यही हीन काम है। यह रजोगुणसे उत्पन्न होता है, इस विषयमें देखिये—

रजोगुणसे काम।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥७॥
संजयति रजः कर्मणि भारत ॥९॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ॥१५॥
रजसस्तु फलं दुःखं.....॥१६॥
रजसो लोभ एव च (जायते) ॥१६॥

भ० गी० १४।७-१७

"रजोगुण भोगतृष्णा और आसक्तिका मूल है, यह देहधारी को भोगप्राप्तिके लिये कर्मपाशोंमें बांध देता है॥ रजोगुण कर्ममें मनुष्यको प्रवृत्त करता है॥ जब मनुष्यमें रजोगुण बढता है, तब उसमें लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका प्रारंभ करनेकी रुची, मनकी अशान्त वृत्ति, और इच्छा का उद्गम होता है॥ रजोगुणमें मृत्यु होनेसे कर्मसंगी लोगोंमें जन्म होता है॥ रजोगुणका फल दुःख है तथा रजोगुणसे हि लोभ होता है॥" रजोगुण

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

का इस प्रकार वर्णन चौदहवें अध्यायमें है और अठारहवें अध्यायमें देखिये—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥२४॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८
भ० गी० अ० १८

"जिससे सब भूतों में भिन्न भाव, भेदभाव दीखता है वह राजस ज्ञान है॥ जो भोग की इच्छासे होता है, जो अहंकारसे कर्म किया जाता है, और बडे परिश्रमसे जो कर्म होता है वह राजस कर्म है॥ जो भोगी, कर्मफल भोगनेकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसाशील, अपवित्र और हर्ष तथा शोक करनेवाला है, वह कर्ता राजस कहलाता है॥ जिससे धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य के विषयमें अयोग्य विचार होता है वह राजस बुद्धि है॥ जो विषयों और इंद्रियों के संबंधसे होता है, जो प्रारंभमें मीठा लगता है परंतु अन्तमें विष जैसा प्रतीत होता है उसको राजस सुख कहते हैं॥"

इससे रजोगुण का क्या परिणाम है यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। इस का तात्पर्य यह है—

"रजोगुणसे भोगवृत्ति बढती है, भोगतृष्णा असह्य होती है, फलासक्ति होती है, भोगप्राप्तिके लिये कर्म होते हैं, मनुष्य लोभी बनता है, मन अशान्त होता है, सब कुछ सुख मुझे चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, इस प्रवृत्तिसे दुःख बढता है, भेद और कलह बढते हैं, अहंकार की वृद्धि होती है, बडे परिश्रम से भोग संपादन करनेका यत्न होता है, हिंसा अर्थात् दूसरे का घातपात करनेकी वृत्ति बढती है, अपवित्रता बढती है, किसी समय हर्ष और बहुत समय शोक होता है, धर्म अधर्म का विचार नहीं होता, कर्तव्य और अकर्तव्य नहीं दीखता, विपरीत अर्थात् असत्य ही सत्य प्रतीत होता है, इंद्रियोंके विषयोपभोग बहुत भोगनेकी वृत्ति बढती है, यह विषयसुख पहिले मोहकसा प्रतीत होता है और अंत में यही विषके समान नाशक सिद्ध होता है। अर्थात् इस रजोगुणसे दुःखही बढता है।" सारांश से यह वर्णन पूर्वोक्त गीताके श्लोकोंमें कहा है। इस प्रकारके रजोगुणसे यह काम उत्पन्न होता है और कामोपभोग में विघ्न आने लगा तो कामीकोही क्रोध उत्पन्न होता है।

बडा पेटू काम।

यह काम (महा-अशनः) बडा खानेवाला है, इसने कितना भी खाया तो भी इसका पेट भरता नहीं। यह सदा भूखा रहता है। कामी मनुष्य को कितने भी भोग प्राप्त हों, वह कदापि तृप्त नहीं होता, आगे और भोग चाहिये ऐसाही यह कहता जाता है। भोग प्राप्त करनेमें कितने भी पाप करने पडें, उस का विचार यह नहीं करता, इस लिये इसको (महापाप्मा) बडा पापी कहा है। सब पाप इस काम के आश्रयसे हि होते हैं। हिंसा, घातपात, कर्तव्य न करना और अकर्तव्य करना, खानपानका विधिनिषेध न धारण करना, ये और ऐसे अनेक पाप इसीके कारण होते हैं। जिसप्रकार अग्नीपर धूम्र का आवरण होता है और दर्पणपर मलका आच्छादन हाता है, उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मापर इस कामका आवरण है, किंवा मानो मनुष्यके अन्तःकरण पर यह आवरण है। इसी आवरणके कारण मनुष्य मोहित होता है और कर्तव्यसे भ्रष्ट होता है।

यह कामरूपी अग्नि (दुष्पूरः) कभी शान्त न

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

होनेवाला है। कितनीभी इसमें भोगकी आहुतियां डालीं, तथापि यह शान्त नहीं होगा। यह काम का गढा कभी भरता नहीं, इसमें कितनेभी भोग डालो, यह सदा खाली ही रहता है। साथही साथ यह (महा-पाप्मा) बडा पापी है। पापकी ओर प्रवृत्ति करनेवाला यह है। भोगी मनुष्य अपने भोग प्राप्त करनेके लिये क्या क्या पाप करेगा, इसका कोई पता नहीं है। यदि धर्माचरण करनेसे उसको भोग प्राप्त हुए तो वह धर्माचरण करेगा, परंतु यदि धर्माचरण करनेसे उसके भोगोंमें कुछ न्यूनता हो जाय, तो वह पापाचरण करनेमें भी पीछे नहीं हटेगा। सब पाप प्रायः भोगवृत्ती बढानेसेहि होते हैं। इसलिये कामको यहां 'बडापापी' (महापाप्मा) कहा है। जो पापी होता है वही मनुष्यका वैरी होता है, शत्रु कहलाता है। क्यों कि पापसे दुःख होता है और दुःख देना शत्रुत्वका चिन्ह है।

यहां कई कहेंगे कि जो लोग बहुत समयतक भोगोंमें प्रवृत्त होते हैं और पाप कर्म करनेसे भी भोग प्राप्त करते हैं, क्या वे सदाके लिये गिर जाते हैं ? क्या उनको उद्धारकी कोई आशा नहीं है ? इस प्रश्नके उत्तरमें अगला श्लोकहि कहता है कि ऐसे भोगी लोग सदाकेलिये अन्दरसे बिघड जाते हैं ऐसी बात नहीं है, यह एक उनके शुद्ध आत्मापर आवरणसा आता है। जैसा अग्निपर धूवां, दर्पणपर मल, और गर्भपर झिल्ली होता है उसी प्रकार इसकी आत्मापर कामका-भोगेच्छा-का आवरण होता है। इन तीनों उपमाओंमें पाठक देखें कि, धूवेंके अन्दर प्रदीप्त होने योग्य अग्नि विद्यमान रहती है, मलके आवरण के बीचमें दर्पणका शीशा जैसा का वैसा शुद्ध रहता है और झिल्लीके अन्दर सुन्दर बालक जीवित और जाग्रत रहता है, वैसीही भोगकी इच्छाके अन्दर आत्मा रहता है, सदाके लिये बिगडता नहीं। अग्निको धमनीसे वायु दिया तो अग्नि प्रदीप्त होती है, दर्पण धो दिया तो पुनः स्वच्छ शीशा बनता है और झिल्ली हटानेसे अन्दरसे सुन्दर बालक निकल आता है, इसी प्रकार संयमसे भोगेच्छा को दूर किया, तो शुद्ध आत्मा अपनी निज शक्तियों के साथ प्रकट होता है !! अर्थात् जैसा धूवां रहनेतक अग्नि जलती नहीं, ऊपर मल रहनेतक दर्पण में मुख नहीं दीखता, और झिल्लीके अन्दर वेष्टित होनेतक अन्दरका बालक जगत्का अनुभव नहीं करता, इसीप्रकार भोगेच्छा प्रबल रहनेतक हि भोगीका आत्मा अशक्त-सा प्रतीत हाता है। अतः उसको सदाके लिये पतित समझना अयोग्य है तथापि जबतक भोगोंके विषयमें प्रबल इच्छा रहेगी, तबतक उस आत्माकी निज शक्तियोंका प्रकाश होना सर्वथा असंभव है और भोगेच्छा रहनेतक दुःखोंसे छूटनाभी अशक्य है। और इनके संस्कारभी इनके ऊपरसे हटनेके पश्चात् कुछ कालतक अवश्य कष्ट देते रहेंगे।

यह काम (ज्ञानिनः वैरी) ज्ञानी का वैरी है अर्थात् यह ज्ञानीके साथ कभी नहीं रहता। सत्य ज्ञान होते ही इसका नाश होता है। जिस प्रकार सूर्य के साथ अंधेरेका वैर है, उसी प्रकार ज्ञान के साथ काम का वैर है। भगवान् शंकरने अपना तृतीय ज्ञाननेत्र खोलकर उसके तेज से मदन को जला दिया, ऐसी कथा पुराणोंमें है। इस कथामें भी श्रीशंकरको "कामारि (काम+अरि)" काम का शत्रु कहा गया है। काम और मदन एक ही हैं और श्रीशंकर पूर्ण ज्ञानी हैं। अतः इनका नाम 'उमा-पति' (उमा=विद्या) विद्यापति ज्ञानी है। यह ज्ञानी होनेसेही यह कामको जला सका। जो ज्ञानी नहीं होता वह कदापि काम का नाश नहीं कर सकता। इस कथा से भी काम ज्ञान का वैरी है यह बात सिद्ध होती है। जहां काम होगा वहां ज्ञान नहीं रह सकता और जहां ज्ञान है वहां काम नहीं बढ सकता। इसी लिये ब्रह्मचर्य आश्रममें ज्ञानार्जन करनेका कार्य आवश्यक कर्तव्य है ऐसा लिखा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

है, क्योंकि उस आश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रममें विवाहादि होनेपर यदि यह काम के आधीन बना, तो ज्ञान प्राप्त करने का कार्य कठिन हो जाता है। यह काम ज्ञानका वैरी है इसी लिये (एतेन ज्ञानं आवृतं) यह ज्ञानको घेरता है। ज्ञान का मुख्य इंद्रिय मन और बुद्धि है, जब इस को यह काम घेरता है तब वहां मूढता छायी जाती है। जैसा शत्रुका सैन्य कीले को घेरता है और कीलेके अन्दर के वीरोंका संचार रोकता है, इसी प्रकार यहां यह काम मनबुद्धिको घेरता है और उनकी स्वतंत्रता का नाश करता है। अर्थात् ऐसे समय मनबुद्धि कामके आधीन होती है और जिस मार्गसे यह लेजाता है, उसी मार्गसे मनबुद्धि जाती है।

अर्जुनके प्रश्नका उत्तर यहां इस तरह मिला है। इच्छा न रहनेपर भी मनुष्य पाप किस कारण करता है, यह अर्जुनका प्रश्न था। इसका उत्तर यह है कि जब कामके द्वारा मनबुद्धि घेरी जाती है और कामके वशमें हो जाती है, तब उसका स्वामी काम हो जाता है और कामही उसका चालक होता है। शरीरका वास्तविक चालक और स्वामी आत्मा है,तथापि वह शत्रुके आधीन हुआ होता है। राज्य शत्रुके आधीन होकर राजा शत्रुके जेलखानेमें पडने के समान अवस्था यहां बन जाती है। इस तरह जो पराधीन-कामाधीन-बनते हैं वे कामके द्वारा अर्थात् शत्रुके द्वारा चलाये जाते हैं। अतः वे कामकी आज्ञानुसार भोगोंमें फंसते हैं और पापमें प्रवृत्त होते हैं। अतः सब लोक इस कामको अपना (नित्य वैरी) शत्रु समझें और संयमसे इसको दबाये रखें, इसको प्रबल होने न दें। 'निष्काम' बनने के मुख्य हेतुका पता पाठकोंको यहां लग सकता है।

यह (कामरूपः अनलः) कामरूप अग्निहि है। यह अग्नि यदि किसी मनुष्यके शरीरमें लगा, तो वह इस मनुष्यक सब सुखोंको और कल्याणोंको जलाता है। अतः इस अग्निको शान्त करना चाहिये। यदि इसमें भोगकी लकडियां और विषयसुखोंका घृत डाला जाय, तो यह अधिकाधिकहि प्रदीप्त होगा, और अधिकहि जलायेगा। अतः इसके आसपासका भोगेच्छा का घास काटना चाहिये, संयम और दमनका तथा निग्रह का जल इसपर डालना चाहिये और वैराग्य के पत्थरपर इसको रखना चाहिये। जिससे इसको प्रदीप्त होनेके लिये कुछ न मिलेगा, और यह स्वयं शान्त होगा और आगे किसी को कष्ट नहीं देगा। परंतु जो मनुष्य भोग बढाकर इस काम को शान्त करना चाहते हैं, वे बडी गलती करते हैं, उनके प्रयत्नसे यह बढता है और सर्वस्वकी आहुती लेता है। अतः 'असंग' शस्त्र से इस का नाश करना चाहिये।

मनुष्य की मनबुद्धीमें यह रहता है, 'मैं तुम्हारा हित करूंगा' ऐसा बहाना करके मनुष्यके मनको अपने ढंगोंके पास आकर्षित करता है और इस प्रकार भुलावा देकर अपना अधिकार मनपर जमा लेता है। इसलिये मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये और काम के आधीन नहीं होना चाहिये।

तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥(४१)

"इसलिये तू पहिले इंद्रियोंका संयम करके, ज्ञान विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापीका त्याग करो।" इस काम का त्याग कर अथवा नाश कर। इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, यह उपाय है जिससे-केवल इसी उपायसे-कामको दबाया जा सकता है। दूसरा उपाय नहीं है।

इस श्लोकमें दो प्रकार से पदच्छेद होता है एक (प्रजहिहि) परित्याग कर, और दूसरा (प्रजहि) मार डाल, नाश कर। यहां दूसरे पदच्छेद की अपेक्षा पहिला अच्छा है। क्योंकि 'काम' का नाश-पूर्ण नाश-प्रारंभमें अभीष्ट नहीं है, परंतु उसको धर्मयुक्त बना देना अभीष्ट है। इस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

१४ श्रेष्ठ शक्ति।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥ [१६२]

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अन्वयः- इंद्रियाणि पराणि आहुः, इंद्रियेभ्यः मनः परं, मनसः तु बुद्धिः परा, यः तु बुद्धेः परतः सः (आत्मा अस्ति) ॥४२॥ हे महाबाहो! एवं (आत्मानं) बुद्धेः परं बुद्ध्वा, आत्मना आत्मानं संस्तभ्य, कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि ॥४३॥

शरीरसे इंद्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इंद्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, और जो बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है वह (आत्मा है) ॥४२॥ हे महाबाहु अर्जुन! इस प्रकार (आत्माको) बुद्धिसे भी श्रेष्ठ जान कर अपनी शक्तिसे अपना संयम करके इस दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश कर ॥४३॥

भावार्थ- शरीरपर अधिकार इंद्रियोंका है, इंद्रियोंपर मन का प्रभुत्व है, मन पर बुद्धि अधिकार चलाती है, बुद्धिपर आत्माका शासन है। अर्थात् आत्माका शासन सबपर है। यह बात ठीक प्रकार जानकर ,आत्माकी सर्वोपरि शासक सत्ताका अनुभव करके, आत्माकी निज निश्चयात्मक शक्तिसेहि आत्माका समाधान करके, अर्थात् आत्माको शान्त करके, मनुष्य इस दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश करे ॥४२-४३॥

लिये उसके नाश की अपेक्षा प्रथम उसको दूर रखना योग्य है। धर्म की जिस समय आज्ञा होगी, उस समय उसको अपने पास बुलाना, धर्मकी आज्ञानुसार कार्य करना और फिर उसको दूर करना योग्य है। यदि उसका बिलकुल नाश किया जाय, तो उससे यह कार्य नहीं हो सकता। त्यागने का अर्थ है 'अपने पास सदा न रखना, दूर रखना;' और मारना तथा नाश करनेका अर्थ है 'उसका अस्तित्व ही मिटा देना।'

अस्तु। आगे यही विषय अन्य रीतिसे कहा है, इसलिये वह भाग अब देखिये—

आत्मशासन।

(४२-४३) मनुष्यके शरीरमें किसका शासन चलना चाहिये, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस का सबको विचार करना चाहिये। हमने (श्लो० ३७-४१ में) इससे पूर्व देखा है कि रजोगुणसे उत्पन्न हुआ 'काम' नामक शत्रु इस शरीरमें शासन चलाता है; कामके पीछे समय समयपर क्रोध रूपी दूसरा शत्रु भी यहां अपना शासन जमा लेता है; किसीसमय लोभ, मोह, मद (घमंड) और मत्सर इन महा रिपुओंमें से कोई एक यहां का राज्य चलाता है। यह बात हम देखते हैं और अनुभव करते हैं, कि इस शरीररूपी महाराज्यमें समयसमयपर किसी न किसी शत्रुका राज्य-शासन होता है!! अतः विचार करना पडता है कि वास्तविक रीतिसे यहां किसका शासन होना चाहिये? इस शरीररूपी महाराज्यका सच्चा राजा कौन है? यदि कोई सच्चा दूसरा सम्राट् है, तो विचार करना चहिये कि वह रहता कहां है,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उसकी शक्ति क्या है, उसके होते हुए भी ये शत्रु उसके राज्यपर अधिकार क्यों चलाते हैं ? इसका विचार करनेके लियेही ये दो श्लोक यहां आये हैं और इनमें सच्चा सम्राट् आत्मा है यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात बतायी है।

इस शरीरमें कार्य करनेवाली आत्माकी शक्तियोंके विचार का नाम है "अध्यात्मविचार" इस अध्यात्मविचार के अनुसार "आत्मा" यहां का सम्राट् है, अतः इसी का शासन यहां चलना चाहिये। आत्माकी सहधर्मचारिणी सम्राज्ञी बुद्धि है, आत्मा बुद्धिके साथ विचार करके यहां का शासन चलाता है। आत्मा और बुद्धीके नीचे इस का सेनापति मन है और इसके आधीन सब प्रांतोंके अधिकारी हैं। कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये ज्ञानके प्रांत हैं, तथा हाथ, पांव, मुख, मूत्रद्वार और मलद्वार ये कर्मके प्रांत हैं। इन दस प्रान्तोंके अतिरिक्त अनेक विभाग इस शरीरमें हैं, परंतु उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त दस प्रांतोंपर इस सम्राट् आत्माराम के अधिकारी कार्य करते हैं, परंतु समय मिलनेपर और आत्मारामके भोले स्वभाव के कारण प्रत्येक प्रांत का अधिकारी-सूभेदार-अपने प्रांतमें स्वतंत्र बनता है और वहां अपने मन के अनुसार, जैसा चाहे वैसा, वर्ताव करने लगता है!! कई प्रसंगोंमें एकसे अधिक प्रांतोंके अधिकारी मिलकर सम्राट् आत्माराम के शासन का विरोध भी करते हैं, और यहां ये असत्याग्रह और असहकार भी करते हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक अपने स्वार्थ के लियेही प्रयत्न करता है और सबकी भलाई में अपनी भलाई देखनेवाला इनमें कोई नहीं है।

कई अधिकारी बहुत समय 'कामक्रोध' आदि दुष्ट शत्रुओंको वश होते हैं और सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र रचते हैं!! समय समय पर इस का ऐसा परिणाम होता है कि, उक्त षड्यंत्रमें इस आत्मा का पूर्ण पराजय होता है और इसका साम्राज्य पूर्णतया शत्रुके आधीन हो जाता है। इस आत्माराम के सब अधिकारी ऐसेही अविश्वास रखने योग्य हैं और जिस समय यह इनपर पूर्ण विश्वास रखता है, उस समय इसी प्रकार फंस जाता है। इसी लिये इन श्लोकोंमें इस आत्माको अपना अधिकार जमानेका और (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपनी निज शक्ति से अपने शासन की स्थिरता करके, अपने राज्यमें घुसे हुए शत्रुओंको परास्त करनेका उपदेश किया है।

आत्मा मुख्य और श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त है, यह सर्वशक्तिमान् और इसीका शासन सर्वतोपरि है। प्रत्येक मनुष्य यह बात मनमें स्थिर रखे कि मेरे आत्माका शासनहि इस शरीर में चलना चाहिये। मैं अपने आत्माको ऐसा दृढ और ऐसा बलवान बनादूंगा, कि जिससे मेरे आत्माकाही शासन यहां चलेगा।

मैं अपनी धर्मपत्नी बुद्धिको धर्मानुकूल चलनेवाली और मेरी वशवर्तिनी बनाऊंगा। समय-समयपर काम आदि शत्रुओंको यह आश्रय देती है और यह उनके वश हो जाती है और मुझ आत्माको भी बुरी संमति देती है। परंतु अब मैं इसके ढंग चलने नहीं दूंगा। मेरी धर्मपत्नी मेरे हि आधीन रहे, स्वेच्छाचारी न बने। मेरे मन आदि सब अधिकारी भी शत्रुको वश होकर मेरे विरुद्ध बलवा नहीं मचायेंगे, ऐसा मैं सावध रहूंगा। और मेरा शासनही यहां चलेगा।

इस प्रकार विचार करके आत्माका शासनहि यहां चलाना चाहिये। और यहां शत्रुको किसी भी समय ठहरनेके लिये थोडासा भी स्थान नहीं देना चाहिये—

शरीरको चलानेवाली इंद्रियां हैं, यह प्रत्येक का अनुभव है। आंख स्थान देखता है और पांव वहां शरीरको लेजाते हैं। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियाँ शरीरको चलातीं हैं। ये सब इंद्रियां ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ-मनके आधीन हैं। यदि मन किसी इंद्रिय के साथ संयुक्त न रहा,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तो वह इंद्रिय कोई कार्य कर नहीं सकता। जिस के साथ मन होता है वही इंद्रिय अपना कार्य करता है। आंख अथवा कान खुले रहनेपर भी यदि मन साथ न रहा तो आंख देख नहीं सकते, और कान सुन नहीं सकते। इसी प्रकार अन्य इंद्रियोंके विषयमें है। अतः मनके आधीन ये इंद्रियाँ हैं।

ऐसेहि बुद्धिके अधीन मन और बुद्धि आत्माके आधीन है। इस तरह सबपर आत्माका शासन चलता है। प्रबुद्ध आत्माका यही वैभव है। सब इंद्रियों और अवयवोंको सुशिक्षा देनेके लिये जो योगसाधन में विविध प्रक्रियाएं लिखीं हैं, वे इन सब को आत्माके शासनमें रखनेके लिये ही हैं।

संयम।

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी यह शक्ति जानें और उस निज शक्तिका साक्षात्कार करें। और उस निज शक्तिको कार्य करनेमें समर्थ बनावे। यहां जाननेकी पहिली बात यह है कि मैं बुद्धिसेभी ऊपर के स्थानमें रहनेवाला आत्मा हूं और मेरा शासन यहां चलना चाहिये। यह साक्षात्कार कैसे होगा? इसका उत्तर (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपनी निश्चयात्मक बुद्धिसे अपने मन आदि सब इंद्रियोंको स्वाधीन रखने से यह निज शक्तिका साक्षात्कार होगा। जब तक संयम नहीं होगा, तबतक अपनी निर्बलता ही प्रतीत होगी। इंद्रियसंयम, दमन और मनोनिग्रहसे आत्मशक्ति बढती है और निग्रह न होने से आत्मा की निर्बलता होती है।

यहां "आत्मशासन" का पाठ दिया है, अपना ही संयम अपन करना है, (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) यहां अपने दोष हुए तो अपने आपको स्वयं हि दंड देना चाहिये, और अपना दिया हुआ दण्ड स्वयं हि भोगना चाहिये। यहां दूसरा शासक कोई नहीं है। जो इस प्रकार आत्मशासन अपने ही ऊपर करेगा, वही उन्नत होगा।

दूसरेपर शासन करना, दूसरोंको आज्ञा देना दूसरेपर हुकुमत चलाना सुगम है, प्रत्येक मनुष्य न्यूनाधिक प्रमाणसे यह कर सकता है। परंतु सबसे कठिण बात जो है वह आत्मशासन की है। अपने दोष के लिये स्वयं अपने आपको ऐसा कडा दण्ड देना कि जैसा साधारण मनुष्य दूसरे को देता है। यही आत्मसुधार के लिये अत्यंत आवश्यक है। यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां दिया है। जो पाठक आत्मोन्नति करना चाहते हैं, वे इस ढंगसे आत्मशासन द्वारा अपनी उन्नति का साधन करें।

जिस कामरूप शत्रुको दूर करनेको (श्लो० ४१ में) कहा है, वह यदि दूर न हुआ, अथवा दूर होकर भी वारंवार आकर उपद्रव मचाने लगा, तो उसका नाश इस प्रकार आत्मशासन द्वारा करना चाहिये। इसलिये यहां (कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि) कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर ऐसा कहा है। पहिले कहा था कि उसको दूर रख और धर्ममर्यादा के अनुसार उससे काम ले। परंतु यदि वह अनिवार्य होगया और अधिक उपद्रव देने लगा, तो उसका नाशहि करना चाहिये यह दूसरा उपदेश यहां दिया है। श्रीभगवान् शंकर का काम को जलाना ज्ञानकी अंतिम सीमा का कार्य है।

आत्माको नाम 'इन्द्र' है, अतः आत्माकी शक्तिकोहि इंद्रिय कहते हैं। इस इन्द्र के वृत्रादि अनेक शत्रु हैं, वेहि घेरनेवाले काम आदि रिपु हैं, यही इंद्रे (इंद्रियों अर्थात) देवोंका राजा है। पुराणों में जो देवासुरयुद्ध हैं, इन्द्रवृत्रयुद्ध वेद में भी हैं, वे सब बहुत अंशमें इसी अध्यात्मक्षेत्र के युद्ध हैं। अस्तु।

श्लोक ४१ में 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इस स्थानके 'सः' शब्दसे 'आत्मा' का ग्रहण करना योग्य है, परंतु कोई कहते हैं कि यहां 'सः' शब्द से 'काम' का ग्रहण करना चाहिये, क्यों कि आगे उसीका नाश करनेका विधान है। परंतु उपनिषद् के वचन में भी बुद्धिसे परे आत्माके

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

होनेका ही उल्लेख है, देखिये—

इंद्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
कठ उ० १।३।१०-११

"इंद्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे (परः महान् आत्मा) श्रेष्ठ महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वसे (अव्यक्त) मूलप्रकृति श्रेष्ठ है, अव्यक्त मूलप्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है, इस पुरुष से कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, क्यों कि यही सब की सीमा और सब की अंतिम गति है।" श्रीमद्भगवद्गीताके विधानसे इस में अधिक विस्तारसे वही बात कही है। शरीरसे इंद्रियां श्रेष्ठ हैं क्योंकी इंद्रियां शरीरको चलाती हैं, इंद्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं क्यों कि ये विषय इंद्रियोंके उत्पादक और प्रेरक हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है क्यों कि इन विषयोंका त्याग करना अथवा स्वीकार करना मनके आधीन रहता है, मनसे बुद्ध श्रेष्ठ है क्योंकि किसी के विषयमें निश्चय करके संकल्पविकल्पात्मक मनका नियमन करना इसी बुद्धिका कार्य है, बुद्धिसे महत्तत्व श्रेष्ठ है क्यों कि इसी से (अहं-प्रत्यय मैं हूं ऐसा अनुभव आता है, अव्यक्तसे मूलप्रकृति श्रेष्ठ है, क्यों कि मूल प्रकृतिही अव्यक्त महत्तत्त्वका कारण है। और इस मूल प्रकृतिसे पुरुष, चेतन आत्मा स्वयं चेतन होनेसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार आत्मा किंवा पुरुष सबसे श्रेष्ठ है। यहां 'पुरुष' शब्द है इस लिये अन्तिम आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता के विषयमें कोई शंका नहीं। उपनिषदोंके सिद्धान्तही गीतामें आगये हैं, अतः संभवतः इन उपनिषद् के मंत्रों सेहि भ० गीताके "इंद्रियाणि पराणि०" ये श्लोक बनाये गये हैं। इस लिये 'परतस्तु सः' इस स्थान पर 'सः' शब्दसे 'आत्मा' का ग्रहण होना योग्य है न कि 'काम' का। इस विषयमें कठोपनिषद् के आगेके दो मंत्र देखिये—

इंद्रियेभ्यः परं मनः मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥
कठोप० २।३(६)।७-८

"इंद्रियोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे (सत्त्वं उत्तमं) बुद्धि अधिक उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, बुद्धिसे (महान् आत्मा) महत्तत्त्व श्रेष्ठ है; महत्तत्त्वसे अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति श्रेष्ठ है। मूलप्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है, यह पुरुष व्यापक और (अलिंगः) निर्गुण किंवा अतर्क्य है। जिसको जानकर मनुष्य बन्धनसे मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त होता है।"

कठोपनिषद् में ये दोनों प्रकारके मंत्र हैं। अब गीताके साथ इन कठोपनिषद् के वचनोंकी तुलना करेंगे और उससे क्या बोध मिलता है इसका विचार करेंगे—

गीता.	कठ अध्याय	कठ अध्याय
३।४२-४३	१।३।१०-११	२।३(६)।७-८
शरीर	शरीर	शरीर
इंद्रिय	इंद्रिय	इंद्रिय
.....	अर्थ	.....
मन	मन	मन
बुद्धि	बुद्धि	सत्त्व
.....	महान् आत्मा (अहंकार)	महान् आत्मा (अहंकार)
—	अव्यक्त (प्रकृति)	अव्यक्त (प्रकृति)
सः	पुरुषः	व्यापकः पुरुषः

इस कोष्टक को देखनेसे पता लग जायगा कि, कठापनिषद् के प्रथमाध्यायमें 'अर्थ' अर्थात् इंद्रियोंके विषयोंका उल्लेख अधिक है, जो गीता में तथा कठ उपनिषद् के द्वितीयाध्याय में नहीं है। तथा कठोपनिषद् के दोनों अध्यायोंमें 'बुद्धि' और 'पुरुष' के मध्यमें '(महान् आत्मा) महत्तत्त्व और (अव्यक्त) मूल प्रकृति' ये दो तत्त्व अधिक कहे हैं, जो भ० गीतामें कहे नहीं हैं। भ० गीतामें बुद्धिके ऊपर 'सः' कहनेसे यह नहीं सिद्ध होता

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कि बुद्धि और 'सः' के बीचमें कुछ भी नहीं है. अधिकसे अधिक इतनाही कहा जा सकता है कि, यहां बीचके दो तत्त्वोंका उल्लेख किया नहीं है। उल्लेख न करनेसे बीचके तत्त्व नहीं हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता। अर्थात् गीतामें चार तत्त्वोंका उल्लेख है और कठोपनिषद् में सात तत्त्वोंका एक स्थानपर और छः तत्त्वोंका दूसरे स्थानपर उल्लेख है. यह कोई विरोध नहीं। एक ने कहा कि पहिली श्रेणीसे सातवीं श्रेणी श्रेष्ठ है और दूसरेने कहा कि पहिलीसे पंचम और पंचमसे सप्तम श्रेष्ठ है तो दोनोंमें केवल विस्तार का भेद है, मूलतत्त्वका कोई भेद नहीं। इसी प्रकार भ० गीतामें संक्षेपसे कहा और कठोपनिषद्में विस्तारसे कहा इतना ही भेद है। तत्त्वका भेद यहां नहीं है। अस्तु, अब 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इस श्लोक के अर्थ के विषयमें थोडा अधिक विचार करेंग। यहां 'सः' शब्दसे 'काम' का ग्रहण है अथवा 'आत्मा'का ग्रहण है इसका विचार कर्तव्य है। इस विषयमें दोनों मतवादियोंका विचार प्रथमतः हम यहां रखते हैं—

"सः=कामः"

"सः" का अर्थ "काम" करनेवाले पहिले आचार्य श्रीमान् रामानुजाचार्य हैं। श्री० भ० मायानन्द चैतन्य जी को भी यही अर्थ संमत है और यही अर्थ स्वीकार करना चाहिये ऐसा कहते हुए उन्होंने निम्न लिखित विचार प्रकट किये हैं— "(१) उपनिषद् का पाठ जैसा का वैसा भ० गीतामें लिया नहीं है, और 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' ऐसा बदल कर पाठ गीतामें दिया है। उपनिषद् से भिन्न पाठ देनेमें कुछ विशेष हेतु है। इस प्रकरणमें (गीता अ० ३।३६-४२ में) कहीं भी 'आत्मा' शब्द नहीं है, अतः 'सः' पदसे यहां 'आत्मा' का ग्रहण नहीं हो सकता। 'सः' शब्द तो पूर्व पदका निदर्शक होता है और ऐसा पद पूर्व श्लोकोंमें 'काम' हि है। (२)इस श्रीकृष्णार्जुन संवादमें 'काम' का विषय चलरहा है, और यहां इस प्रकरणमें आत्माका नाम तक नहीं है, अतः प्रकरण संबंधसे और पूर्वानुवृत्तिसे यहां के 'सः' शब्दसे 'काम' का ग्रहण करना और उसको बुद्धिके परे मानना योग्य है। (३) कई कहेंगे कि काम मनका धर्म होने से बुद्धिके परे नहीं है, परंतु यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।
तै० उ० २।६।१

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति।
बृ० उ० १।२।४

पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत॥
नारा० उ० १

"उसी आत्मा, पुरुष अथवा नारायणने पहिली कामना की थी कि मैं बहुत होऊं" यह पहिला काम आत्मासे हुआ है और यह बुद्धिके परे है। वस्तुतः काम मनका धर्म नहीं, यह चित्त का धर्म है, और चित्त बुद्धि से भी सूक्ष्म है। मन केवल संकल्पविकल्पात्मक है। आजकल मन पर सब चित्त बुद्धिके धर्म आरोपित किये जाते हैं. परंतु शास्त्रदृष्ट्या देखा जाय, तो चित्त कामना करता है। एक बात बुरी है ऐसा निश्चित होनेपर भी जिस काम की प्रेरणासे बुद्धि भी उस बुरी बात की ओर प्रवृत्त होती है वह काम निःसन्देह बुद्धिसे परे है। वासनामूलक अहंकार स्वरूप सूक्ष्म इच्छा ही काम है अतः वह बुद्धिसे सूक्ष्म है। इंद्रियां,मन और बुद्धि ये तीनों व्याप्य हैं और काम इनपर प्रभाव डालनेवाला है अतः वह इनके ऊपर अथवा परे है। 'एकोऽहं बहु स्यां' यह ईश्वर का पहिला काम है, यही सर्वत्र व्याप्त है। बुद्धि से इंद्रियों तक यही काम व्यापक है, अतः यह सबपर प्रभाव करता है। इस काम का यह प्रकरण चल रहा है और इसका बडा प्रभाव है ऐसा यहां कहा गया है। अतः इस प्रकरणमें 'सः' शब्दसे 'काम' का ही ग्रहण करना योग्य है।

इसी विषयमें श्री० आचार्य वि० प्र० लिमये, तिलकमहाविद्यालय, पूना, कहते हैं कि 'यो बुद्धेः

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

परतस्तु सः' इस श्लोकमें 'सः' का अर्थ 'काम' है। उपर्युक्त (कठ २।३।७-८) उपनिषद्वचनमें 'महान आत्मा' का अर्थ 'आत्मा' नहीं है, प्रत्युत 'अहंकार' है। क्योंकि बुद्धिके परे जो तत्त्व है वह अहंकार है और अहंकार का ही दूसरा नाम 'काम' है। इसके ऊपर 'अव्यक्त' (प्रकृति) और उसके भी ऊपर 'परः पुरुषः' (परमात्मा) क्रमसे अधिक श्रेष्ठ हैं। स्वयं गीतामें कहा है कि-

इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
(गी० ३।४२)

"इंद्रिय, मन और बुद्धि (अस्य=कामस्य) इस काम का अधिष्ठान है।" अतः यह इनका अधिष्ठाता है, इसीलिये यह काम बुद्धिसे परे है। वस्तुतः बात यह है कि ईश्वरकी अहंकार अथवा अस्मितारूप मूल वासना किंवा कामना प्रकृतिमें प्रकट होकर जिससे अहंकारबुद्धि और मन बने वही बुद्धिका प्रेरक काम है। और वही 'सः' शब्दसे यहां लेना योग्य है।

यह अर्थ लेनेपर श्लोक ४२-४३ का अर्थ इस प्रकार बनता है— "इंद्रियां शरीरसे श्रेष्ठ, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे जो श्रेष्ठ है वह काम है। इस प्रकार इस कामको बुद्धिका भी प्रेरक मानकर अपने आत्माका आत्मासे संयम करके इस कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर।" इस अर्थके साथ महाभारत के एक श्लोक की संगति है, वह श्लोक देखिये—

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी॥
म० भा० शां० १७७

"अपने देह से जो गिनतीमें सातवां है उस प्रबल शत्रुका नाश करके, अवध्य ब्रह्मपुरी को प्राप्त कर मैं राजाके समान सुखी हुआ हूं।" यहां काम को स्थूल देह से सातवाँ कहा है। शरीर, इंद्रियां, विषय, मन, बुद्धि, अहंकार, काम, इस तरह यह शरीरसे सातवाँ है। अस्तु यह एक पक्षका कथन हुआ। अब दूसरे पक्षके कथन का विचार करेंगे।

"सः-आत्मा"

इस पक्षवाले गीताके अ० ३।४२ में 'सः' शब्द का अर्थ 'आत्मा' मानते हैं। ऐसा माननेवालोंमें प्रमुख श्रीमच्छंकराचार्य हैं, इनके बाद इनके अनुयायी टीकाकार श्रीधरस्वामी, मधुसूदन-सरस्वती आदि हैं, लो० तिलक, म० गांधी आदि आधुनिक अनुवादक भी यही मानते हैं। मराठी भाषाके प्राचीन और सर्वमान्य टीकाकार श्रीज्ञानेश्वरमहाराज अपनी ज्ञानेश्वरी में इस विषयमें कुछ विवरण नहीं करते। श्रीमायानंद चैतन्यजीने हिंदीमें जो ज्ञानेश्वरीका अनुवाद किया है उसमें 'सः' शब्द से 'आत्मा' हि अर्थ किया है। वामन पंडित, मोरोपंत, मुक्तेश्वर, तुकाराम और उद्धवचिद्घन तथा प्रायः सभी सन्तकवि इसी मतके अनुयायी हैं। इनका कथन है कि "अहंकार और मूल प्रकृतिके भी परे जो पुरुष अथवा आत्मा है, उसकी शक्ति सर्वोपरि है ऐसा जानकर उस आत्मा की शक्तिसे अपनी सब इंद्रियोंका संयम करके इस दुर्जय कामरूपी शत्रुका नाश करना चाहिये।"

जहां ऐसे बडे आचार्यों और धुरंधर विद्वानों का मतभेद हो, वहां हम निश्चित मत क्या देसकते हैं? पाठक ही इस का अधिक विचार करके अपने विचारसे इसका निश्चय करें। हम निश्चित मत इस समय यद्यपि कह नहीं सकते, तथापि यहां 'आत्मा' अर्थ लेनेमें जो बहुत आचार्योंकी संमति है, वह देखकर बहुपक्षके अनुकूल अपना मत देना ही इस समय हमें योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायपर विचार।

कर्मयोग।

इस तीसरे अध्यायमें 'कर्मयोग' का विचार किया है। कर्मयोग का मर्म जाननेकी कूंजी इस अध्यायमें है, इतनाहि नहीं प्रत्युत गीताका स्वरूप भी इसी अध्यायके मननसे ज्ञात हो सकता है। कर्म क्यों करना चाहिये, कैसा करना चाहिये, कौनसा करना चाहिये और करनेयोग्य श्रेष्ठ कर्म कौनसा है, इत्यादि विषय इस अध्यायमें स्पष्ट होनेसे यह अध्याय विशेष महत्त्वका है, और इसी कारण इस अध्यायका नाम "कर्मयोग" है।

अर्जुन को कर्तव्य का मोह हुआ और वह मानने लगा कि "मेरे युद्ध करनेसे भीष्मद्रोणादि मरेंगे और गुरुजनोंका संहार होगा।" इस अर्जुन की भ्रान्ति को दूर हटानेके लिये द्वितीयाध्याय के प्रथम भागमें सांख्यमतानुसार "आत्मा अमर है" इत्यादि तत्त्वज्ञान कहा और बताया कि "जैसे ये लोग इस समय यहां हैं, वैसे ही ये पूर्व कालमें थे और भविष्यकालमें भी होंगे। कोई किसी को मार नहीं सकता और कोई मरता भी नहीं।" यह सांख्य तत्त्वज्ञान कहनेके पश्चात् अर्जुन को बताया कि 'तेरा अधिकार कर्म करनेका है, अतः तू युद्धरूप कर्म कर, यद्यपि उक्त ज्ञानसे कर्म गौण है तथापि वही तेरा अधिकार होनेसे तुझे यही करना योग्य है।' इस प्रकार उसको कर्मयोगका उपदेश किया और फिर कहा कि 'निर्मम निरहंकार निस्पृह और निष्काम होनेसे जो ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है वह तो सबसे श्रेष्ठ अवस्था है' ऐसा कहनेसे अर्जुन के मनमें फिर यह शंका उत्पन्न हो गई कि 'यदि कर्ममार्ग गौण है और ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है, तो मैं दोषयुक्त कर्म का आचरण क्यों करूं, क्यों मैं ज्ञानमार्ग से सीधा उन्नत होकर ब्राह्मी स्थितिका आनन्द न प्राप्त करूं?' तृतीयाध्यायके पहिले दो श्लोकोंमें यही प्रश्न अर्जुन करता है और एक उत्तर मांगता है—

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥(२)

"जिससे मेरा कल्याण होगा उसका निश्चय करके उसी (एकं वद) एक मार्ग का मुझे उपदेश कर।" दो मार्गों का उपदेश करनेसे मुझे भ्रम होता है, इस लिये इनमें से कौनसे मार्गसे मैं जाऊं? वह निश्चित मार्ग मुझे बताओ।

मनुष्योंके दो भेद।

यह अर्जुन की शंका ठीक है, यह शंका सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- 'इस लोकमें कई लोग ज्ञाननिष्ठ होते हैं और कई कर्मनिष्ठ होते हैं। ज्ञाननिष्ठोंसे कर्ममार्ग का आचरण ठीक प्रकार न होगा और कर्मनिष्ठोंसे ज्ञानयोग होना असंभव है।" कई लोग तत्त्वज्ञानी होते हैं, वे रातदिन तत्त्वविचार हि करते रहेंगे, उनसे व्यावहारिक कर्म होना असंभव है; और कई लोग कर्म करनेवाले होते हैं, वे कुछ न कुछ कर्म में दंग रहते हैं, इनसे तत्त्वज्ञानका मनन होना असंभव है। प्रायः ये दोनों वृत्तियां एक स्थानपर नहीं रहतीं। मानो इस दृष्टिसे मनुष्योंके ये दो वर्ग बने हैं।

धर्मग्रंथोंका वाद छोडकर हम मनुष्यजातीका जब विचार करते हैं तब हमें सब मनुष्य इन दो वर्गोंमें विभक्त हुए हैं ऐसाही प्रतीत होता है। प्रायः बहुत मनुष्य खेती, सुतार, लुहारका उत्पादक कामधंदा करनेवाले होते हैं। जातियोंका विचार छोड भी दिया और जिस देशमें यहांके समान जातिव्यवस्था नहीं है ऐसे देशमें भी देखा गया तो वहां भी उत्पादक कामधंदा करनेवालों-स्वभावसे उत्पादक काम धंदा करनेवालों-की संख्या अधिक होती है और शास्त्रविचार,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ध्यानधारणा, मनुष्यके भवितव्यके गूढ तत्त्वों का मनन करनेवाले बहुत ही विरला होते हैं। इन मेंभी कृषक, सुतार, लुहार आदि व्यावहारिक कर्ममार्गी को शास्त्रविचार और ध्यानधारणा में लगाया जाय तो उनसे यह बैठा कार्य नहीं होगा, और ध्यानधारणा किंवा तत्त्वविचार करते रहेनवाले को यदि धूप में खेतीका कार्य करना पडे, तो वह धूप की मार से मूर्छित ही होजायगा!! इस तरह इन दोनोंके मार्ग भिन्न हैं और एक का कर्म दूसरे से नहीं हो सकता। यह व्यावहारिक उदाहरण हमने इस लिये लिया है कि, ये दोनोंही सहज धर्म हैं, यह बात पाठकोंके मनपर व्यवहार देख कर भी स्थिर हो जाय। व्यवहारमें भी व्यावहारिक कर्म करनेवाले बहुत और व्यवहारका तत्त्वज्ञान जाननेवाले थोडे होते हैं। इसी प्रकार परमार्थ में भी ज्ञानमार्गी थोडे और कर्ममार्गी बहुत होते हैं।

एक का कर्म दूसरे से नहीं होता इसी लिये इन को दो 'निष्ठाएं' कहा है। (निःशेषेण स्थानं) पूर्णतासे जिसमें अवस्थान होता है, उस का नाम निष्ठा है।

अर्जुन जन्मस्वभावसे कर्मनिष्ठ था, अतः उससे ज्ञानमार्ग का आचरण होना असंभव था। इसलिये उसको यहां कहा है कि ज्ञानमार्गसे प्राप्त होनेवाली ब्राह्मी स्थिती कितनी भी उच्च क्यों न हो, तू उस मार्गसे न जा। क्योंकि वह मार्ग तुम्हारेसे आक्रमण नहीं होगा।

लोगोंकी भूल।

"कर्मयोगी" तो पहचाने जाते हैं, क्यों कि वे कुछ न कुछ कर्म करते रहते हैं, परंतु 'ज्ञानयोगी' की पहचान कठिन है। लोग इस की पहचानमें वारंवार भूल करते हैं। ज्ञानयोगी कर्म नहीं करता इस लिये जो कर्म नहीं करता उसको ज्ञानी और ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मानते हैं!!! ज्ञानी, ढोंगी और आलसी इनके विषयमें साधारण लोग सदा बहुत भूल करते हैं। इसी प्रकार अर्जुनने भी भूल की थी, वह 'कर्म न करना' ही ज्ञानीका लक्षण मानने लगा था, इसी लिये (श्लो० ३ में) कहा है कि कर्म न करनेसे, चूप रहनेसे, तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानी और आलसीमें कर्म न करनेका गुण समान है, परंतु तत्त्वज्ञानीमें वह गुण है और आलसीमें वही दोष है। साधारणतः विरक्त सिद्ध और पागल में भी लोग भूला करते हैं। इस विषयमें पाठक इतना समझें की इनकी परीक्षा तो कदापि बाह्य आचरणसे नहीं हो सकती। जो बाह्य आचरणसे इनकी परीक्षा करने लगेंगे वे सदाही भूल करेंगे।

'जो कर्मेंद्रियों का संयम करता है और मनसे विषयभोगों के लिये तडपता रहता है, उसका नाम मिथ्याचारी किंवा ढोंगी है।' (श्लो० ६) यह ढोंगी का लक्षण यहां दिया है, परंतु इसका पता अन्य मनुष्यों को लगना कठिन है। क्यों कि कौन मनुष्य मनसे विषयोंका चिंतन करता है और कौन नहीं, यह बाहरसे कैसे जान सकते हैं? यह जानना असंभव है, अतः लोग बाह्य आंडबर से फंसते हैं। समय समय पर जो ज्ञानी सीधेसादे रहते हैं और बाह्य आडंबर नहीं करते उनको लोग मान्यता देते नहीं, और जो लोग ऐसे मिथ्याचारी होते हैं, उनका आडंबर बहुत होता है। संभवतः अधिक सहवाससे कौन ज्ञानी है और कौन ढोंगी और मिथ्याचारी है, इसका पता लग सकता होगा। प्रायः ज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध पुरुष जनसंघसे उपसर्ग न पहुंचे इस लिये बाल-उन्मत्त-जडके समान भी रहते हैं, इस लिये तो उनकी पहचान अत्यंत कठीण हो जाती है।

छांदोग्य उपनिषदू में ब्रह्मज्ञानी रैक्व की कथा आती है। जानश्रुति राजा बडा धर्मात्मा पुण्यशील था। उसने एकवार संवाद सुना कि 'ब्रह्मज्ञानी सयुग्वा रैक्व के समान जानश्रुति का महात्म्य नहीं है।' अतः राजाने अपने परिचारक से कहा कि ब्रह्मज्ञानी रैक्व कहां रहता है, इसका

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

पञ्चदशं काण्डम्।

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)

प्रथमवार

संवत् १९८८, शक १८५३, सन १९३२.

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रजाका रञ्जन करनेवाला राजा।

रोरिज्यत ततो राजन्योजायत ॥ १ ॥
स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥
स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं सभा च समितिश्च सेना च सुराचानुव्यचलन् ॥ २ ॥
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम
भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथर्व० कां० १५ सू० ८।९

"वह प्रजाका रंजन करने लगा। अतः वह राजन्य (क्षत्रिय—राजा) हुआ। वह प्रजा, बन्धुबांधव और अन्नादि भोगोंको प्राप्त हुआ। जो इसका तत्त्व जानता है वह प्रजा, बन्धुबांधव अन्नादिभोग आदिका प्रियस्थान होता है॥ वह प्रजाओंको अनुसरने लगा। अतः सभा, समिति, सेना और धनकोश उसको अनुकूल हुए। जो इसका तत्त्व जानता है वह सभा, समिति, सेना और धनकोश का प्रिय स्थान बनता है॥"

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
भारतमुद्रणालय, औंध (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

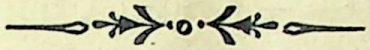

पञ्चदश काण्ड।

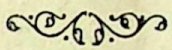

इस पञ्चदश काण्डका विषय 'व्रात्य' है। इस काण्डमें वस्तुतः व्रात्य विषयक एकही सूक्त है, परंतु इसके १८ पर्याय हैं। अथर्ववेदका तृतीय विभाग काण्ड १३ से काण्ड १८ तक है और इस विभागका यह तीसरा सूक्त है। इस विभागके काण्डोंका लक्षण यह है कि, प्रत्येक काण्डमें एक हि विषयके सूक्त हुआ करते हैं। जैसा अन्य काण्डोंके सूक्तोंमें विविध देवताओंके अनेक विषय होते हैं, वैसा इस विभागके काण्डोंमें नहीं है। इस विभागके एक एक काण्डमें एकही विषयके सब सूक्त रहते हैं।

इस काण्डका प्रारंभ 'व्रात्य' शब्दसे हुआ है। इस काण्डमें 'अध्यात्म' का विषय है अतः इसकी देवता भी अध्यात्महि है, और यहां का 'व्रात्य' शब्द 'आत्मा परमात्मा ब्रह्म परब्रह्म' का वाचक है, इसलिये यही मंगलसूचक व्रात्य शब्द इस काण्डके प्रारंभमें आगया है, मानो यही इस काण्डका मंगलाचरण है। अब हम इस सूक्तके पर्यायोंके देवता और छंदोंका विचार करते हैं—

पर्याय	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
१	८	अथर्वा	अध्यात्मं, व्रात्यः	१ साम्नीपंक्ति.; २द्विप० साम्नी बृहती; ३एकप०यजुर्ब्राह्मयनुष्टुप्; ४ एकप० विराड् गायत्री; ५ साम्नी अनुष्टुप्; ६ त्रिप० प्राजापत्या बृहती; ७ आसुरीपंक्तिः, ८ त्रिप० अनुष्टुप्।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

२	२८ (४)	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र० १–४, ४ ष; १ष, साम्नी अनुष्टुप्; द्वि० १,३,४ साम्नी त्रिष्टुप्; तृ. १ द्विपआर्षी पंक्तिः; च. १,३,४ द्वि. ब्रा. गायत्री; पं० १–४ द्विप. आर्षी जगती; ष. २ साम्नी पंक्तिः; ष० ६ आसुरी गायत्री; स० १—४ पदपंक्तिः अ. १–४ त्रिप० प्राजा० बृहती; द्वि. २एकप० उष्णिक्, तृ. २ आर्षी भुरिक् त्रिष्टुप्; च. २ आर्षी परानुष्टुप् तृ. ३ विराडार्षी पंक्तिः, तृ. ४ निचृदार्षी पंक्तिः।
३	११	,,	,,	१ पिपीलिकमध्या गायत्री; २ साम्नी उष्णिक्; ३ याजुषी जगती; ४ द्विप० आर्षी उष्णिक्; ५ आर्ची बृहती; ६ आसुरी अनुष्टुप्; ७ साम्नी गायत्री; ८ आसुरी पंक्तिः; ९ आसुरी जगती; १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ११ विराड् गायत्री।
४	१८ (६)	,,	,,	प्र० १, ५, ६ दैवी जगती; प्र. २, ३, ४ प्राजापत्या गायत्री; द्वि. १ द्वि. ३ आर्ची अनुष्टुप्; तृ. १, ४ द्विप० प्राजापत्या जगती; द्वि. २ प्राजापत्या पंक्तिः; तृ. २, आर्ची गायत्री; तृ. ३ औमार्ची त्रिष्टुप्; द्वि. ४ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि. ५ प्राजापत्या बृहती; तृ. ५, ६ द्विप० आर्ची पंक्ति; द्वि. ६ आर्ची उष्णिग्।
५	१६ (७)	,,	रुद्रः	प्र. १ त्रिप. समविषमा गायत्री; द्वि. १ त्रिप० भुरिगार्ची त्रिष्टुप्; तृ. १–७ द्विप. प्राजापत्यानुष्टुप्; प्र. २ त्रिप. स्वराट् प्राजापत्या पंक्तिः; द्वि. २–४,६ त्रिप. ब्राह्मी गायत्री, प्र. ३,४,६ त्रिपदा ककुभ्; प्र. ५,७ भुरिग् विषमा गायत्री; द्वि. ५ निचृद्ब्राह्मी गायत्री; द्वि. ७ विराट्
६	२६ (९)	,,	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र. १, २ आसुरी पंक्तिः; प्र. ३–६,९ आसुरी बृहती; प्र. ८ परोष्णिक्; द्वि. १,६ आर्ची पंक्तिः; प्र. ७आर्ची उष्णिक्; द्वि. २, ४ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि. ३ साम्नी पंक्तिः; द्वि. ५, ८ आर्षी त्रिष्टुप्; द्वि. ७ साम्नी अनुष्टुप्; द्वि ९ आर्ची अनुष्टुप्; तृ. १ आर्षी पंक्तिः; तृ.२, ४ निचृद्बृहती; तृ. ३ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; तृ. ५,६ विराट् जगती; तृ. ७ आर्ची बृहती; तृ. ९ विराड् बृहती।
७	५	,,	,,	१ त्रिप. निचृद् गायत्री; २ एकप. विराड् बृहती; ३ विराडुष्णिक्; ४ एकप. गायत्री; ५ पंक्तिः।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

८	३	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	१ साम्नी उष्णिक्; २ प्राजापत्यानुष्टुप्; ३ आर्ची पंक्तिः।
९	३	,,	,,	१ आसुरी जगती; २ आर्ची गायत्री; ३ आर्ची पंक्तिः।
१०	११	,,	,,	१ द्विप. साम्नी बृहती; २ त्रिप. आर्ची पंक्तिः; ३ द्विप० प्राजापत्या पंक्तिः; ४ त्रिप. वर्धमाना गायत्री; ५त्रिप. साम्नी बृहती; ६, ८, १० द्विप. आसुरी गायत्री; ७, ९ साम्नी उष्णिक्, ११ आसुरी बृहती।
११	११	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २ द्विप. पूर्वात्रिष्टुबतिशक्वरी;३-६, ८, १० त्रिप. आर्ची बृहती (१० भुरिक्); ७, ९ द्विप. प्राजापत्या बृहती; ११ द्विप. आर्ची अनुष्टुप्।
१२	११	,,	,,	१ त्रिप. गायत्री; २ प्राजा० बृहती; ३, ४ भुरिक्प्राजा०अनुष्टुप् (४ साम्नी); ५, ६, ९, १० आसुरी गायत्री; ८ विराड् गायत्री; ७, ११ त्रिप. प्राजा. त्रिष्टुप्।
१३	१४ (९)	,,	,,	प्र. १ साम्नी उष्णिक्; द्वि. १, ३ प्राजा० अनुष्टुप्; प्र. २—४ आसुरी गायत्री; द्वि २, ४ साम्नी बृहती; प्र. ५ त्रिपदा निचृद् गायत्री; द्वि. ५ द्विप. विराड् गायत्री; ६ प्राजा० पंक्तिः; ७ आसुरी जगती; ८ सतः पंक्तिः, ९ अक्षर पंक्तिः।
१४	२४ (१२)	,,	,,	प्र. १ त्रिप. अनुष्टुप्; द्वि. १–१२ द्विप. आसुरी गायत्री (द्वि. ६–९ भुरिक्प्राजा० अनुष्टुप्); प्र. २,५ पुरउष्णिक्; प्र. ३ अनुष्टुप्; प्र. ४ प्रस्तारपंक्तिः; प्र.६ स्वराड् गायत्री; प्र. ७, ८ आर्ची पंक्तिः; प्र. १० भुरिङ्नागी गायत्री; प्र. ११ प्राजा० त्रिष्टुप्,
१५	९	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २ आसुरीबृहती; ३,४, ७, ८ प्राजा० आनुष्टुप् (४, ७, ८ भुरिक्); ५, ६ द्विप. साम्नी बृहती; ९ विराड् गायत्री।
१६	७	,,	,,	१, ३ साम्नी उष्णिक्; २, ४, ५ प्राजा० उष्णिक्; ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ७ आसुरी गायत्री।
१७	१०	,,	,,	१—५ प्राजा० उष्णिक्; २, ७ आसुरी अनुष्टुप्; ३ याजुषी पंक्तिः; ४ साम्नी उष्णिक्; ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ८ त्रिप. प्रतिष्ठार्ची पंक्तिः; ९ द्विप. साम्नी त्रिष्टुप्; १० साम्नी अनुष्टुप्।
१८	५	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २,३ आर्ची बृहती; ४ आर्ची अनुष्टुभ्; ५ साम्नी उष्णिक्।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस काण्डकी कुल मंत्र संख्या २२० है। इस काण्डका ऋषि अथर्वा है। क्यों कि जहां विशेष रीतिसे उल्लेख नहीं होता, वहां अथर्ववेदके सूक्तोंका अथर्वा ऋषि हुआ करता है।

यद्यपि इस सब काण्डकी देवता 'व्रात्य' (अध्यात्म) है, तथापि स्थानस्थानपर जहां मंत्रोंमें अन्यान्य देवतावाचक नाम आते हैं, वहां वेही मन्त्रोक्त देवता मानना उचित है। परंतु सब देवताओंका आश्रय अन्तमें व्रात्यमें किंवा अध्यात्ममें अर्थात् 'आत्मा देवता' में हि सार्थ होना है, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

यह सब काण्ड एकही देवताका होनेसे, यद्यपि इस एक सूक्तमें १८ पर्याय हैं, तथापि सबका मिलकर एकही सूक्त होनेसे, सब मंत्रोंका अर्थ देनेके पश्चात् हि अन्तमें सबका मिलकर एकत्र स्पष्टीकरण करेंगे। क्यों कि सबका संबंध अत्यंत घनिष्ठ है। आशा है कि यह विवरण पाठकोंके लिये बोधप्रद सिद्ध होगा।

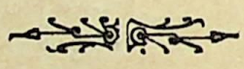

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

(अथर्ववेदका सुबोधभाष्य ।)

पञ्चदशं काण्डम्

अध्यात्म प्रकरण ।

[१] व्रात्यं आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥ १ ॥
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत् ॥ २ ॥
तदेकमभवत्तल्ललाममभवत्तन्महदभवत्तज्ज्येष्ठमभवत्तद्ब्रह्माभवत्तत्तपोभवत्तत्सत्य-
मभवत्तेन प्राजायत ॥ ३ ॥

---

१ [१] (व्रात्यः ईयमानः आसीत्) व्रात्य अर्थात समूहोंका हित करनेवाला समूहपति सबका प्रेरक था, (सः प्रजापतिं सं ऐरयत) उसने प्रजापालक को उत्तम प्रेरणा की ॥ १ ॥ (सः प्रजापतिः) उस प्रजापतिने (आत्मन् सुवर्ण अपश्यत) आत्मा को उत्तम तेजस्वी वर्णयुक्त देखा । और(तत् प्र अजनयत) उसने सबको उत्पन्न किया ॥ २ ॥

(तत् एकं अभवत्) वह एक होगया, (तत् ललामं अभवत्) वह विलक्षण हुआ, (तत् महत् अभवत्) वह बडा हुआ, (तत् ज्येष्ठं अभवत्) वह श्रेष्ठ हुआ, (तत् ब्रह्म अभवत्) वह ब्रह्म हुआ, (तत् तपः अभवत्) वह तपानेवाला हुआ, (तत सत्यं अभवत्) वह सत्य हुआ, (तेन प्र अजायत) उसके द्वारा प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सोऽवर्धत स महानभवत्स महादेवोऽभवत् ॥४॥
स देवानामीशां पर्येत्स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥ स एकव्रात्योऽभवत्स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः ॥ ६ ॥ नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥ नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

[२] स उदतिष्ठत्स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥
बृहते च वै स रथन्तरायं चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥३॥ बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥ ४ ॥ श्रद्धा पुंश्चली मित्रो

(सः अवर्धत) वह बढ गया, (सः महान् अभवत्) वह बडा हुआ, (स महादेवः अभवत्) वह महादेव अर्थात् बडा देव हुआ ॥ ४ ॥ (सः ईशां देवानां परि—ऐत्) वह सब छोटे देवोंका अधिष्ठाता हुआ, (सः ईशानः अभवत्) वही ईश्वर हुआ ॥ ५ ॥ (सः एक—व्रात्यः अभवत्) वह एकमात्र सब समूहोंका स्वामी हुआ, (सः धनुः आदत्त) उसने धनुष्यका ग्रहण किया, (तत् एव इन्द्रधनुः) वही इन्द्र-धनुष्य है ॥ ६ ॥ (अस्य उदरं नीलं) इसका पेट नीला है और (पृष्ठं लोहितं) पीठ लाल है ॥ ७ ॥

(नीलेन एव) नीले भागसे वह (अप्रियं भ्रातृव्यं प्र ऊर्णोति) अप्रिय शत्रुको घेरता है और (लोहितेन द्विषन्तं विध्यति) लाल भागसे द्वेष करनेवालेको वेधता है, (इति ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं ॥ ८ ॥

[२] (सः उत अतिष्ठत) वह ऊपर उठा। (सः प्राचीं दिशं अनु-व्यचलत्) वह पूर्व दिशा की ओर अनुकूल रीति से चला ॥ १ ॥ (तं बृहत् च रथंतरं च आदित्याः च विश्वे देवाः च अनुव्यचलन्) उसको बृहत, रथंतर, आदित्य, विश्वे देव अनुकूल हुए ॥ २ ॥ यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति) जो ऐसे विद्वान व्रतचारी को बुरे शब्द बोलता है वह बृहत, रथन्तर, आदित्यों और विश्वे देवोंका (आ वृश्चते) अपराधी होता है ॥३॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह बृहत, रथन्तर, आदित्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ ५ ॥
भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥८॥[१]
स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् ॥ ९ ॥
तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १० ॥
यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ११ ॥ यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य

और विश्वेदेवोंका प्रियधाम बनता है ॥ (तस्य प्राच्यां दिशि) उसकी प्राची दिशामें (श्रद्धा पुंश्चली) श्रद्धा स्त्री, (मित्रः मागधः) मित्र सूर्य स्तुति करनेवाला, (विज्ञानं वासः) विज्ञान वस्त्र, (अहः उष्णीषं) दिन पगडी, (रात्री केशाः) रात्री बाल, (हरितौ प्रवर्तौ) किरण कुंडल, (कल्मलिः मणिः) तारे मणिके समान होते हैं ॥ ४-५ ॥ (भूतं च भविष्यत् च परिष्कंदौ) भूत काल और भविष्यकाल ये दोनों उसके रक्षक होते हैं और (मनः विपथं) मन इसका युद्धरथ होता है ॥ ६ ॥ (मातरिश्वा च पवमानः च विपथवाहौ) श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे हैं, (वातः सारथी) प्राण उसका सारथी और (रेष्मा प्रतोदः) वायु उसका चाबूक है ॥ ७ ॥ (कीर्तिः च यशः च) कीर्ति और यश उसके (पुरःसरौ) अग्रगामी हैं । (एनं कीर्तिः आगच्छति) इसके पास कीर्ति आ जाती है, इसके पास (यशः आगच्छति) यश आता है ॥ ८ ॥ [१]

(सः०) वह उठता है और दक्षिण दिशामें अनुकूल होकर संचार करता है ॥ ९ ॥ (तं) उसको यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और (पशवः च अनुव्यचलन्) पशु भी अनुकूल होते हैं ॥ १० ॥ (यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति) जो ऐसे विद्वान् व्रतचारी का उपहास करता है वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंके विषयमें (आवृश्चते) अपराधी होता है ॥ ११ ॥ (यः एवं वेद) जो इस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

दक्षिणायां दिशि ॥१२॥ उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १३ ॥
अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०।० ॥ १४ ॥ [२]
स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १५ ॥
तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥ १६ ॥
वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ १७ ॥
वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १९ ॥
अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०।० ॥ २० ॥ [३]

बातको जानता है, वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रियस्थान बनता है। उसको दक्षिण दिशामें (उषाः पुंश्चली) उषा स्त्री, (मन्त्रः मागधः) मंत्र प्रशंसा करनेवाला, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश, किरण कुंडल, तारे मणिके समान होते हैं॥ १२-१३॥ (अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ) आमावास्या और पूर्णिमा उसके संरक्षक होते हैं, और मन उसका युद्धरथ है। श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे, प्राण सारथी और वायु उसका चाबूक है [आगे पूर्ववत्]॥ १४॥ [२]

(सः०) वह उठा और (सः प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पश्चिम दिशा की ओर अनुकूलताके साथ संचार करने लगा ॥ १५॥ तब उसको वैरूप, वैराज, आप् और राजा वरुण अनुकूल हुए॥ १६॥ जो ऐसे विद्वान् व्रताचारीका अपमान करता है, वह वैरूप, वैराज, आप् और राजा वरुण के प्रति अपराधी होता है॥ १७॥ जो यह बात जानता है वह वैरूप, वैराज, आप्-जल, और राजा वरुण का प्रिय धाम बनता है। उसके लिये पश्चिम दिशामें (इरा पुंश्चली) भूमि स्त्री, (हसः मागधः) हास्य प्रशंसक, विज्ञान वस्त्र० ॥ १९॥ (अहः च रात्री च परिष्कन्दौ) दिन और रात्री उसके रक्षक होते हैं [आगे पूर्ववत्]॥ २०॥ [३]

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ २१ ॥
तं इयेतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलन् ॥ २२ ॥
इयेताय च वै स नौधसाय च सप्तर्षिभ्यश्च सोमाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ २३ ॥ इयेतस्य च वै स नौधसस्य च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्योदीच्यां दिशि ॥ २४ ॥ विद्युत् पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधो विज्ञानं वासोहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ २५ ॥ श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥२६॥ मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ २७ ॥ कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद॥२८॥[४]

[३] स संवत्सरमूर्ध्वो तिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥ १ ॥
सोब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥ तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन्॥३॥

(सः ०) वह उठा और वह (उदीचीं दिशं) उत्तर दिशामें अनुकूल होकर चला ॥ २१ ॥ (तं इयेतं च सप्तर्षयः च राजा सोमः च अनुव्यचलन्) उसके अनुकूल इयेत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोम चलने लगे ॥ २२ ॥ जो इस प्रकारके विद्वान् व्रात्यका उपहास करता है वह इयेत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोमका अपराधी होता है ॥ २३ ॥ जो यह बात जान लेता है वह इयेत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोमका प्रिय धाम बनता है ॥ २४ ॥ उसके लिये उत्तर दिशामें (विद्युत् पूंश्चली) बिजली स्त्री, (स्तनयित्नुः मागधः) गर्जनेवाला मेघ प्रशंसाकर्ता, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश, किरण कुंडल, तारे मणि हैं ॥ २५ ॥ (श्रुतं विश्रुतं च परिष्कंदौ) ज्ञान विज्ञान ये उसके रक्षक, और मन उसका युद्धरथ है ॥ २६ ॥ श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे० [इत्यादि पूर्ववत] ॥ २७-२८ ॥ [४]

[३] (सः संवत्सरं ऊर्ध्वः अतिष्ठत्) वह वर्ष भरतक खडा रहा, (तं देवा अब्रुवन्) उसे देवोंने कहा, (व्रात्य, किं नु तिष्ठसि इति) हे व्रती, तू क्यों खडा है ? ॥ १ ॥ (सः अब्रवीत्) उसने कहा, (मे आसन्दीं सं भरन्तु इति) मेरे लिये बैठनेकी खुर्सी लाओ ॥ २ ॥ तब (तस्मै व्रात्याय आसन्दीं समभरन्) उस व्रतीके लिये बैठनेकी चौंकी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तस्या ग्रीष्मश्च वसंतश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥ ४ ॥
बृहच्च रथंतरं चानूच्ये ३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥ ५ ॥
ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥६॥ वेदं आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥७॥
सामासाद उद्गीथोपश्रयः ॥ ८ ॥ तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥ तस्य
देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः प्रहाय्या ३ विश्वानि भूतान्युपसदः ॥१०॥
विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥ ११ ॥
[४] तस्मै प्राच्या दिशः ॥ १ ॥ वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च
रथंतरं चानुष्ठातारौ ॥ २॥ वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च

ले आये ॥ ३ ॥ (तस्याः ग्रीष्मः च वसन्तः च) उस चौंकी के ग्रीष्म और वसन्त ये (द्वौ पादौ आस्तां) दो पांव थे और (शरत् च वर्षाः च द्वौ) शरत् और वर्षा ये दो पांव थे ॥ ४ ॥ (बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर ये दो (अनूच्ये आस्तां) बाजूके फलक थे और (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये दो तिरछे फलक थे ॥ ५ ॥ (ऋचः प्राञ्चः तन्तवः) ऋग्वेदके मन्त्र लंबाईके तन्तु थे और (यजूंषि तिर्यञ्चः) यजुर्वेदके मंत्र तिरछे तन्तु थे ॥ ६ ॥ (वेदः आस्तरणं) वेद उसका बिछोना था और (ब्रह्म उपबर्हणं) ब्रह्म—ज्ञान उसका ओढनेका वस्त्र था ॥ ७ ॥ (साम आसादः) साम गदेला था और (उद्गीथः उपश्रयः) उद्गीथ तकिया था ॥ ८ ॥ (तां आसन्दीं व्रात्यः आरोहत्) इस प्रकारकी ज्ञानमयी चौकीपर व्रती चढा ॥ ९ ॥ (देवजनाः तस्य परिष्कन्दा आसन्) देवजन उसके रक्षक हुए, (संकल्पाः प्रहाय्याः) उसके संकल्प उसके दूत और (विश्वानि भूतानि उपसदः) सब भूत उसके साथ बैठनेवाले थे ॥ १० ॥ (यः एवं वेद) जो यह तत्त्व जानता है (विश्वानि भूतानि अस्य उपसदः भवन्ति एव) सब भूत इसके साथ बैठनेवाले साथी—मित्र--होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ ११ ॥

[४] (तस्मै प्राच्यः दिशः) उसके लिये पूर्व की दिशा ॥ १ ॥ (वासन्तौ मासौ गोप्तारौ अकुर्वन्) वसन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, (बृहत् च रथन्तरं च अनुष्ठातारौ) बृहत् और रथन्तर सेवक

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

रथंतरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ३ [१] ॥ तस्मै दक्षिणाया दिशः ॥ ४ ॥ ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ ॥ ५ ॥ ग्रैष्मावेनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ६ [२] ॥ तस्मै प्रतीच्या दिशः ॥ ७ ॥ वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ ॥ ८ ॥ वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ९ [३] ॥ तस्मा उदीच्या दिशः ॥ १० ॥ शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वछचैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ॥ ११ ॥ शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ [४] ॥ तस्मै ध्रुवाया दिशः ॥१३॥ हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ॥ १४ ॥ हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो

बनाये ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है उसको प्राची दिशा, वसन्त ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और बृहत् तथा रथन्तर सेवक होते हैं ॥ ३ ॥ [१]

उसके लिये दक्षिण की दिशा ॥ ४ ॥ ग्रीष्म ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य अनुचर हुए हैं ॥ ५ ॥ जो यह जानता है उसको दक्षिण दिशा, ग्रीष्म ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य अनुचर होते है ॥ ६ ॥ [२]

उसके लिये पश्चिम की दिशा ॥ ७ ॥ वर्षा ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और वैरूप तथा वैराज अनुचर हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा, वर्षाके दो महिने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥ ९ ॥ [३]

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरद्ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और श्येत तथा नौधस अनुचर हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है उसके लिये उत्तर दिशा, शरद्ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और श्येत और नौधस अनुचर होते हैं ॥ १२ ॥ [४]

उसके लिये ध्रुव दिशा ॥ १३ ॥ हेमन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और भूमि तथा अग्नि उसके अनुचर बने ॥ १४ ॥ जो यह जानता है

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १५ [५] ॥ तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥१६॥ शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥१७॥ शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥१८॥ [६]

[५] तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥

भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥२॥ नास्य पशून् न समानान् हिंनस्ति य एवं वेद ॥३॥ [१]

तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥

शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ।० ॥ ५ ॥ [२]

उसको ध्रुवादिशा हेमन्तके दो महिने रक्षक होते हैं और भूमि तथा अग्नि अनुचर होते हैं ॥ १५ ॥ [५]

उसके लिये ऊर्ध्व दिशा ॥ १६ ॥ शिशिर ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और द्यु तथा आदित्य अनुचर बने ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है उसके लिये ऊर्ध्व दिशा, शिशिर ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और द्युलोक तथा आदित्य अनुगामी होते हैं ॥ १८ ॥ [६]

[५] (तस्मै प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) उसके लिये पूर्व दिशाके अन्तर्देशसे (इष्वासं भवं अनुष्ठातारं अकुर्वन्) धनुर्धारी भवको अनुष्ठाता बनाया ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो इस बातको जानता है, (एनं इष्वासः भवः) इसका धनुर्धारी भव (प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) प्राची दिशाके अन्तर्देशसे (अनुष्ठाता अनुतिष्ठति) अनुष्ठाता होकर रहता है। और (न शर्वः न भवः न ईशानः एनं) न शर्व, भव अथवा ईशान इसका घात करता है ॥ २ ॥ (न अस्य पशून् समानान् हिनस्ति) न इसके पशुओं और इसके समान बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ३ ॥ [१]

उसके लिये दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे धनुर्धारी शर्वको अनुष्ठाता बनाया ॥ ४ ॥ जो यह बात जानता है उसका धनुर्धारी शर्व दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न शर्व, भव अथवा ईशान इसका घातपात करता है और न पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ५ ॥ [२]

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥
पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।०॥७॥[३]
तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥
उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन्०।० ॥९॥[४]
तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥
रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।०॥ ११॥[५]
तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १२ ॥
महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।०॥१३॥[६]

उसके लिये (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशाके अन्तर्देशसे (पशुपतिं इष्वासं०) पशुपतिको धनुर्धर अनुष्ठाता बनाया ॥ ६ ॥ जो यह जानता है उसका धनुर्धारी पशुपति पश्चिम दिशासे अनुष्ठाता होकर रहता है, और इसका न शर्व, भव अथवा ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवोंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥ [३]

उसके लिये (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशाके अन्तर्देशसे(उग्रं देवं इष्वासं०) उग्र देवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ ८ ॥ जो इस बातको जानता है, उसका धनुर्धारी उग्रदेव उत्तर दिशा के अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और इसका न शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ९ ॥ [४]

उसके लिये (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे (रुद्रं इष्वासं०) रुद्रको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १० ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों की हिंसा करता है ॥ ११ ॥ [५]

उसके लिये (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे (महादेवं इष्वासं०) महादेवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १२ ॥ जो इस बात को जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व, भव और ईशान घात करता है

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १४ ॥
ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ १५ ॥ नास्य पशून् न समानान् हिंनस्ति य एवं वेद ॥१६॥[७]

[६] स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यचलन् ॥२॥
भूमेश्च वै सो ३ ग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥३ [१] ॥ स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥४॥
तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥
ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चंद्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ६ [२] ॥ स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥ ७ ॥

और न इसके पशुओं और बान्धवों की हिंसा करता है ॥ १३ ॥ [६]

उसके लिये (सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः) सब अन्तर्देशोंसे (ईशानं इष्वासं०) ईशान को धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १४ ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी ईशान सब दिशाओंके अन्तर्देशोंसे अनुष्ठाता होकर रहता है। न इसका शर्व, भव अथवा ईशान नाश करते हैं और न इसके पशुओं और बन्धुबान्धवों की हिंसा करते हैं ॥ १५—१६ ॥ [७]

[६] (सः ध्रुवां दिशमनु व्यचलत्) वह ध्रुव दिशाकी ओर अनुकूलतासे चला ॥ १ ॥ इसलिये (तं भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतयः च) उसके अनुकूल भूमि अग्नि औषधि वनस्पति (वानस्पत्याः च वीरुधः च अनुव्यचलन्) छोटे और बडे वृक्ष अनुकूल होकर रहे ॥२॥(यः एवं वेद) जो यह जानता है (सः भूमेः च वै अग्नेः च) वह भूमि और अग्निका (औषधीनां च वनस्पतीनां) औषधि और वनस्पतियों का (वानस्पत्यानां च वीरुधां) छोटे और बडे वृक्षोंका (प्रियं धाम भवति) प्रिय स्थान होता है ॥ ३ ॥ [१]

(सः ऊर्ध्वां दिशं०) वह ऊर्ध्व दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला॥४॥ इसलिये (तं ऋतं च सत्यं च सूर्यः च चन्द्रः च नक्षत्राणि च०)उसके अनुकूल ऋत सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्र हुए ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह ऋत सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्रोंका प्रिय धाम बनता है ॥ ६ ॥ [२]

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥ ८ ॥
ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ९ [३] ॥ स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥ १० ॥
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥
इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १२ [४] ॥ स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥ १३ ॥
तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् १४
आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १५ [५] ॥
सोनादिष्टां दिशमनु व्यचलत् ॥ १६ ॥
तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्यचलन् १७

(सः उत्तमां दिशं०) वह उत्तम दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ७ ॥ इसलिये (तं ऋचः च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च०) उसके अनुकूल ऋचा, साम, यजु और ब्रह्म अर्थात् अथर्व वेद हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है वह ऋचा, साम, यजु और ब्रह्ममंत्रोंका प्रिय धाम होता है ॥ ९ ॥ [३]

(सः बृहतीं दिशं०) वह बृहती दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १० ॥ इसलिये (तं इतिहासः च पुराणं च गाथाः च नाराशंसीः च०) उसके अनुकूल इतिहास, पुराण, गाथा, और नाराशंसी हुए ॥११॥ जो यह जानता है वह इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसीका प्रिय धाम होता है ॥ १२ ॥ [४]

(सः परमां दिशं०) वह परम दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १३ ॥ इसलिये (तं आहवनीयः च गार्हपत्यः च दक्षिणाग्निः च यज्ञः च यजमानः च पशवः च०) उसके अनुकूल आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान, और पशु हो गये ॥ १४ ॥ जो यह जानता है वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रिय धाम बनता है ॥ १५ ॥ [५]

(सः अनादिष्टां दिशं०) वह अनादिष्ट दिशाकी ओर अनुकूल होकर

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥ [६]
सोनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥ १९ ॥
तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्यचलन् ॥ २० ॥
दितेश्च वै सोदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२१[७]॥
स दिशोनु व्यचलत् तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः॥२२॥
विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २३ [८] ॥ स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥ २४ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥२५॥ प्रजापतेश्च

चला ॥ १६ ॥ इसलिये (तं ऋतवः च आर्तवाः च लोकाः च लौक्याः च मासाः च अर्धमासाः च अहोरात्रे च०) इसके अनुकूल ऋतु और ऋतु-संबंधी पदार्थ, लोक और लोकोंके संबंधी पदार्थ, महिने, पक्ष और दिनरात अनुकूल हुए ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह ऋतु, आर्तव, लोक, लौक्य, मास, पक्ष और अहोरात्र का प्रिय धाम होता है ॥ १८ ॥ [६]

(वः अनावृत्तां दिशं०) वह अनावृत्त दिशाके अनुकूल होकर चला और (ततः न अवर्त्स्यन् अमन्यत) वहांसे वापस न होनेका विचार उसने किया ॥ १९ ॥ अतः (तं दितिः च अदितिः च इडा च इन्द्राणी च०) उसके अनुकूल दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी हो गये ॥ २० ॥ जो यह जानता है वह दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणीका प्रिय धाम बनता है ॥ २१ ॥ [७]

(सः दिशः अनुव्यचलत्) वह सब दिशाओंमें अनुकूल होकर चला, इसलिये (तं विराट् सर्वे देवाः च सर्वाः च देवताः अ०) उसको विराट और सब देव और देवता अनुकूल होगये ॥ २२ ॥ जो यह जानता है वह विराट सब देव और देवताओं का प्रिय धाम बनता है ॥ २३ ॥ [८]

(सः सर्वान् अन्तर्देशान् अनु०) वह सब अन्तर्देशोंमें अनुकूल होकर चला ॥ २४ ॥ अतः (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च अनु०) उसको प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह अनुकूल होकर

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।२६। [९]

[७] स महिमा सद्वुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् ॥ १ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्ष भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ २ ॥
ऐनमापो गच्छत्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्ष गच्छति य एवं वेद ॥ ३ ॥
तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥
ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥ ५ ॥

इति प्रथमोनुवाकः ॥

चले ॥ २५ ॥ जो यह जानता है वह प्रजापति परमेष्ठी पिता और पितामहका प्रिय धाम बनता है ॥ २६ ॥ [९]

[७] (सः महिमा स-द्रुः भूत्वा) वह बडा समर्थ गतियुक्त होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथ्वीके अन्ततक गया । और (सः समुद्रः अभवत्) वह समुद्र हुआ ॥ १ ॥ (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च श्रद्धा च वर्ष च भूत्वा अनुव्यवर्तयन्त) उसके साथ प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, श्रद्धा, और वृष्टी होकर रहने लगे ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है (एनं आपः आगच्छन्ति) इसको जल प्राप्त होते हैं, (एनं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है, (एनं वर्ष आगच्छति) इसको वर्षा प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ (तं श्रद्धा च यज्ञः च लोकः च अन्नं च अन्नाद्यं च भूत्वा अभिपर्यावर्तन्त) उसके चारों ओर श्रद्धा, यज्ञ, लोक, अन्न और खानपान रहने लगे ॥ ४ ॥ जो यह जानता है (एनं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है, (एनं यज्ञः आगच्छति) इसको यज्ञ प्राप्त होता है, (एनं लोकः आगच्छति) इसको लोक प्राप्त होता है, (एनं अन्नं आगच्छति) इसको अन्न प्राप्त होता है, और (एनं अन्नाद्यं आगच्छति) इसको खानपान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

[८] सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥१॥ स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥२॥ विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[९] स विशोनु व्यचलत् ॥ १ ॥ तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥ सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[१०] तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥२॥ अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥ ३ ॥

---

[२][८] (सः अरज्यत) वह सबका रञ्जन करने लगा, अतः वह (राजन्यः अजायत) राजा—क्षत्रिय—हो गया ॥ १ ॥ (सः सबन्धून् विशः अन्नं अन्नाद्यं अभ्युदतिष्ठत्) वह बन्धुगणों समेत सब प्रजाको और अन्न तथा सब खानपानको प्राप्त हुआ । २ ॥ जो यह बात जानता है वह बन्धुबान्धवोंके समेत सब प्रजाजनोंका तथा अन्न और सब प्रकारके खानपानका प्रियधाम होता है ॥ ३ ॥

[९] (सः विशः अनुव्यचलत्) वह प्रजाओंके अनुकूल होकर चला॥१॥ अतः (तं सभा च समितिः च) उसको सभा और समिति (सेना च सुरा च अनुव्यचलन्) सैन्य और धनकोश अनुकूल हुए ॥ २ ॥ जो यह बात जानता हैं वह सभा, समिति, सैन्य और धन कोशका प्रियधाम बनता है ॥ ३ ॥

[१०] (तत् यस्य राज्ञः गृहान् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) जिस राजाके घर ऐसा विद्वान् व्रतचारी अतिथि (आगच्छेत्) आवे ॥ १ ॥ (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) इसको अपना कल्याणकर्ता मानकर उसका संमान करे । (तथा) ऐसा करनेसे (क्षत्राय न आवृश्चते) क्षात्र वृत्तिसे नहीं हटता और (तथा राष्ट्राय न आ वृश्चते) ऐसा करनेपर राष्ट्रका अहितकारी भी नहीं होता ॥ २ ॥ (अतः वै ब्रह्म च क्षत्रं च उदतिष्ठतां) उससे ज्ञान और वीर्य उत्पन्न होता है, (ते अब्रूताम्) वे दोनों कहते हैं कि (कं प्रविशाव इति) हम कहां प्रविष्ट होकर रहें ॥ ३ ॥ (अतः वै

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विंशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ॥ ४ ॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविंशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥ ५ ॥ इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥ ६ ॥ अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥ एनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥ यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥ एनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥ य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

[११] तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्त-

---

बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्रविशतु) इससे निःसन्देह बृहस्पतिके अन्दरहि ब्रह्मज्ञान प्रविष्ट होवे और (तथा वै इन्द्रं क्षत्रं इति) वैसाही इन्द्र में क्षत्र प्रविष्ट होवे ॥ ४ ॥ (अतः वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्राविशत् इन्द्रं क्षत्रं) इसी लिये बृहस्पतिमें ज्ञान और इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट हुआ ॥ ५ ॥ (इयं वै उ पृथिवी बृहस्पतिः) निश्चयसे यह पृथ्वी बृहस्पति है और (द्यौः एव इन्द्रः) द्युलोक इन्द्र है ॥ ६ ॥ (अयं वै उ अग्निः ब्रह्म) यह अग्नि निःसन्देह ब्रह्म है और (असौ आदित्यः क्षत्रं) यह आदित्य क्षत्र है ॥ ७ ॥ (यः पृथिवीं बृहस्पतिं) जो पृथ्वीको बृहस्पति और (अग्निं ब्रह्म वेद) अग्नि को ब्रह्म जानता है (एनं ब्रह्म आगच्छति) इसके पास ब्रह्मज्ञान आजाता है और यह (ब्रह्मवर्चसी भवति) ब्रह्मज्ञानसे तेजस्वी होता है ॥ ८—९ ॥ (यः आदित्यं क्षत्रं) जो आदित्यको क्षत्र और (दिवं इन्द्रं वेद) द्युलोकको इन्द्र जानता है (एनं इन्द्रियं आगच्छति) इसके पास इंद्रकी शक्ति आजाती है और यह (इन्द्रियवान् भवति) इन्द्रकी शक्तिसे युक्त होता है ॥ १०-११ ॥

[११] (तत् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) इस प्रकारका विद्वान व्रतपालक अतिथि (यस्य गृहान् आगच्छेत्) जिसके घर आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं उसके समीप जाकर बोले कि " (व्रात्य, क्व अवात्सीः) हे व्रतधारीजी ! आप कहां रहते हैं ? (व्रात्य, उदकं) हे व्रतधारीजी ! यह जल आपके लिये है । (व्रात्य तर्पयन्तु) हे व्रती ! ये मेरे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

थास्त्विति ॥ २॥ यदेनमाह व्रात्य क्वावात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव
रुन्द्धे ॥ ३ ॥ यदेनमाह वात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ ५ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥
ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

लोग आपकी तृप्ति करें। (व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे व्रतचारीजी! जो आपको प्रिय हो वही होवे। (व्रात्य, यथा ते वशः तथा अस्तु) हे व्रताचारी जी! जो आपकी इच्छा हो वैसा ही बने। (हे व्रात्य, यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) हे व्रती! जो आपकी अभिलाषा हो वैसा ही होवे ॥ २ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य क्व अवात्सीः इति) जो इसको कहा जाता है कि हे व्रतपते, आप कहां रहते हैं? तो (तेन देवयानान् पथः एव अवरुन्धे) उस प्रश्नसे वह देवयान मार्गोंको अपने आधीन करता है ॥ ३ ॥ (यत् एनं आह) जो इसको कहता है कि (व्रात्य उदकं इति) हे व्रतधारी, यह जल आपके लिये है, (तेन अपः एव अवरुन्धे) उस वचनसे पर्याप्त जल उसको प्राप्त होता है ॥४॥ (यत् एनं आह, व्रात्य तर्पयन्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती! मेरे लोक आपकी तृप्ति करें, तो (तेन प्राणं वर्षीयांसं कुरुते) उस वचनसे वह अपने प्राणको अतिदीर्घ करता है ॥ ५ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती! जो तेरे लिये प्रिय हो वही होवे, (तेन प्रियं एव अव रुन्धे) इससे वह प्रिय पदार्थोंको अपने वशमें करता है ॥ ६ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है, (एनं प्रियं आगच्छति) इसको प्रिय प्राप्त होता है और (प्रियस्य प्रियः भवति) वह प्रियका प्रिय होता है ॥ ७ ॥ (यत् एनं आह, व्रात्य, यथा ते वशः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती! जो तेरी इच्छा हो वैसाही होवे, (तेन वशं एव अवरुन्द्धे) उससे वह सबको अपने वशमें करता है ॥ ८ ॥ जो यह जानता है (वशः एनं आगच्छति) उसको सब वश होते हैं, और वह

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्वति निकाममेव तेनावरुन्द्धे ॥१०॥
एनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥
[१२] तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेग्निहोत्रेतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिसृज होष्यामीति ॥ २ ॥ स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात् ॥ ३ ॥ स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥ प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥ न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥ ६ ॥
पर्यस्यास्मिल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥७॥

(वशीनां वशी भवति) वशी लोगोंको वश करनेवाला होता है ॥ ९ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती जो आपकी अभिलाषा है वह होवे, तो उससे (तेन निकामं एव अवरुन्धे) वह अपनी अभिलाषा प्राप्त करता है ॥ १० ॥ (एनं निकामः आगच्छति) इसकी अभिलाषा पूर्ण होती है, यह जानता है उसको (निकामस्य निकामे भवति) अभिलाषा की पूर्णता होती है ॥ ११ ॥

[१२] (तत् यस्य गृहे) जिसके घरमें (एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) ऐसा विद्वान् व्रतधारी अतिथि (उद्धृतेषु अग्निषु अग्निहोत्रे अधिश्रिते आगच्छेत्) अग्नि प्रदीप्त होकर अग्निहोत्र होनेके समय आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं इसके सन्मुख जाकर कहे कि (व्रात्य अतिसृज होष्यामि इति) हे व्रती ! मुझे आज्ञा दो, मैं हवन करूंगा ॥ २ ॥ (सः च अतिसृजेत्, जुहुयात्) वह आज्ञा देवे तो हवन करे, (न च अतिसृजेत्, न जुहुयात्) यदि न आज्ञा देवे तो न हवन करे ॥ ३ ॥ (सः यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टो जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है, वह (पितृयाणं देवयानं च पंथां प्रजानाति) वह पितृयाण और देवयान मार्गको जानता है ॥ ४-५ ॥ (यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान व्रताचारीकी आज्ञा से हवन करता है (अस्य हुतं भवति) उसका अग्निहोत्र सफल होता है और (देवेषु न आवृश्चते) देवोंमें इसका कोई दोष नहीं होता। (अस्मिन लोके) इस लोकमें (अस्य आयतनं परिशिष्यते)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथ॒ य एवं॑ वि॒दुषा॒ व्रात्ये॒नाना॑तिसृष्टो जु॒होति॑ ॥ ८ ॥
न पि॑तृ॒याणं॒ पन्था॑ जानाति॒ न दे॑व॒यान॑म् ॥ ९ ॥
आ दे॒वेषु॑ वृश्चते अहु॒तम॑स्य भवति ॥ १० ॥
नास्या॑स्मिँल्लो॒क आ॒यत॑नं शिष्यते॒ य एवं॑ वि॒दुषा॒ व्रात्ये॒नाना॑तिसृष्टो जु॒होति॑ ॥ ११ ॥
[१३] तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्य॒ एका॑ रात्रि॒मति॑थिर्गृ॒हे व॑स॒ति ॥ १ ॥
ये पृ॑थि॒व्यां पुण्या॑ लो॒कास्ता॒नेव तेना॑व रुन्द्धे ॥ २ ॥
तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्यो॑ द्वि॒तीया॑ रात्रि॒मति॑थिर्गृ॒हे व॑स॒ति ॥ ३ ॥
ये ३॒ न्तरि॑क्षे पुण्या॑ लो॒कास्ता॒नेव तेना॑व रुन्द्धे ॥ ४ ॥
तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्य॑स्तृ॒तीया॑ रात्रि॒मति॑थिर्गृ॒हे व॑स॒ति ॥ ५ ॥
ये दि॒वि पुण्या॑ लो॒कास्ता॒नेव तेना॑व रुन्द्धे ॥ ६ ॥

इसका आश्रय सुरक्षित रहता है ॥ ६-७ ॥ (अथ यः एवं विदुषा व्रात्येन अनतिसृष्टो जुहोति) और जो इस प्रकार के विद्वान व्रतधारीकी आज्ञाके विना हवन करता है॥८॥ वह (न पितृयाणं न देवयानं पंथां जानाति) न पितृयाण मार्गको और न देवयान मार्गको जानता है ॥ ९ ॥ (अस्य अहुतं भवति) इसका हवन विफल होता है ॥ १० ॥ (देवेषु आवृश्चते) देवोंका अपराधी होता है, (अस्मिन् लोके अस्य आयतनं शिष्यते) इस लोकमें इसका आधार नहीं रहता (य०) जो ऐसे विद्वानकी आज्ञाके विना हवन करता है ॥ ११ ॥

[१३] (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः एकां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका विद्वान् व्रतधारी अतिथि एक रात्री भर रहता है ॥ १ ॥ (ये पृथिव्यां पुण्या लोकाः) जो पृथ्वीपर पुण्य लोक हैं, (तान् तेन एव अवरुन्धे) उन सबको इससे प्राप्त करता है ॥ २ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिं वसति) तो जिसके घरमें इस प्रकारका व्रतचारी विद्वान अतिथि दूसरी रात्री भर रहता है ॥ ३ ॥ (तेन) इस से (ये अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः) जो अन्तरिक्षमें पुण्य लोक हैं (तान् एव अवरुन्धे) उनको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः तृतीयां रात्रिं वसति) तो जिसके घरमें इस प्रकार विद्वान् व्रतधारी अतिथि तीसरी रात्रीभर रहता है ॥५॥ (ये दिवि पुण्याः

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तद् तस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥ ९ ॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥
अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ ११ ॥
कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ १२ ॥
अस्यै देवतायै उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥ १३ ॥
तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

लोकाः) जो द्युलोकमें पुण्यलोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ ६ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः चतुर्थीं रात्रीं वसति) तो जिसके घरमें ऐसा विद्वान व्रतधारी अतिथि चतुर्थ रात्रीभर रहता है ॥ ७ ॥ (ये पुण्यानां पुण्या लोकाः) जो पुण्यकारकोंके पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ ८ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः अपरिमिताः रात्रीः वसति) तो जिसके घरमें ऐसा विद्वान् व्रतपालक अतिथि अपरिमित रात्रीतक रहता है ॥ ९ ॥ (ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः) जो अपरिमित पुण्य लोक हैं (तान् एव तेन अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(अथ यस्य गृहान् अव्रात्यः व्रात्यब्रुवः नामबिभ्रती अतिथिः आगच्छेत) जिसके घर व्रताचरण न करनेवाला, केवल नामधारी अविद्वान् अतिथि आवे ॥ ११ ॥ (एनं कर्षेत ?) क्या गृहस्थ उसका तिरस्कार करे ? (एनं न च कर्षेत्) इसका तिरस्कार न करे ॥ १२ ॥ गृहस्थ कहे कि (अस्यै देवतायै उदकं याचामि) इस देवताके लिये उदक की प्रार्थना करता हूं, (इमां देवतां वासये) इस देवताका घरमें निवास करता हूं, इमां इमां देवतां परिवेविष्यात) इस देवताको परोसता हूं ॥ १३ ॥ (तस्यां एव देवतायां अस्य तत् हुतं भवति) उसी देवतामें उस गृहस्थीका वह हवन होता है, (यः एवं वेद) जो यह तत्त्व जानता है ॥ १४ ॥ [अर्थात् नामधारी अतिथि घरमें आनेपर वह अपनी उपास्य देवता है ऐसा मानकर

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

[१४] स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतः शर्धो भूत्वानुव्यचलन्मनोन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥ मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥ स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्यचलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥ बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥ स यत् प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्यचलदपोन्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥ अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥ स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्यचलत् सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥ ७ ॥ आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्यचलद् विराजमन्नादीं कृत्वा ॥ ९ ॥

सब भोग अपने उपास्यको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसको देवे। इस प्रकार करनेसे सब दान उसी देवताको पहुंचता है।]

[१४] (सः यत् प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह जब पूर्व दिशाकी ओर चलता है तब (मारुतं शर्धः भूत्वा) वायु बल होकर और (मनः अन्नादं कृत्वा) मनको अन्न खानेवाला करके (अनुव्यचलत्) चले ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (अन्नादेन मनसा अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करनेकी मनोभावनासे अन्न खाता है ॥ २ ॥ (सः दक्षिणां०) वह जब दक्षिण दिशाकी ओर चलता है, तब वह (इन्द्रः भूत्वा) इन्द्र अर्थात् प्रभु होकर और (बलं अन्नादं कृत्वा) बल अन्नभक्षक बनाकर (अनुव्यचलत्) चला ॥ ३ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादेन बलेन अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक बलसे अन्न खाता है ॥ ४ ॥ (सः प्रतीचीं दिशं०) वह जब पश्चिम दिशाकी ओर चलता है तब वह (वरुणः राजा भूत्वा) वरुण राजा बनकर और (अपः अन्नादीः कृत्वा) जल को अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादीभिः अद्भिः अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक जलके साथ अन्नभोग करता है ॥ ६ ॥ (सः उदीचीं दिशं०) वह जब उत्तर दिशाकी ओर चलता है, तब वह (सोमः राजा भूत्वा) सोम राजा बनकर (अन्नादीं आहुतिं कृत्वा) अन्नभक्षक आहुति करके (सप्तर्षिभिः हुतः) सात ऋषियों- सात इंद्रियों द्वारा-हुत होकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ७ ॥ जो यह जानता है वह (आहुत्या अन्नाद्यं अत्ति) आहुतिसे अन्नादी का भोग करता है ॥ ८ ॥ (सः ध्रुवां०)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥ स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥
ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥
स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्यचलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १३ ॥ स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १४ ॥
स यन्मनुष्यान्ननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्यचलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा॥१५॥
स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥ स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्यचलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥ १७ ॥
वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १८ ॥

वह जब ध्रुव दिशाकी ओर चलता है, तब (विष्णुः भूत्वा) विष्णुरूप बनकर (विराजं अन्नादीं कृत्वा) विराट् पृथ्वीको अन्नमयी बनाकर (अनु व्यचलत्) चलता है ॥ ९ ॥ जो यह जानता है वह (विराजा अन्नाद्या अन्नं अत्ति) विराट् रूपी अन्नवाली गौ से अन्न भक्षण करता है ॥ १० ॥ (सः यत् पशून् अनुव्यचलत्) वह जब पशुओंके अनुकूल होकर चलता है, तब वह (रुद्रः भूत्वा) रुद्र बनकर और (अन्नादीः ओषधीः कृत्वा) अन्न भक्षण करने योग्य औषधियां बनाकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादीभिः ओषधीभिः अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करने योग्य औषधियोंके साथ अन्न खाता है ॥ १२ ॥ (सः यत् पितॄन् अनु०) वह जब पितरोंके साथ चलता है, तब वह (यमः राजा भूत्वा) यम राजा बनकर (स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वधाकारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १३ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादेन स्वधाकारेण अन्नं अत्ति) अन्नभक्षण स्वधाकारके साथ करता है ॥ १४ ॥ (सः यत मनुष्यान् अनु व्यचलत) वह जब मनुष्योंके प्रति चलता है तब वह (अग्निः भूत्वा) अग्नि होकर (स्वाहाकारं अन्नादं कृत्वा०) स्वाहाकारको अन्नभक्षक करके चलता है ॥ १५ ॥ यह जो जानता है वह (स्वाहाकारेण०) स्वाहाकारके साथ अन्नभोग करता है ॥ १६ ॥ (सः यत् ऊर्ध्वां दिशं०) वह जब ऊर्ध्व दिशाकी ओर चलता है,तब वह (बृहस्पतिः भूत्वा) बृहस्पति होकर (वषट्कारं अन्नादं कृत्वा) वषट्कारको अन्न-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥१९॥
मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥
स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा॥२१॥
प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥
स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद् ब्रह्मान्नादं
कृत्वा ॥ २३ ॥ ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २४ ॥

[१५] तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥
सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ ३ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ ४ ॥

भक्षक बनाकर चलता है ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह (वषट्कारेण अन्नादेन०) वषट्कारसे अन्नका भोग करता है ॥ १८ ॥ (सः यत् देवान् अनुव्यचलत्) जब वह देवोंके पास जाता है तब वह (ईशानः भूत्वा) ईशान बनकर (मन्युं अन्नादं कृत्वा) उत्साहको अन्नाद बनाकर चलता है ॥१९॥ जो यह जानता है वह(मन्युना०)उत्साहके साथ अन्न भोग करता है ॥ २० ॥ (सः यत् प्रजाः अनु०) वह जब प्रजाओंके प्रति जाता है, तब वह (प्रजापतिः भूत्वा) प्रजापालक बनकर (प्राणं अन्नादं कृत्वा) प्राण को अन्नाद बनाकर चलता है ॥ २१ ॥ जो यह जानता है वह (प्राणेन अन्नादेन०) प्राण की शक्तिसे अन्नभोग करता है ॥ २२ ॥ (सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु०) जब वह सब अन्तर्देशोंके प्रति जाता है, तब वह (परमेष्ठी भूत्वा) परमेष्ठी होकर (ब्रह्म अन्नादं कृत्वा) ब्रह्मज्ञानको अन्नाद बनाकर चलता है॥ २३ ॥ जो यह जानता है वह (ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नं अत्ति) वह ब्रह्मज्ञानके साथ अन्नादि भोग करता है ॥२४॥

[१५] (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्यके (सप्त प्राणाः सप्त अपानाः सप्त व्यानाः) सात प्राण सात अपान और सात व्यान हैं ॥१-२॥ (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्यका (यः अस्य प्रथमः प्राणः) जो इसका पहिला प्राण है वह (अयं ऊर्ध्वः नाम अग्निः) यह ऊर्ध्व नामक अग्नि है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय प्राण है वह (प्रौढः नाम असौ स आदित्यः) वह प्रौढ नामक

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयः प्राणो ३ भ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥५॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ ६ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ ७ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥ ८ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमः प्राणोपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ ९ ॥

[१६] तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥ १ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥ २॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य तृतीयोऽपानः सामावास्याऽ ॥ ३ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थोऽपानः सा श्रद्धा ॥ ४ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमोऽपानः सा दीक्षा ॥ ५ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठोऽपानः स यज्ञः ॥ ६ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः ॥ ७ ॥

[१७] तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः ॥ १ ॥

वह आदित्य है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय प्राण है, वह (अभ्यूढः नाम असौ स चन्द्रमाः) अभ्यूढ नामक वह चन्द्र है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो यह चतुर्थ प्राण है वह (विभूः नाम अयं स पवमानः) विभू नामक यह पवमान वायु है ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम प्राण है वह (योनिः नाम ताः इमाः आपः) योनी नामक आप् है ॥ ७ ॥ उस व्रात्यका जो छठां प्राण है वह (प्रियः नाम ते इमे पशवः) प्रिय नामक पशु हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां प्राण है वह (अपरिमिताः नाम ताः इमाः प्रजाः) अपरिमित नामक प्रजा हैं ॥ ९ ॥

[१६] (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्यका (यः प्रथमः अपानः) जो पहिला अपान है (सा पौर्णमासी) वह पौर्णमासी ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय अपान है वह अष्टका है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय अपान है वह अमावास्या है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ अपान है वह श्रद्धा है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम अपान है वह दीक्षा है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो छठां अपान है वह यज्ञ है ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां अपान है वह दक्षिणा है ॥ ७ ॥

[१७] (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्यका (यः अस्य) जो इसका (प्रथमः

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥ २ ॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥ ३ ॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥ ४ ॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः ॥ ५ ॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य षष्ठो व्यानस्त आर्तवाः ॥ ६ ॥ तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः ॥ ७ ॥ तस्य व्रात्यस्य। समानमर्थं परि यन्ति देवाः संवत्सरं वा एतदृतवोऽनुपरियन्ति व्रात्यं च ॥८॥ तस्य व्रात्यस्य। यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव तत्पौर्णमासीं च ॥९॥ तस्य व्रात्यस्य। एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव ॥ १० ॥

[१९] तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥ यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य-सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥ २ ॥ योऽस्य दक्षिणः कर्णोयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोयं स पवमानः ॥ ३ ॥ अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च

व्यानः) पहिला व्यान है वह (सा इयं भूमिः) यह पृथ्वी है ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय व्यान है वह अन्तरिक्ष है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय व्यान है वह द्यौः है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ व्यान है (तानि नक्षत्राणि) वह नक्षत्र हैं ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पांचवां व्यान है (ते ऋतवः) वे ऋतु हैं ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो षष्ठ व्यान है वे (ते आर्तवाः) ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां व्यान है वह संवत्सर है ॥ ९ ॥ उस व्रात्यके (समानं अर्थं) समान अर्थको (देवाः परियन्ति) सब देव घेरते हैं, अनुकूल होते हैं, (संवत्सरं वै एते ऋतवः अनुपरियन्ति) संवत्सरको निश्चयसे ये ऋतु अनुकूलतासे व्यापते हैं (व्रात्यं च) व्रात्यको भी घेरते हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यके जो भाव (यत् आदित्यं अभिसंविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं (अमावास्यां च एव तत् पौर्णमासीं च) अमावास्या और पौर्णमासीमें भी वे होते हैं ॥ ९ ॥ (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्यका (तत् एषां एकं अमृतत्वं) वह इन सबका एक अमरपन है (इति एव आहुः) ऐसा कहते हैं ॥ १० ॥

[१८] (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्यका (यत् अस्य दक्षिणं अक्षि असौ सः आदित्यः) जो दक्षिण नेत्र है वह सूर्य है (यत् अस्य सव्यं अक्षि असौ सः चन्द्रमाः) जो इसका सव्य नेत्र है वह चन्द्र है ॥ १–२ ॥ जो

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ॥ ४ ॥ अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः। इति पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ॥

इसका (दक्षिणः कर्णः) दक्षिण कान है (सः अयं अग्निः) वह अग्नि है, (यः अस्य सव्यः कर्णः) जो इसका बायां कान है (सः अयं पवमानः) वह यह पवमान है ॥ ३ ॥ (अहोरात्रे नासिके) इसके अहोरात्र ये नाक है, (दितिः अदितिः च) दिति और अदिति (शीर्ष-कपाले) सिरके दोनों कपाल हैं। और (संवत्सरः शिरः) वर्ष इसका सिर है ॥ ४ ॥ (व्रात्यः अह्ना) यह व्रात्य दिनमें (प्रत्यङ्) पूर्व दिशाकी ओर मुख करके, और (रात्र्या प्राङ्) रात्रीके समय प्राचीदिशाके अनुकूल मुख करके रहता है। ऐसे (व्रात्याय नमः) व्रात्यके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः। इति पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ॥

पञ्चदश काण्डका विचार।

व्रात्यका अर्थ।

इस पंधरहवें काण्डमें "व्रात्य" का विचार किया है। अतः इस काण्डमें व्रात्यका अर्थ क्या है इसका निश्चय प्रथम करना चाहिये। इस व्रात्य शब्दके कई अर्थ हैं—

(१) 'व्रात' का अर्थ है 'समूह, समाज, संघ, मनुष्य, जनता' उसके लिये जो हितकारी (तेभ्यः हितः) है उसको 'व्रात्य' कहते हैं;

(२) (व्राते भवः व्रात्यः) समूहमें उत्पन्न, समाजमें जिसका जन्म हुआ है, संघ में रहनेवाला;

(३) समूहका पालक, पति किंवा स्वामी;

(४) व्रतोंके लिये समर्पित, व्रताचरणमें तत्पर, तपस्वी, नियमानुष्ठानमें तत्पर, व्रती, ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाला;

(५) (व्रजति इति व्रात्यः जस्य तः) भ्रमण करनेवाला, परिव्राजक, संन्यासी, उपदेशक, देशदेशान्तरमें जाकर धर्मोपदेश करनेवाला।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस तरह इस व्रात्य शब्दके अनेक अर्थ वेदमें हैं। स्मृतियोंमें इस व्रात्य शब्दका अर्थ इसके विरुद्ध है। वेदमर्यादा और आश्रममर्यादाका उल्लंघन करनेवाला व्रात्य है ऐसा स्मृतिग्रंथोंका कथन है। स्मृतिके अनुसार व्रात्य वह होता है कि जो त्रैवर्णिकोंके कर्तव्य न करनेसे पतित हुआ है। व्रात्यस्तोमसे इसकी शुद्धि करनेसे फिर यह पुनीत होता है और द्विजत्व प्राप्त करता है।

वेदका व्रात्य शब्द और स्मृतिका व्रात्य शब्द इनमें अर्थोंका इतना महत् अन्तर है। वेदमें व्रात्य शब्दका अर्थ उत्तम है और स्मृतिमें उसीका अर्थ अधम है। वेदका व्रात्य जनताका कल्याणकर्ता है, परंतु स्मृतिका व्रात्य बहिष्कार करने योग्य है। इतनी शब्दार्थकी भिन्नता, श्रुति और स्मृतिमें कालका महत् अन्तर व्यतीत हुआ है, इस बातकी साक्षी देती है।

जिस तरह ब्राह्मणब्रुव, क्षत्रियब्रुव ये शब्द अधम ब्राह्मण और अधम क्षत्रियोंके वाचक हैं, उसी प्रकार (अथर्व० १५। १३। ११ में आये) " अव्रात्य, व्रात्यब्रुव,नाम-बिभ्रती " ये तीनों शब्द हीन अर्थके हैं। व्रात्य शब्द लगानेवाले, परंतु जो व्रात्य नहीं है। जैसे आजकल संन्यासनाम धारण करनेवाले अधमाचारी होते हैं, उसी प्रकार व्रात्यनामधारण करनेवाले परंतु व्रात्योंके श्रेष्ठ गुणोंसे हीन मनुष्य निन्दनीय होते हैं। यह वेदका मंत्र (अ० का० १५। १३। ११) स्पष्ट बता रहा है कि यहां व्रात्यका अर्थ बहुतही पूज्य है।

व्रात्य ईश्वर।

व्रात्य शब्दके जो उत्तम अर्थ ऊपरके स्थानमें दिये हैं, वे पूर्णतासे परमेश्वर में सार्थ होते हैं। परमेश्वर व्रातों अर्थात् समूहों और गणोंका पति होनेसे व्रात्य है, संपूर्ण नियमों और व्रतोंका यथायोग्य पालन करनेवाला होनेसे भी वह व्रात्य है, सबका हितकारी होनेसे भी वह व्रात्य है। इस तरह व्रात्य शब्दके सब अर्थ ईश्वरमें पूर्णतया सार्थ होते हैं। इसलिये इस पंदरहवें काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें इसी परमेश्वरका वर्णन व्रात्य शब्दसे किया है।

ईयमानः व्रात्यः प्रजापतिं समैरयत। १। १

" प्रेरक व्रात्यने प्रजापालक देवको प्रेरित किया, " अर्थात् जगत् निर्माण करनेके लिये प्रेरणा की।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सः प्रजापतिः सुवर्ण आत्मानं अपश्यत तत प्राजनयत् ॥ १।२

" इस प्रजापति देवने उत्तम चमकदार रंगवाले मूल दैवी प्रकृतिरूप प्रकृत्यात्माको देखा, और उसने सब जगत् निर्माण किया।" यहां 'सुवर्ण आत्मा' शब्दसे उत्तम रंगरूपसे चमकनेवाली मूल प्रकृति अथवा दैवी प्रकृतिका वर्णन है। इसमें तेज है, चमक है, और यह त्रिगुणमयी प्रकृति हि सब जगत्का निर्माण करनेवाली है। इस प्रजनन क्रियासे " एक, ललाम, महत्. ज्येष्ठ, ब्रह्म, तप, और सत्य " ये सात पदार्थ उत्पन्न हुए। इन सात नामोंके सदृश " भूः, भुवः, सुवः, महः, जनः, तपः, सत्यं " ये सात नाम भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखने योग्य हैं। दोनों स्थानोंमें "महत्, तप, सत्य " ये तीन शब्द समान हैं। संभव है कि ये दोनों सप्तक एक दूसरेके पर्याय हों, प्रकृति से सृष्टिकी उत्पत्ति होनेसे सात लोक, सात भुवन, सप्तधाम आदि जो उत्पन्न हुए हैं, उन के सूचक ये शब्द हैं, ऐसा यहां प्रतीत होता है। पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार सब भुवन उत्पन्न होनेके पश्चात् उस प्रेरक देवका महत्व सबको व्यक्त हुआ, और इसी कारण (सः महादेवः अभवत्। उसको महादेव कहने लगे। अर्थात् यह 'महादेव' शब्द अन्य छोटे देवोंका भी अधिदेव है, यह बात यहां व्यक्त होती है। यही बात निम्नलिखित मंत्रमें कही है—

स देवानां ईशां पर्यैत्, सः ईशानः अभवत्। (१।५)

" वह छोटे अनेक देवोंका अधिपति सिद्ध हुआ अतः उसको ईशान कहने लगे।" यहां देव-महादेव; ईश—ईशान, ईश-ईश्वर आदि शब्दोंके अर्थोंका भाव स्पष्ट हुआ। देव और ईश ये छोटे अधिपति हैं और महादेव तथा ईशान और ईश्वर ये शब्द सर्वतोपरि अधिकार चलानेवाले सार्वभौम परमेश्वरके वाचक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द एकरस परमात्माके वाचक हैं। इनमें भी ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा ये शब्द भी पूर्वोक्त रीतिसे छोटे बडेके वाचक निःसन्देह हैं, परंतु ब्रह्म और आत्मा ये शब्द समयसमयपर दोनों अर्थोंसे प्रयुक्त होते हैं।

हमारे शरीरमें यह बात देखिये, यहां कान, आंख, नाक आदि अवयवोंमेंसे प्रत्येकमें हजारों कीटाणु हैं, प्रत्येक कीटाणु अपनेमें ईश है, अपनी प्रकृतिका स्वामी है, परंतु उन अनेक कीटाणुओंपर आंख नाक कान आदिमें रहनेवाला एक इंद्रियका अधिष्ठाता देव है, यह उन सूक्ष्म कीटाणुओंकी अपेक्षा बडा ईश्वर है। इसके पश्चात् प्रत्येक इन्द्रियमें एक एक देवताका अंश है और इन अवयवोंमें रहनेवाले देवतांशोंपर जीवात्माका

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रभुत्व है; इसलिये यहां इंद्रियोंके अधिपति देव हैं और जीवात्मा महादेव है। इसी तरह छोटा और बडा होनेके भेदसे एक देव होता है और दूसरा महादेव होता है, परंतु जो छोटोंकी अपेक्षा महादेव होता है वही उसके ऊपरके देवकी अपेक्षा छोटा देव होता है। इस तरह ऊपर जाते जाते अन्तिम स्थितिमें परमात्मा सबका महादेव है। इस प्रकार देव और महादेवोंका विचार तुलनात्मक दृष्टिसे जानना योग्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करते हैं—

देव	महादेव
ईश	ईशान
आत्मा	परमात्मा
ब्रह्म	परब्रह्म
इन्द्र	महेन्द्र
ईश	ईश्वर
.....	.....
कीटाणु (देव)	इंद्रियाधिपति (महादेव)
इंद्रियाधिपति ,,	जीवात्मा ,,
जीवात्मा ,,	राजा ,,
राजा ,,	सम्राट् ,,
ग्रामपति ,,	प्रान्तपति ,,
प्रान्तपति ,,	राष्ट्रपति ,,
राष्ट्रपति ,,	जगत्पति ,,
चन्द्रादि ग्रह ,,	सूर्य ,,
तारागण ,,	विराट् ,,

इस रीतिसे पूर्वापर अपेक्षाके संबंधसे एक देव और दूसरा महादेव बनता है। अन्तमें सब चराचरका परमात्मा ही महादेव निश्चयसे है और यही इस प्रथम पर्याय सूक्तमें सबका प्रेरक करके प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है। यह एक है अतः इसको "एक-व्रात्य" अर्थात् एकमात्र परमेश्वर किंवा सबका एक नियन्ता कहा है। यह सबका शासक है और इसका धनुष्य अप्रतिहत है, यही (इन्द्रधनुः=) प्रभुका धनुष्य ऐसा है कि (द्विषन्तं विध्यति) इस धनुष्यसे विद्वेषी लोगोंका पूर्ण नाश होता है। परमेश्वरका सर्वतोपरि शासन है और इस शासनसे हिंसकोंका नाश होता है और सज्जनोंकी रक्षा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

होती है; इसीलिये इस एक देवकी उपासना सबको करनी चाहिये। यह उपदेश प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है।

इसके आगे ब्रह्मचारी का वर्णन है, उसका विचार अब हम करते हैं—

ब्राह्मणविभाग।

व्रात्य ब्रह्मचारी।

"ब्रह्मचारी" वह है कि जो "ब्रह्मके समान आचरण करता है, अथवा ब्रह्म बनने के लिये व्रतका आचरण करता है।" ब्रह्मका आचरण कैसा होता है, इस विषयमें प्रारंभके पर्याय सूक्तमें अच्छा वर्णन आगया है। ब्रह्मचारी वैसा बनना चाहता है। और जो ब्रह्मचारी वैसा सद्गुणैश्वर्यसंपन्न होता है, उसकी योग्यता विशेषही उच्च होती है।

जब ऐसा सुयोग्य ब्रह्मचारी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके देशदेशान्तरों में भ्रमण करता है, जनताको धर्म और सदाचारका सन्देश सुनाता है, लोगोंका भला करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब जगत् के संपूर्ण देव सूर्य, चन्द्र, विश्वेदेव, वरुण, सप्तर्षि आदि सब उसकी सहायता करते हैं, वेदके रथन्तरादि सब प्रभावशाली मंत्र उसके अन्दर उनके ज्ञानविज्ञानके साथ उपस्थित होते हैं। श्रद्धा उसकी धर्मपत्नी नित्य उसकी आज्ञामें उपस्थित होती है, उषाके समय उस धर्म-पत्नी श्रद्धाके साथ उपासनाके कार्य वह करता है, इरा अर्थात् वाणी उसकी श्रद्धा की अनुसारिणी होती है, जैसी बिजुली मेघमें शोभा देती है, इसी प्रकार उसकी सुसंस्कृत वाणी उषाके समय उसकी श्रद्धा से युक्त होकर उसकी शोभा बढाती है।

उसका मित्र वेदमंत्ररूपी (मागध) स्तुतिपाठक है, अर्थात् यह यदि किसी की स्तुति करता है, तो केवल सबके मित्र रूप परमेश्वर की स्तुति वेदमंत्रोंसे करता है। किसी भी लालचमें पडकर वह किसी मर्त्यकी प्रशंसा करनेका कार्य नहीं करता। वेदमंत्रके उपदेशों की सत्यता देख कर हि उसको आश्चर्यदर्शक (हसः) हास्य आता है, उसी दिव्य हास्यमें वह मस्त रहता है और जब वह उपदेश देता है, वेद-मंत्रोंकी व्याख्या करता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मेघगर्जना (स्तनयित्नुः) होकर अमृत जैसे वेदोपदेश की वर्षाही होरही है!!

वस्त्र (वासः) शरीरकी लज्जानिवारण के लिये होता है, उसके शरीर, इंद्रियां,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मन और बुद्धि की लज्जा निवारण करनेके लिये उसका वस्त्र (विज्ञान) ज्ञान और विज्ञान, बोध और प्रतिबोध, ही होता है। इसी विज्ञानका वस्त्र पहिना हुआ वह ब्रह्मचारी वस्त्रभूषण की अपेक्षासे अधिक ही सुशोभित होता है। क्योंकि ज्ञानविज्ञान ही मनुष्य का उत्तम भूषण है।

दिन उसका शिरोवस्त्र, पगडी अथवा साफा है, रात्रीका कृष्ण वर्ण उसके केश हैं, सूर्यकिरण उसके कुण्डल हैं, आकाशके तारागण उसके मणि हैं। अर्थात् ये ही उसकी शोभा बढानेवाले उसके जेवर हैं। इस तरह यह ब्रह्मचारी निसर्गकोही अपना भूषण बनाता है, सोने चांदीके जेवर मनुष्यका भूषण नहीं बन सकते, जो विज्ञानात्मा पुरुष है उसके ये ही भूषण हैं। निसर्गनियमोंसे युक्त जीवन व्यतीत करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, अतः निसर्गके पदार्थ ही उसका भूषण बढाते हैं।

भूतकालका इतिहास और भविष्यकालकी उन्नतिकी योजना (भूतं भविष्यत् च) ये दो उसके रक्षक हैं। इनके द्वारा यह सुरक्षित होता हुआ अपना प्रचार का कार्य करता है। इसी तरह अमावास्या और पौर्णमासी अर्थात् महिनेके शुक्ल और कृष्ण पक्ष, दिन और रात्री ये अहोरात्रके दो विभाग, तथा (श्रुतं विश्रुतं) ज्ञान और विज्ञान, सुना हुआ उपदेश और उसके मननसे प्राप्त हुआ विज्ञान ये भी उसके रक्षक अर्थात् उसकी रक्षा करनेवाले हैं। यह ब्रह्मचारी जो उपदेश करता है उसका आधार 'भूत' कालके इतिहासमें होता है और इसका यह उपदेश श्रवण करनेसे श्रोताओंके मनमें भविष्यकालकी बडी भारी आशाएं, अपनी उन्नतिकी आकांक्षाएं, उत्पन्न होती हैं, और इनसे श्रोताओंकी क्रमसे उन्नति होती है और दिन रात्र का कार्यक्रम, पूर्व और उत्तर पक्षके कार्यक्रम उसके उपदेशसे निश्चित होते हैं। इस तरह (श्रुत) ज्ञान और (विश्रुत) विज्ञानसे यह ब्रह्मचारी सबकी उन्नति करता है।

मनुष्य 'मनोरथ' करता रहता है, ये केवल उसके "मन" के ही "रथ" होते हैं। कई लोग हवामें कीले बनाते हैं। वे भी मनोरथ ही होते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्मचारी भी (मनः— विपथं) मनके रथ उडाता है, मनसे ही रथोंको बनाकर मनसे ही उसमें बैठता है और मनसे ही सेर करता है। इसके मनोरथके (मातरिश्वा पवमानः च) श्वास और उच्छ्वास ये दो घोडे हैं। जो पाठक प्राणायाम करते हैं वे जानते हैं कि, प्राण की स्थिरतापर मन की स्थिरता अव-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

लंबित है। क्यों कि मनके घोडे प्राण हैं, अर्थात् मनोरथ के घोडे प्राण हैं। ये घोडे स्थिर रहे तो हि रथ स्थिर रहता है और घोडे चलने लगे तो रथ चलता है। प्राण और मनका संबंध नित्य है यह गुप्त बात यहां इस अलंकारसे बतायी है। प्राण को चंचल रखते हुए कोई भी मनुष्य अपने मनको शान्त नहीं कर सकता।

इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीको कीर्ति और यश प्राप्त होता है। कीर्ति और यश की कुंजी इस सदाचार में है, इस की योग्यतामें इसका यश है। जो अपनी योग्यता इस ब्रह्मचारी जैसी बनाता है वह भी कीर्तिमान और यशस्वी हो जाता है। यह सब उपदेश पाठक द्वितीय पर्याय सूक्तमें देख सकते हैं।

ब्रह्मचारीका आसन।

ब्रह्मचारी संवत्सरभर तपस्या करता है, वह खडा रहकर तपस्या करता है। उसकी यह तपस्या देख कर अन्योंको कष्ट होते हैं। वे उसको बैठनेके लिये चौंकी देते हैं परंतु जिस चौंकीपर यह ब्रह्मचारी बैठता है वह ज्ञानकी चौंकी होती है। लकडीकी चौंकी उसके लिये पसंद नहीं है।

इस ब्रह्मचारीके चौंकी के पांव वसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरत् ये चार ऋतु हैं; अर्थात् इन ऋतुओं पर यह रहता है। बृहत् रथन्तर आदि साम इस चौंकी के फलक होते हैं। इस चौंकीपर गद्दी बिछायी होती है, उसके कपडेके लंबाई चौडाई के तन्तु ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मंत्र होते हैं। अर्थात् वेदके ज्ञान की गद्दीपर यह आरूढ होता है। इस ज्ञानमय सिंहासनपर यह विराजमान होता है, इस समय सब देव उसके रक्षक बनते हैं और वे अपनी विविध शक्तियोंसे इसके चारों ओर आकर खडे होते हैं।

जो ज्ञान के अटल आधारपर खडा होता है, उसकी ऐसीही विशेष योग्यता होती है। यह उपदेश तृतीय पर्यायसूक्तमें दिया है।

रक्षक ऋतु और देव।

आगे चतुर्थ पर्याय सूक्तमें कहा है कि, छहों ऋतु और उनके बारहों महिने उस के (गोप्तारौ) रक्षक होते हैं। अर्थात् इन सब महिनोंमें उसकी रक्षा होती है।

इसके नंतर पञ्चम पर्याय सूक्तमें कहा है कि सब दिशा और अन्तर्दिशाओंमें भव,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शर्व, पशुपति, उग्रदेव, रुद्र, महादेव और ईशान ये सात देव अपने धनुष्यबाण हाथमें धारण करके इसके साथी होते हैं और इस की रक्षा करते हैं। पाठक यहां यह न समझें की ये सात देव भिन्न हैं। ये 'ईशान' के हि नाम हैं। ईशान ही एक देव है जिसके गुणधर्म बोधक हे सात नाम हैं। वह एक देव सबका ईश अथवा स्वामी है इस लिये उसको 'ईशान' कहते हैं; इसके आधीन अनंत देव हैं उन सब देवों पर यह मुख्य अधिष्ठाता होनेसे इसको 'महादेव' कहते हैं। यही ईश्वर सब दुष्ट और पापकर्मियोंको योग्य दण्ड देकर रुलाता है, इसलिये इसको 'रुद्र' कहते हैं। पापियोंको यही भयंकर 'उग्र' वीरभद्र प्रतीत होता है। इसके पास अतुल पाशवी शक्ति रहती है, अथवा यह सब जीवोंका पालक है इसलिये इसको 'पशुपति' कहते हैं। यह अत्यंत गतिमान् प्रचण्ड वेगवान् होनेसे इसको "शर्व" (शर्वति गच्छति) कहते हैं और सब जगत् को भूति और ऐश्वर्य प्रदान करता है, इसलिये उसको 'भव' कहते हैं। इस तरह ये सातों शब्द एक ही देव के वाचक हैं। यह एक देव ये सात कर्म करता है, इसलिये ये सात नाम इस को प्राप्त होते हैं। यह सबका देवाधिदेव इस ब्रह्मचारीका साथी, मित्र, रक्षक और अनुगामी होता है।

देवोंकी सहायता।

आगे षष्ठ पर्याय सूक्तमें इस ब्रह्मचारीको सब देवताओंकी सहायता होती है, ऐसा वर्णन है। भूमिके अन्दर उसको भूमि, अग्नि, औषधियां, वनस्पतियां, वृक्ष आदि सहायक होते हैं। उर्ध्वभागसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघोदक और वायुकी सहायता होती है। उत्तम ज्ञानक्षेत्रमें ऋचा, यजु, साम और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेदके मन्त्र सहायक होते हैं। इतिहासकी बडी दिशा में इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी उसके अनुकूल होते हैं। यज्ञक्षेत्रमें आहवनीय, गार्हपत्य आदि यज्ञ उसकी सहायता करते हैं। कालक्षेत्रमें ऋतु, महिने, पक्ष, अहोरात्र ये उसके सहायक होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह आगे बढता है वहां (अदिति) मूल प्रकृति, (दिति) प्रकृति की विकृति, (इन्द्राणी) इन्द्र अर्थात् आत्मा की शक्ति, (इडा) वाणी आदिकी सहायता होती है। और इस क्षेत्रमें उसको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि उसमें तृप्त होता हुआ यह (न अवर्त्स्यन् इति अमन्यत) यहांसे वापस न होऊंगा ऐसा मानता है। इतनी तल्लीनता उसमें इसको प्राप्त होती है। आगे इसको सभी देव सहायता करते हैं और वह उन सब का प्रिय धाम बनता है।

CCO. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सप्तम पर्याय सूक्तमें कहा है कि ऐसी पूर्ण अवस्था प्राप्त होनेपर उसको उत्तम श्रद्धा स्वानुभवसे प्राप्त होती है। इसके पश्चात् वह इस अनुभव को कभी भूलता नहीं। यहां पूर्ण ब्रह्मावस्था इसको प्राप्त हुई होती है। यही सच्चा ब्राह्मण है।

क्षात्रियविभाग।

वैदिक स्वराज्य।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचर्य पालन करता है और उत्तम क्षत्रिय होता है। इसको 'राजन्य' इसलिये कहते हैं कि (सः अरज्यत) वह लोगोंका रंजन करता है। जनों को प्रसन्न रखता है, वह जनता को सुरक्षित रखता है। सब प्रजाजनों की रक्षा करनेसे उसको सब प्रकार खानपान आदि भोग प्राप्त होते हैं और सब लोग उसके अनुयायी होते हैं। इतना विषय अष्टम पर्याय सूक्तमें कहा है और नवम पर्याय सूक्तमें आगे राजप्रकरण का ही उपदेश करते हैं—

(सः विशः अनुव्यचलत्) वह क्षत्रिय राजा ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् राजगद्दीपर आरूढ होकर प्रजाके मतानुसार राज्यशासन चलाने लगा। राजा प्रजामतानुसार होनेसे उस राजाको (सभा) ग्रामसभा, (समिति) राष्ट्रीय महापरिषद, (सेना) चतुरंग सैन्य और (सुरा) ऐश्वर्य, धनकोश उसके अनुकूल होते हैं। अर्थात् जो राजा प्रजामतानुसारी नहीं होता उसको इनकी अनुकूलता नहीं होती। इस का सीधा भाव यह है कि प्रजाकी सभा और महासभा, सेना और धनकोश इनपर राजाका अधिकार नहीं है। इन पर प्रजाका अधिकार है। इसलिये प्रजाकी प्रसन्नतासे ही इन की अनुकूलता राजाको होती है, अन्यथा नहीं।

वैदिक स्वराज्यका यह आदर्श है। पूर्ण स्वराज्य इसी का नाम है। जिस राज्यव्यवस्थामें प्रजाका रंजन करनेवाला राजा ही राजगद्दीपर रह सकता है और प्रजाका भंजन करनेवाला राष्ट्रसे उतारा जाता है और जिस शासन संस्थामें धनकोश, सेना, और राष्ट्रसभा प्रजामतके आधीन होते हैं, उसको "वैदिक स्वराज्यशासन" कह सकते हैं। इससे भिन्न अन्य शासन आसुरी शासन समझना उचित है।

इस स्थानपर 'सुरा' शब्द धनकोश वाचक है। 'सुर ऐश्वर्य' धातुसे यह शब्द ऐश्वर्य और धन आदिका वाचक बनता है। 'सुरा' शब्दका आजकल

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रसिद्ध अर्थ ' मद्य ' है , यह अर्थ यहां नहीं है।

इस तरह क्षात्रनीतिका वर्णन इस सूक्तमें है। और यह आजकलके स्वराज्य वादियों के लिये भी एक उत्साह जनक वैदिक संदेश है।

अतिथिसत्कार।

आगे दसवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन चार पर्याय सूक्तोंमें अतिथिसत्कारका महत्त्वपूर्ण विषय चला है। यहां कहा है कि जिसके घर अतिथि आवे, वह गृहस्थी समझे कि (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) यह अपने से बहुत श्रेष्ठ है और इस का सत्कार करनेसे अपना परम कल्याण निःसन्देह होगा। अर्थात् इस भावनासे अतिथिका बहुत सत्कार गृहस्थी करे। ब्राह्मण प्रत्यक्ष बृहस्पति है और क्षत्रिय (आदित्यः) सूर्य अथवा इन्द्रकी मूर्ति है। यदि इनमेंसे कोई किसी गृहस्थीके घर अतिथिरूपसे आवे, तो उस गृहस्थीका बडा भाग्य है ऐसा समझना चाहिये। अतिथि घर पर आने पर उसका आदर सत्कार इस प्रकार किया जावे—

१ (व्रात्य क्व अवात्सीः) ब्रह्मचारिजी, आप कहांके रहनेवाले हैं ?

२ (व्रात्य उदकं) ब्रह्मचारिजी, आपके लिये यह जल लाता हूं।

३ (तर्पयन्तु) हे अतिथिजी, मेरे लोग आपको तृप्त करें।

४ (व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे विद्वन्, जो आपके लिये प्रिय हो वही बने, वही किया जायगा।

५ (यथा ते वशः तथा अस्तु) जो आपकी इच्छा हो वही होगी।

६ (यथा ते निकामः ,तथा अस्तु) जो आपकी कामना हो वही हो। उसीके अनुसार हम करेंगे।

इस प्रकार प्रश्न करके और भाषण करके गृहस्थ और उसके घरके मनुष्य अतिथि-सेवा करें। और उसकी सेवामें कोई न्यूनता न रखे।

यदि गृहस्थीके अग्निहोत्र करनेके समय अतिथि आजाय, अथवा अतिथि आनेपर अग्निहोत्र करनेका समय होजावे, तो गृहस्थ अतिथिकी आज्ञासे अग्निहोत्र करे। यदि अतिथि आज्ञा देवे तो अग्निहोत्र करे, उसकी आज्ञा न हुई तो न करे। यदि किसी गृहस्थीने अतिथिकी आज्ञाके विरुद्ध हवन किया तो उसका वह हवन व्यर्थ होता है॥ (देखो पर्याय सूक्त १२)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुगंधित धूप

प्रकारके सुगंधित धूप, अगरबत्तियां, धूपके
ां, धूपबत्तियां हमारे पास मिलती हैं।
धशाला, डा० किन्ही (जि. सातारा)

The
Vedic Magazine

only Journal in English which
t revival of Aryan culture and the
gation of the religion of the Vedas
times and countries. It is the only
f the Arya Samajic world which
the message of the Arya Samaj
the seas. Indian emigrants from
ndi-knowing Provinces of India,
Madras, Mysore, Andhradesh,
etc. etc., can remain in contact
Aryan thought through this
y. The contents of the Magazine
ways been highly spoken of by
d women of light and leeding.

ucted by Prof. Ramdev, Principal
rnor, Gurukula Kangri.

cription Rs. 5 only in advance.

gar 'The VEDIC MAGAZINE'

O. GURUKULA KANGRI.
(Dist. Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक—श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशकेलिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में

प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगा मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय एक आना।

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B.1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[११ से ११]	११	११२१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०६]	१०	१०००	५॥)	१)

कुल मूल्य ५७॥।) कुल डा. व्य.१०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

Gurukula Kangri Library

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १३
अंक २

क्रमांक
१४६

माघ
संवत् १९८८
फर्वरी
सन १९३२

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =)वी. पी. से ।॥=)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

विषयसूची

१ वाणीके रूप ।	९
२ वैदिक राष्ट्रगीत ।	१०
३ सर्पविष ।	११
४ आयुर्वेद ।	१२
५ दया-दान ।	१५
६ फेनका अस्त्र ।	१६
७ अथर्ववेदका स्वाध्याय ।	४१
८ श्रीमद्भगवद्गीता ।	२८९

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं। प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनपर भी मूल्य केवल १) है और डा. व्य.।) है। जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्थसूची ।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तक की सहायता हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक का है, यह जान सकता है। भगवद्गीताका नित्यपा करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है य नहीं कह सकते। परंतु इस पुस्तक की सहायता साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है य विना आयास जान सकता है। इसलिये जो लो भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्त को अवश्य अपने पास रखे। मूल्य केवल ।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातार

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक २
माघ
संवत् १९८८
फर्वरी
सन १९३२

ॐ

क्रमांक १४६

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्व-ज्ञान-प्रचारक-मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

वाणीके रूप।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥ ३४ ॥

ऋ० १। १६४। ४१

" (एकपदी) एक पदवाली, (द्विपदी) दो पांववाली, (चतुष्पदी) चार पांववाली, (अष्टापदी) आठ पादवाली, (नवपदी) नवीन नवीन पदोंवाली, (सहस्र-अक्षरा) हजारों अक्षरोंवाली (परमे व्योमन् बभूवुषी) हृदयके परम आकाशमें प्रकट होनेवाली, (सलिलानि तक्षती) प्रवाहोंको उत्पन्न करती हुई (सा गौरीः मिमाय) वह वाणी शब्द करती है।"

वाणी प्रारंभ अवस्थामें अकाररूप एकरूप होती है। पश्चात् वह नाम (सुबन्त)और क्रिया (तिङन्त) रूप दो पांववाली होती है। फिर वही नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार पावोंसे युक्त होती है। संबोधन सहित सात विभक्तियोंके प्रत्यय मिलकर आठ पांव इसको लगते हैं। इस प्रकार नवीन नवीन पदोंसे यह वाणी युक्त बनती है। इस वाणीमें हजारहां अक्षर होते हैं और ये अक्षर आगे पीछे रहकर वाणीका अखंड प्रवाह चलता है। प्रत्येक पदार्थ को नाम देकर यह अपना अखंड प्रवाह सिद्ध करती है। इस प्रकारकी यह वाकशक्ति मनुष्योंके अन्तःकरणमें रहकर शब्द करती है। यह दिव्य शक्ति है। मनुष्य इस शक्तिको दिव्य और पवित्र रखें, अपवित्र न बनावें।

[सूचना- यहां का एकपदी आदि वर्णन विविध छंदोंका भी है। (देखो अथर्व ९।१०।२१ अर्थ और विवरण)]

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वैदिक राष्ट्रगीत

(ले०- श्री. वैदिकधर्मविशारद पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार एम. ए.)

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥५३॥
पृथ्वी अन्तरिक्ष द्यौ सारे, हमको देवें बुद्धि विकास ।
"सूर्य" अग्नि जल विश्वेदेवा, मुझमें मेधा करें प्रकाश ॥५३॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥
सहनशील मैं बनूं भूमि में, हो सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठित नाम ।
दिशा दिशामें सहनशील हों, सारे सिद्ध हमारे काम॥५४॥

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्। आत्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥
पूर्व देव विद्वानों द्वारा, जो फैला था तेज महत्व । चारों ओर वही फिर माता! तुझको मिले महा अमरत्व ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥
सभा समिति जो मातृभूमि में, वन उपवन वा जो पुर ग्राम । हितकी बात कहें हम माता ! चाहे हो भीषण संग्राम ॥ ५६ ॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत । मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥
जो पृथ्वी में बसे आदि से, अथवा द्वंद्व युद्ध पश्चात् ।
जैसे अश्व धूलिको फेंके, कंपित करे सकल जन जात ॥
वही वनस्पति ओषधि सबको, करती ग्रहण निकट औ दूर ।
रक्षा करे जगत् की नेत्री, दे आनन्द सदा भरपूर ॥५७॥

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा । त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥
जो कुछ कहें देशहित बोलें, जो देखें हो देशसहाय ।
ज्ञानवान् तेजस्वी होकर, मारें देश-शत्रुगण जाय ॥ ५८ ॥

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती। भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥
शांति विधायक सुरभित सुखदा, माता पयस्वती सह अन्न । दुग्ध वारि आदिक से पृथ्वी, हमको करे सदा संपन्न ॥ ५९ ॥

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तिरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् । भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविभोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥ ६० ॥
नभ प्रविष्ट पृथ्वी को चाहे, कर्ता श्रद्धाभक्ति समेत । मातृ-भक्त के लिये प्रकट हो, भोजन पात्र गुहास्थित खेत ॥६०॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पथप्राना । यत् त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥
कामधेनुसम जनसुखदात्री, माता करती उपज महान् ।
जो कुछ कमी रहे तेरे में, पूरण करे प्रजापति आन ॥६१॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः । दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्य बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥
यक्ष्मारोगरहित रक्षित हों, माता ! तेरे सब सन्तान ।
ज्ञानी दीर्घ आयुको भोगें, हो तुझ पै सारे बालिदान ॥६२॥

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥६३॥
अहो मातृभू ! मुझको दीजै, मेधा मंगल मोद महान् ।
पंडित पूज्य कवीश्वर कीजै, दे सम्पत्ति सुयश सन्मान॥६३॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

राष्ट्रीय प्रार्थना ।

ॐ राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने । नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे ॥ स मे कामान् कामकामाय मह्यम् । कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु ॥ कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः ॥

ॐ स्वस्ति । साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आंतादापरार्धात् । पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति ॥ (ऐत० ब्रा० अ० ३९)

(छप्पय छन्दः)

शक्ति शील अधिराज ! आपको बहु प्रणाम हों ।
विनय सुनो महाराज ! हमारे पूर्ण काम हों ॥
कामेश्वर भगवान् ! कामना पूरी कीजै ।
करके नित कल्याण, बुद्धि बल वैभव दीजै ॥
हे ईश ! हमारा शान्तिमय, भूमंडल में राज्य हो ।
सुखसहित सदा कल कान्तिमय, प्रजातन्त्र साम्राज्य हो ॥१
पावें राज्य स्वराज्य, श्रेष्ठ सुख देने हारा ।
परमेश्वर ! ऐश्वर्य, सदा ही बढे हमारा ।
हो असीम साम्राज्, विश्वव्यापी हो प्यारा ।
राजों का अधिराज, चक्रवर्ती हो सारा ॥
हो सार्वभौम सब काल में, भूमि सिन्धुपर्यन्त हो ।
हे ईश ! हमारे राज्यका, ह्रास न नाश न अन्त हो ॥२

सर्पविष

(ले०- पं० होशियार सिंह वैद्य, भिषगाचार्य धन्वतरी)

आपने सर्पविष के दूर करने के उपाय दिये हैं और उसमें यह बतलाया है कि जिस मनुष्य को सापने काटा हो वह सांप को काट खावे तो विष उतर जाता है । इसकी पुष्टिके लिये सुश्रुतके कल्पस्थान के पांचवें अध्याय में सर्प दंशकी चिकित्सा लिखी है उसमें बतलाया है कि 'जहां बंधन नहीं बंध सकता, उस दंशस्थान को खुरचकर अग्नि से दाग दे, आचूषण, छेदन, दाह ये सर्वत्र पूजित हैं अथवा वह उसी काटनेवाले सर्प को काटे जिसने कि उसे काटा है उससे विष सर्पके शरीरमें पहुंचकर मनुष्य चंगा हो जाता है । चिकित्सा सूत्र इस प्रकार है कि विष से विषका नाश होता है । दूसरा स्थावर विष से जंगम और जंगम विषसे स्थावर विष का विशेष करके नाश होता है यह बात तो प्रत्यक्ष देखी हुई है कि सांप के उपर तम्बाकू का पानी डालने से सांप तिलमिला जाता है और बेहोश होकर गिर पडता है, इससे यह बात निःसंदेह सिद्ध हो सकती है कि विषसे विषका नाश होता है और ऐसा प्राणी सांप के काटने से लाभ ही उठावेगा। क्योंकि सुश्रुत जैसे प्रसिद्ध ग्रंथमें भी यह बात लिखी हुई है यह पूरी खोज केबाद ही लिखा गया होगा और यह भी लिखा है कि मिट्टी के ढेले को काटे और उसे थूकदे जिससे विष ठैलेमें जावे। किसी प्रकार से विष को बाहर करना है । सापके काटने में यदि भय न लगें तो सापके कटानेसे सब में अधिक सुभीता है क्योंकि वह काटते ही प्राप्त हो सकता है । उपायसें समय वही ठीक है जो शीघ्र प्राप्त हो जावें ताकि ऐसे विष शरीरमें फैल न सके ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आयुर्वेद।

(ले.- श्री. पं. दुर्गादत्त विशारद, वैद्यराज, बयाना, भरतपुरराज)

आयु और वेद इन दो विभिन्न शब्दोंसे आयुर्वेद यह समस्त पद बना है। इसका अर्थ है आयुसंबंधी ज्ञान, या यों कहिये कि शरीर और जीवके मिलाप को जीवन कहते हैं, जितने कालपर्यन्त यह मेल बना रहे उसका नाम है आयु। एतद्विषयक ज्ञान जिससे हो उसे आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं।

शरीर और प्राणके संयोगात्मक, रहस्यमय शारीरिक जीवनको रोगनिवृत्ति तथा स्वास्थ्यपुरस्सर सौ वर्ष तक कायम रखना आयुर्वेदशास्त्रका मुख्य उद्देश्य है।

स्वास्थ्यसंवर्धन और व्याधिशमन इन दो लक्ष्यों की सिद्धि के लिये आयुर्वेद को आठ अंगोंमें विभक्त किया है,जैसे आयुर्वेद शास्त्र अष्टांगी है ऐसेही योग शास्त्रभी अष्टांगी है। आयुर्वेद तथा योग दोनों समानधर्मी शास्त्र हैं, दोनों का उद्देश्य एकही है। वैद्यक शास्त्र औषधी योजना से शरीरस्वास्थ्य, बलवृद्धि और दीर्घायुष्य आदि उद्देश्य सिद्ध करता है और योगशास्त्र यमनियमादि द्वारा इसी लक्ष्य को सुफल कहता है। फर्क यह है कि आयुर्वेद में बाह्य साधनोंकी सहायता लेनी पडती है और योगशास्त्र अंतरिक साधनोंसे ये (बल्कि इससेभी अधिक) सिद्धियां प्राप्त की जाती हैं। कितने खेदकी बात है और हमारी दुर्गतिका व कमनसीबीका कितना जबर्दस्त सबूत है कि इस परमोपयोगी अष्टाङ्ग आयुर्वेद के शिक्षण व दीक्षण का काबिल तारीफ प्रबंध हमारे देशमें नहीं है। कोई कोई तो शाब्दिक पठन करके ही अपने को वैद्य मशहूर करते हैं और बहुतसे तो अपने हथकंडों के बल परही अपने को सुचिकित्सा धन्वन्तरी कहने लगते हैं। ऐसे वैद्योंसे देशको लाभ पहुंचना तो मुशकिल है ही, बल्कि उलटे देशकी अधोगति के साधक होते हैं।

इस दीनहीन भारतका एक मात्र बंधु वैद्यक शास्त्र जबतक वैद्यबंधुवों, भारतीय समाज या राजशक्तिसे इसका पालन पोषण न होगा और नव्य संस्कार और विकाससे इसका अभ्युत्थान न होगा, तो आयुर्वेदका विद्यमान महत्त्वभी धूलीमें मिल जावेगा, परमात्मा ऐसा दिन न दिखावे।

आयुर्वेद शास्त्र किसीकी नकल नहीं है। इसके सब विषय स्वतंत्र-तहकीकातसे इजाद हुये थे, यद्यपि इस समय हमारा आयुर्वेद सर्वाङ्गपूर्ण नहीं रहा, इसके अंग प्रत्यंग में न्यूनता और कल्पित क्षय और विकृति आगई है, परन्तु फिरभी इस भग्नावशेष कलेवरमें ऐसे ऐसे दीप्यमान रत्न भरे पडे हैं जिनकी उज्ज्वलता से देश एकदम उज्ज्वल हो सकता है। मैं लक्ष्य से कुछ दूर चला गया था इसकी क्षमा चाहते हुये निवेदन है कि, पूर्व प्रतिपादित अष्टांग आयुर्वेद का—

(१)पहला अंग शल्य तंत्र है। यद्यपि शल्य तंत्रके शाब्दिक निर्वाचन अनेक हो सकते हैं परन्तु इसका भावार्थ शास्त्रचिकित्सासंबंधी विद्या है। शल्य तंत्रपर जितने ग्रंथ रत्न निर्माण हुये हैं, उनमें सिवाय सुश्रुत संहिताके कोई भी ग्रंथ वर्तमान नहीं मिलता। मूढ गर्भ,पथरी और मस्तिष्क आदि भयंकर रोगों की शस्त्रचिकित्सा प्रणाली के देखने से पत्ता चलता है कि आजसे तखमीनन दो हजार वर्ष पहले से आयुर्वेदीय शस्त्र चिकित्सा तत्कालोचित उन्नति की चरम सीमा की पहुंची हुई थी।

(२) आयुर्वेद का दुसरा अंग शालाक्य तंत्र है। कान, नाक, मुख और नेत्रादि ऊर्ध्वाङ्ग से संबध रखनेवाले रोगोंकी चिकित्सा और इलाज इसके मुख्य विषय हैं। अष्टांग आयुर्वेद का यह अंग अत्यन्त गहन और काबिल अमल मजमूनों से भरा हुवा है। ज्ञानेन्द्रिय संबंधी रोगोंकी चिकित्सा में जैसी बारीकी और कठनाई का सामना करना पडता है वैसा अन्यत्र नहीं, यद्यपि नेत्र प्रभृति रोगों की चिकित्सा में भी शस्त्रप्रयोग की जरूरत होती है मगर आयुर्वेद में शालाक्य संबंधी रोगों की चिकित्सा का अधिकार शल्य तंत्र के विद्वानों को ही दिया गया है।

नेत्रसंबंधी रोग बडे भयंकर और दुर्विज्ञेय होते हैं इनके प्रतिकारार्थ जैसे जैसे दिव्य प्रयोग आयुर्वेद में मिलते हैं, वैसे दूसरी चिकित्सापद्धति में मिलने कठिन हैं। उन्नति की अन्तिम सीमा को पहुंची हुई एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति आजतक भी नेत्ररोगों के लिये ऐसी रामबाण दवाईयां नहीं निकाल सकी।

अवश्यही इसकी कोकीन आदि औषधि नेत्ररोगों के लिये लाभकारी हैं मगर यह आरजी फायदा पहुंचाती हैं। पद्मप्रधु, पुनर्नवा, भीमसेनी कपूर, त्रिफला आदि दिव्यौषधो नेत्ररोगों के लिये रामबाण हैं! प्रार्ध्रञ्जन आदि औषध अंधों को भी नेत्र देनेवाली हैं।

(३) आयुर्वेद का तीसरा अंग "कायचिकित्सा" है। शस्त्रोपचार के विना ज्वर, अतिसार, संग्रही आदि भयावह रोगोंकी निवृत्ति करना इस अंग का प्रयोजन है। अष्टांग आयुर्वेद का यही एक अंग सजीव है। इसी अंग के प्रभाव से वर्तमान में आयुर्वेद को अवैज्ञानिक कहनेवाले धुरंधर डाक्तरों की अकल भी चक्कर खाती है। अर्श, अश्मरी, भगंदर और जलोदर आदि खतरनाक रोग शस्त्रोपचार विना आयुर्वेदीय इलाज से शान्त होते हैं।

कायचिकित्सापर आजतक जो ग्रंथ बने हैं उन सब में चरक श्रेष्ठतम है। जिसने चरकसंहिता को नहीं पढा एवं चक्रपाणि व गंगाधरीय व्याख्याओं की सहायता से इसकी जटिल तात्पर्यग्रंथियों को नहीं सुलझाया, देशके आचारविचार तथा आहार-व्यवहार का अनुशीलन नहीं किया, उन्हें संभवतः इस बात पर संदेह हो सकता है, मगर बहुदर्शी भारतीय हों या विदेशी, चरक के इस गुणगरिमा पर संदेह नहीं कर सकते। अमरीकन सुप्रसिद्ध चिकित्सक डाक्तर जार्ज क्लार्कने कहा है कि यदि वर्तमानयुग के चिकित्सक अपनी नवाविष्कृत दवाओं को छोडकर चरकमतानुसार चिकित्सा करें तो संसार में मृत्यु और असाध्य रोगोंकी संख्या बहुत कम हो जावे।

(४) भूतविद्या आयुर्वेद का चतुर्थ अंग है। देव, असुर, यक्ष, राक्षस, पितर, नाग, गंधर्व और पिशाच ये आठ भूत हैं, जिसके द्वारा इनका ज्ञान, आवेशचिन्ह और इनका निराकरण होसके उस तंत्र का नाम भूतविद्या है। इस वक्त भूतविद्या का कोई मान्य ग्रंथ नहीं मिलता, अलबत्ता पौराणिक गाथाओं में इनका वर्णन अवश्य मिलता है। वर्तमान में प्रायः अनेक भूतावेश के चिन्ह दृष्टिगोचर होते रहते हैं। माननीय सुश्रुतसंहिता में भूतविद्या का वर्णन तंत्ररूप में मोजूद है।

(५) कौमार भृत्य नामक तंत्र आयुर्वेद का पंचम अंग है। शारिरिक और आगंतुक रोगों से बालक की रक्षा करना इस अंग का मुख्य लक्ष्य है तथा प्रसूता या धात्री (धाय) के क्षीरदाषशोधन एवं दूषित दूधसे पैदा होनेवाले रोगों की शान्ति करना इस अंग का दूसरा लक्ष्य है। प्रसूत संबंधी वर्णनीय विषय भी इसी तंत्र में वर्णित हैं।

(६) अगद तंत्र नामक आयुर्वेद का छटा अंग है। इस स्थल में सब तरह के जहरों का वर्णन, उनकी पहिचान और इलाज बताये गये हैं। आयुर्वेद में यह एक ऐसा अंग है जिसके विना चिकित्सक पूर्ण वैद्य नहीं कहा जा सकता यह अंग भी इस समय परिपूर्ण नहीं है और न वर्तमानमें इसका कोई पृथक् ग्रंथही मिलता है मगर अतीत भारतीय वैद्यों को इसका ज्ञान असाधारण रूपसे था और इसके ग्रंथभी प्राप्त थे ऐसा पता चलता है। सुना जाता

है कि जब यूनान सम्राट् सिकंदरने भारतवर्षपर आक्रमण किया था उस वक्त उसकी फौज में सर्पों ने बहुत उपद्रव मचाया था। यूनानी हकीम इनका प्रतिकार नहीं कर पाये थे, अन्त में भारतीय वैद्योंने ही इनका प्रतिकार कर सिकंदर के कष्ट निवारण किये थे।

आजकलभी सर्प विषकी निवृति जडी बूटी और मंत्र तंत्रसे जो यहां होती है वह बहुत कम होनेपर भी साल भरमें हजारों सर्पदष्ट पुरुषों की प्राण रक्षा के लिये एकही साधन है। जिस समय सर्पदष्ट मनुष्योंकी हालत शोचनीय हो जाती है और बडे बडे विज्ञान वेत्ता चोकडी भूल जाते और कुछ नहीं कर सकते उक्त वक्त इसी आयुर्वेद के यंत्र तंत्र विक्षिप्त यत्नोंसे ही उनके प्राण बचते हैं।

(७) रसायन तंत्र आयुर्वेद का सातवां अंग है जो रोगों को शान्त करके शतवर्षात्मक आयु को स्थापित एवं परिवर्धित करें और दिमागी और जिस्मानी ताकत को बढावे उसका नाम रसायन तंत्र है। आजकल रसायन शब्दसे धातुमय औषधोंका बोध होता है, मगर यह भ्रम है। जिस कालमें आयुर्वेद के इस तंत्र का नामकरण हुवा था, उस वक्त धातुमय औषधोंका नाम व व्यवहार भी वैद्य समुदाय में प्रचलित नहीं था। हरीतकी, आमलकी और गुडूची भी रसायन हैं। इन्ही काष्टमय औषधियों द्वारा बहुतों ने वार्धक्यमें तारुण्य प्राप्त किया है, और असंख्यों ने कालस्वरूप रोगोंसे अपनी प्राणरक्षा की थी।

आयुर्वेद का अष्टम अंग वाजीकरण तंत्र है। जो पुरुष स्वभावसे अल्पवीर्य हैं या वातादि दोषोंसे जिनका वीर्य दूषित होगया है यद्वा वदकारी और कुसंगति से अतिक्षीण होगया है उनकी वीर्यशुद्धि, उत्पत्ति और पुष्टि के उपायों का उल्लेख इस तंत्रमें वर्णित है। वीर्य दोषोंसे संतानोत्पत्ति में जो बाधा पडती है उसका निराकरण करके विशुद्ध और बलिष्ठ संतानोत्पादन का मार्ग प्रदर्शन करना भी इस अंगका उद्देश्य है।

यद्यपि वर्तमान में इस अंगका कोई प्रतिष्ठित ग्रंथ नहीं मिलता परन्तु चरक सुश्रुतादि मान्य ग्रंथों में इसके उत्तमोत्तम प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं, रसशास्त्र में तो वाजीकरणके एकसे एक बढिया प्रयोग हैं। अष्टाङ्ग आयुर्वेदका यह संक्षिप्त सा परिचय है।

इस प्रकार आयुर्वेद का स्वरूप है। पाठक इसका विचार करें और इसका महत्त्व जानें।

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

" अथर्ववेद स्वाध्याय " के पृष्ठ प्रतिमास वैदिक धर्म में दिये जाते हैं। नवमकाण्ड समाप्तितक क्रमपूर्वक अथर्ववेद छप चुका है और उसके पश्चात् १५; १६; १७; १८ ये चार काण्ड दिये जायगे। तत्पश्चात् बीचके काण्ड दिये जायगे।

" संपादक "

भारतभूषण !

(पं० सोमदेव शास्त्रीजी.)

पशुपक्षी भी स्वतन्त्र, तब निकला ये मन्त्र,
यह दिया ईश परतन्त्र क्यों कहावेंगे।
भारत हमारा देश, और हम भारतके
दूसरे हैं कौन फिर, जो कि माल खावेंगे॥
दैन्य औ लायन न, पार्थ-प्रणयादकर
प्रेमसे स्वतन्त्रता दे, हँसिबलि जावेंगे।
युद्ध में स्वाधीनता के प्राण वारे स्वर्ग और
सर्वश्रेष्ठ भारत के भूषण कहावेंगे ॥ १ ॥

दया-दान

(ले०- श्री० विश्रामसिंह जी चौथियाना, मैनपुरी)

बहुत से मनुष्य स्वयं दुःखका अनुभव न किये हुये होनेसे दूसरों पर दया करनेमें संकोच करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता की पुरुषार्थबोधिनी टीका में लिखा है कि प्रत्येक व्यक्तिका सबन्ध इस समस्त ब्रह्माण्ड से है, वैसा धार्मिक पुरुष अनुभव कर सकते हैं। मनुष्य जगत्का जितनाही कल्याण कर सके उसका जीवन उतना ही सफल हो सकता है। साधारण लोग धर्मपर विश्वास नहीं करते परन्तु धर्मका फल इस लोक अथवा परलोकमें अवश्य मिलता है। नहीं तो जीवोंकी अनेक प्रकारकी गतियाँ क्यों होतीं? भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें कहते हैं-

अनिष्टमिष्टमिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

श्लोक १२

इष्ट=जो मनुष्य चाहता है। अनिष्ट=जिनकी मनुष्य इच्छा नहीं करता तथा मिश्र जिसमें दोनोंका समावेश हो। कर्मोंके ऐसे तीन प्रकार के फल रागी लोकोंको मरने के उपरान्त होते हैं, शुभ कर्मोंका फल शुभ, अशुभ कर्मोंका परिणाम अशुभ होता है। महामुनि चाणक्य लिखते हैं—

यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः॥

-चाणक्य नीति.

अर्थात् जिसका चित्त सब प्राणियोंको दुःखमें देखकर दयासे पिघल उठता है उसे ज्ञान मोक्ष तथा जटा बढाने और भस्म लगाने से क्या प्रयोजन है। यहां पर दयाकी बडाई सेही अभिप्राय है ज्ञान और मोक्ष के लिये तो सभी कुछ किया जाता है। धर्माचार्य मनुजी नेभी लिखा है कि यदि कोइ बिना दोष लगावे कुछ मांगे तो उसे कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिये—

यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनाऽनसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः॥

मनु० ४। २२८

परन्तु कुछ समय से ऐसा विचार फैल गया है कि यदि कोई आवश्यकता पडने पर कुछ मांगता है तो लोग सोचते हैं " यह तो आलसी है, हम दान देकर संसार में ऐसे लोगों की संख्या नहीं बढाना चाहते। " विचार करनेकी बात है कि वे यदि कहीं ऐसी अवस्था में हों तो क्या वे चाहेंगे कि लोग उनके विषय में ऐसाही विचार धारण करें? जो आरम्भ से ही भोगमें लगगये हैं, जिन्होंने शुभकर्मों के लिये कष्ट उठानेका प्रयत्न ही नहीं किया, जिनके ऊपर कभी बुरा समय आयाही नहीं, भला वे ऐसे व्यक्तियों की अवस्था को कैसे अनुभव कर सकते हैं ? काल की गति विचित्र है, भले भले लोगोंपर कठिन विपत्तियां आ पडती हैं, जिस मनुष्य को भोजनवस्त्र भी भली भांति नहीं मिलेगा वह पाप करेगाही। क्यों कि कहा है-

त्यजेत क्षुधार्ता माता स्वपुत्रम्।
खादेत् क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्॥
बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्।
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति॥

(हितोपदेश)

साधारण लोगोंकी बात जाने दीजिये, जब महर्षि विश्वामित्र को क्षुधासे अत्यन्त पीडित होनेपर कुत्ते

का मांस चुरानेकी इच्छा हुई तो हम लोगों के लिये क्या कहा जासकता है ?

महर्षि विश्वामित्र की यह कथा महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत आपद्धर्मपर्व में लिखी हुई है।

इन सब बातों को विचार कर प्रत्येक मनुष्य को यथाशक्ति भोजन वस्त्र ज्ञानादि से दीनों की सहायता करना अपना कर्तव्य समझना चाहिये, निष्ठुरता धारण करना उचित नहीं है। देखिये भगवान् व्यास जी क्या कहते हैं—

न दुःखं परदुःखे वै केचिदाहुरबुद्धयः।
यो दुःखं नाभिजानाति स जल्पति महाजने॥
यस्तु शोचति दुःखार्तः स कथं वक्तुमुत्सहेत्।
रसज्ञः सर्वदुःखस्य यथात्मनि तथापरे॥
(शान्तिपर्व अ० १३९ श्लो. ६५।६६)

कोई मूर्ख लोग दूसरे के दुःख में कहते हैं कि दुःख नहीं है अर्थात् वह बनावट करता है। जो दुःख को नहीं जानता, जिसने कभी दुःख का अनुभव नहीं किया वह ऐसा बडे लोगोंके सन्मुख कह सकता है, परन्तु जो दुःखसे दुःखी होकर शोक करता है वह केसे ऐसा कहनेकी उत्साह कर सकता है? सब प्रकार के दुःखों को जाननेवाला जैसा अपने दुःख को जानता है वैसेही दूसरेके दुःख को भी॥

फेनका अस्त्र

(ले० श्री० पं० अ० शं० कोल्हटकर B. A.)

आपका फेनका अस्त्र नामक लेख पढा।

उसमें किया हुआ विवेचन मुझे न तो पर्याप्त न वा निःसंदिग्ध जान पडता है अतः अधिक विचारार्थ मेरे विचार आपके सन्मुख उपस्थित करता हूं।

विचार्य वेदमन्त्र और उसका अंग्रेजी अनुवाद नीचे देता हूं—

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजयः स्पृधः।

Cut off, O Indra, the head of Namuchi by अपां फेन that you may conquer all your opponents.

इस मन्त्रका चिकित्साविषयक होना आपको भी मान्य है। 'नमुचि' का कोइ एक दुःसाध्य रोग होना और 'अपां फेन' का 'समुद्र-फेण' होना मुझे सयुक्तिक दीखता है। प्रश्न इतनाहि है कि 'इंद्र कौन है?'

'इन्द्र' शब्द का अर्थ 'जीवात्मा' लेने में जो बाधा है वहि 'जीवन, विद्युत्' लेने में भी खडी होती है। यथा जीवात्माका तथा जीवन विद्युत् का भी शरीर छोडकर बाहर जाना और फिर वापस आना संभव नहि। दूसरे यदि 'नमुचि' और 'अपां फेन' शब्दोंके वैद्यकविषयक अर्थ लेना उचित है तो 'इन्द्र' शब्दका भी वैसाहि अर्थ करना चाहिए। 'वैदिक-चिकित्सा-शास्त्र' पुस्तक में पं० ध्वजारामजी वैद्यने 'इन्द्र' शब्दका अर्थ 'अर्कपत्र' किया है, वह मुझे उचिततर प्रतीत होता है।

शतपथने नमुचिवध का काल प्रभात-काल वा उषःसमय दिया है और अश्विदेव तथा सरस्वती इन्द्रकी सहायता करते हैं ऐसा कहा है। अश्वदेव तो श्वास और उच्छ्वास स्पष्टहि है। 'सरस्वती' उनके द्वारा शरीर के अन्दर सतत प्रवाहित होनेवाली प्राणशक्ति होगी।

यदि नमुचि का एक अर्थ यक्ष्मरोग किया जाय तो प्रभात समय में शुद्ध और पवित्र नदी या समुद्र कीनारे सदृश स्थानमें प्राणसाधन करनेसे और समुद्रफेन तथा अर्कपत्र का कोई दवा पेटमें लेनेसे उसका परिहार होता है। ऐसा अर्थ हुवा।

अतिथि अनेक दिन घरमें रहा, और उसकी सेवा अच्छी तरहसे की गयी, तो बहुत पुण्यफल प्राप्त होता है।

यदि अतिथिके रूपमें कोई अज्ञानी मनुष्य आजावे, तो भी उसमें अपने उपास्य देवताकी कल्पना करके सब भाग उस देवताको समर्पण करनेकी मनीषासे उस अतिथि को दिये जावें। इससे उपास्य देवकी पूजा होती है।

यहां १३ वां पर्यायसूक्त समाप्त होता है।

अतिथिका रूप।

(शर्धः) बल स्वरूप, (इन्द्रः) शत्रुनिर्दलन करनेवाला, (वरुणः) वरिष्ट देव, (सोमः) शान्त रूप, (विष्णुः) सर्वत्र भ्रमण करनेवाला, (रुद्रः) शत्रुओंको रुलानेवाला, (यमः) नियामक, प्रजाको नियममें रखनेवाला, (अग्निः) तेजस्वी, (बृहस्पतिः) ज्ञानवान्, (ईशानः) स्वामी, (प्रजापतिः) प्रजाका पालक, (परमे-ष्ठी) परम उच्च पदपर विराजमान होने योग्य अतिथि होता है। सुयोग्य अतिथिमें ये सब गुण होनेके कारण उसी अतिथिको ये नाम प्राप्त होते हैं। मानो इन सब देवोंके अंश उस अतिथिमें एकत्रित होते हैं।

यह वर्णन चतुर्दशवें पर्यायसूक्तमें है, इसके नंतर पदरहवें पर्याय सूक्तमें उसके प्राणोंका वर्णन है। इस अतिथिमें सात प्राण हैं, अग्नि, आदित्य, चन्द्र, वायु, जल, पशु और प्रजा ये सात देवता उसके सात प्राणोंमें निवास करते हैं। सात प्राण ये सात इंद्रियों में रहनेवाली सात महाशक्तियां हैं।

आगे सोलहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके सात अपानोंका वर्णन है। पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणा ये सातों उसके अपानोंमें रहते हैं। मनुष्योंका सब दुःख दूर करनेवाली शक्तिका नाम (सर्व दुःखं अपानयति इति अपानः) अपान है। ये सातों श्रद्धा दीक्षा आदि मनुष्यके दुःखोंको दूर करती हैं इसलिये इनका नाम यहां अपान रखा है।

आगे सतरहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिका व्यान भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, ऋतु, ऋतूद्भवपदार्थ, संवत्सर रूप हैं ऐसा वर्णन है और अठारहवें पर्यायसूक्तमें अतिथि के आंख सूर्य और चन्द्र, कान अग्नि और वायु, नाक अहोरात्र, शीर्षकपाल दिति और अदिति, और संवत्सर उसका सिर है।

इस प्रकारका पूज्य व्रात्य सबको नमस्कार करनेयोग्य है ।

इस प्रकरणमें जो अतिथिका स्वरूप वर्णन किया है वह ठीक प्रकार ध्यानमें नहीं आता । तथापि इससे इतनाही प्रतीत होता है कि अतिथि सर्व देवतारूप होनेके समान परम पूज्य है ।

इस पंदरहवें काण्डमें अतिथि सत्कारका विषय है। और प्रत्येक गृहस्थीका यह धर्म होनेसे इस काण्डका विचार प्रत्येक गृहस्थिको करना अत्यंत आवश्यक है।

पंदरहवाँ काण्ड समाप्त।

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

षोडशं काण्डम्।

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)

प्रथमवार

संवत् १९८८, शक १८५३, सन १९३२.

Digitized by eGangotri

हमारा विजय !

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्माऽस्माकं स्वरस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥

अथर्ववेद १६ । ८ । १

" हमारे लिये विजय, उदय, सत्य, तेज, ज्ञान, प्रकाश, यज्ञ, पशु, प्रजाजन और वीर प्राप्त हों। " हमारा सर्वत्र दिग्विजय होवे । "

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्यायमंडळ, भारतमुद्रणालय, औंध (जि० सातारा.)

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

षोडश काण्ड।

इस सोलहवें काण्डमें भी विभिन्न विषयोंके मंत्र नहीं हैं, प्रायः सब काण्डका मुख्य विषय " पापमोचनपूर्वक विजयप्राप्ति " है। सब मंत्रोंका साध्य यही एक है और इसलिये अथर्ववेदके तृतीय महाविभागमें इन मंत्रोंका परिगणन किया है।

इस काण्डके प्रारंभमें 'अनिसृष्टः' शब्द है। इसका भाव है "मुक्त हुआ"। काण्डके प्रारंभ में मुक्त होनेका उल्लेख मंगलवाचक है अर्थात् इस शब्दसे इस काण्डका मंगलाचरण हुआ है।

इस काण्डमें ९ पर्यायसूक्त हैं, पहिले चार पर्यायसूक्तोंका एक अनुवाक है और शेष पांच सूक्तोंका दूसरा अनुवाक है। इस काण्डमें कुल मंत्र १०३ हैं परंतु दूसरी प्रकारकी गिनतीसे ९७ हैं। अब इसके ऋषि देवता छंद देखिये—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः।				
१	१३	अथर्वा	प्रजापतिः	१, ३ द्विप. साम्नी बृहती; २, १० याजुषी त्रिष्टुप्; ४ आसुरी गायत्री; ५, ८ साम्नी पंक्तिः (५ द्विप.); ६ साम्नी अनुष्टुप्; ७ निचृत् विराड् गायत्री; ९ आसुरी पंक्तिः; ११ साम्नी उष्णिक्; १२, १३ आर्ची अनुष्टुप्।
२	६	"	वाक्	१ आसुरी अनुष्टुप्; २ आसुरी उष्णिक्; ३ साम्नी उष्णिक्; ४ त्रिप. साम्नी बृहती; ५ आर्ची अनुष्टुप्; ६ निचृद्विराड्गायत्री।

Digitized by eGangotri

३	६	ब्रह्मा	आदित्यः	१ आसुरी गायत्री; २,३ आर्ची अनुष्टुप्; ४प्राजा. त्रिष्टुप्; ५ साम्नी उष्णिक्; ६द्विप. साम्नी त्रिष्टुप्।
४	७	,,	,,	१,३ साम्नी अनुष्टुप्; २ साम्नी उष्णिक्; ४ त्रिप० अनुष्टुप्; ५ आसुरी गायत्री; ६ आर्ची उष्णिक्; ७ त्रिप. विराड् गर्भानुष्टुप्।

द्वितीयोऽनुवाकः।

५	१०	यम.	दुष्वप्ननाशनं	प्र. १–६ विराड् गायत्री (५ प्र. भुरिक्; ६ प्र. स्वराज्); १ द्वि, ६ द्वि. प्राजा० गायत्री; १ तृ; ६ तृ. द्विप. साम्नी बृहती।
६	११	,,	,, उषा	१— ४ प्राजा० नुष्टुप्; ५ साम्नी पंक्तिः; ६ निचृत् आर्ची बृहती; ७ द्विप. साम्नी बृहती. ८ आसुरी जगती; ९ आसुरी बृहती; १० आर्ची उष्णिक्;११ त्रिप. यवम० गायत्री; आर्ची अनुष्टुप्.
७	१३	,,	,,	१ पंक्तिः; २ साम्नी अनुष्टुप्; ३ आसुरी उष्णिक्; ४ प्राजा० गायत्री; ५ आर्ची उष्णिक्; ६, ९, ११ साम्नी बृहती; ७ याजुषी गायत्री; ८ प्राजा० बृहती; १० साम्नी गायत्री; १२ भुरिक् प्राजा० अनुष्टुप्; १३ आसुरी त्रिष्टुप्।
८	२७ (३३)	,,	,,	प्र. १–२७ एकप. यजुर्ब्राह्मी अनुष्टुप्; द्वि. १–२७ त्रिप. निचृद्गायत्री; तृ. १प्राजा० गायत्री; च.१–२७ त्रिप. प्राजा. त्रिष्टुप्; तृ. २—४,९,१७, १९, २४ आसुरी जगती; तृ. ५, ७, ८, १०,११,१३, १८ आसुरी त्रिष्टुप्; तृ. ६, १२, १४–१६, २०–२३, २७ आसुरी पंक्तिः; तृ. २५, २६ आसुरी बृहती।
९	४ / ९७ (१०३)	१ प्रजापति २ मंत्रोक्त० ३,४ सूर्यः		१ आर्ची अनुष्टुप्; २ आर्ची उष्णिक्; ३ साम्नी पंक्तिः; ४ परोष्णिक्।

इस काण्डमें एक सूक्तके ही ९ पर्यायसूक्त होनेके कारण काण्डके अन्तमें ही सब मंत्रोंका इकट्ठा विचार करेंगे।

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

(अथर्ववेदका सुबोधभाष्य ।)

षोडशं काण्डम्

दुःखमोचन और विजयप्राप्ति ।

[१] अतिसृष्टो अपां वृषभोतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥
रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥ २ ॥
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥

---

१ [१] (अपां वृषभः अतिसृष्टः) जलोंकी वर्षा करनेवाला मुक्त हुआ, (दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः) दिव्य अग्नि मुक्त किये गये ॥ १ ॥ (रुजन् परिरुजन्) तोडता हुआ, सब रीतिसे फोडता हुआ, (मृणन् प्रमृणन्) मारता हुआ और नाश करता हुआ ॥ २ ॥ (म्रोकः खनः) घातक और खोदनेवाले (निर्दाहः) दाह करनेवाले (मनो-हा) मनका नाश करनेवाले (आत्म-दूषिः) आत्माको दूषण देनेवाले और (तनू-दूषिः) शरीरको दूषित करनेवाले ॥ ३ ॥ (इदं तं अतिसृजामि) इस और उस शत्रुको मैं दूर करता हूं, (तं मा अभ्यवनिक्षि) उसको मैं कदापि पुनः

तेन॒ तम॒भ्यति॑सृजामो यो॒३॒॑स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥
अ॒पामग्र॑मसि समु॒द्रं वो॒भ्यव॑सृजामि ॥ ६ ॥
यो॒३॒॑प्स्व॑१॒॑ग्निर॑ति॒ तं सृ॑जामि॒ म्रोकं॒ ख॒निं त॑नू॒दूषि॑म् ॥ ७ ॥
यो व॑ आपोऽग्नि॒रावि॑वेश॒ स ए॒व यद् वो॑ घो॒रं तदे॒तत् ॥ ८ ॥
इन्द्र॑स्य व इन्द्रि॒येणा॒भि षि॑ञ्चेत् ॥ ९ ॥ अ॒रि॒प्रा आपो॑ अप॑ रि॒प्रम॒स्मत् ॥ १० ॥
प्रास्मदेनो॑ वहन्तु॒ प्र दु॒ष्वप्न्यं॑ वहन्तु ॥ ११ ॥
शि॒वेन॑ मा॒ चक्षु॑षा पश्यतापः शि॒वया॑ त॒न्वोप॑ स्पृशत॒ त्वच॑ं मे ॥ १२ ॥
शि॒वान॒ग्नीन॑प्सु॒षदो॑ हवामहे॒ मयि॑ क्ष॒त्रं वर्च॒ आ ध॑त्त देवीः ॥ १३ ॥

प्राप्त न होऊं ॥ ४ ॥ (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं, (तं तेन अभि अति सृजामः) उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥ (अपां अग्रं असि) तू जलोंका अग्रभाग हो (वः समुद्रं अभि अवसृजामि) तुम्हें समुद्रके प्रति मैं छोड देता हूं ॥ ६ ॥ (यः अप्सु अग्निः) जो जलोंमें अग्नि है, (तं अति सृजामि) उसको मैं मुक्त करता हूं। (म्रोकं खनिं तनूदूषिं) घातक खोदक और शरीरको दूषित करनेवाले को दूर करता हूं ॥ ७ ॥ (यः अग्नि आपः वः आविवेश) जो अग्नि आप जलोंके प्रति प्रविष्ट हुआ है (सः एषः) वह यह है, (यत् वः घोरं तत् एतत्) जो आपके लिये भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥ (इन्द्रस्य इंद्रियेण वः अभिषिञ्चेत्) इन्द्रके इंद्रियसे आपका अभिषेक किया जावे ॥ ९ ॥ (अरिप्राः आपः) निर्दोष जल है वह (अस्मत् रिप्रं अप) हमसे मल दूर करे ॥ १० ॥ (अस्मत् एनः प्रवहन्तु) हमसे पाप दूर करे तथा (दुष्वप्न्यं प्र वहन्तु) दुष्ट स्वप्नके हेतुको भी दूर करे ॥ ११ ॥ हे (आपः) जलो ! (मा शिवेन चक्षुषा पश्यत) मुझे कल्याणकारी दृष्टीसे देखो, (मे त्वचं शिवया तन्वा उपस्पृशत) मेरी त्वचाको अपनी शुभ तनूसे स्पर्श करो ॥ १२ ॥ (अप्सुषदः शिवान् अग्नीन् हवामहे) जलमें रहनेवाले शुभकारी अग्नियोंको हम बुलाते हैं, (देवीः) हे दिव्य जलो (मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त) मुझमें क्षात्र बल और तेज धारण करो ॥ १३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

[२] निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ॥ १ ॥ मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥ २ ॥
उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः ॥ ३ ॥
सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥
सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ ५ ॥
ऋषीणां प्रस्तरोसि नमोस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

[३] मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥
रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥
उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥
विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥ ४ ॥

---

[२] (दुः अर्मण्यः निः) दुर्गति दूर हो, (ऊर्जा मधुमती वाक्) बलवाली मीठी वाणी हो ॥ १ ॥ वाणी (मधुमती स्थ) मीठी हो, (मधुमतीं वाचं उदेयं) मीठा भाषण बोलूं ॥ २ ॥ (मे गोपा उपहूतः) मेरा गोपालक –इंद्रियपालक–बुलाया गया, (गोपीथः उपहूतः) वाणीका रक्षक, गोरक्षक अथवा इंद्रियरक्षक बुलाया है ॥ ३ ॥ (सु–श्रुतौ कर्णौ) मेरे दोनों कान उत्तम ज्ञान सुननेवाले हों, (भद्रश्रुतौ कर्णौ) कल्याण वचन सुननेवाले मेरे कान हों, (भद्रं श्लोकं श्रूयासं) कल्याणमयी प्रशंसा मैं सुना करूंगा ॥ ४ ॥ (सुश्रुतिः च उपश्रुतिः च) उत्तम श्रवणशक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति (मा मा हासिष्टां) मुझे कदापि न छोडें । (सौपर्णं ज्योतिः चक्षुः) गरुडके समान तेजस्वी दृष्टि मेरे पास (अजस्रं) सदा रहे ॥ ५ ॥ (ऋषीणां प्रस्तरः असि) तू ऋषियोंका प्रस्तर है, (दैवाय प्रस्ताय नमः अस्तु) देव रूप प्रस्तरको नमस्कार हो ॥ ६ ॥

[३] (रयीणां अहं मूर्धा भूयासं) धनोंका मैं मस्तकके समान ऊंचा स्वामी बनूं । तथा (समानानां मूर्धा भूयासं) समानों में मैं मुखिया बनूं ॥ १ ॥ (रुजः च वेनः च मा मा हासिष्टां) तेज और कान्ति मुझे न छोडें, (मूर्धा च विधर्मा च मा मा हासिष्टां) सिर और विशेष धर्म मुझे न छोडें ॥ २ ॥ (उर्वः च चमसः च मा मा हासिष्टां) पकानेके पात्र और चमस मुझे न छोडें । (धर्ता च धरुणः च मा मा हासिष्टां) धारक और आधार देनेवाला मुझे न छोडें ॥ ३ ॥ (विमोकः च आर्द्रपविः च मा मा हासिष्टां)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥
असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ ६ ॥
[४] नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥
स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥
मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥
सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥
प्राणापानौ मा मां हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥
स्वस्त्यद्योषसो दोषसश्च सर्व आपः सर्वगणा अशीय ॥ ६ ॥

मुक्त करनेवाला और गीला शस्त्र मुझे न छोडे। (आर्द्रदानुः च मातरिश्वा च मा मा हासिष्टां) जल देनेवाला और वायु मुझे न छोडें ॥ ४ ॥ (बृहस्पतिः मे आत्मा) मेरा आत्मा ज्ञानवाला और (नृमणाः नाम हृद्यः) मनुष्योंमें मनन करनेवाला हृदयमें रहनेवाला है ॥ ५ ॥ (मे हृदयं असंतापं) मेरा हृदय संतापरहित हो। (गव्यूतिः उर्वी) मेरे गौवोंकी यूती बडी हो। (विधर्मणा समुद्रः अस्मि) विशेष धर्मोंसे मैं समुद्रके समान हूं ॥ ६ ॥

[४] (अहं रयीणां नाभिः) मैं धनोंका केन्द्र और (समानानां नाभिः भूयासं) समानोंका भी केन्द्र बनूं ॥ १ ॥ (मर्त्येषु अमृतः) मर्त्योंमें अमर (सु-आसत) उत्तम रीतिसे बैठनेवाला और (सु-उषाः) उत्तम तेजवाला तू आत्मा (असि) हो ॥ २ ॥ (प्राणः मां मा हासीत्) प्राण मुझे न छोडे। (अपानः अवहाय मा परा गात्) अपान भी छोडकर दूर न चला जावे ॥ ३ ॥ (सूर्यः अह्नः मा पातु) सूर्य दिनमें मेरी रक्षा करे, (अग्निः पृथिव्याः) अग्नि पृथ्वीसे (वायुः अन्तरिक्षात्) वायु अन्तरिक्षसे (यमः मनुष्येभ्यः) यम मनुष्योंसे और (सरस्वती पार्थिवेभ्यः) सरस्वती पृथ्वीसे उत्पन्न पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे ॥४॥ (प्राणापानौ मा मा हासिष्टां, प्राण और अपान मुझे न छोडें, (जने मा प्रमेषि) मनुष्योंमें घातक न हो ॥ ५ ॥ हे (आपः) जलो! अद्य स्वस्ति) आज कल्याण हो, (उषसः दोषसः च) दिनों और रात्रीयोंसे (सर्वः सर्वगणः) सब और सब गणों

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

[५] विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ १ ॥
अन्तकोसि मृत्युरसि ॥ २ ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ ३ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । ०।० ॥ ४ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । ०।० ॥ ५ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । ०।० ॥ ६ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । ०।० ॥ ७ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ ८ ॥ अन्तकोसि मृत्युरसि॥९॥ तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥१०॥

से युक्त होकर (अशीय) सुख प्राप्त करूं ॥ ६ ॥ (शक्वरीः स्थ) आप सामर्थ्यवान हो, (पशवः मा उपस्थेषुः) पशु मेरे पास रहें, (मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ) मित्र और वरुण मुझे प्राण और अपान तथा (अग्निः मे दक्षं दधातु) अग्नि मुझे बल धारण करे ॥ ७ ॥

[५] (स्वप्न ! ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है । तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) तू व्याधीका पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है ॥ १ ॥ तू (अन्तकः असि) अन्त करनेवाला है और तू (मृत्युः असि) मृत्यु है ॥ २ ॥ हे स्वप्न ! (तं त्वा तथा सं विद्म) उस तुझको वैसा हम जानते हैं । हे स्वप्नः ! (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमें दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ ३ ॥ (स्वप्न ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है तू (निर्ऋत्याः पुत्रः असि) दुर्गतिका पुत्र है और (यमस्य०) यमका साधन है० ॥ ४ ॥ स्वप्नका हेतु हम जानते हैं तू (अभूत्याः पुत्रः०) अभूतिका पुत्र है ॥ ५ ॥ ० तू (निर्भूत्याः पुत्रः०) निर्धनताका पुत्र है० ॥ ६ ॥ ० तू (पराभूत्याः पुत्रः०) पराभवका पुत्र है० ॥ ७ ॥ ० तू (देवजामीनां पुत्रः) इंद्रियविकृतियोंका पुत्र है० ॥ ८ ॥ (अन्तकः असि मृत्युः असि) तू अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ (स्वप्न, तं त्वा तथा सं विद्म) हे स्वप्न, उस तुझ को वैसा

[६] अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥ १ ॥ उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥ २ ॥ द्विषते तत् परा वह शपते तत् परा वह ॥ ३ ॥ यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥ ४ ॥
उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्युषसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥
ते ऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥
कुम्भीका दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥ जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥

हम जानते हैं (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमको दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ १० ॥

[६] (अद्य अजैष्म) आज हमने विजय प्राप्त किया है। (अद्य असनाम) हमने प्राप्तव्यको प्राप्त किया है। (वयं अनागसः अभूम) हम निष्पाप हुए हैं ॥ १ ॥ हे (उषः) उषःकाल ! हम (यस्मात दुष्वप्न्यात् अभैष्म) जिस दुष्टस्वप्नसे हमें भय होता है, (तत अप उच्छतु) वह हमसे दूर होवे ॥ २ ॥ (तत् द्विषते परा वह) वह द्वेषीके लिये दूर ले जा (तत् शपते परा वह) वह शाप देनेवालेके लिये दूर ले जा ॥ ३ ॥ (यं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं और (यत् च नः द्वेष्टि) जो हम सबका द्वेष करता है, (तस्मै एनत् गमयामः) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥ (उषा देवी वाचा संविदाना) उषा देवी वाणीसे संमिलित हो और (वाक् देवी उषसा संविदाना) वाक् देवी उषा देवीसे संमिलित हो ॥ ५ ॥ (उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः) उषाका पति वाणी के पतिके साथ संमिलित हो, और (वाचस्पतिः उषस्पतिना संविदानः) वाणीका पति उषाके पतिके साथ मिले ॥ ६ ॥ (ते अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः) वे निर्धनता दुष्टनामवाले कष्ट और अन्य आपत्तियां (अमुष्मै परा वहन्तु) उस शत्रुके पास ले जावें ॥ ७ ॥ (कुम्भिकाः दूषिकाः पीयकान्) घटके समान बढनेवाले उदररोगों, शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगों और प्राणघातक रोगोंको ॥ ८ ॥ तथा (जाग्रत् दुष्वप्न्यं) जाग्रतिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न, और (स्वप्ने दुष्वप्न्यं) स्वप्नके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥ (अनागमिष्यतः वरान्) न

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अनागमिष्यतो वरानाविंत्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥
तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वाध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥
[७] तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥१॥ देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रेषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥ वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥ एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥ ५ ॥ निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥६॥ सुयामंश्चाक्षुष ॥७॥ इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥

प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ पदार्थ, (अवित्तिः संकल्पान्) दरिद्रताके संकल्प, (अमुच्याः द्रुहः पाशान्) न छूटनेवाले द्रोहके पाशोंको ॥ १० ॥ हे अग्ने! उन सब विपत्तियोंको (तत् अमुष्मै) शत्रुके पास (देवाः परा वहन्तु) सब देव ले चलें। (यथा) जिससे वह शत्रु (वाध्रिः) निर्बल, (विथुरः) व्यथायुक्त और (साधुः न असत्) बुरा होवे ॥ ११ ॥

[७] (तेन एनं विध्यामि) उससे इसका वेध करता हूं, (अभूत्या, निर्भूत्या, ग्राह्या, एनं विध्यामि) दुर्गति, दारिद्र्य और रोगसे इसको विद्ध करता हूं। (पराभूत्या०) पराभवसे इसको पीडित करता हूं (तमसा एनं विध्यामि) अज्ञानसे इसको विद्ध करता हूं ॥ १ ॥ (देवानां घोरैः क्रूरैः प्रेषैः) देवोंके घोर क्रूर दुःखोंसे (एनं अभिप्रेष्यामि) इसको दुःखी करता हूं ॥ २ ॥ (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दधामि) वैश्वानरकी दाढोंमें इसको धर देता हूं ॥ ३ ॥ (सा एव अनेव) वह आपत्ति इस रीतिसे वा अन्य रीतिसे इस शत्रुको (अव गरत्) निगल जाय ॥४॥ (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (तं आत्मा द्वेष्टु) उसका आत्मा द्वेष करे। (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह अपने आत्माका द्वेष करे ॥ ५ ॥ (द्विषन्तं) द्वेष करनेवालेका (दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीके ऊपरसे (निः भजामः) सामना करते हैं ॥ ६ ॥ हे (सुयामन् चाक्षुष) उत्तम नियामक निरीक्षक! ॥ ७ ॥ (इदं अहं) यह मैं (अमुष्यायणे अमुष्याः पुत्रे) इस गोत्रके इसके पुत्रमें (दुष्वप्न्यं मृजे) दुष्ट स्वप्न भेजता हूं ॥ ८ ॥

यद॒दोऽदो॒ अ॒भ्यग॑च्छन् यद् दो॒षा यत् पू॒र्वा रात्रि॑म् ॥ ९ ॥
यज्जाग्र॒द् यत् सु॒प्तो यद् दि॒वा यन्नक्त॑म् ॥ १० ॥
यद॒हर॒हर॒भिग॑च्छा॒मि॒ तस्मा॑दे॒न॒मव॑ दये ॥ ११ ॥
तं ज॑हि॒ तेन॑ मन्दस्व॒ तस्य॑ पृ॒ष्टीरपि॑ शृणीहि ॥ १२ ॥
स मा जी॑वी॒त् तं प्रा॒णो ज॑हातु ॥ १३ ॥

[८] जि॒त॒म॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒त॒म॒स्माक॑ं तेज॒स्मा॑क॒ं ब्रह्मा॒स्माक॑ं स्व॒र॒स्माक॑ं य॒ज्ञो॒३॒॑स्माक॑ं प॒शव॒स्माक॑ं प्र॒जा अ॒स्माक॑ं वी॒रा अ॒स्माक॑म् ॥ १ ॥
तस्मा॑द॒मुं नि॒र्भ॒जा॒मो॒मुमा॑मु॒ष्या॒यण॑म॒मुष्याः॑ पु॒त्र॒म॒सौ यः ॥ २ ॥
स ग्राह्याः॑ पा॒शान्मा मो॑चि ॥ ३ ॥
तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि ॥ ४ ॥

(यत अदः अदः) जो यह दोष (अभिगच्छन्) मैं उसमें प्राप्त करता हूं, (यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिं) जो रात्रीमें अथवा पूर्व रात्री में ॥ ९ ॥ (यत् जाग्रत्) जो जागते हुए, (यत सुप्तः) जो सोये हुए (यत दिवा यत् नक्तं) जो दिनमें और जो रात्रीमें ॥ १० ॥ (यत् अहः अहः अभिगच्छामि) जो प्रतिदिन मैं देखता हूं (तस्मात् एनं अव दये) उस दोषके कारण मैं उसको मारता हूं ॥ ११ ॥ (तं जहि) उसको मार दे, (तेन मन्दस्व) उसके साथ चल, (तस्य पृष्टीः अपि शृणीहि) उसकी पसलियां तोड दे ॥ १२ ॥ (स मा जीवीत्) वह न जीवे, (तं प्राणः जहातु उसको प्राण छोड देवे ॥ १३ ॥

[८] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो, (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (अस्माकं ऋतं) हमारा सत्य हो, (अस्माकं तेजः) हमारा तेज बढे, (अस्माकं ब्रह्म) हमारा ज्ञान बढे, (अस्माकं स्वः) हमारा आत्मप्रकाश बढे, (अस्माकं यज्ञः) हमारा यज्ञ सफल हो, (अस्माकं पशवः) हमारे पास पशु हों, (अस्माकं प्रजाः) हमारी प्रजा-संतान-बढे, (अस्माकं वीराः) हमारे अन्दर वीर हों ॥ १ ॥ (तस्मात् अमुं निर्भजामः) इस अपराधके कारण हम उस शत्रुपर हमला चढाते हैं (अमुं अमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं असौ यः) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा शत्रु है ॥ २ ॥ (सः ग्राह्याः पाशात् मा मोचि) वह रोगके पाशोंसे न छूटे ॥ ३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जितम् ०।० । स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ५ ॥
जितम् ०।० । सोभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ६ ॥
जितम् ०।० । स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ७ ॥
जितम् ०।० । स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ८ ॥
जितम् ०।० । स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ ९ ॥
जितम् ०।० । स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥ १० ॥
जितम् ०।० । स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ११ ॥
जितम् ०।० । स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ।० १२ ॥
जितम् ०।० । स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १३ ॥
जितम् ०।० । सोङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १४ ॥
जितम् ०।० । स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।० १५ ॥
जितम् ०।० । सोथर्वणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १६ ॥
जितम् ०।० । स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १७ ॥
जितम् ०।० । स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १८ ॥
जितम् ०।० । स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १९ ॥
जितम् ०।० । स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २० ॥
जितम् ०।० । स आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २१ ॥
जितम् ०।० । स मासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २२ ॥

(तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयुको मैं घेरता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) यह मैं इसको नीचे गिराता हूं ॥ ४ ॥ ०॥० (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुर्गतिके पाशोंसे न छूटने पावे ॥ ० ॥ ५॥ ०॥ ० (सः अभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दारिद्र्यके पाशोंसे न छूटे । ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ० (सः निर्भूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुरवस्थाके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभवके पाशसे न छूटे ० ॥८॥० ॥ ० (सः देवजामीनां पाशात् मा मोचि) वह इंद्रियदोषोंके पाशोंसे न छूटे ० ॥ ९ ॥ ० । ० ॥ (सः बृहस्पतेः ··· प्रजापतेः ··· ऋषीणां ··· आर्षेयाणां ··· अंगिरसां ··· आंगिरसानां ··· अथर्वणां ··· आथर्वणानां ··· वनस्प-

जितम् ०।० । सोर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २३ ॥
जितम् ०।० । सोहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २४ ॥
जितम् ०।० । सोह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २५ ॥
जितम् ०।० । स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २६ ॥
जितम् ०।० । स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २७ ॥
जितम् ०।० । स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २८ ॥
जितम् ०।० । स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।० ॥ २९ ॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोस्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ ३० ॥
तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥३१ ॥
स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥ ३२ ॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३३ ॥

[९] जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

तीनां .... वानस्पत्यानां .... ऋतूनां .... आर्तवानां .... मासानां .... अर्धमासानां .... अहोरात्रयोः ... अह्नः संयतः ... द्यावापृथिव्योः .... इन्द्राग्न्योः ... मित्रावरुणयो ... वरुणस्य राज्ञः ... मृत्योः पड्वीशात् मा मोचि) ॥ १०—३२ ॥ वह बृहस्पती, प्रजापति, ऋषि, ऋषियोंसे उत्पन्न, अंगिरस्, अंगिरसोंसे उत्पन्न, अथर्व, अथर्वासे उत्पन्न, वनस्पति, वनस्पतियोंसें उत्पन्न, ऋतु, ऋतुओंसे उत्पन्न, महीने, अर्धमास, अहोरात्र, दिन, रु, पृथ्वी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और मृत्युके पाशोंसे न बचे ॥ १०—३२ ॥ (तस्य इदं वर्चः०) उसका यह तेज, कान्ति, प्राण आयु आदिको मैं घेरता हूं और उसको नीचे गिराता हूं ॥ ३३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (विश्वाः पृतनाः अरातीः) सब शत्रुसेनाका निरोध किया है ॥ १ ॥ (अग्निः तत आह) अग्निने यह कहा है, (सोमः उ तत आह) सोमने यह कहा है। (पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्) पूषा मुझे पुण्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अगन्म स्व१ः स्व१रगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥
वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

इति षोडशं काण्डं समाप्तम् ॥

लोकमें धारण करे ॥ २ ॥ हम (स्वः अगन्म) आत्माकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं। (सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म) सूर्य की ज्योतिसे हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥ (वस्यः भूयाय) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये (वसुमान् भूयासं) धनयुक्त होऊं (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्य यज्ञ ही है, (वसु वंशिषीय) ऐश्वर्य प्राप्त करूं। (मयि वसु धेहि) मुझमें धन की धारणा कर ॥ ४ ॥

षोडश काण्ड समाप्त।

विजय की प्राप्ति।

प्रत्येक मनुष्यको अपने विजय के लिये यत्न करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता, पराभवकी आशंका होगयी तो बालक भी रोता है, पीटता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका स्वागत करने की इच्छा नहीं होती। सदा अपना विजय हो, अपना यश बढे, अपनी कीर्ति दिगन्तमें फैले, यही इच्छा मनुष्य करता रहता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो इसका विचार करना चाहिये। इस विजय सूक्तके ९ पर्यायसूक्तोंमें विजयप्राप्तिके लिये अत्यन्त अवश्यक तत्त्वोंका विचार किया है। अतः अपना विजय चाहनेवाले पाठक इसका मनन करें और लाभ उठावें।

विजयके प्रकार।

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरा आधिभौतिक क्षेत्रका विजय है और तीसरा आधिदैविक क्षेत्रके संबंधका विजय है। ये मुख्यतः

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तीन प्रकारके विजय हैं। तथापि इस प्रत्येक क्षेत्रके विजयोंकेभी अनेक प्रकार हैं, उन सबका विचार यहां नहीं किया जासकता, तथापि सुबोधताके लिये उनका थोडासा स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें शरीर, इंद्रियां, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार, चित्त, काम, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विकृति आदिका संबंध है। इनको निर्दोष रखना, इनको अपनी निज शक्तिसे परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतीमें निर्विघ्नतया लगानेसे आध्यात्मिक क्षेत्रका विजय होता है। यहां प्रत्येक इंद्रियकी प्रकृति, उसकी विकृति, उसमें होनेवाले दोष और रोग, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। मानो सभी वैद्यशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मिक विजयकी सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्योंके पास आगये हैं। इसकी सूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है कि—

निर्दाहः तनूदूषिः मना-हा आत्म-दूषिः इदं तं अतिसृजामि।

(१।३—४)

"शरीरकी जलन, शरीरके सब दोष, मनके नाशक भाव और आत्माका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मैं दूर करता हूं।" इन चारोंमें प्रायः आत्माका पराजय होनेके कारण आगये हैं; विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह, पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है तब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके बुरे भावोंसे मनकी निर्बलता होती है और इस सबसे आत्माका अधःपतन होता है। पाठक इन चार शब्दोंका विचार करें और जाने कि इन चारोंसे आध्यात्मिक क्लेश कैसे होते हैं। यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंकी व्याप्तिका विचार किया जाय, तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जमजायगी, कि मनुष्यके सब वैयक्तिक क्लेशोंकी ये चारही जडें हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगा। पूर्वोक्त चार शब्दोंके प्रति शब्द जाननेसेहि विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं—

शमः तनूशुद्धिः मनःशुद्धिः आत्मशुद्धिः।

ये चार शब्द हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इंद्रियदमन, इंद्रियशमन आदिसे शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है,

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

तनूशुद्धिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं, मनकी पवित्रतासे मनका बल बढ जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि अध्यात्मोन्नति के ये चार साधन हैं और इसी लिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सूचना प्रथम पर्याय सूक्तमें की है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी उद्देश्यसे कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंस संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

भ० गी० २

" विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्यका सर्वनाश होता है। परंतु जिसका मन वशमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित हैं, वह इंद्रियोंसे कार्य कराते हुए भी प्रसन्न रहता है, चित्त प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर होते हैं और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है। " इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविजयके विषयका विचार करनके समय बडे बोधप्रद हो सकते हैं। अस्तु इस प्रकारके जो जो दोष शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें होते हैं वे क्या करते हैं देखिये—

रुजन्, प्रमृणन्, म्रोकः, खनः। (पर्यायसू. १। २—३।)

जहां दोष होते है वहां वे " तोडते हैं, मरोडते हैं, कुचलते हैं, फोडते हैं, काटते हैं, खोदते हैं, गढा करते हैं " इस तरह अनेक रीतिसे नाश करते हैं। पाठक काम और क्रोधके समय अपने अन्दर देखेगें, तो उनको स्पष्टतया पता लग जायगा, कि ये काम और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोडने, मरोडने, खोदने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वीर्य वही नष्ट करता है, क्रोधसे तो खून के जीवनबिंदु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार सब विकार तोडने मरोडने, और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यात्मिक भूमिकाके इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

यं वयं द्विष्मः, तं अभि अतिसृजामः। (मं० १।५)
ओकं खनिं तनूदूषिं अतिसृजामि। (मं १।७)

"जिस रोगादिका और विविध दोषोंका हम द्वेष करते हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनको हम दूर करते हैं। घातक, खोदक और शरीरमें दोष बढानेवाले सब दोषोंको हम दूर करते हैं।" यह दोषोंको दूर करना इसीलिये है कि अध्यात्मक्षेत्रके सब दोष दूर हों और वहां शांति और प्रसन्नता विराजे। इसी विषयमें और देखिये—

यत् वः घोरं तत् (अतिसृजामि)। (मं० १।८)
अरिप्राः आपः अस्मत् एनः प्रवहन्तु। (मं० १।९-१०)
आपः शिवया तन्वा मा उपस्पृशत। (मं० १।१२)
इन्द्रस्य इन्द्रियेण अभिषिञ्चत (मं० १।९)

" जो आपके अंदर भयंकर हानिकारक दोष हो उसको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूं। दोष दूर करनेके लिये जलसे चिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरोंसे सब दोष और सब पापोंको दूर करें। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिसे अभिषेक किया जावे। " यहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है वह अत्यंत महत्त्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होंगे उनको जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीतजलका स्पर्श सुख देनेवाला जब लगता है तब समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब शुद्ध शीतजलका स्पर्श कष्ट देने लगता है, तब जानना चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें घुसे हैं। ये सब दोष जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिके जलसे स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भींगता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे सब शरीर संचारित होना चाहिये। सब शरीरभर आत्मशक्तिका सुखसे संचार होना चाहिये। इससे—

मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त। (मं० १।१३)

"मनुष्यमें क्षात्रबल और तेजस्विता बढेगी।" जल ही यह सब कार्य करेगा। जल-

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

चिकित्सासे हि वीर्य बडेगा, दोष दूर होंगे और शरीरकी कान्ति भी बडेगी। इस प्रकार शरीर का उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त हो इसी लिये—

अपां वृषभः अतिसृष्टः।
दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः। (मं० १।१)

" जलोंकी वृष्टी करनेवाला मेघ अपने स्थानसे मुक्त हुआ, अर्थात् उससे वृष्टि हो-गयी, दिव्य अग्नि जो बिजलियां हैं वे भी खुली रीतिसे प्रकाशित हो रही हैं।" अर्थात् विशेष वृष्टि होगयी है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टी हो रही है इसका हेतु यह है कि, मनुष्य उससे स्वास्थ्य प्राप्त करें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करें। यहां आत्मिक उन्नतिका उपदेश देते हुए मेघके दृष्टान्तसे सब लोगोंको कहा है कि, जैसे मेघ जगत् की भलाईके लिये पूर्णतासे आत्मसमर्पण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनु-ष्यको जगत्की भलाईके लिये आत्मयज्ञ करना चाहिये। इतने विचार इस काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें मुख्यतः कहे हैं। अपनी उन्नति चाहनेवाले पाठक इसके मननसे पर्याप्त बोध प्राप्त कर सकते हैं।

इंद्रियशुद्धि।

आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियकी पवित्रताकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पवित्रताके विना किसीकी उन्नति होना सर्वथा असंभव है। अतः द्वितीय पर्यायसूक्तमें अपनी पवित्रताका विषय संक्षेपसे कहा है। सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक अत्यंत उत्तम उपदेश दिया है, वह पाठक देखें और स्मरण रखें—

दुः+अर्मण्यः निः। (मं. २। १)

" दुष्ट रीतिकी गति अर्थात् बुरा चालचलन, दुष्ट व्यवहार दूर हो, हमसे निःशेष-तया दुष्ट व्यवहार दूर हो।" हमारे अन्दर दुष्ट गति करनेवाले भाव न रहें और हमारे समाजमें दुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी निय-मसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्तिके सुधारका और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्तिके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है और समाजके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंसे युक्त मनुष्योंको दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्यों-को दूर करनेका अर्थही समाजसे दुष्ट गुणोंके आश्रयस्थान दूर हों, एवं सर्वत्र उन्नतिका नियम दुष्टताको हटाना ही है। इस तरह सर्वसाधारण उन्नतिका उपदेश

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

करके पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देश्यसे कुछ इंद्रियोंका नामनिर्देश करके आत्मसुधारका मार्ग दर्शाया है—

ऊर्जा मधुमती वाक्। मधुमतीं वाचं उदेयम्। (मं० २। १—२)

"वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो, मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें।" मनुष्योंके अन्दर जो झगडे फिसाद होते हैं, उसका कारण कटु शब्दोंका प्रयोग है। मनुष्यके मनमें विष भरा रहता है, वह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है। इसलिये मनुष्य अपनी अन्तःशुद्धि करेगा, तो उससे कदापि कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायंगे।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करें कि वे मीठे हों, शत्रुओंमें मित्रता हो और उत्पन्न हुई मित्रता सुदृढ हो जाय। केवल शब्दोंकी मधुरता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत शब्दोंमें (ऊर्जः) बल चाहिये। उत्साह की वृद्धि करनेवाले शब्द उच्चारने चाहियें। नहीं तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको 'गुलाम' करके पुकारते हैं, दूसरेको 'तू मरेगा' करके कहते हैं, 'तू बडा हराम है' ऐसा कहते हैं। ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो मलीन होती ही है, परंतु ये शब्द जो जो सुनते हैं उनके मनमें भी निर्बलता का वायुमंडल उत्पन्न होता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह उत्साहपूर्ण बलशाली प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करें। अपने पुत्रको 'तू इन्द्र है' ऐसा कहैं, 'तू अमर होगा' ऐसा बोलें, 'तू सत्यस्वरूप है' 'तू स्वयं आनन्दघन है' ऐसा कहें। ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनोंमें उत्साह का वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योंके नाम भी 'कूडाराम' रखनेके स्थानमें 'निर्भयराम' ऐसे रखें। जिससे प्रत्येक समय वह शब्द उच्चारनेसे शुभविचार उत्पन्न हों। प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा यत्न करे कि, अपनी वाणीसे कदापि अशुभ विचार न प्रकट हों और सदा उत्साहमय विचार ही प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर यहां केवल दो ही शब्दों द्वारा दिया है। "गो—पा, और गो—पीथः" ये दो शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्योंका संपूर्ण सत्यधर्म इन शब्दोंमें आचुका है। 'गोप' का अर्थ है, इंद्रियोंकी रक्षा और 'गोपीथ' का अर्थ है इंद्रियोंकी पालना। एकसे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इंद्रियोंके संयमका बोध मिलता है। जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम घास आदि खानेके लिये देते हैं और पुष्ट करते हैं और उनको

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

इतस्ततः घूमने नहीं देते हैं, इसी तरह मनुष्य अपनी इंद्रियोंकी शक्ति बढावे और उनको वश भी रखे। मनुष्यकी उन्नतिके लिये इस प्रकार इंद्रियसंयम और मनोनिग्रह की अत्यंत आवश्यकता है। पाठक यह बोध इन दो शब्दोंसे लें। जो ऐसा संयम करनेवाले होंगे वे ही (उपहूतः) पास बुलाने योग्य हैं। और जो लोग अपने इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी करते हैं, वे समाजमें आदरसे बुलाने योग्य नहीं हैं। पाठक इसका विचार करें और इस वेदोपदेशसे अपना वैयक्तिक और सामाजिक आचरण सुधारें। आगे कानों के विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है—

भद्रश्रुतौ कर्णौ। सुश्रुतौ कर्णौ। भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।
सुश्रुतिः उपश्रुतिः च मा मा हासिष्टाम्। (मं० २। ४-५)

"मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने हुए हों। कल्याण करनेवाली वाणी मैं सुना करूंगा। उत्तम उपदेश सुनने और दूरसे अच्छे शब्द सुननेकी शक्ति मेरी कभी क्षीण न हो।" यहां कानों की सार्थकता का साधन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान इसीलिये दिये हैं कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने, कभी बुरे शब्द न सुने। ऋग्वेद में भी कहा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

ऋ० १। ८९। ८

"हम कानोंसे कल्याणकारक उपदेश सुनें और आखोंसे कल्याणकारक वस्तु देखें।" ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्य का सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और उन्नत हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पश्चात् नेत्रके विषयमें भी कहा है-

सौपर्णं चक्षुः अजस्रम्। (मं० २।५)

"गरुडके समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टी हो" और वह उत्तम कल्याण की वस्तुएं देखें। इस प्रकार इंद्रियशुद्धिके विषयमें इस पर्यायसूक्तमें कहा है। यही—

ऋषीणां प्रस्तरः असि। दैव्याय प्रस्तराय नमः। (मं० २।६)

"तू ऋषियोंका प्रस्तर है। इस दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है।" ऋषियोंकी चट्टाण आत्मा है। यहि दिव्य चट्टाण है। इसके विषयमें प्रत्येकने अपने अन्तःकरणमें पूज्य भाव धारण करना चाहिये। इसी आत्माकी उपासनासे सब का हित होनेवाला है। यहांतक उपदेश इस द्वितीय पर्यायसूक्तमें कहा है।

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

आभिभौतिक विजय।

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति होनेके पश्चात् उसको अपना आधिभौतिक विजय संपादन करनेका यत्न करना चाहिये। इसका विचार इस १६ वें काण्डके तृतीय पर्यायसूक्तमें किया है, वह बोधप्रद उपदेश पाठक अब देखें।

अहं रयीणां मूर्धा भूयासं। समानानां मूर्धा भूयासम्। (मं. ३।१-२)
अहं रयीणां नाभिः भूयासं। समानानां नाभिः भूयासम्। (मं.४।१-२

"मैं धनोंका स्वामी और केन्द्र बनूं। मैं समान दर्जेके लोगोंमें मुखिया और उनका मध्य केन्द्र बनूं।" अपनी योग्यता नेता बनाने योग्य होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं होसकता, तथापि यदि बहुगुणसंपन्न बननेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा तो उसका अवश्य सुधार होगा। इस दृष्टीसे इस प्रकारकी इच्छा मनुष्य अपने मनमें धारण करे और धर्मानुकूल उन्नतिका यत्न करे। ऐसा नेता बननेके लिये जो गुण मनुष्यको अपने अन्दर बढाने चाहियें, उनकी सूचना इसी सूक्तमें अगले मंत्रोंमें दी है, देखिये—

रुजः, वेनः, मूर्धा, विधर्मा, उखः, चमसः, धर्ता, धरुणः, विमोकः,
आर्द्रपविः, आर्द्रदानुः, मातरिश्वा च मा मा हासिष्टाम्॥ (मं०३।२-४)

"तेजस्विता, महत्त्वाकांक्षा, मस्तिष्क की शक्ति, विशेष गुणधर्म, यज्ञसाधन, धारकशक्तियां, बन्धमुक्तिकी इच्छा, सिद्ध शस्त्र, दान करनेकी इच्छा और प्राण ये मेरा त्याग न करें।" ये गुण मनुष्यमें रहेंगे और बढेंगे तो ही वह मनुष्योंका केन्द्र और मुखिया बन सकता है। ये गूण विशेष महत्त्वके हैं अतः इनका विचार अधिक करना चाहिये। (रुजः) तेजस्विता, इसमें शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्माकी तेजस्विताओंका अन्तर्भाव होता है, मनुष्य सब प्रकारसे तेजस्वी बने। (वेनः) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्वकी इच्छा। इसी इच्छासे मनुष्य पुरुषार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है। (मूर्धा) सिर, अर्थात् मस्तिष्क। मनुष्यकी योग्यता उच्च वा नीच होना उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह अपनी मस्तिष्क की शक्ति बढावे। (वि-धर्मा) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना। साधारण गुणकर्मों और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परंतु उसकी विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित

CCO. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्योंमें जो धर्म नहीं होते ऐसे उच्च धर्म तपस्यादिसे अपने अन्दर बढाने चाहिये। (उखः चमसः) ये यज्ञपात्र हैं, ये यज्ञके सब साधनोंके उपलक्षण हैं। सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यज्ञरूप जीवन होनेसे हि मनुष्यकी योग्यता बढजाती है। मनुष्य क्रतुरूप होना चाहिये। शतक्रतु बनना मनुष्यका ध्येय है। (धर्ता) धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रकी धारणा, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे प्राणियोंको अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होना है। (धरुणः) इसका भी धारक ही अर्थ है, इसमें बल अधिक है। स्वयं स्थिर रहकर दूसरोंको दुःखसमुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है। मनुष्यको अपने अन्दर इतनी शक्ति प्राप्त करना चाहिये। (वि—मोकः) विमोचन करनेवाला, मनुष्यों को मुक्त करनेवाला, मनुष्योंको बन्धनसे पार करनेवाला, मनुष्योंको स्वतंत्रता देनेवाला जो नेता होगा, वही सबसे श्रेष्ठ समझना योग्य है। यही लोगोंका परित्राण, सज्जनों की रक्षा, दुर्जनोंका निर्दालन और धर्म की स्थापना करनेका अर्थ है। (आर्द्र--पविः) पवि का अर्थ है तलवार, खड्ग किंवा शस्त्र। शत्रुके रक्तसे जिसका शस्त्र गीला होता है अथवा शत्रुका नाश करनेके लिये जिसका शस्त्र आर्द्र अर्थात् गीला होनेके लिये सिद्ध है, उसका यह नाम है। धर्मयुद्ध करनेके लिये जो तैयार होता है उसका यह नाम है। (आर्द्र--दानुः) आर्द्रता, स्नेहसे आर्द्रभाव का जो दान करता है, जिसका मन स्नेहसे सदा आर्द्र रहता है, जो दयार्द्र रहता है उसका यह नाम है। (मातरि—श्वा) अपनी माताके अन्दर जिसका आश्रय होता है, जो मातृभक्त है, मातृभूमिके अन्दर इसी लिये रहता है कि अपने जीवन समर्पणसे मातृभूमिकी सेवा होवे, इसलिये जो मातृभूमिमें संचार करता है॥

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन धर्मोंसे और इनसे बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुरुष युक्त होते हैं वेहि श्रेष्ठ और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हम निर्बल हैं हम इन गुणधर्मोंका धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्माका स्वभाव कैसा है यह बात इसी सूक्तके मंत्र स्वयं कहते हैं—

आत्मा बृहस्पतिः नृमणः हृद्यः। (मं०३।५)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विधर्मणा समुद्रः अस्मि। (मं० ३। ६)
मर्त्येषु अमृतः सूषा। (मं० ४। २)

" आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा फैला हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें वह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।" ये अपने आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर, विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे—

असंतापं हृदयं। उर्वी गव्यूतिः। (मं० ३। ६)

" हृदय संताप रहित अर्थात् शान्त होता है और गोनाम इंद्रियोंकी गति बडी विस्तृत होती है।" अपनी सब शक्ति बढती है। प्रभावशाली जीवन होजाता है। आत्माकी शांति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह कैसेही भयंकर प्रसंगमें शान्त और गंभीर होकर कार्य करता है। कभी अशान्त नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं यह उसका विश्वास उसको निडर करता है और महान् सत्कर्म उससे कराता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं—

सूर्य···वायु···अग्निः···यमः···सरस्वती···पातु। (मं. ४४) " सूर्य, वायु, अग्नि, यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते है।" सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि वाणीके स्थानमें, यम शिस्नस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हरएक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिसे युक्त पुरुषको इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आचुका है और वेदमें यह वारंवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है, यह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसीलिये यह मनुष्य सबका नेता बनने योग्य होता है। यह कहता है कि—

प्राणः मां मा हासीत। अपानः अवहाय मा परागात। (मं० ४। ३)

"मेरा प्राण और अपान मुझे छोड कर न दूर जावे।" यह ऐसा इस लिये कहता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण वह ईश्वरके

CCO. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

लिये हि समर्पित करना चाहता है। अन्य कार्यका उसको स्मरण भी नहीं है। वह जानता है कि—

मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ। शकरीः आपः स्वस्ति। (मं० ४।७)

"अपने प्राण और अपान ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वरुण देवता हैं और जल के अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।" इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह दुष्ट कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, सब उसका देवतारूप स्वरूप बनता है, वह सहजही गतिसे प्रशस्त कार्य करता है, उसको वैसे कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्यों कि वह विश्वरूप बना होता है। इस समय वह अनुभव करता है कि—

अग्निः मे दक्षं। (मं० ४।७)

"अग्नि अपने में बल धारण करता है।" अन्य देव अन्यान्य सामर्थ्य धारण करते हैं। इसका आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुआ होता है ऐसे महात्माकी धन्य है, वही प्रभावशाली नेता होसकता है और वही लोकसंग्रह करनेमें समर्थ होता है और यही मनुष्य जगत्को सच्चा मार्ग बता सकता है। युगयुगमें ऐसे सत्पुरुष आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और बंधनमें पडकर सडनेवालोंको बन्धननिवृत्तिका मार्ग बताते हैं।

स्वप्न।

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वप्नका विषय कहा है। इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं वे ये हैं—

ग्राह्याः···निर्ऋत्याः···अभूत्याः···निर्भूत्याः···पराभूत्याः
देवजामीनां पुत्रः स्वप्नः। (मं० ५।१-८)

"रोग, दुरवस्था, दारिद्र्य, दुर्गति, पराभव और इंद्रियदोष इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं। ये दुष्ट स्वप्न मानो मृत्युका संदेश होते हैं। इसलिये दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्दर जो रोगबीज घुसे हों, उनको दूर करनेका यत्न करें। दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं उनकाभी थोडासा अधिक विचार यहां करना चाहिये। (ग्राही) भयानक रोग जो शरीरमें आनेपर सहसा शरीरको छोडते नहीं और दुःख देते देते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं। ऐसे रोग शरीरमें होनेपर वारंवार दुष्ट स्वप्न होते हैं अतः यदि इन रोगोंसे दुष्ट स्वप्न होते हों तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजोंको दूर करना चाहिये। शरीर निर्दोष और नीरोग करना चाहिये।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस कार्यके लिये इसी काण्डमें पूर्वस्थानमें जलचिकित्साका उपाय बताया है। (निर्ऋति) ऋतिका अर्थ है उन्नति, अभ्युदय, समर्थता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्ऋति का है। अवनति, अधःपात, क्षीणता और निर्बलतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों उनको कार्यमें लाना चाहिये। (अभूति) ऐश्वर्यसे हीन होना और (निर्भूति) महासंकटमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, परतंत्र, पराधीन और परवश होना, इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं, प्रत्येकके लिये विभिन्न उपाय होते हैं। अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वावलंबनसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (देवजामी) अपने शरीरमें देव नाम इंद्रियोंका है, उनकी शक्तियां विविध हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इस कारण संयमादिद्वारा अपने इंद्रियोंको निर्दोष, नीरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें जो जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है। मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है वा रोगी है, सदाचारी है वा दुराचारी है, शुभविचार वाला है वा अशुभ विचार-वाला है इसका निश्चय होता है। मनुष्यको ऐसे स्वप्न आजांय तो अच्छा है– कि " मैं ईश्वर उपासना कर रहा हूं, ऋषि आश्रममें ऋषियोंके वार्तालाप सुन रहा हूं, सत्पुरुषोंका समागम होरहा है।" ऐसे शुभ स्वप्न आने लगे अथवा बिलकुल स्वप्न ही न हुए तो समझना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ है। अन्यथा बुरे स्वप्न आने लगे, तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिघाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये। अतः कहा है—

यस्मात् दुष्वप्न्यात् अभैष्म तत् अपउच्छतु। (मं० ६। २)

" जिस दुष्टस्वप्नसे हमें भय होता है वह दुष्टस्वप्नका कारण हमसे दूर होवे।" वह कारण किसी दूसरे स्थानपर जावे, हमारे पास न रहे। इस प्रकार अपने आपकी निर्दोषता सिद्ध करनेपरही वह निर्दोष मनुष्य कह सकते हैं कि—

अद्य अजैष्म, अद्य असनाम, वयं अनागसः अभूम। (मं० ६। १)

"आज हमने विजय प्राप्त किया है, आज जो हमारा प्राप्तव्य था वह प्राप्त किया है क्यों कि हम निष्पाप होचुके हैं।" निष्पाप होनेसे हि सब प्राप्तव्य प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होता है। विजय प्राप्त करनेकी यह कूंजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त

CCO. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

होनेका भास होता है वह केवल भासमात्र है। उसमें गहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्माचरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आगे सप्तम सूक्तमें द्वेषीको दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। वह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह शत्रु अध्यात्मभूमिकामें कुविचार, रोग आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकता है।

विजय।

अष्टम सूक्तमें अपने विजयप्राप्तिका एक मंत्र है, वह प्रत्येक वैदिकधर्मीको कण्ठ करने योग्य है, वह मंत्र अब देखिये—

अस्माकं जितं, उद्भिन्नं, ऋतं, तेजः, ब्रह्म, स्वः, यज्ञः, पशवः,
प्रजाः, वीराः ॥ (मं० ८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं—

(जितं) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसेही हो सकता है। (उद्भिन्नं) यह अपने सब प्रकार के अभ्युदयसे साध्य होनेवाली बात है, अपनी संघटना, अपना शक्तिविकास, अपने अन्दर की शान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किया जाता है, यह अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (ऋतं) ऋतका अर्थ है ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार, जिसमें तेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तोही पूर्वोक्त विजय साध्य होगा। (तेजः) तेजस्विता, प्रभाव, उग्रता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं। (ब्रह्म) सत्य ज्ञान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, वेदज्ञान, यह तो निःसन्देह ऋतके साथ ही रहेगा। अनृतके साथ इसका होना सर्वथा असंभव है। (स्वः, स्वर्) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाला पुण्य लोक। (यज्ञः) देवपूजा, संगतिकरण और दान रूप श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे हि सब की स्थिति और उन्नति होती है। (पशवः) गौ, बैल, घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (प्रजाः)

संतती, पुत्रपुत्री आदि, अथवा प्रजाजन। (वीराः) वीर पुत्र तथा वीर्यवान् लोग अथवा शूरवीर। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये सब विजयके सहचारी गण हैं। पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस मंत्रको कण्ठ करें और सायंप्रातः वे इस मंत्रसे ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी उस प्रभुके पास प्रार्थना मनोभावसे करें।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं पढकर उनका आशय समझ सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चारही वचन हैं, परंतु वे नित्य स्मरण रखने योग्य महत्त्वपूर्ण हैं—

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं, विश्वा अरातीः पृतनाः। (मं० ९।१)

"हमारा विजय, हमारा उदय और हम शत्रुकी सब सेनाओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर बढाते हैं।" तथा—

पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्। (मं० ९।२)

"ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे" ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध पूत और पवित्र बनूंगा। तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म॥ (मं० ९।३)

"आत्माका तेज प्राप्त करे, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें।" तथा—

वस्योभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान् यज्ञः।
वसु वंशिषीय। (मं० ९। ४)

"बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धनसे यज्ञ होता है, इसलिये यज्ञमें व्यय करनेके लिये मुझे धन चाहिये।"

ये सब चारोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही इस सब काण्डका सार है पाठक इनका मनन करेंगे तो उनको भी अत्यंत आनन्द होगा और इनके मननसे उनकाभी आत्मा उल्लसितही होगा।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे इस काण्डका मनन करके इस काण्डका जो उच्च भाव है वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपना, अपने समाजका, अपनी जातीका, और अपने राष्ट्रका विजय संपादनके कार्यमें कृतकृत्य होंगे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

सप्तदशं काण्डम्।

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)

प्रथमवार

संवत् १९८८, शक १८५३, सन १९३२.

लोकप्रिय ।

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ॥
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥

अथर्ववेद १७ । ३

"शत्रुका दमन करनेवाले, शत्रुकेलिये असह्य, शत्रुका वारंवार नाश करनेवाले, दुष्टोंका पराजय करनेवाले, बल बढानेवाले, तेजस्वी, इंद्रियविजयी, धनोंको जीतनेवाले, प्रशंसनीय प्रभुकी मैं प्रशंसा करता हूं । उससे मैं प्रजाजनोंके लिये प्रिय होऊं ।"

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्यायमंडळ, भारतमुद्रणालय, औंध (जि० सातारा.)

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

पता लगाओ। नौकरने राज्यमें बहुत तलाश की परंतु पता न लगा। और वह राजा के पास आकर कहने लगा कि, सयुग्वा रैक्व का पता नहीं चलता। उस समय राजाने उसे कहा—

यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमच्छैति ॥७॥
सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपो-
पविवेश। तं हाभ्युवाद त्वं नु खलु भगवः
सयुग्वा रैक्व इत्यहं ह्यरा इति ह प्रति-
जज्ञे० ॥८॥ छां० उ० ४।१

"अरे जहां ब्रह्मज्ञानीकी खोज किया करते हैं वहां उनको देखो। तब उसने ढूंढा, तो उसको गाडीके नीचे खुजली खुजलाता हुआ एक मनुष्य मिला। उसने समझा कि यही ब्रह्मज्ञानी रैक्व है। वह उसके पास आदरसे जा बैठा और पूछने लगा कि 'क्या आपही भगवान् सयुग्वा रैक्व हैं?' उत्तर मिला कि "मैं ही हूं।"

यहां ब्रह्मज्ञानी गाडीके नीचे खुजली करते हुए मिले। परंतु कई मनुष्य गाडीके नीचे बैठते हैं और खुजली भी करते हैं। तथापि वे ब्रह्मज्ञानी नहीं होते! अतः ज्ञानीकी परीक्षा कठिन है—

एनं सर्वे तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु-
कुर्वन्ति। छां० ४।१।६

'सब मनुष्य जो सत्कर्म करते हैं वह सबका सब जिसके सहज व्यवहारमें अन्तर्भूत होता है" उसको ज्ञानी कहते हैं। उसकी तृष्णा क्षय होनेके कारण उसको सब सुख एक ही समयमें प्राप्त होते हैं, साधारण मनुष्योंको एक एक इंद्रिय का सुख एक एक समय मिलता है। ब्रह्मज्ञानीके आंखमें कुछ अलौकिक तेज भी होता है, मुखपर सहजानन्द दीखता है। परंतु ये सब लक्षण ऐसे नहीं हैं, कि जिनसे ब्रह्मज्ञानी सहजहीमें पहचाना जाय। अतः मनुष्य भ्रममें पडते हैं और ढोंगीको भी सत्पुरुष मान बैठते हैं! अर्जुननेभी मनमें यही निश्चय किया था कि "मैंने कर्म छोड दिया तो मैं स्थितप्रज्ञ होकर ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त होऊंगा।" यह उसकी भी भ्रांति थी और भगवान् श्रीकृष्णजीने 'कर्म छोडनेसे कोई मनुष्य सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता' (श्लो० ४) ऐसा कह कर, अर्जुनकी भ्रान्ति दूर की। पाठक यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त ध्यानमें धारण करें।

कर्मत्याग असंभव है।

'सब प्राणी प्रत्येक क्षणमें कुछ न कुछ कर्म करते हैं।' (श्लो० ५) कर्म छोडना भी एक कर्म है। 'शरीर यात्रा निवाहनेके लिये भी कर्म करना अत्यंत आवश्यक है' (श्लो०८)इत्यादि उपदेशद्वारा यह बताया कि 'कर्मसंन्यास' का आशय 'आलस्य' नहीं है, कर्मत्याग, कर्म संन्यास, अकर्म इनके भाव कुछ विशेष हैं। कर्म न करने से 'संन्यास' की सिद्धि हुई ऐसा मानना भ्रम है। कोई प्राणी संपूर्णतया कर्म का त्याग कर नहीं सकता। जीवन ही एक बडा भारी कर्म है। अतः 'जो मनसे इंद्रियोंका संयम करके कर्म करता है उसकी योग्यता विशेष होती है।' (श्लो० ७) अर्थात् इंद्रियसंयम, और मनोनिग्रहसे मनुष्यकी योग्यता उच्च होती है।

यज्ञके लिये कर्म।

'यज्ञके लिये कर्म करनेसे मनुष्यको कर्म का दोष नहीं लगता।' (श्लो० ९) इस लिये यज्ञ के कारण मनुष्य कर्म करता रहे। सब जगत्ही यज्ञ पर स्थिर रहा है, यज्ञ के विना सब जगत् का नाश होगा। इस यज्ञ का स्वरूप क्या है? यज्ञका स्वरूप श्लो० १३ में कहा है। 'जो मनुष्य अपनी पेटपूर्तिके लिये अन्न का पाक सिद्ध करते हैं, वे पापके भागी होते हैं, और जो अन्नकी सिद्धता करके उससे यज्ञ करते हैं और अवशिष्टका स्वयं भोजन करते हैं. उनके सब पाप दूर होते हैं। (श्लो० १३) अर्थात् केवल अपनी पेटकी पूर्ति के लिये अन्न पकाना पाप है और दूसरों की पेटकी पूर्ति के लिये पकाना और दूसरोंका पेट भरनेके पश्चात् जो बचे, उससे अपनी पेटपूर्ति करना पुण्य है।

(१) अपनी पेटपूर्तिका अर्थ है 'स्वार्थ' (स्व+अर्थ) अपने सुख के लिये कर्म करना।

(२) दूसरों के सुखके लिये कर्म करनेका नाम है 'परार्थ' (पर+अर्थ)।

(३) और जिसमें स्वार्थ और पराथ साध्य होता है, एकरूप हो जाता है उसका नाम है 'परमार्थ'(परम+अर्थ) बडा अर्थ। यही यज्ञ है।

अर्थात् यज्ञसे (परस्परं भावयन्तः। श्लो०११) अपना हित होता है और दूसरोंका भी हित होता है। सबका हित अविरोधसे साधन करनेका नाम यज्ञ है, अथवा यही परमार्थ है। यहां "स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ" का अर्थ पाठक ध्यानमें रखें और केवल स्वार्थके कर्ममें, केवल परार्थके कर्ममें कैसा दोष होता है और परमार्थ के लिये किये जानेवाले यज्ञरूप कर्म से निर्दोष कर्म होनेसे कैसा परम पुरुषार्थ होता है इसका विचार मनमें सुदृढ रखें। यज्ञ का यही महत्त्व है।

अंतिम सिद्धि।

"आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसन्तुष्टी पूर्णतासे सिद्ध हुई तो ऐसे सिद्ध पुरुषके लिये कोई कर्तव्य कर्म करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रहता" (श्लो० १७-१८), अतः इसको 'कृतकृत्य' कहते हैं। यह अन्तिम सिद्धि है, और इसी सिद्धि की प्राप्तिके लियेहि सब शास्त्र हैं। सिद्ध पुरुषके लिये शास्त्र नहीं हैं, वह पूर्ण स्वतंत्र है। यह सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् वह सिद्ध पुरुष कर्म करेगा अथवा न करेगा। यह अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेतक मनुष्यको अपने उद्धारके लिये यत्नवान् होना चाहिये।

अर्जुन इस सिद्धितक पहुंचा नहीं था, इस लिये यहां (श्लो० १९ में) कहा है, कि "आसक्ति छोडकर सतत कर्म कर। आसक्तिरहित होकर कर्मयोगका आचरण करनेसे परमसिद्धि प्राप्त होती है।" सब लोगोंके लिये यही मार्ग उत्तम है। स्वार्थ और परार्थ छोडने और (परस्परं भावयन्तः। श्लो० ११) सबका हित साधन करनेके लिये आसक्ति छोडने का पाठ यहां पाठकोंको अवश्य पढना चाहिये। अतः कहा है कि (तदर्थं कर्म···मुक्तसंगः समाचर। श्लो० ९) यज्ञके लिये कर्म आसक्ति छोडकर कर, इसमें भी अनासक्ति का पाठ दिया है।

लोकसंग्रह और परमार्थ।

केवल स्वार्थ बुरा है, केवल परार्थ भी सदोष है, अतः परमार्थ साधनमें अपना और सब का सच्चा कल्याण है, यही बात 'लोक-संग्रह' के प्रकरण (श्लो० २०-२४) में कही है। लोकसंग्रह का अर्थ "जनताकी धारणा, जनताकी उन्नति, जगत् का सुधार, राष्ट्ररक्षा, मनुष्य मात्र का कल्याण, जनताको सन्मार्गपर रखना" इत्यादि है। यह केवल स्वार्थ से भी नहीं हो सकता और केवल परार्थ से भी नहीं हो सकता। इस लिये परमार्थसाधन से यह लोकसंग्रह करना चाहिये। यही यज्ञ का मूल अर्थ है।

लोकसंग्रह करनेके लिये भी विशेष योग्यता आवश्यक होती है। प्रत्येक मनुष्य लोकसंग्रह करेगा ऐसी बात नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण, राजा जनक, राजा रामचन्द्र ऐसे लोकश्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा लोकसंग्रह हुआ था। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुयायी होनेके कारण लोकसंग्रह के कार्य करनेका संमान अर्जुन को प्राप्त हुआ है। भारतीय युद्धमें अर्जुन केवल "निमित्तमात्र" था। (देखो गी० ११।३३) जो निमित्तमात्र है उससे लोकसंग्रहका मुख्य कार्य हो नहीं सकता। उसके कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण जैसे शुद्ध बुद्ध मुक्त पुरुष थे। परंतु इन के कार्य में निमित्त मात्र होने का मान प्राप्त होना भी साधारण कार्य नहीं है। इस लिये पाठक यहां यह बोध लें, कि प्रत्येक युग में शुद्ध बुद्ध मुक्त पुरुष आते हैं, जनता को मार्ग बताते हैं और लोकसंग्रह के कार्य के लिये हलचल करते हैं, मुख्य प्रेरणा उन मुक्तात्माओं की ही होगी, ऐसेलोकसंग्रह के कार्यमें निमित्त-

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

मात्र होकर युद्ध भूमिपर आकर खडा रहनेका कार्य करने के लिये भी हजारों और लाखों लोगों की आवश्यकता होती है, ऐसे निमित्तमात्र बनने का भाग्य प्राप्त करना भी एक महत्त्वकी बात है और इस कार्य के लिये अपने अन्दर योग्यता प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। इस तरह थोडी योग्यतावाले भी योग्य नेता की आज्ञामें कार्य करते हुए लोकसंग्रह करनेके भागी हो सकते हैं। इस रीतिसे लोकसंग्रह, जनहित, राष्ट्रकल्याण आदि कार्य में भाग लेनेसे भी मनुष्यका जीवनयज्ञ सफल होता है।

इसी लिये (श्लो० २७ में) कहा है कि, कोई साधारण मनुष्य अपनी योग्यताके अनुसार कुछ कर्म करता हो, तो उसकी श्रद्धा उस कर्म से उडाना अच्छा नहीं है, उसकी श्रद्धा बनी रखनेसे ही उसका कल्याण हो सकता है।

कर्तृत्व।

श्लो० २७-२९में 'कर्तृत्व गुणोंके पास है,' यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही है। कुम्हार मिट्टी का घडा करता है, इसका कारण मिट्टीमें घटाकार बननेका गुण है। यह गुण न होगा तो कोई भी मनुष्य मिट्टीसे घडा नहीं बना सकेगा। केवल रेतसे घडा क्यों नहीं बनाया जाता? क्यों कि रेतमें घटाकारमें परिणत होनेका गुण नहीं है,वह मिट्टीमें है, इस लिये मिट्टीसे घडा बनता है। इस विचारसे स्पष्ट होगा कि घट बननेका मुख्य हेतु मिट्टीका गुण है। कुम्हार का भी गुण मिट्टीके गुण के साथ मिलकर घटरूपी कार्य होता है। ऐसी अवस्थामें कुम्हार यदि घमंड करे कि "मैं हि केवल घट का कर्ता हूं" तो कहां तक उसकी वह घमंड योग्य हो सकती है? और निष्कारण की हुई घमंड अन्तमें अनर्थकारक क्यों नहीं होगी? वस्तुतः (गुणा गुणेषु, वर्तन्ते। श्लो० २८) एक के गुण दूसरेके गुणोंके साथ मिलकर सब कर्म सिद्ध करते हैं। इस लिये ज्ञानी की दृष्टिसे तो कोई मनुष्य अपने आपको किसी कार्य का कर्ता नहीं कह सकता। यदि इस तरह गुणोंके पास हि कर्तृत्व है, तो मनुष्य घमंड क्यों करे? एक वीर है वह घमंडसे कहता है कि मैंने युद्धमें विजय पाया। परंतु सत्य देखा जाय तो शस्त्रास्त्रोंकी उत्तमता, साथवाले सैनिकों की आज्ञाधारकता, परिस्थितिकी अनुकूलता इत्यादि गुणसमुदाय से विजयरूपी फल मिला है। कई वीर सब साधनोंसे संपन्न होते हुए भी प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेके कारण परास्त होते हैं। इसलिये मनुष्यकी सूज्ञता तो इसीमें है, कि वह कर्तृत्व की घमंड न करे, और प्रकृतिके गुणोंसे यह सब बन रहा है ऐसा माने और आसक्त न होवे।

आसक्ति और घमंड दूर करनेके लिये यह विचार उत्तम है, और जो पाठक अपनी पारमार्थिक उन्नति करना चाहते हैं, उन के लिये यह उपदेश अमूल्य है।

ईश्वरार्पण कर्म।

(श्लो० ३०-३२में) सब कर्म ईश्वरको समर्पण करनेका उपदेश कह कर यह भी कहा कि जो ऐसा करते हैं वे बन्धनसे मुक्त होते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे नाशको प्राप्त होते हैं। मनुष्य यदि अपने सब कर्म परमेश्वरकी प्रीति संपादन करने के लिये करने लगे, अथवा अपना प्रत्येक कर्म ईश्वरके लिये अर्पण करने लगे, तो उसी क्षण से वह पवित्र होने लगता है। साधारण मनुष्य समझते नहीं और ईश्वरार्पण कर्म करने का उपहास भी करते हैं, परंतु इसमें इतनी पवित्रता है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वत्र विद्यमान और सर्वशक्तिमान है और उसको समर्पण करने के लिये मैं यह कर्म कर रहा हूं, ऐसा निश्चय करते हि उसके मनके अन्दर छिपे हुए हीन विचार दूर भागने लगते हैं। सर्वव्यापक सर्वज्ञ देवको छिपाकर वह हीन कर्म करेगा ही कहां? और जब वह जानने लगेगा कि वह ईश्वर सब मनुष्यों

मेंभी है, तब वह जनताका उत्तम सेवक बनेगा, दुःखितोंके दुःख दूर करनमें तत्पर होगा और पीडितों की सेवा करना परमेश्वर की सेवा है, ऐसा वह अन्तःकरण से समझेगा। साधुओंकी रक्षा, दुर्जनोंका निर्दलन और धर्मस्थापना करने के लिये परमेश्वर आता है, यह बात मानकर जो सत्पुरुष इन कार्योंमें लगे होंगे, उनका अनुयायी होकर इन कार्योंके करनेके लिये वह आत्मसमर्पण करेगा। इस तरह सहस्रों प्रकारोंसे उससे दिन प्रतिदिन शुद्ध और पवित्र कर्म होंगे और अन्तमें वह बन्धनोंसे परे होगा। ईश्वरार्पण कर्म करनेसे ऐसे अनंत लाभ हैं, पाठक इस बातका विशेष विचार करें।

प्रकृतिस्वभाव।

मनुष्यका प्रकृतिस्वभाव जन्मसे हि विशिष्ट प्रकारका बना होता है, उस स्वभावके अनुरूप हि कर्म उससे ठीक तरहसे हो सकते हैं। और प्रकृतिस्वभावानुरूप कर्म उत्तम हुआ तो उसीमें उसकी उन्नति होती है। यदि किसीको ऐसा प्रतीत हुआ कि अपना प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त कर्म वैसा लाभकारी नहीं है जैसा दूसरेका कर्म है, और इस मतानुसार उसने वह अपना कर्म छोड दिया, तो उससे दूसरा कर्म ठीक नहीं होगा और इसका कर्म तो स्वयं इसीने छोडा है। अतः यहांसे भी भ्रष्ट और वहांसे भी भ्रष्ट होकर वह —अवनत होगा। इसलिये अपने प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त निज कर्तव्य हरएक को करना योग्य है। दूसरेका कर्म प्रारंभ में मोहक भी दीखाई दिया तथापि वह अन्तमें हानिकारक हि सिद्ध होगा।

राष्ट्रमें जो जो विविध व्यवहार चलते हैं वे सबके सब राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये आवश्यक होते हैं। इन सब कर्मोंमें प्रत्येकने उन्नति की, तो सब सामुदायिक उन्नति होनेसे सबका उसमें हित होता है। अतः किसी प्रलोभनमें आकर कोई मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म न छोडे। (श्लो० ३३-३५)

प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त कर्तव्य हरएकको करना चाहिये, यह उपदेश अत्यंत महत्त्वका है, और युरोप अमेरिकामें भी जहां हरएक मनुष्य जो चाहे सो कर्म कर सकता है, उन स्वतन्त्र देशोंमें भी (लेबर युनियन) कर्म संघोंके सदस्य अपने संघका कर्म ही करते रहते हैं, यदि किसी ने दूसरेका कर्म करनेका साहस किया, तो वह उस संघकी सभासदीसे हटाया जाता है। यह युरोप अमेरिका के कर्मसंघोंकी प्रथा देखकर भगवद्गीताद्वारा भगवान् श्रीकृष्णने दिया हुआ संदेश सब जगत्में कैसा फैल रहा है, यह जानकर, गीताके सत्य सिद्धान्तों का निःसन्देह विजय होगा,यही निश्चय मनमें स्थिर होजाता है।

दुर्जय काम।

इसके पश्चात् अध्यायसमाप्तितक (श्लो० ३६-४३ तक) दुर्जय काम को जीतनेका विषय कहा है। यह काम रजोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण भोग बढानेकी प्रेरणा मनुष्योंके अन्तःकरण में करता है। इससे मनुष्य अनंत पाप करते हैं। और पापोंसे दुःख भोगते हैं। मनुष्योंके मनोंपर प्रायः इस काम का मल लगा रहता है। इस काम की तृप्ति कभी भोगोंसे नहीं होती, इसी लिये जो मनुष्य उन्नति चाहता है, वह अपने इंद्रियोंका संयम करे और संयमसे इस दुर्जय काम को जीते। संयमका बल बडा भारी है और मनोनिग्रह से ही इस दुर्जय शत्रुका पराजय करना संभव है।

मनुष्यकी आत्मामें इंद्रियों, और बुद्धिसे भी बढकर अनंत शक्ति है। इस शक्तिका विचार करके मनुष्य इस काम के आधीन न बने, क्यों कि इस तरह शत्रुके आधीन हो जानेसे मनुष्य का आत्माही निर्बल हो जाता है। अतः इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह आदि से अपने आत्मिक बल

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

के द्वारा इस दुर्जय कामको जीतना चाहिये ।

अध्यायका सार ।

संक्षेपसे अध्यायका यह सार है । इसका भी सार अत्यंत थोडे शब्दोंमें देखना हो तो निम्न-लिखित रीतिसे देख सकते हैं—

१ भोगेच्छाका संयम धर्मसे करना । काम दुर्जय और पापमें प्रवृत्त करनेवाला है, अतः वह मनुष्यका शत्रु है । संयमसे उसको जीत कर आत्मिक बल बढाना चाहिये ।

२ अहंकार का त्याग करके, प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, इन गुणोंके न होनेपर कोई मनुष्य कर्म नहीं कर सकता, ऐसा मानकर अपने आपको कर्ता होनेके अभिमानसे दूर रखना चाहिये ।

३ प्रकृतिस्वभाव के अनुरूप कर्म होते हैं, इस लिये अपनी प्रकृति स्वभाव के अनुरूप जो अपने मनकी निष्ठा हो, उसके अनुसार दक्षतासे कर्म करने चाहियें ।

४ ढोंग से ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये, जो अपने सहज कर्तव्यसे प्रतिकूल हो । हठसे ऐसे विरुद्ध कर्म कोई न करे ।

५ अपना सहज धर्म आचरण करते समय मृत्यु आया तो भी उसमें कल्याण है, परंतु ढोंगसे विरुद्ध कर्म करके कुछ लाभ भी प्रतीत हुआ, तथापि अन्तमें वह भयंकर हानि करनेवाला सिद्ध होगा ।

६ मनुष्य के लिये सर्वथा कर्म का त्याग असंभव है, इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य कर्म न छोडे ।

७ यज्ञ के लिये (अर्थात् श्रेष्ठोंका सत्कार, अपनी संघटना और दीनोंके ऊपर उपकार करनेके लिये, परमार्थके लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे ।

८ लोकसंग्रहके लिये (अर्थात् जनता की रक्षा और उन्नति के लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे ।

९ मनुष्यकी उन्नति के लिये उत्तम उपाय यह है कि वह अपने सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करे । ईश्वरको अपने सन्मुख उपस्थित जानकर उसके लिये कर्म करे ।

१० इस प्रकार कर्म करनेसे मनुष्य आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट (अर्थात् आप्तकाम किंवा अकाम) होगा (यह अवस्था प्राप्त होनेपर उस के लिये कोई कर्म अवशिष्ट नहीं रहेगा ।

सारांशसे इस अध्यायका यह सार है । इन दस नियमोंका मनन करके कर्तव्यकर्म करते रहनेसे मनुष्य उत्तम कर्मयोगी हो सकता है । अब ज्ञानयोग और कर्मयोग की तुलना करते हैं ।

ज्ञानयोग और कर्मयोग ।

ज्ञानयोग और कर्मयोग, किंवा ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा, अथवा सांख्यमार्ग और योगमार्गकी तुलना करते हैं;इस तुलनासे दोनों मार्गोंकी समानता कहां है और विषमता कहां है इसका पता पाठकोंको लग सकता है—

योगोंके नाम ।

ज्ञानयोग	कर्मयोग ३।३
ज्ञाननिष्ठा	कर्मनिष्ठा,योगमार्ग
सांख्यमार्ग	योग ३।३
सांख्ययोग, सांख्य	योगबुद्धि।२।३९
सांख्यबुद्धि २।३९	(समत्त्व)बुद्धियोग २।४९

कर्मयोगकी व्याख्या ।

समत्वं योग उच्यते २।४८
योगः कर्मसु कौशलं २।५०
समाधौ अचला बुद्धिः योगः । २।५३
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पः योगधर्मः महतो भयात्त्रायते२।४०
अत्र एका व्यवसायात्मिका बुद्धिः २।४०
बुद्धौ शरणमन्विच्छ २ । ४९
(समत्व) बुद्धियोगः कर्मणः वरः ।
(बुद्धियोगात्कर्म अवरं) २।४९

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आत्माके विषयमें तत्त्वज्ञान।

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
अविनाशी (आत्मा)। २।१२; २।१७	(स्वतंत्र आत्मा नहीं है)	अविनाशी आत्मा
अप्रमेय ,, २।१८	नान्यदस्तीति वादिनः। २।४२	अप्रमेयः ,,
अज, अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण आत्मा। २।२०	(शरीरके साथ जन्मनेवाला और शरीरके साथ मरनेवाला)	अज, अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण आत्मा।
अव्यय आत्मा २।२१	(शरीरके व्ययसे व्यय होनेवाला)	अव्ययः
अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन आत्मा। २। २३-२४	(विकारी, एकदेशी, चल इ०)	अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन आत्मा।
अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी आत्मा। २।२५	(व्यक्त, विकारी)	अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी आत्मा।
आश्चर्यरूप आत्मा। २।२९		आश्चर्यरूप आत्मा
अवध्य देही (आत्मा)। २।३०	(वध्य)	अवध्य आत्मा
आत्माके कुछ धर्म।		**आत्माके कुछ धर्म।**
सतः अभावः न विद्यते। २।१६	(सतः अपि अभावः भवति)	सतः अभावः न विद्यते।
देही नवानि शरीराणि गृह्णाति। २।२२	(पुनर्जन्म नहीं है)	देही नवानि शरीराणि गृह्णाति।
नित्यस्य (आत्मनः) अन्तवन्तः देहाः। २।१८	,,	नित्यस्य अन्तवन्तः देहाः।
जातस्य ध्रुवः मृत्युः मृतस्य च जन्म ध्रुवम्। २।२७	,,	जातस्य ध्रुवः मृत्युः, मृतस्य च जन्म ध्रुवम्।
अव्यक्तादीनि, व्यक्तमध्यानि, अव्यक्तनिधनानि भूतानि। २।२८		अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि भूतानि।

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सांख्यमत	शरीरधर्म। अनात्मवाद	योगमत
असतः भावः न विद्यते। २।१६ विनाशी, प्रमेय, जन्मवान्, मरणधर्मी, अनित्य, अशाश्वत, व्ययवान्, छेद्य, दाह्य, क्लेद्य, शोष्य, एकदेशी, अस्थिर, चल, व्यक्त, चिन्त्य, विकारी, वध्य (शरीर)	असत्य शरीरका अस्तित्व है।	असतः (शरीरादेः) भावः न। विनाशी आदि (सांख्यमतानुसार)
	द्वन्द्वातीत स्थिति।	
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति। २।११	(गतप्राणोंका शोक करना)	गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति।
शीतोष्णसुखदाः स्पर्शा अनित्याः। २।१४	(सुखदुःख नित्य)	सुखदुःख अनित्य।
(द्वन्द्वान्) तितिक्षस्व। २।१४	(सुखकी इच्छा, दुःखकी अनिच्छा)	द्वन्द्वतितिक्षा।
समदुःखसुखः धीरः अमृतत्त्वाय कल्पते। २।१५	कामात्मनः। २।४३ द्वन्द्वमय स्थिति	निस्त्रैगुण्यः निर्द्वन्द्वः नित्यसत्वस्थः निर्योगक्षेमः आत्मावान्। २।४५
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः। २।५६	संगभाव, विषमता	संगं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भव। २।२८
सर्वत्रानभिस्नेहः। ५।५७	रागी, लुब्धः भोगैश्वर्यप्रसक्तः। २।४४	
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। २।५६	सुखे स्पृहा, दुःखे उद्विग्नता।	बुद्धियुक्तः सुकृतदुष्कृते जहाति। २।५०
शुभं नाभिनंदति, अशुभं न द्वेष्टि। २।५७	शुभं अभिनन्दति, अशुभं द्वेष्टि।	सुखदुःखे समे, लाभालाभौ जयाजयौ समौ कृत्वा पापं न अवाप्स्यसि। २।३८
अपरिहार्येऽर्थे शोकः न। २।२७	अपरिहार्येऽर्थेऽपि शोकः।	अपरिहार्येऽर्थे शोकः न कार्यः।
	संयम	
सर्वान्मनोगतान्कामान्प्रजहाति, आत्मनि आत्मना तुष्टः। २।५५	कामात्मानः, स्वर्गपराः। २।४३ भोगैश्वर्यप्रसक्ताः। २।४४	मुक्तसंगः यज्ञार्थं कर्म समाचर। ३।९

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
इंद्रियाणि इंद्रियार्थेभ्यः संहरति । २।५८	त्रैगुण्यविषयाः । २।४५ इंद्रियाणि संयम्य यः विषयान्स्मरन् आस्ते सः मिथ्याचारः । ३।६	इंद्रियाणि मनसा नियम्य असक्तः कर्मेन्द्रि- यैः कर्मयोगं आरभते स विशिष्यते । ३।७
इंद्रियाणि संयम्य मत्परः (ईशपरः) युक्तः आसीत । २।६१	इंद्रियाणि मनः हरन्ति । २।६०	इंद्रियाणां रागद्वेषयोर्वशं न गच्छेत् । तौ अस्य परिपन्थिनौ ३।३४
इंद्रियाणि यस्य वशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । २।६१ यस्य इंद्रियाणि निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । २।६८	इंद्रियाणां चरतां मनः प्रज्ञां हरति । २।६७ कामकामी शान्तिं नाप्नोति । २।७०	इंद्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनं पाप्मानं कामं प्रजहि । ३।४१ कामः क्रोधश्च महापाप्मा महाशनः । तं वैरिणं विद्धि । ३।३७
निराहारस्य विषया विनिवर्तन्ते । परं दृष्ट्वा रसः अपि निवर्तते । २।५९	फलहेतवः कृपणाः । २।४९	आत्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा आत्मनात्मानं संस्तभ्य, दुरासदं कामरूपं शत्रुं जहि । ३।४३
रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादमधिगच्छति । २।६४	विषयान्ध्यायतः तेषु संगः उपजायते, संगात्कामः, कामात्क्रोधः, क्रोधात्संमोहः, संमोहाद् भ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति । २।६२-६३	इंद्रियाणि नियम्य, असक्तः कर्मयोग- मारभते स विशिष्यते । ३।७ असक्तः कर्म आचरन् परं आप्नोति।३।१९
संयमी जागर्ति । २।६९	कामेन ज्ञानं आवृियते । ४।३८ कामः दुष्पूरः अनलः । ३।३९	मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति । ३।५२
(विषयान्) पश्यतो मुनेः निशा । २।६९	कामस्य अधिष्ठानं इंद्रियाणि मनः बुद्धिः । ३।४०	कामः ज्ञानिनः नित्यवैरी, अतः तं जहि । ३।३९

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

अंतिमसिद्धि।

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
आपूर्यमाणं कामाः प्रविशन्ति सः शान्तिं आप्नोति। २।७०	कामः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति। ३।४०	कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबंध-विनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति। २।५१
सर्वान्कामान् विहाय निःस्पृहः निर्ममः निरहंकारः चरति सः शान्तिमधिगच्छति। २।७१	अकर्मणः शरीर यात्रापि न प्रसिद्ध्येत्। ३।८	(योग) बुद्ध्या कर्मबंधं प्रहास्यसि, २।३९ आत्मरतिः आत्मतृप्तः आत्मसंतुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते। ३।१७
ब्राह्मीं स्थितिं प्राप्य न मुह्यति। २।७२		
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। २।६५	सर्वज्ञानिविमूढाः अचेतसः। ३।३२	कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। ३।२०
अन्तकालेऽपि ब्राह्म्यां स्थितौ स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। २।७२		श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः। ३।३१
		नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः। ३।१८
		कर्मयोग।
	अकर्मणि संगः। २।४७	कर्मणि ते अधिकारः। २।४७
		अकर्मणि संगः मास्तु। २।४७
	कर्मफलहेतुः। २।४७	कर्मफलहेतुः मा भूः। २।४७
	फलेषु अधिकारः। २।४७	फलेषु ते अधिकारः मा। २।४७
	अयुक्तस्य बुद्धिः, भावना, शान्तिः सुखं च न। २।६६	योगस्थः कर्माणि कुरु। २।२८
		नियतं कर्म कुरु। ३।८
	अकर्मकृत्। ३।५	कश्चिदकर्मकृन्नतिष्ठति। ३।५
		प्रकृतिजैर्गुणैः सर्वः कर्म कार्यते। ३।५
		अकर्मणः कर्म ज्यायः। ३।८
		कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं न। ३।४

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
		अनासक्तियोगः ।
	आसक्त्या कर्म करोति ।	असक्तः कार्यं कर्म समाचर । ३।१९
		ईश्वरार्पण कर्म ।
	ये आत्मकारणात्पचन्ति ते पापाः । ३।१३	मयि (ईश्वरे) सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व । ३।३०
	अघायुरिन्द्रियारामो मोघं जीवति । ३।१६	कर्माणि कुरु । ३।३०
		लोकसंग्रह ।
	अप्रदाय भुंक्ते सः स्तेनः । ३।१२	लोकसंग्रहं कर्तुमर्हसि । ३।२०
		उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहं ।
		संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ३।२४
		यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
		स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ३।२१
		यज्ञः
	यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः । ३।९	प्रजाः सहयज्ञाः सृष्टाः । ३।१०
		यज्ञेन प्रसविष्यध्वम् । ३।१०
		यज्ञः इष्टकामधुक् । ३।१०
		यज्ञः कर्मसमुद्भवः । ३।१४
		कर्म ब्रह्मोद्भवम् । ३।१५
		यज्ञेन देवान्भावयत, देवाः वः यज्ञेन भावयन्तु । परस्परं भावयन्तः परंश्रेयः अवाप्स्यथ । ३।११

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
प्रकृति कर्म करती है पुरुष स्वतंत्र है वह अकर्ता है।	अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। ३।२७	बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। ॥ २।५०
		अज्ञानां कर्मसंगिनां बुद्धिभेदं न जनयेत्। विद्वान् युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत्। ३।२६
		कुर्वन्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्। ३।२५
		कर्ता।
		प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। ३।२७
		गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा तत्त्वविन्न सज्जते। ३।२८

पूर्वोक्त कोष्टक में "सांख्यमत, योगमत और इन दोनों मतों को न माननेवाले विवेकभ्रष्ट लोगोंका आत्मघातक मत संक्षेपसे दिया है। भगवद्गीताके पूर्वोक्त तीनों अध्यायोंमें येही मत आगये हैं। यहां कोष्टक रूपमें देनेसे और तीनों मतवादियोंके मत आमने सामने रखनेसे पाठकों को तीनों मतोंका साथ साथ विचार करना सुगम हो सकता है। जहां गीताके श्लोकका संबंध है वहां अध्याय और श्लोक का अंक दिया है और जहां गीता के श्लोकसे अनुमान किया है, वहां श्लोकांक दिया नहीं है।

इस कोष्टक को देखनेसे पाठक जान सकते हैं कि सांख्यमत और योगमत में आत्मतत्त्व, शरीर-तत्त्व, द्वन्द्वातीत स्थिति, इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, इनके विषयमें तत्त्वोंकी समानता है। अर्थात् इन के विषयमें दोनों के समान उपदेश हैं। जहां कर्म-योग, कर्मतत्त्व, अनासक्ति, ईश्वरार्पण कर्म, लोक-संग्रहार्थ कर्म, यज्ञतत्त्व, कर्ता का विचार आदि के संबंधमें विचार चलता है वहां के विचार कर्मयोग के साथ अधिक संबंध रखते हैं। इनमें भी जहां "प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, इनका कर्ता आत्मा नहीं है" (३।२७-२८) ऐसा कहा है, वह विचार सांख्य तत्त्व का ही है, ऐसा हमें प्रतीत होता है, क्योंकि सांख्यमत में ही "प्रकृति सब कुछ करती है, पुरुष का उस से कुछ संबंध नहीं" यह तत्त्व प्रधानतया कहा है। यद्यपि भगवद्गीतामें सांख्यमतप्रतिपादक द्वितीयाध्यायमें ऐसा किसी स्थानपर नहीं कहा, तथापि सांख्य-मतप्रतिपादक सभी ग्रंथोंमें पुरुष को अकर्ता और प्रकृतिको कर्ता माना है। इसी तरह अना-सक्ति का तत्त्व भी सांख्य मतके साथ मिलने-वाला है, क्यों कि पुरुष प्रकृतिसे भिन्न होनेसे वह स्वभावसेहि अनासक्त है, इसीलिये अना-सक्तिसे वह मुक्ति अर्थात् निजानन्दावस्था प्राप्त करता है और आसक्तिसे बद्ध होता है॥

जो भगवद्गीता का अभ्यास करनेवाले पाठक

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

हैं, वे यदि अध्ययन किये हुए गीता के श्लोकोंसे इस प्रकार वचन छांट छांट कर एक एक विषय के वचन अलग अलग करेंगे, तो उनको प्रत्येक विषय के संबंधमें भगवद्गीताका कथन निश्चय रूपसे क्या है इसका ठीक पता लगेगा। पाठकों की सुबोधता के लिये और सांख्य और योग की तुलना करनेके लिये यहां दो कोष्टक दिय हैं, इनमें वे दोनों मतों की समता कहां है और विषमता कहां है यह बात देख सकते हैं। साथ ही तीसरा भी एक कोष्टक है, उसमें आत्मघातके विचार संग्रहित किये हैं,इनकी भी तुलना पूर्वोक्त दोनों मतों के साथ पाठक करके योग्य बोध ले सकते हैं। ये कोष्टक पूर्ण नहीं हैं, प्रयत्नसे इनको परिपूर्ण बनाया जा सकता है। यहां केवल इस की अभ्यास में उपयुक्तता है यह दर्शाने के लिये ही ये अपूर्ण कोष्टक दिये हैं। इस प्रकार विवेचनापूर्वक प्रयत्न करते रहनेसे कभी न कभी ये कोष्टक पूर्ण बनना संभव है। अब हम इन कोष्टकों का भी सार निकाल कर प्रत्येक मत का स्वरूप अति संक्षेपसे दिखाते हैं—

ज्ञानयोग।

सांख्यतत्त्व।

"मनुष्य के शरीरमें जो आत्मा है वह अजन्मा अविकारी, अमर, अव्यय, अविनाशी, नित्य, सनातन, पुराण, अप्रमेय, अतर्क्य, अचिन्त्य, आश्चर्यरूप है और वह सर्वगत है। यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य और अवध्य है।"

"इस का शरीर जन्मता है, पुष्ट अथवा कृश होता है, तरुण, वृद्ध और जीर्ण होता है, अन्तमें मरता है। यह शरीर काटा, जलाया, भिगाया अथवा सुखाया जाता है। यह शरीर विकारी है, व्यक्त है और एकदेशी है।"

"शरीर जन्मता है अतः उसका मृत्यु अवश्य होगा। शरीर मरनेपर भी उसके अन्दर रहनेवाला आत्मा जैसा का वैसा रहता है। शरीर का जन्म होनेसे अथवा नाश होनेसे आत्मामें कोई बदल नहीं होता। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र छोडकर नये धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा पुराने शरीर छोडकर नये शरीर धारण करता है।"

"जैसा आकाश अनेक घरोंमें और अनेक घडों में रहता है, कोई घर जल गया अथवा एकाध घडा फड गया, तो आकाशमें कोई अदल बदल नहीं होता, वैसा ही शरीर के नाश से या बनने से आत्मा पर कोई परिणाम नहीं होता।"

"सुखदुःख शीतउष्ण, आदि द्वन्द्व शरीर को होते हैं,आत्मा इनसे अलिप्त है। यह जान कर धैर्य से, तितिक्षा वृत्तिसे और सम भावनासे अपने आपको उन द्वन्द्वोंसे अलिप्त अनुभव करना और सदा हर्षशोक से दूर रहना चाहिये। इस से अमृतत्व प्राप्त होता है।"

"मनमें उत्पन्न होनेवाली सब कामनाएं छोडकर, इंद्रियोंको विषयों से अलग कर, उनका संयम कर, रागद्वेषोंसे इंद्रियोंको मुक्त कर, सब इंद्रियोंको अपने वशमें रखकर, निःस्पृह, निर्मम, निरहंकार होकर, अपने से ही अपने आत्मामें तृप्त होकर, आत्माका ही चिंतन करता हुआ जो विचरता है, उसको प्रसन्नता प्राप्त होती है।"

"विषयोंके हमलेसे अपना बचाव करनेके लिये सदा सावध रहना चाहिये। विषयोंको देखते हुए भी मन निर्विकार रखना चाहिये, जैसा कि विषय देखेही नहीं। जो ऐसा निर्विकार रहता है वह मुक्त होता है।"

"प्रकृतिसे कर्म हो रहे हैं,आत्मा अकर्ता है,ऐसा जो अनुभव करता है वह ब्रह्मरूप बनता है।"

यह सांख्यतत्त्व है। वारंवार मनन करने से, वारंवार ध्यान करनेसे, वारंवार इसी विचार को मनमें स्थिर करनेसे, यह तत्त्व सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्टतया अनुभवमें आता है। और

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यही सहज अकृत्रिम स्थिति हो जाती है। इस तरह इसका साक्षात्कार हुआ और उसकी सहजानन्द की अखंड स्थिति होगई, तो समझना चाहिये कि उसको अन्तिम ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई। श्रवण मनन निदिध्यासन और आत्मानुसंधानसे यह स्थिति प्राप्त होती है। सब कर्म छोडना और केवल आत्मानुसंधान करना इसमें आवश्यक है। यह मार्ग केवल ज्ञाननिष्ठावालों सेहि आक्रमण किया जा सकता है।

कर्मयोग

योगतत्त्व ।

"आत्माका अमरत्व और शरीरका विनाशित्व आदि जो कथन सांख्य मार्गमें कहा है, वही यहां मन्तव्य है। इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह आदि सभी सांख्य तत्त्व की बातें यहां आवश्यक हैं।"

परंतु जिसकी बुद्धि मनन, निदिध्यासन और आत्मानुसंधान में स्थिर नहीं रहती, वारंवार विचलित होती है, और इस चंचलता के कारण जो उच्च भूमिकामें जा नहीं सकता, उस मनुष्यको विविध प्रकार के कर्म करते हुए चित्तकी शुद्धि करना आवश्यक है। ऐसे मनुष्योंके लिये यह कर्मयोग का मार्ग है।

"इंद्रियोंका संयम करना, रागद्वेषोंके वश न न होना, काम को जीतना, क्रोध का शमन करना, शरीर इंद्रियां मन और बुद्धिसे परे आत्मतत्त्व है और वह विशेष शक्तिमान है, ऐसा मानना, और इसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये अनुष्ठान करना यहां आवश्यक है।

"इसके लिये फलाशा का त्याग कर कर्म करना चाहिये, द्वन्द्वोंके विषयमें सम बुद्धि रखना चाहिये, प्रत्येक कर्म कुशलतापूर्वक करना चाहिये और फल परमार्थ के लिये समर्पित करना चाहिये। कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है, प्रत्येक प्राणी कर्म किये विना रह नहीं सकता। प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म होता ही रहता है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपना नियत कर्म करे, और उसका फल दूसरों की भलाई के लिये किंवा परमेश्वरकी प्रीतिके लिये समर्पित करे।"

"जनता के हित के लिये लोकसंग्रह की बुद्धिसे अवश्य सब कर्म मनुष्य करे और उनका फल लोकहित के लिये समर्पित करे। यही यज्ञ है। यज्ञ से सब जगत् की धारणा होती है। अतः यज्ञ रूप कर्म मनुष्य अवश्य करे। ऐसे कर्म करने से चित्तशुद्धि होगी और मन स्थिर होने लगेगा और पश्चात् सांख्य मार्गमें कहे आत्मानुसंधान से वही ब्राह्मी स्थिति इस को प्राप्त होगी।"

इस से स्पष्ट है कि अखंड एकरस सर्वगत आत्मा है, इस का अनुभव करनेके लिये सब जनता के हितके लिये, सब प्राणिमात्र की भलाई के लिये अपने कर्मोंका फल समर्पित करनेका अनुष्ठान करनेकी दीक्षा कर्मयोग देता है। कर्मयोगी लोकसंग्रह, लोकहित, जनहित आदि बुद्धि से कर्म करता है, उस कर्मका फल जनता के लिये सौंप देता है, इससे भी न समझते हुए वह 'सर्वगत आत्मा' की ही उपासना करता है, ऐसा करते करते उसको किसी न किसी दिन 'सर्वगत आत्मा' का साक्षात्कार होता है। इस तरह कर्म मार्गी कर्म करता हुआ, पहिले स्वार्थसे कर्म, नंतर परार्थ के लिये कर्म, पश्चात् परमार्थ के लिये कर्म-करता हुआ, चित्त को स्थिर करता है और अन्तमें वैसा ही कृतकृत्य होता है।"

इस प्रकार सांख्य और योग का तत्त्वज्ञान है, इन मार्गोंमें सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये योगमार्ग किंवा कर्मयोगमार्ग सुगम है। अतः वह सदा सर्व साधारण मनुष्योंके लिये श्रेयस्कर है।

तृतीयाध्यायका विचार समाप्त ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

तृतीयाध्याय की विषयसूची।

कर्मयोग	पृष्ठ २०१
१ अर्जुनकी शंका	,,
२ दो साधनमार्ग	२०२
दो प्रवृत्तियां	,,
शरीरमें ज्ञान और कर्म साधन	२०३
कर्मदेव और ज्ञानदेव	,,
मनुष्योंके प्रवृत्तिभेद	२०४
कर्मसे दोषकी संभावना	,,
३ प्रकृतिधर्म	२०६
कर्म अनिवार्य है	,,
परवशता	२०७
४ मिथ्याचारी	२०८
दाम्भिक लोग	,,
शरीरकी स्तब्धता	२०९
५ अनासक्तियोग	,,
कर्मयोगका आचरण	,,
नियत कर्म करना	२१०
ऐच्छिक और स्वाभाविक कर्म	२११
नियत कर्म	२१२
शास्त्र प्रमाण	,,
सहज कर्म	२१३
परिस्थितिसे प्राप्त कर्म	२१४
आलस्य और प्रयत्न	२१५
विशेष श्रेष्ठ मनुष्य	,,
इंद्रियोंका संयम	२१६
कर्मयोगी राजा	,,
कर्मयोग	२१७
६ सहयोगी यज्ञ	,,
सहज यज्ञ	,,
जगत् में यज्ञ	२१८
शरीरमें यज्ञ	२२०
राष्ट्रमें यज्ञ	२२१
यज्ञ न करनेवालोंका पतन	२२२
ग्रंथी, अश्रद्ध, दस्यु	२२३
जीवनयज्ञ	२२४
घरमें यज्ञ	,,
धर्म के तीन स्कंध	२२५
यज्ञसे उन्नति	२२६; २२७
ज्ञानयज्ञ	२२८
राष्ट्रयज्ञ	,,
पुरुषयज्ञ	,,
देवयज्ञ	,,
दानयज्ञ	२२९
दान से भोग	२३०
अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति	२३१
पर्जन्यसे अन्न	२३२
यज्ञसे पर्जन्य	२३३; २३६
पर्जन्येष्टि	,,
गुप्तदान	२३६
कर्मसे यज्ञ	२३७
ज्ञानसे कर्म	,,
अक्षरसे ज्ञान	,,
यज्ञमें परमात्मा	२३८
दूसरोंसे लूटा जाना	२३९
ब्रह्म का यज्ञ	२४०
विश्वकर्मा का यज्ञ	,,
७ अनासक्तिसे कर्म	२४१
अघायु और पुण्यायु	
मनुष्यकी कृतकृत्यता	२४२

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आत्माका आदेश २४३
आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्मानन्द,
आत्ममिथुन, स्वराट् २४३
निष्काम, अकाम,आप्तकाम,आत्मकाम ,,
आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्मसंतुष्टी २४४
८ जनक का उदाहरण २४७
लोकसंग्रह २४८
९ लोकसंग्रह २४९
श्रेष्ठ लोगोंका उत्तरदायित्व ,,
संकरसे नाश २५२
कर्म छोडनेसे नाश २५३
लोककल्याण २५४
सकाम कर्म, निष्काम कर्म
कर्मसंन्यास, परेच्छासे कर्म २५५
बुद्धियोग और बुद्धिभेद २५६
१० मूढ और तत्त्वज्ञानी २५७
गुणोंसे कर्म ,,
अहंकारसे मूढ २५८
गुणकर्मविभाग २५९
प्रकृतिके गुणोंका मोह ,,
अनधिकार चेष्टा २६०
११ ईश्वरार्पण कर्म २६१
(१)अध्यात्मचेताः ,,
बाल और धीर ,,
अध्यात्मचेताः और विषयचेताः २६२
(२)ईश्वरार्पण कर्म २६२
उन्नति का मार्ग २६३
(३)निराशीः २६४
(४)निर्ममः ,,
(५)विगतज्वरः ,,
असूया करनेवाले २६६
सर्वज्ञानविमूढ ,,
धर्मसंमूढ ,,
१२ प्रकृति स्वभाव
'स्वभाव' का अर्थ २६८
प्रकृति स्वभावसे कर्म २६९
हट की निरर्थकता ,,
इंद्रियोंके रागद्वेष २७०
स्वधर्मकी श्रेष्ठता २७१
आधिदैविक दृष्टि ,,
आध्यात्मिक दृष्टि २७२
आधिभौतिक दृष्टि ,,
समतावाद ,,
चातुर्वर्ण्य पुरुष २७३
मनकी विषमता ,,
पापका प्रेरक कौन ? २७४
१३ पापप्रवृत्तिका कारण २७५
मनुष्यके छः शत्रु ,,
मनका वीर्य २७६
परमेश्वरका पहिला काम ,,
गृहस्थीका परोपकार ,,
रजोगुणसे काम २७७
काम बडा पेटू २७८
महा पापी ,,
कामाग्नि ,,
ज्ञानीका वैरी २७९
कामारी श्रीशंकर ,,
उमापति ,,
१४ श्रेष्ठशक्ति २८१
आत्मशासन ,,
अध्यात्मविचार ,,
कामका षड् यन्त्र २८२
संयम और आत्मशासन २८३
कामका नाश २८४.
इन्द्र, आत्मा ,,
बुद्धिके परे आत्मा ,,
बुद्धिके परे काम ,,
महान् आत्मा और अव्यक्त
पुरुष ,,
"सः= काम" २८५
"सः= आत्मा" २८६

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तृतीय अध्यायपर विचार २८७
कर्मयोग ,,
मनुष्योंके दो भेद ,,
लोगोंकी भूल २८८
ढोंगी, मिथ्याचारी ,,
ब्रह्मज्ञानी की खोज ,,
कर्मत्याग असंभव है २८९
यज्ञ के लिये कर्म ,,
अन्तिम सिद्धि २९०
स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ ,,
लोकसंग्रह और परमार्थ ,,
कर्तृत्व २९१
ईश्वरार्पण कर्म ,,
प्रकृतिस्वभाव २९२
दुर्जय काम ,,
तृतीय अध्यायका सार २९३
ज्ञानयोग और कर्मयोग ,,
तुलनात्मक कोष्ठक २९४
आत्माके विषयमें तत्त्वज्ञान ,,
आत्माके कुछ धर्म ,,
शरीरधर्म २९५
द्वन्द्वातीत स्थिति ,,
संयम ,,
अन्तिमसिद्धि २९७
कर्मयोग ,,
अनासक्तियोग २९८
लोकसंग्रह ,,
यज्ञ ,,
बुद्धिभेदवर्जन ,,
कर्ता २९९
ज्ञान योग—सांख्य तत्त्व ३००
कर्म योग—योग तत्त्व ३०१
विषयसूची ३०३

तृतीय अध्याय समाप्त।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुगंधित धूप

सब प्रकारके सुगंधित धूप, अगरबत्तियां, धूपकी टिकियां, धूपबत्तियां हमारे पास मिलती हैं।

सुगंधशाला, डा० किन्ही (जि. सातारा)

The Vedic Magazine

The only Journal in English which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas in all climes and countries. It is the only organ of the Arya Samajic world which carries the message of the Arya Samaj beyond the seas. Indian emigrants from Non-Hindi-knowing Provinces of India, e. g., Madras, Mysore, Andhradesh, Burma, etc. etc., can remain in contact with Aryan thought through this monthly. The contents of the Magazine have always been highly spoken of by men and women of light and leeding.

Conductd by Prof. Ramdev, Principal & Governor, Gurukula Kangri.

Subscription Rs. 5 only in advance.

Managar 'The VEDIC MAGAZINE'

P. O. GURUKULA KANGRI.
(Dist. Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगा मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय एक आना।

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B.1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[११ से ११]	११	११२१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०६]	१०	१०००	५॥)	१)

कुल मूल्य ५७॥।) कुल डा. व्य.१०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १३
अंक २
क्रमांक
१४७

फाल्गुन
संवत् १९८८
मार्च
सन १९३२

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =)वी. पी. से ।॥=)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयसूची

१ पवित्र वाणी ।	१७
२ एक देव, एक वेद और एक जाति ।	१८
३ घोषाका पति ।	२५
४ सूर्योपासना ।	२८
५ अथर्व वेदका स्वाध्याय	७३

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं । प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है । प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं । पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है । अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है । इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं । इतना होनपर भी मूल्य केवल १) है और डा-व्य. -) है । जिल्द अच्छी बनाई है ।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची ।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है । इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है । भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते । परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है । इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपनपास रखें । मूल्य केवल ।=) है । डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ३
फाल्गुन
संवत् १९८८
क्रमांक १४७
मार्च
सन १९३२

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्व-ज्ञान-प्रचारक-मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

पवित्र वाणी।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि ॥३५॥

ऋ० १०। ७१। २

"(सक्तुं तितउना पुनन्तः) सत्तुको छजसे पवित्र करनेवालोंके समान (यत्र धीराः मनसा वाचं अक्रत) जहां धैर्यवान् लोग मनसे पवित्र शब्द उच्चारते हैं, (अत्र) यहां ही (सखायः सख्यानि जानते) मित्र मित्रता संपादन करते हैं, और (एषां वाचि) ऐसे लोगों के भाषणमें हि मानो (भद्रा लक्ष्मीः अधि निहिता) कल्याणकारक लक्ष्मी निवास करती है।"

जिस प्रकार छाननीसे आटा छानकर पवित्र बना या जाता है, उस तरह जो ज्ञानी मनकी पवित्रतासे अपनी वाणी पवित्र बनाकर उसी पवित्र वाणीका प्रयोग किया करते हैं, वहां ही मित्रता बढती है और मित्र अपने मित्रको मित्रभावसे देखता है। इन पवित्रात्माओं की वाणीमें हि विलक्षण दिव्य सामर्थ्य रहता है। अतः मनुष्य अपने मन से अपनी वाणीको पवित्र करे और बोलते समय शुद्ध भावसेहि उत्तम पवित्र शब्दोंका प्रयोग करे और जगत् में पवित्रता, मित्रता और शान्ति फैलावे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

एक देव, एक वेद और एक जाति।

(लेख दूसरा.)

एक देव और अनेक देव।

पिछले (क्रमांक १४३ के) लेख में बतलाया गया था कि एक व्यक्तिमें तैंतीस करोड देव कैसे माने जाते हैं और सम्पूर्ण विश्वमें वे कहां और कैसे हैं। उस विवेचन से वाचक समझ गए होंगे कि, व्यक्ति में स्थित अंशभूत देव भिन्न हैं, राष्ट्रका व्यवहार चलानेवाले देव अलग हैं और विश्व का कार्य करनेवाले देव दूसरे ही हैं। यदि इनमेंसे प्रत्येक स्थान में तैंतीस कोटी देव हुए तो तीनों स्थानोंमें मिलकर निन्न्यानवे कोटी या कमसे कम निन्न्यानवे देव तो अवश्य ही हुए। जो एक से अधिक देवों का तिरस्कार करते हैं वे ध्यान रखें कि इतने देवों का झुण्ड उनके पीछे पडा है। इनमेंसे किसी एक देव को दूर करनेका प्रयत्न वे अवश्य करके देखें। तब उन्हे अच्छी तरह पता चलेगा कि ऐसा करनेसे कैसी आपत्ति गुजरती है और तब वे सब देवों की उपासना मनप्राणसे करनेमें उद्यत होंगे।

सूर्य देव का जो जीवनदायी विद्युत् सत्त्व यदि मनुष्य के शरीर से सदा के लिए नष्ट हो जाय, तो मनुष्य का जीवित रहना ही असंभव हो जावेगा। उसकी तेजःशक्ति के बिना अपने नेत्र कार्य करनेमें पूर्ण असमर्थ हो जावेंगे। यदि एक इन्द्रिय सदा के लिए नष्ट हो जाय तो वह सदा की हीनता अपने शरीर में रहती है। और वह अन्य किसी बातसे पूरी नहीं की जा सकती। यदि ये सब बातें विचार पूर्वक देखी जावें तो विदित होगा कि यह सम्पूर्ण जगत् अनन्त देवों का अभेद्य जाल ही है। जब तक मनुष्य को संसार में रहना है तब देखना ही होगा कि इन सब देवों का अपने साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है और यह भी देखना होगा कि वह सम्बन्ध अपने को सुखकर कैसा होगा। इसे समझने के लिए ही अपने धर्मग्रन्थों में तैंतीस कोटी देवों का वर्णन आया है। देवों के इस जाल का वर्णन वेदमें इस प्रकार है।–

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः॥५॥
बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ॥६॥
बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य ॥७॥ अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ॥ ८ ॥ साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा॥ रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥ अथर्व वेद ८।८।५—१२

" महान् सामर्थ्यवान् इन्द्र देव का विस्तीर्ण जाल इस सब अंतराल में फैला है और ये सब विस्तीर्ण दश दिशाएं उस जाल के खंबे बन गई हैं। इस जाल का एक खंबा साध्य देवोंने उठाया हुआ है, दूसरे खंबे को रुद्र देवों ने हाथ लगाया है और तीसरे खंबेको आदित्य देव संभाले हैं। इस रीतिसे सब देवोंने यह जाल फैला रखा है। "

यह जाल इन्द्र देव ने फैलाया है इस लिए इसे 'इंद्र का जाल' कहते हैं। " इन्द्रजाल " शब्द इस अर्थ से वेदोंमें आया है। इन्द्रजाल का अर्थ आगे चलकर जादू हो गया। इन्द्र का जाल अच्छे मार्गसे चलनेवाले सज्जनों को बंधन में डालने के लिए फैलाया गया। किन्तु वह मानव जाति के शत्रुओं को पकडने के लिए फैलाया गया है। इन्द्रके इस जाल में मदोन्मत्त दुर्जन तुर्तहि पकडे जाते हैं, और इन्द्रदेव उन्हे उचित शिक्षा देता है। इस संबंध का वेदमन्त्र का उपदेश देखिए—

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥५॥
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कतमच्चनैषान् ॥ ६ ॥ तेन शतं सहस्रमयुतं न्युर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥७॥
अथर्व वेद ८।८।५-७

"उस जाल में सैंकडों, हजारों, लाखों और करोडों शत्रुओं को पकडकर इन्द्र उन्हें शासन करता है।" (ये मंत्र ऊपर के मंत्रोंके द्वितीयार्ध ही हैं। यह तो मंत्रोंके अंकों से ही स्पष्ट होगा।) इन्द्र देवने यह जाल जो संसार में फैलाया है, मानवजातिके शत्रुओं को पकडने के लिए है। उसके हम लोगोंपर ये कितने भारी उपकार हैं। सब देव यह जाल तानकर रखने के लिए कोशिश कर रहे हैं। वसु, रुद्र, आदित्य तथा अन्य सब देव इस जालमें लगातार काम कर रहे हैं। यदि ये देव इस प्रकार परिश्रम न करेंगे तो शत्रु मानवजातिका संहार तुर्तही करेंगे।

दुष्ट मनुष्य जिस प्रकार मानवजाति के शत्रु हैं वैसे ही रोगजन्तु भी इस जाति के शत्रु हैं। सूर्य भगवान् की किरणों से और स्वच्छ वायुदेव की प्रसन्नता से ये रोगबीज किस प्रकार दूर होते हैं यह जब हम देखते हैं तब हम समझ सकते हैं सूर्यादि देव मानवों का परम कल्याण करने के हेतु किस प्रकार परिश्रम करते हैं। इसलिए आवश्यक है कि सब देवों का तिरस्कार न कर अपने उत्तम आचरण से उनसे अधिक से अधिक लाभ उठा लें।

सूर्य की उपासना सूर्य की किरणों में खडे होकर करनी पडती है। खुले शरीर से घण्टा आध घण्टा सूर्यकिरणों में खडे रहकर यदि सम्पूर्ण शरीर के चमडे को प्रतिदिन सूर्य-किरणों का स्नान कराया जावे, और इस प्रकार नियम से सूर्योपासना की जावे तो उस मनुष्य को एकाएक रोगबाधा न होगी यदि रोग पहलेही से हुए हों तो वे भी सूर्योपासना से तुर्तही भाग जावेंगे। पंचाग्निसाधन भी सूर्य के आतप ही में किया जाता है और वह अत्यंत आरोग्यवर्धक है। सूर्य की ओर टकटकी लगाकर देखने के अभ्यास से बहुतेरे नेत्ररोग अच्छे हो जाते हैं। आजकल सूर्यकिरणचिकित्सा का अच्छा प्रचार हो गया है। अतएव सूर्य-उपासना से प्राप्त होनेवाली नीरोगता अन्य प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं रही। एक बात अवश्य कह देना आवश्यक है कि यूरोपीयन चिकित्सक सूर्य को निर्जीव स्थूल पदार्थ समझकर सूर्य की शक्ति से अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु हमारे ऋषि सूर्यादि देवों को चैतन्य पूर्ण समझ कर और यह जानकर कि उन देवों के चैतन्य का अंश हमारे शरीरों में कहां और किस प्रकार है, अपने भीतर के उस उस देवता के अंश को उद्बोधित एवं जागृत कर उसकी जागृति से बाहरी देवता की चैतन्यपूर्ण शक्ति अपने अन्दर लाने के उपासना मार्ग का अवलम्ब करते आए हैं। जडवादी यूरोपीयनों के उपाय और सर्वात्मवादी आर्य ऋषियों के उपायों के बीच का यह जमीन अस्मान का अन्तर विचार करने योग्य है। इसे समझने से निश्चय हो सकता है कि कौन मार्ग सर्व श्रेष्ठ है।

मृत्तिका (भूमि), जल, अग्नि, सूर्य, वायु इत्यादि देवों की सहायता से चिकित्सा करने के मार्ग यूरोपीयनों को इस बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में अभी अभी मालूम हुए हैं। परन्तु आर्य ऋषियों ने कई हजार वर्ष पूर्व इन सब चिकित्साओंको विविध उपासनाओं के द्वारा अपनाया था। वे सब स्थान चैतन्य-दृष्टि से देखते थे, जड में चैतन्य शक्ति का अनुभव लेते थे, जड की शक्ति के साथ उसके भीतरी चैतन्य देवता को भी अपना लेते थे और इस प्रकार मानवजाति का परम कल्याण साध लेते थे। जो कहते हैं कि सूर्यादि देवताओं में जड के साथ ही चेतन शक्ति कार्य नहीं करती, कहना होगा कि वे सच्चा शास्त्र ही नहीं समझे। सच्चा शास्त्र तो यही है कि सूर्य में सूर्य-रूपसे दिखनेवाली, जल में जलरूप से दिखनेवाली और अन्य देवों में अन्य देवरूपों से दिखनेवाली चेतनशक्ति को देखें और उसका अनुभव सब भूतों में करें। हमारे धर्मग्रंथोंने यह शास्त्र स्पष्ट शब्दों में कहा है-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥१॥
वा० यजुर्वेद ३२ । १

" वही एक तत्त्व अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, जल, प्रजापति, शुक्र और ब्रह्म रूपसे दिखता है ।" अर्थात् इन सब दिव्य पदार्थों में उस एक तत्त्व की चेतनशक्ति आई है और विविध कार्य करती है। सूर्यादि सब देवों को इस दृष्टि से देखना और अपने भीतर स्थित उनके अंशों को उद्बोधित कर के उनके द्वारा बाह्य शक्तियों से अपनी भीतरी शक्तियों का संबंध कराना ही आर्य ऋषियों की उपासना का मार्ग है ।

उपासना सिद्धि का ध्येय यह है कि योग में कही हुई अपने शरीर की विविध चक्रों में स्थित शक्तियों का उद्बोधन कर वहां की देवताओं को प्रसन्न करना और इस प्रसन्नता के द्वारा अपनी शक्ति बढाते उसका अनंत विकास करना । इस ध्येय का साधन कुछ सीमातक यूरोप के जडवादी स्थूल मार्गोंसे करते हैं ।

जो लोग योगमार्ग से साध्य होनेवाली अपने शरीर की दैवी शक्तिकेंद्रोंका उद्बोधन नहीं करना चाहते, जो लोग देवों की उपासना करके अपनी दैवी शक्तियों का विकास नहीं करना चाहते और स्थूल दृष्टिसे भी इस विश्वव्यापी दैवतों की अखंड शक्तियों से अपना लाभ नहीं कर लेते, वेही शून्योपासक, नहीं नहीं उपासना-शून्य लोग, कहते हैं कि हमें एकही देव चाहिए और अनेक देव नहीं चाहिए । यदि ये लोग एक भी देवकी उपासना सच्चे हृदय से करते होते और और उस अनन्त से अपनी अन्तरात्मा का वह संबंध क्षणमात्र भी प्रतिदिन करते जो संबंध आनंद ही आनंद करा देता है, तो वे अनार्य कोही शोभा देनेवाला वचन कि हमें अनेक देव नहीं चाहिए, कदापि न बोले होते । अंतःकरण में ईश उपासना का रस उत्पन्न होनेपर उसमें एकही चैतन्य की सब विभूतियों को स्थान अवश्यही मिलता है । परन्तु जो हृदय ईश्वरभक्ति के अभाव से रूखा है वहां राक्षसी भावनाओं के सिवा अन्य किसी को यदि स्थान न मिला तो उसमें आश्चर्य ही क्या ? कहते हैं कि " हमें एक देव चाहिए " । उन्होंने कई अन्य देवों को अपने हृदय में मनाही की है। हमारा उनसे यह सवाल है कि ये सूर्यादि अन्य देव उस एकही देव की विभूतियां तो हैं न याकि वे अन्य किसी शक्ति के अंश हैं ? यदि इन सब देवों में उसी एक देव का चैतन्य विचर रहा है और यदि ये सब देव हम सबका व्यवहार उत्तमता से साधने में प्रतिक्षण उपयोगी हो रहे हैं,तो उन्हें सब एक देवकी विभूतियां मानने में हानि ही क्या ? प्रत्यक्ष बातको न मानने में बुद्धिमानी ही कौनसी ?

सत्पुरुष अपनी इच्छा शक्ति से विविध चमत्कार कर दिखाते हैं । जिसे वे कह देते हैं कि ' तुह्मारा भला होगा, ' उसका जन्मका भला अवश्य ही हो जाता है । निरे हस्तस्पर्श से रोग नष्ट हो जाते हैं। इत्यादि जिन बातों को अपन अपनी आखोंसे देखते हैं उनका कारण उनके शरीर में स्थित दैवी शक्तियों की जागृति ही है। यदि धर्म का लक्षण यह है कि मनुष्य की दैवी शक्ति की वृद्धि का उपाय दिखलाना, तो वह लक्षण निःसंदेह अच्छी प्रकार से हमारे धर्म को लागू होता है । हमारे धर्म में इन सब दैवी शक्तियों का अंग-उपांग-सहित विचार किया गया है; साथ ही यह भी उत्तम रीतिसे बतलाया गया है कि दैवी शक्तियों के मनुष्य में किस प्रकार विकास किया ध्यान रखा रखना होगा कि यही हमारे धर्म की विशेषता है ।

इस प्रकार ये तैंतीस कोटी देव हैं । परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि देवों के इतने ही प्रकार हैं । अपने धर्ममें इससे भी अधिक देवता हैं । देखिए—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथि-देवो भव । तै. उ. १।११।२

" जन्म देनेवाली माता, पालन करनेवाला पिता, ज्ञान देकर सज्ञान करनेवाला गुरु और जनता को सन्मार्ग दिखलाने के लिये उपदेश करते हुए गांव गांव में घूमकर जनता के उद्धारके लिए आत्मसम-

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

र्पण करनेवाला अतिथि इन्हें देव मानो और इनका सत्कार करो।" इस उपनिषद्वचन में बतलाए हुए चार देव मानना आवश्यक है या नहीं? एक देव को चाहनेवाले और अन्य देवोंको प्रतिबन्ध करनेवाले लोग अपनी माताको और अपने पिताको तो पूजनीय मानने के लिए तैयार हैं या नहीं? इनके सिवा और भी कुछ देवियां माननी पडेंगी –

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः। ऋग्वेद १।१३।१०

"मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि ये तीन देवियां अत्यंत सुख देनेवाली हैं। बिना भूले वे अन्तःकरण में रहें।" ये तीन देवियां हैं। वे अत्यन्त सुख देनेवाली हैं। अतएव उन्हें अपने अन्तःकरण में आदरसे स्थान देना अतीव आवश्यक है। इन तीन देवियों के संबंध के विशेष सूक्त वेदों में हैं और अन्य साहित्य में भी हैं। जो लोग एक ही देव चाहते हैं वे इन तीन देवियों को अन्तःकरण में आदर का स्थान देंगे या नहीं? अथवा वे लोग मातृभूमि की उन्नति के लिए उदासीन रहकर उसे सदा के लिए परतन्त्र दशामें रखेंगे? वे कृपया इस बात को स्पष्ट करें।

इनके सिवा अन्य अनेक देवता हमारे धर्मग्रन्थमें बतलाई गई हैं। उनके नामों का केवल निर्देश ही ही करने लगें तो बहुतसे पृष्ठ लग जावेंगे। परन्तु इन सब का विचार अब तक के विवेचन से वाचक सहज ही कर सकते हैं।

अपने प्रत्येक धर्मग्रन्थ में यह बात स्पष्टतया कहा गई है कि इन अनेकानेक देवताओं के रहते भी इन सब का देवाधिदेव एक ही है। वैदिक साहित्य से आरम्भ करके अत्यन्य आधुनिक ग्रन्थों तक में यह बात स्पष्ट की गई है कि इन सब देवोंमें एकही देवकी शक्ति कार्य करती है। इस संबंध के दो प्रमाण यहां देना आवश्यक हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १। १६४। ४६

'कवि लोग एकही सद्वस्तु का वर्णन अनेक नामोंसे करते हैं। एकही देव को इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि नाम वे देते हैं।"

इस मन्त्र में दिखलाया गया है कि नामभेद से जिसका वर्णन करना है उस एक देव में नामों की अनेकता से कुछ भी भेद नहीं होता। एकही मनुष्य पुत्र, भाई, बाप, पति, काका, मामा आदि नामोंको भिन्नभिन्न मनुष्यों के साथ के संबंध से, प्राप्त होता है। यदि वही अधिकारी हो तो उसके अधिकार-भेद के कारण उसे अन्य अनेक नाम प्राप्त होते हैं। इतने बहुत से नाम प्राप्त होनेपर भी वह मनुष्य एकही रहता है और उसमें कोई भी और किसी भी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं करता। जैसे यह स्थिति कुटुम्ब में रहती है, या हरएक मनुष्य के संबंध में रहती है, उसी प्रकार इस संसार में परमेश्वर जो अनेक घटनाएं करता है और अनेक कार्यों से जो उसके अनेक गुण प्रकट होते हैं, उनके उस एकही परमेश्वर को अनेक भिन्न भिन्न नाम प्राप्त होते हैं। ऐसे अनेकों क्या, हजारों नाम भी, यदि उसे प्राप्त हैं, तब भी यह तो नहीं होता कि वह एक नहीं है अनेक हैं। यह मन्त्र ऋग्वेद में है। अर्थात् इस आद्य वेदग्रन्थ में परमेश्वर का एकत्व इस प्रकार प्रतिपादित है। आगे चलकर उपनिषदों में यही बात भिन्न प्रकार से कही है–

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥१०॥
कठ उप० ५

"अग्नि और वायु प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के रूप के अनुसार तदाकार दिखते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतमात्रके भीतर स्थित परमात्मा प्रत्येक रूप के भीतर रहकर तदाकार मालूम होता है और वह उसके बाहर भी है।"

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस उपनिषद्वचन में कहा है कि अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के अन्य पदार्थों के भीतर और साथ ही मनुष्यादि सब प्राणियों में अर्थात् सब पदार्थमात्र में एक परमात्मा व्याप्त है। जिसमें वह है उसी आकार का वह दिखता है, यह वर्णन अत्यन्त बहार का है। इससे सहज ही ध्यान में आ सकता है कि जगत् में विभिन्न पदार्थों में वह अभिन्नता से किस प्रकार है। अग्नि को अग्नित्व देनेवाला, वायु और जल को वायु तथा जल के रूप देनेवाला और प्रत्येक पदार्थ में अपनी शक्ति डालकर तद्रूपता से प्रकट होनेवाला यह एकही देव है। जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर का जीवात्मा आंख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि इन्द्रियों को अपने अपने कार्य करने में समर्थ बनाता है, इसलिए कवि लोग उसे कान का कान, आंख की आंख कहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा को अग्नि की अग्नि, वायु का वायु और सूर्य का सूर्य कहते हैं। इस सब वर्णन से विदित होगा कि इस अनन्त वस्तुमात्र में वह एक अद्वितीय आत्मा किस प्रकार भरा हुआ रहते भी बचा है। इसी वर्णन को उपनिषदों ने भिन्न रीति से किस प्रकार किया है, देखिए—

यो देवो अग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः
श्वेताश्व० उप० २। १७

" जो एक देव अग्नि, जल, ओषधि, वनस्पति और सब सृष्टि के पदार्थों में भरा है उस एक देव को नमस्कार। "

इस प्रकार स्पष्ट शब्दों से सर्व-व्यापक एक देव का वर्णन वेद, उपनिषद और आधुनिक ग्रन्थों में चारों ओर एकसा है। श्रीमद्भागवत में यह वर्णन किस प्रकार है देखिए—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः
पुरुषः एक इहास्य धत्ते। स्थित्यादयो हरिविरिञ्चिहरेतिसंज्ञा श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥ श्री० भागवत १। ३। २३

एकही परात्पर पुरुष जब प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुणों से मिलकर विविध कर्म करने लगता है और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने लगता है तब उसी एक देव को ब्रह्मा, विष्णु और शिव संज्ञाएं प्राप्त होती हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये तीन देव भिन्न नहीं हैं किंतु एकही ईश्वर के भिन्न नाम हैं। सब पुराणों में और आधुनिक साहित्य में भी इसी प्रकार के वर्णन हैं। इस सम्पूर्ण वर्णन से यही स्पष्ट होगा कि तैंतीस कोटी देवों को मानकर भी उनमें सूत्ररूप से रहनेपर शेष रहनेवाला एक देव किस प्रकार है। ऋग्वेद से लेकर बिलकुल आधुनिक साहित्य तक में यह बात अविरोध से दिखलाई गई है कि " अनेक देवतां हैं और उनमें व्यापनेवाला एक देव है "। एक भी ग्रन्थकार ने इस कल्पना को दूर नहीं किया। एक देवकी कल्पना ऋग्वेद से लगाकर आधुनिक काल के साधु संतों के वचनों तक में एकसी जागृत है और उसीके साथ तैंतीस कोटी देवोंकी कल्पना भी। कोही भी नहीं मानता कि ये कल्पनाएं परस्पर विरुद्ध हैं। आर्यमात्र,चाहे वह विद्वान् हो या अपढ, राम कृष्णादि किसी भी देवता की उपासना क्यों न करता हो, अपने उपास्य देव के नाम से कदापि भ्रांत नहीं होता। उसके हृदय में निश्चय रहता है कि सब नाम एकही देव के हैं। यह बात जर्मन प्रोफेसरों के भी ध्यान में आचुकी है। प्रो० झिमरमन एक वेद विषयक व्याख्यान में कहते हैं—

" In reality there is only one supreme principal, the plurality of gods being the fruit of a fertile poetic fancy.

(Prof. R. Zimarman.)

" वस्तुतः (हिंदुधर्म के अनुसार) केवल एक ही देव वेद में वर्णित है। कवियों की कल्पनासृष्टि में अनेक देवताएं निर्माण हुई हैं। " ऋग्वेद का जो मंत्र हमने ऊपर उद्धृत किया है उसका विचार करते समय ही प्रोफेसर लाबने उक्त वाक्य कहा है। यह तो (इंद्रं मित्रं०ऋ० १।१६४।४६) उक्त मंत्र का केवल स्पष्टीकरण ही है। जो बात जर्मन प्रोफेसर सहज समझ सके उसे हमारे लोग नहीं समझते यह आश्चर्य है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वास्तव में भारतवर्ष में साधुसन्त, हरिदास और पुराणिकों ने धर्म प्रचार का कार्य कर गांव गांव के बिलकुल अब जनता के हृदयपर भी एक देव के अस्तित्व का प्रतिबिंब इतना स्पष्ट उठाया है कि शिव,विष्णु आदि या राम,कृष्ण आदि उपास्यों की उपासना करते हुए भी ये उपास्य उस उस एक देव की ओर ले जानेवाले हैं अथवा उसी एक देव की जागृति करानेवाले हैं ऐसी प्रत्येक हिन्दु की धारणा है। हिन्दुमात्र के हृदय में यह भाव अविच्छिन्नता से विराजमान है कि उपास्य भेद से एक देव के अस्तित्व में तिलप्राय भेद नहीं होता। बिलकुल गंवार मनुष्य से लगाकर बडे पंडित तक प्रत्येक हिंदु के हृदयमें इस बात की असंदिग्ध जागृति है। इस दशा में यह समझना अति जटिल है कि कुछ मनुष्यों को ही अनेक देवों की अडचण कैसे मालूम होने लगी। अनेक देव उस परमेश्वरका एक एक गुण दिखलाते हैं और उन देवों में से वही एक देव प्रकट होता है। इस विभन्न जगत् में वह अभिन्न रीतिसे भरा है। इन विभक्त पदार्थों में वह अविभक्त होकर रहा है यही अपने धर्मका सिद्धान्त है और इसी का स्पष्टीकरण अब तक किया गया।

यह सब हुआ पर अभी यह देव मालिका समाप्त नहीं हुई। अतएव बचे हुए देवों का थोडासा विवरण करना आवश्यक है।

प्रत्येक देश के शिक्षित लोगों में वीरपूजा किसी न किसी रूप में अवश्य ही रहती है। प्रयेक देश की प्रत्येक जाति के लोग अपने अपने वीरों की पूजा किसी न किसी रूप में करते ही हैं। हिंदुओं के राम कृष्ण आदि उपास्य वीरपूजा की भावना से ही बने हैं। जो जो लोकोत्तर वीर होते हैं उनकी पूजा इसी प्रकार होती है। कई-एको की पूजा उनके रहते ही होती है और कई लोगों की उनकी मृत्युके पश्चात्। इन वीर पुरुषों में प्रत्येक शतक में नई नई विभूतियां शामिल की जाती हैं। वीरपूजा के कारण आबालवृद्धों की मनोवृत्तियों को एक प्रकार की चालना मिलती है। श्रेष्ठ वीर की भावनासे मन उल्लसित होता है और आत्मा उच्च भावनाओं से विकसित होती है। इसी लिए सब देशों के महापुरुष और राष्ट्रनेते वीर-पूजा को संमति देते आये हैं और वीरपूजासे राष्ट्र को उच्च ध्येय से युक्त करते आये हैं। अबतक किसीने भी वीरपूजाके विरुद्ध मत नहीं दिया। इस प्रकार वीरपूजा सब श्रेष्ठ लोगों को संमत है। यदि वीर-पूजा मानते हैं तो अनेक देवोंका मानना अपरिहार्य हो जाता है। अतएव वीरपूजा में स्थित श्रेष्ठ तत्त्व को पाठक समझने का यत्न करें।

श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण आदि जो विभूतियां संपूर्ण आबालवृद्धों को पूजनीय एवं आदर्श हुई हैं। वे जैसी आज सब आबालवृद्धोंको प्रिय हैं, वैसी ही आगे भी निःसंदेह रहेंगीं। उनके चरित्र ही इस प्रकार उच्च एवं श्रेष्ठ आदर्श हैं कि वे हिन्दुओंको नहीं अपितु सम्पूर्ण जगत् के मार्गदर्शक हो सकते हैं। ऐसी विभूतियोंका स्मरण सदैव जागृत रखना चाहिए। इन विभूतियोंमें हर बार नए व्यक्ति जुडते ही जावेंगे और यह वीरपूजाके देवों की संख्या कभी भी निश्चित रीतिसे कहना असंभव है। अपनी प्राचीन विभूतियों में अब छत्रपति शिवाजी महाराज और अन्य अनेक विभूतियां शामिल की गई हैं। इस प्रकार यह संख्या बढते जाना राष्ट्रकी धर्मभावना की जागृति का ही फल है। जो राष्ट्र अपने राष्ट्रकी कर्तृत्ववान् विभूतियों का आदर नहीं करता, समझ लेना चाहिए कि वह राष्ट्र जीवित नहीं है। अस्तु। इस प्रकार पाठक गण तैंतीस करोड देवोंके सिवा ये वीर देवभी हैं। इन देवोंको तो रखनाही होगा उन्हें निकाल डालना संभव नहीं।

पहले दिखला चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में आत्मा और उसीके साथ तैंतीस देवतांश रहते हैं। ये सब शक्तियां ही प्रत्येक मनुष्य में हैं। इनका विकास करना मनुष्य का कर्तव्य है। जो श्रेष्ठ मनुष्य अपने भीतर की इन शक्तियों का विकास करते हैं वे धीर वीर महात्मा और अनुकरणीय आदर्श पुरुष होकर विभूतियां बनकर जनता के पूजनीय

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

बन जाते हैं। मनुष्य के दैवी अंश का विकास होने के कारण ही इनको यह देवत्व प्राप्त होता है। आजकल लोग विभूतियों को यह कह कर अपनी बराबरी का बनाने की चेष्टा करते हैं कि 'वे तो मनुष्य ही थे और अपनभी मनुष्य हैं' श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिवाजी महाराज, समर्थ रामदास, तुकाराम, तुलसीदास, स्वामी दयानन्द ये मनुष्य ही थे और आजकलके विद्वान् भी मनुष्य ही हैं। शरीर के अवयवों की संख्या की दृष्टिसे ये सब ठीकही है। परन्तु उक्त विभूतियोंने अपने प्रयत्न से देशोद्धारक कार्य करके जनता का उद्धार किया इसीलिए वे विभूतियां बनकर पूजा करने योग्य बन गये और प्राचीन महान् विभूतियोंको 'मनुष्य'ही कहनेवाले इस भेदको अवश्य ध्यानमें रखें। राम कोभी दस इन्द्रियां थीं और रावण कोभी दस इन्द्रियां थीं। इस प्रकार मनुष्य शरीर धारण करने की दृष्टीसे दोनोंमें समानता ही थी। परन्तु लोगोंने एक को देव माना और दूसरेको राक्षस। शरीर मनुष्यका होते हुए भी जो लोग देव बनते हैं वे वंदनीय हो जाते हैं और दूसरे राक्षस बनकर निंदनीय हो जाते हैं। इसीलिए यद्यपि अपने शरीर के समान ही विभूतिका शरीर भी हड्डी और मांसकाही बना हुआ होता है, तब भी विभूतियोंमें विशेषता अवश्यही होती है। दोनोंका अस्तित्व यद्यपि एकसा है, तथापि काक तो काकही है और हंस सो हंस, हम लोगोंमें वीरपूजा और विभूति पूजा है इसलिए सेकडों देव बढ गए हैं और यह संख्या घटनेका संभव नहीं।

इसके सिवा और भी कई देव हैं जो मनुष्यों में निर्भयता, अहिंसा, समता आदि गुणों की परम सीमाकी जानकारी उत्पन्न करते हैं। 'शेषशायी नारायण' ने निर्भयता को परम सीमा दिखलाई है। केवल पैरके स्पर्श होने हीसे दंश करनेवाला प्राणी सांप है। उस सर्पपर निडर हो शयन करनेवाले के मन में निर्भयता की स्थिरता कहां तक होगी सो तो कल्पना ही करने योग्य है। दूसरा दैवत "श्री शंकर" है। इस के पास अहिंसा के भाव की चरम सीमा है। सर्प और चूहा, बैल और सिंह, मोर और सांप ये सब प्राणी अपना जन्मसिद्ध वैर भूलकर अहिंसारूप बनकर एकही कार्य में लगे हैं यह अहिंसा की परम सीमा है। इस प्रकार एक एक परमोच्च भाव दिखलाने तथा इन भावों को हृदय में विकासित करने के लिए ये और अन्य अनेक दैवत हैं। ये भाव मनुष्योंकी उन्नतिके साधक हैं। अतः यदि वे इन आदर्श देवों के बहाणे मनुष्यों के सन्मुख रहें तो किसी भी प्रकार अवनति होना असंभव होगा। इन दैवतोंका यही उपयोग है और यह बात निर्विवाद है।

इस अपने धर्म में अनेक अनेक देवता सहेतुकता से मानी गई हैं और वे भी बहुत प्राचीन काल से। बडी मार्मिकता से सब दर्जों के लोगों की उन्नति के लिए बडे बडे ऋषियोंने यह देवताओं की योजना की है। इसीलिए इस योजना में नाम रखने योग्य स्थान अर्थात् दोषस्थान बिलकुल नहीं है।

जिन लोगों को अपने धर्म का ज्ञान नहीं और किसी भी धर्म का विचार करने की फुरसत नहीं, वेही लोग कहते हैं कि बहु-देवता-वाद से हमारा नुकसान हुआ है और एक-देवता-वाद से अमुक होगा। परन्तु यदि ये लोग देखें और समझ लें कि यह बहुदेवतावाद किस प्रकार का है और उसीमें एकदेवता-वाद किस प्रकार समरस हुआ है, तो उन्हें अपने धर्म का "अनन्त देवों के परिवारमें व्यापनेवाला अपना एकेश्वरवाद" ही अधिक पसंद आवेगा।

यहांतक 'एक देव' के संबंध के प्रलापों पर विचार हुआ। आगे चलकर 'एक वेद' के विषय पर विचार करेंगे।

———

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

घोषाका पति ।

(ले०- पं० वासुदेवजी, मथुरा)

ऋषि लोग क्रान्तदर्शी होते हैं। वे प्रत्यक्ष या स्थूल से उस पार परोक्ष या सूक्ष्म को देखते हैं। इसी क्रान्तदर्शिता की एक परिभाषा ब्राह्मण ग्रन्थों में बार बार दोहराई गई है—

परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

अर्थात् देव लोग परोक्षके प्रेमी होते हैं, वे प्रत्यक्ष से दूर भागते हैं। या यों कहें कि सृष्टि का निन्यानवे प्रतिशत भाग परोक्ष है, केवल एक प्रतिशत प्रत्यक्ष है। इस सत्य को अर्वाचीन विज्ञान की साक्षीने पुष्ट कर दिया है। जो मृत् पिण्ड हमें दिखाई पडता है उसका स्थूल रूप बहुत जघन्य है। उसका परोक्ष रूप परमाणुओं की अन्तर्निहित शक्ति है जिसकी महिमाका कुछ आभास पाकर हमारे वैज्ञानिक स्तब्ध हो गये हैं। दूसरा उदाहरण लीजिये। वाणीसे जो हम बोलते हैं वह प्रत्यक्ष है, परन्तु वे मनोभाव जो वाक्द्वारा कुछ कुछ व्यक्त किये जाते हैं, परोक्ष हैं। उनकी इयत्ता अनुमानातीत है। वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण और उपनिषदों में अनेक स्थानों में परोक्ष और प्रत्यक्षके शाश्वत द्वन्द्व का उल्लेख है। उनके कुछ नामान्तर यहां दिये जाते हैं-

परोक्ष	प्रत्यक्ष
त्रिपाद्	एकपाद्
एकरसकाल	भूतं भुवनं भविष्यत्
मन	वाक्
अनिरुक्त	निरुक्त
प्रलय	सृष्टि
ब्रह्म	क्षत्र
प्राण	अपान
समाधि	व्याधि

तात्पर्य यह कि परोक्ष-प्रत्यक्ष का अश्विनी या द्वन्द्व सर्वव्यापी है। वेदार्थ समझने में यह सिद्धान्त बहुत ही आवश्यक है कि हमें प्रत्यक्ष से परोक्ष को पाना है, मर्त्य से अमृत को जाना है। जब तक हमारे वेदार्थ में प्रत्यक्षकी जडता देखी जाती है तब तक वह एकांश में सत्य भले ही हो, पूर्ण नहीं है। उदाहरणार्थ विश्वामित्र जब तक एक ऋषिविशेष की संज्ञा है, तब तक वह भी सत्य हो पर वेदकी व्यञ्जना एक स्थूल व शरीर में परिमित होनसे मर्त्य बन जाती है। वस्तुतः वेदके ऋषिकोटि के सार्वभौम सनातन ज्ञान में इस प्रकारकी पिण्डात्मक जडता वैदिक कालीन विचारकों को अभीष्ट नहीं थी। वे तो बारंबार यही कहते थे—

परोक्षप्रिया वै देवा प्रत्यक्षद्विषः।

इसीलिये विश्वामित्र का जब तक प्राणापान अर्थ उन्होंने अवगत या निर्धारित नहीं कर लिया तब तक उनको शान्ति प्राप्त नहीं हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि वेदों की भाषा प्रकृतिकी देशकालातीत भाषाके अतीव सन्निकट पहुंच गई थी, कारण उसकी व्यञ्जना बहुत व्यापक थी। अध्यात्म अधिदैव, अधिभूत [Man, Nature, Society] तीनों क्षेत्रों में एकही साथ अर्थों का प्रसार करने वाला वैदिक शब्दविन्यास अत्यन्त आश्चर्यमय चमत्कार से भरा हुआ है। जैसे इन्द्र शब्द आत्मा, राजा, महाप्राण, देवराज आदि अनेकार्थों का वाचक होता हुआ यथास्थान समस्त अर्थों की व्यञ्जना करके मंत्रों में अद्भुत आनन्द उत्पन्न करता है। यह सब होते हुए भी अध्यात्म अर्थ वेदकी दृष्टिमें सर्वश्रेष्ठ है और अधिभूत अधिविद्यादि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विविध अधिकरण कुछ दूर तक अपने अस्तित्व को समकक्ष रखते हुए भी अन्त में अध्यात्म में ही विलीन हो जाते हैं। अध्यात्म के बिना वेदमेंसे उस अक्षर पदकी प्राप्ति असम्भव है जिसके आमनन के लिये वेदोंका प्रकाश हुआ है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक उपाख्यानों को कुछ लोग ऐतिहासिक सत्य की भांति मान लेते हैं। वस्तुतः उस समय वेदके अर्थों को स्पष्ट करनेके लिये कहानियों की रचना की जाती थी।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'

इस वाक्य के उपबृंहयेत् पद में आज्ञा है कि वेद के व्याख्यान के लिये इतिहास-पुराणकी शरण लो अर्थात् नवीन गाथाएं कल्पित करके मंत्रार्थ को प्रकाशित करो।

इसी प्रकार की एक कथा घोषा के पति प्राप्त करने का वृत्तान्त है। अश्विनीकुमारों को सम्बोधित करके कक्षीवान् ऋषिका वचन है—

युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय। घोषायै पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्॥ ऋ० १।११७।७

सायण भाष्य-कक्षीवान् ऋषि अश्विनीकुमारोंसे कहते हैं,हे नरो,स्तुति करनेवाले कृष्णके पुत्र विश्वक को तुमने विष्णापू (नामक विनष्ट पुत्र)दिया। अपने पिता के गृह में) कुष्ठ रोग के कारण अविवाहित दशा में) जीर्ण होई हुई घोषा को तुमने पति दिया।

ऐतिहासिक प्रवृत्ति के लोग इसमें कृष्ण, घोषा आदि नामों को व्यक्तिवाचक संज्ञाएं कल्पित करते हैं। परन्तु अध्यात्म अर्थ की दृष्टिसे घोषा नाम बुद्धि का है। इस मंत्र में अश्विनी अर्थात् प्राणापान की सहायता से अन्नमय कोष और विज्ञामय कोष की विशुद्धि का वर्णन है। अन्नमय देह स्थूल है। योगविद्या से उस की पवित्रता और निरोगता सिद्ध होती है। साथ ही विज्ञानमय कोष में बुद्धि अपने पति आत्मा को प्राप्त करती है।

हे अश्विनो! तुमने पितृगृहमें जराको प्राप्त हुई घोषा को पति दिया। कितना सीधा वर्णन है। जबतक बुद्धि में आत्मा का ज्ञान नहीं है, तबतक उसे कुष्ठरोग है, वह देशकाल की सीमाओं से बद्ध रहती है। पितृषद् दुरोण यह शरीर है। इसका पिता ब्रह्म है। वह इस दुरोण या घर में बस रहा है। उस पिता से अधिष्ठित घर में रहती हुई घोषा बूढी हो जाती है, पर पति को नहीं पाती। अनात्म दशा में बुद्धि अधिकाधिक संसारी बनकर स्थूल होती जाती है और चेतन के स्फुरण की उसकी क्षमता भी शनैःशनैःकुण्ठित हो जाती है। योगविद्या या प्राणापानके संयम की महिमासे मलों के आवरण नष्ट हो जाते हैं और विवेक की ख्याति होती है। पतञ्जलिने प्राणापानरूप अश्विनी की कृपा अथवा योग के अनुष्ठान का ठीक यही फल कहा है जिसे वेदमें घोषा का पति प्राप्त करना कहा गया है—

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। यो० द० २।२८

अर्थात् योग के आठों अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होता है और सब पदार्थों के ज्ञान का प्रकाश होता है यहां तक कि अन्त में प्रकृति पुरुष का विवेक भी हो जाता है।

शारीरिक और मानसिक अशुद्धियों के निवारण से योगमें पूर्णता प्राप्त होती है।

यह काम प्राणापान का है। इन्हीं की वैदिक संज्ञा अश्विनी है। अब अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है हे अश्विनी कुमारो, पितृगृह अर्थात् शरीर में अज्ञान से कुष्ठीभूत घोषा बुद्धि को बूढी होनेपर भी पति नहीं मिला, तुमने काक्षीवती घोषा को पति दिया। आत्मा ही अंगराज, देवराज, या पति है। दीर्घतमा अंगराज थे। उनकी पोती घोषा थी। तमसाच्छादित पिता की पुत्री या पौत्री अज्ञानकुण्ठित हो यह स्वाभाविक है। वह घोषा काक्षीवती है कक्षीवान् ऋषिकी पुत्री है। यह कक्षीवान् अनेक सूक्तों का ऋषि है। कक्षीवान् शब्द की निरुक्ति महत्त्वपूर्ण है। कक्षाएं जिसमें हों वह कक्षीवान् है। इस प्रकार महाप्राण की संज्ञा कक्षीवान् है, जिसमें प्राण और अपान नाम की दो कक्षाएं (Aspects) या कोठियां हैं। विश्व की महाशक्ति मूल में द्वैतभाव से प्रगट हुई, यह बात विज्ञान से भी सिद्ध है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इसको ऋण और धन विद्युत् (Negative & Positive Electricity) कहा जाता है। इन्हीं के अनेक नाम वैदिक परिभाषा में हैं। उदय, अस्त, सृष्टिप्रलय ये कक्षाएं जिसमें हैं वह कक्षीवान् है। इसी से मिलता हुआ शब्द पक्षी है, महाप्राण या आत्मा का नाम पक्षी या सुपर्ण भी इसीलिये है। उसे ही गरुत्मा भी कहा जाता है। उस कक्षीवान् से घोषा का सम्बन्ध है। कक्षीवान् ने जब देशकाल का आवरण स्वीकार किया अथवा इन्द्र जब अपनी माया के बन्धन में आया, तब उसे महत्तत्त्व बुद्धि या घोषा की आवश्यकता हुई। त्रिधाबद्ध वृषभ महादेव आत्मा निरन्तर घोर शब्द करता है। उस के करुण क्रन्दन या चीत्कार का साधन घोषा है। इस घोषा का स्वयंवर हो जाय यही इस लोकमें सब से बड़ी संप्राप्ति है। पर इसका एक ही पति है वह आत्मा है। इसके दश पुत्र हैं-ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का समुच्चय ये घोषा के पुत्र हैं। हमारी प्रार्थना है-

दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।

दश प्राण दश पुत्रवत् हैं, आत्मा ग्यारहवां सब के ऊपर पति है। दश पुत्र और एक पति से संयुक्त घोषा स्वयंवर में कृतकृत्य होती है। यह पति जिस पर ढल जाता है उसे ही अपना शरीर विवृत कर के दिखा देता है। विचारशील पाठकों को तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि पति, पिता, पुत्र, पत्नी, शरीर ये सब औपचारिक शब्द हैं। अचिन्त्य अलक्ष्य भावों को लक्षणगम्य बनाने के साधन मात्र हैं।

मंत्र के प्रथम चरण में अश्विनों की कृपा से अन्नमय कोष की शुद्धि का वर्णन है। आलंकारिक भाषा में कहा गया है कि कृष्ण के पुत्र विश्वक ने विष्णापू नामक पुत्र को फिर से पाया। कृष्णरूप अन्न, मन और यजुर्वेद का है—

अथ यत्कृष्णं तदपां रूपमन्नस्य मनसो यजुषश्च।

जै० उ० १। २५। ९

कृष्ण अर्थात् अन्न का पुत्र अन्नमयकोष है क्यों कि अन्न से उत्पन्न होता है। विश्व नाम भी अन्नका है। विश्वामित्र शब्द में विश्व नाम अन्न और मित्र नाम प्राण का है।

तदन्नं वै विश्वं प्राणो मित्रम्।

जै० उ० ३। ३। ६

इस विश्वको प्राण चाहिये जिससे वह शुद्ध किया जा सके। वह प्राण विष्णापू है। ब्राह्मण ग्रन्थों की परिभाषा में विष्णु अन्न की देवता है-

यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवता।

श० ७। ५। १। २१

विष्णु और विष्ण एकही शब्द के रूपान्तर हैं। उस विष्णु को जो पवित्र करे वही विष्णापू है। वेदमें अन्न और प्राण के द्वन्द्व का बहुत विशद वर्णन है। अन्न स्थूल या निरुक्त रूप (Manifest form) है, प्राण सूक्ष्म या अनिरुक्त रूप (Unmanifest form) है। अन्न सदा प्राण से मिलना चाहता है। प्राण अत्ता या अन्नाद है। उसे अन्न चाहिये। अन्न को प्राण चाहिये, इसी में अन्न की पूर्णता है। वैज्ञानिक शब्दों में अन्न Negative और प्राण Positive रूप है। उस कृष्णरूप विश्वसंज्ञक अन्न को पवित्र करनेवाला प्राण चाहिये। हे अश्विनीकुमारो, आप की कृपा से वह प्राप्त हो। अश्विनों की महिमा के ये दो प्रमुख निदर्शन हैं अर्थात् विश्वक को विष्णापू का दान और घोषा को पति-प्रदान। कक्षीवान् ऋषि अश्विनों के गुण गाता हुआ बारंबार इन पराक्रमों का उल्लेख करता है। कक्षीवान् सचमुच क्रान्तदर्शी है। वह प्राण और अपान के परोक्ष कार्यों का साक्षात्कार करके उनका वर्णन करता है। अश्विनों की महिमा को पूरी तरह कौन जानता है? इन्होंने ही कूप में पड़े हुए भुज्यु को निकाला था। मोहकूप में गिरे हुए भोगासक्त भुज्यु को अश्विनों के अतिरिक्त और किसमें निकालने की सामर्थ्य है? इसलिये हे भुज्युरूप आत्मन्, तुम उन्ही की उपासना करो, जिनसे घोषा को पति प्राप्त हुआ।

*

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सूर्योपासना !

(ले०- श्री० म० राधाकृष्णजी आर्य, मुरादाबाद)

पूज्य संपादकजीका चतुर्थ प्रश्न इस प्रकार है- सूर्य चेतन है वा जड? प्रतीक चेतन होना चाहिये वा जड भी काम दे सकता है? सूर्य यदि चेतन है तो उसका आत्मा परमात्मा ही है या उससे भिन्न ? सूर्यमण्डल से परमात्मा का विस्तार अधिक विस्तृत है या उतना है अथवा उससे न्यून है?

प्यारे पाठको! हमारा कथन यह है कि, सूर्य परमात्मा की चेतनतासे चेतन है। जब हम सूर्य अंग सहित अङ्गी परमात्मा की उपासना करनेको कह रहे हैं तब 'प्रतीत चेतन होना चाहिये या जड भी काम दे सकता है,' इस प्रश्न का सम्बन्ध हमसे नहीं रहा, इसका उत्तर वह दे कि जो सूर्यको प्रतीक मानकर उपासना कहता हो। उक्त प्रकार सूर्य चेतन है और उसका आत्मा परमात्माही है। सूर्य का आत्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है। परमात्मा का विस्तार सूर्यमण्डल से अधिक विस्तृत है, उतना नहीं है, न उससे न्यून है।

सूर्यकी चेतनता के लिए पाठक इन मन्त्रोंपर विचार करें।

परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति। उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो! देवत्वं परमस्य वित्से ॥अ० ७।९९।१॥ अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः। तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥१॥ श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः। स नो नियच्छाद् वसु यत् परामृतमस्माकस्तु पितृषु स्वधावत् ॥२॥ अ० ७।४१॥ दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥ अ० २।२।६ ॥ दिविस्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयातहरसो दैव्यस्य। मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः॥ अ० २।२।१॥ प्यारे पाठको! जहां दूसरे और तीसरे मन्त्रमें श्येन, दिव्य, सुपर्ण पदोंके साथ वृष्टि करने वाले कहते हुए सूर्यनारायणका अवसान-दर्शः अर्थात् अन्तिमसमय को जाननेवाला कहा है। वहाँ ३ रे मन्त्र का सहस्रपात् शब्द भी इन सूर्यनारायण, का विशेषण इस प्रकार है कि इस पहले प्रश्न के उत्तरमें सूर्यको हिरण्यपाणि हिरण्यहस्त दिखाते हुए यह दिखा चुके हैं कि इनके यह वेदोक्त नाम इस लिए भी ठीक हैं कि वेदने इन्हें हिरण्यगर्भ कहा है। हिरण्यपाणि हिरण्यहस्त की भांति इनको हिरण्याक्ष कहा जाना उचित होनेके साथ इस विषयमें वेदका यह प्रमाण भी है—

अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्। हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥ अ० ३४।२४॥

अब आप ध्यान दें,यहां तो सूर्यनारायणको हिरण्याक्ष कहा है और-

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ॥ अ० १९।५३।१॥

इस मन्त्रमें इन्हें सहस्राक्ष कहा है। कारण यह कि सूर्य नारायण की किरणें उनके नेत्र हैं और वह हैं अनेक, इसलिए उनको सहस्राक्ष अर्थात् अनेक नेत्रोंवाला कहा है। और सूर्य की वह ज्योति सब जगह है इस लिए उनको 'विश्वतश्चक्षुः' कहा है। इसी कारण से वे··

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतो मुखो यो विश्वत-
स्पाणिरुत विश्वतस्पृथः।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जन-
यन् देव एकः॥ अ० १३। २। २६॥

में विश्वचर्षणि और विश्वतस्पाणि कहे गये हैं। कुछ पाठभेद से यजुर्वेद में यह ऐसे हैं—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहु-
रुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै
र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

उपर्युक्त मन्त्र इन सूर्यनारायण की ही महिमा में हैं इस निश्चय के लिए 'यो विश्वचर्षणि०' से पहले २२-२५ मन्त्र और देख लीजियेगा—

विद्यामेषं रजसस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः।
पश्यन् जन्मानि सूर्य॥ सप्त त्वा हरितो रथे
वहन्ति देव सूर्य! शोचिष्केशं विचक्षणम्॥
युक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभि-
र्याति स्वयुक्तिभिः॥ रोहितो दिवमारुहत् तप-
सा तपस्वी स योनिमेति स उ जायते पुनः स
देवानामधिपतिर्बभूव॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूर्यनारायण के विषय में हिरण्याक्ष विश्वतश्चक्षु और सहस्राक्षः यह शब्द आये हैं। इनको हिरण्यहस्त हिरण्यपाणि और विश्वतस्पाणि कहा गया है अतः जहां इनको सहस्रपाणि या सहस्रहस्त कहना उचित है वहां इन विश्वतस्पात् को हिरण्यपात् या सहस्रपात् नामसे भी पुकारना स्पष्ट ही है तभी तो पुरुषसूक्त में भी 'सहस्राक्षः सहस्रपात्' विशेषणों द्वारा इनकी महिमा गाते हुए इन्हें-

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः॥ य० ३१। ४॥

कहा है और अथर्व १९। ६। २ में इस पाठभेद से पुष्टि की है "त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्॥"

पाठकवृन्द! वेद के साथ खेंचातानी मत करो। अपने पक्षकी पुष्टि जताने के लिए वेद का अनर्थ करके अपना और दूसरों का घात मत करो। श्री स्वामीजी में जो भक्ति है उसके निभाने का प्रकार तत्प्रदर्शित सदाचार पर चलना है। उनकी भक्ति में आकर वेद के साथ अन्याय करके उसके अर्थों को श्रीस्वामीजी के कथनानुकूल पैनाना दुराचार-प्रेरक न होने पर भी वेदमार्ग से च्युत कर देनें का कारण होनेसे वेद के साथ किये गये महीधरकृत अनुचित कार्य से कम नहीं जैसा खान पान व आचार इष्ट था वैसा वेद का अर्थ कर डाला। आर्यसमाजी भाइयों को श्री. स्वामीजी का कथन इष्ट है उन्होंने वेदार्थ करने में उस प्रकार से काम लिया और लेते जा रहे हैं कि कहीं वेद का ऐसा अर्थ न होजाय कि जिससे सूर्य या यज्ञ के तैंतीस देवता चेतन सिद्ध हों।

प्यारो! यूरुपीय वेदभाष्यकर्ता जैसा भी वेदार्थ कर डालें सो थोडा क्योंकि उन्हें परमेश्वर का डर नहीं। परन्तु ईश्वर और वेद के श्रद्धालु भाष्यकर्त्ताओं से हमारा निवेदन है कि वे वेदज्ञ तपस्वी महात्मा से प्राप्त इस सिद्धान्तानुसार वेद की संगति लगाकर देखें तो सही, तब कहें कि ऐसा मानने पर यह विरोध पडता है कहीं पड ही नहीं सकता क्योंकि इसमें परमात्मसत्ता को नहीं छोडा गया है वही तो इन सूर्य की जान है साथ ही दुनिया का कोई ऐसा दैवी काम नहीं जिसे परमात्मा अपने अंग सूर्य से न करता हो। परमात्मा सूर्य सहित जगत् का कर्ता धर्ता पालक व संहारक है इसलिए वेदों का अर्थ इन सूर्यपरक होना चाहिए और उस अर्थ को न केवल सूर्यपरक किन्तु अंगी परमात्मा सहित अंग सूर्यपरक है ऐसा मानना और मनवाना चाहिए।

वेदज्ञों के सामने वेदमन्त्र रख दिये हैं। निष्पक्ष होकर अर्थ कर लें, पता लग जायगा कि पुरुषसूक्त में केवल परमात्मा जगत् का रचयिता हो और सूर्य जगद्रचना के प्रति दूसरे प्रकार का कारण हो ऐसा नहीं है किन्तु-

परमात्मासूर्य सहित जगत् का रचयिता है और इसीलिए सूर्य जगत्कार्य के प्रति कर्त्तृत्वेन निमित्त कारण है।

पाठकवृन्द! तनिक ध्यान देकर सुनिये, लोग कहा करते हैं कि जैसे घट कार्य के प्रति मिट्टी भी कारण है परन्तु कुम्हार उसका बनानेवाला निमित्त

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कारण कर्ता है वैसे जगत्कार्य के प्रति प्रकृति भी कारण है परन्तु इसका बनानेवाला ईश्वर निमित्त कारण कर्त्ता है। यहां आप विचारें-आपने किन्ही उपदेष्टा को यह कहते भी सुना कि घट कार्य के प्रति कुम्हार का आत्मा उसको बनानेवाला है। नहीं। अब सोचने की बात है कि घट कार्य के प्रति कर्तृत्व क्या केवल कुम्हार के आत्मा में ही रहा उसके शरीर में नहीं, और क्या उस कर्तृत्व से शरीर में चेतनत्व न आया? जब कुम्हार का शरीर चेतन नहीं माना था किन्तु मिट्टी पानी चाक की भांति जड, तो कुम्हार में अर्थात् उसके आत्मा से शरीरतक कर्तृत्व क्यों कहा? क्या ज्ञानयुक्त कार्य के प्रति जो कर्तृत्व है वह जहां हो वहां चेतनत्व न माना जावेगा, अवश्य माना जावेगा, हाँ यह ठीक है कि शरीर आत्मा के समान स्वयं चेतन नहीं किन्तु आत्माकी चेतनतासे चेतन है। यदि कोई कहे कि कुम्हार को कर्ता कहनेमें उसके आत्मासे ही तात्पर्य है तो हम पूछते हैं कि क्या उसकी मृत्यु हो जानेपर उसके आत्मा को कुम्हार कहा जायगा? और फिर क्यों चाक डोरे तथा डण्डे की पंक्तिमें कुम्हार के हाथ को नहीं गिना, क्योंकि अङ्ग को चेतन न कहनेवालों की दृष्टि में तो हमारे हाथ आदि भी वैसे ही जड कारण हैं। भाइयो! सोचो, घडे में भी पृथिवी के जर्रे लगे हैं और कुम्हार के हाथ में भी, परन्तु घडे में लगे हुए वे घटकार्य के प्रति कर्तृत्व नहीं रखते और कुम्हार के हाथ में लगे हुए उनको आत्मा से अङ्गाङ्गी सम्बन्ध के कारण कर्तृत्व है। अंग होनेके कारण हाथ संकल्प से काम करता है, घडे में जो पृथिवी के जर्रे लगाने हैं जरा उन्हें तो संकल्पमात्र से जोडिये या संकल्प कर के रह जाइये कि डण्डे से चाक घूम जावे? यह इस लिये नहीं होता कि उनका आपके आत्मा से अंगसम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार जगत्कार्य के प्रति घडे में पृथिवी तत्त्व के समान जो प्रकृतिभाग है वह दूसरे कारण रूपमें है परन्तु कुम्हार के शरीररूप प्रकृति के समान जो सूर्यादि प्रकृति परमेश्वर का अङ्ग स्वरूप है वह इस जगत् का कर्तारूप से कारण है। इसी लिए वेदने परमात्मा को सूर्यस्वरूपतक हमारा उपास्य बताया है। जिस प्रकार घडे का कर्ता केवल आत्मा नहीं है वैसे जगत् का कर्ता भी केवल परमात्मा नहीं है किन्तु परमात्मा सूर्य सहित है इसकी पुष्टि के लिए जहां हम अपने पाठकों से फिर एकवार...

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः॥ त्रिभिःपद्भिर्द्यामारोहत्॥

इन मन्त्रों के अर्थ विचार कराके यह निश्चय कराते हैं कि त्रिपात् ऊपर उदय हुए पुरुष जो कि ३ पादसे द्यु पर चढे हैं यह सूर्यनारायण ही है इस लिए पुरुषसूक्त में वर्णित जगद्रचना के यह रचयिता हैं वहाँ उनसे—

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमोयः कपालम्। चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः॥ अ० १०। २। ८॥

विचारने की प्रार्थना करेंगे। इससे भी यही निश्चय होता है कि इन सूर्य नारायणने हमारे मस्तिष्क, माथा, सिर के पिछले भाग और कपालादि को बनाया है क्यों कि यह द्यु में चढे हुए हैं।

सूर्यनारायण के जगत्कर्ता होनेका और एक प्रमाण लीजिये—

उदेहि वाजिन् यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्रविश सूनृतावत्। यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्त्तु॥ अ० १३। १। १

क्योंकि सूर्य नारायण रोहित हैं यह आप अभी अ० १३। २। २५ से देख चुके हैं। और देखिये।

रोहितो द्यावापृथिवी अदंहत् तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः। तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् अ० १३। १। ७

ध्यान दीजिये और १३।२।२२ से २५ तक मन्त्रों के साथ इस १३। १। ८

विरोहितो अमृशद् विश्वरूपं सभाकुर्वाणः प्रुहो सहस्र। दिवं रुढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन॥

मन्त्र को निष्पक्षता के साथ विचार कर निश्चय कर लीजिये कि वेद ने इन सूर्य नारायण को जगत् कर्ता बताया है या नहीं। 'दिवं रुढ्वा' से इन्हीं की

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ओर संकेत किया या नहीं। और लीजिये

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः। तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥ ११॥

प्यारे पाठको! अब तो अवश्य निश्चय होगया होगा कि इन्हीं सूर्यनारायण के जगत्कर्ता होने की महिमा उक्त मन्त्रों में वर्णित है। क्यों 'ऊर्ध्वो रोहितो अधिनाके अस्थाद्' इन्हीं सवितापर घट रहा है। नाक द्यु को कहते हैं यह आप देख ही चुके हैं। पाठक वृन्द! सूर्यनारायण का यह जगत्कर्तृत्व है। यह वह बात नहीं है कि दीवार गिरती है या दवात है की भांति इनके इस कर्तृत्वमें चेतनता न हो।

आपने विचारा, पहले आया है-- "शोचिष्केशं विचक्षणम्" यदि सूर्य जड हो तो वेद उन्हें विचक्षण न कहता। अब "विरोहितो अमृशद्" कहा, क्या जड पदार्थ भी विमर्श कर सकता है? फिर कहा है-- "विश्वा रूपाणि जनयन् कविः" कवि होकर भी क्या सूर्यनारायण जड ही रहे? इस मन्त्र की भांति—

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। विनाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति॥ य० १२।३

में भी सूर्यनारायण को कवि कहा है। और 'वरेण्य' कहते हुए सविता नामसे पुकारा है जोकि 'सवितुर्वरेण्यं भर्गो' से मिलान खा रहा है। इस प्रकार यह अवश्य निश्चित होता है कि परमात्मा अपने सूर्यस्वरूप से हमारा उत्पादक होनेसे परमात्मा+सूर्य सविता है। तभी तो वेद ने अंगी सर्वज्ञ परमात्मा के अंग सम्बन्ध होनेसे सूर्य को कवि तथा व्यमृशद् कहकर चेतन बताया। ध्यान दीजिये जब सूर्य कवि ज्ञानी है तभी तो द्विपदों और चतुष्पदों के लिए भद्र का प्रसव करते हैं अन्यथा जड पदार्थ को तो यह भी ज्ञान नहीं कि अमुक द्विपद् है या चतुष्पद्। और फिर नाक (स्वर्ग) को प्रकाशित करना कि जिसमें कवि सूर्यनारायण 'प्रश्निः द्यौः संस्पृष्टा पुण्यकृद्भिश्च, नाकः द्यौः न वा अमुं लोकं गतवते किञ्चनाऽसुखम्, पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति विष्टप्=द्यौराविष्टा पुण्यकृद्भिश्च' के अनुसार पुण्यात्माओं को ही अपने पास बुलाते हैं।

प्यारो! हम खेंचातानी नहीं करते, यदि वेद से सूर्यनारायण चेतन निश्चित हों, तब आप मानें वरना नहीं, परन्तु एक बात ध्यान में रखिये कि जहां धर्मशास्त्र में वेदशास्त्र के अविरोधी तर्कसे अनुसन्धाता को धर्मज्ञान होना कहा है वहां साथमें-योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ भी, अतः वैदिक सिद्धान्त के विचार में कुतर्कों से काम न लिया जावे। तो अब देखिये—

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः। स्तुताद् यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम्॥ अ० १३। २। ४

ऐसे मन्त्रों के होते हुए भी सूर्य को चेतन न मानना किस कोटी के तर्क में कहा जावे। क्या, वेदके सूर्यनारायण को "विपश्चित" कहनेपर भी इनमें चेतनता न मानना वैदिक धर्म है। और यदि इतने पर भी कोई वैदिकधर्मी दुराग्रह ही करते जावें तो हम उनसे पूछना चाहते हैं कि फिर वेदको सूर्य की चेतनता सूचित करने के लिए किन शब्दों से काम लेना चाहिए था, और यदि उन शब्दों से ही वेद सूर्य को चेतन बताता तब भी आप सूर्य को जड है ऐसा न कहे देते इसका क्या ठिकाना? क्यों कि वे श्लोक "विपश्चित्, विचक्षण, कवि" आदि शब्दों के होते हुए तो आप सूर्य को चेतन मानना नहीं चाहते कि जिस विपश्चित् का अर्थ "विशेष जाननेवाला" ऐसा है। अब तक तो ज्ञानीके अर्थमें विपश्चित् प्रयुक्त था; न जाने अब इस का क्या नया अर्थ घड दिया जावे? क्यों कि दूसरा प्रकार इन सूर्य से विपश्चित् विशेषण हटाने का यह काम में लाया जाता (जैसा कि अब तक लाया गया है) कि मन्त्र का सूर्यपरक अर्थ ही न करें किन्तु परमात्मा परक या अन्य-विषयक कर डालें सो यहाँ वह रीति इस लिये काम नहीं दे सकती कि यहां स्पष्ट इन सूर्य का प्रकरण है, यह बात किसी भी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ईमानदार आँखवालेसे छिपी नहीं है। प्रथम तो "तरणि" पद से इनको ग्रहण है जैसा कि आगे।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य! विश्व-
माभासि रोचनम्॥ १९॥

से स्पष्ट है दूसरे अभी आप १३।२।२३ में 'सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य' यह देख ही चुके हैं "काले अश्वो वहति सप्तरश्मिः०" में सूर्य को सप्तरश्मि कहा ही गया है वही इस मन्त्र "विपश्चितं तरणिं" में "वहन्ति यं हरितो सप्त" ऐसा कहा है।

प्यारो! इसके आगे ३१, ३२ में भी 'विपश्चित् पतयन् पतङ्गः, चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्णः' पदों द्वारा सूर्यनारायण की चेतनता स्पष्ट है। इसलिए—

उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि। अवैनान-
श्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः॥ अ० १३।१।३२

ऐसे मन्त्रों का यह भाव कभी नहीं निकाल देना चाहिये कि सूरज की धूपसे कीडे मच्छर दूर होते हैं, किन्तु उन चेतन सूर्यनारायणसे यह प्रार्थना है कि वे हमारे शत्रुओंको नष्ट करें। यहां यह विचारना भी अनुचित न होगा कि 'सह एकार्थे पतति' अर्थात् हम जिस वस्तुको प्राप्त करना चाहें उसे वह भी हथियाना चाहे ऐसा शत्रु 'सपत्न' कीडा मकोडा नहीं, किन्तु वह शत्रुता तो वैदिक धर्मियोंके शत्रुओं में होगी और उनका अवहनन सूर्यनारायण चेतन होनेसेही कर सकते हैं क्योंकि यह जानना कि कौन हमारा सपत्न है कौन नहीं, जडका काम नहीं। इस प्रकार सूर्य परमात्मा की चेतनासे चेतन हैं यह स्पष्ट हुआ। क्योंकि वेदने इन्हें परोमात्रया मन्त्रमें "परमस्य वित्से" "रोहितो व्यमृशत्" "विपश्चित्" "वेन" "चेत्ता" तथा कवि आदि शब्दोंसे पुकारा है।

प्रियपाठको! हमारा तो कथन यह है कि निष्पक्ष होकर सावधानतासे हमारी बात सुनिये और विचारिये, यदि आपके हृदयमें वेदके प्रति श्रद्धा है और वेदसे ऐसाही निश्चित हो तो मानें अन्यथा नहीं। यह ठीक कि यदि परमात्माको अङ्गी न मानकर, परमात्माकी चेतनतासे सूर्य अंग द्वारा होनेवाले कामोंमें ज्ञानपूर्वकत्व होता है ऐसा न मानकर केवल प्रकृति भाग सूर्य को कोई स्वतःचेतन मानकर पूजे तो वह अवश्य "अन्धन्तमः प्रविशन्ति" मन्त्रोक्त फल को पायेगा परन्तु वेभी अपने पदका विचार करलें कि जो—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे० यस्य त्रयः अङ्गे गात्रा० बृहन्तो नाम एकं तदङ्गं० यो देवेभ्य नमो सचाय ब्राह्मये० सचं ब्राह्मं० हिरण्मयेन योऽसावा दित्येपुरुषः सोऽसावहम् ओ३म्० दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वग्० एषो ह सर्वतोमुखः० सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः० सहस्रबाहु पुरुषः० विश्वतश्चक्षुः० हिरण्ययाणिमूतये० हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिः० ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्० हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे० यो देवानां पुरोहितः पूर्वो यो देवेभ्यो जातः० तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्० तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः० इत्यादि अनेकों वेदमन्त्रोंसे स्पष्टतया यह सिद्ध होनेपरभी कि परमात्माका अङ्ग है और उस अङ्गाङ्गी सम्बन्धसे सूर्य चेतन हैं इसलिए सूर्य सहित परमात्माकी वेदने उपासना करनेकी आज्ञा दी है, वेदोंके विरुद्ध सूर्यनारायणको जड मान बैठे हैं और इनकी उपासना नहीं करते तथा यदि यज्ञ करते भी हैं तो अग्न्यादि यज्ञके देवताओं को जड मानते हैं हालांकि अनेकों मन्त्रोंसे उनकी चेतनता स्पष्ट प्रकट है।

हम यह सूचना इसलिये देते हैं कि हमारा वैदिक धर्म के नाते आपपर अधिकार है यदि मार्ग ठीक न हो तो आप दिखावें और चूंकि आपका मार्ग अवैदिक है इसलिये हम आपको सावधान करके वेदमार्गसे चलाना अपना परमकर्त्तव्य समझते हैं।

प्यारो! आपने एक बातपर ध्यान दिया, आप एक मन्त्र 'रोहितो द्यावापृथिवी अदंहत् तेन स्वस्तभितं तेन नाकः०" देख चुके हैं यह वेदके "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा यस्मै देवाय हविषा विधेम" से बहुत मिल रहा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जहां 'हिरण्यगर्भः' मन्त्रमें सूर्यनारायणकी महिमा गाते हुए उनके लिये हविःसे पूजा करना बताया

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

है वहां सूर्य देवके रोहित होनेसे ' येन द्यौ' द्वारा भी इन्हींकी महिमा का गान और इनके लिए हविसे पूजाका विधान आया है।

" य आत्मदा बलदा " मन्त्रभी यही कहता है, इसका प्रमाण यह है कि अथर्वमें यह मन्त्र 'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः तस्य देवस्य० ॥

इस प्रकार १३ वें काण्डके ३ रे सूक्तमें २४ वा है और " तस्य देवस्य० " यह भाग प्रथम मन्त्रसे लेकर २४ वें मन्त्र तक प्रयुक्त है अर्थात् २४ चौबीस मंत्रोंमें उस एकही देवका वर्णन है यह स्पष्ट है, अब आप उस देवके वर्णनके लिये एक दो मन्त्र देखें-

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्। तस्य देवस्य०॥ शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम्। यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपत्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्विभाति। तस्य देवस्य०॥१६ सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्र० ॥१८ त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितोऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि...० ॥ २३ ॥

अब तो आपको निश्चय हुआ कि 'कस्मै देवाय हविषा०' वाले मन्त्रोंमें सूर्यनारायण की पूजा का विधान है। और साथ ही यह कि—

" आत्मदा " जड़ नहीं हो सकता, जिसे हमारे सब पिछले कर्म ज्ञात हैं वह ही आत्मदा हो सकता है, तभी तो हम कहते हैं कि वेदने अनेक स्थलोंपर सूर्यनारायणको चेतन दर्शाया है। इसलिए हिरण्यगर्भः का यह अर्थ कर देना कि जिसके गर्भमें सूर्यादि तेजवान् गोले स्थित हैं वह परमात्मा अर्थ है या स्पष्ट अनर्थ? हम पूछते हैं कि उसमें तेजवान् ही क्या, निस्तेज तमसे आच्छादित पदार्थ भी तो आप मानते ही हैं फिर ?

विचारिये ! सूर्यनारायण हिरण्यगर्भ इसलिए हैं कि यह हिरण्य से ही प्रकट होते हैं तभी इनको हिरण्यपाणि आदि भी कहा है। साथ ही यह कि-

हिरण्यगर्भः परममनत्युद्यं जना विदुः। स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा॥

अ० १०। ७। २८

इससे तो स्पष्ट प्रकट है कि परमात्मा हिरण्यगर्भ नहीं है, नहीं तो क्या परमात्मा को हिरण्यगर्भ कहनेवाले यह मानने को उद्यत होंगे कि आरम्भ में जिस हिरण्यका प्रसिञ्चन किया गया वह हिरण्य परमात्मा का गर्भ है अर्थात् परमात्मा उससे प्रकट हुआ है और फिर उस प्रसिञ्चन का कर्ता जो स्कम्भ है वह एक अन्य ही पदार्थ परमात्मा का भी उत्पादक मान लेंगे, नहीं कभी नहीं। इसीलिये पूज्य श्रीपादजीने हिरण्यगर्भ का अर्थ सूर्य किया है।

ध्यान दीजिये-यजुर्वेद में ' हिरण्यगर्भः सम० ' से पहला मन्त्र " ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् " है तो क्या यह स्पष्ट नहीं कि ब्रह्म (परमात्मा) का यह ब्रह्मा हिरण्यगर्भ स्वरूप है। दूसरे लोकों की भांति सूर्यलोक नहीं है किन्तु यह स्वरूप तो हिरण्य से स्वयं ब्रह्म द्वारा प्रकाशित है। ब्रह्म ने प्रलयान्त में सोचा कि अब सूर्यस्वरूप प्रकट होना चाहिये क्योंकि सृष्टिरचना का समय आगया, बस पिछली सृष्टि के अन्त में जो सूर्यस्वरूप अपने मण्डलरूप से लय होकर अपनी योनि को प्राप्त हो गया था अर्थात् हिरण्यरूप होगया था फिर प्रकट होगया और पश्चात् ब्रह्म ने अपने इस ब्रह्मा सूर्यस्वरूप से अन्य लोकलोकान्तरों की रचना की तभी तो सूर्य को स्वयम्भू कहा जाता है। तभी मन् भगवान् ने—

ततः स्वयम्भूर्भगवान्...प्रादुरासीत्तमोनुदः।

से अन्धकारनाशक सूर्यनारायण का प्रलयान्त में सबसे पहले प्रकट होना जताया है। हिरण्यगर्भका तमोनुद् होना कौन बुद्धिमान् स्वीकार नहीं करेगा? वेदका स्वयम्भू और 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः' जो कि सूर्यस्वरूप की महिमाद्योतक हैं मुसलमानों के यहां खुद + आ = खुदा और उसकी स्थिति ' अललर्श' अर्थात् ऊपर आस्मान के ऐसा माना है।

जहां हम पिछले लेखोंमें 'तत्सूर्यस्य देवत्वं' यजु. ३३। ३७ से यह दिखा चुके हैं कि सृष्टि के अन्तमें

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सूर्य का मण्डल लय होकर विद्युद्रूप में पहुंच जाता है वहां अभी देखे हुए—

रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी । स योनिमेति स उ जायते पुनः...०

पर पुनः विचार करें। सृष्टि के अन्त में 'स योनिमेति' और प्रलयान्त में 'स उ जायते' पुनः सृष्टयन्त में 'स योनिमेति' और प्रलयान्त में 'स उ जायते' हमारे कथन की कैसी पुष्टि करता है। योनि कहिये या गर्भ, आशय यह है कि चूंकि परमात्मा + सूर्य सृष्टि के अन्त में परमात्मा+हिरण्य था अब वही परमात्मा + हिरण्य स्वयं परमात्मा + सूर्य हुआ इसलिये यह स्वयम्भू स्वरूप है तभी तो वेदने-

स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि । सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ य० २ । १६

इस प्रकार इनकी महिमा गाई है।

आप सोचें, यदि परमात्मा इन सूर्यतक एक होकर परमेश्वर न होता किन्तु केवल परमात्मा ही वेदको परमेश्वर इष्ट होता और सूर्य अलग नदी पर्वतादि की भांति जड तो क्या वेद सूर्य को स्वयम्भू कहता ? क्योंकि उस अवस्था में तो सूर्य को स्वयम्भू कहने के यह अर्थ हो जाते हैं कि सूरज अपने मेटर से खुद हुआ है, इसमें परमात्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं, तब तो वेद का सिद्धान्त ही मिट्टी में मिल जाता है परन्तु ऐसा नहीं है कि स्वयम्भू पदमें केवल सूरज का मेटर गृहीत हो किन्तु परमात्मा सहित हिरण्य से आशय है इस लिये स्वयम्भू कहना ठीक ही है क्योंकि फिर कोई दूसरा अर्थात् परमात्मा से भी अतिरिक्त चेतन पदार्थ इस स्वयम्भाव में कर्ता नहीं होता।

प्यारे पाठको ! आप ध्यानपूर्वक विचारें, वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट समझ में आजाता है। स्वयम्भू पदसे केवल सूर्य को अर्थात् विना परमात्मा सहित सूर्य को इसलिये नहीं मान सकते कि फिर सूर्यका प्रादुर्भाव किसी उद्देश से नहीं माना जासकता क्योंकि उद्देश्य का ज्ञान ज्ञानीको होता है सो उसने सूर्य को बनाया नहीं किन्तु इस कथन में सूर्य का प्रादुर्भाव स्वयं मानने से यह माना नहीं जा सकता कि उस ज्ञानी ने इसके प्रादुर्भाव में कुछ किया है। और फिर जैसे सूर्यमण्डल स्वयं प्रकट होना मान लिया जावे वैसे दूसरे पदार्थ भी स्वयं हो जाते होंगे ऐसा माननेपर तो वेदोक्त परमात्मसत्ता ही नफी में जा पडेगी या अगर मानी भी गई तो ज्ञानपूर्वक रचनायें न मानने से उसका मानना न मानना एकसा होगा। और यदि कहा जाय कि ज्ञानपूर्वक रचनामें जो ज्ञान वह परमात्माका होनेसे परमात्माने उसे बनाया है। अब बताओ कि चूंकि सूर्यसे नियमपूर्वक दिनरात मौसम पृथिवी चन्द्रादि की गति है तब सूर्य का होना ज्ञानपूर्वक है या नहीं ? तब फिर यह प्रश्न उठता है कि सूर्य अवश्य ज्ञानपूर्वक प्रादुर्भूत है परंतु जब वेदने उसको स्वयम्भू कहा तो वह ज्ञान परमात्माका कैसे कहा जा सकता है फिर यदि सूर्य में अपना ज्ञान मानें तो वेद का यह सिद्धान्त कटता है कि प्रकृति जड है, फलतः-

यह मानना पडेगा कि परमात्मा सहित सूर्य स्वयम्भू हैं तब प्रश्न होगा कि पहले वह था कौन, जो स्वयं हुआ और स्वयम्भू कहाया ? उत्तर में 'वह केवल परमात्मा था' यह तो इसलिए नहीं कह सकते कि फिर स्वयम्भू में सूर्य कैसे शामिल होगा क्योंकि परमात्मा तो परमात्मा ही रहेगा वह परमात्मा और सूर्य दोनों कैसे हो जायगा, और 'वह केवल हिरण्य था' यह उपर्युक्त हेतुओं से नहीं कहा जा सकता इससिये वह परमात्मा+हिरण्य था जो प्रलय के अन्त में स्वयं परमात्मा+सूर्य इस स्वरूप में प्रकट होनेसे स्वयम्भू कहलाता है यह वेद के अविरोधी तर्क से स्पष्ट सिद्ध है। इस प्रकार परमात्मा हिरण्य और हिरण्यगर्भ सूर्यतक ऐसे एक जगत्कर्ता है कि जैसे हमारा आत्मा और शरीर मिलकर हम एक मनुष्य हैं।

———

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

सप्तदश काण्ड।

इस सतरहवें काण्डकी 'आदित्य' देवता है और इस एकही देवताके सब मंत्र इसमें हैं। इस काण्डमें कुल ३० मंत्र हैं। अर्थात् ३० मंत्रोंके एक सूक्तका ही यह काण्ड है। इस काण्डके तीन विभाग हैं। १०+१०+१० मिलकर तीन विभागोंमें ३० मंत्र बांटे गये हैं। परंतु यह विभाग दशतिविभाग है, यह कोई अर्थदृष्टिसे अथवा किसी अन्य कारणसे नहीं बने हैं। जो दशति विभाग होते हैं वे दस मंत्रोंके होते हैं, और उनके साथ अर्थका कोई संबंध नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त इस काण्डके ५ विभाग भी किये जाते हैं। १—५; ६-१९; २०—२३; २४—२६; २७—३० इस प्रकार मंत्र इन पांच विभागोंमें बांटे जाते हैं। अन्तिम दो विभाग क्रमशः विशेषतः अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् छन्द प्रधान हैं। अन्य विभाग विषय की और मंत्रोंकी समानताके अनुसार माने गये हैं, यह बात पाठक मंत्रोंको देखकर समझ सकते हैं। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अब इस काण्डके ऋषिदेवता और छन्द देते हैं—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद.
१	३०	ब्रह्मा	आदित्यः	१ जगति; १-८ त्र्यवसाना; २—५ अतिजगति ६, ७, १९ अत्यष्टी; ८, ११, १६ अतिधृति; ९ पंचपदा शक्करी; १०-१३, १६, १८-१९, २४ त्र्यवसाना; १० अष्टपदा धृतिः; १२ कृतिः; १३

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रकृतिः; १४—१५ पंचपदाशक्करी; १७ पंचपदा विराडतिशक्करी; १८ भुरिगष्टिः २४विराडत्यष्टिः; १-५ षट्पदा; ११—१३, १६, १८-१९, २४ सप्तपदा; २० ककुप्; २१ चतुष्पदाऽपरिष्टाद्बृहती; २२ अनुष्टुप्; २३ निचृद्बृहती; २५, २६ अनुष्टुप्; २७, ३० जगती; २८-२९ त्रिष्टुभ्।

यह काण्ड केवल तीस मंत्रोंके एक ही सूक्तका होनेसे और इसमें प्रायः एकही विषय होनेसे सबका मिलकर अन्तमें स्पष्टीकरण करेंगे—

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

(अथर्ववेदका सुबोधभाष्य ।)

सप्तदशं काण्डम्

अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना ।

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥ १ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥ २ ॥

अर्थ— (विषासहिं) अत्यंत समर्थ, (सहमानं) अत्यंत बलवान्, (सासहानं) नित्य विजयी, (सहीयांसं) शत्रुको दबानेवाले, (सहमानं) महाबलिष्ठ, (सहोजितं) बलसे दिग्विजय करनेवाले, (स्वः—जितं) अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, (गो—जितं) भूमि, इंद्रियों और गौओंको जीतनेवाले, (संधनाजितं) धनको जीत कर प्राप्त करनेवाले, (ईड्यं नाम इन्द्रं) प्रशंसनीय यशवाले प्रभुकी मैं (ह्व) प्रशंसा करता हूं जिससे मैं (आयुष्मान् भूयासं) दीर्घायु होऊं ॥ १ ॥ ०।०।० (देवानां प्रियः भूयासं) मैं देवोंका प्रिय बनूं ॥ २ ॥ ०।०।०

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्। ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥ ३ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्। ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥ ४ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्। ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥ ५ ॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ६ ॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां-मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ७ ॥
मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्वन्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र। हित्वाशस्तिं दिव-

---

(प्रजानां प्रियः०) प्रजाओंका प्रिय होऊं ॥ ३ ॥ ०।०।० (पशूनां प्रियः०) पशुओंका प्रिय होऊं ॥ ४ ॥ ०।०।० (समानानां प्रियः भूयासं) समान योग्यतावाले पुरुषोंको भी प्रिय बनूं ॥ ५ ॥

हे (सूर्य) सूर्य! (उदिहि उदिहि) उदय हो, उदयको प्राप्त हो। (वर्चसा मा अभ्युदिहि) अपने तेजसे उदित होकर मुझपर चारों ओरसे प्रकाशित हो। (द्विषन् च मह्यं रध्यतु) मेरा द्वेष करनेवाला मेरे वशमें हो जावे, परंतु (अहं च द्विषते मा रधम्) मैं द्वेष करनेवाले शत्रुके वश कभी न होऊं। हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर! (तव इत् बहुधा वीर्याणि) तेरे ही वीर्य अनेक प्रकारके हैं। (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हमें अनेकरूपवाले पशुओंसे पूर्ण कर। और (परमे व्योमन्) परम आकाशमें (मा सुधायां धेहि) मुझे अमृतमें धारण कर ॥ ६ ॥ (उदिहि०) हे सूर्य! उदयको प्राप्त हो, उदयको प्राप्त हो और (वर्चसा०) अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करो। (यान् च पश्यामि यान् च न) जिन प्राणियोंको मैं देखता हूं और जिनको नहीं भी देखता (तेषु मा सुमतिं कृधि) उनके विषयमें मुझे सुमतिवाला

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ८ ॥
त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ९ ॥
त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव। आरोहन्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १० ॥ (१)
त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र। त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममैरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ११ ॥

कर। (तव इत् ०।० इत्यादि पूर्ववत) ॥ ७ ॥ (सलिले अप्सु अन्तः ये पाशिनः) जलोंके अन्दर जो पाशवाले (अत्र उपतिष्ठन्ति) यहां आकर उपस्थित होते हैं वे (त्वा मा दभन्) तुझे न दबा देवें। (अशस्तिं हित्वा एतां दिवं आरुरुक्षः) निन्दाको त्याग कर द्युलोकपर आरूढ हो और (सः नः मृड) वह तू हमें सुखी कर, (ते सुमतौ स्याम) हम तेरी सुमतिमें रहेंगे। (तव इत् ०।०) ॥ ८ ॥ हे इन्द्र! (त्वं नः महते सौभगाय) तू हम सबको बडे सौभाग्यके लिये (अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि) न दबनेवाले प्रकाशोंसे सब ओरसे सुरक्षित रख। (तव इत् ०।०) ॥ ९ ॥ हे इन्द्र! (त्वं नः शिवाभिः ऊतिभिः शंतमः भव) तू कल्याणपूर्ण रक्षणोंके साथ हमें उत्तम कल्याण देनेवाला हो। (त्रिदिवं आरोहन्) द्युलोकपर आरूढ होकर (दिवः गृणानः) प्रकाशको देता हुआ (सोमपीतये स्वस्तये प्रियधामा) सोमपान और कल्याण के लिये प्रिय स्थान हो। (तव इत् ।०।०) ॥ १० ॥ [१]

हे इन्द्र! तू (विश्वजित्, सर्ववित्) जगत् जेता और सर्वज्ञ है, और हे इन्द्र! तू (पुरुहूतः) बहुत प्रशंसित है। हे इन्द्र! (त्वं इमं सुहवं स्तोमं ऐरयस्व) तू इस उत्तम प्रार्थनावाले स्तोत्रको प्रेरित कर।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अदंब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे। अदंब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं नं इन्द्र दिवि षंछर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १२ ॥

या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि। ययेन्द्र तन्वा३न्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा३ शर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १३ ॥ त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्त्रं नि षेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १४ ॥

त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १५ ॥

(सः नः० तव इत् ०।०) ॥ ११ ॥ हे इन्द्र ! तू (दिवि उत पृथिव्यां अदब्धः असि) द्युलोकमें और इस पृथ्वीपर न दबा हुआ है। (अन्तरिक्षे ते महिमानं न आपुः) अन्तरिक्षमें तेरी महिमाको कोई नहीं प्राप्त हो सकते। (अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः सन्) न दबनेवाले ज्ञानसे बढता हुआ (दिवि नः त्वं शर्म यच्छ) द्युलोकमें तू हमें सुख प्रदान कर। (तव इत् ०।०) ॥ १२ ॥ हे इन्द्र ! (या ते अप्सु तनूः) जो तेरा अंश जलोंमें है, (या पृथिव्यां या अग्नौ अन्तः) जो पृथ्वीपर और जो अग्निके अन्दर है, (हे इन्द्र ! या ते पवमाने स्वः—विदि) और जो तेरा अंश पवित्र करनेवाले प्रकाशपूर्ण द्युलोकमें है, हे इन्द्र ! (यया तन्वा अन्तरिक्षं व्यापिथ) जिस तनूसे अन्तरिक्ष व्यापते हो, (तया तन्वा नः शर्म यच्छ) उस तनूसे हम सबको सुख प्रदान कर। (तव इत् ०।०) ॥ १३ ॥ हे इन्द्र ! (त्वां ब्रह्मणा वर्धयन्तः) तेरी मंत्रोंसे स्तुति करते हुए (नाधमानाः ऋषयः सत्त्रं निषेदुः) प्रार्थना करनेवाले ऋषिगण सत्र नामक यागमें बैठते हैं। (तव इत् ०।०) ॥ १४ ॥ हे व्यापक देव ! (त्वं तृतं=त्रितं) तू तीन स्थानोंमें प्राप्त (सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं उत्सं) सहस्रधाराओंसे युक्त ज्ञानमय प्रकाशपूर्ण स्रोतको (पर्येषि) व्यापते हैं। (तव इत् ०।०) ॥ १५ ॥

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि। त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १६ ॥

पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङशांस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १७ ॥

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः। तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १८ ॥

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्। भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १९ ॥

हे देव! (त्वं चतस्रः प्रदिशः रक्षसे) तू चारों दिशाओं की रक्षा करता है। अपने (शोचिषा नभसी विभासि) तेजसे आकाशको प्रकाशित करता है। (त्वं इमाः भुवना अनुतिष्ठसे) तू इन सब भुवनोंके अनुकूल होकर ठहरता है और (विद्वान् ऋतस्य पन्थां अन्वेषि) जानता हुआ सत्यके मार्गका अनुसरण करता है। (तव इत् ०।०) ॥ १६ ॥ (पञ्चभिः पराङ् तपसि) तू अपनी पांचों शक्तियोंसे परे तपता है और (एकया अर्वाङ्) एकसे उरे तपता है। और (सुदिने अशास्तिं बाधमानः एषि) उत्तम दिनमें अप्रशस्तताको दूर हटता हुआ चलता है। (तव इत् ०।०) ॥ १७ ॥ हे देव! (त्वं इन्द्रः) तू इन्द्र है, (त्वं महेन्द्रः) तू बडा इन्द्र है, (त्वं लोकः) तू लोक—प्रकाशपूर्ण है, (त्वं प्रजापतिः) तू प्रजापालक है, (यज्ञः तुभ्यं वितायते) यज्ञ तेरे लिये फैलाया जाता है और (जुह्वतः तुभ्यं जुह्वति) हवन करनेवाले तेरे लिये आहुतियां देते हैं। (तव इत् ०।०) ॥ १८ ॥ (असति सत् प्रतिष्ठितं) असत् में अर्थात् प्राकृतिक विश्वमें सत् अर्थात् आत्मा रहा है, (सति भूतं प्रतिष्ठितं) सत् में अर्थात् आत्मामें उत्पन्न हुआ जगत् रहा है, (भूतं ह भव्ये आहितं) भूत होने-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥ (२) रुचिरसि रोचोऽसि। स यथा त्वं रुच्या रोचोस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय ॥ २१ ॥

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः। विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २२ ॥ अस्तंयते नमोस्तमेष्यते नमोस्तमिताय नमः। विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २३ ॥

उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह। सपत्नान् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः

वालेमें आश्रित है, (भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) होनेवाला भूतमें प्रतिष्ठित हुआ है। (तव इत् ०।०) ॥ १९ ॥ (शुक्रः असि) तू तेजस्वी है, (भ्राजः असि) तू प्रकाशमय है, (सः त्वं) वह तू (यथा भ्राजता भ्राजः असि) जैसा तेजस्वी है (एव अहं भ्राजता भ्राज्यासं) वैसे हि मैं तेजसे प्रकाशित होऊं ॥ २० ॥

(रुचिः असि) तू प्रकाशमान है, (रोचः असि) तू दैदीप्यमान है (सः त्वं यथा रुच्या रोचः असि) वह तू जैसा तेजसे तेजस्वी है (एव अहं पशुभिः च ब्रह्मवर्चसेन च रुचिषीय) वैसेहि मैं पशुओं और ज्ञानके तेजसे प्रकाशित होऊं ॥ २१ ॥ (उद्यते नमः) उदित होनेवालेको नमस्कार, (उदायते नमः) ऊपर आनेवालेके लिये नमस्कार, (उदिताय नमः) उदयको प्राप्त हुएको नमस्कार, (विराजे नमः) विशेष प्रकाशमानको नमस्कार, (स्वराजे नमः) अपने तेजसे चमकनेवालेको नमस्कार, (सम्राजे नमः) उत्तम प्रकाशयुक्तको नमस्कार ॥ २२ ॥ (अस्तंयते नमः) अस्त होनेवालेको नमस्कार, (अस्तं एष्यते नमः) अस्तको जानेवालेको नमस्कार, (अस्तमिताय नमः) अस्त हुएको नमस्कार, (विराजे, सम्राजे, स्वराजे नमः) विशेष तेजस्वी, उत्तम प्रकाशमान और अपने तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार हो ॥ २३ ॥ (अयं आदित्यः विश्वेन तपसा सह उदगात्) यह सूर्य संपूर्ण तेजके साथ उदित हुआ है। (मह्यं सपत्नान् रन्धयन्) मेरे लिये मेरे शत्रुओंको वश करता है, (अहं च द्विषते मा रधं) परंतु

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुधायां मा धेहि परमे व्यो॑मन् ॥ २४ ॥
आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्रातिं पारय ॥ २५ ॥
सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। रात्रिं मात्यपीपरोहः सत्रातिं पारय ॥२६
प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ २७ ॥
परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥ २८ ॥

मैं कभी शत्रुके वशमें न होऊं। (तव इत् विष्णो बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक देव! तेरे ही ये सब पराक्रम हैं। (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हम सबको अनन्त रूपोंवाले पशुओंसे परिपूर्ण कर। और (परमे व्योमन् सुधायां मा धेहि) परम आकाशमें विद्यमान अमृत में मुझे धारण कर ॥ २४ ॥ हे आदित्य! (स्वस्तये शतारित्रां नावं आरुक्षः) हमारे कल्याण के लिये सेकडों आरोंवाली नौकापर आरूढ हो। (मा अहः अति अपीपरः) मुझे दिनके समय पार कर और (रात्रिं सत्रा अतिपारय) रात्रीके समय भी साथ साथ रहकर पार पहुंचा ॥ २५ ॥ हे सूर्य! तू हमारे (स्वस्तये) कल्याणके लिये नौकापर चढ और हमें दिन और रात्रीके समय पार कर ॥ २६ ॥ (अहं प्रजापतेः ब्रह्मणा वर्मणा आवृतः) मैं प्रजापतिके ज्ञानरूप कवचसे आवृत होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) और सर्वदर्शक देवके तेज और बलसे युक्त होकर (जरदष्टिः कृतवीर्यः) वृद्धावस्था तक वीर्यवान् रहता हुआ (विहायाः सहस्रायुः) विविध कर्मोंसे युक्त सहस्रायु—पूर्णायु—होकर (सुकृतः चरेयं) उत्तम पुण्य कर्म करता हुआ व्यवहार करूं ॥ २७ ॥ (अहं ब्रह्मणा वर्मणा परिवृतः) मैं ज्ञानके कवचसे वेष्टित होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) सर्वदर्शक देवके तेजसे और बलसे युक्त होकर (याः दैवीः मानुषीः इषवः वधाय अवसृष्टाः) जो दिव्य और मानवी बाण वधकेलिये भेजे गये हों वे (मा मा प्रापन्) मुझे न प्राप्त हों, उनसे मेरा वध न

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्। मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेहं सलिलेन वाचः ॥ २९ ॥

अग्निर्मा गोपा परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्। व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥ ३० ॥

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम् ॥

होवे ॥ २८ ॥ (ऋतेन गुप्तः) सत्यके द्वारा रक्षित, (सर्वैः ऋतुभिः च) सब ऋतुओं द्वारा रक्षित, (भूतेन च भव्येन गुप्तः अहं) भूत और भविष्यद्वारा सुरक्षित हुआ मैं यहां विचरूं। (पाप्मा मा, उत मृत्युः मा मा प्रापत्) पाप अथवा मृत्यु मुझे न प्राप्त हो। (अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे) मैं अपनी वाणीको—अपने शब्दोंको पवित्र जीवनके अंदर धारण करता हूं। वाणीकी पवित्रता पवित्र जीवनसे करता हूं ॥ २९ ॥ (गोपा अग्निः विश्वतः मा परिपातु) रक्षक अग्नि सब ओरसे मेरी रक्षा करे। (उद्यन् सूर्यः मृत्युपाशान् नुदतां) उदय होनेवाला सूर्य मृत्युपाशोंको दूर करे। (व्युच्छन्तीः उषसः) प्रकाश-युक्त उषाएं और (ध्रुवाः पर्वताः) स्थिरपर्वत (सहस्रं प्राणाः मयि आ यतन्तां) सहस्रों बलवाले प्राण मेरे अन्दर फैलाये रखें ॥ ३० ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम्।

सप्तदश काण्डका मनन।

अपने अभ्युदय का विचार करनेवाले पाठक इस काण्डका मनन अधिक करें। विशेषतः पहिले पांच मंत्रोंका जो एक मंत्रगण है, उसका अत्यंत मनन करें। ये पांच मन्त्र बताते हैं कि विजयेच्छु पुरुषको अपने अन्दर कौनसे गुण प्राप्त करने चाहियें और बढाने चाहियें। उन्नति चाहनेवाले मनुष्य अपनी इच्छा इस प्रकार रखें--

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar

लोकप्रिय बनना।

(अहं) देवानां, प्रजानां, समानानां, पशूनां प्रियः
भूयासं; आयुष्मान् भूय सम ॥ (मं० १-५)

"मैं देवोंका, प्रजाजनोंका, समान योग्यतावाले लोगोंका, और पशुओंका प्रिय होऊं, और दीर्घायु बनूं।" सबसे मुख्य बात दीर्घायु बननेकी है, क्यों कि आयु, आरोग्य और बल रहा तोही सब कुछ धर्म कर्म होना संभव है। अतः उन्नतिशील मनुष्योंको उचित है कि, वे धर्मानुसार आचरण करके अपनी आयु दीर्घ करें, नीरोग रहनेका यत्न करें और अपने अन्दर बल स्थिर रखें।

इतना होनेके पश्चात् देव, प्रजा, समानलोग और पशु इनको प्रिय होनेकी महत्त्वकांक्षा धारण करना चाहिये और इस की सिद्धीके लिये मनुष्योंको प्रयत्न करना चाहिये। 'देव' का अर्थ जैसा 'देवता' है वैसाही 'भूदेव, क्षत्रदेव, धनदेव और कर्मदेव' ये चार प्रकारके चातुर्वर्ण्यके श्रेष्ठ पुरुषभी देव कहलाते हैं। इनके मनमें इस मनुष्यके विषयमें प्रेम रहे, ये श्रेष्ठ लोग इस पुरुषके विषयमें कहें कि यह फलाणा मनुष्य उत्तम है, उसका प्रिय होना चाहिये। प्रजाजन इस मनुष्यपर प्रेम करें, प्रजाजनोंका यह प्रेमपात्र बने, सब जनता इसके ऊपर प्रीति करे, अर्थात् यह लोकप्रिय बने, लोकमान्य बने। समान लोगोंमें यह प्रिय हो, अर्थात् ज्ञानियोंका प्रेम विशेष ज्ञानीपर होता है, वीरोंका प्रेम समर्थ वीर पर होता है, समानोंका प्रेमभाजन होनेके लिये उनसे विशेष उत्कट गुण होने चाहिये। इन गुणोंका संपादन यह मनुष्य करे और समानोंका प्रेमभाजन बने। पशुओंका भी प्रेम संपादन करे। जब यह मनुष्य पशुओंकी पालना करेगा और उनपर प्रेम करेगा, तब पशु स्वयं इसपर प्रेम करने लगेंगे। यहां इसकी भूतदयामें विशेषता होना चाहिये। इस विवेचन से पाठक जान सकते हैं कि, देव, प्रजा, समानलोग और पशुओंका प्रिय बननेका आशय क्या है, इस विषयमें नियम यह है कि मनुष्य जिनका प्रेम संपादन करना चाहता है, उनपर स्वयं प्रेम करे। इसका प्रेम उनपर होने लगा; तो निःसन्देह वे भी इसपर प्रेम करने लग जांयगे।

वीरके गुण।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें दस शब्दोंद्वारा वीरोंके गुण दिये हैं। उन्नतिशील

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मनुष्योंको ये गुण अपने अन्दर लाने चाहियें और बढाने चाहिये। यदि पाठक इन दस शब्दोंका मनन करेंगे तो उनको वीरताके दस शुभ गुणोंका पता लग सकता है—

(१) गो—जित्= 'गो' शब्दका अर्थ 'इंद्रिय और भूमि' है। ये अर्थ लेकर यहां विचार करना चाहिये। पहिला अर्थ है (गो—जित्) इंद्रियोंको जीतनेवाला है, अपनी इन्द्रियोंका संयम करनेवाला, मनोनिग्रह करनेवाला, अपना आत्मसंयम करनेवाला। सब उन्नतिका प्रारंभ 'आत्म—विजय' से होता है। आत्मविजय सब अन्य विजयोंसे कठीण है, तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका साधन करता है और सिद्ध बनता है, वह अन्य विजय सहज ही से प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरतासे अपनी मातृ-भूमिको विजयी करना यह इसका भाव है। मुख्यतया यहां आत्मविजय मुख्य है, क्यों कि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होते हैं।

(२) स्वः--जितं= (स्व—र्--जितं) आत्मप्रकाशको प्राप्त करना, अपने तेजका विजय करना, आत्मसंमान का विजय करना, अपने आध्यात्मिक तेजका विजय होने योग्य कार्य करना। यहभी एक बडी भारी वीरता है।

(३) संधना--जित्= उत्तम धनोंको जीत कर प्राप्त करना, यह भी एक बडी भारी वीरता है। जिसके साथ होनेसे मनुष्य अपने आपको धन्य कह सकता है उसको धन कहा जाता है। अतः धन शब्दसे केवल रुपये आने पाई समझना शुद्ध भ्रम है। गौवें भी धन है, राज्य किंवा स्वराज्य भी धन है, बल भी धन है, विद्या भी धन है, प्रतिष्ठा धन है, सदाचार धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनकी प्राप्ति करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

(४) सहमान= आत्मिक बल, तेज और जीवनसे युक्त और

(५) सहमान= शारीरिक बल और शक्तिसे युक्त होना।

ये दोनों शब्द एकही मंत्रमें प्रयुक्त हैं, इसलिये ये भिन्नार्थक शब्द हैं। "सहस्" शब्दका अर्थ 'बल' है और इसके अर्थ "शक्ति, विजय, तेज और जीवन" हैं। इन में से कुछ अर्थ एकके और अन्य दूसरेके मानना यहां योग्य हैं। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनरुक्ति दोषसे रहित और अन्वर्थक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इस बलमें सैन्यका बलभी अन्तर्भूत होता है।

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(६) सहो--जित्= अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अन्दर तथा राष्ट्र अपने अन्दर ऐसा बल प्राप्त करे कि जिससे शत्रुका विजय सहजहीमें हो सके।

(७) सहीयान्= शत्रुका हमला कितने भी वेगसे आजावे, उससे न डरता हुआ, उसको सहन करनेवाला। शत्रुका आक्रमण हुआ तो भी अपने स्थानसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणका प्रतिकार करके शत्रुको परास्त करनेवाला।

(८) सासहान= शत्रुके आक्रमण एकके पीछे दूसरे, अथवा वारंवार होनेपर भी जो अपना स्थान छोडता नहीं और विजय के साथ अपने स्थानमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसेही शत्रुको परास्त करता है और उसको वापस लौटा देता है।

(९) विषासहि= जिसका आक्रमण शत्रुपर हुआ, तो शत्रुको परास्त होकर भागना पडता है, जिसका आक्रमण शत्रुको असह्य होता है।

(१०) ईडयः नाम इन्द्रः =प्रशंसनीय यशस्वी (इन्+द्रः) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला वीर।

उपास्यके गुण उपासकमें।

ये दस शब्द यहां इन्द्र देवताके वाचक हैं। यह देवता मनुष्योंकी उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंको अपने अन्दर धारण करने चाहिये, यह उपासना का नियम है। इस नियमके अनुसार उपासना करनेवाले पाठक अपने अन्दर ये वीरताके गुण बढावें और अपनी उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें और सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त करें। पूर्वोक्त गुण अपने अन्दर बढने लगे तो मनुष्यकी अथवा राष्ट्रकी उन्नति निःसंदेह होगी, उपासनाके मंत्र केवल रटनेमात्रसेहि मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, परंतु उनमें वर्णित उपास्यके गुणोंकी धारणासे हि मनुष्यकी उन्नति होना संभव है। जो मनुष्य अथवा मनुष्योंका संघ इस प्रकारकी वैयक्तिक और सामूहिक उपासना करते है वेहि अपना सब प्रकारका अभ्युदय सिद्ध करते हैं। इन्हींके विषयमें कहा है कि—

अभ्युदय।

उदिहि, उदिहि, वर्चसा अभ्युदिहि। (मं २)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

" उदयको प्राप्त हो, अभ्युदय प्राप्त करो, तेजके साथ सब प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो " ये मंत्र यद्यपि उपास्य देव सूर्यके संबंधमें कहे हैं तथापि उपास्यके गुण उपासक को धारण करने होते हैं, इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मंत्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं। इसी तरह ये मंत्रभी उपासकको अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं, यह बात यहां पाठक न भूलें। अभ्युदय किस मार्गसे करना चाहिये, इसके सारांशसे दो सूत्र हैं—

द्विषन् मह्यं रध्यतु। अहं द्विषते मा रधम्। (मं० ६)

" मेरा शत्रु मेरे वशमें आजावे और मैं कभी शत्रुके वशमें न होऊं। " शत्रु अनेक प्रकारके हैं, और रणक्षेत्रभी विविध हैं। उन सब रणक्षेत्रोंमें यही एक नियम है कि स्वयं शत्रुका पराभव करना और शत्रुसे कभी पराभूत न होना। विजय, उदय और अभ्युदयकी यह कुंजी है। जो लोग और जो राष्ट्र इस प्रकार अपनी तैयारी करेगा वही विजयको प्राप्त होगा।

पराक्रम।

तव बहुधा वीर्याणि। (मं० ६)

" तेरे बहुत पराक्रम होने चाहियें। " तब विजयकी संभावना है। विष्णु देव-व्यापक ईश्वर-का सर्वत्र विजय इसीलिये है कि उसके अनन्त पराक्रम होते हैं। अनेक पराक्रम न हुए तो विजय प्राप्त होना असंभव है। विजयके लिये अनेक रणक्षेत्रोंमें उतरना चाहिये और वहां बडे पराक्रम करने चाहियें। इसलिये—

सुमतिं कृधि। सुधायां धेहि। (मं० ६-७)

" अपने अन्दर सुमति धारण कर, उत्तम धारणामें अपने आपको और सबको धारण कर। " सुमतिके विना अध्यात्मक्षेत्रका विजय नहीं होगा और (सु-धा) उत्तम धारणके विना समाजका या संघका विजय नहीं होगा। यह नियम सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये। इस दिशासे अनेक दिन प्रयत्न होना चाहिये, यह सूचित करनेके लिये कहा है कि—

बडा सौभाग्य।

त्वं महते सौभगाय अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि। (मं० ९)

" तू अपना सौभाग्य बहुत बढानेके लिये न थकता हुआ और किसीके दबावसे न दबता हुआ दिनप्रतिदिन सुरक्षिततापूर्वक प्रयत्न करो " यह आदेश बडा

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar

उत्साहवर्धक है। कितनाही प्रचण्ड शक्तिवाला दबानेका यत्न करे, परंतु स्वयं उसके-दबावसे न दबनेका यत्न करना चाहिये। न दब जानेका--पाशवी शक्तिके अन्दर न दब जानेका—निश्चय करना ही अत्यंत महत्त्व की बात है। आत्माकी शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि सब जगत् की शक्ति भी उसका विरोध करने लगी, तो भी वह दबेगा नहीं, परंतु मनका निश्चय होना चाहिये। 'महासौभाग्य' जो ऊपरले मंत्रमें कहा है वह तभी इसको प्राप्त होता है। अधिक उत्साह बढानेके लिये और कहा है कि—

न दब जाना।

पृथिव्यां अदब्धः असि। ते महिमानं न आपुः। (मं० १२)

"पृथ्वीपर तू आत्मा न दब जानेवाला महाशक्तिमान है, तेरी महिमा अन्य भौतिक जड पदार्थोंको प्राप्त नहीं हो सकती।" जड पदार्थ कितनेभी सामर्थ्यवान् हों, परंतु उनकी शक्ति आत्माके सामर्थ्यकी बराबरी कर नहीं सकती। अपने आत्माकी यह प्रचण्ड शक्ति जाननेके लिये ही सब धर्मानुष्ठान है। अपने परम पिताकी प्रचण्ड शक्तिका वर्णन इसी कारण उपासनाके लिये उपासकोंके सन्मुख वेदमंत्रों द्वारा रखा जाता है कि वे किसी न किसी दिन अपने अन्दर परमपिताका वीर्य है, इस बातका अनुभव करें और उनके गुणोंका धारण अपने अन्दर करनेका यत्न करें। यह ईश-गुणोंकी धारणा किस प्रकार हो सकती है यह भी आगे कहा है—

अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः। (मं० १२)

"न दब जानेवाले ज्ञानसे बढता हुआ" अपने (बहुधा वीर्याणि) बहुत पराक्रम कर। यहां जो कहा है वह प्रत्येक वैदिक धर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये। मनुष्यकी उन्नति ज्ञानसे होनी है, यह बात यहां स्पष्ट कही है. इसलिये उन्नतिशील पाठक ज्ञानप्राप्तिके यत्नमें कटिबद्ध हों। यहां ज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात्—

सत्य का मार्ग।

विद्वान् ऋतस्य पन्थां अनु एषि। (मं० १६)

"विद्वान् होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर जाता है।" सत्यका आग्रहके साथ पालन करना चाहिये। सत्यही मनुष्यका मार्गदर्शक और सब बन्धनोंको दूर करनेवाला है। सत्यके पालनसे हि सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसी तरह—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अशस्तिं बाधमानः सुदिने एषि । (मं० १७)

" अप्रशस्त निंदनीय बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिन के प्रकाशपूर्ण जीवन में वर्ताव करनेवाला होगा । " जिस प्रकार मनुष्यको सत्यका पालन करना अभीष्ट है, उसी प्रकार अप्रशस्त निन्दनीय दुष्ट व्यवहारको सर्वथा दूर करना भी अत्यंत इष्ट है। अन्यथा उच्च अवस्था मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। उत्तम गुणोंको अपने अन्दर बढाना और हीन दुर्गुणोंको अपनेमें से दूर करना यही अभ्युदयका अनुष्ठान है। मनुष्य अपने अभ्युदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है या नहीं इसकी परीक्षा भी उसके भूत भविष्यका व्यवहार देखकर हो सकती है इस लिये कहा है कि—

आत्मा और संसार।

असति सत् प्रतिष्ठितम् । सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।
भूतं भव्ये भव्यं भूते च प्रतिष्ठितम् । (मं० १९)

" असत् में सत् और सत् में भूत ठहरा है, " यह पहिला कथन है। यह संसार नाशवान् होनेसे असत् है, और आत्मा त्रिकालाबाधित होनेसे सत् है। ये दोनों परस्पर संगत होनेसे कहा जाता है कि एक दूसरे में ठहरा है। यही विषय दूसरे शब्दोंमें ऐसा कहा जा सकता है— " शरीरमें आत्मा और आत्मामें शरीर ठहरा है। " ईशोपनिषद् में भी इसी भावसे निम्नलिखित मंत्र आया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं
ततो न विजुगुप्सते ॥ वा०यजु० ४० । ६
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं
ततो न विचिकित्सति ॥ ईश० उ० ६; काण्व यजु० ४० । ६

तथा भागवत में--

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥ श्री० भाग० । ३ । २४ । ४६
सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः । श्री० भाग० ११ । २ । ४५

इन सब स्थानोंमें यही कहा है कि "आत्मा–(सत्) सब भूतोंमें (असत्में) है और सब भूत (असत्) आत्मामें हैं। यह जो जानता है और इसका जो अनुभव करता है वह बडा भक्त कहलाता है वह श्रेष्ठ पुरुष होता है, वही शोकमोहसे परे

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

होकर परमसिद्धिको प्राप्त होता है। इसमें पहिली परीक्षा सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थितिका अनुभव आना है, ऐसा अनुभव आगया तो समझना चाहिये कि उन्नति होगयी है, और यदि केवल शब्दोंसेही 'परमेश्वर सर्वव्यापक' होनेका शाब्दिक ज्ञान हुआ है, तो समझना चाहिये कि अभी श्रवण मनन निदिध्यासन का अनुष्ठान होना चाहिये।

ऊपरके मंत्रमें दूसरी परीक्षा यह कही है कि (भूतं भव्ये, भव्यं भूते आहितं) भूत भविष्य में और भविष्य भूतमें है। इसका अनुभव देखनेके लिये मनुष्य अपना विचार प्रथम करे। मनुष्य का वर्तमान और भविष्य उसके भूतकालके कर्ममें होता है, और उसके भूतकालके कर्मके साथ उसका भविष्यकाल निगडित हुआ होता है। उदाहरण के लिये देखिये—यदि एक मनुष्य प्रथम आयुमें उत्तम ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक धर्मानुष्ठानसे अपना आयुष्य व्यतीत करता है, तो समझना चाहिये कि उसका यौवन और वार्धक्य सुखसे व्यतीत होंगे, क्यों कि उसका भूत काल भविष्यमें संबंधित है। इसी प्रकार राष्ट्रमें भी यही बात देखिये— जिस राष्ट्रके भूत कालके लोगोंने उत्तम पुरुषार्थ किया हो, उस राष्ट्रका वर्तमान और भविष्यकाल भी आनंदमें व्यतीत होगा, और जिस राष्ट्रके लोगोंने भूत कालमें पारतंत्र्य प्राप्त किया हो, उसका भविष्य काल कष्टोंमें जायगा, क्यों कि (भूतं भव्ये, भव्यं भूते आहितं) भूत भविष्यमें फलता है और भविष्यका उगम भूतमें होता है। देखिये यह वेदका उपदेश जैसा व्यक्तिमें वैसाही राष्ट्रमें प्रत्यक्ष दीख सकता है। इस सत्यका अनुभव करता हुआ तथा अपने भूत भविष्य वर्तमान का विचार करता हुआ, मनुष्य अपने भविष्य कालमें दुःख प्राप्त होनेके बीज सांप्रतके कालमें अपने ही प्रयत्नसे न बो देवे। परंतु उसको उचित है कि वह इस समय ऐसे शुभकर्म करे कि जिसके शुभ फल उसको भविष्य कालमें प्राप्त हों। आजकी हमारी स्थिति हमें अपने हि भूतकालके कर्मोंसे प्राप्त हुई है और इस समय हम हि अपना भविष्यकाल बनारहे हैं। इसी उद्देश्यसे वेदमें कहा है—

भूत भविष्य वर्तमान।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानः०। ऋ० १०।९०।२, वा० यजु० ३१।२
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वरः०॥ अथर्व. १९।६।४

"वर्तमान कालमें जो पुरुष है वही उसके भूत और भविष्यका रूप है और वह अमृ-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तत्व का स्वामी है " अर्थात् किसी पुरुषका वर्तमान काल उसके भविष्यका बीज और भूत का परिणाम दिखाता है। मनुष्यकी तारुण्य अवस्थासे पता लग सकता है कि उसने अपना बालपन कैसा व्यतीत किया था और उसीसे पता चलता है कि उसका भविष्य कैसा होगा। राष्ट्रपुरुषके विषयमें भी यही व्यवस्था है, राष्ट्रके वर्तमानकालकी परिस्थितिमें उसके भूतकालीन पुरुषार्थ या पुरुषार्थहीनताके परिणाम दीखते हैं, और उसी वर्तमानकालमें वह जो करता है उस अपने पुरुषार्थसेहि वह अपने भविष्यकी भवितव्यताके बीज बो देता है। क्यों कि प्रत्येक पुरुष भूतकालका परिणाम और भविष्य कालका बीज धारण करता है। इस विचारसे भी मनुष्य अपनी परीक्षा कर सकता है। आशा है कि पाठक इस रीतिसे अपनी परीक्षा करें और अपना उन्नतिका मार्ग है या अधोगतिका है, इसका निश्चय करें और यदि अवनतिका मार्ग होगा, तो उसे तत्काल छोड देवें और उन्नतिके मार्गपर हि सदा रहें। तथा मनमें यह महत्वाकांक्षा धारण करें कि—

आत्मतेज।

अहं भ्राजता भ्राज्यासम्। (मं० २०)

"मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा।" दूसरेके तेजसे तेजस्वी बननेमें पराधीनता है। प्रत्येकको अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये। प्रत्येककी अपने सामर्थ्यसे रक्षा होनी चाहिये, अपने ज्ञानसे प्रत्येकको विवेक करना चाहिये, प्रत्येकको अपने धनका भोग लेना योग्य है, इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। जिसकी रक्षा दूसरेके बलसे होती हो, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिसके पास अपने पोषण करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं हैं; उसकी शोचनीय अवस्था होती है, इसके विषयमें पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं। अतः अपने प्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहां इस मंत्रद्वारा दिया है, पाठक इसका विचार करें और अपने सामर्थ्यसे समर्थ बनकर यहां यशस्वी, कीर्तिमान और स्वतंत्र अर्थात् शुद्धबुद्ध और मुक्त बननेका यत्न करें। इसी प्रकार और भी कहा है—

अहं ब्रह्मवर्चसेन रुच्या रोचः (भूत्वा) रुचिषीय। (मं० २१)

"मैं अपने ज्ञानके प्रभावसे प्रभावित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊंगा"। इस मंत्रमें भी वही भाव दुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता उन्नतिके लिये अत्यंत है, यह बात यहां पुनः स्पष्ट की है।

CCO. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आगे उदयको प्राप्त होनेवाले, प्रकाशित होनेवालोंको नमस्कार करनेको कहा है और जो इस प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनक्रम समाप्त करके अस्तको जाते हैं, उनको भी नमस्कार करनेको कहा है। यहां सूर्यको सन्मुख रखनेको कहा है। मनुष्य का आदर्श सूर्य है, सूर्यके समान मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त करे, सूर्यके समान इस जगत्में प्रकाशित होवे और प्रदीप्त रहता हुआ तथा सबको प्रकाशका मार्ग बतलाता हुआ अन्तमें कृतकृत्य होकर अस्तको प्राप्त होवे। इस प्रकार अस्त होना भी आदर्श-रूप होता है। इस तरह सब मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श मानें। और उससे यह बोध प्राप्त करें। पाठक इस दृष्टिसे विचार कर और सूर्यको अपना आदर्श मानकर २६ वे मंत्रतक का उपदेश मननके द्वारा मनमें स्थिर करें। इसके नंतर एक महत्त्वपूर्ण मंत्रभाग है वह प्रत्येक मनुष्यको नित्य स्मरण में धारण करना योग्य है, वह अब देखिये–

अपना यश।

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च आवृतः
कृतवीर्यः विहायाः जरदष्टिः सहस्रायुः सुकृतः चरेयम्॥ (मं०२७)
अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च परिवृतः....
...ऋतेन गुप्तः.... भूतेन भव्येन च गुप्तः (चरेयम्)॥ (मं०२८-२९)
पाप्पा मा मा प्रापत्, मृत्युः मा मा प्रापत।
अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे। (मं० २९)

"मैं ज्ञान, आत्मरक्षा का सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, पराक्रम करता हुआ, विविध पुरुषार्थका साधन करता हुआ, दीर्घ आयु प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। मैं ज्ञान, आत्मरक्षाका सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, सत्यसे सदा सुरक्षित होता हुआ, भूतभविष्य वर्तमान कालें में होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। पाप मेरे पास न आवे, पापी मेरे संनिध न आवे, मृत्युका भय मुझे न प्राप्त हो, मैं अपनी वाणीको शुद्ध जीवनसे युक्त करता हूं।"

इनमेंसे प्रत्येक वाक्य इतना स्पष्ट, इतना तेजस्वी, इतना बोधप्रद और इतना मार्ग-दर्शक है कि उसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता प्रतीतही नहीं होती पाठक इसीका पाठ वारंवार करें, वारंवार मनन करें और अपने आत्माके अन्दर वेदके ये ओजस्वी विचार स्थिर करें। इनही विचारों की स्थिरतासे मनुष्य विजयी होगा और अभ्युदय प्राप्त करेगा और अन्तमें धन्य भी होगा। जो पाठक इस तरह इस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

काण्डका मनन करेंगे, वे अपनी उन्नतिका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस काण्डके प्रत्येक मंत्रमें गुप्त ज्ञान भरपूर भरा है। केवल बाह्य अर्थके प्राप्त करनेसे ही पाठकोंको यह नहीं समझना चाहिये कि हमने मंत्रका आशय समझ लिया है, मंत्रका आशय तो आगे पीछेके शब्दोंके साथ और विधानों के साथ संगति देखकर मनन करनेसे ही ध्यानमें आसकता है। आशा है कि इस महत्त्वपूर्ण उपदेशके काण्डसे पाठक अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करके कृतकृत्य और धन्य बनेंगे।

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

अष्टादशं काण्डम्।

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)

प्रथमवार

संवत् १९८९, शक १८५४, सन १९३२.

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तपस्वियोंका लोक !

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ॥
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

अथर्व० १८ । २

"जो लोग तप करनेके कारण किसी प्रकारसे कष्टोंको नहीं पहुंचाए जा सकते, अर्थात् जिनको पाप नहीं सता सकते, व जो लोग तपके कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हैं, तथा जिन्होंने बडा तप किया है, उन तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो, अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ॥ जो शूर वीरगण संग्रामोंमें युद्ध करते हैं, और जो उन संग्रामोंमें शरीरोंका त्याग करते हैं, अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, अथवा जो लोग हजारों प्रकारके धनोंका दान करते हैं, उनको भी तू प्राप्त हो।"

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडळ,
भारतमुद्रणालय, औंध (जि० सातारा.)

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

अष्टादश काण्ड।

इस अष्टादश काण्डके प्रथम सूक्तमें प्रारंभमें (सखायं सख्या ववृत्यां) " मित्रको मित्रताके साथ प्राप्त करनेका विषय" है। यह शुभ और मित्रता बढानेका विषय होनेसे यही इसका मंगलाचरण है।

अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका यह अन्तिम काण्ड है। क्यों कि काण्ड १३ से काण्ड १८ तक यह महाविभाग है। इस काण्डमें अन्त्येष्टीका विषय है। अर्थात् "यम, पितर, मृतकी मरणोत्तर स्थिति, पितृलोक" यही इस काण्डका प्रारंभसे अन्ततक विषय है। इस काण्डके मंत्रोंकी संगति आगे बताई जायगी और वहां मरणोत्तरकी स्थितिका सब विषय स्पष्ट किया जायगा। इस काण्डके बहुतसे मंत्र ऋग्वेदमें हैं और तैत्तिरीय संहिता (अ० ५) में भी हैं। इन मंत्रोंमें स्थानस्थानपर बहुतसे पाठभेद भी हैं। अथर्ववेदकी पिप्पलाद संहितामें ये मंत्र संपूर्णरूपसे नहीं हैं, अर्थात् कई हैं और बहुतसे नहीं हैं।

अब इस काण्डके मंत्रोंके " ऋषि-देवता-छन्द " देखिये—

ऋषि, देवता और छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द.
प्रथमोऽनुवाकः।				
१	६१	अथर्वा.	यमः, मन्त्रोक्ताः, ४१,४३सरस्वती, ४० रुद्रः;४०-४६, ५१, ५२ पितरः।	त्रिष्टुप्;८,१५ आर्षीपंक्ती; १४, ४९, ५० भुरिजः; १८—२०,२१—२३ जगत्यः;३७, ३८ परोष्णिक्; ५६, ५७, ६१ अनुष्टुभः;५९ पुरोबृहती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
२	६०	,,	यमः, मन्त्रोक्ताः।	त्रिष्टुप्;१-३, ६, १४—१८, २०, २२, २३,२५

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

४, ३४, अग्निः; ५ जातवेदाः, २९ पितरः, ३०, ३६, ४६, ४८, ५०-५२, ५६ अनुष्टुभः; ४, ७, ९, १३ जगत्यः; ५, २६, ४९, ५७ भुरिजः; १९ त्रिपदा गायत्री; २४ त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री; ३७ विराड् जगती; ३८-४४ आर्षी गायत्र्यः; (४०, ४२-४४ भुरिजः); ४५ ककुम्मती अनुष्टुप्।

तृतीयोऽनुवाकः।

३ ७३ अथर्वा यमः; मंत्रोक्ताः, ५, ६ अग्निः; ५० भूमिः, ५४ इन्दुः, ५६ आपः, त्रिष्टुप्; ४, ८, ११, २३ सतः पंक्तयः; ५ त्रिपदा निचृद्गायत्री; ६, ५६, ६८, ७०, ७२ अनुष्टुभः; १८, २५—२९, ४४, ४६ जगत्यः; (१८ भुरिक्, २९ विराट्) ३० पञ्चपदा अतिजगती; ३१ विराट् शक्वरी; ३२-३५, ४७, ४९, ५२ भुरिजः; ३६ एकावसाना आसुरी अनुष्टुप्; ३७ एकावसाना आसुरी गायत्री; ३९ पराबृहती त्रिष्टुप् पंक्तिः; ५० प्रस्तारपंक्तिः; ५४ पुरोऽनुष्टुप्; ५८ विराट्; ६० त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ६४ भुरिक् पथ्या पंक्त्यार्षी; ६७ पथ्या बृहती; ६९, ७१ उपरिष्टाद् बृहती।

चतुर्थोऽनुवाकः।

४ ८९ ,, यमः, मन्त्रोक्ताः, ८१ पितरः, ८८ अग्निः, ८९ चन्द्रमाः त्रिष्टुप्; १, ४, ७, १४, ३६, ६० भुरिजः; २, ५, ११, २९, ५०, ५१, ५८ जगत्यः; ३ पञ्चपदा भुरिगतिजगती; ६, ९, १३ पञ्चपदा शक्वरी. (९ भुरिग्, १३ त्र्यवसाना); ८ पञ्चपदा बृहती; (२६ विराट्) २७ याजुषी गायत्री; [२५] ३१, ३२, ३८, ४१, ४२, ५५—५७, ५९, ६१ अनुष्टुप् (५६ ककुम्मती); ३९ ६२, ६३ आस्तारपंक्तिः; (३९ पुरोविराट्, ६२ भुरिक्, ६३ स्वराट्) ६७ द्विपदार्ची अनुष्टुप्; ६८, ७१ आसुरी अनुष्टुप्; ७२—७४, ७९ आसुरीपंक्तिः ७५ आसुरी गायत्री; ७६ आसुरी उष्णिक्, ७७ दैवी जगती; ७८ आसुरी त्रिष्टुप्; ८० आसुरी जगती; ८१ प्राजापत्यानुष्टुप् ८२ साम्नी बृहती; ८३, ८४ साम्नी त्रिष्टुभौ; ८५ आसुरी बृहती; (६७-६८ ७१, एकावसाना) ८६, ८७ चतुष्पदा उष्णिक्, (८६ ककुंमती, ८७ शंकुमती) ८८ त्र्यवसाना पथ्यापंक्तिः; ८९ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः।

इस सूक्तका विषय एकही होनेसे चारों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात ही सबका मिलकर विवरण करेंगे, जिससे पाठकोंको यम और पितृसंबंधी सब बातोंका पता लग जायगा।

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

(अथर्ववेदका सुबोधभाष्य ।)

अष्टादशं काण्डम् ।

यम, पितर और अन्त्येष्टि ।

[१]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-यमः, मंत्रोक्ताः)

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

अर्थ— (पुरू अर्णवं तिरः जगन्वान्) विस्तृत संसाररूपी समुद्रके पार जाना चाहता हुआ जो तू यम है, उस तुझ पतिरूपसे (सखायं) मित्रको मैं यमी (सख्या) पत्नीरूपसे प्राप्त मित्रता द्वारा (ववृत्याम्) वरण करूं अर्थात् तुझ यम को मैं यमी अपना पति बनाऊं । और इस प्रकार पति बनकर, यम (अधिक्षामि) पृथिवीपर (प्रतरं दीध्यानः) विशेष रूपसे प्रकाशमान होता हुआ अथवा मुझ यमी में गर्भधारण करनेके उपायका विशेष चिंतन करता हुआ, (वेधाः) संतानका उत्पादक यम (पितुः नपातं) पिताके कुलको न गिरानेवाली अर्थात् कुलप्रवर्तक संतानको (आदधीत) धारण करे । (ऋ० १०।१०।१) ॥ १ ॥

भावार्थ-यमी यम से कहती है कि संसाररूपी सागरसे तरनेके लिये हम दोनों पतिपत्नी के रूपमें मित्रता करें, ताकि यम मेरेमें अपने पितृकुलकी प्रवर्तक सन्तात उत्पन्न करे, जिससे कि यमका वंश नष्ट न होने पावे ॥ १ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन् ॥ २ ॥
उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य ।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥ ३ ॥

अर्थ — (ते) तुझ यमीका (सखा) मित्र यह यम (एतत् सख्यं) इस प्रकारकी पतिपत्नी भाव वाली मैत्री (न वष्टि) नहीं चाहता। (त्यत) क्यों कि इस प्रकार करनेसे (सलक्ष्मा) एकही उदर से उत्पन्न होनेके कारण समान लक्षणोंवाली (विषुरूपा) भिन्न स्वरूपवाली अर्थात् बहिन से पत्नीके स्वरूप में परिणत (भवाति) हो जाती है। अथवा इस मंत्रार्ध का अर्थ यूं करना चाहिये (यत) क्यों कि (सलक्ष्मा) तू यमी सहजा होनेसे समान लक्षणों वाली है अतः (ते सखा) तेरे मित्र यम (एतत सख्यं) इस पत्नी रूपसे मित्रताको (न वष्टि) नहीं चाहता। पत्नी तो वह बन सकती है जो कि (विषुरूपा) भिन्न स्वभाववाली भिन्न लक्षणोंवाली (भवाति) होती है। इसके अतिरिक्त (महः असुरस्य) महान् प्राणप्रदाता परमात्माके (दिवः धर्तारः) व्यवहार को धारण करनेवाले अर्थात् सांसारिक व्यवहार कुशल (वीराः पुत्रासः) पराक्रमी मनुष्य पुत्र भी (उर्विया) पृथिवीपर ऐसे संबन्धका (परि ख्यन्) परिवाद-निराकरण-निषेध करते हैं। (ऋ० १०।१०।२) ॥ २ ॥

(ते अमृतासः) वे अमृत स्वरूप व्यवहार कुशल मनुष्य भी (एकस्य मर्त्यस्य) एक अर्थात् अद्वितीय मनुष्यकी (त्यजसं) सन्तान (उशन्ति) चाहते हैं (एतत् घा) यह बात प्रसिद्ध ही है। इस लिए संतानोत्पत्तिके लिए (ते मनः) तेरा मन (अस्मे मनसि) हमारे मनमें स्थित होवे और इस प्रकार (जन्युः पतिः) संतानका उत्पन्न करनेवाला पति हुआ हुआ (तन्वं आ विविश्याः) मुझ यमी के शरीर में प्रवेश कर (ऋ० १०।१०।३) ॥ ३ ॥

भावार्थ— यम यमीको उत्तर देता हुआ कहता है कि, हे यमी ! तूने जिस प्रकारकी मैत्रीकी कामना मुझसे की है उस प्रकार की मुझे स्वीकृत नहीं है, क्यों कि तू तो समान लक्षणोंवाली है और पत्नी तो भिन्न

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम ।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥
गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।

अर्थ— (यत्) जो कार्य (पुरा) पहिले (न चकृम) हमने नहीं किया है वह कार्य (कद्ध नूनं) निश्चयसे अब क्यों करें ? (ऋतं वदन्तः) सत्य बोलते हुए (अनृतं रपेम) असत्य क्यों बोलें ? अथवा (यत्) क्यों कि (पुरा न चकृम) पहिले हमने ऐसा काम नहीं किया है, इस प्रकारसे (नूनं) निश्चयसे (ऋतं वदन्तः) सत्य बोलते हुए (कद्ध) किस लिए (अनृतं रपेम) झूंठ बोलें कि हमने ऐसा काम पहिले किया है। [उत्तरार्ध में यम अपने तथा यमी को मा बाप व दोनोंके पारस्परिक संबन्धको दर्शाता हुआ कहता है कि] (अप्सु गंधर्वः) अन्तरिक्ष में विद्यमान आदित्य (च) और (योषा सा अप्या) आदित्यकी स्त्री वह अप्या (नौ) हम दोनों के (नाभिः) उत्पत्तिस्थान हैं। (तत) इस कारण से (नौ) हम दोनों का (जामि) जो संबन्ध है वह (परमं) बडा उत्कृष्ट व पवित्र है। (ऋ० १०। १०। ४) ॥ ४ ॥

(सविता) प्रेरक, (विश्वरूपः) विश्वस्रष्टा (त्वष्टा) बनानेवाले (देवः) प्रकाशमान (जनिता) उत्पादक परमात्माने (नु) निश्चयसे (नौ) हम दोनों को (गर्भे) माताके गर्भ में (दम्पती) पतिपत्नी (कः)

लक्षणोंवाली होनी चाहिये। इसके सिवाय सिर्फ मैं ही इस बात का प्रतिवाद नहीं कर रहा अपितु अन्य व्यवहारकुशल लोकभी पृथिवीपर इस प्रकार के संबन्धका विरोध करते हैं ॥ २ ॥

यमी यम से कहती है कि क्यों कि संसारमें रहते हुए पुरुषको एक न एक संतान अवश्यमेव उत्पन्न करनी चाहिये, अतः तू और मैं एक मनवाले होवें व तू मेरेमें संतान उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

यम यमीसे कहता है कि जो काम हमने पहिले कभी नहीं किया वह अब हम झूठ बोलकर क्यों करें ? और इसके सिवाय हम दोनों के एकही मावाप होनेसे हमारा पारस्परिक संबन्ध बडा उत्कृष्ट है अतः ऐसा संबन्ध हम दोनोंमें नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥ ५ ॥
को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हणायून् ।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥ ६ ॥

बनाया है। (अस्य) सर्व उत्पादक परमात्मा के (व्रतानि) बनाए हुए नियमोंको (न किः प्र मिनन्ति) कोई भी नहीं तोडते। (नौ) हम दोनों को दम्पती बनानेका (अस्य) इस त्वष्टा का जो कर्म है, उसे (पृथिवी उत द्यौः) पृथ्वी व द्यु दोनों ही (वेद) जानते हैं। (ऋ० १०।१०।५) ॥५॥

हे यमी! (अद्य) आजकल के जमाने में (ऋतस्य गाः) सत्य की स्तुति करनेवाले, (शिमीवतः) श्रेष्ठ कर्मों के करनेवाले (भामिनः) तेजस्वी, (दुर्हणायून्) दुष्टों पर क्रोध करनेवाले, (आसन् इषून्) मुख-पर बाण मारनेवाले, (हृत्स्वसः) हृदयोंमें शस्त्र मारने वाले तथा (मयोभून्) सुख पहुंचानेवालों को भला (कः) कौन (धुरि युंक्ते) कार्य धुरा में जोडता है? कोई भी नहीं। (यः) जो (एषां) भृत्यां) इनके भरण पोषण को (ऋणधत्) बढाता है (सः) वह (जीवात्) वस्तुतः जीता है। ॥ ६ ॥

भावार्थ— यमी यमसे कहती है कि हे यम! परमात्माने स्वयं ही हम दोनोंको गर्भ में से ही पतिपत्नी बनाया है। क्यों कि उसने हम दोनों को एक साथ ही गर्भ में रखा था। गर्भ से ही हम दोनों की जोडी बनाई है। इस परमात्माके नियमों का तो कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता तो फिर हम कैसे करें, अतः तू मेरे साथ यह संबन्ध जोड। यह द्यु और पृथिवी भी जानते हैं कि त्वष्टाने हमारा इस प्रकार का संबन्ध बनाया है। तू यह न समझ कि मैं अपनी ओर से बनाकर कह रही हूं ॥ ५ ॥

यम यमी से कहता है कि हे यमी! आजकलके जमाने में सत्यवादी वीर जनों को कौन पूछता है। जनके मार्ग का कौन अनुसरण करता है? कोई भी नहीं। वस्तुतः भाई बहिन का विवाहसंबन्ध नहीं होना चाहिये तो भी तू झूटमूठ युक्तियां देकर कि गर्भ से ही हम दोनोंको परमात्माने दंपती बनाया है, असत्य बोल रही है ॥ ६ ॥

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ७ ॥
यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

अर्थ- हे यमी ! (अस्य प्रथमस्य अह्नः) इस प्रथम दिन के संबंधमें (कः वेद) कौन जानता है ? (क ईं ददर्श) और किसने इसको देखा है ? (क इह प्रवोचत्) और उसके विषयमें भला कौन कह सकता है ? (मित्रस्य वरुणस्य धाम) मित्रभूत श्रेष्ठ परमात्माका धाम (बृहत्) महान् है। अतः (आहनः) हे क्लेश देनेवाली ! (वीच्या) छल कपट द्वारा (कत् उ) कैसे (नॄन् ब्रवः) हम मनुष्योंके साथ बोलती है? ॥ ७ ॥

(समाने योनौ) एक घरमें (सह शेय्याय) एक शय्यापर साथ सोने के लिए (यमस्य कामः) यम की कामना (मा यम्यं) मुझ यमी को (आ अगन्) आकर प्राप्त हुई है। मैं यमी (पत्ये जाया इव) पति के लिए जिस प्रकार स्त्री उस प्रकार यमके लिए (तन्वं) अपना शरीर (रिरिच्यां) फैलाऊं और (रथ्या चक्रा इव) रथके दो पहियों के समान हम दोनों यम यमी (वि वृहेव) परस्पर मिलें-व्यवहार करें ॥ ८ ॥

भावार्थ-यम यमी से कहता है कि तू जो यह युक्ति दे रही है कि गर्भसे ही परमात्माने हमको पति पत्नी बनाया है इत्यादि सो ठीक नहीं है। क्यों कि जिस दिन गर्भ धारण हुआ था उस दिन त्वष्टा का क्या विचार था इस बात को कौन जानता है ? किसने देखा ? और किसने आकर कहा ? न कोई जानही सकता है, न देखही सकता है और नहीं कह ही सकता है। क्यों कि परमात्मा की शक्ति अगाध है, उसको कोई जान नहीं सकता। ऐसी हालतमें तू हम मनुष्यों से ऐसी ऐसी बातें क्यों बनाती है कि परमात्माने ही हमें गर्भ से दंपती बनाया है तथा भाई बहिन का विवाह होना चाहिये। (ऋ० १०। १०। ६) ॥ ७ ॥

यमी यमसे कहती है कि मेरे मनमें तुझ भाई यमके विषय में कामवासना उत्पन्न हुई है। तेरी पत्नी बनकर एकत्र विहार करनेकी इच्छा है। अतः हे भाई ! आओ हम दोनों मिलकर पति पत्नी की

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥ ९ ॥
रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि ॥ १० ॥

अर्थ-(एते देवानां स्पशः) ये देवोंके दूत अर्थात् परमात्माके नियामक (ये) जो कि (इह) इस संसारमें संचार करते हैं, वे (न तिष्ठंति) न तो एक स्थानपर ठहरते हैं और (न) नहीं (निमिषन्ति) आंख बंद करते हैं अर्थात् सोते हैं। इस लिए तू (मत् अन्येन) मेरेसे भिन्न दूसरे के पास (तूयं) शीघ्र (याहि) जा और हे (आहनः) कष्ट देनेवाली ! (रथ्या चक्रा इव) रथके चक्रोंके समान उसके साथ (विवृह) आलिङ्गन कर ॥ ९ ॥

(रात्रीभिः अहभिः) रात और दिन (अस्मै) इस यमको सुमति (दशस्येत्) देवें। और (सूर्यस्य चक्षुः) सूर्यका प्रकाश (मुहुः) वारंवार (उत् मिमीयात्) इसके लिए फैले। (दिवा पृथिव्याः) द्युके साथ पृथिवी व पृथिवीके साथ द्यु इस प्रकार (सबन्धू) भाई बहिन के रूपमें स्थित होते हुए भी द्यु व पृथिवी (मिथुना) परस्पर मिलकर रहते हैं, अतः (यमीः) यमी भी (यमस्य अजामि विवृहात्) यमका बन्धुत्वरहित संबन्ध करके (विवृहात्) व्यवहार करे ॥ १० ॥

तरह रहें व रथके दोनों पहियों की तरह मिलकर संसार की यात्रा करें (ऋ० १०।१०।७) ॥ ८ ॥

यमी की कामवासना की इच्छा सुनकर यम उसे कहता है कि परमात्माके दूत प्रतिक्षण हमारे आचरणोंको देख रहे हैं। अतः तू मुझे छोड कर अन्य किसीके साथ जाकर विवाहित हुई हुई अपनी अभिलाषा पूर्ण कर। (ऋ० १०।१०।८) ॥ ९ ॥

यमी यमसे कहती है कि देख, दिन व रात्री, द्यु और पृथिवी ये परस्पर भाई बहिन होते हुए भी परस्पर मिलकर संगत हुए हुए हैं। जरा आंख खोलकर देख। फिर ऐसी अवस्थामें हम दोनों भाई बहिन होते हुए भी क्यों न मैं बहिन का संबन्ध छोडकर तेरे साथ पत्नीका

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ११ ॥
किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वेतद् रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥

अर्थ- हे यमी ! (ता उत्तरा युगानि) वे भविष्यमें ऐसे युग (घा) निश्चयसे (आ गच्छान्) आवेंगे (यत्र) जिन युगोंमें कि (जामयः) बहिनें (अजामि) बन्धुत्वरहित कर्म (कृणवत्) करेंगी अर्थात् बहिनें भाईयोंसे शादी करेंगी। परन्तु तू तो (वृषभाय) किसी वीर्यवान् पुरुष के लिए (बाहुं) अपना हाथ (उप बर्बृहि) फैला, आगे बढा। अर्थात् उसके साथ पाणिग्रहण कर। इस प्रकार (सुभगे) हे भाग्यशालिनी! (मत् अन्यं पतिं) मेरेसे भिन्न पति की (इच्छस्व) इच्छा कर ॥ ११ ॥

(किं भ्राता असत्) वह क्या भाई है (यत्) क्यों कि जिसके रहते हुए भी बहिन (अनाथं भवाति) अनाथ बनी रहती है। (उ) और (किं स्वसा) वह क्या बहिन है कि जिसके रहते हुए भी (यत्) यदि भाई (निर्ऋतिः निगच्छात्) कष्टको प्राप्त होता है। अतः हे भाई ! (काममूता) कामसे युक्त हुई हुई मैं (एतत् बहु रपामि) यह बहुत कुछ कहती हूं। इसलिए तू (तन्वा) अपने शरीरसे (मे) मेरे (तन्वं) शरीरको (सं पिपृग्धि) संयुक्त कर ॥ १२ ॥

व्यवहार करूं ? (ऋ० १०।१०।९) ॥ १० ॥

यम यमी की युक्तियुक्त दशम मंत्रोक्त उक्ति सुनकर निरुत्तर हुआ हुआ कहता है कि हे यमी ! इस प्रकारका समय आगे आवेगा जब कि भाई बहिनें भी पतिपत्नीके अनुसार वर्ताव करेंगी, परन्तु मैं ऐसा नहीं करना चाहता, चाहे तेरी युक्ति का प्रत्युत्तर मेरे पास न भी हो। अतः तू मेरेसे भिन्न अन्य किसी वीर्यवान् पुरुषका पाणिग्रहण कर के उसे अपना पति बना। (ऋ० १०।१०।१०) ॥ ११ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम ! देख, जो भाईके रहते हुए भी यदि बहिन अनाथ बनी रहे तो वह भाई किस कामका ? और इसी प्रकार बहिनके रहते हुए यदि भाईको कष्ट उठाना पडे तो वह

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

न तै नाथं यम्यत्राहमस्मि न तै तनूं तन्वाऽ सं पपृच्याम् ।
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १३ ॥
न वा उ ते तनूं तन्वाऽ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥ १४ ॥

अर्थ— हे यमी ! (अत्र) यहांपर (अहं) मैं (ते नाथं) तेरा स्वामी (न अस्मि) नहीं हूं। और इस लिए (ते तनूं) तेरे शरीरको (तन्वा) अपने शरीरके साथ (न सं पपृच्याम्) संयुक्त नहीं करूंगा। अतः हे यमी ! (मत् अन्येन प्रमुदः कल्पयस्व) मेरेसे भिन्न दूसरेके साथ आनंद कर। (सुभगे) हे सौभाग्यवती ! (एतत्) इस प्रकार का संबन्ध (ते भ्राता) तेरा भाई यम (न वष्टि) नहीं चाहता ॥ १३ ॥

हे यमी ! (ते तनूं) तेरे शरीर को (तन्वा) अपने शरीर के साथ (वै उ) कदापि (न सं पपृच्याम्) जो बहिन के साथ संभोग करता है उसे (पापं आहुः) पापी कहते हैं। (एतत्) यह बात (मे मनसः हृदः) मेरे मन व हृदय के (असंयत्) विरुद्ध है-असंगत है कि (भ्राता) भाई मैं (स्वसुः शयने) बहिन की शय्यापर (शयीय) सोऊं ॥ १४ ॥

बहिन किस काम की ? इस लिए हे भाई तू मेरे साथ अपने शरीरका संयोग कर ! (ऋ० १०।१०।११) ॥ १२ ॥

यम यमी से कहता है कि हे बहिन ! मैं तेरा स्वामी नहीं हूं। अतः अपने शरीरसे तेरे शरीरको संयुक्त नहीं करूंगा। तू अन्य किसी के साथ आनन्दका उपभोग कर। तेरा भाई इस प्रकारका कार्य तेरे साथ करना नहीं चाहता। (उत्तरार्ध ऋ० १०।१०।१२) ॥ १३ ॥

यम यमीसे अपने पूर्वोक्त कथन को दृढ करता हुआ कहता है कि मैं अपने शरीरके साथ तेरा शरीर कदापि संपृक्त नहीं करूंगा क्यों कि बहिन के साथ संभोग करनेवाले को पापी कहा गया है। इसके सिवाय भाई बहिन की शय्यापर लेटे, यह बात मेरे मन व हृदय के भी प्रतिकूल है अतः मैं तेरी बात नहीं मान सकता। (पूर्वार्ध ऋ० १०।१०।१२) ॥ १४ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥ १५ ॥
अन्यमू षु यंम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १६ ॥

अर्थ- हे यम ! (बत) बडे दुःख की बात है कि तू (बतः असि) बडा निर्बल है। (ते) तेरे (मनः हृदयं च) मन तथा हृदयको (न अविदाम) हम नहीं जान पाये। खैर, (किल) निश्चयसे (अन्या) दूसरी स्त्री (त्वां) तुझे (परिष्वजाते) आलिंगन देगी, (कक्ष्या युक्तं इव) जिस प्रकारसे कि घोडे की कमर पेटी, गाडीको जोते हुए घोडेको लिपटती है और जिस प्रकार से कि (लिबुजा वृक्षं इव) बेल वृक्षको लिपटती है ॥ १५ ॥

(यमि) हे यमी ! तू (अन्यं उ सु) अन्य पुरुषको ही आलिंगन कर और (अन्यः) दूसरा पुरुष ही (त्वां) तुझे (परिष्वजाते) आलिंगन देवे। (लिबुजा इव वृक्षम्,) जिस प्रकारसे कि बेल वृक्षको आलिंगन करती है। (तस्य) उस पुरुषके (मनः त्वं इच्छ) मन की तू इच्छा कर (स वा तव) और वह तेरे मनको जाननेकी इच्छा करे। (अध) और तब उसके साथ तू (सुभद्रां संविदं कृणुष्व) कल्याण-कारिणी संगति कर ॥ १६ ॥

भावार्थ— यमी यमसे कहती है कि हे यम ! तू बडा ही निर्बल है। सचमुच मैं तेरे मन व हृदयको जान नहीं पाई हूं। अस्तु अन्य स्त्री तो अवश्यमेव तुझे आलिंगन देगी जैसे कि कमर की पेटी घोडेको देती है व बेल वृक्षको। (ऋ० १०।१०।१३) ॥ १५ ॥

यम यमीसे कहता है कि हे यमी ! तू भी दूसरे पुरुषको प्राप्त हो। वह तुझे आलिंगन देवे। उसके मनके अनुकूल चलनेकी तू इच्छा कर तथा वह भी तेरी इच्छानुसार चले और इस प्रकारसे तुम दोनोंका मीलन कल्याण करनेवाला होवे। (ऋ० १०।१०।१४) ॥ १६ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

त्रीणि॒ च्छन्दा॑ꣳसि क॒वयो॒ वि ये॑तिरे पुरु॒रूपं॑ दर्श॒तं वि॒श्वच॑क्षणम् ।
आपो॒ वाता॒ ओष॑धय॒स्तान्येक॑स्मि॒न् भुव॑न॒ आर्पि॑तानि ॥ १७ ॥
वृषा॒ वृष्णे॑ दुदुहे दोह॑सा दि॒वः पयाꣳ॑सि य॒ह्वो अदि॑ते॒रदा॑भ्यः ।
विश्वं॒ स वे॑द॒ वरु॑णो॒ यथा॑ धि॒या स य॒ज्ञियो॑ यजति य॒ज्ञियाँ॒ ऋतू॑न् ॥१८॥

अर्थ- (कवयः) क्रान्तदर्शी ज्ञानी जनोंने (त्रीणि छन्दांसि) तीन छन्द अर्थात्-जो संसारका आच्छादन करें--अपने से जो संसारको व्याप्त करें यानि जो संसारमें सर्वत्र उपलब्ध हो सकें ऐसे-तीन सर्वत्र उपलब्ध होनेवाले पदार्थों को संसार के निर्वाह के लिए (वि येतिरे) विविध प्रकार के यत्नोंमें लगा रखा है । उन तीनों छंदोंमेंसे प्रत्येक (पुरुरूपं) बहुत रूपोंवाला है, (दर्शतम्) अद्भुत है तथा (विश्वचक्षणम्) सब के देखने योग्य हैं। वे तीनों छन्द कौन से हैं ? (आपः वाताः ओषधयः) जल, वायु तथा औषधियां हैं। (तानि) ये तीनों छंद (एकस्मिन् भुवने) इस एक ही संसारमें अर्पित हैं, स्थापित हैं ॥ १७ ॥

(अदाभ्यः) किसीसे भी न दबने वाला (यह्वः) महान् (वृषा) कामनाओं की वर्षा करनेवाला अग्नि (वृष्णे) पराक्रमी जन के लिए (अदितेः दिवः) अखण्डनीय द्यु लोकसे (दोहसा) दोहने के साधन वृष्टि द्वारा (पयांसि) जलों -रसों- को (दुदुहे) दोहता है। (सः) वह पराक्रमी अग्नि (यथा वरुणः) वरुण की तरह (धिया) अपनी बुद्धि द्वारा (विश्वं वेद) सब कुछ जान लेता है। अथवा इस तृतीय पादका अर्थ यूं भी किया जा सकता है,(सः वरुणः) वह श्रेष्ठ जन (यथा धिया)

भावार्थ— ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा ओषधियोंको संसार निर्वाहके लिये नाना कार्योंमें लगा रखा है। वे इस संसार में सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं। वर्तमान समयके ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा ओषधियोंको नाना कार्योंमें लगा रखा है तथा उनसे संसारका किस प्रकारसे निर्वाह हो रहा है, यह प्रत्यक्ष ही है। ये तीनों पदार्थ संसार में सर्वत्र पाये जाते हैं, अत एव इन्हें छन्दके नामसे पुकारा गया है (छादनात् छन्दांसि) इन्होंने संसार को ढक रखा है। जल, वायु तथा ओषधियोंसे संसार आच्छादित है। अतएव ये छन्द हैं ॥ १७ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः ।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति ॥१९॥
सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥ २० ॥

अपनी बुद्धी के अनुसार (विश्वं वेद) सब कुछ जान लेता है और फिर तदनुसार (सः यज्ञियः) वह पूजनीय बनकर (यज्ञियान् ऋतून) पूजनीय ऋतुओंकी (यजति) पूजा करता है ॥ १८ ॥

(गन्धर्वीः) स्तुति करनेवालों का धारण करनेवाली, (अप्या) सत्कर्मों में रहनेवाली, (योषणा) भजनीय वेदवाणी (रपत्) अग्नि के गुणगान करती है। वह अग्नि (नः मनः) हमारे मन की (नदस्य नादे) स्तुति करनेवाले की अर्चना करने में (परिपातु) चारों ओर से रक्षा करे। (इष्टस्य मध्ये) इष्ट अर्थात् अभिलषित पदार्थ के बीचमें वह (अदितिः) अखण्डनीय अग्नि हमें (निधातु) स्थापित करे। वह अग्नि (नः ज्येष्ठः भ्राता) हमारा बडा भाई होकर (प्रथमः) प्रसिद्ध हुआ (नः विवोचति) हमें उपदेश देता है ॥ १९ ॥

(सो) वही (चित्) निश्चयसे (नु) अब (भद्रा) कल्याण करने वाली (क्षुमती) अन्नवाली, (यशस्वती) कीर्तिवाली, (स्वर्वती) आदित्यवाली अर्थात् जिसमें आदित्य विद्यमान है ऐसी (उषाः) उषा (मनवे) मनुष्यके लिए (उवास)प्रकाशित हुई है। कब उत्पन्न हुई है ? (यत्) जब कि (ईम्) इस (उशन्तं) कामना करते हुए (होतारं) दानी, (अग्निं अग्निको (विदथाय) यज्ञके लिए (उशतां क्रतुं अनु) कामना करते हुओं के यज्ञके साथ साथ (जीजनन्) उत्पन्न किया ॥ २० ॥

भावार्थ– अग्निरूप परमात्मा द्युलोक से जलोंकी वृष्टि करता है। और मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उस जलद्वारा ऋतुओं का उचित उपयोग लेता है। ऋतुयाग करता है। और इस प्रकार अन्यों का पूजनीय बनता है ॥ १८ ॥

वेदवाणी उस अग्निरूप परमात्मा की स्तुति करती है। वह परमात्मा श्रेष्ठ जनों के सत्कार में हमारी रक्षा करता है। इच्छित पदार्थ का

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अध॒ त्यं द्र॒प्सं वि॒भ्वं॑ विचक्ष॒णं विरा॑भर॒दिषि॑रः श्ये॒नो अ॑ध्व॒रे ।
यदी॒ विशो॑ वृ॒णते॑ द॒स्ममार्या॑ अ॒ग्निं होता॑र॒मध॒ धीर॑जायत ॥ २१ ॥
सदा॑सि र॒ण्वो यव॑सेव॒ पुष्य॑ते॒ होत्रा॑भिरग्ने मनु॒षः स्वध्व॒रः ।
विप्र॑स्य वा॒ यच्छ॑शमा॒न उ॒क्थ्यो॑३ वाजं॑ सस॒वाँ उ॑प॒यासि॒ भूरि॑भिः ॥२२॥

अर्थ-(अध) तब (त्यं) उस (द्रप्सं) हर्षप्रद (विभ्वं) महान् (विचक्षणं) विशेषतया देखनेवाले सोमको (अध्वरे) यज्ञमें (श्येनः विः) श्येन नामक पक्षी (आभरत्) लाया। (यदि) जब (आर्याः विशः) श्रेष्ठ जन (दस्मं) दर्शनीय, (होतारं) दानी (अग्निं) अग्निको (वृणते) वरण करते हैं (अध) तब (धीः अजायत) यज्ञादि कर्म होता है ॥ २१ ॥

(मनुषः होत्राभिः) मनुष्यके यज्ञोंसे (स्वध्वरः) शोभन यज्ञवाले (अग्ने) हे अग्नि ! (पुष्यते) पोषण करने वालेके लिये (यवसा इव) जिस प्रकार पशुओंके लिए घास होती है उसी प्रकार तूं (सदा रण्वः असि) सर्वदा रमणीय आनन्दप्रद है। (यत्) क्यों कि विप्रस्य वाजं ससवान्) मेधावी जनके अन्नका सेवन करता हुआ (उक्थ्यः) प्रशंसनीय व (शशमानः) फुरतीला तू (भूरिभिः) बहुतसी कामनाओं के साथ (उपयासि) आता है। अर्थात् बहुतसी आमनाओं को पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

प्रदान करता है, वह बडे भाई के समान होकर हमें समय समय पर उपदेश देता है ॥ १९ ॥

जबकि यज्ञ की कामना करते हुए जनोंने यज्ञमें अग्निको प्रज्वलित किया तब कल्याणप्रद उषा उत्पन्न हुई ॥ २० ॥

जब ज्ञानीलोग अग्नि प्रदीप्त कर यज्ञ करते हैं तब सोमरस निकाल कर हवनपूर्वक उसका सेवन करते हैं ॥ २१ ॥

अग्नि यज्ञादि कर्म करनेवालेके लिए ऐसा आनन्दप्रद है जैसा कि घास पशुओंके लिए। क्यों कि अग्नि यजमानकी अनेक कामनाओंको पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती ॥ २३ ॥
यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत् सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान् भूषति द्यून् ॥ २४ ॥

अर्थ- हे अग्नि! (पितरौ) माता पिताके प्रति (भगं) अपना तेज-ऐश्वर्य (जारः आ) सूर्यकी तरह अर्थात जिस प्रकार सूर्य अपना तेज सर्वत्र प्रसारित करता है उस प्रकार (उदीरय) प्रेरित कर-उनके पास पहुंचा। (हर्यतः) कमनीय स्पृहणीय अग्नि (हृत्तः) हृदयसे (इयक्षति) यजन करना चाहता है, इस लिये (इष्यति) जाता है। (वह्निः) हवि आदिका वहन करने वाला अग्नि (विवक्ति) कहता है और (मखः स्वपस्यते) कर्म शील अग्नि सुन्दर कर्म करना चाहता है। (तविष्यते) महान् होनेकी इच्छा करनेवाले के लिए (असुरः) प्राणदाता अग्नि (मती वेपते) कर्म द्वारा आता है॥ २३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते सुमतिं) तेरी सुमतिके विषयमें (अख्यत्) स्थान स्थान पर कहता फिरता है अर्थात् तेरी प्रशंसा करता रहता है, हे (सहसः सूनो) बलके पुत्र! (सः) वह मनुष्य (अति प्रशृण्वे) बहुत अधिकतासे सुना जाता है अर्थात् वह सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है। सर्वत्र उसीका नाम सुनाई देता है। इसके अतिरिक्त (स) वह मनुष्य (इषं दधानः) अन्नका धारण करता हुआ अर्थात् अन्नसे परिपूर्ण हुआ हुआ, (अश्वैः वहमानः) घोडोंसे वहन किया जाता हुआ अर्थात् अश्वादि वाहनसे संपन्न हुआ हुआ, (द्युमान्) तेजस्वी होता हुआ (अमवान्) बलवान् हुआ हुआ (द्यून्) दिनोंको (भूषति) शोभित करता है। अर्थात् ऐसे मनुष्यके जीनेसे वस्तुतः दिनोंकी शोभा बढती है॥ २४ ॥

भावार्थ-जिस प्रकार सूर्य सबको प्रकाशित करता है उस प्रकार अग्नि सब पितर आदिकोंको प्रकाशित करे। और उन्नतिके लिये सबसे उत्तम कर्म करावे॥ २३ ॥

जो मनुष्य अग्निकी सुमतिका सर्वत्र वर्णन करता है वह सर्वत्र

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथमृतस्य द्रवित्नुम् ।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ २५ ॥
यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र ।
रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात् ॥२६॥
अन्वग्निरुषसामग्रमक्ख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (सधस्थे सदने) जहांपर सब एकत्रित होकर बैठते हैं ऐसे घरमें (नः श्रुधि) हमारी प्रार्थना को सुन। वह प्रार्थना क्या है यह अगले तीन पादोंसे बतलाते हैं- (अमृतस्य द्रवित्नुं रथं युंक्ष्व) अमृतके बहानेवाले रथको जोड और फिर उस रथ द्वारा (देवपुत्रे रोदसी) देव हैं पुत्र जिनके ऐसे द्यावा पृथिवीको (नः आवह) हमारी तरफ ले आ। और हे अग्नि तू (देवानां माकिः अपभूः) देवों के बीचमेंसे कभी भी दूर मत हो। देवोंमें बना रह। (इह स्याः) यहां पर हमारे बीचमें भी स्थित हो ॥ २५ ॥

(यजत्र) हे यजन करने योग्य (अग्ने) अग्नि ! (यत्) जब (एषा समितिः) यह जन समाज (देवेषु) देवजनों में (देवी) दिव्य गुणोंवाला व (यजता) यजनीय (भवाति) होवे, (च) और (यत्) जब हे (स्वधावः) अन्न देनेवाले अग्ने ! तू (रत्नानि विभजासि) रत्नोंको बांटे, तब (अत्र) यहांपर (नः) हमारे लिए (वसुमन्तं भागं) प्रभूतधनयुक्त भाग (वीतात्) दे ॥ २६ ॥

प्रसिद्ध होकर धनधान्य पशु वाहनादिसे संपन्न हुआ हुआ बल व पराक्रम से युक्त होकर बहुत समयतक जीवित रहता है ॥ २४ ॥

हे अग्नि ! हम सब द्वारा मिलकर की गई प्रार्थनाको सुन। वह प्रार्थना यह है कि तू अमृतके बरसाने वाले रथमें द्यावापृथिवीको बिठला कर हमारे पास ले आ। अर्थात् वर्षादि के देने द्वारा उन्हे हमारे अनुकूल कर। तू हमारे बीचमें तथा देवोंके बीचमें बना रह ॥ २५ ॥

हे अग्नि ! जब हमारा जनसमुदाय दिव्य गुणोंवाला व पूजनीय बने तब उसे, तू नाना रत्नों को बांट और उस समय हमें प्रभूत धनधान्यसे युक्त कर। (ऋ० १०।१० सूक्त समाप्त) ॥ २६ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥
प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ २८ ॥
द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा ।

अर्थ— (प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान करानेवाले (अग्निः) अग्निने (उषसां अग्रं) उषा की उत्पत्ति व (अहानि) दिनोंको (अनु अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । वह अग्नि (सूर्यः) सूर्यरूप हुआ (उषसः अनु, रश्मीन् अनु, द्यावापृथिवी अनु) उषाओंमें, रश्मियोंमें तथा द्यावापृथिवीमें अनुकूल रूपसे (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् उषामें भी सूर्य रहता है, किरणों में भी रहता है और द्यावापृथिवीमें भी रहता है ॥ २७ ॥

[मंत्रका पूर्वार्ध पूर्व मंत्रके पूर्वार्ध के समान है । अतः उसका अर्थ वही समझना चाहिए । पूर्व मंत्रके 'अनु' पदके स्थानपर यहां पर 'प्रति' यह पद आया है । अतः यहांपर (प्रति अख्यत्) का अर्थ करना चाहिए प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्ध किया है । शेष अर्थ समान है । उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है] उस अग्निने (सूर्यस्य रश्मीन्) सूर्य की किरणोंको (पुरूधा) बहुत रूपों से (द्यावापृथिवी प्रति, प्रति आततान) द्युलोक व पृथिवी लोकके प्रति अर्थात् द्यु व पृथिवीमें प्रत्यक्षतया फैला रखा है ॥ २८ ॥

(प्रथमे) मुख्य वा प्रसिद्ध, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाले (द्यावा क्षामा) द्यु और पृथिवी (ऋतेन) सत्यद्वारा अथवा यज्ञद्वारा (ह) निश्चयसे (अभिश्रावे भवतः) सुनने लायक अर्थात् प्रसिद्धिवाले

भावार्थ— अग्नि पहिले उषा व तदनन्तर दिनको प्रकट करता है । वही सूर्य रूपसे उषा, किरण तथा द्युलोक व पृथिवी लोकमें प्रविष्ट हुआ हुआ है । अग्नि ही इन सबमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रविष्ट हुआ हुआ है । वस्तुतः सूर्यादि अग्नि के ही स्वरूप हैं । ये अग्निसे भिन्न नहीं ॥ २७ ॥

अग्निने उषा व दिन बनाकर सूर्य की किरणोंको द्यु व पृथिवी लोकमें फैला रखा है । सर्वत्र प्रकाश कर रखा है ॥ २८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन् ॥२९॥
देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥३०॥
अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे ।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥३१॥

(भवतः) बनते हैं (यत्) जब कि (होता) दानी (देवः) प्रकाशमान अग्नि (मर्त्यान्) मनुष्योंको (यजथाय) यज्ञके लिए (कृण्वन्) प्रवृत्त करता हुआ (स्वं असुं) अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत्) बैठता है ॥ २९ ॥

(प्रथमः) प्रसिद्ध वा मुख्य, (चिकित्वान्) ज्ञानवान् (देवः) प्रकाशमान हे अग्नि ! तू (देवान् परिभूः) देवोंको चारों ओरसे व्याप्त करता हुआ (ऋतेन) यज्ञ द्वारा (नः हव्यं वह) हमारे हव्यका वहन कर। [उत्तरार्ध से उस अग्निके गुण वर्णन करते हैं।] (धूमकेतुः) धुंआ है झंडा -ध्वजा- जिसकी ऐसा अथवा जो धुंएसे जाना जाता है- [यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः- अर्थात जहां जहां धूंआ है वहां वहां वह्नि है, यह व्याप्ति लोकप्रसिद्ध ही है,] और जो (समिधा) काष्ठ आदि अग्नि प्रज्वलित करनेके साधनोंसे (भा ऋजीकः) अत्यन्त प्रकाशवाला, (मन्द्रः) आनन्द देनेवाला, (होता) दान आदान करनेवाला, (नित्यः) नित्य, तथा जो (वाचा) वाणीद्वारा (यजीयान्) पूजनीय अर्थात् स्तुति करने लायक है ऐसा अग्नि हव्यका वहन करे ॥ ३० ॥

(घृतस्नू) जल बरसानेवाले (द्यावाभूमि) द्यावापृथिवी ! (अपः वर्धाय) जल की वृद्धिके लिए (वां) तुम दोनों की (अर्चामि) पूजा करता हूं। (रोदसी) हे द्यावा पृथिवी ! (मे शृणुतं) मेरी इस

भावार्थ- जब अग्नि मनुष्योंको यज्ञके लिए तैयार करके स्वयं जनके सन्मुख बैठता है तब यज्ञ द्वारा द्यु व पृथिवी प्रसिद्धि पाते हैं। (ऋ० १०। १२) ॥ २९ ॥

हे नाना महिमावाले अग्नि ! तू हमारे लिए ग्राह्य पदार्थोंका नित्य प्रति वहन करता रह ॥ ३० ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

सुगंधित धूप

सब प्रकारके सुगंधित धूप, अगरबत्तियां, धूपकी टिकियां, धूपबत्तियां हमारे पास मिलती हैं।

सुगंधशाला, डा० किन्ही (जि. सातारा)

The Vedic Magazine

The only Journal in English which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas in all climes and countries. It is the only organ of the Arya Samajic world which carries the message of the Arya Samaj beyond the seas. Indian emigrants from Non-Hindi-knowing Provinces of India, e. g., Madras, Mysore, Andhradesh, Burma, etc. etc., can remain in contact with Aryan thought through this monthly. The contents of the Magazine have always been highly spoken of by men and women of light and leeding.

Conductd by Prof. Ramdev, Principal & Governor, Gurukula Kangri.

Subscription Rs. 5 only in advance.

Manngar 'The VEDIC MAGAZINE'

P. O. GURUKULA KANGRI.
(Dist. Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥) रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करने के लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगा मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय एक आना।

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B.1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[११ से ११]	११	११२'१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७।) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०६]	१०	१०००	५॥)	१)

कुल मूल्य ५७॥।) कुल डा. व्य.१०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ४
क्रमांक १४८

चैत्र
संवत् १९८९
अप्रैल
सन १९३२

वैदिक धर्म।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १३
अंक ४
क्रमांक १४८

चैत्र
संवत् १९८९
अप्रैल
सन १९३२

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय ≡)वी. पी. से ।॥=)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B.1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
एक जाति।			३६		
३ अथर्ववेदका स्वाध्याय।			११३		
४ श्रीमद्भगवद्गीता।			३०५		

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं। प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनपर भी मूल्य केवल १) है और डा-व्य.।-) है। जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है। भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते। परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है। इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपने पास रखे। मूल्य केवल ।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ४
क्रमांक
१४८

चैत्र
संवत् १९८९
अप्रैल
सन १९३२

वैदिक धर्म।

एक वेद कुछ यज्ञ

वैदिक-तत्त्व-ज्ञान-प्रचारक-मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

विद्यादेवी।

प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
धीनामविट्र्यवतु॥

ऋग्वेद ६।६१।४

(सरस्वती देवी) विद्यादेवी (वाजेभिः वाजिनीवती) अनेक बलोंसे युक्त होनेके कारण महा बलवती और (धीनां अवित्री) हमारी बुद्धियों की रक्षा करनेवाली है, अतः वह सदा (नः प्र अवतु) हमारी उत्तम रक्षा करे॥

विद्यादेवी के पास अनेक प्रकार की शक्तियां हैं। जो ज्ञानी होता है, उसको ये शक्तियां प्राप्त होती हैं, अतः मनुष्य विविध विद्या प्राप्त करे और समर्थ बने। विद्यासे अन्नादि अनेक भोग भी प्राप्त होते हैं, अतः मनुष्य विद्या प्राप्त करके ऐहिक अन्नादि भोग भी बढावे। विद्यासे धी अर्थात् मनुष्यों की प्रज्ञा और कर्म शक्ति की रक्षा होती है, मनुष्यों की बुद्धि विकसित होती है और उनकी कर्मशक्ति भी वृद्धिंगत होती है। विद्याका ऐसा विलक्षण सामर्थ्य है। अतः यह विद्या हम सबको प्राप्त हो और उस विद्याके द्वारा हम सबकी यथायोग्य रक्षा होवे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

एक देव, एक वेद और एक जाति।

(तृतीय लेख.)

एक नेर '।

अंक पृष्ठसंख्या।

पिछले दो लेखों में 'एक देव और अनेक देव' के संबंध में विचार किया गया। इस लेख में 'एक वेद और अनेक वेद' के संबंध में विचार करना है। एक देव और अनेक देव के वाद के समान ही एक वेद का वाद असमंजस के कारण उत्पन्न किया गया है। जब यह ज्ञान हो जावेगा कि एक वेद किसे कहते हैं और अनेक वेद क्या हैं, तब यह विवाद ही न रहेगा—

एक एव पुरा वेदः ॥ श्रीमद्भागवत

सभी लोगों को विदित है कि मूल एकही वेद था और यज्ञ-प्रक्रिया की सुविधा और अध्ययन के सौकर्य के लिए श्री व्यासजीने उस के चार भाग किये। यह बात सब इतिहास-पुराणों में आई हुई है। यदि एक वेद के चार भाग किए और अध्ययन करनेवालों की सुविधा के लिए उसके और भी उप-विभाग किए तो उसमें दोष क्या होता है सो समझ में नहीं आता।

प्रत्येक संहिता और ब्राह्मण मिलकर चौदा हजार श्लोकों का ग्रंथ होता है। चार वेदों में से प्रत्येक की चौदह हजार श्लोकसंख्या ली जावे तो सब मिलकर छप्पन्न हजार श्लोकसंख्या होती है। प्राचीन काल में द्विज वेदों का पठन करते थे। वाचक स्वयं सोच सकते हैं कि छप्पन्न हजार श्लोक मुखाग्र याद करना और उन्हें अवगत रखना कितना कठिन काम है। जब विदित हुआ कि यह रटने का कार्य असंभव है तब श्री वेदव्यासजी ने वेद के चार भाग श्रौतकर्म के अनुसार किए और यह प्रबन्ध किया गया कि छप्पन्न हजार श्लोक एकही मनुष्य याद न कर एक एक चौदह हजार याद करे और ऐसे चार वेदपाठी इकट्ठे होकर श्रौतकर्म किए जांए।

आजकल उत्तर हिन्दुस्थान में "वेदी, चौबे, तिवे, दुबे" नाम के ब्राह्मण हैं। चतुर्वेदी, त्रिवेदी द्विवेदी ऐसे भी नाम हैं। ये नाम स्पष्ट दिखलाते, हैं कि इन ब्राह्मण कुटुंबोंमें चार, तीन और दो वेदोंका अध्ययन हुआ करता था। चार वेदोंका अर्थात् संपूर्ण सांग वेदों का अध्ययन अत्यन्त कठिन और उसे कायम रखना उससे भी कठिन है। इसीलिए आगे चलकर लोगोंसे इसका होना असंभव होगया और इसी गरज से एक वेद के चार विभाग करना आवश्यक जान पडा। परन्तु ऐसा करने से वेदोंकी मन्त्रसंख्या न तो बढी और न घटी। इसे सिद्ध करने के लिए अपन दो एक उदाहरण लेंगे। व्याकरण एक शास्त्र है। अध्ययन की सुविधा के लिए उसके नामविचार, क्रियाविचार, उपसर्गविचार और निपातविचार या इन्हीं के समान कितने भी विभाग क्यों न किये जांय, उससे व्याकरणशास्त्र में यत्किंचित् भी फरक नहीं होता। इसी व्याकरण का एक भाग है संधि-विचार। इस विभाग के स्वर-संधि, व्यंजनसंधि और विसर्ग-संधि नाम के उप-विभाग किए जावें तो उससे मूल संधिविभाग में और व्याकरणशास्त्र में तनिक भी भिन्नता नहीं उत्पन्न होती। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों के बारे में समझना चाहिए। अध्ययन सुकर करने के लिए विभाग करना और प्रकरण बनाना आवश्यक ही है। कितने भी प्रकरण और उप-प्रकरण बनाने से मूलशास्त्र का काया-पलट नहीं होता। यदि अन्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भिन्न भिन्न शास्त्रों के अलग अलग प्रकरण बनाने से मूलशास्त्रका एकत्व नष्ट नहीं होता, तो व्यासजी के एक वेद के चार प्रकरण बनाने से वेद में क्या फरक होना संभव है ?

मूल जो एक वेद था, उसमें जितने मन्त्र थे, वे सब इन चार संहिताओं में प्रकरणशः विभक्त किए गए हैं। इस प्रकार प्रकरणशः विभाग करना बुरा नहीं है किन्तु वह एक गुणही है। मूल एक वेद में कुछ मंत्र देवों का वर्णन करनेवाले, कुछ यज्ञ का उपदेश देनेवाले, कुछ उपासना में उपयोगी होनेवाले और कुछ आत्मज्ञान देनेवाले मन्त्र थे। एक वेद में जब ये मन्त्र थे तब ये चारों प्रकरण के मंत्र इकट्ठे मिले हुए थे। श्री व्यासजीने ये चारों प्रकरण के मन्त्र प्रकरणशः विभक्त किए और उनमें से प्रत्येक प्रकरण को ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ऐसे नाम दिए। ऐसा करने से होता के मंत्र ऋग्वेद में संग्रहीत हुए, अध्वर्यु के आवश्यक मन्त्र यजुर्वेद में संग्रहीत हुए, उद्गाता के आवश्यक मन्त्र सामवेद में आए और ब्रह्मज्ञान का उपदेश करनेवाले मंत्र अथर्ववेद में इकत्रित किए गए। इस वर्गीकरण की ओर ध्यानपूर्वक देखनेसे विदित होगा कि इससे मूल एक वेदमें कुछ भी भेद नहीं हुआ। इसीका और भी प्रत्यंतर देखिए-

आजकल माना जाता है कि चार वेद भिन्न भिन्न हैं। परन्तु इसका कारण लोगोंका वेदसंबंधी अज्ञान है। "सामवेद" तीसरा वेद है। परन्तु उसमें ऋग्वेद के ही सब मन्त्र गायन के लिए ताल सुरमें बैठाले गए हैं।

या ऋक् तत्साम। छा. उ. १।३।४

"जो ऋचा (ऋग्वेद का मन्त्र) है, वही साम है।" इस वचन से स्पष्ट होगा कि सामवेद ऋग्वेद के ही मंत्रोंसे बना है। फरक केवल यही है कि ये मन्त्र गायन के लिए तालसुरमें बैठाले गए हैं। ऋग्वेद के मंत्र यदि तालसुर में गाए जांय तो उससे मंत्रों में भिन्नता कैसे होगी? सामवेद में करीब देड हजार मंत्र हैं। उनमें से केवल सत्तर मंत्र अभीतक ऋग्वेदमें नहीं मिले। अन्य सब मन्त्र जैसे के वैसेही ऋग्वेदमें हैं। जो मंत्र अब तक नहीं मिले वे संभवतः पाठभेदसे ऋक्शाखाओं में मिल भी सकते हैं। अतः यह स्पष्ट होगा कि सामवेद और ऋग्वेद वस्तुतः एकही हैं। अब बचे ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। यजुर्वेद में दो हजार और अथर्ववेद संहिता में छः हजार मंत्रसंख्या है। इसमेंसे एक तृतीयांश मंत्रसंख्या ऋग्वेदकी है। यजुर्वेद का बचा हुआ भाग यज्ञयागविषयक है और वह गद्यरूपमें है। "यजु" शब्द गद्यभागका वाचक समझा जाता है। यजुर्वेद का बहुतेरा छन्दोभाग ऋग्वेद का और बहुतेरा गद्य भाग यजु है। अथर्ववेदमें ऋग्वेद के मन्त्रों के सिवा जो दूसरा भाग है वह बहुतेरा अपनी अन्तःशक्ति का वर्णन करनेवाला आध्यात्मिक स्वरूप का है। इन बातोंका विचार करनेसे स्पष्टतया दीखने लगता है कि छंदोबद्ध मन्त्र भाग के दोही मुख्य विभाग ऋक् और अथर्व हैं। इस प्रकार विषय के अनुसार छाननी करें तो वेदके दोही मुख्य भाग होते हैं। वे हैं कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग, ये मुख्यतः उपरोक्त भाग में दिखलाए गए हैं।। श्री व्यासजीने एक वेदके चार वेद किए परन्तु उन्होंने उस वेदका स्वरूप नहीं बदला। उक्त बातोंसे यही सिद्ध होता है। साथही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन के सुभीते के लिए इस प्रकार के विभाग करें तो उससे किसीभी प्रकार हानि नहीं नहीं हैं।

विषय समझने के उद्देश्य से अब अपन देखें कि आजकल के इन चार वेदों का विषय क्या है। ऋग्वेदमें देवतावर्णन है। इस वर्णन का मुख्य उद्देश यही है कि देवताके गुणोंका वर्णन पढकर मनुष्य वे गुण अपनेमें लानेकी चेष्टा करें। इन्द्र की शूरता-वीरता का वर्णन पढकर क्षत्रिय शूर बनें, ब्रह्मणस्पति आदि का वर्णन पढकर ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी हों और अन्य देवता के वर्णन से इतर जन अपना आदर्श निश्चित करें। इन सूक्तोंमें देवतावर्णन के बहाने, वेद मनुष्यों के सन्मुख भारी पवित्र आदर्श को रखते हैं। इसकी ओर देखकर मनुष्य अपनी उन्नतिका मार्ग निश्चित करें। इसलिए यदि ऋग्वेद

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

को " आदर्श विचारों का वेद " कहें तो वह योग्य ही होगा।

यजुर्वेद आरम्भ ही से अर्थात् पहले मन्त्रसे " प्रशस्ततम कर्मका उपदेश " देता है। इसलिए इसे 'कर्मवेद' यह अन्वर्थक नाम है। सामवेद उपासनावेद है और अथर्ववेद ब्रह्मज्ञान का वेद होनेके कारण उसे 'ब्रह्मवेद' भी नाम है। इससे चारों वेदों के उद्देश्य ध्यान में आजावेंगे।

ऋग्वेद	सुविचारजागृति	सुविचारवेद
यजुर्वेद	सत्कर्मप्रेरणा	सत्कर्मवेद
सामवेद	सदुपासना	उपासनावेद
अथर्ववेद	ब्रह्मज्ञान	ब्रह्मवेद

इन चार वेदोंके चार साध्य हैं यथा सुविचार, सत्कर्म, सदुपासना और ब्रह्मज्ञान। सुविचार की नीव परही सत्कर्म स्थित है, सत्कर्म करनेपर चित्त-शुद्धि होकर सद्वस्तु की उपासना होना सम्भव होता है और सबकी परिसमाप्ति ब्रह्मज्ञान या आत्म ज्ञान होनेही में है। इसका विचार करनेसे विदित होता है कि धार्मिक लोगोंकी आकांक्षाएं इन वेदों-द्वारा क्रमसे किस प्रकार तृप्त की जाती हैं और इस प्रकार उनकी क्रमशः उन्नति कैसे हो सकती है। मनुष्यका अन्तिम साध्य आत्मज्ञान है और उसकी सिद्धि के लिए सद्विचार, सत्कर्म और सदुपासना की अत्यंत आवश्यकता है। यदि यह क्रम छोड दिया जाय तो अन्तिम साध्य प्राप्त न होगा और अन्तिम ध्येय प्राप्त करने के लिए इस क्रम का अवलंब करना आवश्यक है। इससे स्पष्ट होता है कि एक वेद के चार विभाग करके जो योजना की गई है वह अपूर्व है और साथ ही हेतु-पूर्ण भी। इस योजना से यत्किंचित् भी बिगाड नहीं हुआ, अपितु धर्ममार्ग से उन्नत होनेवालों को बडा सुभीता हुआ है। जो लोग बकते हैं कि "एक वेद चाहिए और चार वेद नहीं" उन्हें वेद की बिलकुल ही इच्छा नहीं रहती, परन्तु कुछ न कुछ बहाना ढूंढकर उन्हें लडाई की इच्छा रहती है। यदि यह नहीं तो बतलाए कि जिन्हें धर्म की चाह है उनकी उक्त विभागों से क्या हानि होती है? जिन्हें केवल झगडाही बढाना है उन्हें किसी प्रकार युक्ति-युक्त भाग करने से भी संतोष न होगा। इसका कारण उनकी वक्र मनोभूमिका स्पष्ट ही है।

एक वेद के चार वेद हो जाने से मन्त्र बढे भी नहीं और न घटे ही हैं। यह बात ही नहीं है कि एक वेद होता तो मन्त्रसंख्या कम होती और चार वेद होजाने के कारण वह बढ गई है। चार वेद करने से यही हुआ कि जो कुछ मन्त्र थे वे भिन्न भिन्न प्रकरणों में बंट गए। इसलिए एक वेद और चार वेद वस्तुतः एक ही हैं; स्वरूपतः उनमें कोई भी भेद नहीं। ऐसी दशा में लिखे पढे लोग यह फजूल का विवाद उठाकर कलह बढाते हैं। इसका जितना आश्चर्य करें थोडा ही है!

ऊपर दिखाया गया है कि चार वेदों का आदर्श सद्विचार, सत्कर्म, सदुपासना और ब्रह्मसाक्षात्कार है। अर्थात् चारों वेदों का उपदेश मिलकर 'मनुष्य-धर्म' बनता है। इनमें से एक भी वेद को अलग करें तो उससे मनुष्य धर्म खण्डित होगा। उक्त चार बातों में से एक भी ऐसी नहीं जिसे छोड सकते हैं। तब फिर इस कहने का मतलब ही क्या कि 'चार वेद नहीं चाहिए?' ये लोग यह भी तो बतला दें कि इन चार बातों में से इन्हें कौनसी चाहिए!!

मनुष्य में प्रथम विचार उत्पन्न होता है। इस विचार में सत् और असत् भेद होता है। इनमें से असद्विचार त्यागकर केवल सद्विचार ही अंतःकरण में रखने पडते हैं। यह काम वेदों के सूक्त करते हैं। सूक्त का अर्थ है " सु + उक्त, सुभाषित, सुवचन, सुविचार। " विचार के आगेकी सीढी कर्मकी है। इस कर्मके भी दो भेद हैं यथा सत् और असत्। प्रशस्त कर्म ही करने चाहिए और अप्रशस्त त्यागने चाहिए। यह काम कर्मवेद अर्थात् यजुर्वेद करता है। इस कर्मवेद को 'अध्वर-वेद' भी कहते हैं। " ध्वर " याने हिंसा जिसमें नहीं है उसे अध्वरवेद कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्मका अन्तिम साध्य 'अहिंसा' है। इस प्रकार जब ये दो वेद मनुष्य के विचारक्षेत्र

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

और कर्मक्षेत्र में शुद्धि कर चुकते हैं तब ईश-उपासना, ध्यान, धारणा आदिके द्वारा आगे की सीढी प्राप्त करना और अन्त में ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेना क्रमप्राप्त ही है। यदि मनुष्य की आकांक्षाओं का विचार किया जावे तो दिखेगा कि चार वेदोंने जो मार्ग निश्चित किया है वह सीधा और युक्तियुक्त है और इस मार्गके लिए किसी का भी विरोध होना संभव नहीं। परन्तु हम लोगोंमें आज कल ऐसे सैतानों के लाल उत्पन्न हुए हैं कि उन्हें चार वेदों द्वारा निश्चित किया हुआ यह मार्ग पसंद नहीं है और उन्हें एकही वेद भगडा भर करने के लिए चाहिए। इन्ही की जानकरी के लिए हम कहते हैं कि मूल का एक वेद भी लें तो उसमें भी ये सीढियां हैं ही। उन्हें तो छोडही नहीं सकते।

इससे वाचकों को स्पष्ट होगा कि जो कार्यक्रम चार वेदमन्त्रोंने हमारे सन्मुख रखा है वह सीधा और मनुष्य की उन्नति का साधक ही है। वही शास्त्रशुद्ध भी है। किसीभी मनुष्य को यदि उन्नति चाहनी है तो उसके लिए सद्विचार और सत्कर्म अनावश्य नहीं माने जा सकते। अतएव इन वेदोंके अनावश्यक बतलाना केवल अपना खुद का अज्ञान जाहीर करना है।

यह कह देना आवश्यक है कि आजकल एक वेद के चार विभागों के अनुयायी अपनेको भिन्न समझते हैं। ऋग्वेदी स्वतःको यजुर्वेदीसे भिन्न समझते हैं, सामवेदी और अथर्ववेदीभी अपनेको पृथक् पृथक् मानते हैं। परन्तु इन अनुयायियों का गाढ अज्ञान है। यदि इन्हें अपनी यज्ञप्रक्रिया तनिक भी समझी होती, तो अपने को आपस में कभी भी पृथक् न मानते। किसीभी यज्ञ को लीजिए। उसमें चारों वेदों का ऐसा अभेद्य मिश्रण है कि उसे देखकर यही स्पष्ट होगा कि चारों वेद एकही यज्ञपुरुष ब्रह्मा के चार मुख हैं। कोई भी यज्ञ क्यों न हो, वह चारों वेदों के मन्त्र प्रयुक्त हुए बिना पूर्ण और सांग नहीं होता। अपना रोज का साधारण दैनिक कर्म जो संध्या वह भी केवल एक वेद के मंत्रों से नहीं होता। आजकल ऋग्वेदी, यजुर्वेदी आदि भिन्न मानी गई संध्याओंमें चारों वेदों के मंत्र हैं। संध्या करनेवाले इस बात को न जानते होंगे पर यह बात सूर्यप्रकाश के सदृश स्पष्ट है। इससे स्पष्ट होता है कि चारों वेदों के मन्त्रों को बिना लिए कोई भी वैदिक कर्म नहीं होता। इस वैदिक परंपरा को देखने से विदित होगा कि ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी, और अथर्ववेदी भिन्न भिन्न नहीं हैं किन्तु वे चारों वैदिक यज्ञ के अवयव हैं। इन चारों में से यदि एक भी नहीं है तो यज्ञ सांग नहीं होगा। चार भेद केवल अध्ययन की सुविधा के लिए किए गए हैं। अतएव उन्हें एक दूसरे से बिलकुल भिन्न समझना अयोग्य है। यदि आजकल के कोई वैदिक ऋग्वेदी स्वतः को यजुर्वेदियों से भिन्न समझते हों तो उनकी जिस प्रकार भूल होगी वैसी ही भूल उन अन्य लोगों की होगी जो इन्हे भिन्न समझते हैं।

होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार यज्ञ के ऋत्विज् हैं। यज्ञ-पुरुष के ये चार मुख हैं और इन चार मुखों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद क्रमसे रहते हैं। (चतुर्मुखी ब्रह्मा) ये ब्रह्मा के चार मुख हैं। लोगों में जो कल्पना प्रचलित है और पुराणों में भी जो उल्लिखित है कि ब्रह्मा के चार मुखों से चार वेद निकले, वह यज्ञ का रूपक है। यज्ञ-पुरुष के चार मुख पूर्वोक्त ऋत्विज हैं और हर एक मुख में एक एक वेद विद्यमान है। यह चतुर्मुखी ब्रह्मा जिस प्रकार पहले था वैसा ही वह अब भी प्रत्येक यज्ञकर्म में दीख पडता है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

ऋ० १०।९०।९; यजु० ३१।७; अथर्व.१९।६।१३

"उस यज्ञ से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और (छन्द) अथर्ववेद प्रकट हुए।" वेद-मन्त्रों में जो कहा गया है कि यज्ञ से चार वेद प्रकट हुए, और पुराणों में कहा गया है कि चतुर्मुख ब्रह्मा से चार वेद प्रकट हुए, उसका अर्थ इस प्रकार का है। जो लोग ब्रह्मा को चार मुखवाला मनुष्य समझते हों वे निश्चय से इस रूपक को नहीं

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

समझे। चार ऋत्विजों में ब्रह्मा मुख्य है। अतएव उसका एक मुह और होता- अध्वर्यु-उद्गाता ये तीन मुह उसी को लगे हुए हैं, इस प्रकार का वर्णन अयुक्तिक नहीं है। वह काव्यमय वर्णन है। ब्रह्मा नाम का ऋत्विज यज्ञ के सब विघ्नों को दूर करता है। वही सब को निर्दोष बनाता है। इससे वही सब में मुख्य है। देखिए—

मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा। श० ब्रा० १४। ६। १। ७
ब्रह्मा यज्ञं... गोपायति। श० ब्रा० १२।६।१।३८
ब्रह्मा वा ऋत्विजां भिषक्तमः॥ श० ब्रा०१।७।४।१९
तस्माद्यो ब्रह्मनिष्ठः स्यात्तं तं ब्रह्माणं कुर्वीत।
गो० उ० १। ३

"ब्रह्मा यज्ञ का मन है। क्योंकि ब्रह्मा यज्ञकी रक्षा करता है। ब्रह्मा सब ऋत्विजोंमें अधिक से अधिक विघ्न दूर करनेवाला है। जो ब्रह्मनिष्ठ होगा उसीको यज्ञमें ब्रह्मा बनाना चाहिए।"

इससे विदित होगा कि यज्ञमें ब्रह्मा नामका ऋत्विज मुख्य है और अन्य तीन उसके आश्रयसे काम करनेवाले हैं। इस ब्रह्माके ये चार मुख हैं और उनमें चार वेद रहते हैं। जिसकी समझ में यह रूपक नहीं आता वह नहीं समझता कि चतुर्मुखी ब्रह्मा कौन है और कैसा है। इसी अज्ञानसे वह मनचाहा बकता फिरता है।

इसी लिए प्रथम इस रूपक को समझ लेना चाहिए और तब जो कुछ समालोचना करनी है सो करना चाहिए। इस प्रकार इस लेखमें बतलाया कि चार वेद प्रकट करनेवाला चतुर्मुख ब्रह्मा कौन, उसके चार मुखों में चार वेद किस प्रकार हैं, वे उसके पास कैसे रहते हैं और ये चारों वेद मिलकर एकही वेद किस प्रकार है। अब 'एक जाति' का विचार करेंगे।

एक जाति।

पिछले लेखोंमें 'एक देव और एक वेद' का विचार किया, अब 'एक जाति' का विचार करेंगे। "अपने भारतवर्षमें अनेक जातियां हैं, इसीलिए हमारी अवनति हुई है। इन सब जातियोंको तोडकर यदि एक जाति की जावे तो सम्पूर्ण देश उन्नतिके शिखरपर पहुंचेगा।" यह कथन कहांतक सत्य है इसका विचार विस्तारसे करना होगा। क्यों कि अकेले महाराष्ट्र ही में इसका प्रयत्न नहीं हो रहा है किन्तु पंजाबमें भी 'जातपात तोडक मण्डल' स्थापित हुआ है और पिछले सात आठ वर्षोंमें उसका कार्य चल रहा है। ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज संस्थाओं का मत है कि जातिभेद नष्ट किया जाय और सब मानवोंकी एक जाति मानी जाय। पंजाबमें देवसमाज नामक एक समाज २५।३० वर्षों से जातिभंजन का कार्य कर रहा है। समाजसुधारकों में जो कट्टर हैं वे भी यही कहते हैं कि जातियां तोडनी चाहिए। आर्यसमाज विविध जातियों को नहीं मानता पर वह चार वर्णोंको मानता है। उसका धर्मसिद्धान्त है कि अन्तमें चार वर्ण कायम रखना अतएव उसे जाति-भंजकों में नहीं गिन सकते। इस प्रकार इतने लोग और इतनी संस्थाएं जातियों को तोडनेके लिए पचीस-तीस या इससेभी अधिक वर्षोंसे कार्य कर रहे हैं। इतनी कोशिश के बादभी यह नहीं दिखता कि हिन्दुओंकी जातियां कम हुई हैं। किंबहुना उक्त जातितोडकों की नवीन जातियां बनकर जातियोंकी संख्या बढी है। और जातिद्वेषभी बढ रहा है। यह है जातितोडकों का हाल। इन जातितोडकों में बहुतसे लोग विद्वान् एवं विचारी हैं, अतः वे जो कुछ कहते हैं उसपर सब लोगोंको शांत चित्तसे विचार करनेकी अवश्यकता है।

स्वाभाविक जातिभेद।

सर्व प्रथम यह देखना चाहिए कि जातिभेद कृत्रिम है या स्वाभाविक। परमेश्वरकी सृष्टिमें जाति-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भेद है या नहीं? या वह भारतवर्षके लोगोंने ही उत्पन्न किया है? इसका विचार करनेके लिए देखना होगा कि मनुष्येतर सृष्टिमें जातिभेद है या नहीं। यदि मनुष्येतर सृष्टिमें जातिभेद दिखाई दिया तो वह हिन्दुओंका बनाया न होनेके कारण स्वाभाविक कहा जा सकता है। और यदि मानवेतर सृष्टिमें जातिभेद न हुआ तो मनुष्योंके जातिभेद की मीमांसा भिन्न दृष्टिसे करनी होगी।

मानवेतर सृष्टिमें जैसे पशुपक्षी, कीडे-मकोडे, अन्य सूक्ष्म जंतु आदि सब प्राणिवर्ग आता है वैसे ही वृक्ष, वनस्पति, कृष्ट और अकृष्ट धान्य आदि वानस्पत्य वर्ग और विविध धातु आदि खनिज वर्ग भी आता है; यहां अपने को विचार करना है कि संपूर्ण मानवेतर सृष्टि में जातिभेद है या नहीं। प्रथम अपन बिलकूल जड मानी गई खनिज वस्तुओं का विचार करेंगे—

सोना, चांदी, तांबा आदि अनेक धातुएं हैं। इन के सिवा अन्य भी कई खनिज पदार्थ हैं। इस प्रत्येक खनिज पदार्थ की जाति अलग है। बाजार में निर्मल, शुद्ध जाति क पदार्थ की कीमत अधिक है संकर हुए अर्थात् मिलवां पदार्थ की कीमत कम है। सौ नंबर के या बावन कसी सोना जिस कीमत में लिया जाता है उस कीमत में मिलवां सोना कोई नहीं लेता। यदि केवल सोना, चांदी, तांबा और लोहा येही धातु लें तो मालूम होता है कि उसमें स्पर्शास्पर्श विचार भी है। लोहेपर एकदम सोने का मुलम्मा नहीं चढता। लोहेको अपन यदि अन्त्यज समझें तो ब्राह्मण जैसे अन्त्यज को छीता नहीं वैसे ही सोना लोह को नहीं छीता। लोहे पर यदि सोने का मुलम्मा करना हो तो पहले तांबे की सतह उसपर चढानी पडती है तब उसपर सोने का मुलम्मा होता है। सोने के एकजीव जलश्रित मिश्रण में यदि लोहेके मिश्रण का एक बुंद गिर जाय तो उस मिश्रण से सोना अलग हो जाता है। इस प्रकार का यह जातिभेद और जातियों का परस्पर झगडा इन खनिज पदार्थों में है। यह इन जातियों का स्वभावधर्म है और उसे किसी भी हिन्दुने उत्पन्न नहीं किया है। परमेश्वर ने या निसर्गने ही यह भेद रखा है।

वनस्पतिवर्ग।

अब वनस्पति वर्ग का जातिभेद देखें। वनस्पति वर्ग में वृक्ष और लता ये दो मुख्य भेद दिखते हैं। लताओं की गणना वृक्षोंसे भिन्न की जाती है अर्थात् इस वर्ग में दो मुख्य जातियां दिखाई देती हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि जितने वृक्ष हैं सब एकही जातिके हैं। इनमें भी आम, जामून, बड, पीपल, चंदन, खैर आदि सैकडों जातियां हैं। जातिविध्वंसक यदि निश्चय भी कर लें कि हम इन जातियों का विनाश करेंगे, तब भी उनका नाश नहीं हो सकता। यदि कोई इन वृक्षों की अनेक जातियोंका नाश कर भी सका और सबकी केवल एक ही जाति बना सका तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी। इन विविध जाति के वृक्षोंकी नरम, कडी, चिकट लकडी और उनके विविध प्रकार की रुचि के फल इन सब से मनुष्य का जीवन सुखमय हुआ है। यदि वृक्षोंकी ये विविध जातियां नष्ट की गईं और ऐसा प्रबन्ध किया गया कि सम्पूर्ण पृथ्वी के ऊपर एकही प्रकार के वृक्ष ऊगें, तो वनस्पति का जातिभेद मिट जायगा सही, परन्तु उससे मनुष्य का सुख अवश्यही घट जावेगा।

आम, कटहर आदि वृक्षों की जो जातियां कहीं गईं हैं, उन में भी और उपजातियां हैं। एक आम की ही जाति ली जावे तो उसमें सौ, दो सौ उपजातियां रुची, रंग, फलका आकार और रस की घनता के कारण बनी हुई दिखाई देंगीं। भीतर का रस पतला या गाढा होना या काटकर खाने योग्य होना, उनमें से हरएक में शेप वास होना या न होना इत्यादि भेदों के कारण आम की जाति में सौ दो सौ उपजातियां बनी हैं। इसी प्रकार अनेक जाति के वृक्षों में हरएक में कम-ज्यादा उपजातियां हैं। इसी प्रकार लताओं और पौधों में भी हैं। वृक्षवनस्पतियों की मुख्य जातियां हजारहां हैं और उन में से हरएक की उपजातियां भी सैकडों हैं। इन में से हरएक की वर्गवारी की जावे तो कुल संख्या

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

लाखों तक पहुंचेगी। ये सब जातियां हिन्दुओं की बनाई नहीं हैं, वे स्वाभाविक हैं अर्थात् वे निसर्गकी बनाई हैं।

ये मूल जातियां मनुष्यों ने मूलस्वरूप में न रहने दीं। अपने आप उनमें संकर नहीं होता, पर मनुष्यों ने संकर कराकर और भी जातियां उनमें जोड दीं। आम में कलम करके अर्थात् भिन्न जातियां के विवाह लगाकर नवीन जातियां निर्माण कीं। परन्तु इस प्रकार संकर से उत्पन्न हुई संकर जाति की संतति में तत्सम पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति कम हुई दिखाई देती है। इससे कलमी आम की गोही से पिता की जाति के फल उत्पन्न नहीं होते। कलम न करते हुए याने संकरविवाह न किये जावें और स्वजातियों में ही इन के विवाह होते रहें तो पिता के गुणों जैसे फल होते हैं। मनुष्योंने वृक्षोंमें संकर जाति निर्माण कर आनुवंशिक संस्कारों से हीन प्रजा निर्माण करना आरम्भ किया। इसीसे बहुत बोध लिया जा सकता है।

यह शंका हो सकती है कि संकर जाति के आम की रुची अच्छी होती है। यह सत्य है। परन्तु एक बार आम के कुल में संकर या व्यभिचारकी आदत पड जावे तो सदैव ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। और ऐसा न करें तो संतति का बल क्षीण होता जाता है और अंतमें वंशक्षय भी होता है। कलमी आम की लकडी में, कडापन, विस्तार आदि सब तरफ से क्षीणता आई हुई होती है। इस प्रकार वंश के आधार की दृष्टि से निःसत्व किन्तु केवल दिखने में और रुचि में अच्छी सन्तति यदि हुई भी, तब भी चार पांच पीढियों में ही वह निर्वंश हो जाती है। संकर या व्यभिचार होने से कुल का ऱ्हास हुआ ही जानना चाहिए। वाचक ही विचार करें कि संकर प्रजासे राष्ट्रपर कैसा भारी भय गुजरता है।

एक ही प्रकार का वृक्ष बगीचे में, पानीवाली जमीन में और मुरमवाली जमीन में यदि ऊगे तो इसकी उपजाती भिन्न और शक्ति भिन्न होती है। मुरमीली निर्जल जमीन में उत्पन्न हुआ बांस और दलदल में उत्पन्न हुआ बांस इन दोनों में जमीन आस्मान का अंतर होता है। यह जातिभेद स्थल के कारण हुआ है। एक ही जातिके आम को उत्तम खातुपानी देकर यदि बढावें तो उसकी बाढ और रुचि में अन्तर पड जाता है। वही यदि साधी जमीन में होवे तो उसकी रुची भिन्न हो जाती है। ये भेद रहन सहन के फरक से होते हैं। इस प्रकार के सब जातिभेदों की गिनती करें तो असंख्य होगी।

वन में जो वृक्ष ऊगते हैं उनका वर्गीकरण कोई नहीं करता। परन्तु बाग में जो वृक्ष और पौधे लगाए जाते हैं उनका वर्गीकरण माली करता है और भिन्न भिन्न वृक्षों को जैसा हवापानी आवश्यक होता है वैसा वह उन्हें देता है। इस वर्गीकरण के कारण और माली की शुश्रूषा के कारण वन के अवर्गीकृत वृक्षों के सदृश भारी और अतिशय बाढवाले वृक्ष उद्यान में नहीं होते, परन्तु जातिभेद को जान बूझकर बढानेवाला और जाति जाति के अनुसार वृक्षोंके खानपान की व्यवस्था करनेवाला कुशल माली अपना काम बुरी तरह से करता है ऐसा तो कोई नहीं कहता। सभी लोग अच्छे उद्यान की प्रशंसा ही करते हैं। निसर्गतः उत्पन्न होनेवाले वृक्षों और वनस्पतियों में जातियां, उपजातियां और संकर जातियां बहुत ही हैं। इनमें से संकर जातियां यद्यपि मनुष्यकृत हैं तब भी अन्य सब निसर्गनिर्मित हैं और वे हिन्दुओं की बनाई हुई नहीं हैं। वृक्षों की जातियों और उपजातियों के संबंध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। पर अब तक जो कुछ लिखा है, उसीसे वस्तुस्थिति वाचकोंपर स्पष्ट प्रकट हो सकती है।

अब पशुपक्षियों की जातियों का विचार करें। यह कहना भारी भूल है कि जितने पशु हैं वे सब एक जाति के हैं और जितने पक्षी हैं वे एक जाति के हैं। पशुओं में घोडा, गाय, बैल, भेड, हाती, ऊंट आदि अनेक जातियां हैं। इसी प्रकार पक्षियोंमें मोर, गरुड, कौआ, गिद्ध आदि अनेक जातियां हैं। पक्षियों में संकर कम होता है और कई पक्षी एक-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पत्नीव्रत आमरणान्त पालन करते करते हैं। प्रथम स्त्री यदि मर जावे तो शेष आयु ब्रह्मचर्य से वे बिताते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण प्रायः इनमें संकर नहीं होता। परन्तु पशुओं का हाल ऐसा नहीं है। पशुओं में मनुष्यों की संगति से बहुत संकर और बहुत व्यभिचार होने लगा है। इसलिए जातियां, उपजातियां और संकरजातियों का झगडा पशुओं में बहुत अधिक है।

घोडा और गधी से खच्चर यह संकर जातिका प्राणि उत्पन्न होता है। परन्तु खच्चर के सन्तति नहीं होती। इससे स्पष्ट होता है कि जात्यन्तर-विवाह का वंशक्षयरूप दुष्परिणाम कैसा और किस सीमा तक होता है। यह अवश्य ही सत्य बात है कि घोडा और गर्दभी से खच्चर बहुत अधिक ताकतवार होता है। परन्तु उसमें घोडे या गधे के गुण नहीं होते और सन्तति निर्माण करने की शक्ति प्रायः शून्य होती है। भिन्न और दूर की जातियों में विवाह यदि होवें तो दोनों ओर वंशक्षय का आरम्भ हुआ ही जानो। चाहे यह वंशक्षय या निर्वंश एक पीढी में न दिखे, चार पांच पीढियों के बाद दिखे। वह होता अवश्य है।

जात्यन्तर विवाह के इस घोर परिणाम को क्षण भर छोड दें और केवल उपजातियों के विवाह का ही विचार करें तो दिखाई देता है कि उससे भी 'गुणों का क्षय' होता जाता है और अन्त में निर्वंश होने की स्थिति प्राप्त होती है। इस संबंध में दो एक उदाहरण देखिए। प्रथम अपन यह देखें कि घोडे की एक जातिकी उपजातियों में विवाह कराने से कौन से इष्ट और अनिष्ट परिणाम होते हैं। घोडे के जाति में अर्वा (अरबी घोडा) और आस्ट्रेलियन ये दो विदेशी उपजातियां मुख्य हैं। अपने देश में भीमथडी, काठेवाडी, पहाडी आदि अनेक जातियां हैं। इन उपजातियों में यदि विवाह कराये जावें तो संकर जाति में मूल माता पिता के गुण संतति में नहीं आते। उत्तमता, ईमानदारी, मालिक के लिए जान देने की तैयारी इत्यादि अत्युच्च गुणों से युक्त अरबी घोडा या अरबी घोडी का संबंध यदि अन्य घोडी या घोडे से कराया जावे तो संकर संतति में अरबी घोडे के गुण नहीं दिखते। अपने घोडों की जाति शुद्ध रखने के लिए अरबस्थान के लोग देश के बाहर घोडे (नर) नहीं भेजते। केवल घोडियां बाहर भेजते हैं। घोडियां बाहर देशमें जाकर यदि विजातीयोंसे व्यभिचार करें भी तो असली सन्तति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः अरबी घोडे अरबस्थानमें ही उत्पन्न होते हैं; वे अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते। इससे स्पष्ट होगा कि अरबी घोडेकी जो विशेषता है वह इसलिए है कि उनकी जाति अबतक शुद्ध है। यदि विजातीय रक्त उनके रक्त में मिला जाय अथवा उनमें संकर होवे तो आज जो अरबी घोडेके गुण दिखाई देते हैं वे न रहेंगे और यदि अरबी घोडेमें संकर हुआ तो उसके लिए आज जो कीमत दी जाती है वह भी न दी जावेगी। अरबस्थान के लोग पूर्णरीतिसे जानते हैं कि अरबी घोडेकी जातिमें उनकी उपजातियों का भी संकर न होना चाहिए। और यह बात जग-जाहिर है कि वे लोग अरबी घोडोंमें जरा भी संकर नहीं होने देते।

कहा जाता है कि हिन्दुस्थान के घोडोंमें यदि बिलकुल नजदीक की उपजाति का मिश्रण हो तो वह अंशतः चलता है। इसका कारण यही है कि यहां के घोडोंमें पहलेहीसे अतीव संकर हो जानेके कारण अरबी घोडोंके सदृश उच्च गुणवाले घोडोंकी जाति ही नहीं रही। यहां भी पहाडी टट्टुओंकी जो जाति है और जिसका उपयोग मराठोंके घुडसवारीमें किया करते थे, उसके संबंध में अनुभव है कि उन घोडोंमें संकर होनेसे पितृवंश के गुण नष्ट हो जाते हैं। सारांश यही की यह अनुभव से सिद्ध हो चुका है कि घोडे की जातिके आनुवंशिक उच्च गुण कायम रखना हो तो उनमें संकर न होने देने चाहिए।

अब कुत्तेकी उपजातियों के संकर का विचार करेंगे। अन्य सब जातियोंमें जिस प्रकार उपजातियां हैं उसी प्रकार कुत्तेकी जातियोंमें भी अनेक उपजातियां हैं। जो लोग कुत्ते पालते हैं वे कुत्तोंकी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उपजातियोंमें संकर नहीं होने देते । शिकारी कुत्ता, बरफमें काम करनेवाला कुत्ता, पानीमें सहायता करनेवाला कुत्ता, केवल पहरा देनेवाला कुत्ता इत्यादि भिन्न भिन्न कार्य करनेवाली कुत्तोंकी अनेक जातियां हैं। यूरोपीयन लोग स्वतः का विवाह करते समय यद्यपि जातपात का विचार नहीं रखते, तथापि वेही लोग पालतु कुत्तेको स्वयंवर नहीं करने देते। वे बडी फिकर करते हैं कि अपना कुत्ता केवल स्वजातीयोंसे अर्थात् स्वकीय उपजातिके कुत्तोंसेही संबंध करे। स्वयं जातिका विचार न कर चाहे जिससे स्वयंवर करनेवाले यूरोपीयन जब अपने कुत्तों को स्वयंवर नहीं करने देते किन्तु यह दक्षता रखते हैं कि वह केवल स्वजातियोंसे ही विवाह करे, तब तो उनका कौतुक ही करना चाहिए !!

कुत्तों की उपजातियोंमें संकर होनेसे कुत्तेके विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं। संकर न हुए शुद्ध वंश के यूरोपीयनोंके पालतू कुत्ते और हिन्दुस्थानके जातिसंकर से उत्पन्न हुए रस्तोंपर भटकनेवाले कुत्ते इन दोनों की तुलना करनी चाहिए। शुद्ध रक्तबीज के युरोपीयन कुत्ते की कीमत छः, छः, या दस दस हजार रुपये तक आ सकती है, परन्तु संकर जातिसे उत्पन्न हुए रास्तोंपर भटकनेवाले हिन्दुस्थानी कुत्तेको कोई मुफ्त भी नहीं लेगा। इसका एकमात्र कारण यही है कि हिंदी कुत्तों की जाति संकर से दूषित हुई है। इस तुलनासे स्पष्ट होगा कि संकरसे कैसे घोर परिणाम होना संभव है।

युरोपीयन लोगोंको यदि शक हो जावे कि उनके कुत्तेने व्यभिचार या संकर किया है तो वे उसे मार डालते हैं। जीवित नहीं रहने देते। उन्हें यही लगता है कि संकर जातिका कुत्ता अपने पास न रहे। कुत्ते की कीमत बढनेके लिए उसके वंशकी शुद्धताही एकमात्र कारण मानी जाती है। जिस कुत्ते का वंश चालीस चालीस पीढियों तक शुद्ध, निर्मल और पवित्र रहा है और जिसकी उतनीहि पीढियों तक जरा भी संकर नहीं हुआ उसी कुत्ते की कीमत छः हजार, या दस हजार रुपये तक आती है। कुत्तोंके वंश शुद्ध रहें इस गरजसे चालीस चालीस पीढियों की वंशावलि के तख्ते तैयार किये जाते हैं। ये सब प्रयत्न इस लिए किया जाता है कि पालतु कुत्तोंमें व्यभिचार, संकर या मिश्रण न होने पावे। क्योंकि संकर होते ही वंशके गुण नष्ट हो जाते हैं, गुण जाते ही कीमत जाती है और वह संकर जातिकी संतति उस विशिष्ट कार्यके लिए निरुपयोगी हो जाती है।

हिन्दुस्थान में भी जो लोग खास शौकसे कुत्ते पालते हैं वे भी यूरोपीयनोंके पाससे पिल्ले लेनेकी ताक में रहते हैं। इसका भी कारण उस शुद्ध वंशमें उत्तन्न हुए कुत्तोंके असाधारण गुणही हैं। हिन्दुस्थानके कुत्तोंकी ऐसी फिकर नहीं की जाती। इस कारण यहां प्रायः सब कुत्तोंकी जातिका संकर हुआ है। और ये कुत्ते किसीभी विशेष कार्यके लिए निरुपयोगी हो गए हैं। यदि उनमें पुनः सुधार करना हो तो उनका संकर नष्ट करनेके लिए और वंशकी शुद्धता प्रस्थापित करनेके लिए कुत्तोंका वर्गीकरण करके उन्हें व्यभिचारसे निवृत्त करना चाहिए ऐसा लगातार करते रहें तो सौपचास पीढियोंके पश्चात् उनमें जिस मात्रामें आनुवंशिक शुद्धता आवेगी, उसी मात्रामें उनके गुणोंका विकास होगा।

इसी प्रकार बिल्ली की आनुवंशिक शुद्धताके विषयमें जानिए। यही बात अन्य प्राणियोंके लिए भी इतनीही सत्य है। सब प्राणियोंमें वंशकी शुद्धतासे गुणोंकी वृद्धि होती है और व्यभिचार से या संकर से गुणोंका क्षय होकर अंतमें निर्वंश होने तक नौबत आती है। अन्य प्राणियोंके समान मनुष्यभी एक प्राणि है। अतः जो बात अन्य प्राणियोंमें दिखाई देती है वही मनुष्योंमें यदि दिखाई देवे तो आश्चर्य की बात नहीं है। सब प्राणियोंमें मनुष्य अत्युच्च प्राणि है। उसकी उच्चता के कारण ही उसके वर्ग और उपवर्ग होना तथा उस संबंधके नियमोंका पालन किया जाना योग्य ही है। ऐसी दशामें हम लोगोंमेंसे कुछ विद्वान् लोग कह रहे हैं कि मनुष्यों में जाति न होना चाहिए और सब मनुष्योंकी मिल-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कर एकही जाति होवे। यही नहीं वे इसीके लिए प्रयत्न भी कर रहे हैं। इसीलिए आवश्यक है कि उनका यह करना कहां तक उचित है सो देखें।

यहांतकके लेखमें दिखलाया गया कि संसारमें कहीं भी 'एक जाति' नहीं है। खनिजसृष्टि, वनस्पतिसृष्टि और पशुपक्षियोंकी सृष्टि इनमेंभी एक जाति नहीं है। मुख्य एक जाति मान लेवें तो गुणधर्म भेदसे उसमें अनंत उपजातियां हुई हैं। मनुष्योंके सन्निद्ध रहनेवाले घोडे, बैल, गाय, बकरी, भेड, कुत्ते, और बिल्लियां इनमेंभी जातियां, उपजातियां और उसकी भी और जातियां अनंत हैं। जातिभेद बिलकुल न माननेवाले यूरोपीयन भी पालतु घोडे, कुत्ते आदि में कट्टर जातिभेद पालन करते हैं! मनुष्योंसे उन्नतिके दर्जेमें बहुत कमी रखनेवाले कुत्तेबिल्लियोंमें यदि वंश शुद्ध रखनेकी आवश्यकता होती है और इस शुद्धता का पालन न करनेसे आनुवंशिक गुण नष्ट होनेका भय होता है, तो फिर उच्च सीढीपर स्थित मनुष्योंमें जातिभेद पालनकी आवश्यकता नहीं और सभी जातियां तोड देनी चाहिए, यह कथन युक्तियुक्त कैसे हो सकता है?

सम्पूर्ण सृष्टिमें यही नियम नजर आता है कि मुख्य जाति एकही हो, तब भी उस जातिके भीतर उपजातियां अनेक होती हैं और इस उपजातिके भी अनेक भेद होते हैं। इन जातिभेदोंको देखना, पहचानना,मानना और-उनके गुणधर्म देखकर उनका जतन करना सुधार का लक्षण है। जातिभेद न मानना और यदि होवे तो उसकी उपेक्षा करना जंगलीपन है। इसे सिद्ध करनेका एक ही उदाहरण पर्याप्त है। वनस्पतियों का वर्गीकरण करना एक शास्त्र है। इस वर्गीकरण को न समझना शास्त्रहीनता का द्योतक है। यही नियम हरएक बात में है। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने इसे हजारों वर्षपूर्व पहचान लिया और उन्होंने समाज में वर्गीकरण किया। अन्य सब वस्तुओं की वर्गवारी यूरोपीयन लोग समझ गए और इसी वर्गीकरण के अनुसार वे सब शास्त्रों में प्रगति करते हैं। अब तक उन्हें मनुष्योंकी वर्गवारी का ज्ञान नहीं हुआ। यह अनुमान करने के लिए काफी गुंजाइश है कि वह ज्ञान उन्हें थोडे ही दिन में होगा। अब तक वे वनस्पतिशास्त्र और पशुशास्त्र समझ गए हैं तथापि वे मानववंशशास्त्र नहीं समझे। हजारों वर्षपूर्व हमारे ऋषि इस शास्त्र को समझ गए थे। इससे एक बात यह सिद्ध होती है कि यूरोपियन लोग इस बात में अभी पीछे हैं। इस लिए इस विषयमें यूरोपीयनों के उदाहरण देना सर्वथा अनुचित है। जो बात अभी उन्हे ज्ञात नहीं हुई और जिस संबंध में उन्हें अब तक अज्ञान है उसमें उनकी बात प्रमाण मानना असंभव है।

कुछ वर्ष पूर्व तक वे नहीं जानते थे कि कुत्तों और घोडों में जातिभेद हुआ करता है। वह उन्हें अब ज्ञात हुई है और वे बडी सावधानी से फिकर कर रहे हैं कि उनका वंश शुद्ध हो। जब उन्हें ज्ञात होगा कि अपने मनुष्य में अशुद्धता आने से अपनी शुद्धता नष्ट होगी, तब वे अपने निजी वंश की ओर भी उतनी ही शुद्धता से देखने लगेंगे। परन्तु उसके लिए अभी कई वर्ष लगेंगे।

अब अपन देखें कि जातियां कैसे बनती हैं। 'गुण-कर्म-धर्म' के विभागों से जातियां बनती हैं। वे आरंभ में इसी रीति से बनी और यदि उनमें किसी समय संकर हो जावे तो वे पुनः इन्ही विभागों से बनाई जाति हैं। 'सिग्मा ११' (SigmaXI) नामक अमेरिकन नियतकालिक में इस संबंध में शास्त्रीय विवेचन है वह देखने योग्य है। एक अमेरिकन शोधक ने २८ वर्ष अविश्रान्त श्रम करके गेहूं की पौष्टिक सत्व विशेष से युक्त ऐसी नवीन जातियां निर्माण की हैं। वह शोधक २८ वर्षतक गेहूं के गुणधर्मोंका निरक्षण करता रहा। एक खेतके अच्छे से अच्छे गेहूं उसने अलग निकाले, उन्हें अन्य गेहुंओं से अलग रखा और अलग ही बोया। उसने जितनी बन सकी सावधानी रखी कि अन्य गेहूंके केसर के रजःकण भी इस अलग किये हुए गेहूं के स्त्रीकेसरपर न पडने पावें और उनकी आनुवंशिक शुद्धि न बिगडने पावे। इस अलग जाति बनाने के

*

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

लिए अलग निकाले हुए और अलग बोए हुए गेहूं में विशेष गुण के परिपोष के लिए खास खातु दी गई। उससे उत्पन्न हुए गेहूं की पुनः सत्त्वांश की दृष्टिसे परीक्षा कर उसका फिरसे वर्गीकरण किया। इस प्रकार लगातार अठ्ठाईस वर्ष तक करने पर उसने जौ गेहूं की जाति निर्माण की है वह अन्य गेहुओं से पचास गुने अधिक सत्त्वांश से युक्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो गुणधर्म अपन बढाना चाहते हैं, उन गुणधर्मों से युक्त जो हों उन्हें प्रथम अलग करो, उन्हें अलग रखकर उनमें अन्य बीजों का संकर न होने दो, इसके लिए यथासंभव सावधानी रखो और अनंतर उनके गुणधर्मों का जितना हो सके पोषण करो। गुणकर्मव्यवस्था से जातिव्यवस्था उत्पन्न होती है, उसमें यह तत्त्व है। इस तत्त्व का उपयोग उस अमेरिकन शोधक ने गेहूं के संबंध में किया उसी प्रकार हमारे ऋषिमुनियोंने उसका उपयोग पशु, पक्षी और मनुष्यों के संबंध में किया। किस प्रकार सो अपन अब देखेंगे।

गाय में स्थित जाति निर्माण के प्रश्न का अपन विचार करें। साधारण मनुष्य दूध देनेवाली गायें चाहता है। और किसान बैल चाहता है। इन दोही जातियोंका विचार करें तो उसका नियम यह है कि यदि दोनों जातियों के गाय और बैल एकही स्थान में रहे और उनमें जातिसंकर हुआ तो दोनों के विशिष्ट गुण लुप्त हो जाते हैं। अर्थात् दूध देनेवाली गाय की संतति में उतना दूध देने की शक्ति नहीं रहती और बैल भी उतना कामयाब नहीं रहता। इसीलिए आवश्यक है कि दूध देनेवाली गायें और उसी जाति के बैल अलग रखे जावें; इसी प्रकार काम में लगाए जानेवाले बैल और उसी जाति की गायें अलग रखी जावें। यदि ऐसा न करें तो दोनों वंश बिगड जाते हैं और अंतमें यह संकर की संतति किसी भी काम की नहीं रह जाती। धान्य में भी ऐसा ही है। गेहूं, बाजरी, चना, या अन्य धान्य अंग के गुणों के अनुसार जब वर्गीकृत हो जावेंगे, तब पास पास न बोए जाने चाहिए। पास पास बोने से एक का पुरुष केसर दूसरे के स्त्रीकेसर पर पडकर संकर होता है। और संकर होने से गुणधर्मोंकी बाढ रुक जाति है अर्थात् संकर के कारण गुणधर्मों की अवनति होती है। रायवल आमों में यदि कलमी आम लगाया जाय तो उसमें वर्णसंकर होता है और आगे चलकर यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि कलमी आम की गोही मीठा फल देगी ही। सब दृष्टियों से विचार करके देखा जाय तो इस विवेचन का फलितार्थ यही निकलता है कि आनुवंशिक शुद्धता जिस मात्रामें होगी उसी मात्रामें गुणों का उत्कर्ष होता है और जितना संकर अधिक उतनी ही गुणोंकी अवनति होती है। मनुष्य प्राणी सृष्टि के अन्य सब प्राणियों में अत्यंत उन्नत है इससे संकर से उसकी भयानक अवनति होती है। जाति, वंश और रक्तबीज की शुद्धता से उन्नति होना बिलकुल स्वाभाविक है। यह कदापि मानने योग्य नहीं हो सकता कि जिस संकर से वनस्पति, वृक्ष, पशुपक्षी इन सब की अवनति होती है वह संकर मनुष्य की उन्नति करेगा।

परन्तु आजकल महा विद्वान् उपाधिप्राप्त लोग भी कहते हैं कि जातिबंधन तोड दो, चाहे जिन जातियों में मिश्रविवाह कराओ, ऐसी योजना करो जिससे संकर अधिक होगा और इस प्रकार के मिश्रण एवं सब गोलंकार को उत्तेजन दो। इसका कारण यही है कि ये उपाधि-प्राप्त हैं और जाति न माननेवाली सरकार इन्हें मान-मान्यता देती है इस से इन्हें चकाचौंधी आगई है और ये लोग समझने लगे हैं कि हमें स्वर्ग अब केवल दो अंगुलपर रह गया है। इसीलिए लांगूलचालन की अंधानुकरणवृत्ति इनमें बढ गई है। यूरोपीयन लोग आज जातिबंधन नहीं मानते सही, परन्तु अब भी रईस यूरोपीयन यह नहीं कबूल करते कि उनके लडके-लडकियां चाहे जिससे विवाह करें। यूरोपीयन वायुमण्डल से पूर्ण परिचित लोगों से यह बात बतलाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे इसे पूर्णरीति से जानते है। यद्यपि यह बात उधर के समाज के लिए सत्य है कि बुजुर्गों की इच्छा की

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पर्वाह न कर लडके स्वतंत्र हो जानेसे स्वेच्छा-स्वयंवरों की संख्या वहां बहुत है, तथापि यूरोपीयन सभ्य समाज की मनोवृत्ति आज भी इस बात के लिए अनुकूल नहीं है कि कुलशील को न देखकर स्वेच्छाविवाह किये जावें।

हिन्दुस्थान के आर्य लोग सम्पूर्ण संसार से अधिक सुधरे हुए हैं, अत्यंत उच्च संस्कृति से सम्पन्न हैं और वंश-शुद्धता का सिद्धांत उनकी हड्डी हड्डी में भरा है। इसीसे वे बाह्यरूप की अपेक्षा कुलशील की ओर अधिक ध्यान देते हैं। यह तो उनकी उच्च-संस्कृति-संपन्नता का ही लक्षण है।

कुछ लोग समझते हैं कि हिन्दुओंके चार वर्ण एक ही जातिके गुणकर्मानुसार चार विभाग करके बनाये गए हैं। कोई कहते हैं कि भिन्न भिन्न चार जातियोंका मिलाप या एकीकरण होनेसे ये चार वर्ण हुए हैं। इनमें कोईभी बात सत्य हो, आज दिन चार वर्ण माने चार मुख्य भिन्न भिन्न जातियां हैं यह बात तो संदेह-रहित है। हमारा मत है कि एकही जातिके चार विभाग करके बने हुए ये चार वर्ण नहीं हैं। ये चार भिन्न जातियां अलग अलग देशोंसे एक स्थानमें आईं और अनंतर उनका संगतिकरण हुआ और इसके बहुत आगे यह चातुर्वर्ण्य बना। यह बात भिन्न भिन्न लेखोंमें हमने व्यक्त की ही है। श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्णकी चार जातियां आज भी पृथ्वीतल पर विद्यमान हैं। उत्तर के श्वेतवर्ण के ब्राह्मण, अमेरिकाके रक्तवर्णीय लोगोंके समान लाल दिखनेवाले क्षत्रिय, मंगोलियन जातिके तिब्बती और चीनी लोगोंके समान दिखनेवाले पीतवर्णी वैश्य और द्रविडोंके समान दिखनेवाले कृष्णवर्णी शूद्र ये चार वर्ण हैं। चातुर्वर्ण्य का 'वर्ण' शब्द 'रंग' अर्थकाही बोधक है। ये चार रंगके लोग धीरे धीरे एक स्थान में आए और आगे चलकर उनका जो संगठन हुआ वही यह चातुर्वर्ण्य है। ये चार रंग के लोग एक जातिके कभी भी नहीं थे। यही नहीं वे तो भिन्न वंशोंके ही थे। उनकी उत्पत्ति का स्थान भिन्न, उनका व्यवसाय भिन्न, उनमेंसे प्रत्येक की रहनसहन भिन्न ऐसी स्थिति तब थी, अब भी है। इन भिन्न वंशोंमें अनुलोम और प्रतिलोम विवाह बीचमें हुए और उसके कटु फल आर्यों को भुगतने पडे। यह अनुभव प्राप्त होनेपर अनुलोम और प्रतिलोम विवाह निषिद्ध माने गए। बीचमें जो मिश्रण हुआ उसके घोर परिणाम आर्यों के इतिहासमें उल्लिखित हैं। भिन्न वंशोंमें संकर होनेसे गुणोंकी अवनति होती है। यह बात अनुभव कर ली, इसी लिए शास्त्रकारोंने उसे लिख रखा है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
भ. गीता

"संकर मनुष्यके (नरकाय) छोटेपन के लिए कारण होता है।" यहां 'नर+क' शब्द 'छोटा मनुष्य' अर्थ बतलाता है। 'नर' की अपेक्षा जो अवनत है वह 'नर-क' है। संकर निश्चयसे अवनति करनेवाला है इस बातका, गीताके समय, लोग अनुभव कर चुके थे। उस समय तक अनुलोम प्रतिलोम विवाह हो चुके थे अतएव उनसे हुई अवनति उस समयके नेताओंने स्पष्ट दीखली थी। इसी लिए उन्होंने लिख रखा है कि संकर भयानक हानि करनेवाला है। उसकी ओर ध्यान न देनेसे हम लोगोंका चल नहीं सकता। क्योंकि उन लोगों का अनुभव हमारे लिए मार्गदर्शक ही हो सकता है।

चातुर्वर्ण्य के जो कार्य शास्त्रोंमें लिखे हैं, यह बात नहीं थी कि वे कार्य उन उन वर्णोंको नियत कर दिये गए थे। वस्तुस्थिति यह थी कि चातुर्वर्ण्य में आनेके पूर्वहीसे वे लोग ये कार्य करते थे। ब्रह्म लोग मंत्र तंत्र यज्ञयाग करते थे, क्षत्र लोग मारपीट करते रहते थे, विश् लोग खेतीबाडी करते और गायबैल पालते थे। चातुर्वर्ण्यमें संमिलित होनेके पूर्वसेही उनके ये व्यवसाय थे। चातुर्वर्ण्यमें संघटित होनेपर यही तय हुआ कि "जिसका व्यवसाय वह करे और एक दूसरेको सहायता करे तथा सब मेल से रहकर अपना अभ्युदय कर लें।" इस निश्चयके अनुसार ये भिन्न वंश के लोग मेलजोलसे अपना अपना कर्म करते हुए स्वकर्मसे अपनी उन्नति करते आये हैं।

इस देश में अंग्रेज लोग जब नहीं आये थे तब हिन्दुस्थान देश कम सम्पन्न नहीं था। विदेशी लोगों

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

के आने के पश्चात् ही यहां की सम्पन्नता कम हुई है और जबसे यूरोपीयनों से इस देश का संबंध हुआ है तब से इस देश की विपत्ति बढती ही जाती है। आज कल लोग विचार कर रहे हैं कि देश की यह विपन्नावस्था किस प्रकार हटा दी जाय। इस प्रकार विचार करनेवाले जो लोग कार्यकारणसंबंध का योग्य विचार करने में असमर्थ होते हैं, वे वर्तमान विपत्ति का संबंध अपने जातिभेद से जोडते हैं और प्रतिपादन करते हैं कि जातियां तोड दी जावें। जो लोग नहीं समझते कि अपनी विपत्ति के कारण विदेशियों के संबंध में है और उसका जतियों से कोई संबंध नहीं, वे लोग सोचते हैं कि अपनी सब अवनति का कारण जतिभेद ही में है। परन्तु यह उनका निरा भ्रम है। यूरोप में 'मजदूर संघ' के कारण किस प्रकार जातियां बनती हैं और ये नवीन जातियां यूरोप में किस प्रकार दुःसह हो रही हैं सो इस संघ के अखबार पढने से विदित होगा। नमुने के लिए एक ही बात यहां देते हैं-

"खास इंग्लैण्ड में भी अनेक मजदूर संघ हैं। प्रत्येक मजदूर संघ के बनाए हुए निजरक्षाके अनेक नियम तो हैं ही परन्तु एक नियम यहभी है कि अमुक कामकरी-संघ का सदस्य दूसरे संघ के सदस्य का काम नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा काम करे तो उसे सदस्य रहनेका हक्क न रहेगा। एक समय एक इमारतमें कुछ कारीकर और कुछ बढई काम कर रहे थे। एक बढई अपनी लकडी ऊपर के मजले परले जाना चाहता था। इसलिए उसने पास ही काम करनेवाले कारीकर को सहायता के लिए बुलाया। उस लकडी को एक ओर से बढई ने उठाया और दूसरी ओर से कारीगर ने और वे दोनों इसे ऊपरके मजलेपर ले गए। दूसरे कारीगरों ने यह बात अपने संघको बता दी। संघ को जांच करनेपर विदित हुआ कि कारीगर संघ का सदस्य बढाई को सहायता करने का अपराधी सिद्ध हुआ। इस अपराधके लिए वह संघ के सदस्यों में से निकल दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे फिर कहीं भी काम न मिला और उसका अन्नान्न दशा में अंत हुआ।"

अब वाचक ही विचार करें कि इसे जातिभेद कहें, ज्ञातीद्वेष कहें, या संघभेद का ब्रह्मसंबंध कहें। यह भी एक नियम है कि अपने जातिनिर्बंधों में भी एक जाति का काम दूसरी जातिका मनुष्य न करे और यदि करेगा तो उसे बहिष्कृत करनेकी भी रीति है। परंतु यदि कोई इस प्रकार बहिष्कृत होवे तो वह अल्पस्वल्प दण्ड देने से पुनः जाति में लिया जाता है। यह निर्बंध तो ठीक ही है कि एक धंदेवाले का काम दूसरा धंधेवाला न करे। क्यों कि ऐसा होनेसे स्पर्धा बढकर लाभ कम होने का भय उत्पन्न होता है। परन्तु जब इन निर्बंधों का अमल बिलायत के समान कडी रीतिसे होता है तब यही कहने की नौबत आजाति है कि जातिनिर्बंध इससे बहुत अच्छे पर ये मजदूर संघ के निर्बंध नहीं चाहिए। मजदूर संघोंने जो कहर आज दीन यूरोप अमेरिका में कर दिया है ऐसा कहर हमारे जातिनिर्बंधों ने कभी भी नहीं किया था। कारीगर के केवल बढई के लकडी उठाने में क्षणभर सहायता देनेपर हिन्दुस्थान की जातियों ने उसका ऐसा बुरा हाल कभी भी नहीं किया। जातिभेद पर कुल्हाडा उठानेवाले यूरोप के इस नूतन जातिभेद का क्रूर रूप प्रथम अवश्य देख लें!

हिन्दुस्थान के कामकरी वर्ग की बढई, लुहार, चूनेकी जुडाई करनेवाले आदि जातियां यूरोप के मजदूर संघ के सिद्धान्तों पर ही बहुत प्राचीनकाल में बनी थीं। यूरोप के सदृश राक्षसी कष्ट हमारे जातिनिर्बंधों में नहीं हैं परन्तु उससे होनेवाले सब लाभ भर हैं। यह बात उसकी नजर में तुरंत ही स्पष्ट होगी जो दोनों स्थान की वस्तुस्थिति का निरीक्षण निःपक्ष होकर करेगा। यूरोप अमेरिका के मजदूर संघ और अपने जातिसंघ दोनोंका तत्त्व बिलकुल एकसा है। हमारे जातिसंघों की रचना मनुष्यता के सिद्धान्तों पर की गई है और उनके संघों की रचना पैशाची तत्त्वोंपर हुई है। यही दोनों का भेद है।

यूरोप के कुछ लोग अब कहने लगे हैं मिल-मजदूरों के बालक मिल का काम सीखें और अन्य मजदूर-संघों के मजदूरों के बालक अपने पिता का काम चलावें। उनका कहना है कि ये धन्धे यदि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आनुवंशिक किये जावें तो कौशल अधिक बढेगा और काम में अधिक पूर्णता लाई जा सकेगी। यही बात हमारे जातिसंघोंने हजारों वर्ष पूर्व से कार्यमें परिणत की है। नवीन यंत्र और नवीन उपकरण की सहायता यदि अपने जाति संगठन को मिलेगी और स्वदेशी के सिद्धान्तपर यदि उसे उत्तेजन दिया जाय तो दसपांच वर्षोंमें प्रत्येक जाति उन्नति के शिखरपर आरूढ होगी, बेकारी नष्ट होगी और सभी का कल्याण होगा।

जातिभेद का यह विचार धंधे की दृष्टि से हुआ। क्योंकि अपने जातिभेद में 'धंधा' भी महत्त्व की बात है। परन्तु जातिभेद का और भी अनेक दृष्टियों से विचार करना चाहिए। जातिभेद का विष इसी समय अधिक से अधिक घातक जान पडनेका एक मात्र कारण यही है कि अपना देश परतन्त्र है तथा उसपर परकीयों का आधिपत्य है। जिस रीति से हो सके अपना राज्य चिरकाल तक टिकाने के लिए परकीय लोग जित लोगों में एकता नहीं रहने देते। यह नहीं कि ऐसा हाल हिन्दुस्थान ही में है और अन्यत्र नहीं है। जहां कहीं परतंत्रता है वहां यह भेदभाव प्रस्तुत हुआ ही जानो। मुसलमानों में धर्मभावना की दृष्टि से जातिभेद है ही नहीं। परंतु अफगानिस्थान के अमीर साहब अपने देश से बाहर घूमने जब गये तब यूरोप के कुछ राष्ट्रों ने उनके देश में अपनी इच्छानुसार कार्रवाइयां कीं और अफगानी जनता में आपस के भेद बढाए। यहांतक कि जब अमीर साहब लौट आए तब चार ओर बलवों की दंबार लग गई, और उन्हें खुशीसे राज्यसंन्यास करना पडा। एक 'अमीर' के राज्य में 'सात अमीर' हो गये थे। यदि अपन इस बात की ओर ध्यान से देखें कि जहां जातिभेद बिलकुल नहीं है ऐसे मुसलमानी राज्य में यह नवीन कृत्रिम भेद विदेशी राष्ट्र किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं, तो हम लोग सहज कल्पना कर सकते हैं कि हमारे जातिसंघों में वस्तुतः भेद न होते हुए भी वह किस प्रकार बढाया गया होगा। श्री छत्रपति शिवाजी महाराज के पूर्व और पश्चात् भी ये जातिसंघ राष्ट्र की प्रगति में रुकावट न कर सके। वे इसी शतक में रुकावट कर रहे हैं यह बात तो बिगडे हुए मस्तिष्कवाले लोगों के सिवा अन्य कोई न कह सकेगा। हमारी जातियों को नवीन उपकरणों की सहायता मिलेगी और स्वदेशी की भावना से आधार मिलेगा तो उनकी निःसंशय वृद्धि होगी। परन्तु विदेशी लोग इसे नहीं चाहते क्योंकि ऐसा होने से उनके लाभ में कमी होगी। इसलिए उन लोगों की यह इच्छा रहना स्वाभाविक है कि हमारे देश के जातिसंघ नष्ट हों और सब लोग बेकारी की राह लें। पर हमारे लोगों को तो आंखे होनी चाहिए। परन्तु ये खुद की आंखें भी उनके कहां हैं?

यूरोप में जो लोग मजदूर संघ बना रहे हैं वेही यहां के मजदूर संघ अर्थात् जातिसंघ तोडने को कहते हैं। इसका कार्यकारणसंबंध देखने से तुरन्त ही पता चलता है कि वे लोग ऐसा क्यों कहते हैं। इसके लिए आजकल का ही उदाहरण देखिए। दो तीन वर्ष पूर्व स्वदेशी आंदोलन के कारण जब विदेशी कपडा यहां कम बिकने लगा और वहां की मिलें बंद होने की नौबत आगई; तब कुछ लोग यहां आए और आंधी के समान इस देश में हडताल होने लगे। विलायत तथा अन्य देशों से मजदूरों के हडताल करने लिए पैसे भी आये। ये पैसे लेकर यहां के मजदूरों ने काम छोड दिया। देशी मिलें सालभर बंद रहीं। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी मजदूर भूखों मरने लगे। पर यहां के हडतालों के कारण यूरोप की मिलें धडाके से चलने लगीं, बंद होनेवाली मिलें पुनः चल पडीं और वहां के मजदूर अमन चैन करने लगे, इधर हमारे देशी मजदूर भूखों रहने लगे। इससे विदित होगा कि विदेशी लोगों की कार्रवाइयां कैसी गहरी होती हैं। अनेक रूपों से यूरोपीय लोग हलचल करते हैं। हिन्दी लोगों को उनके अन्तिम उद्देश्य का पता भी नहीं चलने पाता। वे उनके सुर में नाचने लगते हैं और अपने ही हाथों अपना गला घोंट लेते हैं। जो हेतु विदेशी मजदूरों के पैसे भेजकर हिन्दी मजदूरों द्वारा हडताल कराने में है वही हेतु हिन्दुस्थान के जातिसंघों द्वारा चलाए

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

हुए धंदों का उच्छेद करने में है।

जातिसंघका यह आर्थिक दृष्टिसे विचार हुआ। आर्थिक दृष्टिसे जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही निश्चय होगा कि जातियोंमें धंधोंका बंटवारा होनेसे राष्ट्रका भारी लाभ हुआ है। परन्तु जातियां केवल इसी एक बातसे संबंध नहीं रखती। यह बात देखने योग्य है कि इनसे संरक्षक दृष्टिसेभी भारी लाभ होता है। एक गांवमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों की बस्ती है। हिन्दू हलवाई को तीनों जातियों का ग्राहक मिल सकता है। मुसलमान या इसाई हलवाई को हिन्दू गाहक नहीं मिलेगा। संरक्षक जकातसे जो लाभ नहीं हो सकता वह लाभ इस जाति-कल्पनासे हुआ है। विचारी वाचक इस दृष्टिसे विचार करें तो उन्हें इस योजनाकी चतुराई दिखाई देगी। जातिभेदका संरक्षक दृष्टिसे यह विचार हुआ।

परिस्थितिके कारणभी जातियां बनती हैं। उदाहरणके लिए यदि केवल ब्राह्मण जातिही ली जावे, तो उसमें देशाचारसे पंजाबी, मद्रासी, कश्मीरी, बंगाली आदि भेद होते हैं। ये भेद हिन्दुओं में ही हैं और अन्य पदार्थोंमें नहीं हैं, यह नहीं। मद्रासी चांवल और कश्मीरी चांवल बिलकुल भिन्न हैं। आस्ट्रेलिया, पंजाब और महाराष्ट्र का गेहूं सत्त्वांश की दृष्टिसे भिन्न है। इसी प्रकार पंजाबी, मद्रासी, ब्राह्मण क्षत्रिय भिन्न भिन्न हैं। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय वर्णोंके होते हुए भी विवाहके लिए योग्य नहीं हैं। पंजाबका चार हाथ उंचाईका जवान मद्रासके ढाई हाथ उंचाईकी भात खानेवाली कृश स्त्री का पति हुआ, तो यह बेजोड साथ केवल विनोदमें ही शोभा देगा। पंजाबी का सात्त्विक अन्न और मद्रासी का अग्निके समान दाहक मिर्च और इमलीसे भरा भोजन ये दोनों एकही कुटुंबमें किस प्रकार चल सकेंगे? ऐसे भिन्न भिन्न लोगोंमें रोटीबेटीव्यवहार होनाही चाहिए यह कथन निरा गंवारीपनका है। लोगोंकी सुविधा की दृष्टीसे यह कदापि इष्ट न होगा।

इस प्रकार रहनसहन का भेद, धर्मका भेद आदि अनेक भेद होते हैं। यद्यपि यह कहें कि चार वर्ण हैं, तब भी देशाचार, कुलाचार आदिके कारण होनेवाले भेदोंकी ओर ध्यान न देनेसे न चलेगा। इन भेदोंकी ओर ध्यान न देना अयोग्य है। वे भेद हैं अवश्य और वे निःसंदेह ऐसेही रहेंगे। इसलिए यही मानकर चलना पडेगा कि ये भेद हैं।

जो लोग कहते हैं राष्ट्रहित के लिए हिन्दुओंका जातिभेद तोडना चाहिए, वे लोग जरा सोचें कि यदि हिन्दू लोग एकही जाति हो गए तब भी हिन्दु मुसलमान और ईसाइयों का मेल कैसे होगा? या तब ये लोग कहेंगे कि सब धर्म तोड दिए जावें? यदि वे कहें भी तो सुनेगा कौन? यदि ये तीन धर्म अलग अलग रहे आए और किसी उपायसे तीनों धर्मवालोंमें एकता कराना संभव हुआ, तो उसी तत्त्वसे हिन्दुओंकी जातियोंमें एकता क्यों नहीं हो सकती? इसी दृष्टिसे छत्रपति श्री शिवाजी महाराजने उस कालमें महाराष्ट्रमें एकता कराकर राष्ट्रकार्य साध लिया। इसलिए जाति तोडनेमें व्यर्थ शक्ति का व्यय न कर सब लोगोंको एकही राष्ट्रकार्यमें बांधने का प्रयत्न करना चाहिए। उससे भीतर के सब झगडे नष्ट हो जावेंगे और सब लोगोंकी अभेद्य एकता सहज होगी। यह मार्ग सीधा, सरल और बिलकुल पासका है। यूरोपीयनोंने अपने स्वार्थके लिए हम लोगोंको सब जातियां तोडनेके अत्यंत दूर के मार्गमें लगाया है और उनके इस भ्रम-भरे मार्गसे हम लोग फंसे जा रहे हैं।

जातिभेद, वर्णभेद, अवस्थाभेद और देशभेद सदाके लिए नष्ट नहीं किये जा सकते। इस लिए वह मार्ग छोडकर अच्छा यही होगा कि अपने पासके मार्गसे जावें। यही सबके लिए योग्य है।

इस लेखमाला में "एक देव, एक वेद और एक एक जाति" का विचार हुआ। इस लेखमाला से विशद हुआ है कि प्रतिपक्षीने जो मोहक मंत्र जनता के सन्मुख रखा था, वह कितनाभी मोहक दिखाई दिया तब भी वह भारी दिशाभूल करनेवाला है। एक जाति के संबंधमें और भी कुछ विस्तारसे लिखने योग्य बातें हैं। परन्तु सारांशरूपसे सब आवश्यक बातें आचुकी हैं अतएव इस संबंधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं दिखती। अतएव यहांपर यह लेखमाला समाप्त करते हैं।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥ ३२ ॥
किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्यातिं व्रतं चकृमा को वि वेद ।

प्रार्थनाका सुनो। (यत्) जब कि (अहा) दिन तथा (देवाः) देव (असुनीतिं आयन्) प्राणोंके नेतृत्वको प्राप्त करते हैं तब (अत्र) यहां (मधवा) मधुर अन्न वा जलसे (पितर) हे माता पिता द्यु व पृथिवी ! (नः) हमें (शिशीताम्) युक्त करो-दो--बढाओ ॥ ३१ ॥

(देवस्य) प्रकाशमान अग्निका (स्वावृक्) सुखपूर्वक पाने योग्य (अमृतं) अमृत (यदि) जब कि (गोः) पृथिवीसे उत्पन्न होता है तब (अतः) इस अमृतसे (उर्वी) पृथिवीपर (जातासः) उत्पन्न प्राणी (धारयन्त) अपनेको धारण करते हैं अर्थात् इस अमृतसे जीते हैं। हे अग्नि ! (विश्वे देवाः) सब देव (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः अनु गुः) अमृत दान रूपी पूजनीय कर्मका अनुसरण करते हैं अथवा तेरे उस उदक दानका सब गान करते हैं। (यत्) जब कि (एनी) नदी (दिव्यं) दिव्य वा द्यु लोकमें होनेवाले (घृतं) सारयुक्त (वाः) जलको (दुहे) दोहति अर्थात् जब कि जल से परिपूर्ण हुई हुई नदी बहती है ॥ ३२ ॥

(राजा) दीप्यमान अग्निने (नः) हमें (किं स्वित्) किस कारण से (जगृहे) पकडा है ? हमने (कत्) कब (अस्य) इस अग्निके (व्रतं अति चकृम) नियमका अतिक्रमण किया है ? इन बातोंको (कः विवेद) कौन जानता है ? कोई भी नहीं। अथवा 'कः विवेद' इस प्रश्नका उत्तर भी यही है कि (कः विवेद) वही सुखस्वरूप अग्नि जानता है।

भावार्थ- द्यु व पृथिवी जल व अन्न देवे ॥ ३१ ॥

अग्नि जब अमृत रूप जलको उत्पन्न करती है तब पृथिवीस्थ उत्पन्न पदार्थ अपने जीवनको धारण करते हैं। नदियां जलसे भरी हुई बहती हैं। और तब सब देवजन अग्निके इस जल दान का गान करते हैं ॥ ३२ ॥

हम अग्निके किस नियमका उल्लंघन करनेसे सुखी वा दुःखी हैं

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवांछ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥३३॥
दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३४ ॥

(हि) निश्चयसे वह अग्नि (देवान् जुहुराणः) देव अर्थात् मदोन्मत्त जनों के प्रति कुटिलता दर्शाता हुआ हमारा (मित्रः चित्) मित्र भी है और (यातां श्लोकाः न वाजः अपि अस्ति) उद्योगी ज्ञानियोंका स्तुति की तरह बल है। जैसे भक्त की स्तुति बल है उसी प्रकार वह ज्ञानी जनताका बल है ॥ ३३ ॥

इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें जो आक्षेप किए गए हैं कि कोई सुखी है वह कोई दुःखी है तो संभव है कि सुख दुःख की व्यवस्थामें किसी प्रकार का दोष हो उससे किसी के साथ न्याय होता हो व किसी के साथ अन्याय। इस मंत्रमें इन आक्षेपोंको दृष्टिमें रखते हुए उनका परिहार किया गया है कि— (यत्) यदि (सलक्ष्मा) सबके लिए जो व्यवस्था एकसी है वह (विषुरूपा) भिन्न भिन्न रूपवाली (भवाति) हो जावे। यानि किसी पर वह लगे और किसीपर न लगे तो (अत्र) इस संसार में (अमृतस्य) इस अमृत अग्निका (नाम) नाम (दुर्मन्तु) अपूजनीय हो जावे। (ऋष्व) हे दर्शनीय (अग्ने) अग्नि ! (यः) जो कोई (यमस्य) न्यायकारी तेरा नाम (सुमन्तु मनवते) बडा पूजनीय मानता है (तं) उसका तू (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होकर (पाहि) रक्षण कर ॥ ३४ ॥

इस बातको नहीं जान सकते, वही जानता है। वह अग्नि कुटिलों की कुटिलताको दूर करता हुआ हमारा मित्र है व ज्ञानी जनोंका एक मात्र बल है ॥ ३३ ॥

यदि अग्निकी व्यवस्था एक सी न हो तो संसार से उसका नाम ही मिट जावे। जो उस अग्निके नाम को पूजनीय समझता है उसी की अग्नि विना प्रमाद किए हुए रक्षा करता है। अग्नि की व्यवस्थापर किसी को शंका न लानी चाहिए ॥ ३४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्यक्तून् परि द्योतानि चरतो अजस्रा ॥ ३५ ॥
यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये न वयमस्य विद्म।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत् ॥३६॥
सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे ॥ ३७ ॥

अर्थ-(यस्मिन्) जिस अग्निमें स्थित हुए हुए (देवाः) देवगण (विदथे मादयन्ते) यज्ञमें आनन्दित होते हैं। और (विवस्वतः सदने धारयन्ते) प्रकाशमान् अग्नि के घरमें अपने आप को धारण करते हैं उन देवोंने (सूर्ये ज्योतिः अदधुः) सूर्य में ज्योति (प्रकाश) स्थापित किया है और (मासि) चन्द्रमामें (अक्तून्) अंधकार निवारक रश्मियोंको स्थापित किया है अथवा चन्द्रमा में रात्रियां स्थापित की हैं अर्थात् चन्द्र रात्रिके लिए निर्माण किया है। जो कि दोनों सूर्य व चन्द्र (अजस्रा) निरन्तर (द्योतानिम्) प्रकाशमान अग्नि की (परिचरतः) परिचर्या करते रहते हैं ॥ ३५ ॥

(यस्मिन् अपीच्ये मन्मनि) जिस छिपे हुए ज्ञानमें (देवाः संचरन्ति) देव संचरण कर रहे हैं, (अस्य) इस अग्नि के उस अन्तर्हित ज्ञान को (वयं न विद्म) हम नहीं जानते। अतः (अत्र) यहांपर (मित्रः) मित्र, (अदितिः) अखण्ड शक्तिवाला, (सविता) प्रेरक (देवः) प्रकाशमान अग्नि (नः अनागान्) हम निरपराधियों को तथा (वरुणाय) पाप निवारक को (वोचत्) कहे ॥ ३६ ॥

(सखायः) परस्पर प्रेम भावसे मित्र बने हुए हम (नृतमाय) उत्तम नेता, (धृष्णवे) शत्रुओंके धर्षक—नाशक, (वज्रिणे) वज्रधारक

भावार्थ- अग्निमें स्थित देवगणोंने सूर्य चन्द्रका निर्माण किया है। अतः सूर्य चन्द्र निरंतर रातदिन अग्नि की परिचर्या करते रहते हैं ॥३५॥

अग्निका छिपा हुआ ज्ञान हम नहीं जानते अतः उस ज्ञान का बोध अग्नि स्वयमेव हमें करावे। उसके विना कहे हमारा जानना दुष्कर है। (ऋ० १०।१२) ॥ ३६ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा ।
मघैर्मघोनो अति शूर दाससि ॥ ३८ ॥
स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं महीं नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ३९ ॥

(इन्द्राय) इन्द्रके लिए अर्थात् इन्द्र की (स्तुषे) स्तुति करनेके लिए (ब्रह्म आ शिषामहे) ब्रह्मज्ञान की इच्छा करें ॥ ३७ ॥

हे इन्द्र ! जिस प्रकार तू (वृत्रहत्येन) वृत्रको मारने से (वृत्रहा) वृत्रहन् के नामसे (श्रुतः) विख्यात है उसी प्रकार (हि) निश्चयसे (शवसा)बलसे भी प्रसिद्ध है। अर्थात् तू अत्यन्त बलवान् होने से भी प्रसिद्ध है। हे अतिशूर ! तू (मघैः मघोनः) धनोंसे धनवान् हुए हुए जनसे भी (अति) बढकर (दाससि) स्तुति करनेवालेको देता है। अर्थात् अत्यन्त धनी भी दानमें तेरा मुकाबला नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

(स्तेगः क्षाम् न) जिस प्रकार स्तेग अर्थात नानाविध द्रव्यसंग्रह कर्ता पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार तू (महीं पृथिवीं) इस बडी भारी पृथिवी पर (अति एषि) बहुतायत से विचरण करता है। 'अति' यहां पर 'अभि' के अर्थ में मानना चाहिए। (नः) हमारे लिये (इह भूमौ) इस भूमिपर (वाताः वान्तु) सुखदाई हवायें बहें। और (वरुणः) दुःखनिवारक (मित्रः) मित्र भूत (युज्यमानः) हमारे कष्ट निवारण करनेमें लगा हुआ (नः शोकं) हमारे शोक को (व्यसृष्ट)

भावार्थ- हम परस्पर मित्र बने हुए नानागुण विशिष्ट इन्द्र की स्तुति के लिए ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करने की इच्छा करें। अर्थात् इस प्रकारके इन्द्र की स्तुति कैसे करनी चाहिए इस विषयक ज्ञान उपलब्ध करें। (ऋ० ८।२४।१) ॥ ३७ ॥

इन्द्र वृत्रको मारनेसे जिस प्रकार वृत्रहन्के नामसे प्रसिद्ध है उसी प्रकार बलवान् होनेसे भी प्रसिद्ध है। उसके समान कोई भी दान-शूर नहीं है। वह स्तोता को खूब दान करता है। (ऋ० ८।२४।२) ॥ ३८ ॥

जिस प्रकारसे द्रव्य संग्रह करनेवाला पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार यह मित्रभूत राजा सारी पृथिवीपर भ्रमण करे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥ ४० ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥

दूर करें, (वनं अग्निः न) जिस प्रकार से कि वनमें दावानाम अग्नि घास फूंस आदि को जलाकर दूर करती है ॥ ३९ ॥

[देवता रुद्र है ।] हे स्तुति करनेवाले (श्रुतं) विख्यात (गर्तसदं) रथपर सवार होनेवाले, (जनानां राजानं) जनोंके राजा (भीमं) भयङ्कर, (उपहत्नुम्) समीप जा जाकर मारनेवाले (उग्रम्) कठोर स्वभाववाले रुद्रकी (स्तुहि) स्तुति कर । और (रुद्र) हे रुद्र ! तू (स्तवानः) स्तुति किया गया (जरित्रे) तेरी स्तुति करनेवालेके लिए (मृड) सुख देनेवाला हो । (ते सेन्यं) तेरी सेनायें (अस्मत् अन्यं) हम स्तुति करने वालोंसे भिन्न दूसरेको (निवपन्तु) काट डालें, मार डालें ॥ ४० ॥

(देवयन्तः) देव बनने की कामना करते हुए लोक (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं । और (तायमाने अध्वरे) विस्तृत हिंसारहित कार्य में यज्ञमें (सरस्वतीं) सरस्वतीको बुलाते हैं । (सुकृतः) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले सज्जन (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं । (सरस्वती दाशुषे) सरस्वती दानी मनुष्यके लिए (वार्यं) वरणीय अभिलषित वस्तुको (दात्) देती है ॥ ४१ ॥

ताकि जनता की दशा का ज्ञान होवे । भूमि पर सुखदाई वायु चले व राजा भिन्न होकर प्रजाके कष्टोंको इस प्रकारसे दूर करे कि जिस प्रकारसे अग्नि वनमें से तमाम घास फूंस झाडी झुंडों को दूर करती है ॥ ३९ ॥

हे जनो ! उस प्रसिद्ध, भयङ्कर शत्रुनाशक आदि गुण विशिष्ट रुद्रकी स्तुति करो । वह रुद्र स्तुति किया हुआ तुम्हारे लिए सुखदायी होवे । उसकी सेनायें शत्रुओंका ही विनाश करें । तुम्हारा न करें । ॥ ४० ॥

जिनको देव बनना हो उन्हें सरस्वतीका आह्वान करना चाहिये । सुकृत जन सरस्वतीका आह्वान करते हैं । सरस्वतीका जो दान करता

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ४२ ॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४३ ॥
उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४४ ॥

अर्थ- (दक्षिणा) दक्षिण दिशासे आकर (यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः) यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर (यां सरस्वतीं हवन्ते) जिस सरस्वतीको बुलाते हैं, ऐसी हे सरस्वती ! तू तथा पितर (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) यज्ञमें (आसद्य) बैठकर (मादयध्वं) प्रसन्न होवो । (अस्मे) हमें (अनमीवाः इषः) रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको (आधेहि) दे ॥ ४२ ॥

(सरस्वति देवि) हे सरस्वती देवी (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथ पर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है । हे सरस्वती ! तू (अत्र) इस यज्ञमें (यजमानाय) यजमानके लिए (सहस्रार्घं इडः भागं) हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और (रायस्पोषं) धनकी पुष्टिको (धेहि) दे ॥ ४३ ॥

हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे) निकृष्ट, (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मध्यमाः) मध्यम (पितरः) पितरो ! (उदीरतां) उन्नतिको प्राप्त होओ । (ये अवृकाः) जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने (असुं ईयुः) प्राणको प्राप्त किया है अर्थात् जो

है उसे अभिलषित पदार्थोंकी उपलब्धि होती है । (ऋ० १०।१७।७) ॥४१॥

पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं । (ऋ० १०।१७।८) ॥ ४२ ॥

सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वाधा खाना व यज्ञमें आना होता है । (ऋ० १०।१७।९) ॥ ४३ ॥

सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ४५ ॥
इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥ ४६ ॥

प्राणधारी पितर हैं (ते) वे (ऋतज्ञाः) सत्य व यज्ञको जाननेवाले (पितरः) पितर (हवेषु) बुलाए जानेपर (नः) हमारी (रक्षन्तु) रक्षा करें ॥ ४४ ॥

(सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धनसंपन्न पितरोंको (आ अवित्सि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं । (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्व-व्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करनेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूं । (बर्हिषदः पितरः) कुशासनपर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं, यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आवें ॥ ४५ ॥

(अद्य) आज (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (इदं नमः अस्तु) यह नमस्कार हो । किन पितरोंके लिए ? (ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर (ईयुः) स्वर्गको गए हुए हैं और (ये) जो कि (अपरासः) अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं । और (ये) जो कि पितर (पार्थिवे रजसि) पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर (आ निषत्ताः) स्थित हैं, (वा) अथवा (ये) जो कि (नूनं) निश्चयसे (सुवृजनासु विक्षु) उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओंमें स्थित हैं ॥ ४६ ॥

करें । हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें । (ऋ० १० १५ । १; यजु० १९ । ४९) ॥ ४४ ॥

धनधान्य संपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूं । स्वधाके साथ पक्व अन्नको खानेवाले पितरो ! इस यज्ञमें आओ । (ऋ० १० । १५ । २; यजु० १९ । ५६) ॥ ४५ ॥

पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवी लोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य संपन्न

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥
स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ४८ ॥
परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।

अर्थ- (मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्यों से, (यमः अङ्गिरोभिः) यम अङ्गिरसोंसे और (बृहस्पतिः ऋक्वभिः) बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचा संबन्धी ज्ञान रखनेवालों से (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देवों ने बढाया है तथा (ये देवान्) जो देवोंको बढाते हैं, (ते) वे अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, अङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें ॥ ४७ ॥

(अयं) यह सोम रस (किल) निश्चयसे (स्वादुः) स्वादिष्ट है। यह सोमरस (मधुमान्) माधुर्य गुणोंसे युक्त है। (उत) और (अयं) यह सोम (किल) निश्चयसे (तीव्रः) पीनेसे स्वादमें तेज लगनेवाला है। (उत) और (अयं) यह सोम (रसवान्) उत्तम रसवाला है। (उतः) और (नु) निश्चयसे (अस्य पपिवांसम्) इसके पान करने की इच्छा रखनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रको (आहवेषु) संग्रामोंमें (कः चन) कोई भी (न सहते) नहीं सहता अर्थात् उसके सामने संग्राममें कोई भी टिक नहीं सकता ॥ ४८ ॥

(प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालोंको, उत्तम कर्म करने वालाकों तथा निकृष्ट कर्म करने वालोंको (महीः इति) भूमि प्रदेशोंको (परेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतों के

प्रजाओं में विद्यमान हैं उन सब पितरों के लिए नमस्कार है। (ऋ० १०।१५।३; यजु० १९।६४) ॥ ४६ ॥

देव अपनी अपनी शक्तियोंसे बढते हैं उसी प्रकार सब लोग अपनी शक्तिसे बढें ॥ ४७ ॥

मंत्रोक्त नाना माधुर्य आदि गुणोंवाले सोमको पीनेवालेका कोई भी पराभव नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ ४९ ॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्याऽ अनु स्वाः ॥५०॥ (५)
बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शंतमेनाधा नः शं योरपो दधात ॥ ५१ ॥

लिए मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान् के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी (हविषा सपर्यत) हविदान पूर्वक पूजा करे ॥ ४९ ॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे दर्शाते हैं—(यत्र नः पूर्वे पितरः परेताः) जहां-पर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं। और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं ॥ ५० ॥

(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषत् पितरो ! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्यों को (चकृम) करते हैं उनका (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आगत) आओ। (अथ) और तब (नः) हमें (अरपः) पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुःखवियोग (दधात) दो ॥ ५१ ॥

भावार्थ- अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कार्य यहां चल रहा है। हवनसे उसकी हम पूजा करें ॥ ४९ ॥

[यमलोकमें सब प्राणियों के जानेके लिए जो मार्ग हैं उसका यहां निर्देश है।] यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्यों कि वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्ग से छुटकारा पाना कठिन है क्यों कि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगाही ॥ ५० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ५२ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ५३ ॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।

अर्थ- (विश्वे) तुम सब पितरो ! (जानु आच्य) दांयां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दोई ओर बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञका (अभि गृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो ! (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो ॥ ५२ ॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति) इकट्ठा होता है। परि (उह्यमाना) व्याही जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है ॥ ५३ ॥

हे मृत पुरुष ! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिले के मार्गोंद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर

भावार्थ- बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदले में हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें। वे हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें ॥ ५१ ॥

हे पितरों दांई ओर दांयां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो। (यजु० १९।६२) ॥ ५२ ॥

यम की माता का नाम सरण्यू है व पिता का नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है अतएव उसे वेदमंत्रों में 'वैवस्वत' के नाम से पुकारा गया है ॥ ५३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ५४ ॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ५५ ॥
उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥

(स्वधया मदन्तौ) स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए (उभा राजानौ) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पश्यासि) देख ॥ ५४ ॥

हे विघ्नकारी जनो ! (अप इत) यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (वि सर्पतातः) सर्वथा वह स्थान छोडकर हट जाओ। (अस्मै) इस प्रेतके लिए (पितरः) पितरोंने (एतं लोकं अक्रन्) यह स्थान किया है। (अस्मै) इस मृतके लिए (यमः) यमने (अहोभिः) दिनोंसे व (अद्भिः) पेय जलोंसे तथा (अक्तुभिः) रात्रियोंसे (व्यक्तं अवसानं) स्पष्ट समाप्ति (ददातु) दी है ॥ ५५ ॥

हे अग्नि ! (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (धीमहि) स्थापना करते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) हमारी कामना करती हुई हे अग्नि ! तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरों को (आवह) प्राप्त करा—ले आ ॥ ५६ ॥

भावार्थ- जहां हमारे पूर्व पितर गये हैं वहां यह मृत मनुष्य जावे व वहां स्वधासे आनंद प्राप्त करे ॥ ५४ ॥

शव की अंत्येष्टि क्रिया के लिए स्थान को पितर निर्धारित करते हैं। यहां शरीरसे प्राणों के निकल जाने के बादका वर्णन है दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् यह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरने पर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं (१) या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह स्मशान भूमिका हो सकता है अथवा (२) वह यम लोकका हो सकता है। ॥ ५५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

द्युमन्तंस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५८ ॥
अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरागहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ ५९ ॥

अर्थ- हे अग्नि ! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम (समिधीमहि) तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरों को (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ ॥ ५७ ॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह अङ्गिरस् पितरों की (सुमतौ) उत्तम सलाहों में तथा (भद्रे सौमनसे) शुभ संकल्पों में (स्याम) होवें ॥ ५८ ॥

हे यम ! (वैरूपैः) विविध स्वरूपवाले, (यज्ञियेभिः) यज्ञ के योग्य पूजनीय (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरस् पितरोंके साथ (इह आ गहि) इस हमारे यज्ञ में आ। यज्ञमें आकर दी गई हवि को खाकर (मादयस्व) आनन्दित हो। (विवस्वन्तं हुवे) विवस्वान् (सूर्य) को मैं बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह विवस्वान् (अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य) इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे। (ऋ० १०।१४।५) ॥ ५९ ॥

भावार्थ- हे अग्नि ! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर। (यजु० १९।७०) ॥ ५६ ॥

अन्न सेवनके लिए पितरोंको बुलाना चाहिए ॥ ५७ ॥

हमारे विषयमें पितरों की बुद्धि उत्तम हो ऐसा आचरण करना हमें उचित है ॥ ५८ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

इमं यम प्रस्तर मा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मंत्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व ॥ ६० ॥
इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥ (६)
[२] यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥

अर्थ— (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अंगिरस् पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू (इमं प्रस्तरं) इस विस्तृत फैले हुए आसनपर (आसीद) बैठ । (त्वा) तुझे (कविशस्ताः मंत्राः) क्रान्तदर्शीयों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें । (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो । (ऋ० १०।१४।४) ॥ ६० ॥

(एते) ये पितर (इतः) यहांसे (उत् आ अरुहन्) ऊपरको चढते हैं । (दिवः पृष्ठानि आरुहन्) और द्युके पृष्ठोंपर—प्रष्टव्य स्थानोंपर-चढते हैं । (यथा पथा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूर्जयः) भूमि जीतनेवाले (अंगिरसः) अंगिरस पितर (द्यां) द्युलोक को (प्रययुः) गए हुए हैं ॥ ६१ ॥

[२] (यमाय सोमः पवते ।) यमके लिए यज्ञमें सोमको पवित्र किया जाता है । (यमाय हविः क्रियते) यमके लिए हवि प्रदान की जाती है (अरङ्कृतः) नाना प्रकारके द्रव्योंके डालनेसे जो अलंकृत किया हुआ, (अग्निदूतः) अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चय से (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यमको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भावार्थ– यज्ञमें यम व आङ्गिरस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यमका पिता विवस्वान् (सूर्य) है, उसे भी साथ में यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिए दी जाती है । अंगिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं ॥ ५९ ॥

यम अंगिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें विस्तृत आसनपर बैठता है । उसकी मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है ॥ ६० ॥

अंगिरस् पितर यहांसे ऊपर जाकर द्यु लोकमें स्थित होते हैं । उनके जानेका मार्ग वही है जो कि वीर गणोंका द्युलोकमें जानेका है ॥ ६१ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ २ ॥
यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥
मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।

अर्थ- (यमाय) यमके लिए (मधुमत्तमं) अत्यन्त मधुर हव्यका (जुहोत) प्रदान करो। और हवि देकर (प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठा को प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवन का लाभ करो। (पृथिकृद्भ्यः) रस्ता बनानेवाले मार्गप्रदर्शक (पूर्वजेभ्यः) जो सबसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं व (पूर्वेभ्यः) हमसे पूर्वके हैं ऐसे (ऋषिभ्यः) ज्ञानियोंके लिए (इदं नमः) यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(यमाय राज्ञे) यम राजा के लिए (घृतवत् पयः) घीसे मिश्रित दूध तथा (हविः) हवि का (जुहोतन) प्रदान करो। (सः) वह यम (प्रजीवसे) प्रकृष्टतया जीने के लिए (जीवेषु) जीवोंमें अर्थात् संसारमें (नः) हमें (दीर्घं आयुः) दीर्घ जीवन (आ यमेत्) देवे ॥ ३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। (मा अभि शूशुचः) इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी त्वचा अर्थात् चमडी को मत फैंक। इस के शरीर में विद्यमान त्वचा मांस आदि को इस प्रकार से जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे।

भावार्थ- यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए। यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यम राजाके लिए मधुरतम हवि दो और प्राचीन ऋषियोंके लिए नमस्कार करो ॥ २ ॥

यम राजाको हवि आदि देनेसे वह हमें संसारमें दीर्घ जीवन प्रदान करता है ॥ ३ ॥

जब तक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती तबतक आत्मा उस देह

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शृतं यदा करसि जातवेदोथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥ ४ ॥
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥ ५ ॥
त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुग्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ ६ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं करसि) जब तू इस प्रेत को परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इस प्रेतकी आत्मा को (पितॄन् उप प्रहिणुतात्) पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोक में इस प्रेतकी आत्मा चली जावे । (ऋ० १०।१६।१) ॥ ४ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिए सौंप दे । (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीर्तिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत (मृत शरीर), (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है । (ऋ० १०।१६।२) ॥ ५ ॥

(एकं इत् बृहत्) अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम (त्रिकद्रुकेभिः) तीन कद्रुकों से (षट् उर्वीः) छहों उर्वियों को (पवते) प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है । (त्रिष्टुप् गायत्री) त्रिष्टुप्, गायत्री आदि (ता सर्वा छंदांसि) वे सब छन्द (यमे) उस नियन्ता परमात्मामें (आहिता) स्थित हैं । (ऋ० १०।१४।१६) ॥ ६ ॥

को छोडकर स्थानान्तरमें नहीं जाती । उस देहके आसपासही मण्डलाती रहती है । उस देहका मोह उसे खींचे रखता है । मृतात्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है । अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है ॥ ४ ॥

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है । अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं । जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाती है ॥ ५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥
अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ८ ॥

अर्थ- हे प्रेत! तू (चक्षुषा सूर्यं गच्छ) आंख से सूर्य को जा। (आत्मना वातं) आत्मासे (प्राणसे) वायु को जा। और हे प्रेत! (धर्मभिः) धर्म से अर्थात् कर्मफलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्वों के कर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्व हैं वे पृथिवी में जा मिलें, जो जलीय हैं वे जल में जा मिलें, इत्यादि प्रकार से (द्यां च पृथिवीं च) द्यु व पृथिवी लोक को जा अर्थात् पार्थिव तत्व पृथिवी में जा मिले और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोक में जा मिले। जहां जहां से जो जो अंश तेरे शरीर में आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलीय अंश जावे (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरे में विद्यमान हो। और इसी प्रकार औषधियोंमें शरीरांशों से स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधि में चला जावे। (ऋ० १०। १६। ३) ॥ ७ ॥

हे अग्नि! इस प्रेतका जो (अजः भागः) अज अर्थात् न जन्म लेनेवाला भाग (आत्मा) है (तं) उसको तू (तपसा तपस्व) अपने तप से तपा। (तं) उस अज भाग को (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) उस अज भागको (ते अर्चिः) भासमान

भावार्थ- छहों ऊर्वियों में वह यम व्याप्त है इतना अवश्य पता चलता है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सर्व उस यम (नियामक परमात्मा) में स्थित हैं ॥ ६ ॥

मरनेपर शरीर में विद्यमान तत्व अपने अपने स्थानपर जहां से आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवों के अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं। हरेक देव अपना अपना अंश शरीर से खींच लेता है ॥ ७ ॥

हे अग्नि! तू इस शरीर के अज भाग आत्माको अपनी नाना

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि ॥ ९ ॥
अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् ।
आयुर्वसान उप यातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ १० ॥ (७)

तेरी ज्वाला (तपतु) तपावे । और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि (याः ते शिवाः तन्वः) जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं (ताभिः) उन शरीरों द्वारा इस अज भाग को (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालों के लोक में (वह) प्राप्त करो । (ऋ० १०।१६। १४) ॥८॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (याः ते) जो तेरे (शोचयः) पवित्र करनेवाले, (रंहयः) वेगवाले ज्वालारूपी शरीर हैं, (याभिः)जिनसे कि तू (दिवं) द्युलोकको व (अंतरिक्षं) अन्तरिक्ष लोकको (आ पृणासि) परिपूर्ण करता है (ताः) वे तेरे ज्वालारूपी तनू अर्थात् शरीर (यन्तं) द्युलोक को जाते हुए (अजं अनु) शरीर के अज भाग (आत्मा) के पीछे (समृण्वताम्) जावें । (अथ) और (इतराभिः शिवतमाभिः) दूसरे कल्याणकारी शरीरों से इस पीछे रह गए मृत देह को (शृतं कृधि) परिपक्व कर अर्थात् पूर्णतया जला दे ॥ ९ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो (ते आहुतः) तेरे में अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधावान् चरति) स्वधाओंसे युक्त विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पितरोंके लिए लाकर (अवसृज) छोड अर्थात वह पुनर्जन्म ले । अथवा 'पितृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड । [दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एकही है । दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है ।] इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया

गुण विशिष्ट ज्वालाओं से शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा ॥ ८ ॥

शरीरके अज भाग आत्माका अनुसरण करती हुई अग्नि की कुछ ज्वालाएं उसे उचित स्थानपर ले जाती हैं व पीछे रहे मृत देहको अन्य ज्वालाएं भस्म कर डालती हैं ॥ ९ ॥

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ११ ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदौ नृचक्षसा।
ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि ॥ १२ ॥

हुआ (शेषः) अपत्य संतान (उपयातु) कुटुंबियों को प्राप्त करे, तथा (सुवर्चाः) तेजस्वी होकर हे अग्नि ! (तन्वा संगच्छतां) यह अपत्य शरीरसे भली भांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्ति से संपन्न बने। (ऋ० १०।१६।५) ॥ १० ॥

हे पितृ लोकमें जाते हुए जीव ! (सारमेयौ चतुरक्षौ) सारमेय, चार आंखोंवाले (शबलौ) चितकबरे (श्वानौ) दो कुत्तोंसे (अति) बचकर के (साधुना पथा) कल्याणकारी उत्तम मार्गसे (द्रव) जा। (अथ) तब (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धन वा ज्ञानसे युक्त पितरों को (अपि इहि) भी प्राप्त हो। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं। (ऋ. १०।१४।१०) ॥ ११ ॥

हे यम ! (ते) तेरे (यौ) जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिषदौ) यमलोकमें जानेके मार्ग में बैठनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्योंके देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन् ! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इस जीवको (स्वस्ति) कल्याण (धेहि) प्रदान कर। (च) और (अस्मै) इस जीवके लिए (अनमीवं) रोगराहितता अर्थात् आरोग्य (धेहि) धारण कर। इसे निरोगी बना। (ऋ० १०।१४।११) ॥ १२ ॥

हुआ स्वधाओंवाला होकर विचरण कर रहा है। उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड ॥ १० ॥

यमके कुत्तों का वर्णन यहां किया गया है। उनकी चार आंखें हैं तथा वे चितकबरे रंगके हैं। ॥ ११ ॥

जीवित पुरुष के लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है ॥ १२ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १३ ॥
सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १४ ॥
ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १५ ॥

अर्थ- (उरू-णसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं । (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करने के लिए (अद्य) आज (इह) इस संसारमें (भद्रं असुं) कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दाता) देवें । (ऋ० १०।१४।१२) ॥ १३ ॥

(एकेभ्यः) कईयों के लिए (सोमः पवते) सोमरस बहता है । और (एके) कई (घृतं उपासते) आज्य का उपभोग करते हैं । इनको व (येभ्यः मधु प्रधावति) जिनके लिए मधु धारा रूपसे बहता है (तान् चित् अपि) हे प्रेत ! उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो ॥ १४ ॥

(ये चित्) और जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष (ऋतसाताः) सत्य का पालन करनेवाले अथवा यज्ञोंके नित्य नियमपूर्वक करनेवाले, (ऋतजाताः) सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिए (ऋतावृधः) सत्य व यमके वर्धक थे, तथा (तपस्वतः) तपसे युक्त (पितॄन्) पूर्व पितरों को (तान् चित्

भावार्थ- यमके कुत्ते लंबी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यंत बलशाली हैं । वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं ॥ १३ ॥

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो आज्य का उपभोग करते रहते हैं तथा जिनके लिए मधु की कुल्यायें बहती रहती हैं ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत तू प्राप्त हो ॥ १४ ॥

जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि का अनुष्ठान नित्यनियमसे करनेवाले

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

अपि) इन सबको भी हे (यम) नियमवान् प्रेतात्मा तू प्राप्त हो ॥ १५ ॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचांद्रायणादि नानाविध तप करने कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे कष्टों को नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययुः) स्वर्ग को गए हुए हैं, और (ये) जिन्हों ने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत ! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) उन तपस्वियों को भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ॥ १६ ॥

हे प्रेत ! (ये शूरासः) जो शूरवीर गण (प्रधनेषु) संग्रामों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और (ये) जो उन संग्रामों में (तनूत्यजः) शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, (वा) अथवा (ये) जो लोक (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो ॥ १७ ॥

हैं तथा तपस्वी हैं ऐसे पितरों को हे मृतात्मा तू परलोक में जाकर प्राप्त हो ॥ १५ ॥

हे प्रेत जो तप के कारण किसी भी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए हुए हैं तथा जिन्होंने महान् तप किया है उनको तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ॥ १६ ॥

जो शूरवीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीर गति को प्राप्त हुए हुए हैं वा जो लोक नानातरह के दानों को देकर अपने को संसार में अमर कर गए हैं, ऐसे लोकों को हे मृतात्मा तू प्राप्त हो, तेरे सद्गति होवे ॥ १७ ॥

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजां अपि गच्छतात् ॥ १८ ॥
स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥
असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥

अर्थ- (ये) जो (कवयः) क्रांतदर्शी ज्ञानी लोक (सहस्रणीथः) हजारों प्रकारों की नीतियोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपायन्ति) इस सूर्यका रक्षण करते हैं ऐसे (तपस्वतः ऋषीन्) तप से युक्त ऋषियोंको जो कि (तपोजान्) तप से ही उत्पन्न हुए हुए हैं—ऐसोंको भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ॥ १८ ॥

हे पृथिवि ! (अस्मै) इसके लिए (स्योना) सुखकारिणी (अनृक्षरा) कांटोंसे रहित अर्थात् न पीडा देनेवाली, (निवेशनी) प्रवेश करने योग्य (भव) हो । (सप्रथाः) विस्तृत हुई हुई (अस्मै) इसके लिए (शर्म) सुखको (यच्छ) दे । ॥ १९ ॥

(असंबाधे) ऊंचा नीचा जो नहीं है अर्थात् जो एक सरखा है ऐसे (पृथिव्याः उरौ लोके) पृथिवीके विस्तृत स्थानमें (निधीयस्व) स्थित हो । (जीवन्) जीते हुए अर्थात् जीवित अवस्था में तूने (याः स्वधाः) जो स्वधायें (चकृषे) की थीं (ताः) वे स्वधायें (ते) तेरे लिए अब (मधुश्चुतः) मधुके बरसाने वाली (सन्तु) होवें ॥ २० ॥

भावार्थ-जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकार के विज्ञानों से परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को हे प्रेतात्मा तू इस लोक से जाकर प्राप्त हो । उनमें जाकर तू स्थित हो । निकृष्ट लोक में मत जा ॥ १८ ॥

पृथिवी, इस के लिए सुखकारी व पीडारहित होवे ! इस को किसी प्रकार का कष्ट न हो । पृथिवी इसको सदा सुख प्रदान करती रहे ॥१९॥

उसने जो जीते हुए स्वधाओंका संग्रह किया था वे उसके लिए मधुर हों ॥ २० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि ।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः ॥२१॥
उत् त्वा वहन्तु मरुतः उदवाहा उदप्रुतः ।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥ २२ ॥
उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितॄरुप द्रव ॥ २३ ॥

अर्थ- (ते मनः) तेरे मनको (मनसा) मन द्वारा बुलाता हूं । (इह) यहां (इमान् गृहान्) इन घरों से (जुजुषाणः उप एहि) प्रीति करता हुआ समीप आ । तू (पितृभिः) पितरों के (संगच्छस्व) साथ विचरण कर । (यमेन सं) यमके साथ विचरण कर । (स्योनाः) सुखदायक (शग्माः) शक्तिशाली (वाताः) वायुयें (त्वा उपवान्तु) तेरे लिए बहें ॥ २१ ॥

(उदवाहाः) जलका वहन करनेवालीं (उदप्रुतः) जलमें संचार करनेवालीं (मरुतः) वायुयें (त्वा) तुझे (उत् वहन्तु) ऊपर पहुंचावें और वे वायुयें (अजेन शीतं कृण्वन्तः) अजसे शीतलता देतीं हुईं (वर्षेण उक्षन्तु) वृष्टि द्वारा सींचें । (बाल् इति) यह तेरा जीना है, अर्थात् इसीसे तू जीवित रह सकता है ॥ २२ ॥

(आयुषे) दीर्घायु धारण करने के लिए, (क्रत्वे) कर्म करने के लिए (दक्षाय) बलके लिए तथा (जीवसे) उत्तम जीवन धारण करने के लिए हे मृतात्मा ! मैं तुझे (उदह्वम्) बुलाता हूं । (ते मनः) तेरा मन (स्वान्) तेरे सबन्धियों में (गच्छतु) जावे (अथ) और तू (पितॄन् उपद्रव) पितरोंको प्राप्त हो ॥ २३ ॥

भावार्थ- पितरोंके साथ विचरण कर और यमसे विचरण कर । तेरे लिये वायु सुखदायी हो ॥ २१ ॥

वायु और जल तेरे लिये सुखदायी हो ॥ २२ ॥

हे मृतात्मा ! तू दीर्घायु, बल, जीवन आदि धारण करने के लिए पुनः इस संसारमें आ तथा अपने संबन्धियों में ही आकर जन्म ले ॥ २३ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।
मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥
मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु विन्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥
यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु ॥ २६ ॥

अर्थ- (इह) इस संसार में रहते हुए (ते) तेरा (मनः) मन (मा हास्त) तुझे छोडकर मत चला जावे। (असोः) प्राणोंका (किंचन) कुछभी अंश (मा) मत चला जावे अर्थात् तेरे प्राण ठीक ठीक बने रहें। (ते रसस्य मा) तेरे शरीरस्थ रुधिर आदि रसका कुछ भी अंश मत चला जावे। और (ते तन्वः किंचन मा हास्त) तेरे शरीर का कुछभी अंश मत चला जावे ॥ २४ ॥

(त्वा वृक्षः मा संबाधिष्ट) तुझे वृक्ष बाधा मत पहुंचाए। वृक्ष यहां वनस्पतिका उपलक्षण है। (देवी मही पृथिवी) दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे (मा) मत बाधा पहुंचाए। (यमराजसु पितृषु लोकं विन्वा) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके (एधस्व) वृद्धिको प्राप्त कर ॥ २५ ॥

(ते यत् अङ्गं पराचैः अतिहितम्) तेरा जो अङ्ग उलटा होकर हट गया है, और (यः ते प्राणः अपानः परेतः) जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है— शरीरसे निकल गया है, (तत् ते) उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण या अपान को (सनीडाः पितरः) साथ रहनेवाले पितर (संगत्य) मिलकर (घासाद् घास इव)- यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है- जैसे घाससे घास बांधी जाती है उसी प्रकार

भावार्थ- हे पुरुष ! तू संसारमें सर्वाङ्गपूर्ण बना रह। तेरे शरीर आदि का कोई भी अंश नष्ट न होवे ॥ २४ ॥

द्युलोकमें जाते हुए तुझ को वृक्षादि वनस्पतियां तथा अन्य पार्थिव पदार्थ बाधा न पहुंचावें। तू यमराजावाले पितरोंमें जाकर वृद्धिको प्राप्त कर ॥ २५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥ २७ ॥
ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति।

(पुनः आवेशयन्तु) फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें यानि पुनरुज्जीवित करें ॥ २६ ॥

(जीवाः) प्राणधारी लोकोंने (इमं) इस प्रेतको (गृहेभ्यः) घरोंसे (अप अरुधन्) बाहिर कर दिया है (तं) उसको तुम लोक (इतः ग्रामात) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहिरकी ओर स्मशानभूमिमें ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूतः आसीत्) यमका जो मृत्यु दूत है उस (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (असून्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिए अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दीए है। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है इस लिए इसके शवको ग्रामसे बाहिर दहनादि क्रियाके लिये ले जाओ ॥ २७ ॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिये हुए को खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरों में प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति)

भावार्थ-- प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है। वह उस हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है। इस मंत्रमें निकले हुए प्राणोंका पुनः समावेश करनेका वर्णन है। इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है। इस के सिवाय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया हो वा टूट गया हो तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है ॥ २६ ॥

इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिये व तदनन्तर ग्रामसे बाहिर लेजाना चाहिए। स्मशान भूमि ग्रामसे बाहिर होनी चाहिए ॥ २७ ॥

जो हमारा व हमारे संतति का चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियोंको जो कि पितरोंके उद्देशसे

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग ।

(१) पूर्व इतिहासका महत्त्व ।

श्रीभगवानुवाच– इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच—अहं अव्ययं योगं विवस्वते प्रोक्तवान् । विवस्वान् मनवे प्राह । मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् ॥१॥ हे परंतप ! एवं परंपराप्राप्तं इमं (योगं) राजर्षयः विदुः । सः योगः इह महता कालेन नष्टः ॥२॥ सः एव अयं पुरातनः योगः मया अद्य ते प्रोक्तः (त्वं) मे भक्तः सखा च असि इति, हि एतत् उत्तमं रहस्यम्॥३॥

श्रीभगवान् बोले– मैंने इस अविनाशी योगको विवस्वान्से कहा था, विवस्वान्ने मनुसे कहा, और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा ॥१॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन! इस प्रकार परंपरासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना था, परंतु वह योग इस पृथ्वीपर बहुत समयसे लुप्तप्राय हो गया ॥२॥ वही यह पुरातन योग मैंने आज तेरे लिये कहा, क्यों कि तू मेरा भक्त है और प्रियमित्र है तथा यह योग भी उत्तम रहस्य की बात है ॥३॥

भावार्थ— ज्ञानयोग और कर्मयोग रूप जो ज्ञान इससे पूर्व कहा था वह कभी नाशको प्राप्त होनेवाला नहीं है; वह सत्य होनेसे अविनाशी और त्रिकालाबाधित है। परमेश्वरसे वह विवस्वान् को, उससे मनुको और उससे वही ज्ञान इक्ष्वाकुको प्राप्त हुआ था। इस राजर्षियोंकी परंपरासे यह ज्ञान पृथ्वीपर बहुत समय तक रहा था,परंतु बहुत समय के पश्चात् लोग इस ज्ञानको भूल गये ! अतः वही सनातन ज्ञान आज तुझ क्षत्रियको दिया है। यह कोई नया मनघडन्त नहीं है। तू भगवद्भक्त और ईश्वरका सच्चा प्रेमी है, अतः यह उत्तम रहस्यका ज्ञान तुझे आज दिया गया है। इसको तू अपने मनमें स्थिर रख, इसका अनुसरण कर और कृतकृत्य हो ॥ १—३ ॥

(१-३) पूर्व अध्यायोंमें कथित ज्ञानयोग, कर्मयोग किंवा कर्मसंन्यासयोग के विषयमें अधिक स्पष्टीकरण इस चतुर्थ अध्याय में है। इन योगोंके विषयमें मनमें कई शंकाएं उपस्थित होती हैं उनका विशेष स्पष्टीकरण पाठक इस चतुर्थ अध्यायमें देख सकते हैं। इसी लिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग' रखा है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सार्वभौमिक तत्त्वज्ञान।

यहां पहिली शंका यह है कि, "जो भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुन से कहा, वह केवल अर्जुन को युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये कहा, अतः उसको विशेष प्रमाण मानना अयोग्य है। किसी न किसी युक्तिसे युद्धसे निवृत्त हुए वीरको युद्धके लिये प्रवृत्त करना था। वह कार्य श्रीकृष्ण भगवान् ने किया, अतः यह कथन सार्वकालिक और सार्वभौमिक महत्त्वका नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें सामयिक महत्त्वकाहि उपदेश है; इस लिये हम इसको क्यों प्रमाण मानें? हम पुरातन सनातन सार्वभौमिक और सार्वकालिक धर्मतत्त्वको ही मानेंगे, सामयिक तत्त्व तो एकदेशी होनेसे सबके लिये माननीय नहीं हो सकता।"

कई लोग इस प्रकार की शंकाएं करते हैं। अतः इस शंकाको दूर करनेके लिये, और इस ज्ञान की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता की सिद्धता करने के लिये स्वयं भगवान् कहते हैं कि—"इस योग को मैंने ही प्राचीन समयमें विवस्वानसे कहा था, इसीको विवस्वानने मनुसे कहा और उसने इसी को इक्ष्वाकुसे कहा था। इस तरहसे यह कर्मयोग का ज्ञान श्रेष्ठ राजाओं में परंपरा से बहुत समय तक जाग्रत रहा था।" अर्थात् विवस्वान् मनु इक्ष्वाकु आदि राजा लोग अपना जीवनक्रम इसी योग के अनुसार चलाते रहे और कृतकृत्य बने। यह कर्मयोग राजर्षियोंके लिये बडा उपयोगी है। अर्जुन राजशासन चलानेवाला प्रसिद्ध क्षत्रिय है, इस कारण उसको भी यही योग पालन करना उचित है।

ज्ञान का लोप।

यद्यपि इक्ष्वाकु आदि राजालोग इस कर्मयोगका आचरण करते रहे, और राजा महाराजों, क्षत्रियों और राजपुरुषोंकी पाठविधि में यह पढाईका विषय था, तथापि मनुष्यमात्रकी प्रवृत्तिमें थोडी-सी शिथिलता रहती है, इस कारण सत्य सनातन धर्मनियम भी, वारंवार चालना न हुई, तो लुप्तप्राय हो जाते हैं; इस रीतिके अनुसार "यह ज्ञान भी इस पृथ्वीपर से बहुत कालसे लुप्त हुआ।" इस ज्ञानके लुप्त होनेसे हि अर्जुन इस धर्मयुद्ध से निवृत्त होनेकी चेष्टा करने लगा, और उसको ठीक मार्गपर लानेके लिये इतना उपदेश फिर से सुनाना अत्यंत आवश्यक हुआ!! अर्थात् यह उपदेश जो कि श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनसे कहा, वह कोई नया उपदेश नहीं है, वह अविनाशी सनातन ज्ञान है, इतनाही नहीं प्रत्युत यह बडी रहस्य की भी बात है। अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान् जी का परम मित्र और बडा भक्त था, इस कारण भगवान् के द्वारा यह बोधामृत उसको पिलाया गया। नहीं तो ऐसी मर्म की बात कौन किसको बताता है?

इस प्रकार यहां बताया गया कि यह ज्ञान कोई मनघडन्त उपदेश नहीं है। जो त्रिकालाबाधित सनातन सत्यज्ञान विवस्वान्,मनु,इक्ष्वाकु आदि राजाओंको प्राचीन कालमें दिया गया था, और जिस ज्ञानसे वे राजश्रेष्ठ कृतकृत्य हुए थे, वही सनातन ज्ञान इस समय अर्जुन के द्वारा सब संसारको दिया गया है। अर्थात् यह सनातन सत्य ज्ञान है, अतः उन्नति चाहनेवाले हरएक को यह मानना और आचरणमें लाना चाहिये।

प्राचीन इतिहास की साक्षी।

विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजा लोग अर्जुनसे कई शताब्दी पूर्व भारतवर्षमें हुए थे। ये सूर्यवंशके बडे प्रतापी राजा थे। अर्जुन और श्रीकृष्ण, किंवा कौरवपांडव और यादव ये चंद्रवंशी थे। श्रीकृष्ण स्वयं चन्द्रवंशमें प्रतापी महापुरुष थे। अर्जुन भी चंद्रवंशका विख्यात वीर था। चन्द्रवंशमें भी कई वीर बडे धुरंधर और विख्यात हुए थे, तथापि सूर्यवंशके राजालोगोंका प्रताप चन्द्रवंशीयोंसे कई गुणा अधिक उस समय भी माना जाता था इसमें संदेह नहीं है। पृथु, मांधाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप, भगीरथ, नाभाग, अंबरीष, सिंधुद्वीप, रघु, दशरथ, राम,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नल, आदि सूर्यवंशी राजाओंके नाम महाभारतमें वारंवार आते हैं और आदर्श राजा करके इनका उल्लेख महाभारतमें वारंवार हुआ है। सूर्यवंशी राजाओंने भारतवर्षमें और भारत वर्ष के बाहर के देशोंमें भी अपना यश कमाया था। श्रीरामचंद्रजीने लंकाद्वीपके विदेशी रावण राजा का नाश करके भारत वर्षीय जनताको और त्रिविष्टपके ३३ करोड देववीरोंको रावणके बंदिवास से मुक्त किया था। इस कारण त्रिविष्टप, भारत वर्ष और पाताल तक के भूभागपर सूर्यवंशीय राजाओंका प्रताप सर्वमान्य हुआ था, इस कारण इस समय तक 'रामराज्य' की प्रसिद्धि है। राजा भगीरथ के प्रयत्न से गंगा नदी का भारत वर्षमें आना और उत्तर भारतवर्ष को जलसे पूर्ण और उपजाऊ करने का कार्य सुप्रसिद्ध है। हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठा तो प्रसिद्ध है। मनु ने सबसे प्रथम जनता को धर्मशास्त्र दिया था। इसलिये धर्मशास्त्रके इतिहासमें 'पहिला धर्मप्रवर्तक' होने का सन्मान इसीको प्राप्त हुआ है। इक्ष्वाकुके प्रताप के कारण उसके नामसे हि एक राजवंश प्रसिद्ध हुआ है। सूर्यवंशके कई राजाओंकी देवराज इन्द्रको भी सहायता हुई है और इन्द्रपदके विषयमें स्पर्धाभी हुई है। इत्यादि कारण सूर्यवंशीय राजाओंका प्रताप सर्वतोपरि माना जाता था। इसीलिये अर्जुन को समझाने के समय श्रीकृष्णभगवान ने यहां सूर्यवंशके तीनों नाम लिये हैं और पूर्व अध्याय (३।२०) में जनक नामक सूर्यवंशीय राजाका नाम भी अर्जुन को आदर्श बतानेके लिये सन्मानके साथ लिया है। सोमवंशी दो वीर आपसमें बातचीत करते समय अथवा एक दूसरेको तत्त्वज्ञान समझानेके समय सोमवंशियों के नाम न लेते हुए सूर्यवंशियोंके नाम लेते हैं; इससे सूर्यवंशीय प्रतापी वीरोंकी प्राचीनता और विशेष वीरवत्ता स्पष्ट रीतिसे सिद्ध होती है। विभूतियोग (अ० १०) में भी जहां प्रत्येक जाती का उल्लेख कर कर के उस जातीके मुख्य मुख्य विभूतिका नाम लिया है वहां वृष्णियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें धनंजय ये दो नाम चन्द्रवंशियोंके कहे हैं। वृष्णि जातीमें वासुदेव और पांच पांडवों में धनंजय मैं हूं ऐसा कह कर, सूर्यवंशीय वीर रामचन्द्रका जिस समय उल्लेख किया है, वहां—

रामः शस्त्रभृतामहम्। (भ० गी० १०।३१)

"संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें श्रीरामचन्द्र जैसे श्रेष्ठ हैं वैसा मैं हूं" ऐसा कहा है। 'सूर्यवंशियों में राम मैं हूं' ऐसा नहीं कहा, परंतु जगत् में जितनेभी शस्त्रधारण करनेवाले वीर हैं, उन सब में दाशरथीराम सबसे श्रेष्ठ है, वह मैं हूं, ऐसा कहा। अर्थात् इससे सूर्यवंशीय वीरोंकी सार्वभौमिक श्रेष्ठता सिद्ध होती है। श्रीरामचन्द्र तो सूर्यवंशीय राजाओंमें श्रेष्ठ हैं हि, परंतु साथ साथ इस भूमंडलके संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें भी वे श्रेष्ठ हैं, क्यों कि द्वीपान्तरीय प्रबल शत्रुका पराभव उसने किया, और देवराष्ट्र और मानवराष्ट्र को पुनः स्वातंत्र्य प्रदान किया।

यहां और एक दृष्टिसेभी सूर्यवंशी और सोमवंशीयोंकी तुलना हो सकती है। सोमवंशी कौरव पांडव भाई भाई होते हुए भी आपस में लढकर अपने देशकेहि १८ अक्षौहिणी वीर सैनिकों का नाश करने के लिये कारण हुए! यादव तो आपसमें लड लडकर नष्टही हुए !! अर्थात् इन की आपसकी दुरवस्था यहां तक पहुंच चुकी थी कि इनमें बुद्धि और वीरता रहते हुए भी ये आपसकी संघटना करके जगज्जेता न बन सके। यदि युधिष्ठिरका धर्मनिश्चय, भीम दुर्योधन का बल, भीष्म द्रोणका युद्ध कौशल, अर्जुन कर्णका शरसंधान, और श्रीकृष्णजी की युक्ति इनकी आपस में संघटना हो जाती, तो ये कौरव पांडव और यादव मिलकर निःसंदेह सब भूमंडलपर दिग्विजय कर लेते। भगवान् श्रीकृष्णजी का कौरव सभा में जाकर आपस में समझौता करनेका यत्न इसीलिये था, परंतु कौर-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वोंकी मनःस्थिति यहांतक पहुंचचुकी थी कि यह संघटना बन नहीं सकी। अब श्रीरामचन्द्रजी के समय की स्थिति देखिये। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण नगरसे बाहर किये गये थे। ये शक्ति रहनेपर भी अपने भाईयोंसे न लडे, न पितासे झगडे। शान्तिसे वनमें गये और वहां की वानर जातियोंकी संघटना करके, वानरोंके संख्याबल और अपने अस्त्रबल का मेल करके, भारतवर्ष और त्रिविष्टप को शताब्दियोंसे पारतंत्र्यमें रखनेवाले विदेशी लंकाद्वीपस्थ स्वार्थी और भोगी राक्षससम्राट दशमुख रावण का पूर्ण पराभव करके आर्योंका स्वराज्य पुनः स्थापित कर सके। और देवजाती कोभी रावणके बंदिवाससे मुक्त कर सके !!! यहां तुलना यह करनी है कि सोमवंशी लोग आपस में लड कर नष्ट होते हैं, और सूर्यवंशी आपसमें लडनेका अवसर आनेपर भी न लडते हुए विविध जातियोंका मेल करके अपने संघटित प्रयत्नोंसे अपने देशका और लोगोंका यश बढाते हैं और अपना पूर्ण स्वतंत्र स्वराज्य शासन अपनी मातृभूमिमें स्थापित करते हैं। इस कारण श्रीरामचन्द्रजीको आदर्श विभूति मानना सर्वथा योग्य ही है। प्रायः सभी सूर्यवंशी राजाओंका ऐसा ही प्रताप है। इसलिये भगवद्गीतामें इनको ही आदर्शरूपसे अर्जुनके सामने रखा है।

अस्तु प्राचीन इतिहास कहते हुए जो सूर्यवंशियोंका उल्लेख भगवद्गीतामें आगया है, उस से यह अनुमान उस समय के इतिहास के विषयमें होना संभव है। पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें।

पूर्वजोंका अनुभव।

यहां कई कहेंगे कि पूर्वजोंके नाम लेनेसे क्या होता है? क्या कभी यह माना जा सकता है कि फलाणी बात पूर्वजोंने मानी थी अथवा की थी, इसी कारण वह अच्छी और निर्दोष है? यह शंका स्वाभाविक है, और यह कोई निःसंदिग्ध नियम नहीं है कि प्राचीन कालसे मानी गई चीजें सब की सब अच्छीहि होती हैं। तथापि जो विचार या ज्ञान बहुत समयसे प्रचलित रहता है और जो आचार बहुत काल तक बडे पुरुषोंके आचरणमें रहता है, वह बहुत समय तक सुसंमत रहनेके कारण सहजही में तिरस्करणीय नहीं हो सकता, इतनाही नहीं प्रत्युत वह बहुत अंशसे जनताके लिये उपयोगी लाभदायक और सुखकारक होनेमें भी कोई शंका नहीं हो सकती। इसी दृष्टीसे पूर्वेतिहास के अध्ययन का महत्त्व है। विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु और जनक का नामनिर्देश करके अर्जुनके मनपर यह विश्वास स्थिर करनेका यहां यत्न किया गया है कि, ये प्रतापी वीर भी इसी कर्मयोगसे श्रेष्ठ पदवीको प्राप्त हुए थे। और इसी कारण यदि अर्जुन इस ज्ञान को प्राप्त करेगा और इसके अनुसार चलेगा, तो वह भी उनके समान संमाननीय होगा। सोमवंशीय वीरोंका नाम यहां न लेनेका कारण यह भी एक हो सकता है कि वे अपने हि हैं। अपने वंशीयोंके उदाहरणोंकी अपेक्षा इस तत्त्वज्ञानको माननेवाले यदि दूसरे देशवासीयोंमें, दूसरे वंशों में अथवा दूसरी जातियोंमें मिले, तो इस तत्त्वज्ञानका महत्त्व सार्वभौमिक रीतिसे स्वयं सिद्ध हो सकता है। इस दृष्टिसे भी सूर्यवंशीयोंके उदाहरण का महत्त्व अधिक है। यदि यह तत्त्वज्ञान विशेष उपयोगी न होता तो विवस्वान्,मनु, इक्ष्वाकु, जनक, जैसे प्रतापि और यशस्वी राजा लोग इसका स्वीकार क्यों करते? जिस कारण उन्होंने इस ज्ञानको माना और इसके अनुसार वे चले और कृतकार्य बने; उसी कारण इस ज्ञानकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है और इसी कारण आजके वीरोंको भी इसका स्वीकार करना चाहिये।

विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि राजाओंकी परंपरासे यह ज्ञान चला आया है, स्वयं भगवान् ने विवस्वान् से कहा और उसने अन्य राजाओंको कहा। इस कथनसे ऐसा कभी नहीं

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

मानना चाहिये कि यह कर्मयोगके ज्ञानकी परंपरा इतनीहि है। महाभारतमें इस परंपराका विशेष वर्णन है वह यहां देखिये—

यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम्।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयं॥
फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे।
वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं तं प्रतिपेदिरे॥
वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः॥
यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप।
तदा पितामहेनैव सोमाद्धर्मः परिश्रुतः॥
नारायणात्मको राजन् रुद्राय प्रददौ च तम्॥
ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप।
वालखिल्यानृषीन्सर्वान्धर्ममेनदपाठयत्॥

म० भा० शां० ३४८। १३-१८

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह॥
पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ।
ततो ज्येष्ठाय दौहित्रे प्रादादक्षो नृपोत्तम॥
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वान्जगृहे ततः।
त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ॥
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥
नारदेन सुसंप्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः।
एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप॥

म० भा० शां० ३४८।४८-५४

इस स्थानपर कहा है कि ब्रह्मदेव के सात जन्म हुए और उनमेंसे प्रत्येक जन्ममें नारायणसे यह धर्म ब्रह्माजी को प्राप्त हुआ। पहिलीवार नारायणसे ब्रह्मा को, ब्रह्मासे फेनप ऋषियोंको, उनसे वैखानस ऋषियोंको, और उनसे राजा सोम को प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् शिथिलता उत्पन्न होकर इस धर्मका लोप हुआ।

जब ब्रह्मदेव का द्वितीय जन्म चाक्षुष नामसे हुआ, तब चाक्षुषने सोमसे इस धर्मको प्राप्त किया, उसने रुद्रको पढाया, और उसने वालखिल्य ऋषियोंको पढाया। तत्पश्चात् कालान्तरसे पुनः इसका लोप हुआ। इस प्रकार यहां (म० भा० शां० अ० ३४८ में) ब्रह्माजी के छः जन्मोंका वृत्तान्त दिया है।

पश्चात् आजकलके ब्रह्मा का सातवां जन्म हुआ। और नारायणने यह धर्म उसको पढाया। ब्रह्माने दक्षको सिखाया, दक्षने अपने ज्येष्ठ दौहित्र पुत्रको सिखाया। उससे विवस्वान् को प्राप्त हुआ, उस से मनु को और उससे इक्ष्वाकुको प्राप्त हुआ।

नारद ऋषिने भी यही धर्म रहस्य और संग्रह के साथ स्वयं नारायणसे प्राप्त किया था। इस तरह देखनेसे पता चलता है कि यह परंपरा वैखानस और वालखिल्य आदि ऋषियोंतक पहुंचती है। यहां भगवद्गीतामें दो तीन नाम लेकर संक्षेपसे कहा है, परंतु इस धर्मकी परंपरा इस प्रकार अति प्राचीन है, इस परंपराकी काल-मर्यादा निश्चित करना इस समय अति कठीन कार्य है।

"इस तरह यह योग इस प्राचीन परंपरासे प्राप्त है।" ऐसा जो यहां कहा है वह इतनी प्राचीन परंपरा बतानेके उद्देश्यसे कहा है। तथा (इमं राजर्षयो विदुः) यह योग राजश्रेष्ठोंने जाना था, इससे कई लोग यह अनुमान निकालते हैं कि इस ज्ञानका पता ब्रह्मर्षियों को न था। यह विद्या केवल क्षत्रियोंके पास ही थी। परंतु महाभारतांतर्गत नारायणीयोपाख्यानसे उद्धृत किये ऊपर लिखित श्लोकोंके अनुसंधानसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह विद्या जैसी मनुइक्ष्वाकु आदि क्षत्रियों को प्राप्त थी, उसी प्रकार उनसे पूर्व यह विद्या नारद, वालखिल्य, वैखानस आदि प्राचीन ब्रह्मर्षियोंके भी पास थी। किंवा यह विद्या प्रारंभमें ब्रह्माको प्राप्त होनेके कारण ब्रह्म जाती के पास थी और उनसे क्षत्र जातीने प्राप्त की थी। श्रीमद्भगवद्गीता और नाराणीय उपाख्यान का बडा घनिष्ठ संबंध है और सिद्धान्तों के विषयमें भी दोनों की तुलनासे बडा अच्छा बोध प्राप्त हो सकता है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अर्जुन उवाच-- अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

(२) पुनर्जन्म ।

श्रीभगवानुवाच-- बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच-भवन्तः जन्म अपरं, विवस्वतः जन्म परं, (अतः) त्वं आदौ एतत् प्रोक्तवान् इति (अहं) कथं विजानीयाम्? ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् उवाच- हे परंतप अर्जुन ! मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि; तानि सर्वाणि अहं वेद, त्वं न वेत्थ ॥ ५ ॥

अर्जुनने पूछा— हे भगवन् ! आपका जन्म तो अब हुआ है और विवस्वानका पुराने समयमें हुआ था, इसलिये आपने आदिकालमें यह ज्ञान उससे कहा था यह मैं कैसे मान लूं? ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् बोले- हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत ही जन्म हो चुके हैं। इन सबको मैं जानता हूं, परंतु तू नहीं जानता ॥ ५ ॥

भावार्थ— गुरु और शिष्यका समय एक हि होना चाहिये, गुरु इस समयमें हो और उसका शिष्य प्राचीन समयमें हो चुका हो, यह कैसे माना जा सकता है? ॥ ४ ॥

इस प्रकार यह धर्म प्राचीन परंपरासे चला आता है, यह बात वीर अर्जुनने जान ली, और जब उसने यह सुना कि इस धर्मका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने हि विवस्वान् से कहा था, तब उसके मनमें एक शंका उठी की, भगवान् श्रीकृष्णजी तो मेरे सन्मुख हैं, येही हजारों वर्षोंके पूर्व विवस्वान् को धर्मोपदेश कैसे कर सकते हैं। इनको जन्म धारण करके कुल सौ वर्ष भी नहीं हुए। अतः ये विवस्वान् को उपदेश कैसे दे सकते हैं? यह अर्जुनकी शंका उसीके शब्दों से श्रवण करिये—

(४) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके सन्मुख उपस्थित हैं। उनकी आयुभी अर्जुनके समान ही है। अर्थात् कृष्ण और अर्जुन समानवयस्क थे। विवस्वान् तो इस कल्पके प्रारंभमें हुए थे। अतः इस समयके श्रीकृष्णके द्वारा कल्पके आदि में जन्मे हुए विवस्वान् को धर्मज्ञानका बोध हुआ होगा, यह बात किस प्रकार संभवनीय हो सकती है? अर्जुन की शंका स्थूल शरीर की दृष्टिसे नितान्त सत्य है, परंतु भगवान् श्रीकृष्णजी का कथन कारणशरीर की दृष्टिसे था। यह बात अर्जुनके ध्यानमें नहीं आयी, अतः उसने शंका की है। स्थूलदृष्टीवाले अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं, वह पुनर्जन्मका महत्त्वपूर्ण विषय अब देखिये—

पूर्वजन्मका स्मरण ।

(५—६) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि, "हे अर्जुन! इस समयतक मेरे और तेरे अनन्त जन्म हो चुके हैं, परंतु तेरी बुद्धिपर अज्ञानका आवरण है, इसलिये तुझे उन जन्मोंका स्मरण नहीं है और मेरे पास उक्त अज्ञान न होनेसे मैं उन सब जन्मोंको यथावत् किंवा प्रत्यक्षवत् जानता हूं। अतः मुझे स्मरण है कि मैंने

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

अन्वयः— (अहं) अजः अव्ययात्मा अपि सन्, भूतानां ईश्वरः अपि सन्, स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय, आत्ममायया संभवामि ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा और अविनाशी आत्मा तथा सब भूतमात्रका ईश्वर होनेपर भी, अपनी प्रकृतिको स्वाधीन रखकर, अपनी शक्तिसे हि जन्म लेता हूं ॥६॥

भावार्थ— आत्मा अजन्मा और अव्यय है, तथापि उसको अनेक जन्म प्राप्त होते हैं। जो ज्ञानरहित होते हैं वे इस पुनर्जन्मके विषयको नहीं जान सकते, परंतु जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे जन्मजन्मान्तरका विषय प्रत्यक्षवत् जानते हैं। जो जीव बद्ध हैं वे तो स्वकर्मवश होते हुए जन्म लेकर सुखदुःखादि भोग भोगते हैं; परंतु जो अपने ईश्वर भाव का अनुभव करनेवाले शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाववाले हैं, वे भी विशेष धर्मकार्य करनेके उद्देश्यसे दिव्य जन्म लेते ही हैं ॥ ५-६ ॥

यह योगविद्याका ज्ञान कल्पके प्रारंभ में विवस्वान् को दिया था। उस समय विवस्वान् ने क्या किया था और मैंने भी क्या किया था, यह सब मैं इस समय प्रत्यक्षवत् जानता हूं। परंतु हे अर्जुन, तुझे तो इस देह के द्वारा किये हुए सब कर्मोंका भी स्मरण नहीं है, फिर पूर्व जन्मोंका स्मरण कहां से हो सकता है?"

अर्जुन कोई सामान्य मनुष्य नहीं था, वह (परं-तपः) श्रेष्ठ तप करनेवाला था, (गुडाकेशः) निद्राका स्वामी था, परम भक्त था, अर्थात् वह असाधारण योग्यतावाला मनुष्य था। तथापि पूर्वजन्मोंका ज्ञान होने योग्य निर्मल बुद्धि उसको प्राप्त नहीं हुई थी। बुद्धिमें मल रहनेके कारण उसकी बुद्धि स्थूल थी और स्थूलताके कारणहि वह स्थूल शरीर से परे देखनेमें असमर्थ था।

मनुष्य के तीन शरीर।

मनुष्य के स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ऐसी तीन शरीर तो मुख्य हैं। स्थूल शरीर जन्मसे मृत्युतक रहता है, सूक्ष्म शरीर वासनाक्षय होकर बंधनिवृत्ति होनेतक रहता है और कारणशरीर कल्प पर्यंत रहता है; अतः जो लोग स्थूल शरीर के ऊपर अपना अधिष्ठान रखकर कार्य कर सकते हैं वे तो केवल स्थूल शरीर को ही जानते हैं, अतः इनको स्थूल दृष्टीवाले लोग कहा जाता है, सामान्यतः सब लोग ऐसे ही हुआ करते हैं। इसके ऊपरले श्रेणी के जो लोग होते हैं वे जैसा स्थूल शरीर पर वैसा ही सूक्ष्म शरीर पर अपना अधिष्ठान रखते हैं और दोनों शरीरोंपर जाग्रतिवत् कार्य करते हैं। इस से भी ऊंचे दर्जेपर जाकर कार्य करनेवाले विरला लोग ऐसे होते हैं कि जो कारण-शरीर के अधिष्ठान पर जाग्रतिवत् कार्य करते हैं, उनको पूर्व और उत्तर कल्पका ज्ञान यथावत् रहता है। और ये लोग कल्पके प्रारंभ की बात भी आज प्रत्यक्षवत् देखते हैं और कल्पके अन्तसमय की भी बात उनको वैसीहि प्रत्यक्षसी हो जाती है। भूत भविष्य उनके लिये वर्तमान जैसे होते हैं। वे सदा आत्मा रूपसे जाग्रत् रहते हैं, स्थूल शरीर उनपर आते हैं और जाते हैं, तथापि वे आकाश में मेघ आने और जानेपरभी जैसा आकाश एकसा निर्मल रहता है, वैसे ही एक रूप और निर्मल रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इस उच्च श्रेणी के अर्थात् पुरुषोत्तम थे, अतः

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उनको विवस्वान् के समय क्या हुआ था इसका ज्ञान यथावत् था और उनको अपने अनेक जन्म होने का भी स्मरण उत्तम था।

अर्जुन स्थूल दृष्टिवाला था, वह स्थूल शरीर से परे देखनेमें असमर्थ था। अतः उसको शंका हुई की "मेरे सन्मुख उपस्थित हुए श्रीकृष्ण कल्पके आदिमें विवस्वान् को कैसे उपदेश करते रहे?" वस्तुतः देखा जाय तो आत्मा अजन्मा, अविनाशी, अनन्त, और अव्यय होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णजी का आत्मा जैसा अर्जुन के समय था, वैसा ही विवस्वान के समय में भी था। न उस आत्मामें कुछ कालसे बदल हुआ और न घटबध हुआ। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् जो उपदेशका कार्य इस समय कर रहे हैं, वही कार्य विवस्वान के समय कर रहे होंगे; कमसे कम आत्मा की एकता माननेपर, वह कार्य उस समय उनसे होना स्वाभाविक है। परंतु स्थूल दृष्टिवाले अर्जुन को यह ज्ञान कैसे हो सकता है? यह ज्ञान तो आत्मभाव को सदा जाग्रत रखनेवाले श्रीकृष्ण को ही हो सकता है। अपना शाश्वत अव्यय और अविनाशी आत्मस्वरूपसे अस्तित्व प्रत्यक्ष जाननेसे उसको भूतभविष्यका ज्ञान वर्तमान जैसा हो सकता है, क्यों कि अविनाशी अक्षय आत्माके लिये सदा वर्तमान काल किंवा कालरहित अवस्था ही रहती है। परंतु जो विनाशी शरीर को हि देखते रहते हैं, उनको उत्पत्ति स्थिति और विनाश का अनुभव होता है। अतः वे उत्पत्ति और विनाश से मोहित होते हैं और अक्षय तत्त्व को देख नहीं सकते। श्रीकृष्ण भगवान् की दृष्टि और अर्जुन की दृष्टिमें यह भेद था, इस लिये दोनों के अनुभव भिन्न हैं।

यहां सुबोधताके लिये एक उदाहरण लेते हैं, एक मनुष्य है, उसकी आयुके प्रारंभके ८ वर्ष बालपनमें गये, आगे २४ वर्ष गुरुकुलमें विद्याभ्यासमें गये, इसके पश्चात् के ३० वर्ष गृहाश्रममें गये और शेष आयु संन्यासाश्रममें व्यतीत हुई। आयुके इन चार खण्डोंमें रहता हुआ वह मनुष्य बालपन के किये कर्म को भी 'वह मैंने किया' ऐसा कहता है, और गृहाश्रममें या संन्यासाश्रम में किये कर्म को भी 'वह मैंने किया' ऐसाही कहता है। इन चारों अवस्थाओंमें जैसा वह एक ही भावसे रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तरकी अवस्था भी इनमें संमिलित की जावे, तो दूसरे शरीर के द्वारा किये कर्म भी "मैंने हि किये" ऐसा वह कह सकता है। परंतु यह उसको तब साध्य होगा कि जब वह अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करने लगेगा। अर्थात् जो इसप्रकार अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करता हो, वही पुनर्जन्मका स्मरण रख सकता है।

पुनर्जन्म के भेद।

पुनर्जन्मके कई प्रकार हैं। पहिले आत्मा प्राण के साथ मिलकर मेघमंडलका आश्रय करता है और वृष्टिके साथ वृक्षवनस्पतियोंपर सिंचित होता है, इस समय यह 'जलात्मा' कहलाता है यह इसका पहिला जन्म है।

वह जल वृक्षवनस्पतियां पीती हैं जिससे वह वृक्षवनस्पतियों में रहने लगता है। यह इसका दूसरा जन्म है। इस समय यह 'अन्नात्मा' कहलाता है।

वृक्षवनस्पतियोंका अन्न स्त्रीपुरुष खाते हैं, उससे उनके शरीर में रक्त और वीर्य बनता है। यह उसका तीसरा जन्म है। इस समय इसको 'वीर्यात्मा' कहते हैं।

इस वीर्यसे स्त्रीके शरीरमें गर्भाधान किया जाताहै। यहां गर्भाशयमें यह रहता है। यह इसका चौथा जन्म है, इस समय इसको 'गर्भात्मा' किंवा 'मातरि-श्वा' (माता के उदर में रहनेवाला) कहा जाता है।

गर्भ स्थितीके नंतर दशम मासमें माताके उदर से वह बाहर आता है, यह उसका पांचवां जन्म है, इसको 'पुरुषात्मा' कहते हैं। इस तरह पांचवे जन्ममें जीवनपूर्ण जल मनुष्य रूपमें परिणत

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

होता है। (पञ्चम्यां आहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति । छां० उ० ५।३।३)

इसके नंतर उपनयन संस्कार से द्विजबालकों का नया जन्म होता है, यह छठां जन्म है, इसको 'ज्ञानात्मा' कहते हैं।

आगे ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थाश्रम लेकर विविध कर्म करता है, इस समय इसको 'कर्मात्मा' कहते हैं। यहां कर्म के कारण सातवां पुनर्जन्म होता है। विशेष प्रशस्ततम कर्म करके यह जगद्वंद्य बनता है। शत क्रतु करके इन्द्रपदवी भी प्राप्त करलेता है। नर करणी (कर्म) करनेसे नर का नारायण बनता है। यह इसका 'कर्म जन्म' है।

कदाचित संन्यासाश्रम लेनेद्वारा सब कर्मोंका संन्यास करता हुआ यह 'चिदात्मा' बनता है। यह इसका आठवां जन्म है, यहां इसको आनंदावस्था का अनुभव होता है। इस समय यह (निजानन्दरूपः शिवः केवलोऽहं) मैं आनंदघन हूँ ऐसा अनुभव करता है।

इस तरह मनुष्यका आत्मा कई जन्म लेता है। इनमें पिताके देहसे माताके देहमें और माता के देहसे जगत् में जन्म होना मुख्य पुनर्जन्म है। यहां एक पक्ष ऐसा एक मत प्रतिपादन करता है कि पिता ही पुत्ररूपसे पुनर्जन्म पाता है, अर्थात् पिता पुत्र या पुत्री रूपसे नया जन्म लेता है। तात्पर्य जितने पुत्र या पुत्रियां होंगी, उतने पुनर्जन्म पिताने लिये ऐसा समझना चाहिये।

आत्मा वै पुत्रनामाऽसि ॥ कौशी० उ० २।११
स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रैति, अथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति ।
बृ० उ० १।५।१७

"स्वयं ही पुत्ररूप होता है। जो ज्ञानी बनकर यहां से चल बसता है वह अपने प्राणसे पुत्र में प्रविष्ट होता है।" इत्यादि अनेक रीतिसे पिताका पुनर्जन्म पुत्रमें होनेका वर्णन शास्त्रोंमें है।

इसके अतिरिक्त एक और भी 'कर्म जन्म' नामसे पुनर्जन्म हुआ करता है। जैसा राजा, प्रधान, सेनापति, आचार्य आदि के कर्म सब देशोंमें चलते ही हैं। जब ये मरते हैं या स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं, तब दूसरे मनुष्य उस स्थानापन्न होते हैं, एक राजा दूर होनेपर दूसरा आता है, प्रधान के स्थानापन्न दूसरा होता है, सेनापति जानेपर दूसरा किया जाता है और आचार्य के स्थानापन्न दूसरा होता है। पहिले का पुनर्जन्म दूसरेमें होता है। यह 'कर्मजन्म' है। जिस राष्ट्रमें इस प्रकार के कर्म से पुनर्जन्म होते रहते हैं वह राष्ट्र सबल रहता है और जिस राष्ट्रमें मृत मनुष्यका कर्मसे पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उसका स्थान रिक्त रहता है वह राष्ट्र निर्बल समझना चाहिये। अपने देशमें कार्यकर्ता नेता लोगोंके स्थान रिक्त रहते हैं या भरजाते हैं, यह देखनेसे इस बात का पता लगेगा कि हमारा देश कैसा है।

इस प्रकार के कई तरह के पुनर्जन्म हैं। इनका संक्षेपसे यहां निर्देश इसलिये किया है कि, पाठकोंको अनेक प्रकारके पुनर्जन्मोंकी ठीक कल्पना हो जाय और ये इनका विचार कर सकें। परंतु यहां जिस पुनर्जन्मका उल्लेख है, वह एक शरीर छूटनेपर उस आत्माको जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है, उस पुनर्जन्मका है और भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुनसे कहा है कि "मेरे और तेरे कई जन्म वारंवार हुए हैं, इनको मैं जानता हूं परंतु तू नहीं जानता।"

इस जन्मके भी दो भेद हैं, एक स्वेच्छासे किंवा स्वतंत्रतासे और दूसरा नियमके बंधनसे अर्थात् परतंत्रतासे। श्रीकृष्ण भगवान् के जो अनेक जन्म हुए वे उनकी स्वतंत्र इच्छा से हुए हैं और जो अर्जुन के जन्म हुए हैं वे नियमबंधनसे अर्थात् परतंत्रतासे हुए हैं, इस विषयमें अगला श्लोक देखिये—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मुक्तका पुनर्जन्म।

अजः, अव्ययात्मा, भूतानां ईश्वरः सन् अपि, अहम्, स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय, आत्ममायया संभवामि ॥ (४।६)

"अजन्मा, अव्यय अर्थात् अविनाशी आत्मा मैं हूं, और सब भूतोंका मैं ईश्वर भी हूं, इतना होनेपर भी अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर मैं आत्मशक्तिसे स्वयं जन्म लेता हूं।" इसमें परमात्मस्वरूपी श्रीकृष्ण किस प्रकार जन्म लेते हैं इसका वर्णन है। इसमें निम्न लिखित विधान हैं—

(१) (अ-जः) आत्मा अजन्मा, जन्मरहित है, तथा (अजः=प्रेरकः) सब का प्रेरक, चालक किंवा मुख्य नेता है;

(२) (अ-व्ययः) आत्माका कभी व्यय नहीं होता, अर्थात् वह अविनाशी है;

(३) (आत्मा=अतति इति) आत्मा सतत गति या प्रेरणा करनेवाला किंवा सर्वत्र व्यापक है;

(४) (भूतानां ईश्+वरः) सब भूतमात्रके ईशोंमें मुख्य ईश, सब जगत् का मुख्य स्वामी सब का एक मात्र अध्यक्ष और चालक;

(५) (स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर, अपनी प्रकृतिको अपने आधीन रखकर, अपनी प्रकृतिका स्वामी बनकर, अपनी प्रकृतिको यथावत् जाननेवाला होकर, अपनी प्रकृतिका निरीक्षण करके,

(६) (आत्म-मायया सं भवामि) अपनी शक्तिसे जन्म लेता हूं, निजशक्तिसे सम्यक्तया होता हूं, अपनी शक्तिसे प्रकट होता हूं।

श्रीकृष्ण भगवान् के अवतार या जन्म लेनेके विषयमें इस श्लोकमें ये छः बातें कहीं हैं, उनका मनन सबसे प्रथम करना योग्य है। इससे शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ईशका जन्म कैसा होता है और बद्ध का जन्म कैसा होता है, इस महत्त्वपूर्ण बात का निर्णय होना है, अतः पाठक इस ओर विशेष ध्यान दें।

यहां श्रीकृष्ण भगवान् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव युक्त हैं, और अर्जुन बद्ध स्थितिमें है। दोनों के (बहूनि जन्मानि व्यतीतानि) अनेक जन्म हुए हैं, ऐसा पंचम श्लोक में कहा है। इस लिये यह बात स्पष्ट होगई कि, मुक्त भी जन्म लेता है और बद्ध भी जन्म लेता है। अतः इस बातका विचार करना चाहिये कि, इन दोनों के जन्म लेनेमें कौनसा भेद है? पूर्वोक्त स्थानपर मुक्तके जन्म लेनेके विषयमें छः बातें कहीं हैं, उनका सार यह है—

"(मुक्त आत्मा अनुभवसे यथावत् जानता है कि) अपना आत्मा जन्मरहित, नाशरहित, सबका चालक, सर्वत्र व्यापक और सब का मुख्य स्वामी है, (वस्तुतः उसको जन्म लेनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि विशेष कार्य करने के लिये वह) अपनी प्रकृति को अपने संयम में रखकर, अपनी शक्तिसे हि स्वयं जन्म लेता है।"
(भ० गी० ४।६)

भगवान् श्रीकृष्णके अनेक जन्म इस तरह होते हैं। जन्म लेनेका वास्तविक कोई कारण न होते हुए भी ये क्यों जन्म लेते हैं? इसका हेतु (भ० गी० ४।७, ८ में) आगे कहा जायगा, यहां केवल किस तरह जन्म लिया जाता है, इतनीहि बातका कथन किया है। अब इसके विपरीत बद्ध मनुष्य का पुनर्जन्म कैसा होता है, वह देखिये, पूर्वोक्त मुक्त स्थितिके सर्वथा विरुद्ध अवस्था उसकी है, देखिये—

बद्ध का पुनर्जन्म।

"(बद्ध मनुष्य अपने आपको शरीरसे परिमित समझनेके कारण सचमुच मानता है कि) मैं शरीर हूं और मैं जन्म लेता हूं, (बढता हूं, कृश होता हूं, और) मरता भी हूं, मेरा चालक दूसरा है, मैं एकदेशी और छोटा हूं, मेरे अधिकारमें कुछभी नहीं है, प्रकृतिस्वभावके अनुसार मुझसे कार्य होंगे, मैं सर्वथा असमर्थ हूं और

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

ईश्वरकी शक्तिसे मुझे अपने कर्मानुसार पुनः पुनः जन्म प्राप्त होगा।" इस प्रकार बद्ध दूसरेकी शक्तिसे घुमाया जाता है और मुक्त अपनी शक्ति से सब कुछ कर लेता है।

इस के लिये एक उदाहरण ऐसा लिया जा सकता है कि, एक नगरमें एक कारागृह है, उसमें राज्य प्रबंधसे कुछ बन्दिवान रखे हैं। एक दिन उस कारागृह का निरीक्षण करनेके लिये राजा स्वयं अपने मंत्रियोंसे कारागृह में गया। जब तक राजा वहां रहा तब तक उसी कारागृह में जैसा राजा होगा और उसके मंत्री होंगे, उसी प्रकार कैदी भी होंगे। वस्तुतः इस समय राजा भी जेलखानेमें है और कैदी भी हैं। परंतु राजा स्वतंत्र है और कैदी परतंत्र हैं। यही भेद मुक्तके शरीरधारण करनेमें और बद्धके जन्मलेनेमें है। दोनों इस जगत्में जन्म लेते हैं और कार्य करते हैं, परंतु एक (स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता है और दूसरा प्रकृतिका दास है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रकृतिके स्वामी थे और अर्जुन प्रकृतिका दास था। अर्जुनकी योग्यता अन्य मनुष्योंसे कई गुणा अधिक थी, क्योंकि उसके सौभाग्यसे भगवान् के कार्य में प्रमुख भाग लेकर ईशकार्यको करनेका अवसर उसको प्राप्त हुआ था। इसलिये अर्जुनका जन्म सार्थक हुआ। जो भगवत्कार्यसे दूर रहते हैं उनकी दुरवस्थाका विचार ही न करना अच्छा है।

इस तरह बद्ध और मुक्त के जन्म किस तरह होते हैं इस बात का विचार हुआ, अब इस विषयमें वेद में क्या लिखा है सो अब देखिये—

अजका पुनर्जन्म।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

वा० यजु० ३१। १९

"(प्रजापतिः) सब प्रजाओंका पालक (गर्भे अन्तः चरति) गर्भ के अंदर विचरता है। यह (अ—जायमानः) कभी न जन्मनेवाला है तथापि (बहुधा विजायते) अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है, (धीराः तस्य योनिं परिपश्यन्ति) धीर लोग उसके मूल स्थानको देखते हैं, (तस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः) उसीमें ये सब भुवन रखे हैं।" इसी तरह अगला वेदमंत्रभी देखिये—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः।

वा० यजु० ३२। ४

"यही देव सब दिशा उपदिशाओंमें है, वह (पूर्वः जातः) पहिले हुआ था और फिर (सः गर्भे अन्तः) वही गर्भ में आगया है। वही पहिले हुआ हुआ और भविष्यमें होनेवाला है। हे लोगों! वही सर्वत्र मुख करके अवस्थित होनेवाला (प्रत्यङ् तिष्ठति) प्रत्येक पदार्थ में है।" तथा और देखिये—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः प्रतिरूप ईयते॥

ऋ. ६। ४७। १८; बृ० उ० २। ५। १९

"प्रत्येक रूप के लिये वह (प्रतिरूपः) आदर्श बना है, यह इस का रूप (प्रतिचक्षणाय) देखने योग्य है। यह (इन्द्रः) प्रभु अपनी (मायाभिः) शक्तियोंसे प्रत्येक रूपका नमुना बना है०।"

इन मंत्रोंका और गीताके श्लोकका बहुत साम्य है, देखिये—

गीताश्लोक	वेदमंत्र
अजोऽपि सन्	अजायमानः
भूतानामीश्वरोऽपि सन्	प्रजापतिः, देवः, इन्द्रः,
संभवामि (संभवति)	बहुधा विजायते
,,	चरति गर्भे अन्तः
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि।	जातः, जनिष्यमाणः, (पुनः) गर्भे अन्तः।
संभवाम्यात्ममायया।	इन्द्रो मायाभिःप्रतिरूपः ईयते।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(३) भगवान् के जन्मका उद्देश्य।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

अन्वयः— हे भारत! यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य (च) अभ्युत्थानं भवति, तदा अहं आत्मानं सृजामि ॥ ७ ॥ साधूनां परित्राणाय, दुष्कृतां विनाशाय, धर्मसंस्थापनार्थाय च अहं युगे युगे संभवामि ॥ ८ ॥

हे भरतकुलोत्पन्न! जब जब धर्म में शिथिलता और अधर्म की प्रबलता होती है, तब तब मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं अर्थात् मैं जन्म लेता हूं ॥७॥ साधुओंकी रक्षा के लिये, दुष्टोंके नाश के लिये और धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युगयुगमें जन्म लेता हूं ॥८॥

भावार्थ— जब धर्म दबाया जाता है और अधर्म फैलता है, तब सज्जनों की रक्षा करनेके लिये, दुर्जनों का नाश करनेके लिये और धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिये ईश्वरका अवतार होता है ॥ ७-८ ॥

इस तरह वेदके मंत्रोंमें जो विषय है वही भगवद्गीतामें इन दो श्लोकोंमें संग्रहित किया है। अस्तु। इस प्रकार बद्ध और मुक्त इन दोनों के पुनर्जन्म किस तरह होते हैं इसका यहांतक वर्णन हुआ। अब भगवान् कहते हैं कि, अपने जन्म किस कारण हुआ करते हैं, यह बोधप्रद और चिरस्मरणीय विषय अब देखिये—

(७-८) इन दो श्लोकोंमें मुक्त पुरुष, भगवान्, शुद्ध शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला आत्मा अथवा ईश्वर किस उद्देश्यसे जन्म लेते हैं, इस का वर्णन किया है। इन दोनों श्लोकोंमें अवतारके पांच उद्देश्य कहे हैं—

अवतारके पांच उद्देश्य।

(१) जब (धर्मस्य ग्लानिः भवति) धर्मकी ग्लानि होती है, धर्म दब जाता है, धार्मिक लोगोंके ऊपर अधार्मिक लोग अत्याचार करते हैं, धार्मिक सज्जनोंका वचन कोई सुनता नहीं और अत्याचारी लोगोंके आधीनहि सब राजयंत्र रहते हैं, अत्याचारी लोग विना रोक टोक अत्याचार करते हैं, तब धर्म के सहाय्यार्थ भगवान् अवतार धारण करते हैं।

(२) (अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति)- मनुष्यों की प्रवृत्ति अधर्म की ओर होती है, अधर्म करनेसे अधिक सुख प्राप्त होनेकी संभावना जनता को प्रतीत होती है, उस समय धर्मका उत्कर्ष करनेके हेतुसे भगवान् अवतार लेते हैं।

(३) जिस समय सज्जनोंको उनके सत्य धर्माचरण के कारण क्लेश दिये जाते हैं, सन्मान्य पुरुषोंको अरण्यवास, कारागृहवास, वधदण्ड अथवा अन्य प्रकारके दण्ड दिये जाते हैं, धर्मका रक्त भूमिपर गिरता है, और धर्मका त्राता पृथ्वीपर कोई नहीं रहता, उस समय (साधूनां परित्राणाय) सज्जनोंकी रक्षा के लिये भगवान् का अवतार होता है।

(४) दुष्कर्म करनेवालों की जिस समय चलती होती है, सब अधिकार और वैभव दुष्क-

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

र्मियोंके आधीन होते हैं, दुष्ट कर्म करनेवालों कीहि जिस समय मानमान्यता बढती है, उस समय (विनाशाय दुष्कृतां) दुष्टोंको दण्ड देने के लिये और उनका नाश करने के लिये भगवान् का अवतार होता है ।

(५) (धर्म-संस्थापनार्थाय) धर्मकी संस्थापना अर्थात् मानव धर्मकी सुव्यवस्था करने के लिये भगवान् का अवतार होता है ।

ये पांच हेतु हैं जिनके लिये भगवान् का अवतार होता है, सारांशसे (१) धर्मकी ग्लानि का समय, (२) अधर्म के उत्थान का समय, (३) साधुओंके संरक्षण के कार्य के लिये, (४) दुष्टों के दमन के लिये और (५) धर्मव्यवस्था करने के लिये अवतार होता है ।

इसके मननसे पाठक जान सकते हैं कि किस समय और किस कारण के लिये भगवान् का अवतार होता है । जिस समय धार्मिकों का छल होगा, अधार्मिकों के अत्याचार होते जांयगे, साधुओंको कष्ट पहुंचेंगे और दुष्टोंका नाश करनेके विना धर्म की व्यवस्था नहीं होगी, जब ऐसा समय उपस्थित होगा, तब उत्तम-पुरुषका अवतार अवश्य होगा ।

देवोंका अंशावतार ।

वास्तवमें प्रत्येक प्राणीमें किंवा हरएक मनुष्य में आत्माका और अग्नि वायु इन्द्र चन्द्र आदि सब देवोंका अंशावतार होता ही है । आंखमें सूर्य, नासिकाके प्राणमें वायु, मुख में अग्नि, रेत में जल, अस्थियोंमें पृथ्वी, नाभि में मृत्यु आदि अनेक स्थानोंमें अनेक देवोंका अंशावतार होता है और जीवात्माके रूपमें परमात्मा का अंश आकर मनुष्य के हृदयस्थानमें विराजता है । इस दृष्टीसे देखा जाय, तो प्रत्येक मनुष्य अवतार हि है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ऐ० उ० २ । ४

यह विषय प्रायः बहुत उपनिषदों में वर्णित हुआ है अतः उसका यहां पुनः अधिक वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । यद्यपि इस इस दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्य अंशावतार है, और यह जैसा मनुष्योंमें उसी प्रकार राक्षसोंमें भी होता है । तथापि यहां जो अवतार शब्द आया है वह विशेष महत्त्व के सामर्थ्ययुक्त पुण्य पुरुषके जन्म लेनेके लिये हि समझना चाहिये ।

जनताका उद्धार ।

महात्मा, सत्पुरुष, मुक्तात्मा, पुण्यात्मा, ये तो अपने तपसे नरके नारायण स्वरूप बने होते हैं, येभी जनताकी निकृष्ट अवस्था देख कर उनके उद्धार करनेके लिये स्वयं अपनी इच्छा अथवा परमेश्वरकी आज्ञा प्राप्त करके इस भूमंडलपर आते हैं । किंवा इस भूमंडलपर की जनता जब अत्यंत दुःखी होती है और किसी प्रकार भी अपने उद्धार का मार्ग नहीं देखती, सब ओरसे दुष्टोंका उत्पात देख कर हताश होती है, उस समय अशरण होकर परम पुरुषकी प्रार्थना करती है कि "हे प्रभो ! हम सब तेरी शरणमें आगये हैं, अब तू हि हमारी रक्षा कर, हमें दूसरा मार्ग नहीं दीखता है" । ऐसे जब सब जन प्रभुकी करुणा भाकते हैं और हृदयसे उसकी प्रार्थना करते हैं, तब वह दीनदयालप्रभु भक्तोंकी प्रार्थना निःसंदेह सुनते हैं और अंशावतार से अवतीर्ण होते हैं, किंवा अपनी प्रेरणासे किसी महात्मा मुक्तात्माको प्रेरणा करते हैं । इस तरह इन श्रेष्ठात्माओंके जन्म लेनेको "अवतार" कहते हैं । ये इस भूमंडलपर आते हैं और दुष्टोंको दण्ड देकर, सज्जनोंकी रक्षा करते हैं और धर्मव्यवस्था करके अपना अवतारकृत्य समाप्त करते हैं ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अनुभवकी बात।

प्रत्येक देशमें, जातीमें, राष्ट्रमें और जनसमाज में अत्यंत अवनतिके समयमें अत्यंत तेजस्वी पुरुष आते हैं और विशेष कार्य अद्भुत सुकरताके साथ करते हैं, यह बात हरएक देशके इतिहास में देखी जाती है। जो बात साधारण मनुष्यकी कल्पनामें भी नहीं आती वह बात ये लोकोत्तर पुरुष करके दिखा देते हैं, और लोगोंपर ऐसा प्रभाव जमा देते हैं कि ये अपने प्रभावसे विरोधियोंको भी अनुकूल बना देते हैं और साधारणतः न बननेवाले कठिनसे कठिन कार्य सहजहीमें करके दिखा देते हैं!! पाठक प्रत्येक जातीके इतिहास में ऐसे पुरुषोंके कार्य देख सकते हैं। ये पुरुष महात्मा मुक्तात्मा, श्रेष्ठात्मा, दिव्यात्मा अथवा परमात्मा किंवा पुरुषोत्तम होते हैं। जो लोग तपसे और अपने सदाचार से मुक्त हुए होते हैं, उनका नाम महात्मा, मुक्तात्मा, श्रेष्ठात्मा और दिव्यात्मा होता है। और परमात्मा, पुरुषोत्तम और नारायण उसका नाम है कि जो इस जगत् का कर्ता धर्ता और संहर्ता प्रभु है। भगवद्गीता के कथनानुसार श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम का अवतार हैं और उनके सहचारी श्रेष्ठात्मागण हैं। यह बात आगे अनेक स्थानोंपर स्पष्ट रीतिसे कही है। अतः इस विषयमें कोई संदेह नहीं है। तथापि सुबोधता के लिये यहां थोडेसे वचन उद्धृत किये जाते हैं—

(१) उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।१७
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
गी० १५। १८

(२) भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
भ० ६। २९

(३) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
भ० ७। ७

(४) मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
भ० ९। ५

इत्यादि प्रकारके अनेक श्लोक भगवद्गीतामें हैं, जिनमें कहा है कि, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण परमात्मा हैं। देखिये इनका भावार्थ इस प्रकार है-"(१) परमात्मा उत्तम पुरुष हैं और मैं हि लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम कहलता हूं। (२) यज्ञोंका भोक्ता, महेश्वर सब का मित्र मैंहि हूं। (३) मैं सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति, और लय करता हूं। सूत्रमें मणि रहनेके समान मुझमें यह सब विश्व रहा है। (४) मुझ अव्यक्त आत्माके द्वारा यह सब जगत् फैलाया गया है, यह सब मुझमें हि है।" इस तरह के वर्णन भगवद्गीतामें अनेक वार आगये हैं। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त निश्चयसे यह है कि, भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर के पूर्ण अवतार हैं। और उन्होंने पूर्वोक्त पांच कर्म करनेके लिये जन्म लिया है। "प्रजापति गर्भमें आता है, वह पहिले हुआ था, इस समय गर्भमें है और भविष्यमें भी होगा," इस प्रकार का आशय व्यक्त करनेवाले वेदमंत्र पूर्व श्लोक (भ० गी० ४। ५-६) के व्याख्यान के अवसर पर दिये ही हैं। इन की भगवद्गीताके वचनके साथ संगति लगाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार भगवान् का जन्म होना संभवनीय है।—

अस्तु, इस ढंगसे यहां बताया कि पुरुषोत्तम का दिव्य जन्म किस तरह होता है, मुक्तात्माओंका जन्म क्यों होता है और अन्य बद्ध जीवोंका जन्म किस तरह होता है। पाठक इन सब प्रकार के जन्मों का विचार करें और जानें कि जगत्में इन तीन प्रकारके जन्म हैं। इनमें पुरुषोत्तम के दिव्य जन्म का और उसके कर्म का ही मनन करना चाहिये, क्यों कि इसी के मननसे मनुष्य का उत्कर्ष होता है। देखिये इसी विषयमें आगे भगवान् स्वयं कहते हैं—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(४) दिव्य जन्म और कर्म ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! यः मे दिव्यं जन्म कर्म च एवं तत्त्वतः वेत्ति, सः देहं त्यक्त्वा, पुनर्जन्म न एति, (किंतु सः) मां एति ॥ ९ ॥ वीतरागभयक्रोधाः, मन्मयाः, मां उपाश्रिताः, ज्ञानतपसा पूताः, बहवः मद्भावं आगताः ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे इस दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको इस तरह तत्त्वदृष्टि से जानता है, वह देह छोडनेके बाद अर्थात् मरनेके बाद, पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता; परंतु वह मुझे प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ राग, भय और क्रोधसे रहित, मुझमें तल्लीन, मुझे ही शरण आनेवाले और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने हुए बहुतसे लोग, मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— भगवान् के जन्म भी दिव्य होते हैं और उनके कर्म भी दिव्य होते हैं। उनके रहस्य को जो यथावत् जानता है, वह पुनर्जन्मके प्रवाह में कदापि नहीं फंसता, परंतु वह निःसन्देह भगवत्स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ जो राग भय और क्रोधसे दूर रहते हैं, जो भगवद्भक्तिमें तल्लीन हुए हैं, जो प्रभुकी शरणमें जाते हैं, और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने होते हैं,वे परमात्मस्वरूपको प्राप्त करते हैं अर्थात् वे परमात्मरूप बनते हैं॥९-१०॥

दिव्य जन्म और दिव्य कर्म ।

(९-१०) (जन्म कर्म च मे दिव्यं) भगवान्के हि जन्म और कर्म दिव्य होते हैं; परंतु अर्जुन के जन्म और कर्म दिव्य नहीं हैं। यह बात यहां देखने योग्य है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि अन्योंके जन्म के समान भगवान् का जन्म नहीं होता है, वह कुछ अद्वितीय अद्भुत और दिव्य किंवा स्वर्गीय होता है। एक दिव्य जन्म है और दूसरा पार्थिव जन्म है । पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन स्थान हैं। पृथ्वीरूप अर्थात् स्थूल रूपमें होनेवाला जन्म-पार्थिव जन्म कहलाता है, अन्तरिक्ष रूपमें अर्थात् अदृश्य अंतःशक्तीके रूपमें होनेवाला जन्म आन्तरिक्ष जन्म होता है और द्युलोकके रूपमें अर्थात् स्वर्गीय रूपमें होनेवाला जन्म दिव्यजन्म कहा जाता है। ये ब्रह्माण्डके तीनों स्थान पिण्डकी व्यक्तीमें इस तरह होते हैं –

(ब्रह्माण्ड)			(पिण्ड)
पृथ्वी	भूः	स्थूल	शरीर
अन्तरिक्ष	भुवः	सूक्ष्म	अन्तःकरण
द्यौः	स्वः	कारण	बुद्धि

पार्थिव जन्म का अर्थ है स्थूल शरीरका जन्म। यह जन्म संपूर्ण प्राणिमात्रको प्राप्त है। सब का जन्म उनके स्थूल शरीर के जन्मके साथ ही होता है। यह जन्म अत्यंत साधारण अथवा निकृष्ट है ।

इसके ऊपर की श्रेणीवालोंका जन्म अंतःकरण में अथवा मनमें होता है। द्विजोंका ऐसा जन्म होता है, इस समय इसकी माता सावित्री और

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पिता आचार्य होता है । यह आचार्यजी की प्रेरणासे विद्यामाता में अन्तरिक्ष के शरीर स्थानीय प्रतिनिधिभूत अन्तःकरण के स्थानमें होता है। यह अभौतिक जन्म है। इस जन्म से उस मनुष्य में बडा परिवर्तन होता है। इस के स्थूल शरीरका जन्म किसी भी कुल में हुआ हो, परंतु आचार्यद्वारा विद्यासंस्कारोंसे जो इस का दूसरा जन्म इसकी मनोभूमिकामें होता है, वह इसकी विशेष योग्यता बनाता है इस विषयमें मनुस्मृतिका वचन है—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयते मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा
मनुस्मृति २। १४७, १४८

"माता पिता जो आपसमें मिलकर इस पुत्रकी उत्पत्ति करते हैं, और जो मातासे उत्पन्न होती है वह उसकी जाति नाममात्र है ॥ पर वेद के पार पहुंचा हुआ आचार्य जो सावित्रीसे इस यथाविधि जन्म देता है, वह जाती सत्य, अजर और अमर है ॥"

इसप्रकारके सावित्र जन्म के कारण व्यास, वसिष्ठ, अगस्त्य, विश्वामित्र आदि ऋषि साधारण कुलमें उत्पन्न होनेपर भी महर्षि पद को प्राप्त हुए। यह जन्म आचार्य की कृपा, सावित्री की भक्ति और अपना योग अभ्यास इन के बलसे प्राप्त होता है। यहां स्थूल शरीरके जन्मकी बहुत प्रधानता नहीं है। यह द्विजत्व मनोभूमिका में किंवा अन्तःकरणके स्थानपर बनता है। इससे मनकी शक्तिमें विलक्षण परिवर्तन होता है।

दिव्य जन्मका ज्ञान।

इससे भी ऊंचा जो जन्म होता है वह "दिव्य जन्म" कहलाता है। यह तो आत्मा बुद्धिके क्षेत्रमें दैवी स्फुरणसे हुआ करता है। किसी अद्भुत कारणसे या भगवत्कृपासे अथवा भगवदिच्छासे किसीकी बुद्धिके क्षेत्रमें दिव्य प्रेरणा, दिव्य इच्छा, दिव्य प्रभाव या दिव्य स्फुरण होता है, और उस मनुष्य में इतना परिवर्तन होता है कि उसको देखकर अन्य मनुष्य चकित ही होते हैं !! इसका नाम "दिव्य जन्म" है। इससे मनुष्य का जीवन, बुद्धिकी वृत्ति और आत्मा का तेज विलक्षण, अद्भुत और असामान्य हो जाता है। प्रारंभिक जीवनमें व्यभिचारी रहा मनुष्य आगे उत्तम ब्रह्मचारी होता है, पहिली अवस्था में निःसत्त्व रहा मनुष्य आगे प्रचण्ड सामर्थ्यके कर्म करता है। यह सब परमात्माकी दिव्य ज्योतिका प्रकाश उसकी आत्मामें होनेसे होता है। किसी मनुष्यमें यह परमात्माकी ज्योतिका आविर्भाव गर्भमें, या बालपनमें होता है और किसीमें आगे की आयुमें होता है। परमात्मा इसी प्रकार स्फुरणसे दिव्य जन्म लेते हैं। परमात्मरूप बने हुए श्रेष्ठात्माभी इसी प्रकार शरीर धारण करते हैं। इनको माताके गर्भमें नौ महिने पकते रहने की आवश्यकता नहीं होती। जिनका केवल पार्थिव जन्म होता है उनको माताके गर्भमें शरीरके साथ नौ मास पकना पडता है।

यहां तीन जन्मोंसे प्राप्त होनेवाले तीन शरीरोंका उल्लेख किया है। ये तीन शरीर यद्यपि एक दूसरेके अन्दर होते हैं, तथापि यह कोई नियम नहीं है कि इनमेंसे एक बलवान होनेपर दूसरा अवश्य ही बलवान होगा। जिसका स्थूल शरीर बलिष्ठ होगा उसके अन्दर के दो शरीर बलवान होंगे इस विषयमें कोई निश्चय नहीं है। "बलिष्ठ शरीरमें बलिष्ठ मन" इस अर्थका एक प्रसिद्ध वाक्य है, परंतु यह सत्य नहीं है। कई योगी और ऋषि पार्थिव शरीरसे अत्यंत दुर्बल थे परंतु उनका आन्तरिक शरीर अर्थात् मनोदेह अथवा बौद्धिक देह बडे शक्तिशाली थे। दिव्य जन्म तो बौद्धिक और आत्मिक देह के साथ संबंध रखता है। जिसके अन्दर यह दिव्य जन्मसे दिव्य देह होता है वह अपने बौद्धिक और आत्मिक देहसामर्थ्यसे निःसन्देह विशेष

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुगंधित धूप

सब प्रकारके सुगंधित धूप, अगरबत्तियां, धूपकी टिकियां, धूपबत्तियां हमारे पास मिलती हैं।

सुगंधशाला, डा० किन्ही (जि. सातारा)

The Vedic Magazine

The only Journal in English which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas in all climes and countries. It is the only organ of the Arya Samajic world which carries the message of the Arya Samaj beyond the seas. Indian emigrants from Non-Hindi-knowing Provinces of India, e. g., Madras, Mysore, Andhradesh, Burma, etc. etc., can remain in contact with Aryan thought through this monthly. The contents of the Magazine have always been highly spoken of by men and women of light and leeding.

Conductd by Prof. Ramdev, Principal & Governor, Gurukula Kangri.

Subscription Rs. 5 only in advance.

Managar 'The VEDIC MAGAZINE'

P.O. GURUKULA KANGRI.
(Dist. Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करने के लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय एक आना।

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B. 1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से १]	११	११२१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[११" १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७।) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०७]	११	१०७६	६	१)

कुल मूल्य ५८।) कुल डा. व्य.१०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १३
अंक ९
क्रमांक
१४९

वैशाख
संवत् १९८९
मई
सन १९३२

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =)वी. पी. से ।॥=)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयसूची

१ कल्याण और संरक्षण	५१
२ भगवद्गीता	५२
३ पूर्ण शिक्षा	५३
४ स्वागत	५८
५ अथर्ववेदका स्वाध्याय	१३७
६ श्रीमद्भगवद्गीता	३२१

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं। प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा. व्य. ।-) है। जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है। भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते। परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है। इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक का अवश्य अपने पास रखे। मूल्य केवल ।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ५

ॐ

वैशाख
संवत् १९८९

क्रमांक
१४९

वैदिक धर्म।

मई
सन १९३२

वैदिक-तत्त्व-ज्ञान-प्रचारक-मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

कल्याण और संरक्षण।

या गुंगूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती।
इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये॥

ऋ० २।३२।८

"गुंगू, सिनीवाली, राका, सरस्वती, इन्द्राणी और वरुणानी इन शक्ति की देवताओं को मैं अपने कल्याण के लिये और संरक्षण के लिये बुलाता हूं।"

"गुंगू" वाक्शक्ति है, "सिनीवाली" अन्नशक्ति है, "रा-का" दातृत्व शक्ति है, "सरस्वती" विद्यादेवी है, "इन्द्राणी" प्रभुत्वशक्ति है और "वरुणानी" जीवन शक्ति है। ये छः शक्तियां अपने अन्दर आजायं और अपनी रक्षा करें तथा इनसे अपना कल्याण हो। जिसके पास ये छः शक्तियां होंगी उसका कल्याण और रक्षण निःसन्देह होगा। वाणी और विद्या ये साथ रहनेवाली हैं, अन्नशक्ति और जीवन-शक्ति सहचारिणी हैं, तथा दातृत्व और प्रभुत्व इनकी परस्पर साथ रही तो वह अधिक शोभा देती है। इस तरह ये छः शक्तियां मनुष्यों के पास रहकर उनका कल्याण करें और सदा उनकी रक्षा करें।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता की पुरुषार्थबोधिनी टीका।

श्रीमद्भगवद्गीता की पुरुषार्थबोधिनी टीका शीघ्र मुद्रित करनेके विषयमें पाठकोंका बहुत तगादा लगा है। इस भाषाटीका के ३ अध्याय छप चुके हैं और चतुर्थ अध्याय गत अंकसे प्रारंभ हुआ है। इस ग्रंथका लेखन विशेष ढंगसे किया जा रहा है, अनेक ग्रंथोंका आशय देखकर, विशेष विचार करके यह भाषाटीका लिखी जा रही है, इसलिये इस का लेखन अतिशीघ्र होना कठिन है। उपन्यास किंवा मनोरंजक कथाएं लिखना किंवा खंडन मंडन के लेख लिखना सहज होना संभव है,परंतु स्वाध्यायपरिश्रम पूर्वक विशेष दृष्टीसे लेख लिखना थोडा विचारका कार्य होनेसे पाठक इस विषयमें शीघ्रता न करें। जितना समय है आजकल इसी स्वाध्याय में लगाया जाता है और जितना लेख होता है उतना पाठकोंके सन्मुख रखा जाता है। पाठक इस भाषाटीका की विशेष मान्यता कर रहे हैं, यह देख कर विशेष परिश्रम करनेका उत्साह बढता है।

वैदिक धर्मके अंक।

वैदिक धर्म के कुछ अंक पीछे रह गयेथे, वे अब इस मासके अंकसे समयपर आगये हैं, अतः इस विषयमें पाठकों की कोई शिकायत नहीं रहेगी। आगे प्रतिमास का अंक ठीक समयपर प्रकाशित होगा। पाठक अपने इष्ट मित्रोंमें इसका प्रचार करें और ग्राहक बढाकर सहायता करें। क्यों कि आजकल कामधंदे की बहुत मंदी हुई है और धन के विना कार्य चलना बडा कठीन कार्य हो रहा है।

अथर्ववेदस्वाध्याय।

अथर्ववेद स्वाध्याय के ९ काण्ड क्रमपूर्वक हुए। तत्पश्चात् १५, १६, १७ छपचुके हैं और अब १८ वां छप रहा है। क्रम छोडने के कारण हमें पाठक दोष दे रहे हैं। परंतु हम नहीं जानते कि इस में किसी काण्डका आगे पीछे मुद्रण हुआ तो उसमें पाठकों का नुकसान किस प्रकार होता है। दस से चतुर्दश काण्डतक का मुद्रण १८ वे काण्डके मुद्रण के बाद होगा। उसमें स्वाध्याय के विषयमें कुछ कठिनता उत्पन्न हुई इस लिये १५ से आगेका मुद्रण पहिले किया है। कैसा भी अर्थ लिखकर मुद्रण करना हमें पसंद नहीं है। कमसे कम लेखक के मन की तो शान्ति होनी चाहिए। अतः पाठकों से निवेदन है कि वे इस त्रुटीकी क्षमा करें। १८ वाँ कांड छपतेने के बाद १० म काण्डका प्रारंभ किया जायगा।

महाभारत।

महाभारत अनुशासनपर्व पूर्ण मुद्रित होकर ग्राहकों के पास भेजा गया है। अब शेष महाभारत बहुत ही थोडा रह गया है। यह सब इस वर्षके अन्दर समाप्त होगा। इस समय तक हम ५।६ अंक इकट्ठे भेजतेथे। ऐसा करनेसे अंक सुरक्षित पहुंचनेमें सुभीता होता था। परंतु अब हमें डाकवालों की ऐसी आज्ञा होरही है कि प्रतिमास अंक भेजना चाहिये। यदि यह आज्ञा स्थिर होगयी तो प्रतिमास अंक भेजना पडेगा। ऐसी अवस्था में ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे अपना चन्दा ६) म. आ. द्वारा भेजदें। प्रत्येक अंक वी. पी. द्वारा भेजना असंभव है।

प्रबंधकर्ता—स्वाध्यायमंडल

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पूर्ण शिक्षा ।

पूर्ण शिक्षा किस प्रकार हो सकती है, इसी बात का विचार इस लेखमें करेंगे ।

मन, बुद्धि, तथा शरीर मनुष्य की कर्तृत्व शक्ति के साधन हैं । उनमें मन का महत्व सबसे अधिक है । इसीसे शिक्षा का प्रथम कार्य यह है कि मनकी भिन्न भिन्न वृत्तियों का विकास करना । ये वृत्तियां हैं सहानुभूति, परोपकारिता, उदारता, दयालुता, महत्वाकांक्षा आदि । बिना अनुकूल विषय के मनोवृत्तियां जागृत नहीं होतीं । और मनोवृत्ति जागृत हुए बिना उनका विकास या वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार के मौके स्कूलमें अधिक नहीं आते, स्कूल के बाहर नित्य के व्यवहार में ही अधिक आते हैं । बालक भी स्कूल के शिक्षक की अपेक्षा माबाप और पडोसियों के साथ अधिक समय तक रहता है । इसी लिए मनोवृत्तियों की शिक्षा का स्थान पाठशाला नहीं, घर ही है । निजी प्रेममयी शान्त उदार और सहनशील स्वभाव के प्रभाव से बालक में ईमानदारी, प्रेम, शान्ति, औदार्य और सहनशीलता उत्पन्न करने के मौके जैसे माबाप को मिलते हैं वैसे स्कूलोंके शिक्षकों को कदापि नहीं मिल सकते । गुरुकुल के अध्यापकोंको मिल सकते हैं, यही गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की विशेषता है ।

तिसपर भी स्कूलोंके शिक्षक इन बातों की शिक्षा बिलकुल नहीं दे सकते, यह नहीं । किन्तु जब तक शिक्षक की योग्यता की नाप उसने पास की हुई परीक्षा ही है, तब तक ऐसी शिक्षा देनेवाले शिक्षक बहुत ही कम मिलेंगे । शिक्षक का मुख्य काम यही निश्चित है कि कुछ बातें लडकों को समझाना और वे उनसे याद करा लेना । इन बातों के सिवा शिक्षक का बालकों के साथ अधिक संबंध नहीं आता । इससे उक्त शिक्षा देने को शिक्षकों को अधिक मौका नहीं है । और उक्त वृत्तियां जागृत करनेवाले विषय और मौके बहुत कम आते हैं इसीसे यह काम शिक्षकों से नहीं हो सकता । पाठशाला में साधारणतः लडकों के सामने स्लेट, काला तख्ता, चाकमिट्टी, टेबल और छडी रहती है । इनमें से किसकी ओर देखकर बालकोंके मनमें प्रेम, जिज्ञासा आदि वृत्तियां जागृत हो सकती हैं ? बालक तभी प्रेमी हो सकते हैं जब शिक्षक उनपर प्रेम करे । इसी तरह सत्यप्रीति, धैर्य, सहनशीलता आदि गुण उत्पन्न होने के लिए वैसे मौके आने चाहिए । किन्तु जहां १० । ५ गुण अधिक देना या कोई सजा माफ कर देना इसके सिवा उदारता दिखलाने के अवसर शिक्षक को नहीं आते; उस पाठशाला में उच्च वृत्तियों का विकास होने की गुंजाइश कहां । किसी सेनापतिका, साधुका वा देशोद्धार करनेवाले उदारचरित पुरुष का चरित्र बताते समय, या सृष्टिके उदात्त, सुंदर दृश्य का वर्णन करते समय शिक्षक ऐसी वृत्तियां जागृत कर सकता है । किन्तु ऐसे मौके बहुत कम आते हैं । और ऐसे मौकों पर भिन्न भिन्न मनोवृत्तियां उत्पन्न करनेवाले शिक्षक भी कम होते हैं । इसीसे विदित होगा कि मनोवृत्ति का विकास करने में पाठशाला की शिक्षा का बहुत ही कम उपयोग होता है । तिसपर भी विद्यार्थी और शिक्षक दोनों की बढती इतिहास और भूगोलके नाम और तारीख ठीक कहने पर, संज्ञा, सर्वनाम क्रिया आदि की परिभाषा ठीक बतानेपर निर्भर रहती है । ऐसी हालत में शिक्षक का ध्यान अन्य बातों की ओर कैसे जा सकता है ? शिक्षाविभाग के अधिकारी

*

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पूछ पाछही नहीं करते कि शिक्षकके प्रति विद्यार्थियों का कितना प्रेम है, बालकों में भूतदया, सभ्यता, सत्यभाषित्व, आदि गुण आये हैं या नहीं। फिर शिक्षक का ध्यान इन बातों की ओर क्यों कर जावे इसी लिए शिक्षक को भी अधिक दोष नहीं दे सकते। सारांश यह कि मनोवृत्ति, जो कि मनुष्य का श्रेष्ठतम भाग है उसकी शिक्षा स्कूलों में नहीं दी जाती। परंतु गुरुकुलोंमें यह शिक्षा अवश्य दी जा सकती है।

मनोवृत्ति की शिक्षा का तो यह हाल है। अब देखें बुद्धि की शिक्षा किस प्रकार होनी चाहिए और उसका क्या हाल है। बुद्धि की जिन वृत्तियों का संसार में विशेष उपयोग होता है वे वृत्तियां हैं कल्पकता, अवलोकनशक्ति, तर्कशक्ति, जिज्ञासा, तथा ज्ञान-लालसा। इनमें भी जिज्ञासा और ज्ञानलालसा का महत्व विशेष है। क्यों कि बुद्धि के रहते भी यदि ये वृत्तियां न होती तो संसार में ज्ञानका ऐसा अधिक फैलाव और सुधार कदापि न होता। सब शास्त्रों की जड ये वृत्तियां ही हैं। इतिहासप्रसिद्ध महापुरुषों में ज्ञानलालसा न होती और अधिकारलालसा, वा उपभोगलालसाही अधिक होती, तो आज ज्ञान की दशा कुछ और ही होती। और हम लोग उन पुरुषों का नाम भी शायद ही जानते। ऐसे भारी महत्व की यह वृत्ति है। इसीलिए शिक्षा का एक महत्व का कार्य है जिज्ञासा और ज्ञानलालसा बालकों में उत्पन्न करना। यदि ये वृत्तियां बालकों में उत्पन्न करनी हैं तो प्रथम बालकों पर ज्ञानप्राप्ति की जबरदस्ती नहीं करना चाहिए। यदि जबरदस्ती से सिर में ज्ञान भरदेने का प्रयत्न किया जाय, तो ज्ञान के संबंध में प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। दूध जैसी मीठी चीज भी जब बालक के मुंह में चमच से जबरन डाली जाती है तब वह भी उसे पसंद नहीं होती। तो छडी के मारके साथ जो ज्ञान सिर में ठूसने का प्रयत्न होता है उसकी चाह लडकों में कैसी हो सकती है? अतएव शिक्षा का उपयोग होनेके लिए आवश्यक है कि ज्ञानप्राप्ति के लिए शिक्षक बालकों पर कभी भी जबरदस्ती न करे। कोई भी विषय शिक्षक इस प्रकार पढावे कि बालक खुदही उसे जानने के लिए उत्सुक हो। और जिज्ञासाके कारण वे खुद ही उसे पढनेका प्रयत्न करें। यह परिणाम विद्यार्थियों पर तभी होगा जब शिक्षक को विद्याका व्यसन होवे। विद्यामें जो आनन्द है वह शिक्षक की वृत्तिसे ही विद्यार्थियों को मालूम हो जाना चाहिए।

बुद्धिकी दूसरी महत्व की बात है चिकित्सकता। इस गुण का विकास होनेके लिए बालकों को सृष्टि के भिन्न भिन्न चमत्कार बतलाना चाहिए। और उनके कारण पूछना चाहिए। उदाहरण फूलोंको परमेश्वरने सुंदर रंग क्यों दिये हैं? फूलों में शहद क्यों रखा है? अमुक पक्षि का रंग मटीला है, उस से उस पक्षि को क्या लाभ? अमुक पक्षी खास तरह का घोंसला क्यों बनाता है? आदि।

जिज्ञासा के समान ही बुद्धि का तीसरा भाग है कल्पनाशक्ति। कल्पनाशक्ति के विकास के लिए प्राचीन इतिहास और भारतादि ग्रन्थों की अद्भुत कथाएं, वनदेवताओं की किस्साएं श्रेष्ठ उपन्यास और काव्य आदि कल्पनाप्रधान साहित्य लडकों को पढने देना चाहिए।

बुद्धिका चौथा भाग है अवलोकनशक्ति। इस गुणका विकास होने के लिए शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों को अपने साथ बगीचे में, जंगल में, पहाडीपर, घुमावे; और उन स्थानों के प्राणि, वनस्पति आदि के चमत्कार बतावे। उसे चाहिए कि वह बालकों को बतला देवे कि ये चमत्कार किस प्रकार देखने चाहिए। पक्षी कैसी चतुराई से घोसले बनाते हैं, चिऊंटियोंके सदृश छोटाजीव भी दीर्घ उद्योग से कैसे भारी काम करता है। मक्खी, पिस्सू आदि क्षुद्र मालूम होनेवाले जीवोंके शरीर की रचना ईश्वरने कैसी चतुराई से की है, आदि बातें बालकों को मालूम हो जावें तो उन्हें सृष्टि के चमत्कारोंका अवलोकन करनेका शौक हो जावेगा। सृष्टिके कर्ता की अनुपम कुशलता उनपर प्रकटहोगी और ज्ञान प्राप्त करने की उनकी इच्छा बढेगी।

अवलोकनशक्ति के सदृश ही तर्कशक्ति भी बुद्धि

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

की शक्ति है। अवलोकनशक्ति के साथ ही इसकी भी वृद्धि होनी चाहिए।

जिज्ञासा, चिकित्सकता कल्पनाशक्ति आदि जो बुद्धि के महत्व के भाग हैं उनका विकास बुद्धि की शिक्षा का प्रमुख अंग है। जिन विद्वानों और ज्ञानियों के श्रमोंके कारण संसार के ज्ञान की वृद्धि हुई उनकी बुद्धि के उपरोक्त गुणों के कारण ही यह उन्नति हो सकी। इसीसे बुद्धि की शिक्षा का उद्देश होना चाहिए इन गुणों का विकास और यदि इन गुणोंका विकास न होता हो तो शिक्षा अपूरी है।

सारांश उपरोक्त गुणों की शिक्षा देने के लिए बालकों के रटने के घण्टे कम करने चाहिए, शिक्षकों को समय दिया जावे जब कि वे विद्यार्थियों को साथ ले सैर करें। पाठशाला में आधिभौतिक शास्त्रों की साधनसामग्री अच्छी होनी चाहिए, और सबसे महत्व की बात यह है कि शिक्षक ऐसे हों जिन्हें ज्ञानकी चाह हो, और जिन्हें उक्त साधनों का उपयोग मालूम हो।

"हमें विश्वास है कि शारीरिक शिक्षाको लोग कभी न भूलेंगे। मर्दानी खेलोंकी ओर केवल विद्यार्थियों काही ध्यान आकर्षित करना है, यह नहीं; वरन् उन शिक्षकोंका भी जिनपर बालकोंकी भलाईका उत्तरदायित्व है।

शिक्षा का तीसरा भाग शारीरिक शिक्षा है। कर्तृत्व को जैसे बुद्धि आवश्यक है वैसे मनोवृत्ति और शरीर-बल भी आवश्यक है। पूर्व लेखमें बताया गया है कि शारीरिक बल तथा उससे प्राप्त होनेवाले मानसिक बल की महत्ता कितनी भारी है। इसीसे शिक्षाका महत्व का कार्य है शरीर का बल बढाना। जो संस्था शिक्षा का कार्य करती है उसीको शरीरकी भी शिक्षा देनी चाहिए। अर्थात् जैसे बुद्धि की शिक्षा के लिए स्कूलमें निश्चित समय रहता है, वैसे ही शरीरकी शिक्षा अर्थात् व्यायाम को भी समय रहना चाहिए इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंमें जैसे हरसाल परीक्षा होती है उसी प्रकार स्वास्थ्य और शरीरबल में भी परीक्षा होनी चाहिए। परीक्षामें विद्यार्थि पास होता है तब उसे ऊंची क्लास के योग्य समझ कर उसे ऊँची क्लास में भरती करते हैं। उस समय यह भी देखा जावे कि उस विद्यार्थि का स्वास्थ्य ऊंची क्लास पढाई के परिश्रम सहने के योग्य है वा नहीं। यदि इस योग्य उसका स्वास्थ्य न होवे तो उसे ऊंची क्लास में न भेजना चाहिए। बुद्धि और शरीर आत्मा के साधन हैं। बुद्धि के समान शरीरकी सहायता भी आत्माको अतीव आवश्यक है। तब बुद्धि के विकास के साथ ही शिक्षाविभागको आवश्यक है शरीर शिक्षा देना। पाठशालामें मनोवृत्ति की शिक्षा नहीं हो सकती। इससे उसे छोड दें; तब भी शारीरिक शिक्षा स्कूलों में दी जा सकती है। शारीरिक शिक्षाके बिना शिक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। इसीसे स्कूल के समयमें शारीरिक शिक्षा के लिए समय निश्चित रहना चाहिए। शिक्षक तथा शिक्षा विभाग के अन्य अधिकारियों को चाहिए कि वे विद्यार्थिके बुद्धिके विकासके साथ ही यह देखें कि शरीरका विकास होता है या नहीं।

मस्तिष्क और शरीर के सम्बन्ध पर ध्यान दें तो विदित होगा कि बुद्धि की शिक्षा के साथही शरीरकी शिक्षा भी आवश्यक है। मन और बुद्धिके विकासके साथ यदि शरीरका विकास न हो तो शिक्षा पूर्ण नहीं होती। शरीर की शिक्षा केवल इस लिए आवश्यक है,यह नहीं। किन्तु उसका दूसरा कारण यह है कि बुद्धिकी शिक्षाके साथ यदि शरीरकी शिक्षा न दी जाय तो बुद्धिकी शिक्षामें शक्ति का व्यय अधिक होगा। इस अवास्तव व्ययका परिणाम शुरू में लाभदायक मालूम होता है किन्तु अन्तमें उससे भारी हानि होती है। बुद्धि और शरीर मनुष्य के दो अंग हैं। उनका परस्पर संबंध है। यदि दोनों अंगों को एक साथ नियमित व्यायाम दिया जाय, और यह व्यायाम लगातार जारी रहे; तो एक अंगकी अच्छी दशा का सुपरिणाम दूसरे अंगपर होता है। इस प्रकार दोनों अंगोंका अच्छा विकास होता है। इसके विपरीत, यदि एकही अंगको अधिक व्यायाम मिले, तो दूसरे का योग्य विकास न होगा। इस प्रकार दूसरे भागकी कमजोरी आगे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

चलकर पहले के विकास में रुकावट डालती है। इस कथन की सत्यता देखना हो तो आपको तुलना करनी होगी। यह तुलना ऐसे लोगों में हो जिनके व्यवसाय केवल शारीरिक विकास करने वाले होवें, बुद्धि के विकासका जिनमें अवसर हो नहीं; या जिन के व्यवसाय बुद्धिप्रधान हों और वे लोग जिनके व्यवसाय बुद्धि और शरीर दोनों का विकास करते हों। जिनसी बुद्धि और शरीर दोनों का विकास होता है, उनके शरीर की सुन्दरता, दीर्घ आयु, कर्तृत्वशक्ति आदि गुण प्रथम श्रेणी के लोगों से कहीं श्रेष्ठ होंगे। बुद्धि की शिक्षा के साथ शरीर की शिक्षा इसलिए आवश्यक है कि शरीर के मांस और मस्तिष्क की वृद्धि के लिए खून की आवश्यकता है; यदि शरीर के किसी एक भाग को विशेष व्यायाम मिले तो उसी भाग की ओर खून का प्रवाह अधिक जावेगा। परिणाम यह होगा कि शेष भागों की ओर खून कम जावेगा। इससे उन भागों की उचित वृद्धि न होगी। इसीलिए स्कूल के कृत्रिम मानसिक परिश्रम के साथ यदि शरीर को व्यायाम न मिले तो खून मस्तिष्क की ओर अधिक बहेगा और शरीरका योग्य पोषण न होगा। जो लोग छुटपन में शारीरिक व्यायाम न कर मानसिक परिश्रम बहुत करते हैं, वे कमजोर, नामर्द और अल्पायुषी होते हैं। कई वर्षोंतक अवलोकन कर विद्वानों को यह बात विदित हुई है किन्तु दुःख की बात यह है कि बहुजन समाज अदूरदर्शी लोगों का है। वह हाल ही के लाभ को देखता है। इससे इस बात में जितना सुधार होना चाहिए उतना नहीं हुआ। पाठकगण इस विषय में विद्वानों के जो विचार हैं उनपर ध्यान दें। शरीरशास्त्रज्ञ कहते हैं, " अवास्तव मानसिक परिश्रम से अन्नपचन और शरीर पोषण उचित रीति से नहीं होता। " बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से गठिया बात, मनोभ्रम, अपस्मार, निद्रानाश, सिरका दर्द आदि रोग होते हैं। और बाल जल्दी सफेद हो जाना, सिर कंजा होना आदि परिणाम होते हैं। जिन का यह मत है, उन्होंने इस विषय का खास अभ्यास किया था। और कई उदाहरणों का अवलोकन कर उन्होंने इस विषय का एक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ में आप लिखते हैं, " कडी सजा के डर से बहुत अधिक पढने के कारण जिन्हें आजन्म अपस्मार की बीमारी सताती रही, ऐसे कई लडके मैंने देखे। " उन्होंने एक रोगी देखा जिसका हाल यह था कि तबियत बिगड रही है यह जानते हुए भी उसने अभ्यास जारी रखा। परिणाम यह हुआ कि उसका मस्तिष्क बहुत ही कमजोर हो गया। आगे चलकर एक साल तक वह कुछ देख न सकता था, सुन न सकता था और न कुछ बोलही सकता था। राजवैद्य हालैण्ड साहब कहते हैं, " बेहद मानसिक परिश्रम करने से बुद्धिनाश हुए कई लोग मैंने देखे हैं। उनमें से दो को देखकर बहुत ही दुःख हुआ। दो बालक छुटपन में अत्यन्त बुद्धिमान् थे। स्पर्द्धा के कारण उन लडकोंने इतनी अधिक पढाई सुरू की कि वे नींद भी पूरी न लेते थे। उन का मस्तिष्क इतना बलहीन हो गया कि वे आगे चलकर बहुत कुछ पागलसे हो गए। " बेहद मानसिक परिश्रम से जो हानि होती है उस की जांच के लिए यूरोपीय डाक्टरों का ही मत लेने की आवश्यकता नहीं है। हमारे देश में भी यदि कोई उन लोगों के स्वास्थ्य को देखें जो अध्ययन के पीछे पडे हैं तो भी उपरोक्त बातही उन्हें दिखेगी। अब तो यह बात सभी को विदित हो गई है कि शिक्षित लोग अपढ लोगों से नाजुक, कमजोर और अल्पायुषी होते हैं। कालेज के विद्यार्थियों में ऐसे कितने विद्यार्थि मिलेंगे जिनके चिहरेसे जवानी टपक रही हो और जिनके संबंध में

' युवा युगव्यायतबाहुरंसलः ... ॥'

की उक्ति चारितार्थ होती हो। ऐसे विद्यार्थी फी सैकडा दस भी नहीं मिल सकते। आधे विद्यार्थी ऐसे मिलेंगे जिन्हे एक न एक बीमारी है ही। जो विद्यार्थी स्कालरशिप या ईनाम प्राप्त करने की कोशिश में लगे हैं ऐसे विद्यार्थियों में से आधे से भी अधिक ऐसे मिलेंगे जो आगे चलकर क्षयरोग से पीडित हो गये हैं या मस्तिष्क कमजोर हो जाने

से साधारण विद्यार्थी के बराबर भी परिश्रम नहीं कर सकते । शिक्षित लोगों में ऐसे कई मिलते हैं जो जवानी में ही विरक्त हो गये हैं, संसार के प्रति उदासीन हो गये हैं और बिलकुल हतोत्साह हो गये हैं । जब हम इन बातों को सोचते हैं तब हम पर प्रकट होता है कि वर्तमान एकदेशी शिक्षा के कुपरिणामों से शरीर कैसे निर्बल और पुरुषत्वहीन हो जाता है ! कुछ अपढ लोगों का ख्याल है कि 'सरकारने शिक्षा इसलिए शुरू की है कि हमारे देशवासी कमजोर हो जावें । ' यद्यपि सरकार के उद्देश के सम्बन्ध में यह खयाल बिलकुल गलत है, इससे यह पता अवश्य चलता है कि शिक्षा का मनुष्य के शरीर पर क्या असर होता है । पदवी-धारी शिक्षक, मुन्सिफ, आदि लोगों में डिस्पेप्शिया, दृष्टिमांद्य, क्षय आदि रोग फैल रहे हैं । इन बातों से भी यदि लोग न समझते हों तो वे आगे लिखी आख्याइका पर ध्यान दें । बर्टन् नामक ग्रन्थकार का कथन है, " जिस समय गॉथ लोगोंने ग्रीसपर चढाई की, उस समय उन्होंने ग्रीक लोगों के ग्रन्थों का संग्रह जलाना चाहा क्यों कि वे ग्रन्थ ही ग्रीक लोगों के बडप्पन का कारण थे । तब एक मनुष्य बोला, " आप लोग यह पागलपन क्यों कर ते हैं ? यह पुस्तकों की बला उन्हीं के पास रहने दो । इन पुस्तकों के कारण ही वे लोग ऐसे निर्बल हो जावेंगे कि उन्हें जीतना बिलकुलही सरल हो जावेगा । " इसीलिए कहना है कि मस्तिष्क को बेहद कष्ट न देना चाहिए । मौका पडने पर यदि मस्तिष्क को ऐसा परिश्रम करनेकी आवश्यकता हुई तो उसे शरीर-शक्ति की सहायता होनी चाहिए । इसीलिए अनिवार्य शारीरिक शिक्षा की आवश्यकता है ।

इसमें संदेह नहीं कि आजकल बुद्धि की शिक्षा के लिए शारीरिक शिक्षा की जो उपेक्षा होती है उसका कारण है लोगों का शिक्षा के सम्बन्ध में गलत खयाल । लोगोंने समझ लिया है कि केवल नौकरी ही नहीं, बरन् सब तरह से उन्नति करने की जड बुद्धि है; और बुद्धि का विकास पुस्तकों के अध्ययन से ही होता है । इसी तरह उन्नतिका एकमेव उपाय विद्या पढना है, बालपन केवल पढने का समय है और युवावस्था किताबोंको फेंक-दे द्रव्यार्जन तथा चैन का समय है । किन्तु यथार्थ बात इसके विपरीत है । वास्तव में बालपन खापीकर और खेल - कूद पुष्ट होने का समय है । जवानी में बुद्धि की भिन्न भिन्न शक्तियों को जागृत करने के लिए जितना मानसिक परिश्रम आवश्यक है उतनाही कर बुद्धि और मनको विकसित कर व्यायाम से शरीर सुदृढ बनाना चाहिए । और इसके आगेका समय विद्यार्जन करने तथा प्रपंच सम्हालने का है । आजतक जिन लोगों ने भिन्न भिन्न शास्त्रोंमें, विद्याओंमें और धन्धों में प्रवीणता प्राप्त की है और जो जगत्प्रसिद्ध होगए हैं, उन्होंने ये बातें युवाव्यवस्थाके आगे की उमर में ही प्राप्त की हैं । जिन शास्त्री, पण्डित, अंग्रेजी विद्वानों का वा वैद्यों का हाल हम जानते हैं उन्होंने यह प्रसिद्धता प्राप्त करने योग्य अध्ययन २० । २५ वर्ष की अवस्था के बादही किया है। हम नहीं समझते कि कोई एक भी ऐसा उदाहरण बता सकेगा जिसने बी. ए., एल्, एम्. ॲण्ड एस्. होकर पढाई बंद करने के पश्चात् विद्वान् के नाते प्रसिद्धता प्राप्त की है। अतः यह सिद्ध है कि विद्वत्ता प्राप्त करने की यथार्थ उमर २० से लेकर ३०, ४० वर्ष तक की है। और यही मनुष्य की सच्ची विद्यार्थी दशा है। बालपन तथा युवावस्था के प्रथमार्धका समय है हृष्ट पुष्ट हो बुद्धि और मनकी भिन्न भिन्न वृत्तियों को जागृत कर उन्हें बलवान बनाना । लडकपन से पचीस वर्ष की उमरतक शरीर का विकास और वृद्धि होती है। यदि छुट पनमें शरीर की ओर ध्यान न दिया जाय तो आगे शरीर तैयार नहीं होता । किन्तु दस, पंधरा वर्षतक बुद्धि की शिक्षा नभी मिले, तब भी इस अवस्था के बाद शिक्षा मिलने से बुद्धिका जितना विकास होता है उतना होता ही है । इसी से स्पष्ट होगा कि छुटपन शरीर कमाने का और थोडा मानसिक श्रम करने का समय है । पूर्ण वृद्धि होनेके पहले ही यदि बछडे को काम में लगावें तो उसकी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

बाढ रुक जाती है तब पाठकही सोचें कि शरीर की पूर्ण बाढ के पहले और मस्तिष्क परिपक्व होने के पूर्व ही बेहद मानसिक परिश्रम करने का मस्तिष्क पर तथा शरीरपर क्या परिणाम होता होगा। आप ही विचार सकते हैं कि नवयुवकों को इतिहास, अर्थशास्त्र, साहित्य आदि विषयों में प्रवीणता प्राप्त कराने का वर्तमान प्रयत्न कहांतक उचित है! "मा बाप का प्रथम कर्तव्य यही है कि बालक को खिला पिलाकर हृष्टपुष्ट बनावें।" इसी लिए अत्यन्त आवश्यक बात यही है कि छुटपन के लडकों के परिश्रम कम कर दिये जाँय। बीस, पचीस वर्ष की अवस्थाके पश्चात् मस्तिष्क और शरीर की जोरदार वृद्धि होनेपर यदि ज्ञानप्राप्ति के लिए न्यूनाधिक परिश्रम करें तो कोई विशेष हानि नहीं, क्यों कि शरीर में इन कष्टों को सहने की शक्ति रहती है। अत एव विद्याप्राप्ति का कार्य अत्यंत छोटे बालक पर न लाद कर उससे आगें की उमर में करना चाहिए।

ग्रन्थकारों का स्वागत !

१ वैदिक विनय।

(ले० श्री० पं० 'अभय' विद्यालंकार, प्रका० गुरुकुलकांगडी, जि० सहनपुर। मू. १।) श्री. पं. देवशर्माजी 'अभय' का नाम वैदिकधर्म के पाठकों के परिचय का है। आपने यह पुस्तक दैनिक ईश-प्रार्थनाके लिये रची है। यह स्वाध्यायमंजरीका तृतीय पुष्प है और इस वैदिक विनयमालाका प्रथम खंड है। इस प्रथम खंडमें चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ इन चार मासों के प्रत्येक दिनमें करने योग्य प्रार्थनाएं सुंदर रीतिसे मुद्रित हैं। हमारी हार्दिक इच्छा है कि ये प्रार्थनाएं भारतवर्ष में घर घरमें प्रत्येक दिन होती रहें।

२ त्यागभावना।

(ले० श्री० पं० धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकार वेद-वाचस्पति। प्र० गुरुकुलकांगडी, जि० सहरनपुर) यह स्वाध्यायमंजरीका द्वितीय पुष्प है। वैदिकधर्म में त्याग भावना किस तरह है, यज्ञका स्वरूप क्या है और यज्ञद्वारा मनुष्यका कल्याण किस तरह होता है, इत्यादि विषय अत्यंत सुबोधतासे इस पुस्तकमें दिये हैं। पुस्तक संग्राह्य है।

३ वैदिक त्रैतवाद।

(ले० श्री० पं० सत्यव्रतजी। प्र० श्री. रतिलाल हरजीवन पटेल, सांताक्रुस. मू. ॥) यह पुस्तक गुजराती भाषामें है। इस में प्रकृति जीव और ईश्वर ये तीन सनातन हैं, इसविषयका प्रमाण सहित विवेचन किया है। मूल तीन पदार्थ हैं, दो हैं या एक है इस तत्वज्ञान का मनन करनेवाले इस पुस्तक को अवश्य देखें।

(४) सूर्योपासना, मू. -॥) श्री. पं. शीतलप्रसादजी वैद्य, भागलपुर,

(५) श्रीमद्भगवद्गीता ७० श्लोकी. श्री. बाबु बृजलालजी, सन्गवां कानपुर,

(६) कलावतीशिक्षा मू.।) श्री. रामनरायणजी, मन्दसोर मालवा,

(७) संघव्यायाम मू. ≡) योजक. प्रो०माणिकराव बडोदा,

(८) सेवादलसप्तपदी मू. =) संग्राहक. प्रो० बी. आर. देवधर. प्र. डा. ना. सु. हरडीकर, हिंदुस्थान सेवादल, हुबळी (कर्नाटक)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टान्स्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥ २८ ॥
सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः ।
तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥ २९ ॥
यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता योत्रासदजीवनः ॥ ३० ॥

विचरण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुत्रों को तथा (निपुरः) पौत्रों को (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओं को (अग्निः) अग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञसे (प्र धमाति) दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता ॥ २८ ॥

(इह) इस यज्ञमें (नः) हमारे (स्वाः पितरः) ज्ञातिके पितृगण (स्योनं कृण्वन्तः) सुख उत्पन्न करते हुए (सं विशन्तु) प्रविष्ट होवें । और (आयुः प्रतिरन्त) आयुष्यकी वृद्धि करें। और उसके बदलेमें (नक्षमाणाः) गतिशील अर्थात सर्वदा कार्यतत्पर हम (ज्योक् पुरूचीः शरदः) निरन्तर बहुतसे वर्षोंतक (जीवन्तः) जीवन धारण करते हुए (तेभ्यः) उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी (हविषा) हविद्वारा (शकेम) परिचर्या करनेमें समर्थ बने रहें ॥ २९ ॥

(ते) तेरे लिए (यां धेनुं) जिस गायको (निपृणामि) देता हूं और (क्षीरे) दूधमें (यं ओदनं) जिस भातको देता हूं अर्थात् दूध मिश्रित जो भात देता हूं (तेन) उस द्वारा तू (जनस्य भर्ता असः) मनुष्यका पोषक हो। (यः) जो कि मनुष्य (अत्र) इस संसारमें (अ-जीवनः) निर्जिव—मृत (असत्) है ॥ ३० ॥

दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरों में बैठकर हवि खाने नहीं देती ॥ २८ ॥

पितर आ जायं और दीर्घ कालतक जीते हुए उनकी हविदान द्वारा सेवा की जावे ॥ २९ ॥

दूध मिश्रित भात जीवनहीन मनुष्यके भरण के लिए दिया जावे ॥ ३० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अश्वावतीं प्र तर या सुशेवाक्षाकं वा प्रतरं नवीयः।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ॥३१॥
यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भूवो विवस्वानन्वाततान ॥ ३२ ॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।

अर्थ- (अश्वावतीं) जिसमें घोडे हैं ऐसी सेनाको (प्रतर) भली भांति बढा अर्थात् घुड सवार सेना बढा, (या) जो कि (सुशेवा) उत्तम सुख देनेवाली है और फिर इस सेना द्वारा (प्रतरं नवीयः ऋक्षाकं प्रतर) बढे हुए, अद्भुत, रीछ आदि जङ्गली जानवरोंवाले स्थान को पार कर। (यः त्वा जघान) जो तुझे मारे (सः) वह (वध्यः अस्तु) मारडालने लायक होवे अर्थात् उसे मार डाला जावे। (सः) वह तेरा हिंसक (अन्यत् भागधेयं मा विदत्) उसे अन्य भाग मत मिले अर्थात् उसे मारही डाला जावे। अन्य भोग्य वस्तुएं उसे न मिलें ॥ ३१ ॥

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है। (ततः परं) उस यमसे परे मैं (किंचन न अति पश्यामि) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं। वा नहीं समझता हूं (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ स्थित है (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने द्युलोकको अपने प्रकाशसे फैला रखा है ॥ ३२ ॥

(मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा मनुष्योंसे (अमृतां अपागूहन्) अमरताको छिपाया। और (विवस्वते) विवस्वान् के लिए (सवर्णां) सवर्णा (कृत्वा) बना करके (अदधुः) धारण किया- दिया। (उत) और

भावार्थ- घुडसवार सेना बढाकर हिंसक प्राणियोंवाले स्थानोंको दूर करना चाहिए। और ऐसे कार्य करनेवालेका जो कोई वध करे तो उसे मार डालना चाहिये ॥ ३१ ॥

यम का स्थान सूर्यसे परे है और उस से परे कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

सरण्यूसे यम व यमीकी उत्पत्ति हुई है, [बृहद्देवताकार द्वारा

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहाद् द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ३३ ॥
ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ३४ ॥
ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥३५॥
शं तप मातिं तपो अग्ने मा तन्वं१ तपः ।

(यत् तत्) उस समय जो वह स्वरूप था उसने (अश्विनौ अभरत्) अश्विनौ को धारण किया। और (सरण्यूः) सरण्यूने (द्वौ मिथुनौ) दो जोडी यम व यमी (अजहात्) उत्पन्न किए ॥ ३३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (ये निखाताः) जो पितर जमीन में गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीन के ऊपर हवामें रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ ॥ ३४ ॥

(ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्निद्वारा जलाए गए और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा न जलाए गए पितर (दिवः मध्ये) द्यु लोकके बीचमें (स्वधया) स्वधा द्वारा (मादयन्ते) तृप्त हो रहे हैं, (तान्) उन्हें (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि (त्वं यदि वेत्थ) तू निश्चय से जानती है। वे (स्वधया) स्वधाके साथ (स्वधितिं यज्ञं) स्वधावाले यज्ञका (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ३५ ॥

हे अग्नि ! (तन्वं) इस मृत शरीर को (शं तप) सुखसे तपा अर्थात् इसे कष्ट हो इस प्रकार से मत तपा। (मा अति तपः) बुरी

दी गई गाथासे यह भी पता चलता है कि] सरण्यूने जब घोडीका रूप धारण किया, तब उससे जो संतान हुई उनका नाम अश्विनौ पडा ॥ ३३ ॥

यहांपर चार प्रकारके श्मशानकर्म दर्शाए गए हैं। (१) गाडना (२) बहाना, (३) जलाना और (४) हवामें जमीन पर खुला छोडना ॥ ३४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः ॥ ३६ ॥
ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन् मम चेदभूदिह ।
यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह ॥ ३७ ॥
इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥

तरहसे इसे मत तपा। तेरा जो तपानेका—जलाने का—(शुष्मः) बल है वह (वनेषु अस्तु) वनों में होवे। और (यत्) जो (ते हरः) तेरा हरण करनेवाला तेज है वह (पृथिव्यां अस्तु) पृथिवी पर होवे ॥ ३६

(अस्मै) इस मृत पुरुष के लिये (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं। क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यम लोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेराही (अभूत्) होगया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं। अपने राज्य से नहीं निकालता। इस उपरोक्त प्रकार से (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त 'ददाम्यस्मै' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोक में आए हुए के प्रति कहता है। और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिये (इह) यहां यमराज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धन का भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे लिये दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ॥ ३७ ॥

(इमां मात्रां) इस मर्यादा-परिमाण-को इस प्रकार से (मिमीमहे) हम नापते हैं। (यथा) जिस प्रकारसे कि (अपरं) अन्य कोई (पुरा) आगामी (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (न मासातै) नहीं माप सकता ॥ ३८ ॥

भावार्थ- पितरों के लिए यज्ञभाग प्राप्त हो ॥ ३५ ॥
प्रेत दहन के समय मृतात्माको कष्ट न हो ॥ ३६ ॥
यमराज्यमें पितर गये तो यम उनकी योग्य व्यवस्था करता है ॥ ३७ ॥
यम उसकी कर्ममर्यादाको नापता है ॥ ३८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३९ ॥
अपेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै। शते शरत्सु नो पुरा॥४०॥(१०)
वीमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥४१॥
निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥४२॥
उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥४३॥
समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥४४॥
अमासि मात्रां स्वरगामायुष्मान् भूयासम् ।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४५ ॥
प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।

अर्थ-(प्र मिमीमहे) अच्छी प्रकार से मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

(अप) जिसमें से दोष निकल गए हैं इस प्रकारसे अर्थात् पूर्ण शुद्ध रूपसे (मिमीमहे) मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥ ४० ॥

(वि मिमीमहे) विशेष ढंगसे नापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

(निः मिमीमहे) निश्चित रूपसे वा निःशेष रूपसे मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥ ४२ ॥

(उत् मिमीमहे) उत्तम रूपसे मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

(सं मिमीमहे) अच्छी तरह से— भली भांति मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

(मात्रां अमासि) मैंने मात्रा को मापूं और इससे (स्वः अगाम्) सुख को प्राप्त होऊं। (आयुष्मान्) दीर्घायुवाला (भूयासम्) होऊं। शेष पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनके लिए अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें। और आयुके पूर्ण होने पर देहका त्याग करनेपर हे मनुष्य ! तू (अपरिपरेण पथा) अकुटिल

भावार्थ- मृतात्माके कर्म की मात्रा अर्थात् प्रमाण यम मापता है और तदनुसार उसको फल देता है ॥ ३९—४५ ॥

हे मनुष्य तेरे प्राण अपानादि आजीवन उत्तम बने रहें तथा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥ ४६ ॥
ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥ ४७ ॥
उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

मार्ग द्वारा (यमराज्ञः पितॄन्) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंको (गच्छ) जा-प्राप्त हो। ['अपरिपरः- परि परितः सर्वतः परः पराभवः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः।' अर्थात् जिस में सर्वथा कुटिलता वा शत्रु नहीं है वह अपरिपर है] ॥ ४६ ॥

(ये) जो (अग्रवः) अग्रगामी, (शशमानाः) प्रशंसा प्राप्त किए हुए अथवा उद्यमशील, (अनपत्यवन्तः) अपत्य- संतान रहित अथवा ऐश्वर्यवाले पुरुष (द्वेषांसि हित्वा) द्वेष भावका त्याग करके (परेयुः) मरे हैं (ते) उन पुरुषोंने (द्यां उदित्य) द्युलोकको प्राप्त करके (अधि-दीध्यानाः) अत्यन्त दीप्यमान होकर (नाकस्य पृष्ठे लोकं अविदन्त) स्वर्गमें स्थान पाया है ॥ ४७ ॥

(अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की द्यौ 'द्युलोक' वह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोकमें बादल रहते हैं वह सबसे नीचेका द्युलोक है। (पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है। (ह) निश्चय से (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नामका द्युलोक है (यस्यां) जिसमें कि (पितरः आसते) पितर स्थित होते हैं ॥ ४८ ॥

मरने पर तू उत्तम मार्गसे यमलोकस्थ पितरोंको प्राप्त हो। यम पितरोंका राजा है यह इससे पता चलता है ॥ ४६ ॥

जो लोक अग्रभागी, प्रसिद्ध तथा द्वेषोंका त्याग करते हैं वे मरने पर द्युलोकस्थ स्वर्गमें जाते हैं ॥ ४७ ॥

द्युलोक तीन प्रकारका है। एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोकोंमें से सबसे नीचा है और उसमें मेघमण्डल स्थित है। दूसरा इससे उपर है और उसमें पीलु अर्थात् ग्रहनक्षत्रादि स्थित हैं। यह

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ ४९ ॥
इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥
इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोपरम् ।

अर्थ-(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं, (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवी उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोक में (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए (नमसा विधेम) नमस्कारपूर्वक पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे मृत पुरुष (इदं इत वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिसप्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओरसे ढांप ॥ ५० ॥

(जरसि) वृद्धावस्थाके बादमें (इदं इत् वा उ अपरं) यही दूसरा स्मशानोचित कार्य है (अन्यत् इतः अपरं न) दूसरा इससे भिन्न

बीचका द्युलोक है। तीसरा इस से ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं ॥ ४८ ॥

जो हमारे पितरादि पूर्वज अंतरिक्ष, द्यु तथा पृथिवीमें रहते हैं उनकी हम 'नमः' द्वारा पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे प्रेत ! यही सब कुछ है जो कि द्युलोकमें सूर्य दिख रहा है। हे भूमि ! तू इस प्रेत को इस प्रकार से ढक ले जिस प्रकारसे कि माता पुत्र को अपने आंचलसे ढांपती है। [इस मंत्रके पूर्वार्धका भाव कुछ विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं होता। और अत एव उत्तरार्धसे उसकी संगति लगानी जारा विचारणीय है। उत्तरार्ध स्पष्ट ही है] ॥ ५० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जाया पतिमिव वाससाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥
अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥ ५२ ॥
अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम् ।
उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम् ॥ ५३ ॥

कोई कार्य नहीं। अतः हे (भूमे) भूमि ! (जाया पतिं वाससा इव) जिस प्रकार पत्नी पतिको वस्त्रसे ढांपती है उस प्रकार तू (एनं) इस प्रेतको (अभि ऊर्णुहि) रूपसे ढांप ॥ ५१ ॥

हे प्रेत ! (त्वा) तुझे (मातुः पृथिव्याः) माता पृथिवीके (भद्रया वस्त्रेण) कल्याणकारी वस्त्रसे (अभि ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। (जीवेषु भद्रं तत् मयि) जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरे में हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और (पितृषु स्वधा) जो पितरोंमें स्वधा है (सा त्वयि) वह तेरे में हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहांपर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है ॥ ५२ ॥

(पथिकृता) मार्ग बनानेवाले (अग्निषोमा) अग्नि व सोम (देवेभ्यः) देवों के लिए (स्योनं) सुखकर (रत्नं) रमणीय— सुन्दर वा रत्नोंवाला (लोकं) स्थान (विदधथुः) देवें। (यः) जो कि स्थान (उप

भावार्थ- वृद्धावस्थाके अनन्तर देहके लिए सिर्फ स्मशानकार्य ही बाकी रह जाता है दूसरा कोई नहीं। अतः हे भूमि ! उस कार्यार्थ लाए गए इस शवको ऐसे ढांपले जैसे कि पत्नी अपने वस्त्रसे पतिको ढांप लेती है ॥ ५१ ॥

हे प्रेत ! तुझे पृथिवी माताके कल्याणकारी वस्त्रसे ढकता हूं। संसारमें जो कल्याण है उसका मैं भागी बनूं और जो पितरोंमें स्वधा है वह तुझे प्राप्त हो अर्थात् पितृलोकमें जाकर तुझे स्वधा मिले। इस प्रकार हम दोनों सुखी हों। तू परलोकमें सुखी हो मैं इस लोकमें सुखी होऊं ॥ ५२ ॥

हे मार्ग बनानेवाले अग्नि व सोम ! तुम देवोंके लिए उत्तम स्थान दो। जिस स्थानमें कि सूर्य विचरण करता रहता है। ऐसे स्थानमें तुम

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ५४ ॥
आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ ५५ ॥

प्रेष्यन्तं पूषणं) समीप में आते हुए पूषा – सूर्य – का (वहाति) वहन करता है। (तत्र) ऐसे उस स्थानमें (अंजोयानैः) सीधा चलनेवाले–सरल (पथिभिः) मार्गोंसे (गच्छतम्) विचरण करो। अथवा (गच्छतं= गमयतं) विचरण कराओ ॥ ५३ ॥

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्रका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृष्ट मार्गकी ओर ले जावे। (सः अग्निः) वह अग्नि (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्यः) इन पितरोंके लिए या (सु विदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धनवाले देवोंके लिए (परि ददत्) देवे। (ऋ० १०। १७। ३८) ॥ ५४ ॥

(आयुः विश्वायुः) आयु और विश्वायु (त्वा परिपातु) तेरी रक्षा करें। और (पूषा) पोषक आदित्य (त्वा) तेरी (प्रपथे) प्रकृष्ट मार्गमें (पुरस्तात्) सामनेसे (पातु) रक्षा करे (यत्र) जहांपर–जिस स्थान में (सुकृतः आसते) उत्तम कर्म करनेवाले स्थित हैं, (यत्र) जिस स्थान में (ते) वे सुकृत् लोक (ईयुः) गए हुए हैं (तत्र) उस स्थान में (त्वा) तुझे (देवः सविता) प्रकाशमान आदित्य (दधातु) स्थापित करे ॥ ५५ ॥

दोनों सरल मार्गोंसे आए हुए को चलाओ। [अगले मंत्र ५४ से ऐसा पता चलता है कि अग्नि मृतात्मा को पितरों के पास पहुंचाती है] ॥ ५३ ॥

संसार का पोषक आदित्य तुझ प्रेतकी आत्माको यह संसार छुडाकर उत्कृष्ट मार्गकी ओर ले जावे व अग्नि तुझे पितरों व देवोंके पास पहुंचावे ॥ ५४ ॥

हे प्रेतात्मा ! तेरी आयु व विश्वायु रक्षा करे। सूर्य तेरी रक्षा करे, व सुकृतोंके लोकमें ले जाकर स्थापित करे ॥ ५५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ ५६ ॥
एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ ५७ ॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च ।

अर्थ- हे मृतपुरुष ! (वह्नी) वहन करनेवाले इन दो बैलोंको (ते वोढवे) तेरे वहन करनेके लिए (युनज्मि) बैलगाडीमें जोडता हूं। किस लिए ? (असुनीताय) जिसमेंसे प्राण निकाल लिए गए हैं उस असु-नीत अर्थात् गत प्राण देहके वहन करनेके लिए। अथवा अ-सु-नीत का अर्थ है जो कि सुखपूर्वक न ले जाया जा सके। जिसके उठाने में तकलीफ होती हो। (ताभ्यां) उन बैलोंसे (यमस्य सदनं इति) यह यमका घर है इस प्रकार (सं अवगच्छतात्) भली भांति जान ॥ ५६ ॥

हे मृत पुरुष ! (एतत् प्रथमं वासः) यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र (त्वा नु आ अगन्) तुझे प्राप्त हुआ है। (यत् इह पुरा अबिभः) जिस वस्त्र को पहिले यहांपर तू पहिना करता था (तत्) उस वस्त्रको (अप ऊह) छोडदे। (यत्र) जहां (ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं) तेरा प्राणः विबन्धुओंमें जो दान है उसको (विद्वान्) जानता हुआ (इष्टापूर्तं) इष्टापूर्तको अर्थात् तज्जन्य फलको (अनुसंक्राम) प्राप्त हो। विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ, गरीब आदि ॥ ५७ ॥

हे प्रेत ! (गोभिः) घृतसे उत्पन्न हुई हुई (अग्नेः वर्म) अग्निकी ज्वाला रूपी कवचसे (परि व्ययस्व) अपनेको चारों ओरसे ढक ले। अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा, जिससे कि तेरा पूर्ण रूप से दहन हो सके। (सः) वह तू (पीवसा मेदसा) अपने अन्दर विद्य-

भावार्थ— शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर स्नान आदि कराकर वस्त्र बदलकर उसे स्मशानभूमिमें ले जाना योग्य है ॥ ५६ ॥

मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्यागकर शवको नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥ ५७ ॥

मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्ख्यातै ॥ ५८ ॥
दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥ ५९ ॥
धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥ ६० ॥ (१२)

मान स्थूल चर्बीसे (प्रोर्णुष्व) अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे (हरसा धृष्णुः) अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ, (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव (विधक्षन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वां) तुझे (नेत्) नहीं (परीङ्ख्यातै) इधर उधर बखेरेगा अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावशेष कर डालेगा ॥ ५८ ॥

(गतासोः) जिसके प्राण चले गए हैं अर्थात् जो मर गया है ऐसेके (हस्तात्) हाथसे (दण्डं आददानः) दण्डको लेता हुआ (श्रोत्रेण) श्रवण सामर्थ्यसे (वर्चसा) तेजसे तथा (बलेन सह) बलके साथ (त्वं) तू (अत्रैव) इसी संसार में स्थित हो। (इह) इस संसारमें (वयं) हम (सुवीराः) उत्तम वीर बने हुए (विश्वाः मृधः) संपूर्ण संग्रामों को तथा (अभिमातीः) अभिमानी शत्रुओंको (जयेम) जीतें ॥ ५९ ॥

(मृतस्य) मृत राजाके (हस्तात्) हाथसे प्रजारक्षणार्थ (धनुः आददानः) धनुष लेता हुआ (क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह) क्षात्र तेज व बलके साथ (पुष्टं) पुष्टिकारक (भूरि वसु) बहुत धन (सं आ गृभाय) संग्रह कर। और फिर (त्वं) तू (जीवलोकं उप) जीवलोक अर्थात हम प्रजाजन को लक्ष्य कर के (अर्वाङ् एहि) हमारे सामने आ ॥ ६० ॥

अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। उसका कोईभी भाग जले बिना रहने न पावे ॥ ५८ ॥

मृतके हाथसे दण्ड लेकर तू अपने इन्द्रियादि सामर्थ्यों व साहस, तेज, बल आदिसे युक्त हो। हम सुवीर होकर शत्रुओंपर विजय लाभ करें ॥ ५९ ॥

मृत राजाके हाथसे रक्षार्थ अस्त्र शस्त्र लेकर अपने क्षात्रतेज व

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

[२] इयं नारीं पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ १ ॥
उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥
अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।

अर्थ- (इयं नारी) यह स्त्री (पतिलोकं वृणाना) पति कुलकी कामना करती हुई (मर्त्य) हे मनुष्य ! (प्रेतं) मृत पतिको (छोडकर) (पुराणं धर्मं अनुपालयन्ती) पुरातन धर्मका अनुपालन करती हुई अर्थात् धर्ममें स्थित हुई हुई (त्वा उप निपद्यते) तेरे पास आई है। (तस्यै) उस धर्ममें स्थित नारीके लिए (इह) इस संसारमें (प्रजां) संततिको (द्रविणं च) और धनको (धेहि) दे ॥ १ ॥

(नारि) हे स्त्री ! (गतासुं एतं उपशेषे) जो तू गत प्राण अर्थात् इस मृत पतिके पास सो रही है वह तू (आ इह) उस मृत पतिके पाससे चली आ, और (जीवलोकं अभि) इस जीवलोक अर्थात् संसारके प्रति (उत् ईर्ष्व) उठकर गमन कर अर्थात् संसारमें चली आ। संसार में आकर (हस्तग्राभस्य) विवाहमें तेरा पाणिग्रहण करनेवाले (दधिषोः) व तेरा रक्षण पालनादि रूपसे धारण करनेवाले (तव पत्युः) तेरे पति की (जनित्वं) संतानको (संबभूथ) प्राप्त हो ॥ २ ॥

(जीवां) जीवित (नीयमानां) स्मशानकी ओर लेजाई गई, व (मृतेभ्यः) मरेहुए मनुष्योंसे (परिणीयमानाम्) पुनः वापिस घरको

बल द्वारा बहुतसा धन प्राप्त कर व उस धनसे प्रजाको पुष्ट बना। प्रजा में धन बांट। प्रजाके लिए उस धनका व्यय कर ॥ ६० ॥

पतिके मर जानेपर सन्तानकी कामना करनेवाली स्त्री धर्मानुकूल पर पुरुष को पति बनाकर धन व सन्तान की प्राप्ति करे। वह पुरुषभी उसे पत्नी बनाकर संतान व धनसे उसका पालन पोषण करे ॥ १ ॥

हे नारि ! तू इस मृत पतिके लिये शोक करना छोडदे और संसारमें आकर यथावत् रह। तेरे पाणिग्रहण करनेवाले पतिकी संतान को प्राप्त कर ॥ २ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ ३ ॥
प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥
उप ह्यामुपं वेतसमवत्तरो नदीनाम्
अग्ने पित्तमपामसि ॥ ५ ॥

लेजाई गई (युवतिं) जवान स्त्रीको (अपश्यं) मैंने देखा है । (यत) क्यों कि वह स्त्री (अन्धेन तमसा) शोक जन्य गहरे अंधकार से (प्रावृता आसीत्) ढकी हुई थी अर्थात् अत्यन्त शोकपूर्ण थी । (तत्) इस लिए (एनां) इस (अपाचीं) पीछे की तरफ अर्थात् घरकी ओर जानेवाली को (प्राक्तः) यहां सामने (अनयम्) लाया हूं ॥ ३ ॥

(अघ्न्ये) हे मारनेके अयोग्य स्त्री ! (जीवलोकं प्रजानती) संसारको भली भांति जानती हुई और (देवानां पन्थां अनुसंचरन्ती) देवोंके मार्ग का अनुसरण करती हुई अर्थात् देवोंके मार्ग पर चलती हुई (अयं) यह जो (ते) तेरा (गोपतिः) गोपति है (तं जुषस्व) उससे प्रीति कर । और इस प्रकार (एनं) इस गोपतिको (स्वर्गं लोकं अधि रोहय) स्वर्गलोकमें पहुंचा ॥ ४ ॥

(नदीनां) शब्द करते हुए-गर्जना करते हुए (अपां) जलोंकी संबन्धिनी (ह्यां उप) द्युके समीप, [यहां द्यो शब्द अवका का वाची है । जल के ऊपर उगी हुई जमीनके स्पर्श से सहित (काई) का नाम अवका है] तथा (वेतसं उप) नडों के समीप (नदीके किनारे उगने वाले नडोंका नाम वेतस है) समीप, अथवा उप शब्द सप्तम्यर्थ प्रतिपादक

भावार्थ- मृत पुरुष के पीछे पीछे स्मशान भूमिमें जाती हुई स्त्रीको वापिस लौटा लाया हूं । यह शोक से व्याकुल थी अतः इसे यहां पर (घर पर) ले आया हूं ॥ ३ ॥

हे स्त्री ! तू संसारको भली प्रकारसे जानती हुई तथा देवजनोंके मार्गोंका अनुसरण करती हुई इस तेरे पतिसे प्रीति कर व उसकी संतान त्यागादि कर्मोंमें सहायक होकर उसे स्वर्गलोक प्राप्त करा ॥ ४ ॥

हे अग्नि ! क्यों कि तू जलोंका संबन्धी है अतः तुझे जलसे संबन्ध

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।
कयाम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्यल्कशा ॥ ६ ॥

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व ।
संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे ॥ ७ ॥

है। अवका में तथा वेतस में (अवत्तरः) अत्यन्त रक्षक सारभूतांश है। वेतस व अवका का जलीय सार होना तैत्तिरीय में कहा गया है। 'अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः। अपां शरोऽवका। वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षति' इति (तै० सं. ५।४।४।२) (अग्ने) हे अग्नि! तू भी (अपां पित्तम्) जल संबन्धी पित्त धातु है ॥ ५ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यं) जिस प्रेत को तूने (समदहः) जलाया है। (तं उ) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) बुझा डाल। (अत्र) इस मुर्दे के जलनेके स्थान पर (कयाम्बूः) कितना जल छिडकना चाहिए कि जिस से (व्यल्कशा) विविध शाखाओंवाली (शाण्डदूर्वा) दुःखनाशक दूर्वा घास (रोहतु) उगे ॥ ६ ॥

(ते) तेरे लिए (इदं एकं) यह एक ज्योति है (उ) और (परः) आगे (ते एकं) तेरे लिए एक ज्योति है। तू (तृतीयेन ज्योतिषा) तीसरी ज्योति से (सं विशस्व) अच्छी प्रकार प्रविष्ट हो। अर्थात उस तीसरी ज्योतिमें प्रविष्ट हो। और उस तीसरी ज्योतिमें (संवेशने) अच्छी प्रकार प्रविष्ट होनेपर (परमे सधस्थे) उस उत्तम सबके रहनेके स्थान में (देवानां प्रियः) देवोंका प्यारा हुआ हुआ (तन्वा चारु) शरीर से उत्तम हुआ हुआ (एधि) बढ ॥ ७ ॥

रखने वालों अवका वेतस आदि औषधियोंसे शांत करता हूं ॥ ५ ॥

शवके सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर आग को बुझा डालना चाहिए व वहांपर इतना पानी छिडकना चाहिए कि जिस से फिरसे वहांपर दूर्वा घास निकल आवे ॥ ६ ॥

मनुष्य अपने अन्दर तेजस्विता कमावे और आत्मज्योति की प्राप्ति करनेका साधन करे ॥ ७ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे ।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ ८ ॥

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा विहायि मो शरीरम् ।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥
वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।

अर्थ- (उत् तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) जा, (प्रद्रव) दौड, (सधस्थे) जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे (सलिले) अंतरिक्षमें (ओकः) घर (कृणुष्व) बना। (तत्र) वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरोंके साथ मिला हुआ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनंदित हो और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनन्दित हो ॥८॥

(प्रच्यवस्व) आगे बढ— उन्नति कर। (तन्वं) शरीर का (सं भरस्व) उत्तमतया पालन पोषण कर। (ते गात्रा) तेरे हाथ पैर आदि गात्र (मा विहाय) मत छूटें तुझे छोडकर मत चले जावें। (मो शरीरं) और तेरा शरीर भी मत छूटे। (मनः निविष्टं) जहां तेरा मन निविष्ट हो अर्थात् जहां तेरा मन चाहे वहां (अनु सं विशस्व) मन की इच्छानुसार प्रवेश कर- जा। और (यत्र) जहां (भूमेः जुषसे) भूमि से प्रीति करता है अर्थात् जिस देश से तेरा मन प्यार करता है (तत्र) उस देशमें (गच्छ) जा ॥ ९ ॥

(सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु) सोम संपादन करने वाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें। (देवाः मधुना घृतेन) देव मुझे मा-

---

भावार्थ- पितर अंतरिक्षमें भी रहते हैं अर्थात् अंतरिक्ष भी पितरोंके लोकोंमें से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं ॥ ८ ॥

हे मनुष्य तू उन्नति कर। अपने शरीर का ठीक ठीक पालन कर जिससे तेरी आकस्मिक मृत्यु व शीघ्र मृत्यु न होवे। संसारके जिस भूमिभागमें तेरा मन जानेको करे वहां तू आनंदसे जा। जो देश तुझे अच्छा मालूम दे वहां तू जा ॥ ९ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ १० ॥ (१३)
वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्नियक्त्वासन् ।
रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥ ११ ॥
मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।

धुर्योपेत घृतसे व्यक्त करें। (चक्षुषे मां प्रतरं तारयन्तः) देखनेके लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, (जरदष्टिं मां) जिसका खानपान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको (जरसे) वृद्धावस्था तक (वर्धन्तु) बढावें अर्थात् जिस बुढापेमें खाने पीने की शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढापेतक मुझे पहुंचाएं। यथा संभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं ॥ १० ॥

(अग्निः) अग्नि (मां) मुझे (वर्चसा) तेजसे (समनक्तु) अच्छी प्रकार से युक्त करे। (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (मे आसन्) मेरे मुखमें (मेधां नि अनक्तु) बुद्धिको उत्तमतया स्थापित करे। (विश्वे देवाः) सब देव (मे रयिं) मेरे लिए धन (नियच्छन्तु) प्रदान करें। (स्योनाः आपः) सुखकारी जल (मा) मुझे (पवनैः) पवित्र पवनोंके साथ (पुनन्तु) पवित्र करें ॥ ११ ॥

(मित्रावरुणौ) रात व दिन (मा) मुझे (परि अधाताम्) चारों ओरसे धारण करें अर्थात् मेरी सब ओरसे रक्षा करें। (स्वरवः) शत्रुओंको उपताप पहुंचानेवाले अथवा जयशब्द करते हुए (आदित्याः) अदिति के पुत्र देवगण (मा वर्धयन्तु) मुझे बढावें। (इन्द्रः) ऐश्वर्य-

---

भावार्थ-दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ॥ १० ॥

अग्नि से मुझे तेज प्राप्त होवे। विष्णु परमात्मा मुझे अत्यन्त बुद्धिमान् बनावे। देवगण मुझे धन धान्य सम्पन्न करें तथा जल-मिश्रित पर्वत मुझे सदा पवित्र करता रहे जिससे कि मैं सुखपूर्वक जीवन बिताऊं ॥ ११ ॥

रात व दिन मेरी सब ओरसे रक्षा करें। अन्य अखण्ड शक्तिमान

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥ १२ ॥
यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ १३ ॥
परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ १४ ॥

शाली (मे हस्तयोः) मेरे दोनों हाथोंमें (वर्चः व्यनक्तु) तेज स्थापित करे। और (सविता) सर्वप्रेरक वा सबका उत्पादक देव (जरदष्टिं कृणोतु) मुझे दीर्घायु बनावे ॥ १२ ॥

(यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्यों में सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र ईयाय) इस लोक-यमलोक को सबसे पहिले गया उस (जनानां संगमनं) जनों के संगमन (वैवस्वतं यमं राजानं) विवस्वान् के पुत्र यम राजाकी (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो ॥ १३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (परायात) यज्ञ समाप्ति पर वापस लौटा जाओ। (च) और फिर (आयात) आओ क्यों कि (अयं यज्ञः वः) यह यज्ञ तुम्हारे लिये (मधुना समक्तः) मधुर आज्यसे तैयार किया हुआ है। (इह) इस यज्ञमें (द्रविणा) धनों को (दत्तो) दो। (भद्रं सर्ववीरं रयिं च) और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पति-समृद्धि से (नः) हमें (दधात) पुष्ट करो। मधु का अर्थ है मधुरसपूर्ण आज्य। देखो. ऐ. ब्रा. २। २। - 'एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्' ॥ १४ ॥

देवगण मेरी वृद्धि करें। इन्द्र मेरे हाथों में बल देवे व सविता देव मुझे दीर्घायु प्रदान करे। इस प्रकार सर्व देव मेरेपर अनुग्रह करें जिससे कि मैं सुखसे जीवन व्यतीत कर सकूं ॥ १२ ॥

मनुष्योंमें से सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले यमलोकमें गया, अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा ॥ १३ ॥

पितरों को यज्ञमें मधुर आज्य देना चाहिए जिससे कि वे आज्य-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभरर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥ १५ ॥
विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव ।
शर्दिनो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ १६ ॥
कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनार्धं स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥

अर्थ- (कण्वः) बुद्धिमान्, (कक्षीवान्) शासन करनेवाला, (पुरुमीढः) बहुधनवाला (अगस्त्यः) पापका नाश करनेवाला, (श्यावाश्वः) काले घोडोंवाला वा ज्ञानी, (सोभरी) ऐश्वर्यवाला, (अर्चनानाः) पूजनीय रथवाला वा उत्तम जीवनवाला, (विश्वामित्रः) सबका मित्र तथा (अयं जमदग्निः) यह, यज्ञ में जिसकी सदा अग्नि प्रज्वलित रहती ऐसा, (कश्यपः) सूक्ष्मदर्शी तथा (वामदेवः) उत्तम व्यवहारवाला, ये सब (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक, (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, (भरद्वाज) हे अन्नबल धारक, (गोतम) हे उत्तम स्तोता, (वामदेव) हे प्रशंसनीय व्यहारवाले, (सुसंशासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो ! तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो; क्योंकि (शर्दिः अत्रिः) बलविशिष्ट अत्रिने (नमोभिः) अन्नोंसे हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है ॥ १६ ॥

(कस्ये) ज्ञान में (मृजानाः) पवित्र होते हुए (प्रतरं) दीर्घ (नवीयः) नवीन (आयुः) आयुको (दधानाः) धारण करते हुए (रिपुं) पापका (अतियन्ति) अतिक्रमण करते हैं, पापसे बचते हैं। और इस प्रकार पापसे बचकर (प्रजया) प्रजा द्वारा व (धनेन) धनद्वारा (आप्या-

दाताओं को धनधान्य देवें व उत्तम वीर संतान से युक्त करें ॥ १४ ॥
मंत्रोक्त नाना गुण विशिष्ट पितर हमारी सर्वदा रक्षा करें ॥ १५ ॥
हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो ॥ १६ ॥
हम ज्ञान द्वारा अपनेको शुद्ध करते हुए पापसे बचें व दीर्घ जीवन

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते ॥ १८ ॥
यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥ १९ ॥
ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः ।

यमानाः) बढते हुए (गृहेषु) घरोंमें (सुरभयः) सुन्दर गन्धवाले अर्थात् प्रशंसनीय गुणोंवाले (स्याम) होवें ॥ १७ ॥

(क्रतुं) यज्ञको (मधुना) मधुर आज्यसे (अञ्जते) संयुक्त किया जाता है । (वि अञ्जते) विशुद्ध किया जाता है । (सं अञ्जते) मिलकर प्राप्त किया जाता है, (अभि अंजते) चारों ओर विस्तार किया जाता है तथा सब मिल कर उसकी (रिहन्ति) अर्चना करते हैं । अथवा यज्ञशेष (रिहन्ति = लिहन्ति) खाते हैं । (हिरण्यपावाः) सुवर्णादि धनके रक्षक वा हिरण्यसे पवित्र करनेवाले, (सिन्धोः उच्छ्वासे) समुद्रकी वृद्धिके समय (पतयन्तं) जाते हुए (उक्षणं) वृद्धि करनेवाले वा सिंचन करनेवाले (पशुं) सबको देखनेवाले को (आसु) इनमें (गृह्णते) लेते हैं ॥ १८ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः यत् मुद्रं सोम्यं च) तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है (तेनो) उस द्वारा (सचध्वं) हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो । (हि) निश्चयसे तुम (स्वयशसः) अपने यशसे ही यशस्वी (भूत) होते हो । (अर्वाणः) गतिवाले अर्थात् निरालसी, (कवयः) क्रान्तदर्शी तथा (सुविदत्राः) उत्तम धनवाले, (हूयमानाः) बुलाए गए (ते) वे तुम (विदथे) यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनायें (आशृणोत) आकर सुनो ॥ १९ ॥

(ये) जो तुम (अभयः) सदा प्राप्तिके योग्य, (अङ्गिरसः) ज्ञानी, (नवग्वाः) नवग्व, (इष्टावन्तः) दर्शपौर्णमास आदि करनेवाले, (राति-

---

प्राप्त करें । हम प्रजा संपत्ति आदि से संपन्न हुए हुए सुन्दर गुणों से पूर्ण होवें ॥ १७ ॥

किया हुआ कर्म मीठा फल देनेवाला बने ॥ १८ ॥

पितरोंसे कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ साधन भूत है ॥ १९ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ २० ॥ (१४)
अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः ।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ २१ ॥
सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यूतिं परिषदं नो अकन् ॥ २२ ॥

वाचः) दान देनेवाले, (दधानाः) पालन पोषण करनेवाले (दक्षिणावन्तः) दान युक्त, (सुकृतः) उत्तम कर्म करने वाले (स्थ) हो वे तुम (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) आनन्दित होओ। हवि खाकर तृप्त होओ। नवग्व- नव मासका सत्रयाग करनेवाले ॥ २० ॥

(यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः) जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरोंने (ऋतं आशशानाः) सत्य वा यज्ञको व्याप्त करते हुए (शुचि इत् अयन्) प्रकाशमान- दीप्तस्थान को ही प्राप्त किया व (दीध्यतः) दीप्यमान होते हुए, (उक्थशासः) उक्थोंसे प्रशंसा-स्तुति करते हुए (क्षामा = क्षाम) क्षयकारी अंधकारको (भिन्दन्तः) नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओंकी किरणोंको (अपव्रन्) प्रकाशित किया था उसी प्रकार हे अग्नि ! तूभी उषाको प्रकाशित कर ॥ २१ ॥

(सुकर्माणः) उत्तम कर्म करने वाले, (सुरुचः) उत्तम कान्तिवाले (देवयन्तः) देवत्वकी कामना करते हुए (अयः न) जिस प्रकार कि सुवर्णकार तपाकर सोनेको शुद्ध करते हैं उसी प्रकार (जनिमा धमंतः) अपने जन्मोंको तपरूपी तापसे तपाकर शुद्ध करते हुए (देवाः) देव-गण (अग्निं) अग्निको (शुचन्तः) दीप्त करते हुए, (इन्द्रं वावृधन्त)

भावार्थ— जिनके तीनों ताप नष्ट हो चुके हैं ऐसे ज्ञानी, सत्रयाग करनेवाले, इष्टापूर्त करनेवाले, दानी, उत्तम कर्म करनेवाले पितर हमारे यज्ञमें आवें व हवि खाकर तृप्त होवें-आनन्द मनावें ॥ २० ॥

जिस प्रकार यज्ञादिसे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होते हुए हमारे पुरातन पितरोंने अंधकारका विनाश करके उषाको प्रकट किया था, उसी प्रकार अग्नि तूभी हमारे लिये उषा प्रकट कर ॥ २१ ॥

उत्तम कर्म करनेवाले देव गण प्रथम अपने जन्मको तपादिसे

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥
अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।

इन्द्रको अर्थात् नाना भूत ऐश्वर्य की वृद्धि करते हुए (न) हमारे लिए (उर्वीं) बडी भारी विस्तृत (गव्यां) गौओंके समूहवाली (परिषदम्) परिषत् (अकृन्) बनाते हैं ॥ २२ ॥

(उग्रः) तेजस्वी (अग्नि) (देवानां जनिमा) देवोंके जन्मोंको—उत्पत्तिको (अन्ति) समीपसे (आ अख्यत्) देखता है। अर्थात् देवों की उत्पत्तिके विषयमें अग्निको अच्छी तरहसे मालूम है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि (क्षुमति पश्वः यूथा इव) अर्थात् जिस प्रकार घासादि अन्नयुक्त स्थानमें चरते हुए पशुओं के समूहों को उनका चरानेवाले ग्वाला जानता है। (मर्तासः चित्) मनुष्य भी (उर्वशीः अकृप्रन्) विस्तृत क्रियाओंको करते हैं और (अर्यः) स्वामी (उपरस्य आयोः) समीपस्थ मनुष्यकी वृद्धिके लिए क्रिया करता है ॥ २३ ॥

(ते) तेरे लिए (अग्नि के लिए) हमने (अकर्म) पूजा, स्तुति आदि उत्तम कर्म किए हैं इस लिए (स्वपसः) श्रेष्ठ कर्मोंवाले (अभूम) हुए हैं। इस वास्ते हमारे लिए (विभातीः) विविध प्रकारसे प्रकाशित होती हुई (उषसः) उषायें (ऋतं अवसन्) सत्यमें निवास करती हैं

शुद्ध करके अनन्तर अग्निको प्रदीप्त करते हैं। अग्निका अभिप्राय तीनों प्रकार की अग्निसे है। इस तीनों प्रकार की अग्निको प्रदीप्त करके ऐश्वर्य-को बढाते हैं व हम सांसारिक लोकोंके लिए गौओंके समूहवाली परि-षत् बनाते हैं। गौओंके समूहवाली परिषत् का मतलब यह है कि हमारे लिए अनेक प्रकार की गौवें प्रदान करते हैं ताकि सांसारिक सुख बढ सके अथवा गौका अर्थ है वाणी तदनुसार इसका अभिप्राय यह है कि सभाएं भर भरके हमें नाना प्रकार के उपदेश देते हैं। देवगण हमारे लिए क्या करते हैं उसका यहां पर दिग्दर्शन कराया गया है ॥ २२ ॥

देवोंके उत्पन्न होनेका कर्म रहस्य जानकर उसके अनुसार शुभ

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥ २४ ॥
इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २५ ॥

अर्थात् सत्य नियमों में आश्रित हुई हुई नित्यप्रति बाकायदा उदित होती रहती हैं। (यत् देवाः अवन्ति) जिस जिसकी देव गण रक्षा करते हैं (तत् विश्वं) वह सब हमारे लिए (भद्रं) कल्याणकारी हो। हम (सुवीराः) उत्तम बलशाली हुए हुए (विदथे) यज्ञमें (बृहत् वदेम) सुनने लायक बहुत बोलें ॥ २४ ॥

(मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंवाला इन्द्र (मा) मेरी (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशासे अर्थात् पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंसे (पातु) रक्षा करे। (बाहुच्युता पृथिवी) बाहुओंसे दी गई अथवा बाहुओं में प्राप्त हुई अर्थात् हाथोंसे दीगई वा हाथोंसे ली गई पृथिवी (इव) जिस प्रकार से कि (उपरि) उपर (द्यां) द्युकी रक्षा करती है। (लोककृतः) लोकोंके बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंको बनानेवालों की हम (यजामहे) पूजा करते हैं (ये) जो कि तुम (इह) यहांपर (देवानां) देवों के बीच में (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) हो ॥ २५ ॥

कर्म करना चाहिये ॥ २३ ॥

अग्नि के लिए कर्म करने से ही हम श्रेष्ठ कर्मवाले हो सकते हैं व तभी हमारे लिए उषा आदि प्रकाशमान पदार्थ सत्य नियम में स्थित होकर प्रकाशित होते रहते हैं। देवोंसे रक्षित पदार्थ भी उसी हालतमें हमारे लिए कल्याणकारी होते हैं। हमें चाहिये कि हम नित्यप्रति स्तुति उपासना आदि प्रभूत मात्रामें करते रहें ॥ २४ ॥

मरुतों से युक्त इन्द्र मेरी पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंका निवारण करके रक्षा करे जिस प्रकारसे कि पृथिवी द्युकी। हमारे लिये लोकों व मार्गोंके बनानेवाले देवजनों की हम पूजा करते हैं व हविदान करते हैं जो कि देवजन इस संसारमें विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २६ ॥
अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २७ ॥
सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २८ ॥
धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २९ ॥
प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामि-
वोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥३०॥(१५)

अर्थ— (धाता) सबका धारण करनेवाला (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशाकी (निर्ऋत्याः) निर्ऋति से अर्थात् कष्ट आपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत् ॥ २६ ॥

(अदितिः) अखण्डनीय शक्ति-अदीन शक्ति (आदित्यैः) आदित्यों द्वारा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशासे आनेवाली विपत्तियों से (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत् ॥ २७ ॥

(सोमः) सोम (विश्वैः देवैः) सब देवोंके साथ (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशासे आनेवाली आपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करें। शेष पूर्ववत् ॥ २८ ॥

(ह) निश्चयसे (धरुणः धर्ता) सबसे धारण किया जानेवाला धारक (त्वा) तुझे (ऊर्ध्वं धारयातै) ऊंचा धारण करे। (सविता) सूर्य (भानुं द्यां इव उपरि) प्रकाशमान द्युको जिस प्रकारसे कि ऊपर धारण किये हुए है। शेष पूर्ववत् ॥ २९ ॥

(पुरा संवृतः) शरीरसे ढका हुआ अर्थात् सशरीर मैं अथवा सर्व प्रकार की पूर्तिसे परिपूर्ण मैं (प्राच्यां दिशि) पूर्व दिशामें (स्वधायां) स्वधामें (त्वा) तुझे (आदधामि) रखता हूं-स्थापित करता हूं। किस प्रकारसे? जिस प्रकारसे कि बाहुच्युत पृथिवी ऊपर द्यु लोकको स्थापित करती है। शेष पूर्ववत् ॥ ३० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥३१॥ प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३२ ॥ उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३३ ॥ ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३४ ॥ ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥

धर्तासि धरुणोसि वंसगोसि ॥ ३६ ॥ उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

अर्थ- (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशामें ··· इत्यादि पूर्ववत् ॥३१॥
(प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशामें ····इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३२ ॥
(उदीच्यां दिशि) उत्तर दिशामें ···· ··· इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥
(ध्रुवायां दिशि) स्थिरनीचेकी दिशामें ··· इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३४ ॥
(ऊर्ध्वायां दिशि) उपर की दिशामें ··· ··· इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

हे परमात्मन् ! तू (धर्ता असि) सबका धारण करनेवाला है। तू (धरुणः) सबसे धारण किया जानेवाला है। तू (वंसगः) संभजनीय पदार्थोंका प्राप्त कराने वाला है ॥ ३६ ॥

तू (उदपूः असि) सर्व संसारको जल पहुंचानेवाला है। तू (मधुपूः असि) माधुर्यगुणोपेत रसों का पहुंचाने वाला है व तू (वातपूः असि) सबको प्राणवायु पहुंचाने वाला है ॥ ३७ ॥

भावार्थ— सब स्थानोंमें हमारी रक्षा होवे और हमें श्रेष्ठ मार्ग प्राप्त होवे ॥ २६-३५ ॥

परमेश्वर सबका आधार है ॥ ३६ ॥

हे परमात्मा तू ही सबको जल, मधुर रस तथा प्राणवायु, जिसके विना संसार की स्थिति कठिन है, देता है ॥ ३७ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् ।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥ ३८ ॥
स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः ।
वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥ ३९ ॥

अर्थ-(यत्) क्यों कि हे हविर्धाने ! तुम दोनों (यमे इव) युगलोत्पन्न संतान की तरह (यतमाने) संसारका पोषण करनेके लिए साथ साथ प्रयत्न करनेवाले होकर (ऐतम्) विचरण करते हो, इसलिए (मां) मेरी (इतश्च अमुतश्च) इस लोकसे व परलोकसे अर्थात इन दोनों लोकों में आनेवाली विपत्तियोंसे (अवतां) रक्षा करो। (मानुषाः) मनुष्यगण (देवयन्तः) देव बनने की कामना करते हुए (वां) तुम दोनोंका प्रभरन्, अच्छी प्रकारसे भरण पोषण करें। तुम दोनों (स्वं लोकं विदाने) अपने स्थान को जानते हुए (आसीदतां) उस स्थान पर बैठो ॥ ३८ ॥

हे हविर्धाने ! (नः इन्दवे) हमारी ऐश्वर्यवृद्धि के लिए तुम दोनों (स्वासस्थे) सुखासन-उत्तमासन पर बैठनेवाले (भवतम्) होओ। मैं (नमोभिः) नमस्कारों के साथ (वां) तुम दोनों के (पूर्व्यं ब्रह्म युजे) पुरातन स्तोत्र को करता हूं अर्थात नमस्कारपूर्वक मैं वेदमंत्रोंसे तुम्हारी स्तुति करता हूं। (श्लोकः) यह किया हुआ स्तुतिसमूह (वि एति) तुम दोनोंको विशेष रूपसे प्राप्त होता है। इसको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं कि (पथ्या सूरिः इव) जिस प्रकार से कि उत्तम धर्ममार्ग से विद्वान् इच्छित पदार्थको प्राप्त होता है उसी प्रकार से यह हमसे की गई स्तुति तुम को प्राप्त होती है। (एतत्) इस हमारे द्वारा किए गए उपरोक्त स्तोत्र को (विश्वे अमृतासः) सर्व अमृत लोक (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ३९ ॥

भावार्थ- मेरी दोनों लोकों में आनेवाले विघ्नों से रक्षा हो। क्यों कि दोनों हवि इसी कार्य के लिए इधर उधर विचरण करते रहते हो। तुम्हारा भरणपोषण हम करते रहें व तुम दोनों अपने कर्तव्यको ध्यानमें रखते हुए कार्य करते रहो ॥ (ऋ० १०।१३।२) ॥ ३८ ॥

हे हविर्धाने ! तुम दोनों हमें ऐश्वर्य दिलानेवाले होओ। मैं उसके बदलेमें तुम्हारी वेदमंत्रों से स्तुति करूं। मेरी स्तुति तुमको ऐसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद् व्रतेन ।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ ४० ॥ (१६)
देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं१मा रिरेच ॥ ४१ ॥

अर्थ- (रुपः) रुप (त्रीणि पदानि अन्वरोहत्) तीन स्थानों पर चढता है क्यों कि (व्रतेन) अपने यज्ञादि कर्मद्वारा (चतुष्पदीं अनु ऐतत्) चतुष्पदीका अनुसरण करता है। और (अक्षरेण) अपने अक्षय कर्मद्वारा (अर्कं प्रति मिमीते) सूर्यके सदृश प्रकाशमान अपने को बनाता है। अथवा अपने अविनश्वर कर्मद्वारा पूजनीय बनता है। उसकी कीर्ति प्रलय तक बनी रहती है। वह अपने आपको (ऋतस्य नाभौ) यज्ञके मध्यमें अथवा सत्य नियमों के बीचमें (अभि संपुनाति) चारों ओर से अच्छी प्रकार शुद्ध करता है ॥ ४० ॥

(देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरना न था ? अर्थात देवभी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवों-मेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवों के लिये (अमृतं अवृणीत) अमरताको प्राप्त किया, पर (प्रजायै) प्रजाके लिए (किं अपि अमृतं) कोई भी अमरता न प्राप्त की, अतएव (यमः) प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे (प्रियां तन्वं) उनकी प्यारी देह (आरिरेच) छीन लेता है अर्थात प्रजाकी मृत्यु होती है ॥ ४१ ॥

पहुंचे जैसे कि विद्वान् सन्मार्गसे अपने अभिलषित स्थान को पहुंचता है। अर्थात जिस प्रकार विद्वान् सन्मार्ग से अवश्य ही वांछित फल लाभ करता है उसी प्रकार यह स्तुतिभी तुम्हें अवश्यमेव प्राप्त होती है। मेरी इस स्तुतिको सर्व अमृतगण सुनें अर्थात् वे मेरी स्तुति के लिए साक्षीभूत होवें ॥ ३९ ॥

यज्ञ करके वा सत्यनियमोंके अनुसार आचरण करके वह मनुष्य अपने आपको शुद्ध करता है। (ऋ० १०।१३।३) ॥ ४० ॥

देव अमर हैं और मनुष्य नश्वर हैं ॥ ४१ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ४२ ॥
आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥
अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४ ॥

अर्थ- हे (जातवेदः अग्ने) जातवेदस् अग्नि ! (ईडितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्योंको (सुरभीणि कृत्वा) सुगंधित बनाकर (अवाट्) वहन कर (पितृभ्यः) उन हव्योंको पितरोंके लिये (प्रादाः) दे। (ते) वे पितर (स्वधया अक्षन्) उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि ! (त्वं) तूभी (प्रयता हवींषि) दी गई हवियोंको (आद्धि) खा ॥ ४२ ॥

(अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरों ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। (तस्य) उस दानीके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो ॥ ४३ ॥

हे (सुप्रणीतयः) उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले (Leaders) (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो ! (इह) यज्ञ में (आगच्छत) आओ (सदःसदः सदत) घरघरमें स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन दे कर पुष्ट करो ॥ ४४ ॥

भावार्थ- अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिये हविको सुगंधित बना कर लेजाती है। और पितरोंको ले जाकर देती है ताकि वे खावें॥४२॥

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो। (यजुर्वेद १९।६३) ॥ ४३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेवन्त्वस्मान् ॥ ४५ ॥
ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ४६ ॥

अर्थ-(ते) वे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियों में (उपहूताः) बुलाए गए हैं। (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आवें। (ते अधिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनामें ध्यान देकर सुनें, (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ॥ ४५ ॥

(ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरोंने (सोमपीथं) सोमपानको यज्ञमें (अनु जहिरे) प्राप्त किया था. (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपान करने वा हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशन्) पितरोंके साथ सोमपान करने वा हवि खाने की कामना करता हुआ, (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अत्तु) खावे ॥ ४६ ॥

भावार्थ-हे अग्निष्वात्त पितरो! घर घरमें आओ। यज्ञों में तुम्हारे उद्देश्य से दी गई हवियों को खाओ तथा उसके बदले में वीर संतति का प्रदान करो ॥ ४४ ॥

याज्ञिक कार्यों में पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें ॥ ४५ ॥

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिल कर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरों के लिए यज्ञ में पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविद स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४७ ॥
ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४८ ॥
उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।

अर्थ— (देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जानने वाले (स्तोमतष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस संसारसागर से सर्वथा तर गए हैं ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों वार देवोंसे स्तुति किए गए (सत्यैः कविभिः ऋषिभिः) सत्यवचनी, क्रांतदर्शी तथा ज्ञानी व (घर्मसद्भिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) यज्ञमें आ ॥ ४७ ॥

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी, (हविरदः) हविके खानेवाले, (हविष्पाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (तुरेण इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) वेगवान् इन्द्र व देवों के साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे (सुविदत्रेभिः) उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले (पूर्वैः परैः) पुरातन व अर्वाचीन (ऋषिभिः) ज्ञानी (घर्मसद्भिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (अर्वाङ्) हमारे प्रति (अग्ने) अग्नि ! तू (आयाहि) आ ॥ ४८ ॥

हे मनुष्य ! (एतां) इस (उरुव्यचसं) बडे विस्तारवाली अतएव (पृथिवीं) फैली हुई, (सुशेवां) अति सुख देनेवाली (मातरं भूमिं) माताभूत भूमिके (उप सर्प) समीप जा । [समीप जा का अर्थ यहां

भावार्थ– देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्नि के साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ॥ ४७ ॥

देवोंके साथ समान रथारूढ अर्थात् देवोंके साथ एकही रथपर विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें हे अग्नि ! तू ले आ । अग्नि पितरोंको यज्ञमें ले आती है ऐसा इस मंत्रसे जान पडता है ॥ ४८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ॥ ४९ ॥
उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा निबाधथाः सूपायनास्मै भव सूपसर्पणा ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)

पर यह है- कि भूमिका बारिकीसे अवलोकन कर, क्यों कि भूमिपर रहनेवाला मनुष्य भूमिके तो समीप है ही, फिर भी समीप जा कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। भूमिके जो सुशेवा आदि विशेषण हैं वे भी इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हैं। भूमिका बारिकी से अवलोकन करके उससे लाभ उठाने से बडा सुख होता है।] (दक्षिणावते) दान देने वालेके लिए (ऊर्णम्रदः) ऊनके समान नरम— कोमल (एषा पृथिवी) यह पृथिवी (त्वा) तेरी (प्रपथे) इस संसारसागरके विस्तृत मार्गमें (पुरस्तात्) आगेसे रक्षा करे। (ऋ० १०।१८।१०) ॥ ४९ ॥

(पृथिवि) हे पृथ्वी ! तू (उच्छ्वञ्चस्व) पुलकित हो। इस तेरे समीप आए हुए मनुष्यको (मा निबाधथाः) किसी भी प्रकारकी पीडा वा कष्ट मत पहुंचा। (अस्मै) इसके लिए (सूपायना) अच्छीतरह प्राप्त करने योग्य अर्थात् विना किसी भय वा कष्ट के समीप आने योग्य तथा (सूपसर्पणा) सुखपूर्वक विचरण करने योग्य (भव) हो। (एवं) इस पुरुषको (भूमे) हे भूमि (अभि ऊर्णुहि) चारों तरफसे इस प्रकारसे ढांप ले (यथा) जिस प्रकारसे कि (माता) माता (सिचा पुत्रं) अपने आंचलसे पुत्रको ढांप लेती है। (ऋ० १०।१८।११) ॥ ५० ॥

भावार्थ- इस अत्यन्त विस्तृत भूमिका बारिकीसे अवलोकन करो क्यों कि यह बडा सुख देनेवाली है। जो पृथिवीपर रहकर नानाविध दान करता रहता है उसके लिए यह पृथिवी ऊनके सदृश कोमल होती हुई सुख देती है व प्रत्येक कार्यमें उसकी रक्षा करती रहती है ॥ ४९ ॥

हे पृथिवी ! तू सदा प्रसन्न बनी रह। तेरे पर वास करनेवालेको किसी प्रकारका भी कष्ट न पहुंचे। वह आनन्दसे सर्वत्र विचरण कर सके। तू मनुष्यको नानाविध पदार्थों से ढांपे रख जैसे कि माता अपने आंचलसे पुत्रको ढांपे रखती है। अर्थात् जैसे माता अपने वस्त्र से बडे स्नेहके साथ पुत्रको ढांप कर ठण्डी गरमी आदि कष्टसे बचाती है

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥
उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥

अर्थ- (उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी) पुलकित होती हुई पृथिवी (सु तिष्ठतु) अच्छी प्रकार स्थित होवे । और (सहस्रं) हजारों (मितः) मित उस पृथिवी को प्राप्त होकर (उपश्रयन्ताम्) आश्रित होवें । (ते घृतश्चुतः) वे घीसे परिपूर्ण अतएव (स्योनाः) सुखकारी (गृहासः) घर तथा (विश्वाहा) सब दिन (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अत्र) यहां पर (शरणाः सन्तु) शरण देनेवाले आश्रय देनेवाले होवें। (ऋ.१०।१८।१२)॥५१॥

(ते) तेरे लिए (पृथिवीं) पृथ्वीको (उत् स्तभ्नामि) थामता हूं। (त्वत् परि) तेरे चारों ओर (इमं लोगं) इस निवासस्थानको (निदधत्) रखता हुआ अर्थात् तेरे लिए निवासस्थान बनाता हुआ (अहं) मैं (मो रिषम्) मत नष्ट होऊं । (तत्र) वहां अर्थात् इस निवास स्थान में (ते) तेरे लिए (एतां स्थूणां) इस नीव को (पितरः) पितृगण (धारयन्ति) धारण करें अर्थात् तेरे आवासस्थान की नींव पितर रखें और (तत्र) उस नींवपर (ते) तेरे लिए (यमः) यम (सादना) घरोंको (कृणोतु) बनावे । (ऋ० १०।१८।१३) ॥ ५२ ॥

उसी प्रकार हे पृथिवी ! तू भी उतने ही स्नेह के साथ तेरे पर निवास करनेवाले मनुष्य को नानाविध द्रव्य दान से ढांपकर दुःखद्वन्द्वों से बचा ॥ ५० ॥

पृथिवी स्थिर बनी रहे । भूचाल आदि से विचलित न होवे । नानाविध पदार्थ इसका आश्रय लेकर स्थित होवें । उस पृथिवीपर वास करते हुए मनुष्यके लिए घृतादि से पूर्ण सुखकारी घर तथा सब दिन आश्रयदाता होवें । किसी भी दिन किसी भी घरमें इसे कष्ट न होवे ॥ ५१ ॥

यम सबको निवासस्थान देवे ॥ ५२ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥
अथर्वा पूर्णं चमस यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते ।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥ ५४ ॥
यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि ! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करने वालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देव पान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्तां) पान करके प्रसन्न होवें ॥ ५३ ॥

(अथर्वा) निश्चल मतिवालेने (यं पूर्णं चमसं) जिस भरे हुए पूर्ण चमसको (वाजिनीवते) अन्नबलादिसे पूर्ण (इन्द्राय) ऐश्वर्यशालीके लिए (अबिभः) धारण किया था (तस्मिन्) उस चमस में (सुकृतस्य भक्षं) अच्छे कर्मों का भोग (कृणोति) करता है। और (तस्मिन्) उस चमस में (विश्वदानीं) सर्वदा (इन्दुः) ऐश्वर्य (पवति) बहता रहता है ॥ ५४ ॥

हे प्रेत ! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तुओंने वा, सर्पने

भावार्थ—यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि ! इस शरीर की दुर्दशा मत कर ॥ ५३ ॥

निश्चल परमात्मा यह सर्वांशमें पूर्ण शरीररूपी चमसको बलवान आत्माके लिए प्रदान करता है। वह आत्मा अपने सुकृत कर्मोंका फल इस शरीररूपी चमसमें खाती है। कर्म फल शरीरके विना नहीं भोगे जा सकते। इसी चमस रूपी शरीरमें तमाम ऐश्वर्य बहता रहता है ॥५४॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

समर्थ होता है। उसके अन्य देह उसकी आवश्यकतानुसार ही रहते हैं। प्रायः मुख्य स्थूल देह बडा प्रबल रहता है, परंतु उसके आन्तरिक देह बलहीन रहते हैं।

यद्यपि शारीरिक बलके साथ दिव्य जन्मसे प्राप्त दिव्य देह का कोई संबंध नहीं, तथापि जिसको दिव्य देह प्राप्त होता है उसके स्थूल और सूक्ष्म देह निःसन्देह शुद्ध और पवित्र होते हैं।

इन जन्मोंको दूसरे नाम भी हैं। "दिव्य जन्म" को 'अयोनिसंभव' कहते हैं और "पार्थिव जन्म" को 'योनिसंभव' कहा जाता है। अर्थात् भगवान् इस प्रकारके स्फुरण से या अवतार से (अर्थात् नीचे उतरकर) आते हैं। अवतार के माने नीचे उतरना है, और (अव-तारण) सबको तारण करना भी है। भगवान् अपनी शक्तिसे योग्य भूमिकामें सज्जनोंका तारण करनेके लिये उतरते हैं। जिस तरह कोई मनुष्य दूसरे मंजिलसे पहिले मंजिल पर उतरते हैं, उसी प्रकार अपनी शक्तिसे प्रभु योग्य मनुष्यमें उतरते हैं, किंवा अपना स्फुरण उसके अन्दर करते हैं।

यहां कई शंका करेंगे कि, सर्वव्यापक परमात्मा इस छोटेसे देहमें किस तरह समा जाते हैं। यह शंका व्यर्थ है क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा की जितनी संपूर्ण शक्ति है, उतनीहि उसके एक छोटेसे कल्पनागम्य अंशमें किंवा स्फुरणमें है। संपूर्ण परमेश्वर जैसा पूर्ण है वैसा ही उसका एक अंश भी पूर्ण है। पूर्ण और अंशमें शक्तिकी न्यूनाधिकता नहीं है। (पूर्णमदः पूर्णमिदं) वह भी पूर्ण है और यह भी पूर्ण है, क्यों कि (पूर्णात् पूर्ण उदच्यते) उस पूर्णसे इस पूर्ण की उत्पत्ति हुई है। इस वर्णन के मननसे उक्त शंका नहीं रह सकती। भगवान् का अंश हो, ज्योतिका उतरना हो, सब का भाव एक ही है, और सब का तात्पर्य भी एक ही है। जैसा लोहेमें या काष्ठमें अग्निका अवतार हुआ तो वह लोहा या काष्ठ अग्निरूप बनता है; अग्निके सब कार्य करता है और प्रत्यक्ष अग्निहि हो जाता है; अग्निमें और उसमें कोई भेद नहीं रहता और वहां यह प्रश्न भी नहीं उठता कि उसमें सब अग्नि आगई है या थोडीसी आगई है, क्यों कि थोडी और सब ऐसा वहां कोई भेद ही नहीं है अग्निरूप लोहा या काष्ठ बनते ही वह प्रत्यक्ष अग्निही हो जाता है। बस, इसी तरह जब किसीमें भगवान् की दिव्य ज्योतिका प्रकाश हुआ, या अवतार हुआ, तो वह भगवद्रूप ही होता है। यही दिव्य जन्म है। और सर्वत्र धर्मकी स्थापना, सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी ग्लानि होनेपर और अधर्मकी चढाई जब धर्मपर होती है उससमय यही भगवान् का दिव्य जन्म इस प्रकार होता है।

यह एक प्रकारका परम शक्तिका आविर्भाव है। यह किस तरह होगा इस विषयमें कोई नियम नहीं कह सकता। यह जैसा गर्भमें होगा, वैसाही बालकमें होगा और वैसा ही बडे मनुष्यमें भी हो सकता है। जहां होनेसे योग्य कार्य बनेगा वहां वह स्फुरण होगा। (यः दिव्यं जन्म तत्त्वतः एवं वेत्ति) जो यह भगवान् का दिव्यजन्म तत्त्वतः इस प्रकार जानता है वह (मां एति) भगवत् स्वरूपको प्राप्त होता है, अर्थात् वह भगवान् बन जाता है। इतना महत्त्व भगवान् के दिव्य जन्म का ज्ञान प्राप्त करनेका है।

जो मनुष्य इस तरह यह भगवान् के दिव्य जन्मका तत्त्व जानता है वह निश्चयसे मानता है कि, जो मनुष्य अपने आपको भगवान् के अवतार होने योग्य पवित्र और शुद्ध बनायेगा, उस की निःसन्देह उन्नति होगी। इस प्रकारके विश्वास से वह नित्य नियमसे अपनी पवित्रता करता है, इससे वह उन्नत होता जाता है। पवित्रतासे वह परमेश्वरके सन्निध पहुंचता है और एक समय ऐसा आता है कि वह परमेश्वर की कृपा के लिये

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पात्र बनता है, फिर तद्रूप होनेमें देरीहि क्यों लगेगी?

ऐसा मनुष्य (देहं त्यक्त्वा) मरनेके पश्चात् (पुनर्जन्म न एति) जन्ममरण के चक्रमें नहीं पडता, परंतु सीधा (मां पुरुषोत्तमं एति) परमेश्वर को प्राप्त करता है। उसकी उन्नतिमें कोई रुकावट नहीं होती। जिस प्रकार लोहा अग्निको प्राप्त होनेसे अग्नि बनता है, उसी प्रकार यह मनुष्य जब परमेश्वर को प्राप्त करता है, तब परमेश्वररूप किंवा परमेश्वहि बन जाता है।

दिव्य कर्मका ज्ञान।

इसी प्रकार(यः मे दिव्यं कर्म एवं तत्त्वतः वेत्ति) जो मेरे दिव्य कर्मको इस तरह तत्त्वदृष्टिसे जानता है वह भी परमेश्वरको प्राप्त करता है। जो फल भगवानके "दिव्य जन्म" जाननेवालेको प्राप्त होता है वही फल उसके "दिव्य कर्म" को जाननेवाले को भी मिलता है। दिव्य जन्म का विचार इससे पूर्व स्थानमें किया, अब दिव्य कर्म का विचार करना चाहिये।

उक्त प्रकार प्रभु अपने स्फुरणसे दिव्य जन्म लेनेके पश्चात् जो कर्म करते हैं उनकाहि नाम 'दिव्य कर्म' हैं। अवतारी पुरुष के जो कर्म होते हैं वे दिव्य कर्म ही हैं। उन कर्मोंके अन्दर जो तत्त्व रहता है वह जाननेसे मनुष्य उन्नत होता है और भगवत्स्वरूप हो जाता है। अवतार लेकर भगवान् ने कैसे कर्म किये, किस प्रकार दुष्टोंका नाश किया, किस तरह सज्जनोंका पालन किया, किस रीतिसे धर्म स्थापना की, उस समय धर्मग्लानि कैसी हुई थी और उस ग्लानि को किस तरह दूर किया, इस का विचार करनेसे मनुष्य को दिव्य कर्म का ज्ञान होता है और इस से उसको यह भी ज्ञान होता है कि स्वयं किस प्रकार कर्म करने चाहिये। इस ढंगसे मनन करनेवाला मनुष्य स्वयं इसी प्रकारके दिव्य कर्म करने का यत्न करता है और उन्नत होता जाता है। और अन्तमें परम पद को प्राप्त करता है।

"दिव्य कर्म" का अर्थ "दैवी गुणों से युक्त कर्म" है। भगवद्गीता के १६ वे अध्याय के प्रारंभमें दैवी गुणोंका वर्णन इस प्रकार है- "अभय, अन्तःशुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, इंद्रियदमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निंदा न करना, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादापालन, अचंचलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह, निरभिमान, ये दैवी गुण हैं।" जिन कर्मोंमें ये गुण दीखते हैं अथवा इन गुणोंसे जो कर्म होते हैं उनको "दिव्य कर्म" कहा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंके व्यवहारोंमें और उनके कर्मोंमें इन गुणों का प्रत्यक्षीकरण हो सकता है। इस लिये जो मनुष्य अवतारी पुरुषोंके अथवा श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके व्यवहारमें मननके द्वारा इन दिव्य गुणोंका दर्शन करते हैं, उनको ये कर्म दिव्य हैं और ये कर्म दिव्य नहीं हैं इस बातका निश्चित ज्ञान हो जाता है और इस प्रकारका निश्चय होते ही वह मनुष्य स्वयं यत्न करके दिव्य कर्म करता है और प्रयत्नसे दिव्यकर्म करता हुआ क्रमशः उन्नत होता है। पाठक यहां स्मरण रखें कि प्रयत्न करनेपर भी प्रत्येकसे प्रारंभमें ऐसे दिव्यकर्म होंगे ऐसा कोई नियम नहीं है, परंतु मनमें वह महत्वाकांक्षा रही और उसके लिये योग्य दिशासे प्रयत्न होने लगे, तो क्रमशः उन्नतिके हि पथपर उसका चालचलन होने लगता है। यही क्रम-उन्नतिकी रीति है। दिव्य विभूतिके दिव्य कर्मोंका मनन करनेसे इस तरह उन्नति होती है और अन्तमें पूर्वोक्त रीतिसे वह परमपद को प्राप्त करता है। इसी लिये यहां कहा है कि "जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मको इस प्रकार तत्त्वतः जानता है, उसको पुनर्जन्म के दुःख नहीं भोगने पडते, और वह सीधा परमेश्वरको प्राप्त करता है।" (भ० गी० ४।९)

जन्ममरण छूटना।

यहां इसको 'पुनर्जन्म नहीं होता है' ऐसा कहा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

है, यह विचारणीय बात है, क्योंकि इसी अध्याय के प्रारंभके श्लोक ५ में कहा है कि " जैसे भगवान् के अनेक जन्म हुए हैं वैसे हि अर्जुन के भी हुए हैं।" यदि भगवान् को भी अनेक जन्म लेने पडते हैं, तो भगवत्स्वरूपको प्राप्त हुए मुक्तात्मा को जन्ममरण किसप्रकार छूट सकते हैं ? इस शंका का विचार अब करना चाहिये—

इससे पूर्व भगवान् " दिव्य जन्म " कैसा लेते हैं, इसका वर्णन किया है। वे स्वेच्छासे, अपनी लीलासे और अपनी निज शक्तिसे किसी सुयोग्य विग्रहमें उतरते हैं। वहां किसी प्रकार का बंधन उनके लिये नहीं होता, इसीप्रकार जो परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हुए मुक्त पुरुष हैं, वे भी ऐसेहि स्वकीय इच्छासे और लोकानुग्रह करनेकी बुद्धि से स्वयं किसी सुयोग्य शरीर की धारणा करते हैं। इन के लिये भी किसी प्रकारकी परतंत्रता नहीं होती। ये विग्रह धारण करें या न करें, इस विषयमें ये पूर्ण स्वतंत्र हैं। किसी दूसरे के नियमसे बद्ध होकर ये नहीं आते। ये शुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव होनेके कारण इनमें परम दया भाव स्वभावसे रहता है। जैसा परमेश्वर स्वभावसे परम कारुणिक हैं, वैसेहि परमात्मस्वरूपको प्राप्त हुए मुक्त जीव भी वैसेहि परम कारुणिक स्वभाव से और अकृत्रिमतासे होते हैं। इस कारण जब वे भूमंडल की जनता अत्यंत दुःख में पडी देखते हैं, उनके दुःख के हृदयभेदक नाद सुनते हैं, और उनकी अशरण स्थिति देखते हैं, तब स्वाभाविक और अकृत्रिम करुणाके कारण स्वयं अपने सुख स्वरूपसे नीचे उतरते हैं, विग्रह धारण करते हैं और जनता के मार्गदर्शक होते हैं। इनका यह दिव्य जन्म उनकी स्वतंत्रतासे होता है और सामान्य जनता का पार्थिव भौतिक पुनर्जन्म परमेश्वरीय नियमकी परतंत्रता के कारण होता है। इसमें नियमानुसार इनको पुनर्जन्म लेना ही पडता है, ये पुनर्जन्म लेनेकी इच्छा करें या न करें, परवश होते हुए ये पुनर्जन्ममें खींचे जाते हैं। ऐसी परवशता परमात्मस्वरूप बने हुए मुक्तात्माओंकी नहीं होती, पुनर्जन्म धारण करनेके लिये उनको कोई बाधित नहीं कर सकता परंतु लोकानुग्रह करने के स्वभावसे वे स्वयं किसी योग्य शरीरमें उतरते हैं और ये स्वयं " दिव्य जन्म " धारण करते हैं।

उदाहरण के लिये जेल खानेके कैदी राजाके नियमानुसार परतंत्रतासे कारागृहमें खींचे जाते हैं, और कोई प्रतिष्ठित नागरिक स्वेच्छासे कारागार देखनेके लिये, अथवा कैदियोंको धर्मतत्त्व का उपदेश करनेके लिये जाता है, वह स्वेच्छासे और अपनी स्वतंत्रतासे जाता है। इसी तरह सामान्य बद्ध जीवोंका पुनर्जन्म और मुक्तात्मा का ' दिव्य जन्म और कर्म ' जानने से पूर्वोक्त शंका दूर होसकती है। यह विषय भगवद्गीतामें वारंवार आनेवाला है, इस लिये इसका पाठक अच्छी प्रकार मनन करें।

परमेश्वर-प्राप्ति ।

(सः मां एति) वह मुझे प्राप्त होता है अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त करता है, ऐसा यहां कहा है। यहां परमेश्वरप्राप्तिका अर्थ क्या है इसका थोडासा विचार करना चाहिये। इस प्रकार के परमेश्वर-प्राप्ति के सूचक वाक्य भगवद्गीतामें अनेक वार आगये हैं, देखिये—

(१) बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
भ० गी० ४ । १०
स योगी मयि वर्तते ॥ भ० गी० ६ । ३१
मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ भ० गी० ७ । २३
यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ भ० गी० ९ । २५
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
भ० गी० ८ । १५
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
भ० गी० ९ । २८
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
भ० गी० ११ । ५५

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः
भ० गी० १८। ६६

(२) ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ भ० गी० २। ७२

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥
भ० गी० ४। ३१

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥
भ० गी० ५। ६

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
भ० गी० ५। २०

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
भ० गी० ६। २७

ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ भ० गी० १३। ३०

ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ भ० गी० १४। २६

(३) जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।
भ० गी० २। ५१

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
भ० गी ३। १९

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
भ० गी० ५। २८

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
भ० गी० ६। ४५

स याति परमां गतिम् ॥ भ० गी० ८। १३

ततो याति परां गतिम् ॥ भ० गी० १३। २८; १६। २२

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥
भ० गी० १५। २०

इस तरह के अनेकानेक वाक्य भगवद्गीतामें हैं। ये ही वाक्य अन्तिम सिद्धिका स्वरूप बतानेवाले हैं। इस अन्तिम सिद्धिका विचार हम आगे योग्य समयमें करेंगे, यहां केवल इतना ही बताना है कि—

१ मुझे प्राप्त करता है, मेरे भाव को प्राप्त होता है, मेरा स्वरूप प्राप्त करता है;

२ ब्रह्मको प्राप्त होता है, ब्रह्ममें स्थिर होता है, ब्रह्मरूप बनता है, ब्रह्मके समान महान् होता है;

३ नीरोग स्थान प्राप्त करता है, उच्च स्थान प्राप्त करता है, मुक्त होता है, श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है, कृतकृत्य होता है।

उक्त सब वाक्योंका यही आशय है और इसका तात्पर्य एक ही है कि वह परमात्मस्वरूप को प्राप्त होता है। इस के विषयमें वेद में कहा है—

तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत्॥
वा० यजु० ३२। १२

"वह उसने देखा, वही बन गया, क्यों कि वही था।" इसमें कहा है कि इस उपासकने (तत्) उस परमात्माका दर्शन किया, तब यह उपासक (तत् अभवत्) वह परमात्मा बन गया, क्यों कि तत्त्वरूपसे यह उपासक (तत्) वही (आसीत्) था।" तथा—

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ वा० यजु० ३२। ११

"(ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय) सत्यके प्रथम प्रवर्तककी उपासना करनेसे (आत्मना आत्मानं) अपने आत्मासे परमात्मा में (अभिसं विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता है।"

इस तरह के मंत्रभागों में परमात्मसाक्षात्कार के पश्चात् परमात्मरूप बननेका विधान है। तथा उपनिषद्में भी कहा है—

शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥ मांडूक्य उ० १२

"ओंकार आत्मा कल्याणमय और अद्वैतरूप है, यह जो जानता है, उसका आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट होता है।" तथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥ स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ मुण्डक ३। २

"जैसी बहनेवाली नदियां अपने नामों और

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

रूपोंका त्याग करके समुद्र में लीन होती हैं, उस तरह ज्ञानी मनुष्य नाम और रूप से मुक्त होकर दिव्य परात्पर पुरुषको प्राप्त होता है॥ जो इस परब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म बनता है, इसके कुलमें कोई अज्ञानी मनुष्य उत्पन्न नहीं होता, यह शोक और पापसे दूर होता है, अविद्याग्रंथीसे मुक्त होकर अमर होता है॥"

इन सब वचनों का आशय यही है कि जो भगवद्गीताके (मां एति) "मेरे पास आता है" और (मद्भावं आगच्छति) "मेरे भावको प्राप्त होता है" इन वचनोंका है। नरका नारायण किंवा पुरुषका पुरुषोत्तम बनना है। परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्यकर्म को जाननेवाला उपासक नर का नारायण होता है। इसकी क्रम उन्नति कैसी होती है इसका विचार आगेके श्लोक (४।१०) में किया है, वह विचार गीताके उपदेशको आचरणमें लानेकी दृष्टिसे अत्यंत महत्व का होनेसे अब उसका विचार करते हैं—

उन्नतिकी चार अवस्थाएं।

इस श्लोकमें उन्नतिकी चार अवस्थाएं कथन की हैं। परमेश्वरके दिव्य जन्म और दिव्यकर्म कैसे होते हैं, और अन्य सामान्य मनुष्यों के जन्म और कर्म कैसे होते हैं, इसका मनन करनेवाला मनुष्य इन चार अवस्थाओंमें से गुजरता है—

(१) मन्मयः= ईश्वरके दिव्य जन्म और कर्म में मन लीन करता है, सर्वत्र ईश्वरका रूप देखता है, सब ईश्वरमय है ऐसा अनुभव करता है,

(२) मां उपाश्रितः= ईश्वरके ऊपर पूर्णतया आश्रित होता है, सब काल और स्थानमें अपने आपको ईश्वर की शरण में रखता है।

(३) वीतरागभयक्रोधः= (राग) भोगप्रेम, भय, और क्रोधसे रहित होता है,

(४) ज्ञानतपसा पूतः= ज्ञान और तपसे पवित्र होता है और

(५) मद्भावं आगतः= मेरे अर्थात् परमेश्वर के भावको अर्थात् ईश्वरस्वरूपको प्राप्त होता है।

मनुष्य इन चार अवस्थाओंसे कैसा गुजरता है, इसका यहां अब विचार करना चाहिये। भगवद्गीतामें जो तत्त्व कहे हैं वे आचरण में लाने चाहियें, ये केवल रटनेसे कार्य नहीं होगा। अतः आचारमें लानेकी दृष्टिसे इन चार अवस्थाओंका मनन करना चाहिये। पहिली अवस्था 'भगवन्मय' होनेकी है—

(१) भगवन्मयः (मन्मयः)

भगवान् के, महात्माओंके, अवतारी पुरुषोंके अथवा विभूतियोंके जीवन चरित्र में तल्लीन होने की अवस्था यह होती है। दिन रात इनके जीवन चरित्र का विचार करके जो सदाचार का बोध मिलता है, उसको अपने आचरणमें डालनेका यत्न इस समय होता है। नित्य नियमसे उनके आचरणके साथ अपने आचरण की तुलना की जाती है, इससे अपने आचरण के दोष स्पष्ट होते हैं। दोषोंको दूर करनेसे पवित्रता बढती है। यह अभ्यास बढते बढते भगवान् की सर्वत्र उपस्थिति है, सब जगत् भगवन्मय है इस बातका अनुभव होता है।

(२) भगवदुपाश्रितः (मां उपाश्रितः)

भगवान् के आश्रयपर स्थिर रहना। जब किसी विभूतिके जीवनचरित्रके विषयमें चित्त में अढळ प्रेम वसता है और इसके आश्रय से अपना उद्धार निःसंदेह होगा, ऐसा पक्का निश्चय हो जाता है, तब वह उसीके आश्रयमें अपने आपको समर्पित करता है। इसी तरह उसका परमेश्वर पर दृढ विश्वास रहता है और उसी की शरणमें वह रहता है। नित्य उसका ध्यान करता है, और वह अपना सब जीवन ही उसको समर्पित करता है। अपने आपको उसका

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आधार है और किसी दूसरे का नहीं है, यह बात वह कदापि नहीं भूलता। प्रतिदिन अपना मन उस प्रभुके सन्मुख खुला करता है और अपनी पवित्रता के लिये उसकी सहायता मांगता है। इस प्रकार प्रतिदिन वह शुद्ध होता जाता है और जैसा शुद्ध बनता है वैसा वह प्रभुमें अधिक दृढ विश्वासी बनता है। इससे उसकी उन्नति होती है।

(३) वीतरागभयक्रोधः।

'राग' का अर्थ भोगोंपर प्रीति, भय और क्रोध, इसीप्रकार काम लोभ मोह मत्सर आदि सब दोष जो आसुरी भावके कारण होते हैं, उनको वह दूर करता है। वह जानता है अलोभ, अभय और अक्रोध ये दैवी संपत्तिके लक्षण हैं और वे अवतारोंके तथा विभूतियों के चरित्रों में दीखते हैं। इसके विरुद्ध असुरों में लोभ भय क्रोध आदि लक्षण होते हैं। मुझे उन्नत होनेके लिये इन असुरलक्षणोंको दूर करना और देव लक्षणोंको अपने अन्दर बढाना आवश्यक है। दिव्य जन्मवाली विभूतियोंके जन्म और कर्म वह देखता है और उनके जीवन चरित्रका मनन करके उनके समान वह निर्लोभ, निर्भय और अक्रोधी बननेका यत्न करता है। बहुत प्रयत्न करनेपर वह वैसा दैवी गुणोंसे युक्त बनता है और रागद्वेषसे दूर होता है।

(४) ज्ञानतपसा पूतः।

पूर्वोक्त रीतिसे वह निर्भय और रागद्वेषरहित होनेसे उसके अन्दर ज्ञानकी कला बढने लगती है। उसमें कामक्रोध लोभ जितने प्रमाणसे रहते हैं, उतनेहि प्रमाणसे उसमें अज्ञान रहता है। अतः कामक्रोध को दूर करनेसे मन निर्भय होता है और ज्ञानभी अतःकरणमें स्थिर होता जाता है। शीत उष्ण सहन करना, धर्माचरण, ब्रह्मचर्य पालन आदि तप करता है और इस तरह वह प्रतिसमय अपने आपको पवित्र करता है। अन्तमें एक समय ऐसा आता है कि यह उसका स्वभाव हि बनता है और विना प्रयत्न किये हि वह स्वयं सिद्ध और पवित्र रहने लगता है यही अन्ति सिद्धि है। इस सिद्धिकी प्राप्ति होते हि—

(५) भगवद्भावं आगतः (मद्भावं आगतः)

पूर्वोक्त प्रकार स्वभावसे रागद्वेषरहित, निर्भय, ज्ञानपूर्ण और तपोमय जीवन जब होता है, तब वह भगवद्भावको प्राप्त हुआ है ऐसा कहते हैं। भगवानका भाव उसमें दीखता है, भगवान् का जीवित और जाग्रत स्वरूप वह स्वयं होता है, प्रभुकी ज्योति उसमें प्रदीप्त होने लगती है। इस तरह वह नर का नारायण, पुरुष का पुरुषोत्तम और बद्ध का मुक्त हो जाता है। परमेश्वरका भाव देखना हो तो इसमें देख सकते हैं। इस समय यह आदर्श होता है। इस समय वह अपना ध्येय और साध्य प्राप्त करके अपनी हि शक्तिसे अपने में सन्तुष्ट होता है और अपने में परिपूर्णताका अनुभव करके सहजानन्दसे आनन्दपूर्ण होनेका अनुभव करता है।

जो पाठक भगवद्गीता के उपदेशको अपने आचरणमें ढालना चाहते हैं वे इस श्लोक का अधिकसे अधिक मनन करें और इस मार्गसे चलकर अपने जन्मका सार्थक करें। ये उपदेश अपने आचरणमें ढाले गये या नहीं इसकी परीक्षा निम्नलिखित प्रकार की जाती है। "(१) क्या मैं सब जगत् भगवन्मय देखता हूं, या मुझे किसी दूसरे पदार्थका भान होता है? (२) क्या मैं अपना आश्रय प्रभुमें हि लेता हूं अथवा दूसरे का आश्रय करता हूं? (३) क्या मुझमें भोगप्रीति, भय और क्रोध हैं या ये पूर्णतासे छूटे हैं? (४) क्या मेरा तपका जीवन है," इस प्रकारके प्रश्न स्वयं करके अपने आपकी स्वयं परीक्षा करनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है इसका निश्चय हो सकता है। सदाचारशील पाठकोंको यह श्लोक बडा सहायक होगा। प्रयत्नशील मनुष्य शुभकर्म करते रहते हैं और सिद्धि अवश्यही प्राप्त करते हैं। इस विषयमें किसीके मनमें

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(९) कर्मकी सिद्धि ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥ (गीता ३।२३)
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अन्वयः— ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तान् तथा एव अहं भजामि । हे पार्थ ! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ॥११॥ कर्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः (मनुष्याः) इह देवताः यजन्ते; हि मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति ॥१२॥

जो मनुष्य जिस तरह मेरा आश्रय लेते हैं, उन्हें वैसाहि फल मैं देता हूं। हे अर्जुन ! मनुष्य सब प्रकारसे मेरे हि मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष इस लोकमें देवताओंकी पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्म की सिद्धि अतिशीघ्र प्राप्त होती है ॥१२॥

भावार्थ— जो जिस भावसे परमेश्वरका आश्रय लेता है, उसको वैसाहि फल ईश्वरीय नियमसे प्राप्त होता है । जो धान्य बोया जाता है वही प्राप्त होता है । सब मनुष्य परमेश्वरके मार्गकाहि अनुसरण करते हैं ॥ इस मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है, इस लिये फलकी इच्छा धारण करनेवाले मनुष्य अनेक देवताओंकी आराधना करते हैं और उससे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥११-१२॥

संदेह हो, तो वह आगेके दो श्लोक देखें—

(११—१२) कर्म करनेपर उसका फल मनुष्यको प्राप्त होता है वा नहीं, इस विषयमें कई मनुष्य शंका करते हैं । इस आशंका को दूर करनेके लिये कर्म की सिद्धि निःसन्देह प्राप्त होती है, ऐसा भगवान् कहते हैं—

कर्मका अटल नियम ।

(ये यथा मां प्रपद्यन्ते) जो मनुष्य जैसे मुझे शरण आते हैं, जो मनुष्य जिस इच्छासे मेरा आश्रय करते हैं, जो मनुष्य जिस मनोभावनासे मेरे पास आते हैं, जो मनुष्य जिस प्रयोजन से मुझे भजते हैं, (तान् तथैव अहं भजामि) उनको वैसाहि फल देकर मैं उनपर अनुग्रह करता हूं । अर्थात् जो फलभोगेच्छासे सकाम कर्मद्वारा मेरी उपासना करते हैं उनको अभीष्ट फलभोग देता हूं, जो निष्काम कर्मयोग द्वारा मुझे भजते हैं उनको मैं ज्ञान देकर उन्नत करता हूं, जो मुमुक्षु हैं उनको मुक्ति देता हूं, जो केवल दुःख दूर करनेके इच्छुक हैं उनके दुःख दूर करता हूं । इस प्रकार जिस आकांक्षासे लोग मेरे पास आते हैं, मैं उनकी वह आकांक्षा पूर्ण करता हूं ।

ईश्वरमें रागद्वेष नहीं हैं, अतः वह किसीको प्रीति से पास या द्वेषसे दूर नहीं करता । जो जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार वह कर्मके नियमानुसार फल पाता है । कर्म का नियम अटल है ।

अर्थका अनर्थ ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥
इस श्लोक का अर्थ कई ऐसा करते हैं कि—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

"जो जैसा वर्ताव मेरेसे करता है वैसा मैं उससे करता हूं।" ऐसा शब्दार्थ करके उसका तात्पर्य ऐसा मानते हैं कि, दुष्ट के साथ दुष्ट बनना, शत्रु के साथ शत्रु बनना, "शठं प्रति शाठ्यं" करना, क्रोधीके साथ क्रोधका व्यवहार करना इत्यादि आचरण करना धर्म्य है और यही भगवदादेश है। परंतु यह अर्थका अनर्थ है।

शठके साथ शठता करना, दुष्टके साथ दुष्ट बनना, यह तत्त्व एक वार स्वीकृत किया, तो इसका परिणाम आगे ऐसा भयंकर होता है कि उसका वर्णन करना कठिन है। किसीने एक वार मारा तो उसको चार वार मारना, किसीनें एक वार व्यभिचार किया तो उसके बदले में चार वार करना, इस प्रकार दुष्ट कल्पना का प्रवाह चलता रहा, तो दुराचार की कोई सीमा नहीं रहती। और अन्तमें मनुष्य पशुत्वसे भी गिरता है।

इस श्लोकपर इस तरह की कुकल्पना बहुत लोग करते हैं, परंतु यह अर्थ इस श्लोकमें नहीं है। इसका अर्थ इतनाही है कि "मनुष्य जिस भावसे ईश्वरकी उपासना करते हैं, वैसा फल उनको मिलता है।" इस उत्तम धर्मनियम का इतना अनर्थ करना किसीको भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्मका नियम भी "शठं प्रति शाठ्यं" नहीं है। 'शठं प्रति सत्यं' यही धर्म का नियम है। देखिये—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्॥
म० भा० उ० ३९।७३

"क्षमासे क्रोध को, साधुतासे दुष्टको, दानसे कृपण को और सत्यसे असत्य को जीतना चाहिये।" यही धर्म है। अतः भगवद्गीताके इस श्लोक का "शठके प्रति शठता करना" ऐसा अर्थ समझना अर्थका अनर्थ करना है। इस लिये इसका ऊपर दिया अर्थ ही लें और भगवदुपदेश का सार जानने का यत्न करें। अर्थ का अनर्थ करके विपरीत अर्थ समझना सर्वथा अयोग्य है।

अस्तु। इस श्लोकमें कर्म का अटल नियम कहा है। जो जैसा करेगा वैसाही फल उसको प्राप्त होगा। यह जान कर मनुष्य अच्छा कर्म करता रहे और बुरे कर्म से दूर रहे। इतना कर्म का अटल नियम कह कर आगे कहा है—

ईश्वरका मार्ग।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
(४।११)

"मनुष्य सब तरहसे परमेश्वरके मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।" मनुष्य किसी प्रकार का भी व्यवहार क्यों न करते हों, वे परमेश्वर के पास जानेके मार्गपरहि हैं, वे परमेश्वरको प्राप्त करने के मार्ग के ऊपर हि किसी न किसी दिन अवश्य आ मिलेंगे। मनुष्य बुरे मार्ग में लगे हैं ऐसा दीखता है, परंतु बुरे मार्गका अनुभव लेनेके पश्चात् वे अवश्य परमपद को पहुंचानेवाले मार्गपर आ जायंगें। सब मानवों को परमेश्वर की प्राप्तिहि अभीष्ट है, थोडे लोग जानते हैं, और बहुत लोग नहीं जानते। न जानते हुए भी उनका वही मार्ग होता है। सत्य धर्म इतनाही होता है कि मनुष्य को सरल मार्ग बतावे। धर्ममार्गसे जानेसे मनुष्य परमपद की प्राप्ति अतिशीघ्र कर सकता है, परंतु जो आज अधर्मसे चल रहे हैं, वे दूर दूर भटकते हुए अन्तमें किसी एक दिन इसी परमेश्वरप्राप्ति के मार्गपर आजांयगे। शीघ्र पहुंचना या देरीसे पहुंचना इतनाही भेद है।

यहां अतिसंक्षेपसे दर्शाया कि भगवद्गीतामें कहा हुआ ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेका मार्ग ही सबका साध्य है। अनेकानेक धर्मों, मतों और पंथोंसे जानेवाले सभी लोग इसी मार्गको आकर मिलेंगे। जो इस भगवत्कृपासे कहे मार्ग पर चलते हैं वे तो सीधे मार्गपर पहिले से हि हैं, इस कारण उनको प्रवास के श्रम न्यून और अन्य मार्गियोंको अधिक होंगे। परंतु सब

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अन्य मार्ग इसी सीधे मार्गमें आकर मिलते हैं। यह जाननेसे इस मार्गकी उच्चता स्वयं सिद्ध होती है।

यही श्लोकार्ध इससे पूर्व (भ० गी० ३। २३) स्थानमें आगया है। शब्द येही हैं, परंतु वहां पूर्वापरसंबन्धसे अर्थ थोडासा भिन्न है। वहां के (३। २३) श्लोक का अर्थ ऐसा है- "यदि मैं आलस्य छोडकर कर्ममें न लगा रहूं, तो (मम-वर्त्म०) लोग भी सदा मेरे मार्ग के अनुसार ही चलने लगेंगे।" शब्द एकही होनेपर भी वहां का आशय भिन्न है। यह अर्थ इस अपने (४। ११) श्लोकमें लिया तो इस श्लोक का अर्थ इस तरह होगा—"सब लोग मेरा अनुकरण करते रहते हैं इस लिये मैं लोगोंको वैसाही फल देता हूं कि जैसे भाव धारण करके लोग मेरेपास आते हैं।" अर्थात् सब लोग भी अपने रागद्वेष को दूर रख कर दूसरे लोगोंके साथ ऐसाही निस्पृहता का यथायोग्य बर्ताव करें। कोई किसीसे अयोग्य व्यवहार न करे। अस्तु।

हमारे मतसे तो "सब मनुष्य परमेश्वरकी प्राप्तिके मार्गको जाकर मिलते हैं" यही आशय यहां अभीष्ट है। इसी प्रकार का एक श्लोक है—

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।

"सब देवताओंको किया हुआ नमस्कार परमेश्वर कोहि पहुंचता है।" अन्यमतान्तर द्वारा खडे किये देव और देवता पूजा अर्चा अथवा नमस्कार अपने पास नहीं रख सकते, वे तो उनके पास आया हुआ नमस्कार आदि परमेश्वर के पास पहुंचा देते हैं। तथा—

भगवद्गीताके नवम अध्यायमें इसी आशयका एक श्लोक है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
भ० गी० ९। २३-२४

"जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भी विधिविहीनही क्यों न हो, मेरा ही पूजन करते हैं; क्यों कि मैं हि सब यज्ञों का भोक्ता हूं।" यहां भी किसी अन्य देवता का किया हुआ पूजन परमात्माको प्राप्त होता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। तथा वेदमें भी कहा है—

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति ।
ऋ० १। १६४। ४६

"एक ही सत्य वस्तु का-अर्थात् एकहि परमात्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे करते हैं।" अर्थात् परमेश्वरका कोई भी नाम लिया तो उसी एक अद्वितीय परमात्मा का नाम लिया ऐसा होता है, क्यों कि वस्तुतः उसका कोई नाम नहीं है, फिर नामका झगडा क्यों किया जाता है। कोई नाम लिया, किसी देवताकी पूजा की अथवा किसी मार्गसे गये, तो वह सब परमात्मा की हि उपासना होती है। इस तरह का उदार मत माननेवाले लोग धर्मप्रचारकों द्वारा अन्य लोगोंको अपने मतमें लानेका प्रयत्न नहीं कर सकते, क्यों कि उनका विश्वास है कि (सर्वे मनुष्याः सर्वशः ईश्वरवर्त्म एव अनुवर्तन्ते) सभी मनुष्य सर्वथा ईश्वरप्राप्ति के मार्ग पर ही चलते हैं। किसीका मार्ग पास का सीधा है और किसीका टेढा अथवा दूरका है। यदि किसी को टेढा दूर का मार्ग पसंद हो तो वह उसीपरसे चले। एकके पास घण्टे में सौ कोश जानेवाला विमान है, दूसरे के पास वीस कोश दौडनेवाली मोटार है, तीसरेके पास घण्टे में दो कोश जानेवाली घोडा-गाडी है और चौथा पैदल चलनेवाला है। जिसके पास जैसा धनका साधन है, वैसा उसने वाहन प्राप्त किया है। सब जानेवाले हैं एकही स्थानपर, परंतु गतिकी न्यूनाधिकतासे कोई शीघ्र पहुंचता है और दूसरा देरीसे। यहां विचार की बात यह है कि जो मनुष्य पैदल चलनेवाला है, उसके पास वाहन लेने के लिये धन नहीं है, फिर वाहन में बैठनेवाले लोग उसका उपहास

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

क्यों करें,और उपहास किया भी जाय तो उसको वाहन मिलेंगे भी कहां से?

इसी तरह ज्ञानमार्गी, योगमार्गी, कर्ममार्गी और भोगमार्गी एक दूसरेका उपहास न करें। उपहास करनेसे क्या लाभ होगा? क्योंकि ज्ञानमार्गीका ब्रह्मज्ञान भोगमार्गीके समझमें हि नहीं आवेगा। कर्मनिष्ठावाला मनुष्य ज्ञाननिष्ठा का विचार समझ ही नहीं सकता (भ० गी० ३।३-४) फिर मतप्रचारक एक दूसरे निंदा क्यों करते हैं?

भागवत धर्मी मनुष्य मानता है कि "सब लाग ईश्वरकी प्राप्ति के मार्ग में ही लगे हैं," कई दूरके मार्गपर हैं और कोई समीपके। जो वाहन जिसके पास है उसमें वह बैठा है और उसी मार्गपर चल रहा है। परंतु—

मनाजवेष्वसमा बभूवुः। ऋ० १०। ७१। ७

प्रत्येक मनुष्य "मनके वेगमें भिन्न होने" के कारण एक जिस तत्त्व का ग्रहण कर सकता है उसी का दूसरा नहीं कर सकता। इस लिये मनुष्यों का 'बुद्धिभेद' न करते हुए (भ० गी० ३। २६) सब को सत्कर्ममें प्रवृत्त रखना चाहिये। इस से सब की क्रमशः उन्नति हो सकती है।

देवों का यजन।

(कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं) कर्म के फलकी इच्छा करनेवाले लोग (इह देवताः यजन्ते) यहां देवताओंका यजन करते हैं। यहां देवताओं की उपासना का तात्पर्य तो है हि, परंतु अन्य भी भाव है। फलकी इच्छासे अनेक देवताओंकी पूजा जगत् में चल रही है जो आज भी प्रत्यक्ष है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ भ० गी० ९। २५

"देवताओंके पूजक देवताओंको प्राप्त करते हैं, पितरोंके पूजक पितरोंके पास जाते हैं, भूत-प्रेतोंके पूजक भूत प्रेत होते हैं, और परमेश्वरका भजन करनेवाले परमेश्वर भाव को प्राप्त करते हैं।" आज भी भूत प्रेतोंके और मुर्दोंके उपासक पिशाच वृत्तीसे व्यवहार करते दीख रहे हैं और विविध देवोंके उपासक उन देवताओंके सदृश रहते दीखते हैं। तथा एक ईश्वरकी उपासना करनेवाले भी हैं। उपासक अपनी उपास्य देवताके समान बनता है, क्योंकि उसको उपास्यका ध्यान लगा होता है। राजस और तामस उपास्योंकी उपासना करनेवाले राजस और तामस होते हैं और सात्विक उपास्य देव की उपासना करनेवाले सत्त्वगुणसंपन्न होते हैं। इस लिये मनुष्य अपनी अपनी भोगेच्छाके अनुसार इष्ट देवताकी उपासना करते हैं और उनसे अपना इष्ट फल चाहते हैं। यहां उपासकों की प्रकृतिके अनुसार उपास्य पसंद किया जाता है, यह बात स्मरण रखने योग्य है। प्रेतोपासकों को उत्तम सात्विक देवता कभी पसंद नहीं होगी। अतः लोग अपनी प्रकृतिके अनुसार देवता चुनते हैं और उनका आराधन करते हैं। और आराधनासे इष्टफल प्राप्त करते हैं। क्योंकि (मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति) "इस मनुष्यलोकमें कर्म से शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।" इस कारण मनुष्य तत्परतासे सतत कर्मका आचरण करते हैं।

संगतिकरण।

"यजन" का अर्थ "पूजन, संगतिकरण और दान" ऐसा तीन प्रकार का है। पूजन का अर्थ हमने देखा, अब देवताओंके संगतिकरण का विचार करना चाहिये। प्रत्येक प्राणी में और पदार्थमें ईश्वरका अंश है, अतः प्रत्येक पदार्थ और प्राणी ईश्वरीय शक्तिसे युक्त होने के कारण देवता है। इन देवताओंका संगतिकरण अर्थात् मिलाप करनेसेहि मनुष्यका व्यवहार चलता है। जितना संगतिकरण उत्तम होगा, और जितना उसका उपयोग उत्तम होगा, उतना मनुष्यका सुख अधिक होगा। इस दृष्टीसे यह संगतिकरण रूप यजन बहुत महत्त्वका विषयक है। मनुष्य आपसमें और विविध पदार्थोंमें संगतिकरण कर रहा है। और कुछ न कुछ

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(६) चातुर्वर्ण्यका संगतिकरण ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वयः— मया गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं; तस्य कर्तारं अपि मां अव्ययं अकर्तारं विद्धि ॥ १३ ॥

मैंने गुण और कर्म के विभागके अनुसार चार वर्णोंकी व्यवस्था निर्माण की है। उसका कर्ता होते हुए भी मैं अविनाशी अकर्ताहि हूँ ऐसा तू समझ ॥१३॥

भावार्थ— गुणों और कर्मों के अनुसार जो वर्गीकरण किया है, उसको चातुर्वर्ण्य कहते हैं। यह जैसा मनुष्योंमें है वैसा अन्य सृष्टिमें भी है। यह चातुर्वर्ण्य गुणों और कर्मोंको देख कर किया है, इस लिये इसका कर्तृत्व गुणकर्मों के पास है, व्यस्थापक उसका कर्ता नहीं है। क्योंकि गुण और कर्म न होते, तो वह उसे न बना सकता ॥१३॥

सुख प्राप्त करही रहा है। तथापि यह समयसमय पर इसका उपयोग दूसरेकी हिंसा करनेमें करता है तब दुःखका भागी होता है। अतः यह संगतिकरण दान किंवा त्यागभावसे करना चाहिये। तभी मनुष्यका सच्चा कल्याण होता है। यहां प्रश्न होता है कि यह दानभावसे संगतिकरण किसीने कहां किया है? इसके उत्तर में चातुर्वर्ण्य का संगतिकरण कैसा उत्पन्न हुआ इसका वर्णन करते हैं—

संगतिकरण और व्यवस्था ।

(१३) इस जगत् के पदार्थों के मनुष्य, पशु, औषधि और खनिज ये चार भेद हैं। इनमें भी उपभेद और अधिक हैं। ये भेद गुणकर्मोंसे हि हुए हैं। मनन कर सकते हैं इस लिये (मननान्मनुष्यः। निरु०) मनुष्य कहलाता है; केवल देखता है (पश्यति इति पशुः) इस कारण उस को पशु कहते हैं, यह मनन नहीं कर सकता; (दोष-धीः ओषधीः। निरु०) शरीरस्थ दोषोंको दूर करती हैं इस लिये वनस्पतियों को ओषधी कहते हैं, और खानोंमें उत्पन्न होनेवाले सोना, तांबा आदीको खनिज पदार्थ कहते हैं। यह वर्गीकरण इन गुणोंके कारण हुआ है। फिर गुणकर्मों का अधिक विचार करनेसे इन प्रत्येक में कई भेद माने जा सकते हैं, उनमें चातुर्वर्ण्य मुख्य है।

पिण्ड और ब्रह्माण्डमें चातुर्वर्ण्य ।

जैसा मनुष्यका शरीर एक है, और उनमें मनन करनेवाला मस्तिष्क, बलका कार्य करनेवाले बाहु और छाती, सर्वत्र रस पहुंचानेवाला पेट, नाभि या मध्य स्थान, और शरीरका बोझ उठाने का कार्य करनेवाले पांव इस तरह गुणकर्मोंसे ये पिण्डके अवयवोंके चार वर्ग होते हैं; इसी प्रकार मानवसमाजरूपी एक शरीर में मनन, विचार और विद्याका मस्तिष्कका कार्य करनेवाले ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण; बाहू और छातीका बल संबंधी कार्य करनेवाले कर्मनिष्ठ क्षत्रिय; धान्य, औषधि और गोरस को उत्पन्न कर सबकी पेट पूर्ती का साधन करनेवाले पूंजीपति वैश्य; और उक्त तीनों के कर्मोंमें हरएक प्रकारकी सहायता करनेवाले अर्थात् सबके कर्मोंका बोझा उठानेवाले शूद्र, ये चार भेद गुणकर्मोंके अनुसार होते हैं।

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं, समता-प्रयत्न और मन्दता ये इन तीन गुणोंके क्रमशः स्वरूप हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे ये चार वर्ण होते हैं, इसका प्रमाण इस तरह समझना योग्य है-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ण	धर्म	कर्म
१ ब्राह्मण	सत्त्व, रज, तम -॥- -।- -।-	शम, दम, तप, शुद्धि, शान्ति, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य।
२ क्षत्रिय	रज, सत्त्व, तम -॥- -।- -।-	शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, अपलायन, दान और स्वामिभाव।
३ वैश्य	रज, तम, सत्त्व -॥- -।- -।-	कृषि, गोरक्षा, और वाणिज्य।
४ शूद्र	तम, सत्त्व, रज -॥- -। -।	सेवा, अथवा हुनर।

इस रीतिसे सत्त्व रज तम की न्यूनाधिकता के कारण मनुष्योंके चार भेद होते हैं। और उनके कर्म भी इसी कारण भिन्न होते हैं। क्यों कि रजोगुणप्रधान मनुष्य स्वभावसे चढाई के कर्म करता है, सत्त्वगुणप्रधान मनुष्य शान्ती और समवृत्तिसे रहता है, और तमोगुणी मन्द बुद्धिवाला होने के कारण पूर्वोक्त वर्णों के साहचर्य से रहकर अपना गुजारा चला सकता है।

ये चार प्रवृत्तिके लोग प्रत्येक ग्राममें, प्रान्तमें, देशमें और राष्ट्रमें होते हैं। भारत वर्ष में इस चातुर्वर्ण्य की उत्तम व्यवस्था की और आनुवंशिक शिक्षाद्वारा इन गुणों का विशेष परिपोष करनेकी अपूर्व योजना बनायी है। ऐसी व्यवस्था प्रत्येक राष्ट्रमें होसकती है, और ऐसी चातुर्वर्ण्यव्यवस्था करनेसे मानवी समाज का पूर्ण कल्याण होगा। परंतु यह बात अन्यदेशीयों के ध्यानमें अबतक नहीं आयी है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें आगे (अध्याय १८। ४१-४८ में) यह चातुर्वर्ण्य इस तरह वर्णित हुआ है-

(१) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

(२) ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥
कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

(३) स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥ ४५ ॥

(४) स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

(५) सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ४८
भ० गी० १८

"(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनके कर्म (स्व-भाव-प्रभवैः गुणैः) अपने जन्म के साथ उत्पन्न होनेवाले गुणोंसे भिन्न भिन्न हुए हैं। (२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म (स्व-भाव-ज) अपने जन्म के साथ बने हैं। (३) अपने कर्म में तत्पर होने से मनुष्यको उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। (४) (स्व-भाव-नियतं) अपने जन्मसे निश्चित हुआ कर्म करनेसे पाप नहीं लगता। (५) (सह-जं कर्म) अपने साथ उत्पन्न हुआ कर्म सदोष हुआ तथापि उसको छोडना नहीं चाहिये।"

सहज कर्म।

इत्यादि स्थानों में चार वर्णों के कर्म उनके जन्मके साथ उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कहा है। अर्जुन क्षत्रिय था। अतः उसका सहज और स्व-भाव-ज कर्म युद्ध करना था। इस में हिंसारूप दोष होनेपर भी उसको छोडना उसके लिये अनुचित था। इन श्लोकोंमें-

स्व-भाव-प्रभाव कर्म
स्व-भाव-नियत कर्म
स्व-भाव-ज ... कर्म
सह .....ज ... कर्म
स्व ..... कर्म

इन सब शब्दोंका अर्थ एक ही है। अर्थात् यह चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति सिद्ध है। बडे तपःप्रभाव से विश्वामित्र जैसे उदाहरणोंमें यह बदल भी सकता है, परंतु यह अपवाद मात्र है क्यों कि श्रीकृष्ण, धर्मराज, भीष्मपितामह, ये धर्मतत्त्वके वक्ता

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

होनेपर भी ये क्षत्रिय ही कहे गये, विदुर धर्मज्ञ होनेपर भी शूद्र माना जाता था और द्रोणाचार्य क्षात्र गुण संपन्न होनेपर भी ब्राह्मण माने जाते थे। अर्थात् वर्णपरिवर्तन होता है यह तत्त्वतः मानने परभी उसकी संभावना अपवादमें मानी जाती थी, और अर्जुन के लिये वह असंभव है ऐसाही कहा गया है। इसलिये भगवद्गीता का सर्वसामान्य सिद्धान्त चातुर्वर्ण्य जन्म, गुण,और कर्मसे है यही है। इसीलिये कहा—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि
तत्॥ ६०॥ भ० गी० १८

"अहंकार वश होकर तेरा हठ कि 'मैं नहीं लड़ूँगा,' यह तेरा निश्चय मिथ्या है, तेरा स्वभाव ही तुझे बलके साथ घसीटे लेजायगा। अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता, उसे विवश होकर करेगा।" स्वभाव का इतना बल है। अस्तु।

'स्वभाव' शब्दका अर्थ 'शील' ऐसा कई करते हैं, परंतु यहभी जन्मसे हि होता है। अपने जन्मसे जो प्राप्त है और जो अपनी प्रकृति है उसी का नाम स्वभाव है। प्रकृतिगुण बदलना अत्यंत कठिन है। इस तरह के स्वभावसे उत्पन्न गुणोंका विचार करके यह चातुर्वर्ण्य निर्माण किया है।

जब प्रारंभमें चारों वर्णोंका वर्गीकरण किया, उससमय मनुष्यों की स्वभाव प्रवृत्ति देखकर हि 'इसका यह वर्ण, इसका यह वर्ण' ऐसा नियम किया, और राजशासन के द्वारा सवर्ण विवाह की मान्यता देकर इन वर्णोंको जन्म द्वारा सुदृढ किया। उत्पत्तिसिद्ध वर्ण माननेसे नियत गुणों का उनमें विशेष परिपोष होने लगा और जन्म स्वभावसे हि गुणकर्मोंका निश्चय होने लगा।

भारतवर्ष में ब्राह्मण, राजपूत, बनिये इत्यादि की आदर्श से बहुत गिरावट होनेपर इस समय में भी वही प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह प्रभाव आनुवंशिक संस्कारों का है। बौद्ध कालमें वर्ण-व्यवस्था टूट गई, फिर आचार्योंने यथाकथंचित् रचना की, पूर्व कालमें पितृ सावर्ण्यके समय मिलावट हुई, इस कारण आनुवंशिक शुद्धता जैसी चाहिये वैसी नहीं रही, अतः इस समय भिन्न कर्मोंमें लोगोंकी प्रवृत्ति दीखती है, तथापि आनुवंशिक संस्कार आज भी दिखाई देते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

वर्णका निश्चय जन्मसे, वर्ण के कर्म शास्त्र द्वारा नियत किये हुए, और कुल परंपरासे गुणों का परिपोष यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सिद्धान्त है। वर्णधर्मों और वर्णकर्मोंका निश्चय करना शास्त्रकारों का हि कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य शास्त्रवचन प्रमाण मान कर अपना नियत कर्म करता रहे, दूसरा विचार करनेका उसको अधिकार नहीं है। शास्त्रमें बदल करना हो तो समय समय के ज्ञानी पुरुष समय का विचार करके योग्य बदल करें। प्रत्येक मनुष्य शास्त्रवचन का दास बन कर अपना नियत कर्म करता रहे, उसी से उसकी उन्नति होगी।

इस तरह की नियमबद्ध वर्णव्यवस्था सब देशमें होगी, तो सब का कल्याण होगा इसमें संदेह नहीं है; परंतु किसी अन्य देशमें ऐसी व्यवस्था नहीं है, और भारतवर्षमें भी परकीयों का अनुकरण करनेकी शिक्षा बढनेसे मनुष्योंकी मनमाने कर्म करनेकी प्रवृत्ति बढ गयी है, जिससे चातुर्वर्ण्य संस्था टूटनेके समान हुई है।

आश्रमव्यवस्था और वर्णव्यवस्था ये दो ही मुख्य स्तंभ अपने धर्मके हैं, परंतु ये इस समय पूर्णतया शिथिल होगये हैं और भावी काल में राज्यशासन का सहारा मिलनेकी संभावना न होनेके कारण भविष्यमें ये स्तंभ किस अवस्थामें रहेंगे इसका भी कोई निश्चय नहीं होता है। अस्तु इस तरह यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाका तत्त्व है। यह व्यवस्था प्रारंभ में गुणकर्मोंको देखकर निर्माण

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

की थी। और जब इसकी पुनर्घटना करनी होगी, तब भी मनुष्योंके गुणकर्म के अनुसारहि व्यवस्था करनी होगी। और राज्यशासन व्यवस्था द्वारा आनुवंशिक संस्कारोंसे उसको चिरस्थायी और दृढ करना होगा।

मनुष्यों की तरह यह व्यवस्था पशु पक्षी वृक्ष वनस्पतियों में भी है। यहां भी प्रारंभ में वर्गीकरण स्वाभाविक उत्पत्तिसिद्ध गुणधर्मोंको देखकर किया जाता है और पश्चात् उन गुणकर्मोंको सुदृढ करनेके लिये आनुवंशिक रीतिसे हि ढालना पडता है। वारंवार भिन्न रसरक्तका मिश्रण होनेसे बडा बिगाड होता है, इसी लिये कुत्ते घोडे गाय आदि पशुओंकी संतति शुद्ध बीजसे हि करने की पद्धति सर्वत्र सर्वमान्य है। और वह अत्यंत योग्य है। अस्तु।

गुणकर्मोंको देखकर (गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं) चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था रची। इसमें रचनाकी संभावना गुणों और कर्मोंके कारण होती है, इसलिये चातुर्वर्ण्यका कर्तृत्व गुणकर्मों के पास आता है। व्यवस्था करनेवाली एक व्यक्ति हो अथवा संस्था हो, वह गुणकर्मोंके न होनेकी अवस्थामें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था करनेमें असमर्थ होनेसे उसके पास चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का कर्तृत्व नहीं आता। इसी उद्देश्यसे कहा कि (तस्य कर्तारं अपि मां अकर्तारं विद्धि) उस चातुर्वर्ण्य की रचना करनेपर भी मुझे उसका अकर्ता समझ। क्योंकि कर्तृत्व गुणोंका है, मेरा नहीं।

इस का बोध होने के लिये एक उदाहरण लेते हैं कि एक ग्राम में कई बालक हैं, उनमेंसे किसी ने पढाई के लिये कुमारों को और कुमारियोंको अलग कर उनके कुमारगुरुकुल और कुमारिकागुरुकुल बनाये और उनकी पाठविधि निश्चित की। तो ये दो संस्थायें निर्माण होने का वास्तविक कर्तृत्व कुमार कुमारिओंके अस्तित्वमें होता है। ये न होते तो वह कैसे बनाता? इस कारण उन बालकोंमें जो कुमारपन और कुमारिकापन था वही उक्त संस्थाका कर्ता है, मनुष्य केवल योजक है। इसी तरह भगवान् कहते हैं कि मैंने "मनुष्योंके गुणकर्मोंको देख कर चार वर्णोंकी योजना की, उस वर्णव्यवस्था के कर्ता स्वाभाविक गुण हैं, मैं नहीं हूं।" मनुष्य भी गुणोंके पास कर्तृत्व है ऐसा मानें और अपने में कर्तृत्व का अभिमान न बढावें। [इसी विषयमें पाठक भ० गी० अ०३ श्लो० २७-२९ विवरण सहित देखें।]

संगतिकरण।

संगतिकरण से वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है। समान गुणधर्मवाले वर्ग बनाकर उन की संगति करना, केवल इन्हीं का आपसमें मिलाप करना, और केवल इन्हींका आपसमें संबंध होने देना, यह वर्णधर्म का रहस्य है। इस के साथ एक जाती के गुणधर्मवालोंसे भिन्न गुणधर्मवालों का संबंध तोडना भी उतना ही आवश्यक है। समान गुणधर्म वालोंका सख्य करना और उनको विषमगुणधर्म वालोंसे दूर रखना यही गुणपोषण की रीति है। मानवी धर्मका विकास इसी से होगा। परंतु इस से संघशक्ति घटेगी और फिरकेबाजी बढेगी। इसी कारण वर्गीकृत लोगोंकी अपेक्षा अवर्गीकृतोंमें संघटना हमेशा अधिक होती है। परंतु वर्गीकरण ही शास्त्रीय है और गुणविकास की दृष्टिसे उसका महत्त्व अधिक है।

एकवार वर्गीकरण अथवा वर्णीकरण आवश्यक समझागया, तो वही वर्गीकरण खानपानमें, रहनेसहनेमें, उपभोगोंकी न्यूनाधिकतामें, कपडोंलत्तोंमें इत्यादि सब व्यवहारोंमें दिखाई देता है। इसके लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त है—ब्राह्मणों की त्यागवृत्ति होनेसे वे भोग कम करनेमें लगेंगे और क्षत्रियोंकी भोगवृत्ति होनेसे वे भोग बढावेंगे। ब्राह्मणोंको विचारके कार्यमें लगे रहनेसे लघु अन्न खाना अवश्यक है और शूद्रोंको कष्टके कर्म में लगे रहनेसे जडान्नभक्षण आवश्यक है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस कारण चार वर्णोंकी भिन्नता माननेसे आगे वह अनेक प्रकारकी भिन्नता होती जाती ह और वही रहनसहनके हरएक पहलूमें दिखाई देती है। इसलिये धर्मविचारकोंको आवश्यक है कि वे ऐसी कुछ व्यवस्था करें कि वर्णभेद माननेपर भी उन सब में मिलकर अभेद होनेके लिये कुछ ऐसे उत्सव रचनेका यत्न करें, कि जिससे चारों वर्णोंका आपसमें मेल होनेका अवसर आजाय। बडे यज्ञोंसे यही संघटना का कार्य प्राचीन समय में होता रहा।

अव्यय कर्ता और अकर्ता ।

"मैं अव्यय कर्ता हूं और अव्यय अकर्ताभी हूं।" ऐसा(४।१३) यहां कहा है। इस विधानसे एक बडे सिद्धान्त का उपदेश यहां किया है। कर्ता जिस समय कुछ कर्म करता है, उस समय उसकी शक्तिका कुछ न कुछ व्यय होता है। कर्मका अर्थ हि अपनी शक्ति का व्यय है और यह व्यय करने से फलप्राप्तिरूप लाभ होता है। कर्म में अपनी शक्ति का व्यय न किया तो फल भी नहीं प्राप्त होगा। अर्थात् फल चाहिये तो कर्म के लिये शक्तिका व्यय करना ही चाहिये।

परमेश्वर यहां कहते हैं कि, " मैं अव्यय कर्ता हूं " क्योंकि मैं " अव्यय अकर्ता हूं। " यहां ' अ-कर्ता ' का अर्थ ' कर्म न करनेवाला ' नहीं है, परंतु "विशेष रीतिसे कर्म करनेके कारण अकर्ता" है। इस विशेष रीतिसे कर्म करने के कारणहि यह कर्ता होता हुआ भी अव्यय अकर्ता होता है!! यह कौनसी विशेषता है कि जिससे कर्म भी होते रहें और (अव्यय) अपनी शक्तिका व्यय भी न हो? और यह विशेष रीति हम जैसे मनुष्योंको साध्य हो सकती है वा नहीं? ये प्रश्न यहां विचारणीय हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋ० १।१६४।२०

"एक वृक्षपर दो पक्षी हैं, उनमें से एक उस का मीठा फल खाता है और दूसरा केवल चमकता है अर्थात् फल नहीं खाता।" जीव और ईश्वर ये दो प्रकृति के ऊपर बैठे हैं। जीव फल भोग करता है और ईश्वर नित्यतृप्त है। यहां हमें पता लगता है कि जीव को फलभोग की इच्छा है इसलिये फलप्राप्त्यर्थ कर्म करने में अपनी शक्ति का व्यय करना पडता है। और परमात्मा नित्यतृप्त होनेसे वह अपने भोग के लिये कुछ नहीं करता, अतः वह सदा अकर्ता रहता है, और अकर्ता रहनेसेहि उसकी शक्तिका व्यय नहीं होता है। उससे जो होता है वह सहज कर्म होता है, इस लिये उसको "अव्यय अकर्ता" (विद्धि अकर्तारमव्ययम्) कहते हैं।

शक्तिकी रक्षा ।

यहां अपनी शक्ति क्षीण न करनेका एक नियम हमें ज्ञात हुआ, यदि कोई मनुष्य तृप्त अर्थात् अकाम किंवा निष्काम हुआ, और यदि उसने सकाम भावसे अपने भोग बढानेके अर्थ कर्म न किये तो, उससे निष्काम भावसे कर्म होनेपर भी उसकी शक्ति क्षीण नहीं होगी। वह कर्ता होते हुए भी अ-व्यय अकर्ता होगा। यह हेतु है भगवद्गीतामें निष्काम कर्मयोग का उपदेश करनेका। निष्काम कर्म का यह महत्त्व है। इस निष्काम कर्मयोगसे शक्तिका संग्रह होता है।

साधारण लोग अपने भोगोंके बढाने के लिये विविध कर्म करते हैं, उनके फल स्वयं भोगते हैं, और भोगोंसे रोगी होते हैं और अन्तमें क्षीण होते हैं। इस तरह सकाम-कर्म क्षीणता करनेवाला है। यह दोष न रहने के कारण निष्काम-कर्म अपनी शक्ति बढानेवाला है। यही विचार अगले श्लोकोंमें अधिक स्पष्ट कर दिया है—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(७) फलासक्तिसे बन्धन ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अन्वयः— कर्मफले मे स्पृहा न, (अतः) कर्माणि मां न लिम्पन्ति । इति यः मां अभिजानाति, सः कर्मभिः न बध्यते ॥१४॥ एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि कर्म कृतम् । तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं एव कर्म कुरु ॥ १५॥

कर्म के फलमें मेरी लालसा नहीं है, (इसीलिये) कर्मोंका लेप मुझे नहीं लगता । इस तरह जो मुझे भली भान्ति जानता है; वह कर्मोंसे बांधा नहीं जाता ॥ १४ ॥ यह जानकर पूर्व समय के मुमुक्षु लोगोंने भी कर्म किये थे । अतः पूर्वके लोगोंद्वारा किये हुए प्राचीन कालके कर्मोंके समान हि तू कर्म कर ॥ १५ ॥

भावार्थ— जिसकी कर्मके फलभोगोंपर आसक्ति नहीं होती, उसको कर्मों से कोई बाधा नहीं होती । कर्मोंके कारण जो बाधा होती है, उस का एक मात्र कारण फलासक्ति है । अतः जो फलासक्ति छोडता है वह कर्म के बंधन से मुक्त होता है ॥ यह नियम जानकर प्राचीन मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये थे और वे बद्ध भी नहीं हुए थे । इसलिये फलासक्ति छोडकर इस समयमें भी मनुष्य कर्म कर सकता है और कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकता है ॥ १४-१५ ॥

आसक्तिका दोष!

(१४—१५) मानवी व्यवहारमें तथा प्राणिमात्रके व्यवहारमें हम देख सकते हैं कि आसक्तिसे हि बडे कष्ट होते हैं। देखिये—

कुरंग-मातंग-पतंग-भृङ्ग-मीना
हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।

"हरिण, हाथी, पतंग, भृंग और मछली ये पांच क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पर आसक्त होनेसे नष्ट होते हैं।" हरिन मधुर ध्वनिपर लुब्ध होने के कारण बांधा जाता है, हाथी हाथिनी पर आसक्त होनेसे पकडा जाता है, पतंग दीपके रूपपर मोहित होने के कारण दीप पर गिर कर जल जाता है, भ्रमर मधुर रसपर आसक्त होनेसे कमलमें बांधा जाता है और मछली आमिषपर आसक्त होनेसे जाल में बद्ध होती है।" मनुष्यों की अवस्था भी यही है।

कई मिष्ट भोजन पर, कई स्त्रीपर, कई मधुर शब्द पर, कई धनपर, कई अपने अधिकार पर आसक्त होते हैं, और उस आसक्तिके कारण अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हैं। जो मिष्ट भोजनपर आसक्त हैं,उसको दूसरा भोजन प्राप्त होनेसे दुःख होता है और वह मिष्ट भोजनसे सुख मानता है, परंतु सदा मिष्ट पदार्थ भक्षण करनेसे रोगी होकर कष्ट भोगता है । इसी तरह अन्य स्थानों में आसक्त होनेवालोंको कष्ट ही होते हैं । अधिकार पर आसक्त हुए मनुष्य अपने हाथमें अधिकार रखनेके हेतुसे इतने अत्याचार करते हैं कि, उसकी कोई सीमा नहीं होती, इतिहास में राज-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुगंधित धूप

सब प्रकारके सुगंधित धूप, अगरबत्तियां, धूपकी टिकियां, धूपबत्तियां हमारे पास मिलती हैं।

सुगंधशाला, डा० किन्ही (जि. सातारा)

The Vedic Magazine

The only Journal in English which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas in all climes and countries. It is the only organ of the Arya Samajic world which carries the message of the Arya Samaj beyond the seas. Indian emigrants from Non-Hindi-knowing Provinces of India, e. g., Madras, Mysore, Andhradesh, Burma, etc. etc., can remain in contact with Aryan thought through this monthly. The contents of the Magazine have always been highly spoken of by men and women of light and leeding.

Conducted by Prof. Ramdev, Principal & Governor, Gurukula Kangri.

Subscription Rs. 5 only in advance.

Managar 'The VEDIC MAGAZINE'

P. O. GURUKULA KANGRI.
(Dist. Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥) रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करने के लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय एक आना।

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B. 1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से १]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[११" १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०७]	११	१०७६	६	१)

कुल मूल्य ५८।) कुल डा. व्य.१०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यको ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष १३
अंक ६

क्रमांक
१५०

ज्येष्ठ
संवत् १९८२
जून
सन १९३२

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =)वी. पी. से ।॥=)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयसूची

१ संघ का अधिपति ।	५९
२ संसार का अर्थशास्त्र ।	६०
३ नवीन ग्रंथ ।	६१-६५
४ रसायनशास्त्र ।	६२
५ महापुरुषनिर्माणकी शिक्षा ।	६६
६ माननीय ग्रंथ ।	७४
७ अथर्ववेदका स्वाध्याय ।	१६८
८ श्रीमद्भगवद्गीता ।	३३७

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं । प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है । प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं । पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है । अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है । इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं । इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा-व्य.।-) है । जिल्द अच्छी बनाई है ।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची ।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है । इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है । भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते । परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है । इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक का अवश्य अपने पास रखे । मूल्य केवल ।=) है । डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ६

ज्येष्ठ
संवत् १९८९

क्रमांक
१५०

जून
सन १९३२

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्व-ज्ञान-प्रचारक-मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

संघका अधिपति।

निषुसीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत्क्रियते किं च नारे महामर्कं मघवं चित्रमर्च॥

ऋग्वेद १०। ११२। ९

"हे (गण-पते) संघके स्वामी! तू अपने अनुयायीगणोंमें (नि-षु-सीद) उत्तम रीतिसे बैठ। तू (कवीनां विप्रतमं) ज्ञानियोंमें भी विशेष ज्ञानी है ऐसा सब कहते हैं। अतः (त्वत् ऋते) तेरी संमति के विना (आरे) तेरे समीप या दूर (न किंचनक्रियते) कुछ भी नहीं किया जाता है। हे (मघ-वन्।) भाग्यवान्! (महां चित्रं अर्कं अर्च) बडा विलक्षण वर्णनात्मक काव्य करके तेरा वर्णन किया है, उस का स्वीकार कर।"

संघका अध्यक्ष अपने अनुयायियोंके संघमें रहे, अपने अनुयायियोंको छोड कर दूसरे स्थानोंमें न जाये। जो सबमें विशेष ज्ञानी और विशेष कर्तृत्ववान् होगा, वही संघका अध्यक्ष बनानेके लिये योग्य समझा जावे। जो संघाध्यक्ष बनेगा, उसकी अनुमतीसेहि सब संघके लोग कार्य करते रहें। कोई भी संघाध्यक्ष की अज्ञा का उल्लंघन न करे। क्यों कि सब की एकतामें हि संघकी शक्ति रह सकती है। अतः आपसमें मतभेद बनाना किसी को भी उचित नहीं है। संघमें जो सबसे अधिक गुणवान् और कर्तृत्ववान् हो उसका ही काव्य बनाया जावे। और गाया जावे यह सुनकर अन्य लोग प्रशस्त कर्म करेंगे और इस तरह सबकी उन्नति होगी।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

संसार का अर्थशास्त्र।

व्यापार, समाज-संगठन अथवा राजकाज ही नहीं बल्कि मनुष्य के हाथों से होनेवाला कोई भी कार्य लीजिए उसमें अर्थशास्त्र अवश्य ही है। यदि यों कहें कि अर्थशास्त्र सृष्टि की रचना की नीव है तो भी चल सकेगा। सृष्टि के सब व्यवहार या तो प्रवृत्तिपर होते हैं या निवृत्तिपर होते हैं। यदि निवृत्ति का अतिरेक हो तो एक व्यक्ति को छोड उसका अन्य किसी से संबंध ही नहीं आता। परंतु यदि प्रवृत्ति का अतिरेक हो जाय तो अनर्थ हुए बिना न रहेगा। आय-व्यय के सिद्धांतों पर जो व्यापार करेगा और जो आय की अपेक्षा अधिक व्यय नहीं होने देता उसे व्यापार में हानि कभी नहीं होती। संसार भी तो एक व्यापार ही है जिस मात्रा में संसार के उपभोग बढाए गए होंगे उसी मात्रा में यदि हैसियत बढा ली हो, तब तो संसार का दीवाला न खुलेगा। परंतु भोग बढाना जैसे सरल है वैसे हैसियत बढाना सरल नहीं है। इस बात को जानकर भी मनोनिग्रह के अभाव से बहुतेरे लोगों के संसार में धोखा हो जाता है।

जब हम कोई भी व्यवसाय आरंभ करते हैं तब हमें सोचना होता है कि क्या यह व्यवसाय हमारी सामर्थ्य के भीतर का है? क्या यह व्यवसाय हमें पसंद है? क्या हमें उस व्यवसाय के संबंध का ज्ञान है? इसीप्रकार जब हम संसाररूपी व्यवसाय आरंभ करते हैं तब भी हमें इन्हीं तीन बातों का ज्ञान आवश्यक होता है। सर्व प्रथम विवाह करते समय देख लेना होगा कि अपनी हैसियत क्या है? उसके संबंध का ज्ञान और रुचि भी चाहिए। संसार में ब्रह्मचर्य मनोनिग्रह और दक्षता की अतीव आवश्यकता है। पर हम प्रपंच की जो दुखभरी कहानियां सुनते हैं सो क्यों? इसीलिए कि उनमें ये तीन गुण नहीं होते। इन तीन गुणों के अभावही से संसारी मनुष्य दरिद्री होता है।

संसारी जीव तीन प्रकार के होते हैं (१) दैववादी (२) उद्योगवादी और (३) मिश्रवादी दैववादी और उद्योगवादी मनुष्य प्रायः आनंदी मनोवृत्ति के होते हैं। परंतु जो संसारी मनुष्य मिश्रवादी होता है उसकी सदैव ही रोती सूरत रहती है। कारण यह कि ऐसे लोग अपने भोग बढा लेते हैं परंतु अपनी हैसियत नहीं बढालेते। वे भोग बढाते समय तो उद्योगी बन जाते हैं परंतु जब हैसियत बढाने का प्रश्न उठता है तब तो उन्हें दैववाद सूझता है। ऐसी भूलभरी नीव पर इन लोगोंके जीवन की रचना स्थित रहती है। तब उनके हिस्से में रोना न हो तो और हो ही क्या सकता है?

भोगों का नियमन अवश्यही कर सकते हैं परन्तु उसके लिए मनोनिग्रह चाहिए। यदि मनोनिग्रह न हो तो संसार-नौका इतस्ततः भटकती रहेगी। पहले हैसियत बढा लो तब फिर भोग बढाओ यह सीधी बात अर्थशास्त्रके बिना जाने भी लोग समझ सकते हैं। केवल विषयोपभोग में फंसे रहकर मनुष्यसंख्या में वृद्धि करते रहना और फिर दैव की ओर अंगुलीनिर्देश करना इसे कहें तो क्या कहें।

विवाह के पश्चात् बाल-बच्चे तो होंगेही। यह सिद्धांत ठीक है। पर साथ ही माता पितापर उन बालबच्चों के पालन पोषण का भी तो उत्तरदायित्व रहता है। उसका क्या प्रबंध? ये लोग कहने लगते हैं कि ईश्वरने इन बालबच्चों को जन्म दिया है उसीने उनके खानपान का भी प्रबंध किया होगा। मतलब यह कि ये अविचारी लोग अपने निज के अविचार का उत्तरदायित्व ईश्वर के मत्थे मढते हैं और स्वयं अलग हो जाते हैं। पर क्या इससे उन की मूर्खता छिप सकती है? नहीं, कदापि नहीं।

चार बच्चों के पालन-पोषण की हैसियत है अतः इन चारही बच्चों के हृष्टपुष्ट हो समाज में मानमान्यता प्राप्त कराने की इच्छा कर उसी के अनुकूल बर्ताव करनेवाले माबाप वास्तव में प्रशंसा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

के पात्र हैं। कोई भी कहेगा कि उन्हींने संसार के अर्थशास्त्र को समझ लिया। परंतु संसार का अर्थशास्त्र यह नहीं है कि पांचवें बच्चे का स्वतंत्र रीतिसे पालन-पोषण करने की सामर्थ्य नहीं है; तब भी उस पांचवें बच्चे को जन्म देना और प्रथम चार बच्चों की खुराक कम करके पांचवें का पेट पालना। उन चार बच्चों का कोई भी अपराध न रहनेपर भी उनके अन्न में पांचवां हिस्सेदार उत्पन्न करना और प्रत्येक की खुराक कम कर देना; इसमें मातापिता भी क्या पा लेते हैं ?

अस्तु। संसार बहुत कठिन है। सच्चा संसारी मनुष्य तीन गुणों से युक्त रहता है अर्थात् यथोचित् ब्रह्मचर्य, मनोनिग्रह और दक्षता। परंतु बहुतेरे संसारी मनुष्य विषयांध हुआ करते हैं। इसीसे वे भलाई और बुराई नहीं देख सकते। और उन्हें संसार का अर्थशास्त्र भी नहीं समझ पडता। भोग और हैसियत की युगुल-जोडी-अबाधित है। इस जोडी में से यदि भोग कम हो जांय, तो कोई हानि नहीं। परंतु यदि हैसियत की अपेक्षा भोग बढ जांय तो सांसारिक जीवन का दीवाला ही खुल जावेगा। ऐसे दीवालिए संसारी अंत में दीवाला निकाल बेचारे बालबच्चों को फूटफूट कर रुलाते एवं असहाय बनाकर छोड देते हैं। केवल मनुष्यसंख्या बढने से कोई लाभ नहीं। आज दिन हिंदुस्थान में मनुष्यसंख्या की कमी नहीं है। पर उनकी हैसियत बढी हुई बिलकुल नहीं है और पश्चिमी लोगों की सोहोबत से भोग भर बढ रहे हैं। इसीसे जहां देखो वहीं अकाल की पुकार मची है। इसपर इलाज है ब्रश्चर्य पालन से संतति-नियमन। पर विषयांध मनुष्य इसे समझही न सकेंगे। बेचारे बालकों के सिरपर इसका दोष नहीं है। जितने बालबच्चे हो सकते हैं उन सब का संगोपन करने की सामर्थ्य बिलकुल नहीं है, पर विषयके अधीन हो मनुष्य संख्या बढा ली है। इन बालबच्चों को भूखों मारने का पाप माबापने ही किया है। अतः वर्तमान अकाल के हिस्सेदार क्या माबाप नहीं हैं?

नवीन ग्रंथ !

१ एकादश स्कंध ।

(अनुवादक- श्री मुनीलालजी । प्र०- गीताप्रेस गोरखपुर । मू० ॥) श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध का मूलसहित सरल भाषानुवाद। भाषा अत्यन्त सुबोध होनेसे यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है।

२ नैवेद्य ।

(ले० श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार. प्र० गीताप्रेस गोरखपुर मू० ॥=) ईश्वरके महत्त्व को प्रकटकर मनुष्यको अपना कर्तव्य बतानेवाला यह भक्तिरस प्रधान उत्तम पुस्तक है।

३ कैलासयात्रा ।

(ले० श्री स्वा० अजरानंदजी गरीबदासी । प्र० साधुवनमालीदास शान्ति कुटी, शीनोर बडोदा-स्टेट.) श्री महाराजा साहेब म्हैसूर स्टेट के कैलास यात्राका सचित्र वर्णन इस पुस्तकमें है। यह वर्णन प्रारंभसे अन्ततक उत्तमचित्रोंसे किया होनेसे विना पढे केवल चित्र देखकर कैलासयात्राका आनन्द प्राप्त कर सकता है।

४ भक्तभारती ।

(ले० श्री तुलसीराम शर्मा ' दिनेश ' प्र० गीताप्रेस गोरखपुर । मू. ।=) भक्तचरित्र सचित्र। इस में ७ भक्तोंके संदर पद्यमय चरित्र हैं और सुंदर चित्रोंसे यह पुस्तक सुरम्य हुई है।

५ माता।

(ले० श्री अरविन्द । अनु०श्री. बा० गर्दे । मू०) श्री योगी अरविन्दजी के अंग्रेजी पुस्तक का सुन्दर भाषानुवाद।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

रसायनशास्त्र ।

अनाद्य उद्योगी परमेश्वर है। और अनाद्य भाग्यशाली भी परमेश्वर ही है! परमेश्वरका योग क्या है, एक विलक्षण रसायन प्रयोग है। सृष्टि परमेश्वरकी अहर्निश चलाई हुई रसायनशाला है। और सृष्टिमें स्थित अनादि कालसे चला आया हुआ जीवनप्रवाह इस दैवी रसायनशालामें प्रतिदिन चमत्कार उत्पन्न करनेवाला परंतु कभीभी समाप्त न होनेवाला विचित्र रसायनप्रयोग है। अखिल जीवनऽप्रवाह का मूल रसायनक्रिया है। वनस्पति साम्राज्य का प्रत्येक पत्ता वा जड वा फूल वा फल एक छोटीसी रसायनशाला है। पत्ता-जड-फूलमें से हो वनस्पति की जीवनक्रिया मुख्यतः चलती है। पानी, मिट्टी और हवाके नत्र, कर्ब और प्राणवायु इन पंच महाद्रव्योंको लेकर ही सूर्यकी किरणें इस पूर्णरसायनशालामें अत्यंत महत्व की रसायनक्रिया करती रहती हैं। यह 'सूर्य-प्रकाश-करणी' (फोटो सिंथेसिस्) प्राणिमात्रोंको आवश्यक सब प्रकारके अन्नपानी का, रसोंका, वस्त्र आवरणोंका और घरद्वारका पुजोना अव्याहत करती है। सब प्राणियोंका अग्रणी जो मनुष्य वह भी स्वयंसिद्ध, प्रबल रसायन शालाही ही है। यह केवल अलंकारिक भाषा नहीं है। यह अन्वर्थ वर्णन है। मनुष्य ६ सेर क्षार+४० सेर पानी+मन+आत्मा इन पदार्थचतुष्टयोंके रासायनिक संयोगसे उत्पन्न की हुई 'जीवनशक्ति' है। मानवशरीर में लगातार रसायनक्रिया जारी है। रसायन क्रियासे रसायनतेज उत्पन्न होता है। आत्मा मनःसामर्थ्यसे इस रसायनतेजका विद्युत्तेज में रूपांतर करता है; विद्युत्तेज चैतन्य तेजमें रूपांतरित होता है; और इस चैतन्य तेजसे 'बुद्धि-ज्ञान-तेज' उत्पन्न होता है। इसी बुद्धि-ज्ञान-तेज के कम-ज्यादा मानके अनुसार मनुष्य प्राणी संसारमें न्यूनाधिक पुरुषार्थ कर दिखाता है। और उद्योग पर, पुरुषार्थ पर ही तो सब प्रकारके वैभव अवलंबित रहते हैं। एवंच मनुष्यजीवन रसायनमूल है। सब सृष्टिही रसायनमूल है। यत् जगत् की मूलभूत रसायनक्रिया यदि रुक जाय, तो अखिल विश्वव्यवहार ही रुक जावेंगे चाहे जीवन अनुत्क्रांत हो, चाहे अत्यंत उत्क्रांत हो, मनुष्य असंस्कृत हो या सुसंस्कृत हो; राष्ट्र दुर्बल एवं गुलाम होवे या प्रबल तथा स्वतंत्र होवे; कोईभी स्थिति क्यों न हो। प्रत्येक स्थिति में—अर्थात् महत्वों के फरक से—रसायन क्रिया और उसीसे आगे बुद्धिकी करामात लगातार चलती ही रहती है। रसायनक्रिया के बल के अनुसार अथवा रसायनशास्त्र की ज्ञानकरणी के अनुसार मनुष्य और राष्ट्र दुर्बल अथवा प्रबल होते हैं।

यदि कोई ऐसा शास्त्र है जो पुराने से पुराना, नवीनों में अत्यंत नया, उपयुक्तों में अत्यंत उपयुक्त और प्रतिदिन अधिकाधिक धडाके से, उत्साहभर से, और आश्चर्यकारक करणी से लगातार प्रगती करता है तथा अतुल वैभव संपादन करता चला जा रहा है, तो वह रसायनशास्त्र ही है। अन्य किसी भी शास्त्र का यथार्थ महत्व कम न करके अथवा व्यर्थ अभिमान की भाषा भी न बोलकर अपन कह सकते हैं कि रसायनशास्त्र-

"शास्त्राणाम् शास्त्रमुत्तमम्"

है। साधारण रीतिसे मानवी वैभव का समावेश अन्न-पानी, वस्त्र-पात्र और घरद्वार इन त्रिविध व्यवहारों में होता है। जो राष्ट्र अन्नपानी, घरद्वार और वस्त्र-पात्र इस सुखसाधनत्रयी में स्वावलंबन से सुखी होता है, वही सच्चा वैभवसंपन्न राष्ट्र माना जाता है। ऐसा कोई भी व्यवहार नहीं, ऐसा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कोई भी महत्व का धंधा नहीं जिसमें कि स्पृहणीय यश-वैभव संपादन करने के लिए रसायनशास्त्र के ज्ञानकरण की सहायता आवश्यक न हो। अन्न-पानी, वस्त्र-पात्र, घर-द्वार ये सुखसाधन विपुलता से और सुलभता से उत्पन्न करनेवाला प्रथम साधन रसायनशास्त्र है।

रसायनशास्त्र के ज्ञान—व्यवहार बिना 'कृषि-संपत्ति' सुलभ नहीं है। किसानों को रसायनशास्त्र की भारी आवश्यकता है। रसक्रिया के महत्व को जाननेवाला किसान नत्र (नैत्रोजन) पूर्ण खातु खेतों में वृक्षलताओं को योग्य प्रमाण में देकर सत्व पूर्ण धान्य और मधुर रसयुक्त फल कम श्रम में, कम खर्च में अधिक से अधिक उत्पन्न करेगा। जर्मनी की जमीन हलके दर्जे की है, परन्तु योग्य प्रयत्न प्रयोगादिसे तथा रसायन के ज्ञान से अच्छा बीज और अच्छी खातु का उपयोग करके तथा जमीन की निगा अच्छी तरह रखकर जर्मनी ने अपनी खेती सब प्रकार से समृद्ध की है। जर्मनी में इस कृषि-सम्पत्ति की दिन प्रतिदिन वृद्धि ही होती जाती है। जिस खेत में १६०० सेर गेहूं उत्पन्न होना कठिन था वहां अब २१०० सेर गेहूं सहज ही में उत्पन्न होता है। जिस किसान को १००० सेर जौ नहीं मिलता था, वही किसान अब योग्य रसायन ज्ञानकरणी से उसी २॥ एकड के छोटे से टुकडे में २००० सेर जौ हंसते हंसते उत्पन्न करता है। जो हलकी जमीन १० हजार सेर आलू न दे सकती थी वही अब प्रसन्नता से १४॥ हजार सेर आलू कृतज्ञता से हरसाल अपने जर्मन मालिक को देती है। सादे घांस की ही बात लीजिए। हमारा भारत-वर्ष तो किसी भी बात की पर्वाह नहीं करता; फिर इसे घांस की क्या परवाह ? पर जर्मनी में देखिए। जिस चरागाह से २ हजार सेर घांस होती थी, उसी चरागाह से वही जर्मन अब ४३ हजार सेर घांस, केवल रसायन ज्ञान की करामत पर अब हरसाल उत्पन्न करता है। घांस की वृद्धि के साथ ही साथ गाय, बैल, घोडा, सूअर आदि की भी वृद्धि हुई। इन दो वृद्धियों से दूध-घी की, अन्न पानी की अतएव सहजही में आशिष्ट, द्रढिष्ठ और बलिष्ठ जर्मन युवकों की सारे जर्मन देश भर में विलक्षण वृद्धि हुई। तब क्या आश्चर्य कि ऐसा रसायन व्यवहारी और स्वकर्मकुशल देश दैवी वा मानवी आपत्तियों में लगातार झगडकर, विजयी होकर पुनः हृष्टपुष्ट और उत्साह से परिपूर्ण हो सब समर्थ राष्ट्रों में रहने लगे ? अपने हिन्दुस्थान ने, हिन्दुस्थान सरकारने, हिन्दी राजे-रजवाडोंने, और स्थानी हिन्दुस्थानी जनताने खेती के संबंधमें आज दिनतक क्या किया ? जर्मनी में खेती की समृद्धि के साथ जर्मन किसानों ने देढ करोड गाय बैलों के २ करोड गाय बैल किये। ३३॥ लाख घोडों की जगह ४३॥ लाख घोडे काम करने लगे। पाश्चात्य देशों में सूअर खानेका पौष्टिक पदार्थ माना जाता है। ये सूअर जर्मनी में ७० लाख थे, वे २॥ करोड हुए। पर हिंदुस्थान में गाय बैलों की संख्या घट रही है या बढ रही है ? और कुछ दिन के बाद हिन्दुस्थानमें क्या घोडों का नाम निशानभी रहेगा? हिन्दुस्थानी गल्ला कुल मिलाकर तथा एकडों के प्रमाणमें उत्तरोत्तर बढता है या सब घटता ही जाता है? किसीने भी और कभीभी-अज्ञ और वास्तव में गरीब जनता के मतों के कारण कौंसिलों में शानसे जानेवाले किसी भी माननीय सदस्यने क्या इस बात पर विचार किया है? हिन्दु-स्थान का किसान सभ्य, अल्प खर्ची, और अज्ञान परन्तु सच्चा मेहनती है। हिन्दुस्थानी जमीन जर्मन जमीन की अपेक्षा अधिक उपजाऊ है। हिन्दी कौसिलरों की और खेती के कालेजों की तथा उन कालजों से, प्रतिवर्ष झुंडोंमें केवल हिन्दुस्थानके हितार्थ, बाहर आनेवाले कृषि उपाधि धारियोंकी शान तो अधिकसे अधिक है ! परन्तु कृषि-सम्पत्ति और किसानों के हालहवाल !! पर ... परवाह करता कौन!!!

अच्छे, सुंदर, उपयुक्त, और टिकनेवाले कपडे चाहिए हों,तो कोष्टी लोगों को सब आवश्यक रसा-यनक्रियाओंका ज्ञान होना चाहिए। सुंदर रंग बिरंगे वस्त्र परिधान करके इंद्र धनुष्यकी बहारसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथवा पक्षियोंके और फूल-पत्तियोंके कमनीय वैभवसे सच्ची स्पर्धा करना हो तो रंगरेजों को महत्व की रसायनरंगक्रियाएँ बननी चाहिए। बिना रसायनके रंग नहीं। और रंगके बिना केवल नाम-धारी रंगरेज किस कामका? हिन्दी रसायनशास्त्र का लोप हो गया; हिन्दी रंग वृक्षजडों में ही बाहर न निकालनेके कारण सड, गलके बदरंग हो गये और हिन्दी रंगरेज लापता हो गया। आरोग्य को आवश्यक जो स्वच्छता, सर्वत्र मधुर परिणामकारी सादापन और तदंतर्गत सुंदरता इनका गंभीर संगम रसायनशास्त्र जाननेवाला धोबी ही कर सकता है। सुनार, तमेरा, चूडीवाला, लुहार, गडरिया आदि प्रत्येक के धंधे मुख्यतः रसायन शास्त्र ने ही उत्पन्न किए, आज दिन तक चलाए और अब भी उत्तरोत्तर प्रकर्षसे चलते हैं। जैसे रसायनशास्त्रका तेज हो वैसेही प्रत्येक धंधेका, धंधेवालेका और उसके राष्ट्र का तेज होता है। हिन्दी रसायन तेज मलिन हुआ! हिन्दी धंधे मर गए!! और हिन्दी धंधेवाले आज 'भूख, भूख' करते हुए जीते जी धूलमें मिल रहे हैं।

आज के हिन्दुस्थान के कोष्टी, रंगरेज, गडरिए, लुहार, तमेरे, सुनार, छुडीवाले सब हैं कहां? हिन्दी तेली आज क्या कर रहे हैं? तेली भी किसानों के साथ ही तैल धान्योंकी, तेलोंकी, और तैलद्रव्योंकी प्रगतिपर रसायनक्रियाएं भूल गया और तेलभी अर्थात् संपत्ति-तेलीको भूल गया। स्वतः की बहुमोल कांचक्रिया हिंदी कांचवाले खो बैठे और अब उन्ही पहलेके कर्तृत्ववान हातों में जर्मन और जपानी चूडियां खनखना रही हैं? रसायनज्ञानके बिना औषधिज्ञान समूल व्यर्थ है। रसायन ज्ञान पूर्ण होगा तो वनस्पतियों का, वनस्पतिरसोंका और उनके गुणधर्मों का पूर्ण ज्ञान होना संभव है और तभी रोगपर औषधि अपेक्षित परिणाम करावेगी। पर आजके हिन्दी आयुर्वेद की सर्वत्र कैसी दुर्दशा हो रही है! वनस्पति पातालमें; वैद्य भूतलमें और रोगी निश्चयसे स्वर्ग में; इस प्रकार त्रिस्थली यात्रा हिन्दुस्थानमें आज कई शतकों से लगातार चली है।

ढोर-चमार का धंधा लीजिए। चमडा निकालनेसे आरंभ कर वह अच्छी तरह कमाकर उसके जूते बूट, चप्पल, थैलियां, संदूकें, पट्टे आदि पदार्थ तैयार करने तक जो अनेक क्रियाएं करनी पडती हैं उस प्रत्येक क्रियाको रसायनप्रयोगोंके ज्ञानकी अतीव आवश्यकता है। किंबहुना जहांकी गृहदेवता घरकी सुगृहिणी जाने या अन जाने प्रतिदिन बिना चूकके रसायन क्रिया करती है, उसी घरमें रसोत्पत्ति और पाकनिष्पत्ति मधुर होती है, उसी घरमें दाल रोटी ही क्यों न हो पर वह नियमसे रुचिकर बनकर अन्नब्रह्म की माधुरी प्रतिदिन चखने मिलती मिलती है और उसी भाग्यशाली घरमें सुख, समाधान, और ब्रह्मानन्द का साम्राज्य होता है। यह रसायनज्ञान का ब्रह्मानंद, यह उद्योगका ब्रह्मानंद आज के हिन्दी राष्ट्रके कितने हिन्दी घरोंमें और कितनी मात्रामें विद्यमान रहता है? आज का हिन्दी राष्ट्र क्या सचमुच उद्योगी है? यदि वह सच्चा उद्योगी होता तो हमारे वैभव में किस बात की कमी होती?

सारांश, संसारमें मानवजीवन सुखावह करनेवाला और राष्ट्रीयत्व बलिष्ठ करनेवाला कोई भी महत्वका धंधा लीजिए, वह समृद्धिकर रीतिसे और सचाईसे चलानेके लिए और टिकानेके लिए रसायनज्ञानकरणी अत्यंत आवश्यक है। किसान, माली, कोष्टी, रंगरेज, नाई, धोबी, सुनार, चूडीवाला, लुहार, गडरिया- कुंम्हार, मकान बनानेवाला, पथरकट, मूर्तिकार, चित्रकार, तेली, पनसारी, चमार आदि और अन्त समय उपयोगी होनेवाले या न होनेवाले वैद्य कोई भी लीजिए और कोईभी धंधा लीजिए; प्रत्येक धंधेका सदाका और वर्धिष्णु यश मुख्यतः रसायन उद्योगसेही प्राप्त होता है। उद्योगी राष्ट्र उद्योगी लोगों से बनता है। जहां शास्त्रशुद्ध उद्योग है, वहां सब सुख, सब सामर्थ्य निवास करते हैं। उद्योगी राष्ट्र का भाग्य देवताको भी अज्ञेय है। आज के इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

और जपानका भाग्य देवों के लिए भी स्पृहणीय है। और अपने हिन्दुस्थानका? हिन्दुस्थानका उद्योग और हिन्दुस्थानका भाग्य! यह योग कब और कैसे आवेगा? हिन्दुस्थानका स्पृहणीय भाग्य हिन्दी उद्यो. गोंसे ऊपर वर्णन किये हुए अनेकविध हिन्दी धंधे वालोंके उद्योगसेंही प्राप्त हो सकता है।

अनेक युग गए। सुवर्णयुगभी गया। आजका यह रसायन उद्योग युग भी चला है, वह और अनेक शतक चलेगा। वास्तवमें सृष्टिके आरंभसे जो रसायनयुग शुरू हुआ वह विविध प्रकारका बिकट और सच्चा झूटा मार्ग आक्रमण करके अद्याप चला ही है। और वह इसी प्रकार एकसा अव्याहत चलनेवाला है। यदि सुवर्णयुग पुनः कभी आनेवाला होगा तो वह निःसंदेह रसायन-उद्योगयुगमेंसे ही आवेगा। कर्तव्य प्रवीण हिन्दी तरुण, रसायनशास्त्रज्ञ, कारखानदार, पूंजीपति, कौंसिलें, कौंसिलर और अंतमें कह रहे हैं परतु सर्व प्रथम हिन्दी राजा-महाराजा सब मिलकर एक दिलसे उचित प्रयत्न यदि समय पर, कभी भी निराश न होकर, बढते हुए उत्साहसे और प्रयोग कौशल्यसे अविश्रांत करें तोहि भारतवर्षकी उन्नति हो सकती है,

ऐसा पूर्ण समाधान अभिमान आनंदसे केवल कहने का ही नहीं प्रत्यक्ष आंखों से देखने का सौभाग्य का सुप्रसंग निःसंदेह जल्दही आवेगा।

नवीन ग्रंथ!

१ परमार्थपत्रावली।

(ले० श्री जयदयालजी गोयन्दका। प्र० गीता-प्रेस गोरखपुर। मू.।) परमार्थ का विषय पत्रोंके रूपमें है इसलिये यह एक नये ढंगकी पुस्तक है।

२ चाणक्यनीति

(अनु. श्री प्रेमशरणजी 'प्रणत'। प्र० प्रेम-पुस्तकालय, आग्रा मू.।=) चाणक्यनीति का अतिसरल भाषानुवाद है। कोई पृष्ठ पढिये बोध प्राप्त होगा।

३ ब्रह्मयज्ञ

(ले० व प्र० श्री. पं. बुद्धदेवजी विद्यालंकार, गुरुदत्तभवन लाहौर, मू.।=) 'संध्या' का उप-पत्तिसहित अर्थ इस पुस्तक में है। संध्यापर इस समयतक जितने पुस्तक हुए हैं उनमें यह अच्छी है।

४ रसोद्धारतन्त्र

(ले० श्री रसवैद्य जीवराम कालीदास शास्त्री, गोंडल. प्र. गोंडल रसशाला मू. ३) यह पुस्तक गुजराती भाषामें है। यह सुबोध आयुर्वेद उपचार पद्धति का ग्रंथ है। आयुर्वेदचिकित्सा के ऊपर सब भाषाओंमें ऐसे सुबोध ग्रंथ निर्माण होने चाहिये। १८ वी वार यह पुस्तक छपी है, इससे इसकी योग्यता सिद्ध हो चुकी है।

५ अपरोक्षानुभूति

(ले० श्री मुनिलाल. प्र. गीताप्रेस गोरखपुर मू. =) ॥ श्रीमच्छंकराचार्यविरचित अपरोक्षानुभूतिका सरल भाषानुवाद।

६ महर्षि दयानन्द चरित

(कर्ता व प्र० श्री. वल्लभदास भ० गणात्रा, प्रताप बिल्डींग। न्यू भटवाडी, गिरगांव मुंबई. मू. =) संस्कृत चरित्रका गुजराती अनुवाद।

७ संतवचन

(प्र० श्री. अं. ब. हेडाऊ. सरस्वतीप्रेस अमरावती बरार) इस पुस्तक में १५५ संतोंके उत्तमोत्तम वचन संग्रहित किये हैं।

८ आत्मानन्दगीतावली

(प्र. श्री. लक्ष्मणराम का० रामी, वडनगर (गुजरात) मू. =) यह गुजराती भाषाका पुस्तक है। ईश्वर उपासना भजन का संग्रह इसमें अच्छा है।

1 Swami Dayanand on Bhakti; 2 Plato Aristatle & Dayanand; 3 Ideale & Education By M. T. D. Gajra M. A. Shikarpur Sind

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

महापुरुष निर्माणकी शिक्षा।

शिक्षा के सम्बन्ध में माबाप की समझ गलत है। इससे बालकों को छोटी अवस्था में बेहद मानसिक परिश्रम करना पडता है। इस परिश्रम से बालकों की बुद्धि बहुत बढती, तो सम्भवतः शरीर की उपेक्षा क्षम्य कही जा सकती थी। किन्तु बात ऐसी नहीं है। क्यों कि देखते क्या हैं कि जो लडके शिक्षा के लिए, वास्तव में रटन्त विद्या के लिए, अकाल में बेहद मानसिक परिश्रम करते हैं,वे प्रथम कुछ दिन सुधरते हुए मालूम पडते हैं किन्तु आगे चलकर मंद होते जाते हैं। स्कूल और कॉलेज के विद्यार्थियों में कई बार देखा गया है कि पढाई में अधिक समय बिताने के कारण तथा व्यायाम की ओर बिलकुल ध्यान न देने के कारण बुद्धि मंद हो गई है। साधारणतः कालेज के उन विद्यार्थियों में शरीर और मस्तिष्क की चपलता दीखती है जो पढाई में थोडा समय व्यतीतकर बाकी समय खेल में या अन्य मन बहलाव के कामों में बिताते हैं। कॉलेज के उन विद्यार्थियों को छोड दीजिए जो केवल खेलने और चैन उडाने में ही अपना समय नष्ट करते हैं। जो बालक काफी पढाई करके अपना शेष समय व्यायाम, और लडकों को उचित कुछ गडबड और हँसीमें बिताते हैं,उन्हींमेंसे आगे चलकर वैद्य, डाक्टर आदि व्यवसायोंमें निजी पराक्रम से कीर्ति प्राप्त करते हैं। इसीतरह अत्यन्त बुद्धिमान और भारी महत्वाकांक्षा रखनेवाले विद्यार्थि को छोड शेष विद्यार्थियों में से जो परीक्षाओं में ऊंचे आते हैं उनमें से कई उक्त श्रेणी के रहते हैं। साधारण बुद्धिवाले जो विद्यार्थि व्यायाम और शरीर की पर्वाह न कर पढाई में ऊपर नम्बर प्राप्त करते हैं वे भी जैसे जैसे ऊंची कलासों में जाते हैं गिरते जाते हैं। पारसी और हिन्दू बालकों की तुलना करने से भी विदित होगा कि छुटपन में बेहद मानसिक परिश्रम से और व्यायाम न करने से बडी हानि होती है। मैट्रिक की परीक्षामें पारसी विद्यार्थी ऊंचे नंबर से नहीं पास होते। किन्तु ज्यों ज्यों ऊँची कलासों में जाते हैं, उनकी संख्या उच्च श्रेणी में बढती हुई दिखाई देती है। अर्थात् यदि प्रथम और द्वितीय श्रेणी में पास होनेवाले विद्यार्थीयों की संख्या देखें तो मालूम होगा कि पो.ई.की अपेक्षा इंटरमिजिएट में; इंटरमिजिएट की अपेक्षा बी. ए. में, और बी. ए की अपेक्षा एम्. ए. में पारसी विद्यार्थी अधिक रहते हैं। सन् १८७० ई. से १८९० तक एम्. ए. की परीक्षा में पास होनेवाले विद्यार्थियों की संख्या देखें तो पारसी और हिन्दू का प्रथम श्रेणी का अनुपात ६: ४ और दूसरी श्रेणी का १९: ३९ दिखाई देता है। इसी तरह एक वर्ष की परिक्षाओं का प्रथम और द्वितीय श्रेणीका अनुपात देखें तो पी. ई. में १:३, १६:७, इण्टर में २:२, ८:३६, और बी. ए. में १: ०, १२:२४ दिखाई दिया। इन अंकों से विदित होगा कि ऊंची परीक्षा में पारसी अधिक आगे आते हैं। इसका एक कारण यह अवश्य है कि पारसी मालदार हैं और इसीसे उन्हें उच्च शिक्षा के साधन सरलतासे मिल सकते हैं। किन्तु इसका यही एक मात्र कारण नहीं है। इसका दूसरा कारण यह है कि पारसी विद्यार्थियों की शक्ति छुटपन में मानसिक शिक्षा में अधिक खर्च नहीं होती। और उन्हें भोजन भी अच्छा मिलता है। इसीसे उनके शरीर और मस्तिष्क में आगे की पढाई के लिए काफी शक्ति रहती है। कॉलेज की शिक्षा का तो यह हाल है। किन्तु परी-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

क्षाओं के आगे चलकर उनकी जीवनी को देखें तो यह फरक और भी अधिक दिखाई देगा। एल्.एम् एस्. या एल् एल्. बी. पास करनेवाला पारसी जो उत्साह और परिश्रम अपने व्यवसाय में बतलाता है वह उत्साह और परिश्रम हिंदुओं में नहीं दिखाई देता। झंझट, और कष्ट को पसंद न करनेवाले, थोडो काम कर थोडे रुपये मिलने से उसीमें संतुष्ट रहनेवाले, साधुओं का संतोष नहीं, कमजोरों का संतोष माननेवाले, लोग हिंदुओंमें जितने मिलेंगे उतने शिक्षित पारसियों में या मुसलमानों में नहीं मिलते। विचारी मनुष्य सहज ही समझ सकता है कि इन सब बातों का कारण बहुत कुछ छुटपन में किए हुए बेहद मानसिक परिश्रम हैं।

बेहद मानसिक परिश्रम के कुपरिणाम मनुष्यको अपने ही जीवन में भुगतने पडते हैं यह नहीं; किन्तु सन्तान को भी। तब कोई भी कहेगा कि शिक्षाप्रणाली में तुरन्त ही ऐसा सुधार करना आवश्यक है जिससे विद्यार्थियों के बेहद मानसिक परिश्रम घट जावें, और शरीर का, जो कि ऐहिक और पारमार्थिक हितका साधन है, विकास उचित रीतिसे होवे, कमसे कम लापरवाही से शरीरसामर्थ्य का ऱ्हास तो न होवे। इस सुधारका मतलब ही यह है कि बुद्धि की शिक्षा के समान ही शरीर की शिक्षा महत्व का भाग माना जाये। वर्तमान शिक्षाप्रणाली में बुद्धि की शिक्षाकी ओर समय और शक्ति फजूल खर्च होती है। उसके बदले प्रबन्ध किया जाय कि बालक को स्कूल में तथा घर में बुद्धि की शिक्षा के साथ ही शरीर की शिक्षा भी दी जावे।

अब तक के विवेचन से आपको विदित हुआ होगा कि शिक्षा किसे कहते हैं, उसके भिन्न भिन्न अंग कौनसे हैं और शिक्षा पूर्ण होने के लिए वह किस प्रकार से दी जानी चाहिए। जिस शिक्षा के लिए हम बालकों को पाठशालाओं में भेजते हैं वह शिक्षा का एक भाग मात्र है। इस एक भाग को ही हम लोगोंने पूर्ण शिक्षा समझ लिया है। इसीलिए हम लोग इस एक भाग में ही बालकों की सब शक्ति खर्च करा रहे हैं। शिक्षा के संबंध में हम लोगों का खयाल गलत है; इसीसे हम समझते हैं कि बालक अपना सारा समय स्कूलकी पढाई में ही बिता दिया करे, जितनी अधिक देरतक बालक पुस्तक लेकर बैठेगा, उतनीही उसकी अधिक भलाई होगी इसी समझके कारण मनुष्यके कर्तृत्वके मन बुद्धिऔर शरीर इन तीन साधनों में से एकही को प्रधानता प्राप्त हुई है और इसका परिणाम अन्य भागोंकी ओर लापरवाही हुई। शिक्षित और अशिक्षित मनुष्य के मनोवृत्ति के और शरीरके बलों में तुलना करें तो विदित होगा कि बुद्धि की शिक्षा में शक्ति फजूल खर्च हो जाने से शिक्षित मनुष्य की मनोवृत्तिका और देह का बल अपढ मनुष्य के बल से बहुत कम है। शिक्षा का कार्य केवल इतना ही नहीं है कि मनुष्य को हिसाब करना, अर्जी लिखना, पोथियाँ और ताम्रपट के लेखों का अर्थ करना आदि कामों के योग्य बनाना, किन्तु यह भी है कि शारीरिक परिश्रम के भी सब कामों के योग्य बनाना। वर्तमान शिक्षासे मनोवृत्ति का, जो प्रवृत्ति का मूल साधन है, और देह का, जो मनेवृत्तिके अनुसार कार्य कराने का साधन है, ऱ्हास हो रहा है। तब लोगों को सोचना चाहिए कि केवल नौकरी के योग्य बनानेवाली शिक्षा के कारण अपना इतना भारी नुकसान करलेना कहाँ तक अकलमंदी कही जा सकेगी? शिक्षासे मनुष्य संसार के सब कर्तव्यों के करने में योग्य होना चाहिए। वह तो नहीं होता, उलटे उसकी मनोवृत्ति और देह कमजोर होकर वह निरुत्साही, नामर्द और विरक्त हो जाता है। इसी लिए वर्तमान शिक्षा प्रणाली में तुरन्त सुधार होना चाहिए और सुधार न होगा हो तो उसे बन्द कर देना चाहिए। कोई कहेंगे कि शिक्षा के दूसरे अंगों की उपेक्षा होने से अपूर्ण शिक्षा मिलती है सही पर जितनी शिक्षा मिलती है उसे भी त्याग देना वैसी ही बुद्धिमानी का काम होगा जैसे रुपया नहीं मिलता इस लिए अठन्नी या चवन्नी को भी त्याग देना। किन्तु याद रखना होगा कि मनुष्य चांदी, सोने का टुकडा नहीं है जिसके मन चाहे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भाग करनेपर भी कुल कीमत में बिलकुल फरक न होगा। जैसे मनुष्य का एक पैर एक पंचमांश मनुष्य के बराबर नहीं और चार धड मिलकर दो मनुष्यों के बराबर नहीं हो सकते, उसी तरह मनुष्य के एक भाग को शिक्षा शिक्षाहि नहीं है। सुभीतेके लिए यद्यपि मनुष्य के मन, बुद्धि और शरीर ऐसे भाग किये हैं, तब भी वें काल्पनिक हैं। क्यों कि यें तीन भाग मनुष्य को तलवार से अलग करते न बनेंगे। इन तीनों भागों को एक साथ मिलनेवाली शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। और वही शिक्षा मनुष्य की उन्नति कर सकती है। इन में से किसी एक भागकी शिक्षाको प्रधानता देनेसे प्रथम कुछ लाभ होना दिखेगा पर अन्तमें हानि होगी। मनुष्य की मनोवृत्तियों को योग्य शिक्षा न मिले और केवल बुद्धि और शरीरका ही विकास हो तो मनुष्य पराक्रमी होंगे किन्तु दुष्ट होंगे अर्थात् राक्षस होंगे। नीतिकी अपेक्षा बुद्धिको प्रधानता देनेसे बडी हानि होगी। लोग समझते थे शिक्षासे मनुष्यके स्वभावमें और उसकी नीतिमें बहुत सुधार होगा। किन्तु यह बात पूर्ण न होनेका कारण है बुद्धि की शिक्षाके साथ मनोवृत्ति की शिक्षा का अभाव। मनोवृत्ति और शरीरकी उपेक्षा कर केवल बुद्धिकी शिक्षासे देशका पुरुषत्व नष्ट हो उसे प्राचीन ग्रीक राष्ट्रके सदृश गुलामीमें रहना पडेगा। केवल शरीर की शिक्षा मिलनेसे मनुष्य नीग्रो के सदृश पुष्ट और बलवान होंगे किन्तु बोझा उठानेसे बढकर कोई काम वे न कर सकेंगे। इसीलिए मनुष्य जातिकी उन्नतिके लिए शिक्षा देना हो तो वह ऐसी होवे जिससे मन, बुद्धि और शरीर का विकास हो। मनुष्यको शिक्षा देना है जो बुद्धि, मन तथा शरीर के मेलसे बना है। इसी लिए शिक्षा के समय मनुष्यके इन भागों को अलग न करना चाहिए। परन्तु हम लोग समझते हैं कि बुद्धि की शिक्षाही पूर्ण शिक्षा है। क्या यह हम लोगों की भूल नहीं है? यदि बुद्धि वास्तवमें एक स्वतन्त्र भाग होता और उसका मन तथा शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध न होता, तो बुद्धिमात्रकी शिक्षा पर विशेष जोर देना उचित माना जाता। किन्तु ऐसा न होते भी हम बालकोंकी सब शक्ति और समय केवल बुद्धि की शिक्षामें खर्च करा रहे हैं। और शिक्षा के अन्य भागों की पर्वाह ही नहीं करते !! क्या यह अकल मंदी है? आजकलकी शिक्षासे शरीरकी उपेक्षा होती है। यदि इस शिक्षासे एकही अंगका अर्थात् बुद्धिका विकास पूर्ण रीतिसे होता तो शरीरकी उपेक्षासे इतना दुःख न होता। किन्तु बुद्धिकी अन्यान्य महत्व की वृत्तियों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। अधिक ध्यान स्मरणशक्ति के बढाने में दिया जाता है और यह है बुद्धि की गौण वृत्ति। कोई कोई यह पढकर आश्चर्य करेंगे कि वर्तमान शिक्षाप्रणाली से स्मरणशक्ति का विकास कैसे होता है। किन्तु किंचित् विचार से विदित होगा बात यथार्थ में यही है। गणित करते समय, कोई निबंध लिखते समय, भाषान्तर करते समय या कोई नवीन प्रश्न हल करते समय बुद्धि को कुछ परिश्रम करना पडता होगा। शेष सब कामों में बालकों की स्मरणशक्तिसे ही काम लिया जाता है। कविता का अन्वय और अर्थ वा पैराफ्रेज शिक्षक बताता है, विद्यार्थी उसे लिख लेता है और रट डालता है। व्युत्पत्ति, व्याकरण के नियम आदि विद्यार्थि को यादही करने पडते हैं। इतिहास और भूगोल की शिक्षा देते समय शिक्षक बालकों को कभी की कोई प्राचीन किला, पुराना महल, पुराने हथियार, वा कोई पहाडी नदीका उद्गम स्थान आदि नहीं बताता; उन्हें केवल साल, राजाके नाम, लडाइयां, राजाका स्वभाव, उसकी नीति, आदि पुस्तकसे रटने को कह देता है। रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि पढाते समय शिक्षक अपनी कुर्सी न छोड वनस्पति के नाम, ग्रह, या उसी संबंध के अंकों को बालकों से याद करा लेता है। वह बगीचे में जाने का, लेबोरेटरी के साधनों का उपयोग करने का, वा आकाश के तारों को देखने का कष्ट नहीं उठाता। यह सब काम स्मरणशक्ति से होता है। तब यदि हम कहें कि वर्तमान शिक्षाप्रणाली से स्मरणशक्ति को ही व्यायाम मिलता है

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तो हम क्या गलती करते हैं? वर्तमान शिक्षाप्रणाली में केवल गणित ही ऐसा विषय है जिसमें रटन्त विद्या काम नहीं देती। किन्तु इसमें भी भूमिति को कई लडके रट डालते हैं। इसीसे हम कहते हैं पाठशालाओं में जो भिन्न भिन्न विषय पढाए जाते हैं उनकी पढाने की पद्धति से यही मालूम होता है कि उनसे बुद्धि की अन्यान्य वृत्तियों की अपेक्षा स्मरण शक्ति को ही अधिक व्यायाम मिलता है। दूसरे, जब स्कूल की परीक्षाएं समीप आती हैं तब विद्यार्थि रटते हुए दिखाई देते हैं। वास्तव में यह देखने के लिए कि बालक ऊंची कलासमें जाने योग्य है या नहीं, इसकी आवश्यकता नहीं कि वह अमुक कविता का अर्थ उसे बनना ही चाहिए; या निश्चित पाठों की कथाएं वह बता सके। किन्तु कक्षामें बतलाई हुई किस्साएं उसे याद इसलिए करनी पडती हैं कि उन किस्साओं को याद रखने ही से वह ऊंची कलास के योग्य समझा जाता है। तब आपही सोच सकते हैं कि शरीर की उपेक्षा करनेवाली इस शिक्षासे बुद्धिका विकास कहांतक हो सकेगा। जिस शिक्षा को हम पूर्ण समझते हैं, जिस के कारण हम शरीर का नाश कर रहे हैं वह शिक्षा उपरोक्त प्रकार की है। तब शारीरिक शिक्षा की ओर ध्यान न देनेवाली शिक्षा के परीक्षाओं के पीछे पड अपने शरीर अस्थिचर्मावशिष्ट बनाना कहांतक लाभकारी या दूरदर्शिता का होगा? इस बहस से यदि लोगों को निश्चय होता हो कि आजकल जिसे हम शिक्षा के लिए केवल स्कूलही एक मात्र स्थान नहीं है बालकों को दो एक पीढी तक स्कूल की शिक्षा न दी जावे तो उनकी बुद्धि एक दम नष्ट न होगी। किन्तु वर्तमान एकदेशीय शिक्षा यदि दो, चार पीढियों तक इसी प्रकार जारी रहे तो बुद्धिमानों में से आधे लोग अवश्य ही नामर्द हो जावेंगे। इसीलिए वर्तमान शिक्षाप्रणाली का रटना बन्द कर उसमें खर्च होनेवाला समय कम करना चाहिए; और बुद्धि की शिक्षा के साथ ही शारीरिक शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। बलका महत्त्व गीतामें इस तरह कहा है—

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥
परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥
भगवद्गीता।

अर्थात् "बलवानों में काम-राग-विवर्जित बल मैं हूं। भूतप्राणों में धर्मके अनुकूल काम मैं हूं। मैं साधूलोगों की रक्षाके लिए, दुष्टों का दमन करनेके लिए और सद्धर्म की स्थापना करने के लिए युग-युग में जन्म लेता हूं। हे पार्थ जब कार्य कौन है और अकार्य कौन है और भय कौन है और अभय कौन है यह प्रश्न होता तब जो बुद्धि प्रवृत्ति, निवृत्ति, बंध और मोक्ष को जानती है वही सच्ची बुद्धि है। संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयलकर हैं; किन्तु उनमें भी कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग बढकर है।"

कई लोग समझते हैं कि ऐहिक सुख के लिए शरीरसामर्थ्य का बडा महत्व भले ही हो, परन्तु परमार्थ प्राप्त करने के लिए शरीर-सामर्थ्य का विशेष महत्व नहीं है। किन्तु यह भूल है। इस लेख में यही बतलाने की चेष्टा की जावेगी कि धार्मिक दृष्टिसे वा पुरुषार्थ-साधनदृष्टिसे भी शरीर सामर्थ्य आवश्यक है।

निवृत्ति-मार्ग कैसा भी अच्छा क्यों न हो, वह इष्ट भी हो, भर्तृहरी जैसे महापुरुषों ने उसकी कितनी भी प्रशंसा क्यों न की हो; मनुष्यजाति के लिए प्रवृत्तिमार्ग अनिवार्य है। संसार में रोज का यही अनुभव है कि सब तरह का फजीता होनेके पश्चात् एक नौकरी छूटनेपर दूसरी नौकरी ढूंढनेवाले लोग यहां हैं, पचास वर्षकी उमरमें तीन स्त्रियाँ मर चुकने पर भी चौथी बार विवाह करने को, द्रव्यकी अनुकूलता रहनेपर, उत्सुक होनेवाले मनुष्य दिखाई

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

देते हैं। इसीलिए मनुष्यको शरीरसामर्थ्य बढाना चाहिए क्योंकि बिना उसके सुख नहीं मिल सकता। इंद्रियाँ सुखप्राप्तिके साधन हैं। इंद्रियोंकी वृत्तिकी तीव्रता के अनुसार उनकी तृप्ति अच्छी तरहसे होने परही मनुष्यको सुख होता है। इसी लिए इंद्रियोंकी वृत्तियाँ बलवान बनाए रखने को और उन्हें तृप्त करनेका सामर्थ्य प्राप्त करनेको शरीरसामर्थ्य की आवश्यकता है। नीरोग बालक को और बलवान शरीरवाले मनुष्यको भोजन आदि नित्यके व्यवहारमें, बलवान् मस्तिष्कवाले रसिक मनुष्यको सृष्टि सौन्दर्यके अवलोकनमें, संगीतश्रवणमें, काव्य के पठनमें, तथा सात्विक, एकनिष्ठ पति को सुशील सहधर्मचारिणीके सहवास में जो आनन्द प्राप्त होता है, उसका विचार करनेपर ज्ञात होगा कि सुख का एक महत्वका साधन बलवान शरीर है। इस सुखमें भंग न होनेके लिए मनोवृत्तियाँ अच्छी होनी चाहिए। इसी लिए सच्चा सुखका मार्ग यही है कि शरीर बलवान बनावें और अच्छी मनोवृत्ति का विकास करें। इस प्रकार प्रयत्न किया जाय तो यह मार्ग असंभव नहीं है।

दुष्ट लोगोंके कष्ट देनेसे वा नैसर्गिक व्याधि के कारण जिन लोगों का जीवन दुःख-मय हो गया है उन्हें छोड दें। शेष लोगोंमें से जिन लोगोंने अपनी वासनाओं को बहकने न दे अपने आधीन रखा है, उनका जीवन सुखमयही हुआ है। इससे हमारा यह मतलब नहीं कि संसारमें सुखही सुख है, दुःख बिलकुल नहीं है। सच है इस संसार में दुष्ट लोग बहुत हैं। उन लोगोंके कुकर्मोंसे और लोगोंके अज्ञानसे बहुतोंका जीवन कष्टमय हो गया है। किन्तु हमें यही कहना है कि यद्यपि इस संसार में हरएक मनुष्यको जिलेबी और लड्डु नहीं मिल सकते, मुहरें झाडों में नहीं लगतीं, तब भी परमेश्वरने इस देहको ऐसी चतुराई से बनाया है कि यदि स्वास्थ्य अच्छा है, तो कंद मूल फल खाकर भी आनन्द होगा। अप्सराएँ, रविवर्मा जैसे अबल दर्जेके चित्रकारके चित्र,तानसेन आदि गंधर्व आदि बातें हरएक को नसीब नहीं होतीं। तब भी चित्र विचित्र रंगोंसे और मनको लुभानेवाली मधुर गंधसे चित्तको प्रमुदित करने वाले फूल; जिनके रंग बिरंगे बदन को देखकर आँखें तृप्त हो जाती हैं और जिनके सुमधुर निस्वनको सुनकर कर्णेन्द्रियाँ संतुष्ट होती हैं वे पक्षी; मनको तल्लीन करने वाले हिमाचल जैसे पर्वत; किसी समय अगणित तारकारूप रत्नोंसे और कभी हिमकर के शान्त तेज से भूषित आकाश; मञ्जु-मधुर आवाज से बहनेवाले जलप्रवाह जिनकी आवाजसे यही मालूम होता है मानो वे परमेश्वरको अद्भुत रम्य कृति का गीतही निरंतर गाते हैं; व्यास, वाल्मिकी कालिदास, भवभूति, आदि कवियों के काव्य; आदि अनेकानेक उपभोग्य वस्तुएँ लखपतिसे भिखमंगे तक सबको सरलतासे प्राप्त हो सकती हैं। जिस संसारमें ये बातें सहज प्राप्त हैं,उसमें प्रवृत्तिमार्गसे चलनेवाले विचारी और सद्वृत्त मनुष्यका जीवन प्रायः सुखमय होनाही चाहिए। यदि ऐसा न हो तो उसका कारण हम ही हैं। यदि हम संसार से उदास न रहें, धर्म का सच्चा उद्देश जाने, अपनी सद्वासनाओंका विकास कर दुष्ट वासनाओं का मूल सहित नाश करनेका प्रयत्न करते रहें, तो हम अपना और दूसरोंका जीवन सुखमय कर सकते हैं। किन्तु हमारा बर्ताव ऐसा है कि जबतक शरीरमें ताकत है तबतक हम नीच स्वार्थके पीछे पड अथक परिश्रम करते हैं। उस समय हम यह नहीं सोचते कि हमारा शाश्वत कल्याण दूसरेको दुःख देकर और नहीं तो दूसरोंके दुःखकी पर्वाह न कर जितना बन सके उतना द्रव्यसंचय करने में है, या सद्वासनाओंका विकास कर रसिकतासे किन्तु नियमसे धर्मसम्मत सुखका उपभोग करने में है। केवल, द्रव्यसंचय ही को सुखका साधन मान कर गुलाम के सदृश परिश्रम करते हैं। किन्तु जब इंद्रियां निर्बल हो जाती हैं, बदन में परिश्रम करनेका बल नहीं होता, तब 'विषयोपभोग में सुख नहीं है, उनका त्याग करना चाहिए' ऐसे तत्वज्ञान को अपनाकर हम संसार का निषेध करते हैं। हम एकबार संसार में ऐसी आसक्ति बताते हैं कि उच्च

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

हेतु भूलकर स्वार्थ के लिए दूसरों का अनहित करनेको तैयार रहते हैं और फिर ऐसे उदासीन हो जाते हैं कि ईश्वर को घर के कोने में या पहाडों की गुफाओं में खोजते बैठते हैं। इस विसंगत बर्ताव से हमने ही संसार को दुःखमय कर दिया है। लोग ऐसा दुहरा बर्ताव करते, यदि वे जान लेते कि संसार में उचित बर्ताव करनेसे ऐहिक सुख प्राप्त कर आध्यात्मिक सुख भी प्राप्त कर सकते हैं, तो वर्तमान स्थिति की अपेक्षा संसार को-कम से कम हिन्दुओं की—दशा बहुत अच्छी होती। सारांश यह कि दूसरों को दुःख देखकर तुरन्त दुःखी होनेवाले अति कोमल मन के लोगों को छोड शेष लोगोंके लिए संसार में बहुत सुख है। हम लोगों की स्वार्थपरायणता से और दुष्ट मनोवृत्तियों को प्रबल होने देनेसे ही संसार कष्टमय हुआ है। ऐसी दशा में हमें प्रवृत्तिमार्ग की निन्दा न कर उसे सुखदाई बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। अस्तु, हमारे सन्मुख यह प्रश्न नहीं है कि संसार प्रायः सुखमय है वा दुःखमय। इसी लिए यह विवेचन यहीं छोड दें। हमें केवल यही कहना है कि जब हम देख रहे हैं कि प्रवृत्तिमार्ग अनिवार्य है और उस मार्ग में सुख प्राप्त करने को शरीरसामर्थ्य की आवश्यकता है, तो हमें शरीर की उपेक्षा न करना चाहिए।

निवृत्तिमार्ग ही अत्यंत श्रेयस्कर मार्ग है यह नहीं। यह सामान्य जनों की कल्पना है। हमारा मत है कि जिस देह से धर्म के अनुकूल सब उपभोग लेकर दूसरों के हितके लिए कार्य कर सकते हैं उस देह को कर्म करने के लिए असमर्थ बनाना, या "संसार जो चाहे सो होवे, हमें उससे कुछ मतलब नहीं यह कहकर एकान्त में बैठकर ईश्वर को ढूंढना सच्चा निवृत्तिमार्गही नहीं है। सच्चा निवृत्तिमार्ग है सब असत् प्रवृत्तियों से मन को निवृत्त कर सत् प्रवृत्ति की वृद्धि करना। हम लढाई न लडें तब भी दूसरे तो लडेंगे ही। यह जानकर भी जो यह कहकर कि लडाई में हत्या होगी, चित्तकी कमजोरी से-क्लैब्यसे- रणक्षेत्र से भाग जाता है उसकी अपेक्षा वह मनुष्य कम हत्या करता है जो स्वार्थ के लिए उदासीन है, और जो सद्धर्म की प्रवृति के लिए वा न्याय के लिए लडता है। इसी तरह सर्व-कर्म-परित्याग करनेवाले निवृत्तिमार्गपर चलनेवाले मनुष्य से भी अधिक सच्चा निवृत्तिमार्गी वही मनुष्य है जो असत्कर्मत्यागी और सत्कर्मकारी है। ऐसे मार्ग से चलने पर जीवन सफल होगा। और विचार करनेपर कोई भी कहेगा कि यही मार्ग ईश्वर को पसन्द होगा। परमेश्वर के कामों को देखनेसे भी यही बात प्रतीत होगी। मत्स्य अवतार क्यों हुआ? राम अवतार क्यों हुआ? श्रीकृष्णचन्द्रजीने क्यों अवतार ग्रहण किया? सब अवतार दुष्टोंका दमन करने को, पाप का नाश करने को, सद्धर्मका प्रचार करने के लिए और लोगों को सुख देने के लिए ही हुए। प्राणिमात्र का हित करने का काम छोड कर किस अवतार में ईश्वर ने उपोषण करने में वा गुफा में बैठने में अपनी आयु खर्च की है? परमेश्वरका अवतार प्राणियों की भलाई के लिए और उन्हें अनुकरण योग्य उदारण बतलाने को ही होता है। तब संसार की भलाई का उद्योग छोडकर गुफा में बैठने से क्या हम ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध काम नहीं करते? भक्तों के कारण भगवान् धेड का स्वांग रचते हैं। पीसने लगते हैं, दर्जी के हाथ का भोजन खाते हैं। पृथ्वी की रक्षा के लिए वे वराह तक का जन्म लेते हैं। जिन प्राणीयों की परमेश्वर ऐसी भारी फिकर करता है, उनकी भलाई करने में आयु न बिता संसार का त्याग कर परमेश्वर का ध्यान करना या उसके नाम का घोष में समय बिताना क्या अधिक अच्छा हो सकता है? इस मार्ग को श्रेष्ठ मानने के लिए परमेश्वर के जीवन से कोई आधार नहीं मिलता।

"परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्"

और

"बलं बलवतामस्मि"

आदि परमेश्वर के वचनों से क्या यह नहीं विदित होता कि परमेश्वर का उद्देश है असत् का नाश और सत् का प्रसार करने में मनुष्यों को लगाना? साधारण लोग दूसरे का बुरा कर अपना भला

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

करते हैं। इससे किसी भी प्राणि को पीडा न दे कर्मनिवृत्त हो चुप बैठनेवाले लोग साधारण लोगों से निःसन्देह अच्छे हैं। किन्तु वे समझते हैं कि यही जीवन की अत्यन्त सार्थकता है यही उनकी भूल है। मानो कि वह मनुष्य अच्छा है जो अपनी दुष्ट वृत्तियों के वश में हो परार्थहानि नहीं करता और दुष्ट वृत्तियोंसे दूसरों को हानि न हो इस लिए संसार से अलग रहता है। किन्तु वह मनुष्य सबसे अच्छा है जो अपनी दुष्ट वासना और दुष्ट प्रवृत्तियों को जीत कर अपनी सत्प्रवृत्तियों से लोगों की भलाई करता है। बडे बडे साधुओं के और परमेश्वर के चरित्रोंपर ध्यान देने से विदित होगा कि उन्होने दूसरी प्रकार की प्रवृत्तियों का अवलम्ब किया है। इसी लिए हमारी समझ में सच्चा निवृत्तिमार्ग है दुर्वासनाओं की निवृत्ति और सद्वासनाओं की प्रवृत्ति; न कि वह जिसमें खानापीना आदि शरीर के व्यापार कमकर देह और मन दुर्बल कर दिया जाता है,और संसार का त्याग कर रहना है। स्वार्थसाधन और परमार्थसाधन दोनो दृष्टियों से यह मार्ग हितकर है। नहीं नहीं यह मार्ग है सच्चे धैर्य का मर्दपनका और अधिक भूषणप्रद। जिस प्रकार शेर को देखकर भाग जानेवाले मनुष्य की अपेक्षा अधिक शूर और प्रशंसापात्र मनुष्य वह है जो शेर पर हम्ला कर उसका नाश करता है। इसी प्रकार जो अपनी वासनाओं को अपने वश में रख सकता और इसी लिए जो संसार से अलग रहता है उससे वह मनुष्य कहीं अधिक श्रेष्ठ है जो दुष्ट वासनाओं को जीतकर सद्वासनाओं से लोकहित करता है। यदि लोग राजा नल,सत्य हरिश्चन्द्र और श्रीरामचन्द्रजी जैसे पुरुषश्रेष्ठों का चरित्र विचारपूर्वक पढेंगे उन्हें उनकी मनोदेवता ही बतादेगी कि सर्वसंगपरित्याग कर परमार्थ साधनेवाले मनुष्य की अपेक्षा उस मनुष्य की योग्यता बहुत अधिक है जो संसार का त्याग न कर संसार के उच्च कर्तव्यों के लिए स्वार्थ की प्रवृत्तियों को रोक लेता है। जिन्हें कुछ शंका हो वे सोचें कि किसका आत्मौन्नत्य अधिक है। कर्तव्य के कारण मन की असह्य वेदनाओं को सहकर भी प्राण से भी प्रिय पत्नी का त्याग करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी का, पत्नी की निर्दोषिता को जानते भी डोम्ब के सेवक के नाते अपना कर्तव्य करने के लिए पत्नी का वध करने को तैयार होनेवाले हरिश्चन्द का, वा भार्या के सहवास का आनन्द मालूम होने के पहले ही संसार का त्याग करनेवाले और ऐसें स्थान में जाकर, जहां काम, क्रोध आदि मनोविकारों के उमडने का मौका ही नहीं आता, अपनी शान्त वृत्ति तथा जितेन्द्रियता की डींग मारनेवाले मनुष्य की। और वे खुद ही निश्चय करें कि कौन मार्ग अधिक श्रेयस्कर है। विचार करने से ज्ञात होगा कि जहां मनोवृत्तियां कसौटीपर कसे जाने के मौके नहीं आते वहां की अपेक्षा उस स्थान में रहना अधिक लाभकारी है जहां सद्वृत्ति और मनका संयम बतलाने के अवसर अधिक आते हैं। ऐसे स्थानों में रहने से इन्द्रिय दमन, दुष्ट वासना शमन, और सद्वासना-विकास का अर्थात् आत्मोन्नति का अच्छा अवसर मिलता है। यदि मनुष्य की मनोवृत्तियों की परीक्षा कर उन्हें सच्ची शुद्धता देनी हो तो उसे चाहिए कि वह संसार में ही रहकर अपनी उन्नति करे। जब तक संसार के भिन्न भिन्न प्रसंगों से मनोवृत्तियों की परीक्षा नहीं होती तब तक यह समझ लेना कि वे शुद्ध हो गई हैं आत्मवंचना है। इसीलिए हम समझते हैं कि संसार का त्याग करने का निवृत्तिमार्ग नामर्दपन का है और सच्चा श्रेयस्कर मार्ग है दुर्वासनानिवृत्तिपर सत्प्रवृत्ति।

इस संसार में यदि सत्कर्म करनेकी आवश्यकता न होती तो हम उपरोक्त प्रवृत्तिमार्ग की प्रशंसा न करते। सत्कर्म करनेकी आवश्यकता केवल चित्त की शुद्धि के लिए ही नहीं पर हित के लिए भी है। इसीलिए हमें संसार की घृणा न कर निष्काम से सत्कर्म करते ही रहना चाहिए। संसार के लोग यदि सद्धर्म से चलें तो यह संसार भी स्वर्ग के सदृश सुखकारी होगा। किन्तु मनुष्यों की स्वार्थबुद्धि के कारण, धर्म की गलत समझ के कारण यह संसार अन्याय से व्याप्त है। अतएव इस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

संसार को सुधारनेका प्रयत्न करना ही मनुष्य की महत्वाकांक्षा को सबसे अच्छा विषय है। संसारके प्रति लापरवाह रहकर ईश्वर की मूर्ति का ध्यान करने वा ईश्वरकी स्तुति करने में अपना सब समय बितानेवालों से हमारा सवाल है कि इस संसार का पाप, अज्ञान और दुःख कम करने में अपनी आयु बिताने से क्या अपनी आयु अधिक सार्थ न होती? संसार भी कैसा है? इसमें जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धान्तपर चलकर रोजीना सत्य और न्याय का खून हो रहा है। जंगल में जितनी घांस मिलेगी उतनी घांस और चुल्लू भर पानी पाकर संतुष्ट रहनेवाले हिरन, मेष जैसे जानवर जो निरपराधिता और अल्पसंतोष की मूर्तियां ही है, इस संसार में कभी शौक के कारण और कभी पेटपूर्ती के लिये मारे जाते हैं। इसमें तुकाराम, जैसे साधु पुरुष सताए जाते हैं और नर-राक्षस सुखसे रहते हैं। इस जगत् में वे स्त्रियां जिन्हें आबरू ही नहीं सुखचैन से रहती हैं और दरिद्रता में भी शुद्ध आचरण और सतीत्व की रक्षा करनेवाली स्त्रियां कष्ट पातीं हैं। स्व-देश की रक्षा के लिए जिसने बडे बडे अनुभवी लोगों को भी कठिन जान पडनेवाला सेनापतित्व लेलिया, जिसे पाप और कपट का स्पर्श तक न हुआ था, उस कुमारिका जोन ऑव आर्फ को उसकी देशभक्ति और उसके स्वार्थत्याग के कारण जीतेजी जला देने की सजा होती है। इस संसार में वे लोग राज्य का मनमाना उपभोग करते हैं जिन्होंने धर्मद्रोह; राजद्रोह वा देशद्रोह किया था। इस संसार में ईश्वर की इच्छा और मनुष्य के कर्तव्य का अज्ञानी लोगों को ज्ञान करा देने के लिए उत्पन्न हुई संस्थाएं अपनी शक्ति लोगों को सुख देनेमें नहीं खर्च करतीं बरन् वादविवाद करने में, दूसरे देशपर चढाई करने में और उस देश के निवासियों को जबरन अपने धर्म में लाने में खर्च करती हैं। अपने धर्मसे भिन्न मतको माननेवाले सूलीपर चढाए जाते हैं, जीतेजी जला दिए जाते हैं या अन्य प्रकारके कष्ट दे मार डाले जाते हैं। संसारकी दशा सुधारनेके लिए जब परमेश्वरभी अवतार लेते हैं, तब क्या हम पर परमेश्वरकी कृपा कम होगी यदि गुफामें बैठकर प्राणायाम करने में, हम जो समय और जो शक्ति खर्च करते हैं उसका कुछ अंश जनता की सेवामें खर्च करें? जिस जगत् की ईश्वरको बडी भारी फिकर है, उसकी उपेक्षा कर एकान्तमें बैठना कुछ अंशमें क्या स्वार्थीपन का अर्थात् गौण मार्ग नहीं है? तुकाराम, एकनाथ, कबीर आदि साधुओंने संसारकी उपेक्षा न की। तो उसकी उपेक्षा करना क्या आप लोगोंको उचित होगा? आप परमार्थ साधनेके लिए जो त्याग करते हैं, और जो कष्ट उठाते हैं, क्या उससे कम कष्ट और कम त्याग शिवाजी जैसे संसारी लोगोंने किया है? आपके कष्टोंसे आपके सिवा दूसरोंका कुछ भला हुआ हो तो वह हमें विदित नहीं। किन्तु उक्त पुरुषोंने समस्त संसारको ऋणि बनाया है, यह बात जगत्प्रसिद्ध है। इस प्रकार स्वत्वरहित हो संसारमें रहकर जब हम संसार का भला कर सकते हैं, तो जिस देहकी सहायतासे हम सत्कर्म कर सकते हैं उस देहकी उपेक्षा हम क्यों करें? विचार करनेसे आपभी जानेंगे कि संसार पर सच्चे उपकार करनेवाला और परमेश्वरका सच्चा प्यारा भक्त वही है जो संसारमें रहकर परोपकारमें देहको कष्ट देता है। इन लोगोंका पुण्य भारी रहता है और इनकी सेवा ईश्वरको मंजूर होती है। इसका प्रमाण यही कि जिस देशमें ऐसे लोग अधिक होते हैं वही देश अधिक सुखी रहता है। संसारका त्याग कर ईश्वरके नामका भजन करनेवाले लोग इंग्लैण्डमें या जापानमें अधिक नहीं हैं। किन्तु जनता के सुखके लिए स्वार्थ का और स्वसुख का त्याग करनेवाले ही लोग उन देशोंमें हैं। इसी से वे देश सुखी हैं। इसके विपरीत हाल हमारे देशका है। अर्थात् हमारे देशमें दूसरोंके कष्टोंसे अपना पेट पालनेवाले और संसारकी उपेक्षा कर प्राणिमात्रमें ईश्वरको न देख कोई गंगाजीके पानीमें कोई गोदावरीके पानीमें कोई भद्रीनाथके बर्फमें और कोई रामेश्वरके समुद्र में ढूंढते हैं। इस देशमें ऐसे परमार्थ साधनेवाले

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

साधु हैं, जिनमें कोई झाडमें टंग जातें हैं, कोई धूपमें घंटों तक खडे रहते हैं, कोई हाथ ऊपर किए रहते हैं, कोई पैरका अंगूठा नाकको लगातें हैं, कोई सिरपर भारी बोजा लिए रहते हैं, कोई सिरपर कुल्हाडी रखे रहते हैं, कोई नग्न रहकर देशभर घूमते हैं, कोई लेटते हुए तीर्थयात्रा करते हैं। और वे इसीमें जीवन का सार्थक मानते हैं। इसीसे सब तरहसे हमारी अवनती हो रही है। इसीलिए विनय है कि धर्म और परमार्थके गलत ख्यालसे फजूल कष्ट न उठाइए। जिससे संसारमें नीति, अहिंसा, सहानुभूति, शान्ति, अनुकम्पा आदि वृत्तियाँ बढें और जिससे भूतमात्र का भला हो वही सत्कर्म करनेमें अपनी शक्ति लगाईए। इससे आप प्रपंच साधकर परमार्थका लाभ उठावेंगे।

अतः हमें शिक्षा ऐसी मिलनी चाहिये कि जिससे हमारें में शिवाजी, राणा प्रताप जैसे पुरुष हों।

माननीय ग्रंथ.

१ श्रीकृष्ण-विज्ञान।

(अनुवा. श्री पुरोहित रामप्रताप। प्र० गीता-प्रेस गोखपुर मू. १) श्रीमद्भगवद्गीता का मूल सहित पद्यानुवाद भाषामें सुंदर छपा हैं। एक पृष्टपर मूल संस्कृत श्लोक हैं और उसीके सामनेके पृष्टपर उसका सुंदर भाषापद्यानुवाद है। पद्यानुवाद होने-पर भी उसकी भाषा अत्यंत सरल है, यह इसकी विशेषता है।

२ देवर्षी नारद।

(ले०— श्री. च० पं० श्रीद्वारका प्रसादजोशर्मा पं. इंद्र नारायण द्विवेदी। प्र० गीताप्रेस गोखपुर। मू. ॥)) देवर्षी नारद की यह उत्तम जीवन है। देवर्षीजीका निवासस्थान कहांथा, उनका बालपण कैसा व्यतीत हुआ, इतिहासिक और पौराणिक ग्रंथों में नारद के विषयमें क्या लिखा है यह संगतवार इस पुस्तक में लिखा होनेके कारण यह पुस्तक नारद के जीवन चरित्रपर उत्तर प्रकाश डालता है।

३ आरोग्यामित्र।

(सं. डा मार्तंड दामोदर पुस्तके, लष्कर ग्वालि-यार। वार्षिक मूल्य २) आरोग्यविषपर यह उत्तम मासिक है, इस कारण संपादकजीका धन्यवाद गाना चाहिये। आयुर्वेद संबंधी बडा उत्तम और आवश्यक ज्ञान इसके पढनेवाले पाठकोंको प्राप्त होगा।

संस्कृत सीखनेकी इच्छा।

यदि आपके मनमें संस्कृत सीखनेकी इच्छा है तो आप 'संस्कृत पाठमाला' के भाग मंगवाइये। आप अपने फुरसतके समय इसका पाठ कर सकते हैं और वर्ष में रामायण महाभारत समझनेकी योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। प्रथम भाग का मूल्य।=); प्रथमके तीन भागोंका मूल्य१=); छः भागोंका मूल्य २); बारह भागोंका मूल्य ३॥=); और २४ भागोंका मूल्य ६ ॥-); है। मूल्य म० आ० द्वारा भेजिये। वी. पी. से चार आने अधिक होंगे।

प्रबंधकर्ता- स्वाध्यायमंडल औंध (जि. सातारा)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ ५५ ॥
पयस्वतीरोषधयः पयस्वान्मामकं पयः ।
अपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥ ५६ ॥
इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ५७ ॥

या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है, तो (अग्निः) अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोगरहित करे। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ॥ ५५ ॥

(ओषधयः) औषधियां सेवन की जानेपर हमारे लिए (पयस्वतीः) सारवाली होवें। (मामकं पयः) मेरेमें जो सार है वह भी (पयस्वान्) सारवाला होवे। (अपां) जलादि रसों के (पयसः) सारभूतांश का (यत् पयः) जो उत्कृष्ट सार है (तेन) उस सारभूतांश के (सह) साथ (मा) मुझे (शुंभतु) शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

(इमाः) ये (अविधवाः) जीवित पतियों वालीं, (सुपत्नीः) श्रेष्ठ पतियों वालीं (नारीः) नारियां (आञ्जनेन सर्पिषा) अंजनसंबन्धी घृतसे (संस्पृशन्ताम्) अच्छी तरह संयुक्त होवें अर्थात् घृतवाले अंजन का उपयोग करें। [अंजन का प्रयोग सधवाका चिन्ह है ऐसा यहां से जान पडता है।] (अनश्रवः) वे नारियां आंसुओंसे रहित हुई हुई अर्थात् शोक-रहित हुई हुई (अनमीवाः) रोगरहित हुई हुई (सुरत्नाः) उत्तम रत्नादि आभूषणों को धारण कीहुई (जनयः) संतानोत्पत्ति करनेवालीं होती हुई (अग्रे) सबसे पहिले (योनिं आरोहन्तु) घरमें प्रवेश करें ॥ ५७ ॥

भावार्थ– काले अनिष्टकारी पक्षी वा कीडी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरों से पहुंचाए गए कष्ट को अग्नि व सोम दूर करें ॥ ५५ ॥

ओषधि, जल आदि सर्व पदार्थों का जो सारभूत अंश है वह मुझे प्राप्त होवे जिससे कि मैं संसारमें शोभायमान होऊं। ओषधि आदि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥
ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ ५९ ॥

अर्थ-हे मृत पुरुष! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरों के साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्त के साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मों के साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मों का त्याग करके अर्थात् सुकर्मों के साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज- कान्ति से युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीरको धारण करके संसारमें विचरण कर ॥ ५८ ॥

(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह (दादा) (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको (यथावशं) कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करता है ॥ ५९ ॥

सारवान् पदार्थों का सेवन करके अनुष्य को सुन्दर बनना चाहिए ॥५६॥

स्मशान से लौट कर सबसे पहिले स्त्रियां घरमें प्रवेश करें। (ऋ० १०।१८।७) ॥ ५७ ॥

स्वर्ग में जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवी पर लेने आते हैं। यम लोक उत्कृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यम लोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है ॥ ५८ ॥

पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्टरूपसे होता है ॥ ५९ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् ।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्यप्सु शं भुव इमं स्वग्निं शमय ॥ ६० ॥ (१८)
विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ६१ ॥

अर्थ-(ते) तेरे लिए (नीहारः) कुहरा (शं भवतु) सुखकारी होवे। (ते) तेरे लिए (प्रुष्वा) वृष्टि (शं) सुखरूप हुई हुई (अवशीयताम्) नीचे गिरे। (शीतिके) हे शैत्ययुक्त ! (शीतिकावति) हे शैत्यगुणसंपन्न ओषधि ! (ह्लादिके) हे हर्षित करनेवाली तथा (ह्लादिकावति) आनन्दित करनेवाले गुणोंवाली औषधि ! (अप्सु जलमें जिस प्रकार (मण्डूकी) मेंडकी शान्त होती है अर्थात् जैसे जल मेंडकी को शांति पहुंचाने वाला होता है उसी प्रकार तू (शं भुव) सुखकारी हो और (इमं अग्निं) इस आगको अर्थात् जलनेसे जो शरीरमें दाह (जलन) पैदा होता है उसको (सुशमय) अच्छी प्रकार से शान्त कर दे। (ऋ० १०। १६। १४) ॥ ६० ॥

(विवस्वान्) सूर्य (नः अभयं कृणोतु) हमें अभय बनावे। (यः) जो कि विवस्वान् (सुत्रामा) अच्छी तरह सबसे रक्षा करनेवाला, (जीरदानुः) जीवनदाता व (सुदानुः) उत्तम दाता है। (इह) इस संसारमें (इमे) ये (वीराः) पुत्रपौत्रादि (बहवः भवन्तु) बहुत हो जावें। अर्थात् हमारे पुत्रपौत्रादि खूब होवें। और (गोमत्) गौओंवाला तथा (अश्ववत्) घोडोंवाला (पुष्टं) पोषण (मयि अस्तु) मेरेमें होवे। अर्थात् मैं गौघोडोंसे संपन्न होऊं ॥ ६१ ॥

भावार्थ— तेरे लिये सब जगत् के पदार्थ सुखदायी हों ॥ ६० ॥
सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला व जीवनदाता सूर्य हमें अभय बनावे। हमारी संतति खूब बढे व हम गौ घोडों आदियोंसे परिपूर्ण होवें ॥ ६१ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो षु वेषामसवो यमं गुः ॥ ६२ ॥
यो दधे अंतरिक्षे न महा पितॄणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ६३ ॥
आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन ।

अर्थ-(विवस्वान्) सूर्य (नः) हमें (अमृतत्वे) अमरतामें (दधातु) स्थापित करे अर्थात् सूर्य हमें अमर बनावे। (मृत्युः परा एतु) मृत्यु परे भाग जावे। (नः अमृतं एतु) और हमें अमरता प्राप्त होवे। वह विवस्वान् (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (आ जरिम्णः) वृद्धावस्था-पर्यन्त (रक्षतु) रक्षा करे। (एषां असवः) इन पुरुषोंके प्राण (मा यमं गुः) यमको मत जावें अर्थात् ये मत मरें ॥ ६२ ॥

(यः) जो (प्रमतिः) प्रकृष्ट बुद्धिवाला (कविः) क्रान्तदर्शी (मतीनां पितॄणां) उत्तम मनिमान पितरोंको (महा न) मानो अपनी महिमासे ही (अंतरिक्षे) अंतरिक्षमें (दधे) धारण करता है, (विश्व-मित्राः) हे सबके मित्र मनुष्यों! (तं) उस यमकी (हविर्भिः अर्चत) हवियोंसे पूजा करो। (सः यमः) वह यम (नः) हमें जीवसे (दीर्घा-युके लिए (प्रतरं धात्) अच्छी तरहसे धारण करे ॥ ६३ ॥

(ऋषयः) हे मंत्रद्रष्टा जनो! (उत्तमां दिवं आरोहत) उत्तम द्यु अर्थात् स्वर्गको चढो। अर्थात् स्वर्गमें जाओ। (मा बिभीतन) मत

भावार्थ- सूर्य हमें अमर बनावे। मृत्यु दूर भाग जावे व हमें अमरता प्राप्त होवे। हमारे सब पुरुषोंकी सूर्य वृद्धावस्थातक रक्षा करता रहे; हमारे में से कोईभी वृद्धावस्थासे पूर्व न मरे ॥ ६२ ॥

वह क्रान्तदर्शी यम विचारशील पितरोंको अपनी महिमासे अंतरिक्षमें धारण किए हुए है। हे मनुष्यो! तुम सबके मित्र हुए हुए उसकी हवियोंसे पूजा करो, जिससे कि वह तुम्हारे लिए दीर्घायु प्रदान करे ॥ ६३ ॥

ऋषिगण निर्भय होकर स्वर्ग को जाते हैं। सोमपान करनेवालों

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ६४ ॥
प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥

डरो। हे (सोमपाः) सोमपान करनेवाले तथा (सोमपायिनः) अन्यों को सोमपान करानेवाले जनो! (वः) तुम्हारे लिए (इदं हविः क्रियते) यह हवि हम करते हैं। (उत्तमं ज्योतिः) जिससे कि हम उत्तम ज्योतिको (अगन्म) प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

(अग्निः) अग्नि (बृहता केतुना) अपने बडे भारी केतुसे अर्थात् ज्वालारूपी झंडोंसे (प्रभाति) अच्छी तरह चमकता है। और वही अग्नि (रोदसी) द्यावापृथिवीमें (वृषभः) वर्षादि द्वारा कामनाओंकी पूर्ति करता हुआ (रोरवीति) मेघ बिजली आदिके रूपमें गरजता है। वह (दिवः अन्तात्) द्युके अन्तसे (माम् उप) मेरे तक अर्थात् द्यु तथा पृथिवीमें सर्वत्र (उत् आनट्) अच्छी तरहसे व्याप्त हुआ हुआ है। (महिषः) महान् अग्नि (अपां उपस्थे) जलोंकी गोदमें (ववर्ध) बढता है। अर्थात् बादलके रूपमें विद्यमान जलोंमें बिजलीरूपमें यह अग्नि बढता रहता है ॥ ६५ ॥

व दूसरोंको करानेवालोंके लिए हवि देने से उत्तम ज्योतिका लाभ होता है ॥ ६४ ॥

यह अग्नि पृथिवीपर ज्वालाओंसे चमकता रहता है। द्यावापृथिवीमें वर्षा करने वाला हुआ हुआ सूर्य विद्युत् आदिके रूपमें गर्जता रहता है। द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें यह व्याप्त है। अंतरिक्षमें विद्यमान जलोंमें विद्युत् रूपमें यह बढता रहता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अग्नि भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें द्यावापृथिवी को व्याप्त किए हुए है ॥ ६५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ ६६ ॥
इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ६७ ॥

अर्थ- (नाके उप पतन्तं सुपर्णं इव) आकाशमें उडते हुए उत्तम पंखवाले पक्षीको जैसे सर्वजन देखते हैं उसी प्रकार हे सूर्य ! आकाशमें गति करते हुए (त्वा) तुझे (हिरण्यपक्षं) सोने जैसे चमकीले पंखों वालेको, (सूर्यका प्रकाश सुवर्णीय पीला होता है) और (वरुणस्य दूतं) वरुण जल की देवता है, उसको प्राप्त करानेवाले अर्थात् वृष्टि देनेवाले तुझको, [सूर्यका वृष्टि देना वेदमें कई स्थानोंपर आया है] और (यमस्य योनौ) यमके घरमें अर्थात् अंतरिक्षमें [यमका, अंतरिक्षमें स्थान है यह पहिले आ चुका है] (शकुनं) शक्तिशाली होकर विद्यमान व (भुरण्युम्) वर्षा प्रकाश आदिके देनेद्वारा सबके पालक तुझको विद्वान् गण (हृदा वेनन्तः) हृदयसे ध्यान करते हुए (अभ्यचक्षत) भली प्रकार देखते हैं ॥ ६६ ॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली ! (नः क्रतुं आभर) तू हमें कर्म व कर्मज्ञान इस प्रकार से दे (यथा) जिस प्रकार से कि (पिता पुत्रेभ्यः) पिता अपनी संतानों को देता है । (पुरुहूत) हे बहुत प्रकारसे बुलाए गए इन्द्र । (अस्मिन् यामनि) इस संसारसागर पार करनेके मार्गमें (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे । अर्थात् संसारसागर तरनेका उपाय सिखा । जिससे कि (जीवाः) हम जीवलोग (ज्योतिः अशीमहि) ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें ॥ ६७ ॥

भावार्थ—यमलोक में मृतात्माको सुख हो ऐसे कर्म वह यहां करें ॥ ६६ ॥

हे इन्द्र ! जिस प्रकार पिता पुत्रों को उपदेश करता है उस प्रकार तू हमें कर्ममार्ग व तत्संबन्धी ज्ञानका उपदेश कर ताकि हम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें ॥ ६७ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ६९ ॥
पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।
यथा यमस्य सादन आसाते विदथा वदन् ॥ ७० ॥

अर्थ-(यान्) जिन (अपूपापिहितान्) मालपूओंसे ढके हुए (कुम्भान्) घडोंको (देवाः) देवोंने (ते) तेरे लिए (अधारयन्) धारण किया है अर्थात् तुझे दिया है (ते) वे घडे (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) स्वधावाले, (मधुमन्तः) मधुरतायुक्त तथा (घृतश्चुतः) घीसे परिपूर्ण (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

(ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः) जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात तिल मिले हुए स्वधावाले धानों को (अनुकिरामि) अनुकूलता से फैंकता हूं, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (विभ्वीः) नानाप्रकारवाले व (प्रभ्वीः) प्रभूत मात्रामें यानि बहुत मात्रा में (सन्तु) होवें। (ताः) उन्हें (ते) तुझे देने के लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुमन्यतां) अनुमति देवे। [यम के राज्यमें बिना यम की अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता अतः उसकी अनुमति मांगी है] ॥ ६९ ॥

(वनस्पते) हे वनस्पति ! (यः एषः) जो यह (त्वयि निहितः) तेरे में रखा है उसे (पुनः) फिर वापिस (देहि) दे (यथा) जिस से (यमस्य सादने) यमके घरमें यह (विदथा वदन्) विज्ञानों को बोलता हुआ (आसाते) स्थित होवे ॥ ७० ॥

भावार्थ—परलोकवासी जीवके लिए सुख प्राप्त होवे ॥ ६८ ॥

यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान आ जावे ॥ ६९ ॥

जीव यमलोकमें सुखसे पहुंचे ॥ ७० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥
ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥
एतदा रोह वयं उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते ।
अभि प्रेहि मध्यतो मापं हास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ ७३ ॥

अर्थ—(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (आरभस्व) जलना प्रारंभ कर। (ते) तेरा (हरः) हरनेका सामर्थ्य (तेजस्वत् अस्तु) तेजवाला होवे अर्थात् जिसको जलाना शुरू करे उसे शीघ्र जलाकर भस्मीभूत करनेवाला तेरा समर्थ्य होवे, जलानेमें देर न लगे। (अस्य) इस मृतका (शरीरं संदह) शरीर अच्छी तरह जला डाल ! (अथ) जलानेके बाद (एनं) इसकी आत्माको (सुकृतां लोके) श्रेष्ठजनोंके लोकमें (धेहि) धारण कर अर्थात् वहांपर पहुंचा ॥ ७१ ॥

(ते) वे (ये पूर्वे परागताः) जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात परलोकवासी हुए हैं और (ये अपरे पितरः) जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरों के लिए (शतधारा व्युन्दती) सैंकडों धाराओं वाली उमडती हुई (घृतस्य कुल्या) जलकी कुल्या- क्षुद्र नदी (एतु) प्राप्त होवे ॥ ७२ ॥

(उन्मृजानः) अपने को शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव (बृहत उदीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं- अर्थात वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि) उन बन्धुबांधवों के मध्यसे जा। (पितृणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य प्रसिद्ध है ॥ ७३ ॥

भावार्थ-मृतका शरीर अच्छी प्रकार जलाया जावे ॥ ७१॥ पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नरह का पानी प्रयुक्त किया जावे ॥ ७२ ॥ मृतात्मा यमलोकको पहुंचे और वहां वह आनन्दसे रहे ॥ ७३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

[४] आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।
अव्याड्ढव्येषितो हव्यवाहं ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥ १ ॥
देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥ २ ॥

अर्थ—(जातवेदसः) हे अग्नियो ! तुम (जनित्रीं आरोहत) अपनी उत्पन्न करनेवाली के पास पहुंचो। मैं (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं। (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्यों का वाहक अग्नि (हव्या=हव्यानि) हव्योंको (अव्याट्) वहन करता है। हे अग्नियो ! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें (धत्त) धारण करो अर्थात् वहां उसे ले जाओ ॥ १ ॥

(देवाः) देवगण तथा (ऋतवः) वसन्त आदि षट् ऋतुएं (यज्ञं) यज्ञ अर्थात् दैनिक, पाक्षिक, मासिक आदि नाना प्रकारके होम (कल्पयन्ति) रचते हैं- करते हैं। और इस यज्ञके करनेके लिये (हविः) यज्ञमें डालनेलायक पदार्थ घृत आदि, (पुरोडाशं) घृत आदिसे बनाए हुए पदार्थ, (स्रुचः) इन घृत आदि पदार्थोंको डालनेके लिए साधनभूत यज्ञके लिए उपयुक्त चमचेकी आकृति जैसे स्रुवे तथा अन्य (यज्ञायुधानि) यज्ञसंबन्धी हथियार बनाते हैं। (तेभिः देवयानैः पथिभिः) उन ऊपर दर्शाए गए यज्ञ करनेके देवयानमार्गोंसे हे मनुष्य ! तू (याहि) विचरण कर अर्थात् तूभी उनकी तरह नित्य प्रति यज्ञको यथाविधि कर। (यैः) जिन देवयानमार्गोंसे कि (ईजानाः) यज्ञ करनेवाले लोक (स्वर्गं लोकं यन्ति) स्वर्गलोक को जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— यज्ञ करनेवालों को अग्नि उत्तम कर्म करनेवालोंके लोकमें पहुंचाती है। अतः सुकृतोंके लोककी प्राप्तिके लिए यज्ञ करना जरूरी है ॥ १ ॥

देवगण ऋतुके अनुसार नानाविध यज्ञसामग्री तैयार करके यज्ञ करते हैं। उनका अनुकरण करनेवाले लोक स्वर्गको प्राप्त होते हैं अतः यथाविधि हररोज यज्ञ करना चाहिए जिससे कि स्वर्गलोक उपलब्ध हो सके ॥ २ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति ।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति
तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥
त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुहाम् ॥ ४ ॥
जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।

अर्थ-(ऋतस्य पन्थां) यज्ञके मार्गको (साधु) (अनुपश्य) अच्छी तरहसे जान। और (येन) जिस यज्ञ संबन्धी मार्गसे (सुकृतः अङ्गिरसः) उत्तम कर्म करनेवाले अङ्गिरस् जन (यन्ति) जाते हैं, (तेभिः पथिभिः) उन मार्गों से (स्वर्गं याहि) स्वर्ग को जा, (यत्र) जहां कि अर्थात् जिस स्वर्गमें कि (आदित्याः) अखण्डनीय सामर्थ्यवाले श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (मधु भक्षयन्ति) अमृत को खाते हैं अर्थात् आनन्द भोगते हैं। (तृतीये नाके) तीसरा जो स्वर्गलोक है उसमें जाकर (विश्रयस्व) विश्रान्ति ले-आराम कर ॥ ३ ॥

(सुपर्णाः त्रयः) तीन उत्तम गति करनेवाले अथवा उत्तमतया पालन करनेवाले तथा (उपरस्य) (मायू) मेघके संबन्धसे शब्द करनेवाले दो, ये सब (विष्टपि) अंतरिक्षमें (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्ग के ऊपर (अधि श्रिताः) स्थित हैं। (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्ग लोक (अमृतेन विष्ठाः) अमरतासे व्याप्त हैं अर्थात् वे मरणरहित हैं। ये सब (यजमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (इषं) अन्न तथा (ऊर्जं) बलको (दुहाम्) देवें ॥ ४ ॥

(जुहूः) जुहूने (द्यां दाधार) द्युलोकको धारण किया हुआ है। और (उपभृत्) उपभृत्ने (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको धारण कर रखा है। (ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं) ध्रुवाने आश्रयस्थान पृथिवीको (दाधार)

भावार्थ-शुभकर्म करनेसे उन्नति और आनन्द प्राप्त होता है ॥ ३ ॥
तीनों दैवी शक्तियां यज्ञकर्ताको अन्न, बल और आनन्द देती हैं ॥ ४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम् ॥ ५ ॥
ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः
प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥
तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरितिं यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥

धारण कर रखा है। (इमां प्रति) इस पृथिवीको ओर लक्ष्य करते हुए (घृतपृष्ठाः) चमकीली पीठोंवाले अर्थात् प्रकाशमान (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्गलोक (यजमानाय) यज्ञकर्ताके लिए (कामं कामं) प्रत्येक कामनाको (दुह्राम्) पूर्ण करें ॥ ५ ॥

(ध्रुवे) हे ध्रुवा ! (विश्वभोजसं पृथिवीं) सबको खिलानेवाली अर्थात् पालक पृथिवी पर (यजमानेन साकं) यजमान के साथ (आरोह) चढ स्थित हो। (उपभृत्) हे उपभृत ! तू यजमानके साथ (अंतरिक्षं आक्रमस्व) अंतरिक्ष में संचार कर। (जुहु) हे जुहू ! तू (यजमानेन साकं) यज्ञमानके साथ (द्यां गच्छ) द्युलोकको जा। हे यजमान ! इस प्रकार तू (अहृणीयमानः) निःसंकोच हुआ हुआ (वत्सेन स्रुवेण) बछडेरूपी स्रुवासे (सर्वाः) सब (प्रपीनाः) अच्छी तरह वृद्धिको प्राप्त हुई हुई (दिशः) दिशाओंको (धुक्ष्व) दो। अर्थात् यज्ञद्वारा अभिलषित पदार्थोंको प्राप्त कर ॥ ६ ॥

(यज्ञकृतः) यज्ञों के करनेवाले (सुकृतः) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (येन यन्ति) जिस मार्गसे विचरण करते हैं उस मार्ग पर चलनेसे (तीर्थैः) तरनेके साधन यज्ञादिद्वारा (प्रवतः महीः) बडी बडी आपत्तियों भी (तरन्ति) तर जाते हैं। (यत्) यदा (दिशः) दिशायें तथा (भूतानि) भूतोंको अर्थात् प्राणियों को (अकल्पयन्त) निर्माण करते हैं उस समय (यजमानाय) यजमान के लिए (लोकं अदधुः)स्थान देते हैं ॥७॥

भावार्थ- स्वर्गलोक यज्ञकर्ता की सर्व कामनायें पूर्ण करते हैं ॥ ५ ॥
यज्ञद्वारा यजमान सब जगह अव्याहत गति से जाता है। यज्ञद्वारा सर्व दिशाओंसे वांछित फल प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः।
महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥
पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशोदिशो अग्ने
परि पाहि घोरात् ॥ ९ ॥

अर्थ—(अङ्गिरसां) अङ्गिरसोंका (अयनं) मार्ग(पूर्वः अग्निः) पूर्वका अग्नि है। (आदित्यानां) आदित्यों का (अयनं) मार्ग (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि है। (दक्षिणानां) कार्यमें दक्षोंका (अयनं) मार्ग (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि है। (ब्रह्मणा) वेदमंत्रों द्वारा (विहितस्य) यज्ञमें स्थापित की गई अग्नि की (महिमानं) महिमाको, (समङ्गः) दृढ अंगोंवाला होकर, (सर्वः) सर्व अवयवों से युक्त हुआ हुआ अर्थात् पूर्ण शरीरवाला होकर, और इसी लिए (शग्मः) सुखी हुआ हुआ तू (उपयाहि) प्राप्त कर ॥ ८ ॥

(पूर्वः अग्निः) पूर्व की अग्नि (त्वा) तुझे (पुरस्तात) आगेसे (शं तपतु)सुखपूर्वक तपावे। (गार्हपत्यः)गार्हपत्य अग्नि (पश्चात्) पीछेसे (शं तपतु) तुझे सुखपूर्वक तपावे। (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि (ते) तेरे लिए (शर्म) सुखरूप हुई हुई व (वर्म) कवचरूप हुई हुई तुझे (तपतु) तपावे। (अग्ने) हे अग्नि ! तू हमें (उत्तरतः) उत्तर दिशासे (मध्यतः) दिशाओंके बीचसे (अन्तरिक्षात्) अंतरिक्षसे (दिशः दिशः) प्रत्येक दिशासे आनेवाले (घोरात्) क्रूर— हिंसकसे (परिपाहि) चारों ओरसे संरक्षण कर ॥ ९ ॥

भावार्थ-यज्ञ करनेवाले सुकृत् लोकमें जिस उत्तम मार्गसे जाते हैं उस मार्गपर चलते हुए यज्ञादिद्वारा बडी बडी विपत्तियां भी तरी जा सकती हैं। यज्ञ करनेवाले को सृष्टिनिर्माण के समय भी उत्तम लोक की प्राप्ती होती है। सारांश यह है कि यज्ञ करनेवाले को कभी भी कष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

देवोंके अयन अर्थात् मार्ग के अनुसार अपना आचरण करनेसे सुख प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति ॥ १० ॥ (२०)
शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ११ ॥

अर्थ- (अग्ने= अग्नयः) हे गार्हपत्यादि अग्नियो ! (यूयं) तुम (पृष्टिवाहः अश्वाः भूत्वा) पीठसे ले जानेवाले घोडों की तरह बनकर (शंतमाभिः तनूभिः) अपने सुखकारी शरीरोंसे (ईजानं) जिसने यज्ञ किया है ऐसे को (स्वर्गं लोकं अभि) स्वर्गलोककी ओर (वहाथ) ले जाओ। (यत्र) जहां स्वर्गमें यज्ञकर्ता जन (देवैः सधमादं) देवों के साथ आनन्द को (मदन्ति) भोगते हुए तृप्त होते हैं ॥ १० ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! तू (एनं) इस यज्ञकर्ताको (शं) सुखपूर्वक (पश्चात्) पीछेसे, (शं) सुखपूर्वक (पुरस्तात्) आगेसे (तप) तपा। (उत्तरात्) उत्तरसे (शं) सुखपूर्वक तपा और (अधरात्) नीचे की दिशासे (शं) सुखपूर्वक तपा। (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में रहनेवाले अग्नि ! तू (एकः) एक होता हुआ भी (त्रेधा) तीन प्रकारसे अर्थात् पूर्वाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि के रूपसे (विहितः) स्थापित किया जाता है। तू (एनं) इस यजमान को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ जनों के लोकमें (सम्यक्) अच्छी तरहसे (धेहि) स्थापित कर अर्थात् वहांपर इसे पहुंचा दे ॥ ११ ॥

भावार्थ— अग्निसे प्रार्थना की गई कि तू हमारी सब ओरसे रक्षा कर। सब घोर कर्मोंसे हमारा संरक्षण कर ॥ ९ ॥

यज्ञकर्ता को अग्नियाँ घोडों की तरह अपनी पीठपर बैठाकर स्वर्गमें ले जाती हैं जहां कि स्वर्ग में वे देवोंके साथ मिलकर आनन्द भोगते हैं। अतः स्वर्गप्राप्त्यर्थ यज्ञ करना परमावश्यक है ॥ १० ॥

अग्नि सब ओरसे सुखपूर्वक हमारा रक्षण करती है। वस्तुतः वह एकही है पर व्यवहार में उसकी तीन रूपों से स्थापना की जाती है। यज्ञकर्ता को वह स्वर्गमें पहुंचाती है ॥ ११ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥
यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥
ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।

अर्थ- (समिद्धाः) यथाविधि प्रकाशित की हुई (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थोंमें वर्तमान (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यं) प्रजापति देवतावाले (मेध्यं) पवित्र इस यजमानको (शं) सुखपूर्वक यज्ञके कार्यमें (आरभन्तां) उत्सुक बनावें। (इह) यहां पर यज्ञ कार्य में वे अग्नियां यजमान को (शृतं कृण्वन्तः) पक्व अर्थात् पूर्ण बनावें। उसे इस कार्यसे (मा) मत (अव चिक्षिपन्) गिरने देवें ॥ १२ ॥

(विततः यज्ञः) विस्तृत यज्ञ (कल्पमानः) समर्थ हुआ हुआ (ईजानं) यज्ञ किए हुए को (स्वर्गं लोकं) स्वर्गलोक को (अभिएति) पहुंचाता है। (तं) उस (सर्वहुतं) जिसने अपना सर्वस्व होम कर दिया है ऐसे यज्ञकर्ताको (अग्नयः) अग्नियां (जुषन्तां) संतुष्ट करें। शेष अर्थ ऊपरके मंत्र के समान है ॥ १३ ॥

(नाकस्य पृष्ठात्) स्वर्ग के ऊपरसे (दिवं उत्पतिष्यन्) ऊपको जानेकी इच्छा करता हुआ (ईजानः) यज्ञ किया हुआ पुरुष (चितं अग्निं) चयन की हुई अग्नि को (अरुक्षत्) प्रकट करता है प्रज्वलित करता है। (तस्मै सुकृते) उस उत्तम कर्म करनेवाले के लिए (नभसः) आकाशका

भावार्थ— यज्ञादि कार्यों में प्रज्वलित अग्नियां यजमानको उत्साहित करके पूर्ण मनोरथवाली बनाती हैं। वह अपने कार्य में सफल बनता है क्यों कि अग्नियां उसे कर्तव्यपथसे गिरने से बचा लेती हैं ॥ १२ ॥

विस्तृत रूपमें किया गया यज्ञ यजमानको स्वर्गलोकमें पहुंचाता है। अग्नियां उसे अभिमत फलप्रदानद्वारा संतुष्ट करती हैं व कर्तव्यपथसे गिरने नहीं देतीं ॥ १३ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥ १४ ॥
अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु ।
हुतोयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् ॥ १५ ॥
अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥

(ज्योतिषीमान्) प्रकाशवाला (देवयानः) देव जिससे जाते हैं ऐसा (स्वर्गः) सुखदायी (पन्थाः) मार्ग (प्रभाति) प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

(ते) तेरा (अग्निः होता) अग्नि होता अर्थात् स्वाहापूर्वक आहुति देनेवाला (अस्तु) होवे । (बृहस्पतिः) बडों बडों का पालक तेरा (अध्वर्युः) यज्ञ करानेवाला होवे । और (इन्द्रः) इन्द्र (ब्रह्मा) ब्रह्मा बनकर (ते दक्षिणतः अस्तु) तेरी दाहिनी ओरमें होवे । (अयं) यह (हुतः) आहुति दिया गया और (सं स्थितः) अच्छी तरह किया गया (यज्ञः) यज्ञ (एति) वहां जाता है (यत्र) जहां कि (पूर्वं) पहिले (हुतानां) आहुति दिए गए यज्ञोंका (अयनं) जाना होता है ॥ १५ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदि गेहूंके आटेसे व घीकी सहायतासे बनाए हुए पदार्थोंवाला तथा (क्षीरवान्) दूधवाला (चरुः) यज्ञके लिए तैयार किया गया पाक (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंके बनानेवालोंकी हम (यजामहे) उस उपरोक्त चरुद्वारा पूजा करते हैं- सत्कार करते हैं । (ये) जो कि लोककृत् व पथिकृत् तुम (इह) यहांपर यज्ञमें (देवानां) देवोंके बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) स्थित हो ॥ १६ ॥

भावार्थ— स्वर्गसे चुको जानेके लिए चयन की हुई अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए । और जो चयन की हुई वह्नि को प्रदीप्त करता है उसके लिए आकाशका सुखदायी देवयान मार्ग खुल जाता है ॥ १४ ॥

जिस यज्ञका अग्नि होता है, बृहस्पति अध्वर्यु है और इन्द्र ब्रह्मा है व यज्ञ अवश्य ही सफल होकर यथास्थान पहुंचता है व यजमान को

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥१७॥
अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ १८ ॥
अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १९ ॥
अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २० ॥ (२१)
अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २१ ॥

अर्थ-(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (दधिवान्) दहींमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १७ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (द्रप्सवान्) अन्य मुग्ध करनेवाले द्रव्योंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥१८॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (घृतवान्) घीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंके बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १९ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (मांसवान्) मांसवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २० ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (अन्नवान्) अन्न अर्थात् नाना तरहके धान्योंवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥२१॥

उचित फल प्रदान करवाता है ॥ १५ ॥

जो संसारके उद्धारक व मार्गदर्शक लोक हैं उनका यज्ञमें नाना प्रकारसे निर्माण किए हुए चरुसे सत्कार करना चाहिए ॥ १६ ॥

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२२॥
अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २३ ॥
अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥
अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूदक्याः प्रक्यास्तास्ते यमो राजानं मन्यताम् ॥ २६ ॥
अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥

अर्थ-(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त (मधुमान्) मधु अर्थात् शहद अथवा मीठे पदार्थोंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां (आ सीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २२ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त (रसवान्) अनेक मीठे मीठे विविध रसों से मिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २३ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदि से युक्त (अप-वान्) जलवाला अर्थात् शुद्ध जलसे बनाया हुआ (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २४ ॥

(देखो मंत्रार्थ १८।३।६८-६९ ये दो मंत्र पीछे आगये हैं) ॥२५—२६॥

(भूयसीम्) बहुत और (अक्षितिं) क्षयरहित अर्थात् बहुत कालपर्यन्त यम राजा अनुमति देवे ॥ २७ ॥

भावार्थ— यज्ञमें उत्तम अन्नादिपदार्थोंसे सब का सत्कार करना योग्य है ॥ १७—२४ ॥ २५—२६ ॥

हमें अक्षय अन्नादिक साधन प्राप्त हों ॥ २७ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥
शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुहते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥

अर्थ–(द्रप्सः) सबको हर्षित करनेवाला आदित्य (यः पूर्वः) जो कि सबसे पूर्वका है ऐसा (योनिं पृथिवीं अनु) चराचर जगत् की कारणभूत पृथिवीमें (च) और (इमं द्यां अनु) द्युलोकमें (चस्कन्द) विचरण करता रहता है, अथवा उसने इनको व्याप्त कर रखा है। (समानं योनिं अनु संचरन्तं) सबकी समान कारणभूत इस पृथिवीमें संचार करते हुए (द्रप्सं) हर्षप्रद आदित्यको (सप्त होत्राः अनु) सात होतागणोंद्वारा सब दिशाओंमें, (जुहोमि) हविप्रदान करता हूं ॥ २८ ॥

(ते) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखनेवाले अर्थात् मनुष्यों को जाननेवाले- मनुष्योंके स्वभाव आदिको ताडनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य (शतधारं) सैकडों धाराओंवाले अर्थात् जो अनेक प्रकारके दानों में पानी की तरह बहाया जाता है ऐसे अतएव (वायुं) गतिमान्, आज एकके पास दानमें आया है तो कल दूसरेके पास, इस प्रकारसे विचरण करते हुए, (अर्कं) पूजनीय (स्वर्विदं) सुखको प्राप्त करानेवाले (रयिं) धनको (अभिचक्षते) देखते हैं अर्थात् जानते हैं प्राप्त करते हैं। (ये) जो मनुष्य (सर्वदा) सदा उस धनसे (पृणन्ति) अपनेको पूर्ण करते रहते हैं (च) और (प्रयच्छन्ति) सर्वदा सुपात्रके लिए उस धनका दान करते रहते हैं (ते) वे मनुष्य (सप्तमातरं दक्षिणां) सप्तमातावाली दक्षिणा [दान] को (दुहते) दोहते हैं- प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ-आदित्य, द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें संचार करता हुआ दोनों में व्याप्त हो रहा है। ऐसे हर्षप्रद आदित्यके लिए सर्व दिशाओंमें होम करता हूं ॥ २८ ॥

जो धन कमाकर उसका सदुपयोगमें अर्थात् दानादिमें खर्च करते हैं वे दुनियामें प्रतिष्ठा लाभ कर इहलोक व परलोक दोनोंमें सुखी होते हैं ॥ २९ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ ३० ॥ (२२)
एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥
धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥

अर्थ-(स्वस्तये) कल्याणके लिए (चतुर्बिलं) चारस्तनरूपी छिद्र स्तन वाले (कोशं) मानो जो दूधका खजाना है ऐसे (कलशं) घडेसे बडे भारी ऊधवाली, (मधुमतीं) मीठे दूधवाली (इडां धेनुं) इडा नामवाली गायको (दुहन्ति) दोहते हैं। (अग्ने) हे अग्नि ! (जनेषु ऊर्जं मदन्ती) जन समाज में अपने दूधरूपी अन्नसे तृप्त करती हुई (अदितिं) मारनेके अयोग्य गायको (परमे व्योमन्) विश्वमें (मा हिंसीः) मत मार ! अथवा यह मंत्र भूमिके पक्षमें भी लग सकता है— कल्याणके लिए धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी चार स्तनोंवाली नानाविध द्रव्योंके खजानोंसे भरपूर मधुर अन्नादि देनेवाली (इडां धेनुं) भूमिरूपी गायको दोहते हैं ॥ ३० ॥

हे पुरुष ! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए (एतत् वासः) यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें (चर) विचरण कर ॥ ३१ ॥

यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) तृप्त करनेवाली गौ (अभवत्) बनता है। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा (तिलः) तिल (अभवत्) बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस धानों की बनी हुई गाय परही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ-अन्नादिसे जन-समाजकी तृप्ति करती हुई अखण्डनीय भूमिको हे अग्नि ! परम व्योममें मत नष्ट कर ॥ ३० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥
एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥

अर्थ-(असौ) हे अमुक नाम वाले पुरुष ! (एताः) ये गायें (ते) तेरे लिए (कामदुघाः) कामनाओंको पूर्ण करनेवालीं (भवन्तु) होवें । (एनीः) संध्या जैसे रंगवाली अर्थात् लाल रंगवालीं, (श्येनीः) सफेद, (सरूपाः) एकसे रूपवाली व (विरूपाः) विविध रूपवालीं तथा (तिलवत्साः) तिल है बछडा जिनका ऐसी गायें (अत्र) यहां जहां तेरा वास है वहां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप स्थित रहें वा तेरी सेवा करती रहें ॥ ३३ ॥

(अस्य ते) इस तेरे (हरिणीः धानाः) हरे रंगवाले धान (एनीः श्येनीः धेनवः) अरुण व सफेद गायें होवें । (कृष्णाः धानाः) काले धान (रोहिणीः धेनवः) लाल रंगकी गायें होवें । (तिलवत्साः) तिल जिनका बछडा है ऐसी ये गायें (अनपस्फुरन्तीः) कभी भी नष्ट न होतीं हुई (अस्मै) इसके लिए (विश्वाहा) सर्वदा (ऊर्ज दुहानाः संतु) बलदायक रस दूधको दोहती रहें ॥ ३४ ॥

भावार्थ-मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुंच गया है उसको वस्त्र देना चाहिये ॥ ३१ ॥

धान तथा तिल यम-राज्यमें जाकर धेनु स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

हे अमुक नामवाले पुरुष ! ये नाना रंगों व रूपोंवालीं गायें सर्वदा तेरे समीप बनी रहें व तेरी कामनाओंको पूर्ण करती रहें ॥ ३३ ॥

हरे रंगके कच्चे धान अरुण व श्वेत रंगकी गायें बनती हैं। और काले धान तिल आदि अथवा भूननेसे जो कुछ काले रंगके हो गए हैं ऐसे धान लाल गायें बनते हैं। ये सब गायें सदा अविनश्वर हुई हुई अपने सारभूत रस दूधको देती रहें ॥ ३४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् ।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥ ३५ ॥
सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥
इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत ।

अर्थ-(वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि) वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि (शतधारं साहस्रं उत्सं इव) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैंकडों व हजारों धाराओंवाली है। (सः) वह वैश्वानर अग्नि (पिन्वमानः) उस हविसे तृप्त हुई हुई (पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) पिताका, दादाओंका तथा परदादाओंका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

(शतधारं सहस्रधारं उत्सं) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैंकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो (सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं) अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, (ऊर्जं दुहानं) अन्न व बलको देनेवाले, (अनपस्फुरन्तं) कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको (पितरः) पितर (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (उपासते) सेवन करते हैं ॥ ३६ ॥

(इदं कसाम्बु) इस कसाम्बु को (चयनेन) चुनकर के (चितं) ढेर लगाया है— इकट्ठा किया है। (तत्) उसको (सजाताः) हे सजातीय बन्धुगण ! (एत) आओ और (अवपश्यत) ध्यानसे देखो। (अयं मर्त्यः) यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु चयन किया गया है

भावार्थ-अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिए वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं ॥ ३६ ॥

यह कसाम्बु का संचय किया गया है उसे हे बन्धुगणो ! आकर देखो। यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु- संचय किया गया है वह

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मर्त्योयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥ ३७ ॥
इहैवैधि धनसानिरिहाचित्त इहक्रतुः ।
इहौधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥
पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ ३९ ॥

वह (अमृतत्वं) अमरताको (एति) प्राप्त होता है। (तस्मै) उसके लिए (यावत् सबन्धु) जितने भी तुम सजातीय बन्धु हो, वे सब (गृहान् कुरुत) घरों को बनाओ अर्थात् उसे घर आदि द्वारा आश्रयप्रदान करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू (इह एव एधि) यहीं परही वृद्धि को प्राप्त कर। (इह) यहांपर (चित्तः) ज्ञानवान् हुआ हुआ व (इह) यहांपर (क्रतुः) कर्मशील हुआ हुआ व (धनसनिः) हमें धन देनेवाला हो। (इह) यहां परही (वीर्यवत्तरः) अति बलवान् हुआ हुआ और अतएव (अपराहतः) शत्रुओंसे अपराजित हुआ हुआ (वयोधाः) अन्नका धारण करनेवाला व अन्नसे दूसरोंका पोषण करता हुआ अथवा दीर्घायुवाला होकर (एधि) बढ ॥ ३८ ॥

(पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः) पुत्रपौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए (इमाः मधुमतीः आपः) ये मधुर जल हैं। (पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः) पितरोंके लिऐ स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए (देवीः आपः) ये दिव्य जल (उभयान्) दोनों पुत्रपौत्रोंको (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥ ३९ ॥

अमृत को प्राप्त होवे। उसे तुम सब आश्रय देकर सुखी करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू ज्ञानी व कर्मकुशल होकर हमें धन-प्रदान करता हुआ संसार-वृद्धिको प्राप्त कर। बलवान् हुआ हुआ किसीसे की पराजित न होकर जनसमाज की अन्नादिसे पुष्टि करके दीर्घायु होकर वृद्धिका लाभ कर ॥ ३८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् ।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छान् ॥ ४० ॥ (२३)
समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥

अर्थ—(आपः) हे आप ! तुम (अग्निं पितॄन् उपप्राहिणुत) अग्निको पितरोंके पास भेजो। (मे पितरः) मेरे पितृगण (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञका सेवन करें। (ये) जो पितर (आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका सेवन करते हैं (ते) वे पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को (नियच्छान्) निरन्तर देते रहें ॥ ४० ॥

(अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्यों का वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानों की तरह [यहां लुप्तोपमा है] (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरों को (वेद) जानती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—ये मधुर जल पुत्रपौत्रोंको तृप्त करते हुए पितरोंके लिए स्वधा व अमृत को दोहते हुए दोनों पुत्रपौत्र व पितरों को तृप्त करें ॥ ३९ ॥

जल अग्निको पितरोंके पास ले जाएं जिससे कि अग्निमें होमा हुआ हवि पितरोंको पहुंच सके ॥ ४० ॥

छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं [चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों] उन्हें अग्नि जानती है। अतः वह पितरों को हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकती है ॥ ४१ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ४२ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूदभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ४३ ॥
इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ ४४ ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

अर्थ— (ते) तेरे लिए (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे—विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदि को और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिए (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवे ॥ ४२ ॥

(देखो मंत्र १८ । ३ । ६९ और १८ । ४ । २६) ॥ ४३ ॥

(इदं) यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) आज की (नियानं) बैलगाडी है। (येन) जिस पुरानी बैलगाडी से (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहां से गए हैं। (अस्य) इस आज की बैलगाडी के (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, [जैसा कि बैलगाडी में बैल दोनों ओर पार्श्वों में जुते हुए, होते हैं] (पुरोगवाः) अगले भागमें अर्थात् धुरा में जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतों के लोकमें (वहन्ति) प्राप्त करावें ॥ ४४ ॥

(देवयन्तः) देव होने की कामना करते हुए मनुष्य (सरस्वतीं) सरस्वतीको (हवन्ते) बुलाते हैं। (तायमाने) विस्तृत (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञादि कार्य में बुलाते हैं। (सुकृतः) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं। (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) दानी पुरुषके लिए) (वार्यं) वरणीय अभिलषित पदार्थ (दात्) देती है॥४५॥

भावार्थ- चावल और मीठा दान करना योग्य है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥
प्रेतको स्मशान में बैलगाडीसे ले जाना योग्य है ॥ ४४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ४६ ॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्धमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥
पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥ ४८ ॥

अर्थ- (दक्षिणा) दक्षिण दिशासे आकर (यज्ञं अभि नक्षमाणाः पितरः) यज्ञको सब ओर से प्राप्त करते हुए जो पितर (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं। वे तुम (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर (मादयध्वं) आनन्दित होओ। (अस्मे) हमें (अनमीवाः इषः) रोग-रहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसीभी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको हे सरस्वती ! तू (आधेहि) दे ॥ ४६ ॥

(सरस्वति देवि) हे सरस्वती देवी ! (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है। वह हे सरस्वती ! तू (अत्र) इस यज्ञमें (यजमानाय) यजमानके लिए (सहस्रार्धं इडः भागं) हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और (रायस्पोषं) धनकी पुष्टि को (धेहि) दे ॥ ४७ ॥

(पृथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेशयामि) मिट्टी से बने हुए हे मृत पुरुष ! तुझको मिट्टीमें मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवीमें गाडता हूं। (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयु को बढावे। हे (परापरैताः) प्रकृष्टतया हम से दूर चले गए पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) वास करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रय-दाता हो। (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरोंमें अच्छीतर होवें अर्थात् पितरोंमें जा मिलें ॥ ४८ ॥

भावार्थ- देवत्व की कामना करनेवाले सरस्वती को बुलाते हैं। यज्ञादि हिंसारहित कार्योंमें सरस्वतीको बुलाया जाता है। श्रेष्ठ जन सरस्वती को बुलाते हैं क्यों कि सरस्वती दानीको वांच्छित फल प्रदान करती है ॥४५॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आ प्रच्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः ।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४९ ॥
एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उप संपराणयादिमान् ॥ ५० ॥ (२४)

अर्थ-हे प्रेतवाहक बैलो ! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ। (तत्) उस वक्ष्यमाण (जो आगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ। उस निन्दारूप वाक्यको जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है, कहते हैं- (अभिभाः) दोष देनेवाले पुरुषोंने (वां) तुम दोनोंको ' पुंगवौ किल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊढवन्तौ ' इत्यादि निन्दारूप, (यत् ऊचुः) जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ। (अघ्न्यौ) हे हिंसा करनेके अयोग्य बैलो ! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणभूत गाडीसे (एतं) जो छूट आता है (तत) वह (वशीयः) श्रेष्ठ होवे। और तब (इह) इस पितृमेध में (पितृषु दातुः मम) पितरोंका उद्देश्य करके अग्निको देते हुए वा हविको देते हुए मेरे (भोजनौ) पालना करनेवाले होओ ॥ ४९ ॥

(सुदुघा) उत्तमतया कामनाओं को पूर्ण करनेवाली (वयोधाः) अन्नको देनेवाली (अनेन दत्ता) इससे दी हुई (इयं दक्षिणा) यह दक्षिणा (भद्रतः नः आ अगन्) कल्याणकारी स्थानसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। (यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव) जिस प्रकार युवावस्थाके चले जाने पर जीवों को वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा (इमान्) इन जीवों को (पितृभ्यः) पितरोंके लिए भली प्रकार (उप संपराणयात्) प्राप्त करावे अर्थात पितरोंके पास उत्तम रीति से पहोंचावे ॥ ५० ॥

भावार्थ-पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं ॥ ४६ ॥

सरस्वती पितरोंके साथ समान रथपर चढती, स्वधा खाती व यज्ञमें आती है ॥ ४७ ॥

[पूर्वार्ध में मृत देहके गाडने का निर्देश है।] यह मानव देह पार्थिव तत्त्वोंके आधिक्यसे बना हुआ है, अतएव यहांपर मृतदेहको पृथि-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥ ५१ ॥
एदं बर्हिरसदो मेध्योभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।
यथापरु तन्वै सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ ५२ ॥
पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।

अर्थ- (इदं बर्हिः पितृभ्यः प्रभरामि) यह कुशासन पितरों के लिए रखता हूं, बिछाता हूं, (देवेभ्यः जीवं उत्तरं स्तृणामि) देवोंके लिए जीवको उससे ऊंचा बिछाता हूं। (पुरुष) हे पुरुष ! (मेध्यः भवन) पवित्र होता हुआ तू (तत् आरोह) उस पर बैठ। (परेतं त्वां पितरः प्रति जानन्तु) परेत अर्थात् परे गए हुए वा उच्चासन को प्राप्त हुए हुए तुझे पितर जानें॥५१॥

हे पुरुष ! (इदं बर्हिः असदः) इस कुशासन पर तू बैठा है। (मेध्यः भूः) पवित्र हुआ है। (पितरः परेतं त्वां जानन्तु) पितर परेत हुए हुए तुझको जानें। (यथा परु तन्वं संभरस्व) जोडोंके अनुसार शरीरको भर; अर्थात् जहां जोड चाहिये वहां जोड बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर। मैं (ते गात्राणि) तेरे अंगोंको (ब्रह्मणा) ब्रह्मद्वारा (कल्पयामि) समर्थ बनाता हूं यानि तेरे शरीरमें ब्रह्मद्वारा शक्ति देता हूं ॥ ५२ ॥

(पर्णः राजा) पालक राजा (चरूणां) चरुओंको ढक्कन है। (ऊर्जः) अन्न, (बलं) बल, (सहः) शत्रु का नाश करनेका सामर्थ्य, (ओजः) तेज ये सब (नः) हमें उस पर्ण राजासे (आ अगन्) प्राप्त

वी (बिट्टी) के नामसे पुकारा गया है ॥ ४८ ॥

स्मशानमें जाकर बैलगाडी छोडकर बैलोंका स्वाध्यविचार करना उचित है ॥ ४९ ॥

दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यं भाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवालेको पितरोंकी प्राप्ति भी अवश्यं भाविनी है ॥ ५०॥

मनुष्य पवित्र बने और उन्नति प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

शरीरके प्रत्येक अवयवकी शुद्धि कराके उसको सुदृढ बनाना चाहिये ॥ ५२ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥
ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ५४ ॥
यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः ।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥
इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा ।
स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

होवें। (शतशारदाय दीर्घयुत्वाय) सौ वर्ष जितनी दीर्घायु के (जीवेभ्यः) लिए जीवितों के लिए (आयुः विदधत्) आयु करे अर्थात् १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

(यः) जिस (ऊर्जः भागः) अन्नके विभाग करनेवालेने (इमं) इस अन्नको (जजान) पैदा किया है और जो (अश्मा) अश्मा होनेसे (अन्नानां आधिपत्यं) अन्नों के स्वामित्वको (जगाम) प्राप्त हुआ है ऐसे (तं) उसकी हे सबके मित्रो ! (हविर्भिः) हवियोंद्वारा (अर्चत) पूजा करो। (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धात्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांच मानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें ॥ ५५ ॥

हे मरणासन्न पुरुष ! (इदं हिरण्यं बिभृहि) इस सोने को धारण कर, (यत्) जिस सोनेको कि (पुरा) पहिले (ते पिता अबिभः) तेरे पिताने धारण किया था। इस प्रकार हे मनुष्य ! (स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि) स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर ॥ ५६ ॥

भावार्थ— पर्णराजा चरुओं का ढक्कन है। वह हमें अन्न, बल, तेज आदि देता है। वह हम जीवोंको १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥
यम दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ये च जीवा ये च मृताः ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥
वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कलशां अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥५८॥
त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि पञ्छुक्र आततः ।

अर्थ-(ये च जीवाः) जो जीवित हैं और (ये च मृताः) जो मर गए हैं, ये (जाताः) और जो उत्पन्न हुए हैं, (ये च यज्ञियाः) और जो कि पूजनीय, संगति करने योग्य हैं (तेभ्यः) उन उपरोक्तों के लिए (मधुधारा) मधुरधारावाली (व्युन्दती) उमडती हुई (घृतस्य) घी वा जल की (कुल्या) छोटी नदी (एतु) प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

(विचक्षणः) विशेषतया देखनेवाला (वृषा) अभिमत कामनाओं का वर्षक (मतीनां पवते) मतियोंका पवित्र करनेवाला है । (सूरः) सूर्य (अह्नां) दिनरातका, (उषसां) उषाओंका तथा (दिवः) द्युलोक का (प्रतरीता) बढानेवाला है ।(सिन्धूनां प्राणः) नदियोंका प्राण (कलशान्) घडोंको जलधाराओं से (अचिक्रदन्) गुंजाता है । (मनीषया) मनकी इच्छानुसार (इन्द्रस्य) इन्द्रके (हार्दिं) हृदयमें (आविशन्) प्रवेश करता है ॥ ५८ ॥

(पावक) हे पवित्र करनेवाली अग्नि ! (ते) तेरा (शुक्रः) शुद्ध (आततः) सब तरफ फैला हुआ (त्वेषः) प्रकाश (दिवि) द्युलोकमें

भावार्थ- जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे । पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं ॥ ५५ ॥

मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथ में सोनेकी अंगूठी पहनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

जीवित, मृत, उत्पन्न तथा अन्य पूजनीयों को मधुरधारावाली बहती हुई छोटीसी जल वा घी की नदी प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें ज्ञान, बल, तेज, मनन शक्ति, प्राण ये सब शक्तियां बढें ॥ ५८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥
प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥ (२५)

(धूमः) धुंए की तरह (ऊर्णोतु) सबको ढकले । (द्युता) अपने प्रकाशसे (सूरः न) सूर्य की तरह (त्वं) तू (कृपा) कृपा करके (रोचसे) दीप्त होता है ॥ ५९ ॥

(इन्दुः) ऐश्वर्य देनेवाला सोम (इन्द्रस्य निष्कृतिं) इन्द्र अर्थात् यज्ञ करनेवाला ऐश्वर्यशाली पुरुष निष्कृतिको (प्र एति) अच्छी तरहसे प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र सोम को अच्छी तरहसे निचोडता है। जैसे कि (सखा) मित्र (सख्युः) मित्रकी (संगिरः) उत्तम वाणियोंको) न प्रमिनाति) नहीं तोडता अर्थात् अवश्य ही उसके वचनानुसार काम करता है उसी प्रकार इन्द्रभी अवश्य ही सोम का रस निचोडता है। और इस प्रकार सोम रस निचोडने पर (मर्यः योषाः इव) जिस प्रकार पुरुष स्त्रीसे संगत होता है उसी प्रकार (सोमः) सोम तू (कलशे) सोम निचोडनेके पात्र-घडेमें (शतयामना पथा) सैकडों प्रकारकी गतिवाले मार्गसे अर्थात् निचोडने पर कई धाराओंसे (सं अर्षसे) अच्छी प्रकारसे आता है ॥ ६० ॥

भावार्थ-हे अग्नि ! तेरा तेज सर्वत्र इस प्रकारसे फैलकर सबको ढकले जिस प्रकार कि धूंआ सबको ढक लेता है। जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाशसे चमकता है उसी प्रकारसे तू भी हमारे पर कृपा करती हुई चमकती रह। (ऋ. ६।२।६) ॥ ५९ ॥

इन्द्र सोमको निचोडनेके कार्यको नहीं टालता जैसे कि मित्र मित्रकी वाणीको नहीं टालता। सोम निचोडा जानेपर कई धाराओंमें घडेमें इस प्रकारसे आकर प्राप्त होता है, जिस प्रकारसे कि पुरुष स्त्री को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥
आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः ।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥
परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥ ६३ ॥

अर्थ- (स्वभानवः) स्वयं प्रकाशमान, (विप्राः) मेधावी पितर (अक्षन्) यज्ञमें दी गई हवियोंको खाते हैं। (अमीमदन्त) खाकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं और (हि) निश्चयसे (प्रियान्) अपने प्रियजनोंको (अव अधूषत) कान्तिमान् बनाते हैं। उनकी (अस्तोषत) प्रशंसा करते हैं। (यविष्ठाः) अत्यन्त युवा अर्थात् सामर्थ्यशाली हम (ईमहे) उन पितरोंसे यज्ञादिमें आनेके लिए प्रार्थना करते हैं ॥ ६१ ॥

(सोम्यासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरो! (गंभीरैः) गंभीर (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गों से (आ यात) आओ। (अस्मभ्यं आयुः, प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो। (पोषैः) अन्य पुष्टियोंसे (नः) (हमें अभिसचध्वं) चारों ओर से युक्त करो ॥६२॥

(सोम्यासः पितरः) हे सोम संपादक पितरो! (गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः) गंभीर पूर्याण मार्गोंद्वारा (परायात) वापस चले जाओ। जहांसे आए थे वहां पर लौट जाओ। (अथ पुनः) और फिर (सुप्रजसः सुवीराः) हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो! (मासि) मासके अन्तमें यानि महीनेके बाद (नः गृहान्) हमारे घरोंमें (हविः अत्तुं) हविके खाने के लिए (आयात) आओ ॥ ६३ ॥

भावार्थ— पितरोंको यज्ञमें बुलाना चाहिए व हवि देकर तृप्त करना चाहिए। ऐसा करनेसे यजमान की कीर्ति बढती है ॥ ६१ ॥

पितरो! गंभीर जो पितृयाण मार्ग हैं उनसे बुलानेपर हमारे यज्ञमें आओ व हमें संतति, सम्पत्ति आदि देकर पुष्ट करो। ॥ ६२ ॥

प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ॥ ६३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः ।
तद् व एतत् पुनरा प्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥ ६४ ॥
अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ६५ ॥
असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः ।
अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

अर्थ- हे पितरो! (वः यत् एकं अङ्गं) तुम्हारे जिस एक अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्ययायामि) पूर्ण करता हूं। (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गों से युक्त हुए हुए पितरो! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्ग में आनन्दित होओ ॥६४॥

(सायं न्यह्ने) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरों से वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत) भेजा हुआ दूत है। क्यों कि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिस से कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बना कर भेजा है, (स्वधया अक्षन्) स्वधा के साथ हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें। (त्वं आद्धि) तू भी उन हवियोंको खा ॥६५॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुलस्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार (एनं) इस प्रेत को (अभि ऊर्णुहि) भली प्रकार ढांप ॥६६॥

भावार्थ- अग्नि मरने के अनन्तर पितरों को पितृलोक में ले जाती हुई उन के शरीरके किसी अवयवको यहांपर छोड जाती है ॥ ६४ ॥

जिस अग्नि की सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्नि को पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिए अग्नि माध्यम है ॥ ६५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः। पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥
येऽ३स्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ६९ ॥

अर्थ- (पितृषदनाः लोकाः शुभन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुभन्तां) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं ॥ ६७ ॥

(ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं (तेषां) उनका (बर्हिः) आसन (असि) है ॥ ६८ ॥

(वरुण) हे वरणीय श्रेष्ठ! तेरे (उत्तमं) उत्तम (पाशं) पाशको (अस्मत्) हमसे (उत् श्रथाय) ऊपर से खोल दे। (अधमं) और जो तेरा अधम पाश है उसको (अव श्रथाय) नीचेकी ओरसे खोल दे। (मध्यमं) और जो तेरा मध्यम पाश है उसको (विश्रथाय) विविध रीतिसे खोल दे। (अथ) इस प्रकार तेरे तीनों प्रकारके पाशोंसे विमुक्त होनेके बाद (अनागसः) पापरहित हुए हुए (वयं) हम (आदित्य) हे अखण्डनीय शक्तिवाले! (ते) तेरे (व्रते) व्रत अर्थात् नियममें (अदितये) अदीनताके लिए अर्थात् समृद्ध हुए हुए (स्याम) होवें ॥ ६९ ॥

भावार्थ-प्रेतके जमीन में गाढने का भी एक विधि है। भूमि प्रेतको ढांपे ॥ ६६ ॥

कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है ॥ ६७ ॥

यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए ॥ ६८ ॥

हे वरुण! तू तेरे दुष्टोंको बांधनेवाले तीनों प्रकारके उत्तम, मध्यम व अधम पाशोंसे हमें मुक्त कर। हम पापरहित हुए तेरे नियमों में रहते हुए शक्तिशाली होकर नाना प्रकारकी समृद्धि का लाभ करें ॥ ६९ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे ।
अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ ७० ॥ (२६)

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥
सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥
पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥
यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥
एतत् ते प्रतामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

अर्थ-(वरुण) वरुण राजन्। (अस्मत्) हम से (सर्वान् पाशान्) तेरे सर्व पाशों-फन्दों-को (प्रमुञ्च) अच्छी तरह से खोल दे। (यैः) जिन फन्दोंसे कि (सं+आमे) समाम में और (यैः) जिन से कि (वि+आमे) व्याम में (बध्यते) प्राणी बांधा जाता है। (अध) तेरे उपरोक्त पाशों से छूट कर हम (राजन्) हे वरुण राजन्! (त्वया गुपिताः) तेरे से रक्षा किए गए अत एव (रक्षमाणाः) दूसरों की रक्षा करते हुए हम (शतानि शरदं) सैकडों बरस (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्य का वहन करनेवाली अग्नि के लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७१ ॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७३ ॥

(पितृमते) उत्तमपितावाले (यमाय) यमके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७४ ॥

हे (प्रतामह!) प्रपितामह! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे। (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ॥ ७५ ॥

भावार्थ-हे वरुण राजन्! तू अपने उन फन्दोंसे हमें मुक्त कर जिन से कि विविध रोग मनुष्य पर आक्रमण करते हैं। तेरी रक्षासे रक्षित हुए हुए सैंकडों बरस जीवें ॥ ७० ॥

यम और पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७१-७४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥
एतत् ते तत स्वधा ॥ ७७ ॥
स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥
स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥
स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥
नमो वः पितरः ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ ८१ ॥
नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥ ८२ ॥
नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ ८३ ॥

अर्थ-(ततामह) हे पितामह ! (ते एतत् स्वधा) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (हवि) स्वधा होवे । (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ॥ ७६ ॥

हे (तत) पिता ! (ते एतत् स्वधा) तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे ॥७७॥

(पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो ॥ ७८ ॥

(अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो ॥ ७९ ॥

(दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो ॥ ८० ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः ऊर्जे नमः) तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है । (पितरः) हे पितरो ! (वः रसाय नमः) तुम्हारे रस-अन्नरस (दुग्ध आदि) के लिए नमस्कार है ॥ ८१ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (भामाय) क्रोधके लिए (नमः) नमस्कार हो । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (मन्यवे) मन्युके लिए (नमः) नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत घोरं) जो घोर कर्म हैं (तस्मै) उनके लिए (नमः) नमस्कार है । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत क्रूरं) जो क्रूर कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है॥८३॥

भावार्थ- पितरोंके लिए अन्न देना योग्य है ॥ ७५—८० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ ८४ ॥
नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ ८५ ॥
येत्र पितरः पितरो येत्र यूयं स्थ युष्माँस्तेनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ॥ ८६ ॥
य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः ।
अस्माँस्तेनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥
आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
यद् घ सा ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि । इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥८८॥

अर्थ-(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो (शिवं) कल्याणमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥ ८४ ॥

हे (पितरः) पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (स्वधा) स्वधा होवे ॥ ८५ ॥

(ये पितरः अत्र) ये अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण (अत्र स्थ) यहां पर हो, (ते) वे अन्य पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल होवें और (यूयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उनमें श्रेष्ठ होवो ॥ ८६ ॥

(ये) जो (पितरः) पितृगण (इह) यहां हैं, उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहां (जीवाः स्मः) जीवित हैं। (ते पितरः अस्मात् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उन में श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें ॥ ८७ ॥

(देव) हे प्रकाशमान (अग्ने) अग्नि ! हम (द्युमन्तं) चमकती हुई (अजरं) जरारहित (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं। (यत् ते) जिस तेरी (सा) वह (पनीयसी) अत्यन्त प्रशंसनीय (समित्) दीप्ति-चमक (प्रकाश) (द्यवि) अंतरिक्ष में अथवा सूर्यमें (दीदयति)

भावार्थ-पितरोंसे शक्ति प्राप्त करके मनुष्य श्रेष्ठ बने ॥ ८१—८७ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि ।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥८९॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।
इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥ १८ ॥

प्रकाशित हो रही है। अर्थात् तू ही सूर्य रूप से प्रकाशित हो रही है। ऐसी हे अग्नि ! तू (स्तोतृभ्यः) तेरी स्तुति करनेवालों के लिए (इषं) अन्न वा इष्ट फलको (आ भर) दे। (ऋ० ५।६।४)॥ ८८ ॥

(सुपर्णः) सुन्दर चालवाला अथवा सुन्दर रश्मियोंवाला (चन्द्रमाः) चन्द्र (अप्सु अन्तः) जलोंके अन्दर रहता हुआ (दिवि) अंतरिक्ष में (धावते) दौडता रहता है। (रोदसी) हे द्यावापृथिवी ! (वः) तुम्हारी (पदं) स्थितिको (हिरण्यनेमयः) सोने जैसी चमकीले प्रान्तभाग—सीमावालीं (विद्युतः) बिजलियां अथवा प्रकाशमान प्रदार्थ (न विन्दन्ति) नहीं प्राप्त करते। अर्थात् तुम इतनी लंबी चौडी हो की कोई भी प्रकाशमान पदार्थ घूम घूम करके भी तुम्हारे अंतका पता नहीं कर सकता। (मे) मेरी (अस्य) इस उपरोक्त स्तुति को (वित्तं) तुम दोनों जानो ॥ ८९ ॥

भावार्थ- हम सदा प्रकाशमान अजर अग्नि को प्रकाशित करते रहें। उसी की ज्योति द्युलोकको व सूर्यादिको प्रकाशित कर रही है। वह स्तुति करनेवालोंको अन्नादि इष्ट पदार्थोंका प्रदान करती है ॥ ८८ ॥

सुन्दर गतिवाला चन्द्रमा जो कि जलोंके आवरणके बीचमें रहता हुआ द्युलोकमें बराबर दौड रहा है वह तथा अन्य अत्यन्त चमकनेवाले पदार्थ जो इस द्यावापृथिवी के बीचमें रातदिन बराबर समान गतिसे दौड रहे हैं, वे इस द्यावापृथिवी की स्थितिको अर्थात् आदि व अन्तको नहीं पाते। (ऋ० १।१०५।१)॥ ८९ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।
इति अष्टादश काण्ड समाप्त।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अष्टादश काण्डका मनन।

(१) पितर।

वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक बडा भारी विवादास्पद विषय है और इसीलिए बडे महत्त्वका होता हुआ विशेष विचारणीय है। वेद ही के हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा उसीकी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होनेसे इस संबन्धमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है। हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे कदापि नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहिले कहां जाता है और कब फिर जन्म लेता है। वर्तमान समयके लोक जो यम व पितर संबन्धी कल्पना मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं उसका मूल क्या है? क्या पुराणोंकी ही यह कपोलकल्पना है वा वेदोंमें भी इसका कुछ मूल पाया जाता है? मरनेके बाद जीव कहां जाता है, किस रूपमें रहता है, कबतक विना पुनर्जन्म लिए रहता है, मरनेके बाद मृतककी जीवात्माका उसके सांसारिक संबन्धियोंसे कोई संबन्ध रहता है वा नहीं, यदि रहता है तो किस रूपमें, इस मृतके लिए जीवितोंको कुछ करना चाहिए वा नहीं, यदि करना चाहिए तो किस रूपमें, यम क्या है, कहां रहता है, मृत पितरोंसे उसका क्या संबन्ध है, यम के दूत कहा हैं, यम कहांका राजा है इत्यादि इत्यादि अनेक महत्त्वके प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं। क्यों कि मरनेके बादका वृत्तान्त जानना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है, अतः हम इन उपरोक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके संबन्धमें वैदिक विचार जाननेकी कोशिश करेंगे।

पितृलोक।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे। जिन जिन वेदमंत्रों में पितृलोक के संबन्ध में निर्देश या वर्णन होगा उन सब मंत्रों का उल्लेख किया जायगा, जिससे कि पितृलोक संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे। निम्न मंत्रमें सिर्फ पितृलोकका निर्देश मिलता है।

शुभन्तां लोकाः पितृषदनाः।
पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि॥
अथर्व. १८।४।६७॥

शुन्धतां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥
यजुः ५।२६॥ तथा ॥६।१॥

अर्थ- (पितृषदनाः लोकाः) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुभन्तां) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं।

इस मंत्रसे पता चलता है कि कई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है।

एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीदयन्ते।
अभिप्रेहि मध्यतो मापहास्थाः पितृणां लोकं
प्रथमो यो अत्र॥ अथर्व. १८।३।७३॥

अर्थ- (उन्मृजानः) अपने को शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव (बृहत् उदीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं- अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि) उन बन्धुबांधवों के मध्यसे जा। (पितृणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोक का दिर्देश हमें वेदमें मिलता है। अब हमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं-

१ पितृलोक—'पृथिवी'।

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः॥
अथर्व० १८।४।७८॥

अर्थ— (पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

पृथिवीस्थ पितरों के लिए स्वधा का वर्णन यहांपर है। पूर्वोक्त बहुतसे पितृलोकोंमेंसे एक पृथिवी लोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है।

२ पितृलोक--'अंतरिक्ष'।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः॥
अथर्व १८।४।७९॥

अर्थ- (अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्र में अंतरिक्ष में बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति॥ अथर्व. १८।३।५९॥

अर्थ- (ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह-दादा (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असु नीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको (यथावशं) कामनाके अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करता है।

इस मंत्रमें पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। यद्यपि इस मंत्रके उत्तरार्धमें भी एक विशेष महत्वपूर्ण बात कही गई है पर उसका यहांपर विशेष मतलब नहीं है। उसपर अन्यत्र विचार करेंगे।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्ते। तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः॥ अथर्व. १८।३।८

अर्थ- (उत् तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) जा, (प्रद्रव) दौड। (सधस्थे) जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे (सलिले) अंतरिक्षमें (ओकः) घर (कृणुष्व) बना। (तत्र) वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरों के साथ मिला हुआ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनन्दित हो और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनन्दित हो।

इस मंत्र में स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोक में किसी के भेजे जाने का और वहां स्थित पितरों के साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होने का निर्देश है। अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है।

उपरोक्त सब मंत्रों में हम यह स्पष्ट रूपसे पाते हैं कि पितर अन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरों के लोकों में से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं।

३ पितृलोक—'द्यु'।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः॥ अथर्व० १८।४।८०

अर्थ— (दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोक में बैठनेवाले पितरों के लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि द्युलोक में बैठते हैं, और वहां बैठकर स्वधा लेते हैं।

आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद् यवमत् सुवीर्यम्। यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः॥
ऋ० ९। ६९। ८॥

अर्थ-हे सोम! तू (वः) हमें (वसुमत्) वसुयुक्त (हिरण्यवत्) सोनाचांदीवाले (अश्वावत्) घोडोंवाले, (गोमत्) गौओंवाले, (यवमत्) यवादि धान्यवाले, (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम को (आपवस्व) प्राप्त कर। अर्थात् हम में ऐसा सामर्थ्य दे कि हम ये सब उपरोक्त वस्तुओं को अपने पराक्रम से प्राप्त करें। हम को ऐसा पराक्रम दे। हे सोम! (यूयं वयस्कृतः मम पितरः) तुम जीवन

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

देनेवाले मेरे पितर (दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः) द्युलोक के समान ऊंचे उठे हुए (स्थन) हो ॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रों ने हमें दर्शाया कि द्युलोक में भी पितर रहते हैं। द्युलोक में पितर कहां रहते हैं यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥
अथर्व० १८। २। ४८॥

अर्थ- (अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की द्यौ 'द्युलोक' वह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोक में बादल रहते हैं वह सब से नीचेका द्युलोक है। (पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है। (ह) निश्चय से (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नामका द्युलोक है (यस्यां) जिसमें कि (पितरः आसते) पितर स्थित होते हैं।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि द्युलोक तीन प्रकारका है। एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोकों में से सबसे नीचा है और उसमें मेघमण्डल स्थित है। दूसरा इस से उपर है और उस में पीलु अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं। यह बीचका द्युलोक है। तिसरा इस से ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं। अबतक के सब मंत्रों के देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अंतरिक्ष लोक में आते हैं और वहांसे चलकर सब से अंतमें इस द्युलोक में निवास करते हैं। यह द्युलोक ग्रह नक्षत्रादि के निवासक इससे भी परे है ऐसा इस मंत्र से पता चलता है; अतः इस के आधारपर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यह पितरों का निवासक द्युलोक सूर्यलोक से परे है। इसी मंत्र के भाव को निम्न ऋग्वेदकी ऋचा पुष्ट करती है।—

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट्। आर्णि न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥
ऋ० १। ३५। ६ ॥

अर्थ- (तिस्रो द्यावः) तीन द्युलोक हैं। (द्वा) उनमें से दो (सवितुः) सूर्य के (उपस्थां) समीप हैं। (एका) और एक (यमस्य भुवने) यमके लोक में स्थित है जो कि (विराषाट्) विरा-षाट् है अर्थात् जिसमें वीर लोक आकर स्थित होते हैं। (रथ्यं आर्णि न) जैसे रथ आणिपर आश्रित होकर स्थित होता है उसी प्रकार (अमृता=अमृतानि) ये सब अमृत ग्रह नक्षत्रादि (अधितस्थुः) जिसके आश्रयमें स्थित हुए हुए हैं। (यः) जो कोई (तत्) इन उपरोक्त तत्त्वोंको (चिकेतत्) भली प्रकार जानता है, वह (इह) यहांपर हमें (ब्रवीतु) उन तत्त्वोंका विवेचन करे। 'आणि' नाम उस कीलका है, जोकि अक्षके किनारेपर छेद करके पहिए को बाहिर निकल जानेसे रोकनेके लिए लगाई जाती है।

इस मंत्र से हमें इतना और पता चलता है कि पूर्व मंत्रमें निर्दिष्ट तीसरा द्युलोक कि जिसमें पितरों की स्थिति है वह सूर्यलोकसे परे होता हुआ यम लोकमें स्थित है अर्थात् यम का राज्य उस द्युलोक में है। पितर यमकी प्रजा हैं तथा यम उनका राजा है यह बात आगे चलकर हमें पता चलेगी। यहांपर उस बातका निर्देश मात्र है।

इस मंत्रमें यम लोकमें स्थित द्युका विशेषण 'विरा-षाट्' दिया है। अर्थात् उस द्युमें वीरगण आकर निवास करते हैं। इसी बातको निम्न लिखित अथर्ववेदका मंत्र पुष्ट करता हुआ साथमें पितरोंका द्युलोकमें जाना दर्शा रहा है।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामंगिरसो ययुः ॥
अथर्व० १८।१।६१॥

अर्थ-(एते) ये पितर (इतः) यहांसे (उत् आ अरुहन्) ऊपर को चढते हैं। (दिवः पृष्ठानि आरुहन्) और द्युके पृष्ठोंपर-प्रष्टव्य स्थानोंपर-चढते हैं। (यथा पथा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूर्जयः) भूमि जीतनेवाले वीर (अंगिरसः) अंगिरस पितर (द्यां) द्युलोक को (प्रययुः) गए हुए हैं।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कीय और धार्मिक अधिकारलालसाके कारण जितने रक्तपात हुए हैं उससे इतिहासके पृष्ठ कलंकित ही बने हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, आसक्तिसे अनंत दोष होते हैं और उनके कारण मनुष्यके दुःख बढते हैं।

कोई मनुष्य विशिष्ट प्रकारके मिष्ट भोजन पर हि आसक्त है और दूसरा एक जो सात्त्विक शाकभोजन आजाय उसको हाजम करके पुष्ट होता है, तो पाठक समझ सकते हैं कि विशिष्ट भोजनपर आसक्त रहनेवालेको अधिक दुःख और यदृच्छासे प्राप्त शाक भोजनपर संतुष्ट होनेवाले स्वादजय करनेवालेको अधिक सुख मिलता है। इससे आसक्तिके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

मैं इस फलका भोग करूंगा, यह फलभोग मिलनेतक मैं अविश्रांत यत्न करूंगा, सब सुख मुझेहि चाहियें, इस प्रकार आसक्तिसे सुखकी लालसा करनेवाला मनुष्य सुख धर्ममार्गसे प्राप्त न होनेपर अधर्म मार्गका अवलंबन करता है, और सुखका यत्न करनेपर भी महादुःखमें फंसता है। इसलिये अति लालसा छोडकर यदृच्छासे प्राप्त होनेवाले भोगोंपर सन्तुष्ट रहनेसेहि सच्चा सुख प्राप्त होता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं कि (कर्मफले मे स्पृहा न) कर्मके फलपर मेरी लालसा नहीं है। मैं जो कर्म करता हूं फलके विषयमें आसक्त न होकर कर्तव्यबुद्धिसे करता हूं; इस कारण (कर्माणि मां न लिम्पन्ति) कर्मोंका लेप या कलंक मुझे नहीं लगता और कर्मसे उत्पन्न होनेवाले दोष मुझे दोषी नहीं करते हैं। यदि मैं कर्मफलके भोगपर आसक्त होऊंगा, तो कर्मके दोष मुझे बाधा देंगे।

यहां अपने आचरणसे भगवान् श्रीकृष्णने बताया है कि इस आसक्तिरहित वृत्तीसे हि मनुष्य दोषमुक्त होता है। इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। अवतारी पुरुषोंके जीवन-चरित्र इस तरह जनताके लिये मार्गदर्शक होते हैं। साधारण मनुष्योंको जहां संदेह हो वहां अवतारी पुरुषोंके जीवनचरित्रोंसे धर्ममार्गका निश्चय इस रीतिसे हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण सब तरहसे पूर्ण समर्थ थे, तथापि वे जो प्रयत्न करते थे वह अपना सुख बढानेकी लालसासे नहीं था, प्रत्युत जनतामें धर्मव्यवस्था स्थिर हो जाय, सज्जनोंकी रक्षा हो और दुष्टोंका निर्दलन हो जाय, अर्थात् सब जनताको पूर्ण सुखी करनेके लिये वे यत्नवान् होते थे। इसी तरह सबको यत्नवान् होना चाहिये। यही उत्तम मार्ग है और इसी मार्गसे मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता है।

यह भगवान्के अवतारका रहस्य जो जानता है, वह इसी प्रकारका सर्वजनहितकारी कर्म करता हुआ, किये कर्मोंसे बद्ध नहीं होता। कर्मके दोषोंसे मुक्त होनेकी यह रीति है। एकहि युद्ध स्वार्थभोगोंके लिये भी किया जा सकता है और सर्वजनहितसंवर्धनके लिये भी किया जाता है। जो युद्ध स्वार्थभोगेच्छासे होता है वह बंधनकारक और जो सर्वजनताके हितसाधनके लिये किया जाता है वह युद्ध मुक्तिका साधन बनता है। युद्ध तो सदा हिंसामय कर्म है, तथापि वह जनताके कल्याणके लिये करनेसे निर्दोष होता है और स्वार्थभोगलालसासे करनेपर सदोष होता है। यहां किस कर्मसे बंध और किससे मुक्ति होती है यह विषय स्पष्ट हुआ। कोई कर्म हो वह किस उद्देश्यसे किया जाता है, उस उद्देश्यके कारण वह बन्धनकारक अथवा मुक्तिकारक बनता है। इसलिये फलेच्छारहित कर्म करना सबको योग्य है। भगवान् श्रीकृष्णजीके जीवनचरित्रमें प्रारंभसे अन्ततक फलभोग रहित कर्महीं दिखाई देते हैं। इस कारण उनका पवित्र जीवन सब मनुष्योंके लिये आदर्श माना जा सकता है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(८) कर्मके भेद।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

अन्वयः— 'किं कर्म, किं अकर्म' इति अत्र कवयः अपि मोहिताः। तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ॥ १६ ॥

'कर्म क्या है, और अकर्म क्या है,' इस विषयमें ज्ञानी लोग भी मोहित होते हैं। इसलिये मैं उस कर्मके बारेमें तुझे कहूंगा, जिसको जानकर तू अशुभसे बच जायगा ॥ १६ ॥

ब्राह्मणका ज्ञानार्जन कर्म है, क्षत्रियका युद्ध करना कर्म है, वैश्यका वाणिज्य-व्यवहार और शूद्रका कर्मकुशलता कर्म है। ये तो इनके धर्मशास्त्रोक्त कर्म हैं। इन चारों वर्णोंको ये कर्म कर्तव्यबुद्धिसे करने चाहियें। इस तरह करनेसे ये कर्म बाधक नहीं होते। परंतु यदि ब्राह्मण बहुत धन कमानेके लिये विद्याध्ययन करेंगे, क्षत्रिय अपने भोग बढानेके लिये युद्ध करके साम्राज्य बढाने लग जांय, यदि वैश्य धन इकट्ठा करके अपने पासही रखेंग और शूद्र स्वार्थसे कुशलताके कर्म करने लगेंगे, तो इस तरह किये कर्म स्वार्थके कारण और भोगासक्तिके कारण उनके बंधनके हेतु बनेंगे।

वर्णाश्रमधर्मका जो संगतिकरण वेदशास्त्रोंमें कहा है वह यज्ञके लिये है और यज्ञ वह है जिसमें एकदूसरेके लिये आत्मसमर्पण होता है। जहां आत्मसमर्पण नहीं वहां दोषोंकी उत्पत्तिही होती है। इसलिये भोगेच्छारहित कर्तव्यबुद्धिसे आत्मसमर्पण करनेसे कर्मके दोष दूर होते हैं।

(एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः कर्म कृतं) यह आसक्तिरहित आत्मसमर्पणका तत्त्व जानकर प्राचीन कालके मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये और वे उस कर्मयोग द्वारा मुक्त भी हुए। मुमुक्षु उसका नाम है कि जो पारतंत्र्यसे अपना छुटकारा करना चाहता है, जिसको बंधसे मुक्त होनेकाही ख्याल होता है। ऐसा मुमुक्षु कर्तव्य कर्म आसक्तिरहित आत्मसमर्पण बुद्धिसे करता है और बंधनसे छुटकारा पाता है। प्राचीन सत्पुरुषोंने इस तरह कर्म किये और वे मुक्त हुए।

इसलिये अबके मनुष्योंको उचित है कि ये भी पूर्वजोंके समान आसक्ति छोड और त्यागभावसे तथा आत्मसमर्पणभावसे कर्तव्य कर्म करें और पारतंत्र्यसे छुटकारा प्राप्त करें; इस कर्मशास्त्रको यथावत् जाननेके लिये 'कर्म' शब्दसे किसका बोध होता है, इसका अवश्य विचार करना चाहिये, यह विचार अगले श्लोकोंमें किया है—

कर्मके तीन भेद।

(१६-१८) कर्मके तीन भेद हैं, कर्म, अकर्म और विकर्म। कर्मका अर्थ वर्ण और आश्रमके लिये जो कर्तव्य करके निश्चित हुआ है वह 'कर्म' है, जो इसके विरुद्ध है, जो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है उसका नाम 'विकर्म' है, और जो कर्म न करना किंवा आलस्यमें चुपचाप रहना है उसको अकर्म कहते हैं। कर्मके इन तीन भेदोंके ये लक्षण प्रसिद्ध हैं और इस विषयमें किसीकाभी मतभेद नहीं है।

फिर पाठक पूछेंगे कि कर्म और अकर्म का निश्चय करनेमें (कवयः अपि मोहिताः) कवि लोग भी मोहित होते हैं, यह क्यों ? कर्म, अकर्म और विकर्ममें ऐसी कौनसी बात है कि जिसके

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अन्वयः— कर्मणः (तत्त्वं) हि अपि बोद्धव्यं, विकर्मणः च (तत्त्वं) बोद्धव्यं, तथा अकर्मणः च (तत्त्वं) बोद्धव्यं, कर्मणः गतिः गहना ॥ १७ ॥ यः कर्मणि अकर्म पश्येत्, अकर्मणि च यः कर्म पश्येत्, सः मनुष्येषु बुद्धिमान्, सः युक्तः, (सः) कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्मका तत्त्व जानना चाहिये, विकर्मका तत्त्व जानना चाहिये, और अकर्मका तत्त्वभी जानना चाहिये। क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥ जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मको देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वही योगी और वही संपूर्ण कर्मोंका यथावत् करनेवाला है ॥ १८ ॥

भावार्थ- कर्म, अकर्म और विकर्मका निश्चय करनेके समयमें बडे बडे ज्ञानी लोगोंकोभी भ्रम होता है। इस लिये कर्मका तत्त्व समझ लेना चाहिये। कर्ममें अकर्म होता है और अकर्म करनेपर भी कर्म होता है, यह बात जो समझ लेता है, वह ज्ञानी योगी और सब कर्म योग्य रीतिसे करनेवाला समझना चाहिये। इस तरह कर्मका तत्त्व यथावत् जाननेसे मनुष्य अशुभ स्थितिसे मुक्त होकर शुभ स्थिति प्राप्त कर सकता है ॥ १६-१८ ॥

कारण कवियोंकोभी मोह होजावे। बात ऐसी होती है, देखिये—एक मनुष्य चुपचाप खडा है, अथवा ध्यान करता हुआ बैठा है। उसका पिता उसके सन्मुख बैठा है। ऐसी स्थितिमें कोई गुण्ड आता है और पिताका मारनेका यत्न करता है। वह गुण्ड पिताके शरीरपर हमला करता है। यह देखता हुआ भी यदि पुत्र चुपचाप बैठा रहे अथवा अपना संध्याकर्म ही करता रहे, तो उसका वह 'अकर्म' अर्थात् कर्म न करना भी 'विकर्म' अर्थात् विरुद्ध किंवा निषिद्ध कर्म बनता है। यहां कुछ न करनेसे भी बडा विकर्म बन गया! अब देखिये कि केवल चुप रहनेसे भी बडा हानिकारक निषिद्ध कर्म बनता है!! निषिद्ध कर्म करने की उसकी इच्छा नहीं थी, परंतु जिस समय अपने पिता की रक्षा करना आवश्यक था, उस समय वह चुप बैठ गया यह सर्वथा अनुचित था। इसी प्रकार कोई शुभ कर्म लीजिये वह समय पर किया जाय तो सहायक होता है, नहीं तो बाधक हो जाता है। इससे पाठक जान गये होंगे कि कर्म भी अकर्म हो जाता है और अकर्म भी विकर्म होगा। यह सब परिस्थिति, समय, अवस्था, आदिपर अवलंबित है, अतः इन कर्म अकर्मादिका निर्दोष लक्षण करना असंभव है। साधारण लक्षण तो ऊपर दिया है, परंतु वह बदलनेवाले समयके कारण कभी कभी असिद्ध होता है। इसलिये कहा है कि बडे बडे तत्त्वज्ञानी भी कर्म, अकर्म और विकर्म का निश्चय करनेमें भ्रमित से हो जाते हैं, भूला करते हैं।

कर्म, अकर्म और विरुद्ध कर्म कौनसा है, इसका यथावत् ज्ञान न होनेसे अशुभ स्थिति अर्थात् दुःखद अवस्था प्राप्त होती है, क्यों कि वह कदाचित् कर्म समझ कर अकर्म करता है, और किसी अच्छे कर्मको विकर्म मानकर छोड भी देता है। इस कारअ इस मोहित मनुष्य की दुर्गति होती है। परंतु जो समयपर यह कर्म है, यह अकर्म है और यह निश्चयसे विकर्म है ऐसा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

असंदिग्ध रीतिसे जानता है वह शुभ अवस्था प्राप्त करता है।

इस हेतुसे (कर्मणः बोद्धव्यं) कर्म अकर्म और विरुद्ध कर्म का तत्त्व किंवा स्वरूप जानना चाहिये। कमसे कम इसके जाननेका यत्न तो अवश्यही करना चाहिये। (कर्मणः गतिः गहना) कर्म की गति गहन है, कर्मका तत्त्व अथवा स्वरूप बडा गूढ है, कर्मका परिणाम बडा विलक्षण होता है।

" अकर्म " शब्दका यहां और एक अर्थ है, जिस कर्मसे बिलकुल दोष नहीं लगता, अर्थात् जो कर्म दोष न लगनेके कारण न करनेके समान होता है, वह कर्म भी ' अकर्म ' कहलाता है। निष्काम भावसे जो कर्म किया जाता है वह कर्म होता हुआ भी ' अकर्म ' कहलाता है। अर्थात् इन श्लोकोंमें ' अकर्म ' शब्दके दो अर्थ हैं— एक आलस्य अर्थात् कर्म न करना और दूसरा निष्काम भावसे, निःस्वार्थ भावसे, फल की आसक्ति छोडकर किया हुआ कर्म। ये अर्थ लेकर पाठक अठारहवें श्लोकका भाव देखें—

(कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्म किया जानेपर भी जो कर्म न करनेवालेके समान निर्दोष रहता है, जिसका कर्म निष्काम भावसे किया जानेके कारण जिसको दोष नहीं लगाता, कर्म करनेपर भी जो कर्म न करनेके समान शुद्ध रहता है वह बडा बुद्धिमान् योगी है। शरीरसे कर्म होनेपर भी वह आत्मस्वरूपमें अकर्ता हो कर रहता है, वह बडा ज्ञानी और योगी है और वही सब कर्म यथायोग्य रीतिसे कर सकता है। कर्म करनेपर भी जो अपने आपको निर्दोष अकर्ता अनुभव करता है वह श्रेष्ठ है। भगवान् श्री कृष्णजी कर्ता होनेपर भी अपने आपको अकर्ता मानते हैं (देखो गी० ४। १३) इसका तत्त्व यह है।

(अकर्मणि च यः कर्म पश्येत्) अकर्ममें जो कर्म होनेका अनुभव करता है। आत्मा अकर्ता होनेपर भी जो शरीरसे कर्म करता रहता है। जैसा वाहनमें बैठा हुआ मनुष्य अपने आपको स्थिर अनुभव करता हुआ भी गतिमान् रहता है, और गतिमान् अवस्थामें भी वह स्थिर होता है, इसी तरह शरीररूपी कर्ममय वाहनमें बैठा हुआ यह मोक्षधामका यात्री शरीरद्वारा कर्म होनेपरभी अपने आपको अकर्ता अनुभव करता है और स्वयं आत्मस्वरूपसे अकर्ता होनेपर भी वह शरीरसे कर्म करता ही है। इस तरहका जिसका अनुभव है वह बुद्धिमान् योगी और सब कर्म करनेका वही अधिकारी है। क्योंकि यही निष्काम कर्मका तत्त्व जानता है और निष्काम कर्म यथा योग्य रीतिसे कर सकता है।

यहां ' बुद्धिमान् ' का अर्थ समबुद्धिवाला, और 'युक्त' का अर्थ योगयुक्त अथवा ' योगी ' है। तथा ' कृत्स्नकर्मकृत् ' का अर्थ संपूर्ण कर्म यथासांग करनेवाला और सब कर्म करनेपर भी कर्मोंके दोषसे निर्लेप रहनेवाला पूर्ण ज्ञानी योगी।

इन तीनों श्लोकोंमें कर्म अकर्म और निषिद्ध कर्म कौनसा है, उनके लक्षण क्या हैं, कर्मका तत्त्व गूढ होनेपरभी वह कर्म किस तरह करनेसे मनुष्य दोषमुक्त होता है, इत्यादि बातोंका उत्तम वर्णन है। इसका विचार करके मनुष्य निष्काम भावसे कर्म करके दोषमुक्त हो सकता है और शुभ गति प्राप्त कर सकता है।

कर्म का और एक अर्थ।

" अकर्म, कर्म और विकर्म " का और एक अर्थ है। ' विकर्म ' शब्दका अर्थ विरुद्ध, हानिकारक, गिरावट करनेवाला कर्म, यह तो सिद्धही बात है। कर्म और अकर्मकाही दूसरा अर्थ है। अकर्मका दूसरा अर्थ यह है कि केवल अपने अस्तित्वके लिये किया जानेवाला कर्म, अर्थात् भोजन, स्नान, श्वासोच्छ्वास आदि। जिससे मनुष्यका केवल अस्तित्व रहता है। इसलिये ये तो पशुपक्षी, कृमिकीट और वृक्षवनस्पति भी करते हैं, मनुष्य जैसा उत्तम कर्मदेह प्राप्त होने-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(९) कर्ममें अकर्मता ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

अन्वयः— यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः, तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं बुधाः पण्डितं आहुः ॥ १९ ॥ (यः) कर्मफलासंगं त्यक्त्वा नित्यतृप्तः निराश्रयः, सः कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि न एव किञ्चित् करोति ॥ २० ॥

जिसके संपूर्ण कर्मोंके आरंभ, कामना और संकल्पसे रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हुए होते हैं, उसको ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥ जिसने कर्मफलकी आसक्ति छोड दी है, जो नित्यतृप्त है और जो विना दूसरेके आश्रयसे अर्थात् जो अपनी शक्तिसे हि रहता है, वह कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी कुछ भी नहीं करता है ॥ २० ॥

परभी केवल कृमिकीटकोंके समानहि मनुष्य रहे तो उसने क्या किया, अर्थात् कुछभी नहीं किया, अतः ऐसे सब कर्म जो केवल मनुष्यके वैयक्तिक अस्तित्वके साधक हैं वे सब अकर्म हैं ।

इसके नंतर जिन कर्मोंसे व्यक्ति और समाजकी स्थिति होती है और उनका उत्कर्ष होता है, ऐसे जो प्रशस्ततम यज्ञरूपकर्म हैं, उनका ही नाम 'कर्म' हैं । ये सामूहिक हितके कर्म भी जानना चाहिये और वैयक्तिक हितके भी कर्म जानना चाहिये । और ऐसे वैयक्तिक और सामूहिक अवनतिकारक कर्मोंसे दूर रहना आवश्यक है इस तरह के विकर्म ये हैं, यह भी ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार केवल वैयक्तिक अस्तित्वकी रक्षा करनेके लिये आवश्यक कर्म, सामुदायिक उन्नतिके लिये आवश्यक कर्म, और दोनोंकी अधोगति करनेवाले विरुद्ध कर्म जाननेसे मनुष्य ज्ञानी होता है, योगी अर्थात् कुशलतासे कर्म करनेवाला और सब कर्म यथायोग्य रीतिसे करके वैयक्तिक और सामूहिक उन्नति करनेवाला होता है । अतः यह कर्मविवेकका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये । अब आगेके ५ श्लोकोंमें कर्म करते हुए भी निर्दोष होनेकी युक्ति कहते हैं—

कर्मके दोष ।

(१९-२३) कर्मोंके करनेपर कर्मके दोषोंसे बचनेका उपाय इन पांच श्लोकोंमें कहा है और इसीका नाम यहां 'कर्ममें अकर्मता' अर्थात् कर्म करके कर्म न करनेके समान निर्दोष रहना है । यहां अकर्मका अर्थ आलस्य नहीं है परंतु निर्दोषता है। यहां कई शंका करेंगे कि कर्ममें दोष कहां होते हैं ? क्या सभी कर्म दोषपूर्ण हैं ? इस विषयमें कुछ पूर्व स्थान (भ० गी० ३ । ४) में लिखा है तथापि यहां भी कुछ पुनः लिखना चाहिये । प्रत्येक कर्मसे कुछ न कुछ दोष उत्पन्न होता है । देखिये श्वास और उच्छ्वास ये स्वाभाविक कर्म हैं । इन कर्मोंके कारण वायुमें स्थित अनन्त सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा होती है। जब श्वास अन्दर जाता है तब अन्दरकी उष्णतासे वायुके सूक्ष्म कृमि मरते हैं, अतः जब उच्छ्वासके समय

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ २२ ॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

अन्वय— निराशीः यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं न आप्नोति ॥ २१ ॥ यदृच्छा-लाभ-संतुष्टः द्वन्द्वातीतः विमत्सरः सिद्धौ असिद्धौ च समः, कृत्वा अपि न निबध्यते ॥ २२ ॥ गतसंगस्य ज्ञानावस्थितचेतसः, यज्ञाय आचरतः मुक्तस्य कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिसने फलकी आशा छोड दी है, अन्तःकरणका संयम किया है, और सब भोगसाधनोंका त्याग किया है, ऐसा पुरुष केवल शरीरसंबंधी कर्म करनेपर भी पापका भागी नहीं होता है ॥२१॥ जो सहजप्राप्त वस्तुसे संतुष्ट, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त, ईर्षासे रहित, और सिद्धि-असिद्धिके विषयमें समभाव धारण करनेवाला है, वह कर्म करके भी बद्ध नहीं होता ॥ २२ ॥ जो आसक्तिरहित और ज्ञानमय चित्तवाला है, केवल यज्ञके लिये हि कर्म करनेवाले उस मुक्त पुरुषके कर्म पूर्णतासे लय होते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो भोगोंकी इच्छाको और भोगसंकल्पको छोडकर संपूर्ण कर्तव्य कर्म करता है और ज्ञानसे जिसके कर्म शुद्ध हुए हैं, उसका नाम पण्डित है ॥ जो कर्मका फल भोगनेकी कल्पना छोडता है, अपने आत्मामें हि संतुष्ट है और जो अपनी शक्तिसे अर्थात् विना दूसरेके आश्रयसे रहता है, उसका शरीर कर्ममें प्रवृत्त हुआ ऐसा दीखनेपर भी उसका आत्मा कुछ भी नहीं करता, वह अकर्ता रहता है ॥ फलभोग की इच्छा का त्याग करनेवाला संयमी मनुष्य सब भोगसाधनोंका त्याग करके शरीर निर्वाहके लिये किये जानेवाले स्वाभाविक कर्म करने पर भी उनके दोषोंसे दोषी नहीं होता ॥ सहज प्राप्त हुए लाभमें संतुष्ट, द्वन्द्वोंसे रहित, ईर्ष्यासे दूर, और हानिलाभके विषयमें समबुद्धि रखनेवाला मनुष्य कर्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता है ॥ फलका भोग करनेके विषयमें जो उदासीन, जिसका मन ज्ञानसे परिपूर्ण हुआ है, वह यज्ञके लिये कर्म करनेपर भी कर्मके दोषोंसे मुक्त रहता है, मानो उसके सब कर्म लय हो चुके हैं ॥ १९—२३ ॥

वायु बाहर आता है तब वह दोषयुक्त होता है। इस तरह स्वाभाविक कर्ममें भी हिंसाका दोष है। ऐसेहि क्षुधितोंको भोजन दान करनेके लिये अन्नके पकानेका कर्म किया, तो भी उस परोपकारके कर्ममें अग्निके जलाने आदि के कारण हिंसा होती है, इस तरह स्वार्थ के कर्म हों अथवा परोपकारके हों, हिंसा आदि दोष दूर करना कठिन है। इसके साथ अन्यान्य दोषभी होतेहि हैं जिनका विचार पाठक स्वयं करें। किसीने अपने पास धान्यादिका आवश्यकतासे अधिक संग्रह किया तो कई दूसरे मनुष्योंको भूखा रखनेका दोष उसको लगता है। हाथमें अधिकार रहनपर जो कर्म किये जाते हैं उनमें अनेक दोष होते हैं जिनके कारण अधिकार-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

हीन मनुष्योंको अत्यंत कष्ट होते हैं।

इस तरह विचार करनेपर पता लग सकता है कि प्रत्येक कर्म में दोष होते हैं और कर्म करनेसे ये दोष लगेंगेहि। इनसे बचना असंभव है। इस दोषसे बचनेके लिये फलकी आसक्ति छोडनेका उपाय भगवद्गीताने बताया है। देखिये कोई एक मनुष्य स्वर्गभोग की प्राप्तिके लिये यज्ञरूपी कर्म करता है, इसका विश्वास है कि यह कर्म निर्दोष हुआ तो अपनेको स्वर्गभोग अवश्य प्राप्त होगा। भोगपर आसक्त होनेके कारण यज्ञमें जब विघ्न होगा या त्रुटी होगी तब वह क्रोधी होगा और क्रोधके कारण उसके हि शरीरके रक्तके जीवाणु मरेंगे। इस तरह फलासक्तिसे यह दोष होता है। फलासक्ति छोडी जाय तो यह दोष होना संभव ही नहीं है। इसी रीतिसे आसक्ति और संग छोडनेसे बहुत दोष दूर हो सकते हैं, इसका अनुभव पाठकोंको स्वयं आसकता है। फलासक्ति, फलसंग या भोगकामना किस प्रकार छूट सकती है, इसके लिये क्या करना चाहिये, फलाशा छोडनेवाला मनुष्य कैसा व्यवहार करता है, इत्यादि के विषय में इन पांच श्लोकोंमें निम्न लिखित पद विशेष मनन करने योग्य हैं—

त्याग मार्ग ।

(१) यस्य कामसंकल्पवर्जिताः सर्वे समारंभाः। (४।१९)

"जिसके सब कार्य भोगोंके विचारसे रहित होते हैं।" जो भोग प्राप्त करनेके हेतुसे कोई कर्म नहीं करता, अपने भोग बढानेकी इच्छा जिसमें नहीं है, जो कर्म करता है परंतु फलभोग की इच्छा उसकी जडमें नहीं होती है, जो सब कर्म यथासांग करता हुआ भी भोगेच्छारहित रहता है, कामभोगका संकल्प भी जिसके मनमें नहीं उठता है, जो (सं) एकीकरण या संघटनाके लिये (आरंभः) कर्म प्रारंभ करता है, परंतु अपने भोगोंकी लालसा उसमें नहीं होती;

(२) निराशीः। (४।२१)

"भोगोंकी प्यास जिसमें नहीं है।" अपने भोगनेके लिये विविध भोग चाहिये, ऐसी इच्छा जिसके मनमें नहीं है, अपने लिये भोग प्राप्त करनेकी आकांक्षा जो नहीं धारण करता;

(३) गतसंगः। (४।२३)

"जिसने भोगोंका संग छोड दिया," जिसके मनसे फलके भोगनेकी इच्छा दूर होगयी है, जिसके मनमें विषयभोग करनेकी इच्छाही नहीं उत्पन्न होती;

(४) कर्मफलासंगं त्यक्त्वा। (४।२०)

"जो कर्मफलके भोग करनेकी इच्छा का त्याग करता है," अपने कर्मके फल का भोग स्वयं भोगना चाहिये, ऐसी इच्छा जिसके मन में नहीं है, कर्मके फलका भोग करनेकी इच्छासे जो दूर रहता है;

(५) त्यक्तसर्वपरिग्रहः। (४।२१)

"जिसने सब वस्तुसंग्रह करना छोड दिया है," जो भोग्य वस्तुओंका संग्रह अपने पास नहीं करता, जो अपनी भोगेच्छाएं कम करता है, जो न्यूनसे न्यून वस्तुओंसे अपना निर्वाह करता है;

(६) निराश्रयः। (४।२०)

"जो किसी दूसरे पर अपना आश्रय नहीं करता," जो स्वयं अपनी शक्तिसे रहता है, जो अपनी शक्तिसे अपने अन्दर हि सन्तुष्ट रहता है, जो अपने सुख के लिये किसी दूसरेपर या दूसरे पदार्थ पर अवलंबित नहीं रहता, जो अपने ही आधारपर रहता है;

(७) नित्यतृप्तः। (४।२०)

"जो सदा तृप्त रहता है," जो सदा सन्तुष्ट, सदा सुखी और सदा आनन्दपूर्ण रहता है, जिसको अपने अन्दरसेहि आनन्द प्राप्त होता है;

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(८) यदृच्छालाभसन्तुष्टः। (४। २२)

"जो सहज प्राप्त हुए वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है।" जो अपने भोग बढानेकी अभिलाषा धारण नहीं करता, जो भोग सहज प्राप्त होगा, उससेहि जो आनन्दित रहता है, भोग कम मिलनेपर क्रुद्ध नहीं होता;

(९) यतचित्तात्मा। (४। २१)

" जिसने अपना मन, चित्त अथवा अन्तःकरण अपने आधीन रखा है, जो अपने मनको स्वैर भटकने नहीं देता, जिसका मन जिसकी आत्मामेंहि स्थिर रहता है, बाह्य भोगोंपर नहीं जाता;

(१०) सिद्धौ असिद्धौ च समः। (४। २२)

" जो सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समभाव धारण करता है," सुख मिलनेपर जो गर्वित नहीं होता और दुःखसे जो हताश नहीं होता, लाभसे जो घमंड नहीं करता और हानिसे जो त्रस्त नहीं होता, कर्मकी सिद्धि मिलनेपर जो उन्मत्त नहीं होता और असिद्धि होनेसे जो निरुत्साहित नहीं होता अर्थात्—

(११) द्वन्द्वातीतः। (४। २२)

" जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंके परे पहुंचा है।" द्वन्द्वोंसे जो पराभूत नहीं होता, द्वंद्वोंके होनेपर जो अपने सन्मार्गसे भ्रष्ट नहीं होता, द्वंद्वोंका हमला होनेपर भी जो अपने सन्मार्गके स्थानमें स्थिर रहता है;

(१२) विमत्सरः। (४। २२)

" जो दूसरे का उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या अथवा द्वेष नहीं करता," जो किसी का मत्सर नहीं करता, दूसरे के वैभवके विषयमें जिसके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं उत्पन्न होता;

(१३) मुक्तः। (४। २३)

" वह मुक्त कहलाता है।" जो पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त है उसको मुक्त कहते हैं। इस मुक्तके और दो लक्षण ये हैं—

(१४) ज्ञानावस्थितचेताः। (४।२३)

" ज्ञान में जिसका चित्त स्थिर रहता है," ज्ञान का अर्थ है (मोक्षे धीः) मोक्षके विषयमें बुद्धिका स्थिर होना। इस मोक्षविषयक ब्रह्मज्ञानमें जिसका चित्त एकाग्र होकर रहता है, कभी उस ब्रह्मज्ञानको छोडकर दूसरे भोग विषयोंमें नहीं भटकता, स्वभावसेहि जिसका चित्त ब्रह्मज्ञानमें रमता है, तथा—

(१५) ज्ञानाग्निदग्धकर्मा। (४। १९)

" जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो चुके हैं," ब्रह्मज्ञान किंवा मोक्षज्ञान प्राप्त होनेसे जिसमें अपने भोगवर्धनके लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति नहीं रही है, जो केवल ब्रह्मरूप किंवा आत्मरूपसे रहता है, जागतिक भोगोंके विषयमें जिसकी प्रवृत्ति ही नहीं रहती, शुद्धज्ञानसे जिसे शुद्ध यज्ञरूप कर्म होते हैं, वह मुक्त है।

(१६) यज्ञाय आचरतः कर्म
समग्रं प्रविलीयते। ४। २३)

" पूर्वोक्त प्रकारका मनुष्य यज्ञके लिये जो कर्म करता है, वह कर्म सबका सब लयको प्राप्त होता है।" अर्थात् उस कर्मका दोष उसको नहीं लगता। यज्ञमें तीन कर्तव्य होते हैं- (यज्ञः= देवपूजा- संगतिकरण-दान) जो सत्कार करने योग्य हैं उन सज्जनोंका यथायोग्य सत्कार करना, संगतिकरण अर्थात् संघटना द्वारा जनतामें बल की वृद्धि करना, और दीनोंकी सहायता करना, इस त्रिविध कर्म का नाम यज्ञ है। इस प्रकारके यज्ञ कर्म वह करता है, परंतु ये कर्म करते हि लीन हो जाते हैं, इसलिये ऐसे कर्मोंका दोष उसको नहीं लगता। यही बात निम्नलिखित वचनों में कही है--

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।
(४। २०)
कृत्वाऽपि न निबध्यते॥ (४। २२)
केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं नाप्नोति॥
(४। २१)

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुगंधित धूप

सब प्रकारके सुगंधित धूप, अगरबत्तियां, धूपकी टिकियां, धूपबत्तियां हमारे पास मिलती हैं।
सुगंधशाला, डा० किन्ही (जि. सातारा)

The
Vedic Magazine

The only Journal in English which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas in all climes and countries. It is the only organ of the Arya Samajic world which carries the message of the Arya Samaj beyond the seas. Indian emigrants from Non-Hindi-knowing Provinces of India, e. g., Madras, Mysore, Andhradesh, Burma, etc. etc., can remain in contact with Aryan thought through this monthly. The contents of the Magazine have always been highly spoken of by men and women of light and leeding.

Conducted by Prof. Ramdev, Principal & Governor, Gurukula Kangri.

Subscription Rs. 5 only in advance.

Managar 'The VEDIC MAGAZINE'

P. O. GURUKULA KANGRI.
(Dist. Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

सपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥) रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करने के लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय एक आना।

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B. 1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	(५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७।) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०७]	११	१०७६	६	१)

कुल मूल्य ५८।) कुल डा. व्य. १०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे त आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथक तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना हगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामदर सातवळेकर.

वर्ष १३
अंक ७
क्रमांक १५१

आषाढ
संवत् १९८९
जोलाई
सन १९३२

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =)वी. पी. से ।॥=)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयसूची

१ श्रेष्ठ धन दे।	७५
२ मनुष्य-जाति।	७६
३ अथर्ववेदका स्वाध्याय।	२०९
४ श्रीमद्भगवद्गीता।	३४५

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं। प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा-व्य.।-) है। जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है। भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते। परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है। इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपने पास रखे। मूल्य केवल ।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ७
क्रमांक
१५१

आषाढ
संवत् १९८९
जोलाई
सन १९३२

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्व-ज्ञान-प्रचारक-मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

श्रेष्ठ धन दे।

आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं संगृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥ ३९ ॥

ऋ० ८।८१।१

हे इन्द्र! (महाहस्ती) महाबाहू तू (नः तु) हमको देनेके लिये (क्षुमन्तं) अत्यंत प्रशंसाके योग्य अथवा अन्नसे युक्त (चित्रं) विलक्षण अर्थात् विविध शोभायुक्त और (ग्राभं) ग्रहण करने योग्य धन (दक्षिणेन) दक्षिण हाथसे (आ सं गृभाय) ग्रहण कर, हमें दो॥

हे प्रभो! तू महाबाहू है, अतः तुम्हें धन का दान करना सहज बात है। इस लिये तू हमारे लिये ऐसा धन दे, कि जो अत्यंत प्रशंसनीय हो, और उसके साथ उत्तम अन्न रहे। वह अप्रतिम शोभावाला हो और वह स्वीकार करने योग्य भी हो। वह तू हमें सीधे हाथसे अर्थात् बडे आदर के साथ दे। उसका हम उपभोग करेंगे और समर्थ बनेंगे। परंतु ऐसा धन हमें नहीं चाहिये कि जो निंदनीय, शोभाहीन और स्वीकार करनेके अयोग्य हो।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मनुष्य जाति

(ले०— श्री० पं० सर्वजित जी गौड, कुलू)

'वैदिक धर्म' के एक अंक में एक जाति पर लेख था जिसको पढकर मेरे दिल में निम्न प्रकार प्रश्न और उत्तर पैदा हुए, अतः पाठकों के आगे पेश करता हूं कि वह इस पर विचार करें।

(१) दुनिया की पैदाइश कितने भागोंमें है ?

दुनिया की पैदाइश तीन बडे हिस्सों में हैं- हैवानात, जमादात और नबाबात।

(२) क्या इन भागोंका मेल आपस में हो सक्ता है ?

कभी नहीं।

(३) हर भाग के कितने हिस्से हैं ?

मुखतलिफ वा अनगिंत बलिहाज शकलो सूरत वा स्वभाव।

(४) क्या उन अकसाम का मेल एक दूसरे से हो सकता है ?

सिरफ हमजिंस का हमजिंस से।

(५) हैवानात की बडी अकसाम कौन हैं ?

इंसान और हैवान।

(६) क्या इन्सान और हैवान का मेल हो सकता है ?

यह हमजिंस नहीं फिर मेल कैसे ?

(७) इनकी जातियां कितनी हैं ?

दो, नर और मादी।

(८) मनुष की कितनी किसमें हैं ?

बलिहाज रंग गोरे,लाल,पीले और काले। बलिहाजगुण राजसिक तामसिक,और सात्विक या नेकोबद। बलिहाज कर्म ब्राह्मण,क्षत्रीय वैश्य और शूद्र।

(९) वर्णसंकर किसे कहते हैं ?

गोरे में बाकी तीन रंग,ब्राह्मण में बाकी तीन और सात्विक में बाकी दो का होना ही वर्णसंकर है।

(१०) क्या चार वर्ण कुदरती हैं या मसनूई ?

कुदरती हरखितः के लोग इन ही रंगों में, गुणोंमें और कर्मों तकसीम हैं।

(११) आर्य कौन थे ?

नेक मनुष्यों की एक पार्टी थी जिसमें हर पेशाके लोग थे, इन का रंग बगैरा बमुताबिक जलवायु, खूराक तथा तरजे मुआशरत बदलता गया, यह पार्टी चारों वर्णों का समूह था।

(१२) हर जाति का खून कैसे शुद्ध रह सक्ता है ?

यदि शादियां गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल की जावें और तब औलाद पैदा की जावे।

(१३) क्या भाई बहिन की शादी नहीं खून शुद्ध रख सकती है।

गो इसलाम तो इसी खयाल से अपने ही खानदान की लडकी से शादी जाइज इकरार देता है परंतु यह वेद के यम यमी सूक्त के प्रतीकूल है।

(१४) जातीबंधन के तोडने में क्या लाभ है?

इस से सब मनुष्य एक प्रेम की शृंखला में परोए जाएंगे। तासुब की अग्नी बुझ जाएगी,फितनाव फ्साद कम हो जाएंगे, शादियां गुण कर्म स्वभाव से होगी, जाती बलवान् होगी और तभी वेद का उपदेश जो निचले मंत्र में किया है पूरा होगा।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वह मुक्त मनुष्य अथवा अनासक्त मनुष्य 'कर्म' करनेके लिये प्रवृत्त हुआ तो भी कर्म न करनेके समान निर्दोष रहता है। कर्म करके भी बद्ध नहीं होता। केवल शारीरिक कर्म करने पर भी वह पापका भागी नहीं होता।" शरीररक्षणार्थ आवश्यक कर्म करनेपर भी उसको उन कर्मोंसे दोष नहीं लगता है।

कर्ममें अकर्मता।

इन पांच श्लोकोंमें यह एकहि विषय कहा है। (कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्ममें अकर्म देखनेका उपदेश श्लोक १८ में कहा है। इस तरह कर्म में अकर्म का अनुभव कौन कर सकता है, इस प्रश्नका उत्तम विवरण इन पांच श्लोकोंमें कहा है। जो इन गुणोंसे युक्त है वह कर्म में अकर्म देखता है, अर्थात् कर्म करके भी न करने के समान शुद्ध रहता है किंवा कर्म करके भी उन कर्मोंके दोषोंसे वह दूर रहता है। कर्म के दोषोंसे बचनेकी यह युक्ति है। भोगोंपर आसक्ति न धरनेसे सब कर्मों के दोष दूर होते हैं, अब कौन मनुष्य कर्म के दोषोंसे बद्ध होते हैं, इसका विचार अब देखिये-

भोग-मार्ग।

(१) जो लोग अपने कामोपभोग बढानेके लिये हि कर्म का प्रारंभ करते हैं, (२) जो अनेक आशापाशों से कार्य करते हैं, (३) जो फलभोगोंपर आसक्त हैं, (४) जो भोगोंका संग करते हैं, (५) जो अपने पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह करता है, (६) जो अपने सुख के लिये दूसरोंपर अवलंबित रहता है, (७) जो सदा अतृप्त और भूखा होता है, (८) जो प्राप्त वस्तु में कभी सन्तुष्ट नहीं रहता, (९) जो अपने मनको भोगोंमें स्वैर भटकने देता है, (१०) लाभ होनेपर जिसे घमंड होती और हानि होनेपर जो उदास होता है, (११) इस तरह सब द्वन्द्वोंसे जो मारा जाता है, (१२) जो भाग्यवानोंका मत्सर और द्वेष करता है, जो उनसे ईर्ष्या करता है, (१३) जो इन भोगोंके बंधनों को तोडना नहीं चाहता, (१४) जो आत्मज्ञान का द्वेष करता है और भोगोंके विषयोंका ही सदा विचार करता है, (१५) जो अपने स्वार्थ के लिये सब कर्म करता है, वह अपने कर्मोंके दोषोंसे प्रतिसमय बांधा जाता है, जो कर्म वह करता है उसके संपूर्ण दोषोंसे वह दोषी होता है, और उन दोषोंके कारण पाप और दुःखका भागी होता है। ऐसे जो पुरुष पाठकोंके परिचित होंगे, उनके दुःखोंका विचार करनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि, यह भोगों की आसक्ति का मार्ग निःसन्देह दुःखकारक है।

शारीर कर्म।

यहां (शारीरं केवलं कर्म) केवल शारीर कर्म करनेवाला संयमी मनुष्य (किल्बिषं नाप्नोति) पापका भागी नहीं होता, ऐसा कहा है, अतः यहां 'शारीर कर्म' का अर्थ क्या है, इस का विशेष विचार करना आवश्यक है। यह विचार अब करते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१

"जिसने आशा छोड दी है, अन्तःकरण का संयम किया है, और सब वस्तुओंका संग्रह करना भी छोड दिया है, उसको, केवल शारीरिक कर्म करनेपर पाप नहीं लगता।" यह इस श्लोक का आशय है।

ईशदास्य के कर्म।

आशा छोडनेसे वासना का कार्य नहीं होता, अन्तःकरण का संयम करनेसे मनका कार्य नहीं होता, वस्तुसंग्रह न करनेसे उन वस्तुओंकी प्राप्ति रक्षा वृद्धि आदिके विषयमें जो यत्न करने चाहिये वे नहीं होते, इस तरह उसके सब कर्म स्वयं हि बंद होते हैं। जिसके मनमें भोग प्राप्त करने की आकांक्षा है, अन्तःकरण स्वैर संचार करता है और जो भोगसाधनोंका संग्रह करता है वही

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तो सदा सर्वदा भोगके कार्यमें व्यग्र रहता है। परंतु जिसकी वासना का क्षय हुआ, चित्तका संयम हुआ और जो वस्तुसंग्रह नहीं करता उस से किस प्रेरणासे कर्म होंगे? अर्थात् वासना का क्षय और मनःसंयम होते हि वह ब्रह्मरूप आत्मा से युक्त हुआ, उसमें निजकी कोई प्रेरणा नहीं रही, अतः उसके जो कार्य होंगे, वे परमेश्वरीय प्रेरणासे होंगे। उसका चित्त तो शांत है, उससे कार्य न होगा, अतः उसके शरीर से हि जो कुछ होगा वह शारीर कर्म बनेगा। इस तरह जो शारीरिक कर्म बनता है, उसमें इस कर्ताकी प्रेरणा न होनेसे इसको इस शारीरिक कर्मका दोष नहीं लग सकता। और अतः यह शारीरिक कर्म करनेपर भी वह निर्दोष रहता है।

उदाहरणार्थ देखिये कि एक गुलाम या दास है, स्वामी की आज्ञासे वह कार्य करता है, मनमें न होते हुए भी उसको कर्म करने पडते हैं, अतः किये हुए कर्मोंसे वह दास दोषी नहीं होता, क्यों कि उस कर्ममें उसका मन नहीं होता। इसी तरह यह परमेश्वर का भक्त परमेश्वरका अनन्यशरण दास होता है, उसकी मन बुद्धि चित्त अहंकार वासना आदि सब परमेश्वरमें लीन हो चुकी हैं, उसका केवल शरीर हि यहां मरणपर्यंत रहता है, इसकी पर्वाह इसको नहीं है, वह ईश्वरीय प्रेरणासे हलचल करता है और उससे जो कुछ ईशप्रेरणासे शारीरिक कर्म होते हैं, उससे उसको कोई दोष नहीं लगते। जब अपने सुखके लिये उसकी प्रेरणाही नहीं है, जब उसका शरीर परमेश्वर का साधन बना, तब उस शरीरसे हुए कर्मसे उसको दोष किस तरह लग सकता है?

शरीरनिर्वाहके कर्म।

यहां "केवलं शारीरं कर्म" का अर्थ 'शरीर से होनेवाले स्वाभाविक कर्म किंवा शरीरनिर्वाह के लिये अत्यंत आवश्यक जो कर्म हैं वे कर्म" ऐसा दो प्रकारसे होता है। जब उसने भोगोंकी आशा पूर्णतासे छोड दी, सब इंद्रियोंका संयम किया और सब भोगवस्तुओंके संग्रह करनेका भी त्याग किया, तब उससे भोगप्राप्त्यर्थ कर्म होनेकी कोई संभावना ही नहीं है। इसका मन इस समय ऐसे कर्मोंमें नहीं लग सकता, वह तो इस समय ब्रह्मात्मा बन जाता है!! जब तक शरीर रहेगा, तब तक शरीरनिर्वाह के लिये उससे कुछ कर्म अवश्य होंगे, ऐसे शरीरनिर्वाहार्थ किये कर्मोंसे वह बद्ध नहीं हो सकता, क्यों कि इन कर्मोंका संबंध उससे नहीं रहता। श्वासोच्छ्वास, मलमूत्रादि उत्सर्ग, भोजन, शयन, स्नान, आदि सब कर्म शारीरिक कर्म हैं— शरीरनिर्वाह के लिये किये जानेवाले ये कर्म हैं— अतः ये इसको बाधक नहीं हो सकते।

कर्मेंद्रियों के कर्म।

यहां इस श्लोकके विषय में कईयोंका ऐसा मत है कि यहां "शारीरं कर्म" का अर्थ 'शरीर या कर्मेंद्रियोंसे होनेवाले कर्म' ऐसा है। इस प्रकार अर्थ करनके लिये वे आधार देते हैं—

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥ भ० गी० ५

"कर्मयोगी शरीरसे मनसे बुद्धिसे और केवल इंद्रियों से भोगवासना छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं।" यहां जिस भावसे कर्माचरण लिखा है, वही अर्थ—

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(गी० ४-२१)

यहां है। इस तरह के कर्मवादी कहते हैं कि, यहां के 'शारीरं कर्म' का अर्थ 'शरीर धारणा के लिये कर्म' नहीं है परंतु 'कर्मेंद्रियोंसे होनेवाला कर्म' ऐसा ही यहां अर्थ है। इस मतका विचार इस स्थानपर अवश्य करना चाहिये—

जो कहते हैं 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं' इसका अर्थ 'कर्मेंद्रियोंसे हि कर्म करने वाला पाप का भागी नहीं होता' है, तो इस अर्थ का तात्पर्य यह होगा, कि "मन बुद्धि और ज्ञानें-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

द्रियोंसे जो कर्म होते हैं, उनके करनेपर वह कर्म कर्ता पाप का भागी अवश्य होगा ।' क्योंकि वहां 'केवलं शारीरं कर्म' ऐसा उल्लेख है । यदि केवल शारीर कर्म से पाप नहीं लगता, तो मानसिक बौद्धिक कर्मसे पाप लगेगा ! परंतु 'आशारहित संयमी और अपरिग्रहशील को मानसिक या बौद्धिक कर्मसे पाप लगेगा' यह कल्पनाही अयुक्त प्रतीत होती है, इस कारण उक्त मतवादियोंका अर्थ अयुक्त प्रतीत होता है ।

" शारीरं कर्म " का अर्थ 'शरीरद्वारा किया कर्म' ऐसा करके उसका दोष कर्ताको नहीं लगता, ऐसा श्लोक का आशय माननेपर ऐसा मानना पडेगा कि " शरीरद्वारा अथवा कर्मेंद्रियोंके द्वारा निषिद्ध कर्म करनेपर भी कर्ताको दोष नहीं लगते । " परंतु निषिद्धकर्मोंके करनेसे दोष नहीं लगता ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण का आशय मानना सर्वथा अयोग्य है क्यों कि निषिद्ध कर्म सर्वकाल निषिद्ध होते हैं । अच्छा यदि उसका अर्थ " शास्त्रविहित कर्म करनेसे कर्ताको दोष नहीं लगता " ऐसा माना जाय, तो शास्त्रविहित कर्मोंसे दोष लगता है ऐसा किसीका भी मत नहीं था । अतः भगवानने ऐसा यह व्यर्थ उपदेश क्यों किया ? इस तरह दोनों रीतियोंसे यह उपदेश व्यर्थ और अनर्थकारक सिद्ध होता है । अतः 'शारीरं कर्म' का अर्थ यहां 'शरीर द्वारा किया कर्म' ऐसा नहीं है, परंतु 'शरीर यात्राके लिये अत्यंत आवश्यक कर्म' ऐसा ही मानना उचित है ।

'शरीर निर्वाह के लिये किये जानेवाले कर्म आशारहित संयमी पुरुष को बाधक नहीं होते' इसका हेतु और भी एक हो सकता है । जो शरीर परमेश्वरने दिया, वह उसकी सेवामें अर्पण करनेसे उस का पालन परमेश्वरीय नियमों से हि होना योग्य है । अतः शरीरनिर्वाहके लिए कर्म करनेका अर्थ हि परमेश्वरीय नियमों का पालन करना है । परमेश्वरीय नियमोंका पालन करनेसे किसीको दोष लगनेकी संभावना ही नहीं है ।

अतिसंग्रहका दोष ।

मनुष्य सामाजिक जीवनमें 'अपने पास अतिसंग्रह' करनेका दोष करता है । अतिसंग्रह करना बडा दोषकारक है, क्यों कि किसी एक के पास वस्तुओंका अतिसंग्रह हुआ तो दूसरेके पास उतने प्रमाणसे न्यूनता होगी । किसी एकने भोजनपदार्थोंका अतिसंग्रह अपने पास किया, तो दूसरे कई भूखे मरेंगे । अर्थात् वह अतिसंग्रही मनुष्य दूसरोंको भूखे मारनेका दोषी होता है । हरएक बातमें अर्थात् अधिकार, धन, विद्या, राज्यशासन आदि सब व्यवहारोंमें अतिसंग्रह बडा भारी दोष है । अति--संग्रह करनेकी इच्छा के कारण इस जगत् में जितने युद्ध हुए हैं, उतने किसी अन्य कारणों से न हुए होंगे । इस तरह दोषोंका जनक यह अतिसंग्रह है । इस को दूर करने के लिये 'त्यक्त-सर्व-परिग्रह' यह आदर्श भगवद्गीता द्वारा जनताके सम्मुख रखा गया है । 'संग्रहत्याग' किंवा 'अपरिग्रह का व्रत लेनेका अर्थ अपने पास का वस्तु-संग्रह सब जनताकी भलाई के लिये समर्पण करना और पश्चात् जीवननिर्वाह की अपेक्षासे अधिक संग्रह न करना । अब पाठकों के मन में इस बात का प्रकाश हुआ होगा कि 'अतिसंग्रह' की वृत्तिसे पाप किस तरह होता है और 'अपरिग्रह' की वृत्तिसे मनुष्य निष्पाप किस रीतिसे होता है ।

आगे (यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते) 'यज्ञके लिये कर्म करनेवालेका किया कर्म संपूर्णतया नष्ट होता है' और कर्म नष्ट होनेका तात्पर्य यह है कि वह मनुष्य शुद्ध होता है । इस विधान का अर्थ ध्यानमें आनेके लिये 'यज्ञ' कौनसे हैं, इसका विचार करना चाहिये । यह यज्ञ का विचार अगले श्लोकोंमें किया है—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(१०) यज्ञ-विचार।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अन्वयः— ब्रह्म अर्पणं, ब्रह्म हविः, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्, ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन ब्रह्म एव गन्तव्यम् ॥ २४ ॥ अपरे योगिनः दैवं एव यज्ञं पर्युपासते; अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञेन यज्ञं एव उपजुह्वति ॥ २५ ॥ अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति, अन्ये शब्दादीन् विषयान् इंन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥ अपरे ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च जुह्वति ॥ २७ ॥ अपरे संशितव्रताः द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः योगयज्ञाः तथा च स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः यतयः (सन्ति) ॥ २८ ॥ तथा अपरे अपाने प्राणं, प्राणे च अपानं जुह्वति। (तथा अपरे) प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः (सन्ति) ॥ २९ ॥

(यज्ञमें) अर्पण (की क्रिया) ब्रह्म है, हवन की वस्तु ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मने हवन किया है, (इस प्रकार) जिसकी बुद्धिसे सभी कर्म ब्रह्मरूप हुए हैं, वह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है ॥ २४ ॥ कोई कोई कर्मयोगी देवताओंके संबन्धका यज्ञ करते हैं, और कोई ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञ का ही यजन करते हैं ॥ २५ ॥ और कोई श्रोत्र आदि इंद्रियोंका संयमरूप अग्निमें हवन करते हैं। और कोई दूसरे शब्द आदि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं ॥ २६ ॥ और कई लोग ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें सब इन्द्रियकर्मोंका और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं ॥ २७ ॥ दूसरे कोई अति कठीन व्रत करनेवाले, द्रव्यसे यज्ञ करनेवाले, तपसे यज्ञ करनेवाले, योगसे यज्ञ करनेवाले, और स्वाध्यायके ज्ञानसे यज्ञ करनेवाले, यति होते हैं ॥ २८ ॥ तथा दूसरे कई अपानमें प्राणका और प्राणमें अपानका हवन करते हैं,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अन्वयः- अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । एते सर्वे अपि यज्ञविदः यज्ञक्षपितकल्मषाः (सन्ति) ॥३०॥ हे कुरुसत्तम ! यज्ञशिष्टामृतभुजः सनातनं ब्रह्म यान्ति । अयज्ञस्य अयं लोकः न अस्ति, कुतः अन्यः ? ॥ ३१ ॥ एवं बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे विततः (सन्ति त्वं) तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि । एवं ज्ञात्वा (त्वं) विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥ हे परन्तप ! द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान् । हे पार्थ ! सर्वं अखिलं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

और दूसरे कोई प्राण और अपानकी गतिको रोक कर प्राणायाममें तत्पर होते हैं ॥ २९ ॥ और कई लोग आहारको नियमित कर प्राणोंमें प्राणोंका हवन करते हैं, ये सभी लोग यज्ञके जाननेवाले और यज्ञोंद्वारा अपने पापको दूर करनेवाले होते हैं ॥ ३० ॥ हे कौरवश्रेष्ठ अर्जुन ! ये यज्ञ करके अवशिष्ट रहे अमृत का भोजन करनेवाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । यज्ञ न करनेवाले केलिये जब यह लोक (सुखदायक) नहीं है, तब तो भला उसको परलोक कहांसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥ इस प्रकार अनेक तरह के यज्ञ ब्रह्मके मुखमें (वेदमें) विस्तारित हुए हैं, तू यह समझ कि ये सब कर्मसे होते हैं । यह ज्ञान होनेसे तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याण करनेवाला है । क्यों कि हे पार्थ ! सब प्रकार के कर्मोंका पर्यवसान ज्ञान में हि होता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— यजमान, अग्नि, हवन सामग्री, अर्पणक्रिया किंवा यज्ञके सब साधन ब्रह्मरूप हैं, ऐसा जो अनुभव करता है, वह ब्रह्म बनता है ॥ कई लोग देवताके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं और कई ब्रह्मके उद्देश्यसे यज्ञ का समर्पण करते हैं ॥ कई लोग इंद्रियोंको संयमरूप अग्निमें, विषयोंको इंद्रियोंमें और इन्द्रियोंके और प्राणोंके कर्मोंको आत्मसंयममें हवन करते हैं ॥ कई लोग द्रव्यसे, तपसे, योगसे और अध्ययनसे अथवा ज्ञानसे यज्ञ करते हैं ॥ और संयम करते हैं । प्राणायामाभ्यासी कोई योगी अपान का प्राणमें और प्राणका अपानमें यज्ञ करते हैं ॥ दूसरे कई योगी आहारको नियमित करके प्राणका प्राणमें यज्ञ करते हैं । ये सब लोग

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यज्ञ द्वारा अपने पापका नाश करनेवाले हैं॥ यज्ञ करके जो बच जाता है उस अमृत का जो सेवन करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। यज्ञसे जैसा इस लोकमें सुख मिलता है, उसी प्रकार परलोकमें भी सुख मिलता है॥ ऐसे अनेक यज्ञ वेदमें हि वर्णित हुए हैं, ये सब यज्ञ कर्मसे ही सिद्ध होते हैं। सब यज्ञोंकी सिद्धता कर्मसे होती है यह तत्त्व जो जानता है वह मुक्त होता है॥ द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याण करनेवाला है, क्यों कि सब कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें हि होता है, इस कारण ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है॥ २४—३३॥

विविध यज्ञ।

(२४—३३) इन दस श्लोकोंमें अनेक प्रकार के यज्ञोंका वर्णन है। ये यज्ञ भी संक्षेपसे कहे हैं। परंतु इनके विचारसे यज्ञ की व्यापक कल्पना पाठकों को हो सकती है। यहां जो यज्ञ कहे हैं. उनकी सुबोधता के लिये उन यज्ञोंको कोष्टक रूप में यहां रखते हैं—

मुख्य यज्ञ	भेद		यज्ञभेद	गीताध्याय	यजमान	देवता	अग्नि	हवि	साधन	फल
१ ब्रह्मयज्ञ	१	१	ब्रह्मयज्ञ	४। २४;	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्मरूपता
परमात्मयज्ञ			आत्मयज्ञ		आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	,,
			अहं क्रतुः	९। १६	अहं	अहं	अहं	अहं	अहं	,,
			जीवयज्ञ		जीव	परमात्मा	परमात्मा	जीव	जीव	,,
			यज्ञ	४। २५	यज्ञ	यज्ञ	ब्रह्म	यज्ञ	यज्ञ	,,
	(आत्म)		ज्ञानयज्ञ		ज्ञाता	ब्रह्म	शिष्य	ज्ञान	वाणी	,,
२ द्रव्ययज्ञ	२	२	द्रव्ययज्ञ	४। २८				धनादि		पापनिवृत्ति
देवयज्ञ		३	देवयज्ञ	४। २५	योगी	देवता				चित्तशुद्धि
३ शरीरयज्ञ	२	४	ज्ञानेंद्रिययज्ञ	४। २६			संयम	ज्ञानेंद्रिय		,,
		५	विषययज्ञ	,,			इंद्रिय	विषय		,,
४ वाग्यज्ञ	१	६	स्वाध्यायज्ञान यज्ञ ज्ञानयज्ञ विज्ञानयज्ञ	४। २८			(शिष्य)	(ज्ञान)		,,
५ प्राणयज्ञ	४	७	प्राणयज्ञ	४। २९			अपान	प्राण		,,
		८	अपानयज्ञ	,,			प्राण	अपान		,,
		९	प्राणापानयज्ञ	,,				प्राणापान		,,
		१०	आन्तरप्राणयज्ञ	४। ३०			प्राण	प्राण		,,
६ बुद्धियज्ञ	१	११	योगयज्ञ	४। २८				समबुद्धि		,,
७ कर्मयज्ञ		१२	तपोयज्ञ	४। २८						,,
		१३	जपयज्ञ	१०। २५						,,
		१४	इंद्रियप्राण-कर्मयज्ञ	४। २७			आत्मसंयम योगाग्नि	प्राणकर्म इंद्रियकर्म		,,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ब्रह्मयज्ञ ।

इन यज्ञों में सबसे पहिला यज्ञ ' ब्रह्मयज्ञ ' है। ब्रह्मयज्ञ के परमात्मयज्ञ, जीवात्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ ये तीन अर्थ हैं। जो ब्रह्मयज्ञ नामक अनुष्ठान द्विज करते हैं, वह ज्ञानयज्ञ है; इस ज्ञानयज्ञके भी और दो भेद हैं, एक भौतिक ज्ञानयज्ञ, जिसको विज्ञानयज्ञ भी कह सकते हैं और दूसरा (मोक्षे धीर्ज्ञानं) मोक्षज्ञानयज्ञ । भौतिक ज्ञानयज्ञमें सृष्ट पदार्थों की विद्या शिष्यको दी जाती है, जिस से प्रापंचिक सुखोंकी वृद्धि हो सकती है। दूसरा मोक्षज्ञानयज्ञ है, इससे शान्ति अथवा ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। इस विषयमें वेदमें यह मंत्र देखने योग्य है—

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥
अथर्व० ११ । ८ । २३

" (विद्या) ब्रह्मज्ञान, (अविद्या) प्राकृतिक विज्ञान और जो कुछ उपदेश करनेयोग्य क्रिया-कर्म है वह सब ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और (ब्रह्म) अथर्ववेद रूप सब ज्ञान (शरीरं) मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हुआ है। " यहां दो प्रकार के ज्ञान और उपदेश्य कर्म मनुष्यमें वेदरूपसे प्रविष्ट हुए हैं ऐसा कहा है। आत्मज्ञान, प्रापंचिक व्यवहारज्ञान और अनुष्ठानसंबंधी ज्ञान यह सब ज्ञान प्राप्त करने योग्य है। यहां कई लोग ' अविद्या ' शब्दका अर्थ ठीक प्रकार समझते नहीं और ' अज्ञान ' अर्थमें वह शब्द है ऐसा मानते हैं, इस लिये उसके अर्थके विषयमें थोडा-सा अधिक मनन करना चाहिये—

आत्मज्ञान	अनात्मज्ञान
ब्रह्मज्ञान	सृष्टिज्ञान
आत्मविद्या	अनात्मविद्या
ब्रह्मविद्या	अब्रह्मविद्या
ईशविद्या	अनीशविद्या
(०) विद्या	अ (०) विद्या

" विद्या और अविद्या " शब्दोंका यह अर्थ है। विद्या शब्दका अर्थ आत्माकी विद्या, और अविद्या शब्दका अर्थ अनात्मा अर्थात् सृष्टिकी विद्या है। यही अर्थ निम्नलिखित वेदमंत्रमें है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
काण्व य० ४०।१२-१४; ईश उ० ९-११

" केवल (अ- विद्या) प्रापंचिक विद्यामें जो रमते हैं वे भी दुःखी होते हैं और जो केवल (विद्या) आत्मज्ञानमें रमते हैं [और उदरपोषणादिके लिये भी कुछ यत्न नहीं करते] वे भी अधिक कष्ट का अनुभव करते हैं। प्रापंचिक विद्यासे एक लाभ है और ब्रह्मविद्यासे दूसरा लाभ है। अतः जो मनुष्य (उभयं सह) दोनों विद्याओंको साथ साथ प्राप्त करनेसे हितकारी मानता है, वह प्रापंचिक विद्यासे कष्टोंको दूर कर के ब्रह्मज्ञानसे अमृतमय मोक्ष प्राप्त करता है। "

पाठक मननपूर्वक इस ज्ञानयज्ञका महत्त्व जानें और उससे अपना इहपरलोकमें कल्याण साधन करें। मनुष्यको इहलोकमें उत्तम व्यवहार चलानेके लिये सृष्टिविद्याका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, और पारलौकिक कल्याण के लिये भी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति करनी चाहिये। ये दोनों विद्याएं प्राप्त करनेसे हि मनुष्यका सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्रह्मयज्ञमें जो ऋषियोंका और उन के ग्रंथोंका नामनिर्देश है, वह इस दोनों प्रकार के ज्ञानका बोधक है। पाठक इसका विचार कर के और ब्रह्मयज्ञ द्वारा यथायोग्य दोनों प्रकारका ज्ञान प्राप्त करके अपनी उन्नतीका साधन करें। इस विषयमें वाजसनेयी यजुर्वेदमें इस तरह लिखा है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् । क्षत्राय राजन्यम् ।
नृत्ताय सूतम् । गीताय शैलूषम् ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्माय सभाचरम् । हेत्यै धनुष्कारम् ।
वा० यजु० अ० ३०

" मोक्षज्ञान की प्राप्ति करनेके लिये ज्ञानीके पास, शौर्यके लिये वीरके पास, नृत्य सीखना हो तो नर्तक के पास, गीता सीखनेके लिए गायकके पास, धर्मनियम जानना हो तो धर्मसभाके सदस्यके पास, और हथियार प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो हथियार बनानेवाले के पास जा। " इस तरह प्रापंचिक और पारमार्थिक विद्याकी प्राप्ति के विषयमें वेदमें कहा है, यह सब मनन करने योग्य है।

वस्तुतः ब्रह्मयज्ञ का विषय बडा विस्तृत है, परंतु उसकी सब व्याप्तिका विचार करनेके लिये यहां स्थान नहीं है, अतः यहां इस विषयमें इतना ही पर्याप्त है। पाठक इतनाही स्मरण रखें कि इस ब्रह्मयज्ञमें सृष्टिविद्या और ब्रह्मविद्या ये दोनों विद्याएं प्राप्त करनेका उपदेश किया है। यही ज्ञानयज्ञ है। यह ज्ञान गुरु अपने शिष्यके अन्तःकरणमें हवन करता है। इस यज्ञमें गुरु यजमान है, शिष्य का अन्तःकरण अग्नि है, उसमें इस ज्ञानरूपी हविकी आहुतियां डालीं जाती हैं।

परमात्मा का आत्मयज्ञ।

ब्रह्मयज्ञका दूसरा अर्थ है परमात्मयज्ञ, ब्रह्मका यज्ञ अथवा जीवात्मयज्ञ। प्रथमतः हम परमात्मा के अथवा ब्रह्मके यज्ञका विचार करेंगे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें निम्न लिखित पंक्तियां मनन करने योग्य हैं—

ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत, तदैक्षत, न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानाँ श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति ॥ श० ब्रा० १३।४।३।१

" स्वयंभु ब्रह्मन तप किया, उसने देखा कि तपमें सचमुच अनन्तत्व नहीं है। इसलिये उस ब्रह्मने कहा कि मैं अपने आपका सब भूतोंमें यज्ञ करूंगा और सब भूतोंका आत्मामें हवन करूंगा। पश्चात् उसने अपने आत्माका सब भूतोंमें हवन किया और आत्मामें सब भूतोंका हवन किया। इस से उस ब्रह्मको श्रेष्ठता स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त हुआ। इस तरह जो मनुष्य अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्र के लिये करता है वह श्रेष्ठता, स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त करता है। "

यहां स्वयंभु ब्रह्मके आत्मयज्ञका वर्णन है। स्वयंभु ब्रह्म अपने हि तेजसे प्रकाशित था। तब उसको किसीने नहीं जाना। परंतु जब उसने अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्र या संपूर्ण जगत् के लिये किया, तब उसकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई, उसको स्वाराज्य प्राप्त हुआ और सब जगत् का आधिपत्य इसी कारण उसको मिला। ब्रह्मने जब अपने सर्वस्वका यज्ञ दूसरों की भलाईके लिये किया तब उसकी श्रेष्ठता मानी गयी। इसी तरह जो मनुष्य आत्मसर्वस्व का यज्ञ मनुष्यमात्र की अथवा प्राणिमात्र की भलाई के लिये करेगा, तब वह श्रेष्ठता प्राप्त करेगा, उसको " स्वराज्य " और उसको राष्ट्रमें अधिकार का स्थान प्राप्त होगा। यहां स्वयंभु ब्रह्मके आत्मयज्ञ द्वारा सब मनुष्योंको उपदेश दिया है कि, वे भी उसी तरह ब्रह्मयज्ञ अर्थात् आत्मयज्ञ करें। यहां ब्रह्मयज्ञ और आत्मयज्ञ ये दोनों शब्द आत्मसर्वस्वके समर्पण के अर्थमें हैं। इसी तरह विश्वकर्मा (विश्वकी रचना करनेवाले परमात्मा) के आत्मयज्ञका उल्लेख देखिये—

विश्वकर्माका आत्मयज्ञ।

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहुवाञ्चकार। स आत्मानमपि अन्ततो जुहुवाञ्चकार तदभिवादिन्येषगर्भवति। य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति।

निरु. दै. १०।२६

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

"भुवनोंके निर्माता जगत्कर्ता परमात्माने आत्मसर्वस्वका यज्ञ किया। उसने प्रथम सब भूतोंका यज्ञ किया और अन्तमें अपने आत्मसर्वस्व का भी पूर्णतया समर्पण किया। यह आशय अगले मंत्रमें कहा है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥

ऋ० १०।८१।१

"(यः नः पिता) जो हम सबका पिता (ऋषिः) ज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा है, उसने इन सब भुवनोंका समर्पण किया, और यश की इच्छा करनेवाला वह (प्रथम—छद्) पहिले स्थान के लिये योग्य होता हुआ भी (अ-वरान् आविवेश) कनिष्ठों में मिलकर रहने लगा।" यही उसका आत्मयज्ञ है और यही उसकी श्रेष्ठताका हेतु है। वह उच्च स्थानपर विराजमान होनेका अधिकारी होनेपर भी वह कनिष्ठों के साथ मिल जुलकर रहने लगा। परमेश्वर सबसे ऊंचा है, तथापि वह निकृष्ट से निकृष्ट के साथ रहता है और उसमें चैतन्य का प्रकाश करता है। इसी कारण उसकी योग्यता सबसे विशेष हुई है। इसी तरह जो मनुष्य अपनी उच्चता की घमंड छोडकर नीचसे नीच दबी हुई जातिके उद्धार के लिये आत्मसमर्पण करेगा उसका महत्त्व अधिक होगा। यह परमात्मा के आत्मयज्ञ का स्वरूप है। इस प्रकार जो आत्मयज्ञ करता है वही विश्वविजयी होता है—

विश्वजित् विश्वभृद्विश्वकर्मा। अथर्व ४।११।५

"जो विश्वके सुखके लिये कर्म करता है, जो विश्वका भरण पोषण करनेके लिये यत्नवान् होता है, वही (विश्वजित्) विश्वविजयी होता है।" अर्थात् जो जगत् के लिये आत्मसमर्पण करता है वही विश्वविजेता हो सकता है। आत्मयज्ञसे ही जगत् में विजय करना संभव है। इसी विषयमें और देखिये--

नारायण का आत्मयज्ञ।

पुरुषा ह नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स एतं पुरुषमेधं ... आहरत्, तेनायजत, तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्। अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति, य एवं विद्वान् ... यजते॥

शत० ब्रा० १३।५।१।१

"परात्पर पुरुष—नारायण—ने इच्छा की कि मैं सब भूतों में श्रेष्ठ होऊं और मैं हि सब बनूं। उसने यह पुरुषयज्ञ किया और वह सब भूतों में श्रेष्ठ बना। जो इसका तत्त्व जानता है वह आत्मयज्ञ करने द्वारा सब भूतों में श्रेष्ठ बन सकता है।" इस तरह ब्राह्मण ग्रंथों में परमात्माके आत्मसमर्पणरूप यज्ञका वर्णन है। यही वेदमंत्रोंका तात्पर्य है, यह ब्राह्मणग्रंथों की मनघडन्त बात नहीं है। इस विषय के कुछ मंत्र ऊपर दिये हैं। इस परमात्मा के आत्मसर्वस्व समर्पणरूप आत्मयज्ञ का सीधा तात्पर्य यह है—"परमात्मा निजानन्दमें था। उस समय उसको जाननेवाला और उसकी श्रेष्ठता पहचाननेवाला कोई नहीं था। उसने अपनी शक्तिका समर्पण करके सब सृष्टीकी रचना की, उसका पालन किया, उसकी व्यवस्था की, इस आत्मसमर्पण के कारण वह सब जगत् का अधिष्ठाता बना, समर्थ बना और उसका यश सर्वत्र हुआ। इसी तरह जो मनुष्य आत्मसमर्पणद्वारा सब मनुष्योंका हित करनेका यत्न करने में अपनी शक्तिसमर्पण की पराकाष्ठा करेगा, वही सब जनतामें माननीय, यशस्वी और श्रेष्ठ पुरुष बनेगा।" अर्थात् आत्मयज्ञ से श्रेष्ठता प्राप्त होती है। आत्मयज्ञ, परमात्मयज्ञ, नारायणयज्ञ, पुरुषयज्ञ आदि शब्दोंसे यह तात्पर्य पाठक यहां देखें और इसको अपने आचरण में लानेका यत्न करें।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मनुष्यका आत्मयज्ञ।

आत्मयज्ञ तो जैसा परमात्मा करता है, उसी के अनुसार जीवात्माको अर्थात् मनुष्यमात्र को करना आवश्यक ही है। मनुष्यकी उन्नतिका यही एकमात्र साधन है। श्रीमद्भगवद्गीता में जो यज्ञ का महत्त्व वर्णन किया है उसका यही हेतु है। प्रत्येक यज्ञ के लिये परमात्मा का प्राथमिक यज्ञ आदर्श है। पूर्वस्थानमें परमेश्वर बडा था तथापि वह (अवरान् आविवेश) कनिष्ठोंमें भी जाकर प्रविष्ट हुआ, उनमें आवेश उत्पन्न करने लगा, कनिष्ठों के पास रहने लगा। ऐसा जो कहा है वह सब मनुष्यमात्रको आदर्श समझना योग्य है। सब मनुष्य यह आदर्श अपने सामने रखें और अपने अधिकार की घमंड मनमें न रखते हुए कनिष्ठ मनुष्यों के पास जांय, उनकी अवस्था देखें, उनका सुधार करने का यत्न करें और उनकी सेवासे अपनी कृतकृत्यता होगी ऐसा विश्वास मनमें धारण करें। यही तत्त्व उक्त परमात्मयज्ञ अथवा ब्रह्मयज्ञ में है और भगवद्गीतामें कहे 'सर्वभूतहिते रताः' (भ० गी० ५।२५; १२।४) सब भूतोंके हितमें रममाण होने की कल्पनामें है।

"ब्रह्मयज्ञ" शब्दके अर्थोंमें 'ब्रह्मद्वारा अथवा परमात्माद्वारा किया यज्ञ' यह एक अर्थ है, इस का विवरण यहां तक किया, ब्रह्मयज्ञ का दूसरा अर्थ 'ज्ञान द्वारा होनेवाला यज्ञ' है। इसका विचार इस लेखके प्रारंभ में किया है। ब्रह्मयज्ञका तीसरा अर्थ जीवात्मा द्वारा अथवा मनुष्य द्वारा किया जानेवाला ज्ञानयज्ञ है। इसका वर्णन मनुस्मृतिमें

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। (मनु० ३।७०)

अध्यापन ही ब्रह्मयज्ञ है, ऐसा कह कर किया है। यह ब्रह्मयज्ञ अध्ययन अध्यापन की प्रणाली यथायोग्य रीतिसे चलानेसे हो सकता है। 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः' (४।२८) इस शब्दद्वारा इस ब्रह्मयज्ञ का वर्णन यहां हुआ है। स्वाध्यायप्रणाली यथायोग्य रीतिसे चलनेपर मनुष्यका और राष्ट्रका कल्याण निःसन्देह हो सकता है। जिस राष्ट्रमें स्वाध्याय बंद होगा, वह राष्ट्र गिर जायगा। ब्रह्मयज्ञ का चतुर्थ अर्थ 'ब्रह्मरूप बननेके लिये किया जानेवाला यज्ञ' है। इस अनुष्ठान करनेकी विधि (४।२४ में यहां) कही है। "यजमान ब्रह्मरूप है, अग्नि ब्रह्म है, हवनीय पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, यज्ञसाधन ब्रह्मरूप हैं, यज्ञक्रिया ब्रह्म है, हवन किये पदार्थ ब्रह्मरूप हैं। इस तरह सर्वत्र ब्रह्मरूपदर्शन जिसको होने लगा, वह ब्रह्म बनता है।" सब जगत् ब्रह्ममय, आत्मामय है, अतः उसको वैसा ही देखना यही ज्ञान है, इसी विषय में उपनिषदोंका कथन ऐसा है –

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। मांडूक्य० २

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छां० उ० ३।१४।१

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वं। मैत्रि० उ० ४।६

"यह सब ब्रह्म है।" सब ब्रह्ममय है, सब ब्रह्मरूप है, अतः सबको ब्रह्मरूप मानना सत्यज्ञान है। 'सब ब्रह्मरूप है' इसका अर्थ सब आत्मरूप है' ऐसा भी होता है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि यदि मैं आत्मरूप और दूसरा भी आत्मरूप है, तब एक दूसरे का सहायक सेवक अथवा भक्त हुआ, तो वह दूसरेका सहायक सेवक और भक्त नहीं होता, प्रत्युत "स्वयं अपने आत्माकाही सहायक सेवक अथवा भक्त होता है।" जिस समय सर्वत्र सब आत्मरूप दिखाई देता है, उस समय किसी मनुष्यने जनताके लिये आत्मसमर्पण किया, तो उसका अर्थ 'आत्माने आत्माके लिये ही समर्पण किया' ऐसा होता है। (सर्वभूतहिते रताः) सब भूतमात्रके हितमें तत्पर होनेका अर्थहि आत्महितमें तत्पर होना है, क्यों कि सर्वत्र ब्रह्मरूपता दिखाई देने लगी, तो उस समय कोई 'वह अलग और मैं उससे भिन्न' यह कल्पना ही नहीं रहती। इस समय 'परोपकार' भी 'स्वार्थ' बनता है। और स्वार्थ भी परोपकार होता है! देखिये –

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
वा० यजु. ४०।७; ईश० उ० ७

"जिस समय ज्ञानी मनुष्यके अनुभवमें सब भूत आत्मा ही हो गये, उस समय सर्वत्र एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानी मनुष्य को शोक और मोह नहीं हो सकते।" शोक मोह तो 'मैं तू और वह' का भेद रहने तक होते हैं, जब सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन हुआ और भेद मिट गया, उस समय शोक मोह को स्थान ही कहां है?

यजमान, अग्नि, ऋत्विज, हवनसामग्री, यज्ञ-साधन सब ब्रह्मरूप हैं, ऐसा अनुभव होना चाहिये, यह बात यहां (श्लो० ४।२४ में) कही है। यदि किसी को यह अनुभव हुआ, कि वह दूसरे को मारने लगा तो भी अपने आत्माको ही मारता है और दूसरोंके हितके लिये आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करने लगा, तो भी वह अपने आत्माके हितके लियेहि समर्पण करता है; भूखेको अन्न देना, तृषित को जल देना, दुखी मनुष्यके दुःख दूर करनेके लिये यत्न करना, यह सब आत्म-पूजा, परमात्मोपासना अथवा ब्रह्मयज्ञ ही है; जिसका ऐसा निश्चय होता है और जिस को ऐसा अनुभव होता है, वह सीधा ब्रह्म बनता है। इस तरह मनुष्य प्रारंभस्थितिसे अन्तिम परमोच्च अवस्था को प्राप्त होता है। प्रत्येक अवस्थामें 'ब्रह्मयज्ञ' का आशय कैसा लिया जाता है, इसका विवेचन यहां तक किया है, इस से यह ब्रह्मयज्ञ का विषय पाठकों के ध्यानमें आगया होगा। अब सब की ब्रह्मरूपता के विषयमें एक वचन देखकर इस ब्रह्मयज्ञके विवरण को हम समाप्त करते हैं-

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्,...य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। ... अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद॥
बृ० उ० १।४।१०

"प्रारंभमें ब्रह्म था, उसने अपने आपको देखा और जान लिया कि मैं ब्रह्म हूं, वह सब बना। जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूं, वह यह सब बनता है।...परंतु जो मैं भिन्न हूं और उपास्य देवता भिन्न है, ऐसे भेदभावसे देवता को देखता है, वह अज्ञानी है।" इस तरह ब्रह्मयज्ञकी अन्तिम स्थितिका वर्णन उपनिषदों में है। वेदमें यज्ञपदसे यही वर्णन किया है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
ऋ० १।१६४।५०; १०।९०।१६

"देव यज्ञके द्वारा यज्ञ का यज्ञ करते थे। ये प्रारंभके धर्म थे। इस यज्ञ को करनेवाले बडे होकर स्वर्गको प्राप्त हुए,जहां पूर्व समयके साधक पंहुच चुके थे।" यहां यज्ञसे यज्ञका यज्ञ करनेका क्या तात्पर्य है, इसका विचार करना चाहिये। इसी मंत्रपर निरुक्त और ब्राह्मण ग्रंथमें इस तरह लिखा है—

साध्या देवा अग्रे अग्निनाग्निमयजन्त, ते स्वर्गं लोकमायन्। आदित्याश्चैवै हांगिरसश्च तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त। ते स्वर्गं लोकमायन्। ऐ०
ब्रा० १।१६; निरुक्त० १२।४१

"साध्य, आदित्य और अंगिरस इन देवोंने प्रारंभमें अग्नि द्वारा अग्निका यजन किया।" पाठक यहां देखें कि पूर्व स्थानके यज्ञ शब्द के स्थानपर यहां अग्नि शब्द है। इस का अर्थ देखनेके लिये निम्न लिखित शब्दोंका परस्पर संगतिसे विचार करिये-

ब्रह्मणा	ब्रह्म	हुतम्।	(गी० ४।२४)
यज्ञेन	यज्ञ	जुह्वति	(गी० ४।२५)
यज्ञेन	यज्ञं	अयजन्त।	(ऋ० १।१६४।५०)
अग्निना	अग्निं	अयजन्त।	(ऐ० ब्रा० १।१६)
,,	,,	,,	(निरु० १२।४१)
विश्वकर्मा	आत्मानं	जुहवांचकार।	(निरु० १०।२६)
नः पिता	,,	जुह्वत्	(ऋ० १०।८१।१)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्वयंभु ब्रह्म आत्मानं जुह्वति। (श०ब्रा० १३।४।३।१)
आत्मना आत्मानं अयजन्त
अहं क्रतुः अहमग्निः अहंहुतं (गी० ९।१६)

इन सब शब्दोंका अर्थ (आत्मना आत्मानं अयजन्त) आत्माने आत्माका यजन किया, यही है। वेदमंत्रोंमें, ब्राह्मणग्रंथमें और आधुनिक ग्रंथोंमें भिन्न भिन्न शब्दोंका प्रयोग होता है, परंतु उन सबका आशय एक ही है, यह बात इस तरह तुलना करनेसे विदित हो जाती है, यह प्रणाली पाठकों के ध्यानमें आजाय, इसी लिये यहां इतना विस्तृत विचार किया है। जो गीतामें ब्रह्मका ब्रह्ममें हवन होनेका वर्णन है, वही वेदमंत्रमें 'यज्ञ का यज्ञद्वारा यज्ञ' इन शब्दोंमें है, शब्द भिन्न हैं परंतु अर्थ एकही है। अस्तु इस तरह यहां ब्रह्मयज्ञका विचार समाप्त करते हैं। यद्यपि इसका अधिक विवरण अभीष्ट है, तथापि यहां स्थानाभावके कारण इतनाही पर्याप्त है।

गीता में निम्न लिखित दो श्लोक परस्परसमान हैं। और वे एक दूसरे का अर्थ स्पष्ट करनेके लिये बडे उपयोगी हैं—

गीता. (४।२४)	गीता. (९।१६)
	अहं क्रतुः
	अहं यज्ञः
ब्रह्म अर्पणं	स्वधाऽहं
	अहं औषधं
	मंत्रोऽहं
ब्रह्म हविः	अहं एव आज्यं
ब्रह्म-अग्नौ	अहं अग्निः
ब्रह्मणा हुतम्	अहं हुतम्

जो बात 'ब्रह्म' शब्द द्वारा (श्लोक ४।२४में) बतायी है, वही 'अहं' शब्द द्वारा (श्लोक ९।१६ में) कही है। अतः 'ब्रह्म और अहं' का एक ही आशय है यह बात इससे सिद्ध होती है। प्रत्येक मनुष्य क्रतुमय अथवा यज्ञरूप है। प्रत्येक मनुष्य यज्ञरूप जीवनवाला बनना चाहिये, यह बात छांदोग्य उपनिषद में कही है—

अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति ॥ छां० उ० ३।१४।१

"मनुष्य यज्ञमय है, जैसा यज्ञ करता है वैसा वह बनता है।" इसीलिये 'अहं क्रतुः, अहं यज्ञः' ऐसा गीताने कहा है और इससे दर्शाया है कि मनुष्यका जीवन यज्ञरूप पवित्र बनना चाहिये। क्यों कि यज्ञ ही उन्नति करने का एकमात्र साधन है। उन्नतिका दूसरा मार्ग नहीं है।

मनुष्य आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेसे उच्च अवस्था प्राप्त करता है, यह विषय पूर्वोक्त विवरणसे ही स्पष्ट हुआ। किसी राजाके लिये यदि कोई मनुष्य आत्मसमर्पण करता है, तो वह राजा उसका योगक्षेम चलाता है, फिर जगत्पतिके लिये यदि किसीने आत्मसमर्पण किया और वह उसका सेवक बना, तो वह प्रभु इसको कभी नहीं भूलगा। पाठक इस विषयमें मनमें पूर्ण निश्चय रखें।

दैवयज्ञ।

अब योगियोंके दैवयज्ञ का विचार करेंगे। यहां 'योगी' शब्द का अर्थ 'कर्मयोगी' है। हठयोगी के यज्ञोंका विचार आगे (श्लो० २७, २९ ३० में) आनेवाला है। कर्मयोगी का अर्थ है शास्त्रोक्त कर्म कुशलतासे करनेवाला। ये कर्मयोगी देवताओंके उद्देश्य से पूजा संगतिकरण दानात्मक यज्ञकर्म करते हैं। मनुष्यका जीवित ही देवताओंके संगतिकरण पर अवलंबित है। देवताओंके संगतिकरणसे इस मनुष्यको सहायता न मिली, तो यह जीवित भी नहीं रह सकता। देखिये उलूखल और मूसल ये दो देवताएं हैं। इनकी संगतिकरण से धान्य स्वच्छ किया जाता है और वह यज्ञके लिये योग्य होता है। तथा मनुष्यके खाने योग्य बनता है। भूमि और जल ये दो देव हैं इसके संगतिकरण से बीज का वृक्ष

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

बनता है और उसके फल मनुष्य खाता है और सुखी होता है। गृह देवता है, वृक्ष देवता है, इन के संगतिकरण से मनुष्य गृहमें रहता और उद्यान में विचरता है। इस तरह देवताओंका सत्कार, संगतिकरण और दानरूप यज्ञ करनेसे हि मनुष्य का जीवन चल रहा है। और देखिये 'गौ आप् तृण और सूर्य' ये देवताएं हैं। गौ का जल तृण और सूर्य प्रकाश के साथ संगतिकरण करनेसे, गौका सत्कार करनेसे और उसको योग्य नैवेद्य समर्पण करनेसे वह गौ सुप्रसन्न होकर मनुष्यको उत्तम अमृतरूपी दूध देती है; जिससे मनुष्य पुष्ट और दीर्घजीवी होते हैं। यज्ञ में विविध पदार्थोंका हवन किया जाता है, और यज्ञमें सूर्य अग्नी वायु भूमि आदिका संबध आता है, इससे इनका संगतिकरण होकर मनुष्य सुखी होता है। न समजते हुए यह संगतिकरण की बात यज्ञविधिसे सिद्ध होती है और उससे अन्यान्य लाभ भी होते हैं। कर्मयोगी देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं और उससे शुभ फल प्राप्त करते हैं। मनुष्योंमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अथवा ज्ञानी शूर व्यापारी और कारीगर ये भी देव हैं। इनका सत्कार और संगतिकरण करनेसे राष्ट्रका व्यवहार चलता है और अनंत मनुष्योंका कल्याण होता है। नरमेध नामक यज्ञ मनुष्योंके संगतिकरण करनेके लिये है, राजसूय यज्ञ राष्ट्र-पर अधिकारी चुननेके लिये होता है। अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम सोमयाग आदि यज्ञ विविध प्रकारके मानवी संगतिकरण के लिये रचे हैं। गो मेधसे गौवोंका महोत्सव किया जाता है, उससे गोसमृद्धि होती है। इस तरह प्रायः अनेक यज्ञ संगतिकरण के तत्त्वपर रचे हैं और इनसे मनुष्यमात्र को सुख होता है। इन यज्ञोंके विषयमें और एक बात विचारणीय है, वह अब देखिये—

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।

गोपथ ब्रा० उ० १। १९

ओषधीष्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति।

गोपथ ब्रा० उ० ९ २।१३

"ये यज्ञ औषधियोंके महामख होते हैं, अतः ऋतुओंकी संधियोंमें प्रयुक्त होते हैं क्यों कि ऋतुओंकी संधिमें व्याधियाँ होती हैं। औषधियोंमें यज्ञ प्रतिष्ठित होते हैं।" इस तरह यज्ञमें जो औषधियों का संगतिकरण होता है, उससे रोग दूर होनेसे मनुष्य के सुख की वृद्धि होती है। सब आयुर्वेदकी प्रक्रियाएं देवताओंके अर्थात् औषधि देवताओंके संगतिकरण से सिद्ध हुई हैं। संपूर्ण सूपशास्त्र, देवताओंके संगतिकरणसे सिद्ध हुआ है। समाजशास्त्र, राज्यशासनशास्त्र, राष्ट्रीय अर्थशास्त्र तथा कई अन्य शास्त्र इसी देवतासंगतिकरण के फल हैं। इसका नाम 'देवयज्ञ' है। यह महत्त्वपूर्ण विषय है, तथापि यहां इसका संक्षेपसे स्वरूप कथन किया है जिसके पढनेसे पाठक इस विषयको समझ सकते हैं। आजकल देवयज्ञ का एक अंश हवनरूपसे अवशिष्ट रहा है, शेष सब लुप्त हुए हैं। पूर्वोक्त रीतिसे विचार करने पर पाठकों को संपूर्ण देवयज्ञ की कल्पना हो सकती है।

यज्ञका यज्ञ।

आगे पचीसवें श्लोक के उत्तरार्धमें 'ब्रह्माग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञका हवन करते हैं' ऐसा कहा है, इस यज्ञ के स्वरूपका कथन तो पूर्वस्थानमें ब्रह्मयज्ञके वर्णन के प्रसंगमें हो चुका है, तथापि यहां इतना कहना आवश्यक है कि 'यज्ञद्वारा यज्ञ का ब्रह्ममें यजन' यह अद्भुत 'समर्पण-योग' है। सर्वभूतोंके हित के लिये आत्मसमर्पण करनेका यह एक यज्ञ है। यह समर्पणरूप यज्ञ करनेके समय 'मैं आत्मसमर्पणरूप बडा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा हूं, इससे सब जनता का कल्याण करनेवाला मैं हूं' इस तरह का अहंकार उत्पन्न होता है और इस अहंकारसे मनुष्यका अधःपात होता है। इस लिये यहां कहा है कि 'अपने आत्म-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

समर्पणरूप यज्ञका भी परमात्मामें पूर्णतया समर्पण करना चाहिये।' और अहंकार को समूल दूर करना चाहिये। यह भाव 'यज्ञका ब्रह्माग्निमें हवन' करनेका है। अर्थात् आत्मसमर्पण करना चाहिये इतना ही नहीं, परंतु (यज्ञेन यज्ञं) आत्मसमर्पण का भी समर्पण करना चाहिये और 'मैं परोपकार का कृत्य करता हूं,' इसका भी ज्ञान नहीं होना चाहिये। यज्ञ करना स्वभावधर्म बनना चाहिये।

संयमाग्निमें हवन।

'सब इन्द्रियोंके कर्मों और सब प्राणोंके कर्मोंको ज्ञानसे प्रज्वलित हुए आत्मसंयमरूप योगाग्निमें हवन करना चाहिये।' (२७) इस स्थानपर आत्मसंयम करनेका उपदेश है। ज्ञान से अर्थात् आत्मज्ञान से, परमेश्वरविषयक ज्ञानसे किंवा ब्रह्मज्ञान होनेसे पूर्ण आत्मसंयम हो सकता है, इससे पूर्व यथाशक्ति अथवा यथाप्रयत्न होगा। सामान्य मनुष्योंकी प्रवृत्ति भोगोंकी ओर होती है, जैसा पशु हरेभरे खेतकी ओर आकर्षित होता है, वैसाहि सामान्य मनुष्य भोग की ओर आकर्षित होता है। इसको असंयम कहते हैं और यही मनुष्यों की गिरावट का हेतु है। अतः आत्मज्ञान से आत्मसंयम को प्रदीप्त करके उसमें इंद्रियकर्मों को और प्राणकर्मोंको स्वाहा करना चाहिये। इस का सरल और सुबोध अर्थ यह है कि आत्मसंयम करके इंद्रियों के और प्राणोंके कर्म जितने होंगे उतने करने चाहियें। इंद्रियोंको स्वैर नहीं छोडना चाहिये।

ज्ञानेन्द्रियोंसे और कर्मेंद्रियोंसे मनुष्य भोग भोगता है। यदि इन इन्द्रियोंका संयम न किया जाय, तो मनुष्य अत्यधिक भोगमें प्रवृत्त होगा और गिरेगा। संयमसे भोगेच्छाका और भोगसाधनरूप इंद्रियोंका नियमन करनेसे भोगप्रवृत्ति मर्यादित रहेगी और मनुष्य की उन्नतिकी संभावना होगी। (२६ वें श्लोकमें भी) कान आदि इंद्रियोंका संयमाग्निमें हवन करनेका तात्पर्य यही है। सामान्य मनुष्य इंद्रियों का भोगाग्निमें हवन करते हैं, इंद्रियोंके कर्मोंका भी भोगाग्निमें हवन करते हैं। वैसा नहीं करना चाहिये। इनका हवन संयमाग्निमें करना चाहिये, और यह संयमाग्नि ज्ञानसे प्रदीप्त करना चाहिये। ज्ञान का अर्थ अपने 'मोक्षसंबंधी ज्ञान' है। इसीसे संयम सिद्ध होता है। और उसका इष्ट परिणाम इंद्रियों और प्राणोंके कर्मोंपर होता है।

आगे (श्लोक २८ में) (१) द्रव्ययज्ञ, (२) तपोयज्ञ, (३) योगयज्ञ और (४) स्वाध्यायज्ञानयज्ञ करनेवाले नियमपालक यतियोंकी प्रशंसा है। ये चार यज्ञ करनेवाले लोग क्या क्या करते हैं, इसका थोडासा विचार करना यहां आवश्यक है—

(१) द्रव्ययज्ञ= द्रव्यका यज्ञ करनेवाले। द्रव्य का अर्थ धनदौलत और पदार्थमात्र ऐसा दो प्रकार का है। जो धनवान् होते हैं वे अपने पास का धन जनताके कल्याण करनेके कार्य करनेके लिये अर्पण करते हैं, इनको द्रव्ययज्ञ करनेवाले कहा जाता है। वापी, कूए, तालाव, घाट, मंदिर, धर्मशाला, पाठशाला, गुरुकुल, अनाथालय आदि अनेक संस्थाएं जो जगत्में चल रहीं हैं, वे द्रव्ययज्ञसे हि चल रही हैं। राष्ट्रमें मनुष्य जितना अधिक द्रव्ययज्ञ करेंगे, उतनी ऐसी संस्थाएं अधिक कार्य करेंगी और उतनी जनताकी उन्नति अधिक होगी। दूसरे प्रकारका जो द्रव्ययज्ञ है वह अपने पासके पदार्थ देनेसे होता है-जैसा गुरुकुलोंको गौओंका दान देना, मुष्टिभागसे धान्य आटा आदि देना, धान्य, घी, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पदार्थ दान करके पूर्वोक्त संस्थाओंकी सहायता करना, अथवा गरीबोंकी सहायता करना। यह यज्ञ भी बडा उपयोगी है। ऐसे द्रव्ययज्ञोंसे अनेक संस्थाएं चलती हैं और जनतापर बडा उपकार होता है।

(३) तपोयज्ञ=तप करनेवाले लोग। तपका अर्थ

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शीत उष्ण आदि सहन करके धर्मकार्य करना। यम नियम व्रत उपवास आदिके द्वारा अपनी पवित्रता संपादन करना। यह व्रताचरणरूपी तप आत्मशुद्धिके लिये बडा उपयोगी है। प्रायः मनुष्य धर्माचरण करना चाहता है, परंतु थोडे कष्ट हुए तो उसका मन चंचल होकर वह कार्य छोड देता है। परंतु जो शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करने की शक्ति रखता है वह कष्टोंकी पर्वाह नहीं करता और अपने धर्माचरण में दत्तचित्त रहता है और उन्नत होता जाता है। तप अनेक प्रकार का है, इस विषयमें निम्न लिखित वचन देखने योग्य है-

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ महाना० उ० १।१०
तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा । केन उ० ३३
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । तै० उ० १।९।१
तपसा प्राप्यते सत्वम् । मैत्रि० उ० ४।३
तपसाऽपहतपाप्मा । मैत्रि० उ० ४।४
लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा । मुण्ड० ३३।१।५
तपो ब्रह्मचर्यम् । प्रश्न उ० १।१५
तपो वैराग्यम् । महा० उ० २

'सरलता, सत्य, विद्याध्ययन, शान्ति, इंद्रिय-दमन, मनःसंयम, दान, यज्ञ, अपने (भूः) अस्तित्व, (भुवः) ज्ञान और (स्वः) आनन्द के लिये प्रयत्न करना, (ब्रह्म) ब्रह्मप्राप्ति का अनुष्ठान करने का नाम तप है ॥ तप दम और कर्म ही सब का आधार है॥ स्वाध्याय और उप-देश करना यह तप है ॥ तपसे बल प्राप्त होता है॥ तपसे पाप दूर होता है॥ तपसे आत्माकी प्राप्ति होती है ॥ ब्रह्मचर्य तप है और वैराग्य भी तप है ॥''

इन वचनों के मननसे तप की कल्पना पाठक कर सकते हैं। तप सर्वत्र लाभदायक है और तपका जीवन न व्यतीत करना हानिकारक है।

(३) योगयज्ञ=योग का अनुष्ठान करनेवाले। यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधिरूप अष्टांग योगका अनुष्ठान करनेवाले योगी जन योगयज्ञ करते हैं और आत्मोन्नति प्राप्त करते हैं। 'योग' का दूसरा अर्थ 'मेल करना' है। वैद्यशास्त्रमें अनेक औषधियोंका संयोग करनेके लिये योग शब्द प्रयुक्त होता है। दीर्घायुर्योग, जीवनीय योग आदि औषधियोगसे शरीरस्वास्थ्य, दीर्घायुसाधन, नीरोगताप्राप्ति आदि करते हैं और अपना तथा जनता का हित साधन करते हैं। औषधालयों में यहि योग किया जाता है जिससे रोगीयोंके रोग दूर होकर बडा लाभ होता है। यह योग बडा उपकारक है। इसी तरह विविध शास्त्रोंमें 'योग' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। पाठक विचार करके जो यहां लग सकते हैं उनका समावेश इस विभागमें करें।

(४) स्वाध्यायज्ञानयज्ञ= स्वाध्याययज्ञ करने वाले और ज्ञानयज्ञ करनेवाले। स्वाध्याय का अर्थ है (स्व+अध्याय) अपनी उन्नतिके लिये जो जो आवश्यक विद्याएं हैं उनका अध्य-यन करना। और ज्ञानयज्ञ का अर्थ है जो ज्ञान अपनेको विदित हुआ है वह दूसरोंको समझाना। अर्थात् अध्ययन और अध्यापन ये दोनों बडेभारी यज्ञ हैं और ये दोनों संपूर्ण मानव समाज की उन्नति करनेवाले हैं, क्योंकि ज्ञानसेहि सबका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होगा। जगत् के प्रारंभसे इस समय तक जो ज्ञान का प्रवाह चलता आ रहा है वह कितने मनुष्यों के लिये उपकारक हुआ है, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। जो कुछ मानवी समाजकी उन्नति इस समय हरएक पहलूमें दीख रही है, वह सब इसी स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ अर्थात् पठण और पाठणसे हि हो रही है। यहां स्मरण रहे कि यह पठण और पाठण 'यज्ञ' रूप होना चाहिये। आजकल यह एक धंदा हुआ है और ऐसे ग्रंथों का पठण पाठन किया जाता है कि जिससे मनुष्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

की प्रवृत्ति बिघडती है, धर्मकी ओर न जाती हुई अधर्मकी ओर होती है। इसलिये इससे मानवी समाज बिगड रहा है। अतः इसको सुधारनेके लिये स्वाध्याय और ज्ञान 'यज्ञरूप' होना चाहिये, अर्थात् यह पवित्रता का केन्द्र होना चाहिये।

प्राणायाम।

प्राण और अपानके अर्थ भाषामें कुछ भिन्न हैं और यहां कुछ भिन्न हैं। यहां जो अर्थ है उसका स्वरूप यह है—

(१) प्राण = मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु बाहर जाता है, उसका नाम प्राण है, और

(२) अपान= मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु अन्दर नीचे की ओर जाता है उसका नाम अपान है।

भाषामें इसके बिलकुल विपरीत अर्थ हैं। अतः गीताके श्लोक का अर्थ करनेके समय ये अर्थ स्मरण रखें। (अपाने प्राणं जुह्वति) जो अपानमें प्राणका हवन करते हैं वे पूरक प्राणायाम करते हैं और (प्राणे अपानं) जो प्राणमें अपान वायुका हवन करते हैं वे रेचक प्राणायाम करते हैं और प्राण तथा अपानकी गतिका निरोध करने वाले कुंभक प्राणायाम करते हैं। चौथे प्राणोंका प्राणोंमें हवन करनेवाले अर्थात् जिस प्राणवायु की स्वाधीनता हो जावे उसीमें दूसरे प्राणों का अर्पण करके अन्तमें सब प्राणोंको स्वाधीन करते हैं। वायु को बाहर निकाल कर बाहर रोकना, अन्दर भरकर अन्दर रोकना, बाहर जानेकी और अन्दर आनेकी इन दोनों गतियोंको रोककर प्राणको स्थिर करना और समगतिसे प्राणापान को चलाना ये प्राणायाम हैं। प्राणायाम विशेष महत्त्वका विषय है और वह सुयोग्य गुरुके पास रह कर अध्ययन किया जाय तो ही वह आयुरारोग्य तथा योगसिद्धि देकर मनुष्यको समाधिसिद्धि तक पहुंचाता है। परंतु उसमें यदि दोष हुए तो विविध रोग उत्पन्न करता है। इसलिये इसका विशेष अभ्यास पुस्तक पढकर नहीं हो सकता, अतः प्राणायामोंका सविस्तर वर्णन यहां करना उचित नहीं है। जो पाठक प्राणायाम का अभ्यास विशेष करना चाहते हैं वे किसी उत्तम योगीके आश्रम में रहकर अपना साधन करें।

प्राणायाम करने वालों को 'नियताहार' अर्थात् नियमित भोजन करना चाहिये। पेट भर भर कर आकण्ठ भोजन करनेवालों से प्राणायाम नहीं होगा। पेटमें दो भाग अन्न, एक भाग जल सेवन के पश्चात् एक भाग पेट खाली रखना चाहिये। गाय का दूध घी आदि सात्त्विक भोजन करना योगाभ्यासियोंको उचित है। राजस अथवा तामस भोजन करनेवालोंको प्राणायाम से कदापि सुख नहीं होगा। उत्तम गुरुके पास रहकर प्राणायाम करनेसे शरीर (क्षपितकल्मषाः) दोषरहित हो जाता है और अपने आत्माकी शक्तिका अनुभव मिलता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।(३१)

"यज्ञ करके जो अन्न शेष रहता है, उसको अमृत कहते हैं, इस अमृत का भोजन करनेवाले लोग सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।" अर्थात् ये ब्रह्मरूप बनते हैं। पूर्वोक्त अनेक यज्ञ करके अपने सर्वस्वका अर्पण करनेके पश्चात् जो कुछ बनता है, उसका भोग अपने लिये करनेसे मनुष्य का आत्मा उन्नत होता है। दान करके जो अवशिष्ट रहता है, वही अपने भोगके लिये रखना चाहिये। यही भाव यजुर्वेद के मंत्रमें कहा है-

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मा गृधः। कस्य स्विद्धनम्? वा० य० ४०।१; ईश० १

"इस कारण त्यागसे, दान करके, भोग कर, मत ललचा, किस का भला धन है?" अपने पास जो धन, द्रव्य, ज्ञान, विद्या, तथा अन्य पदार्थ होगा, उसका दान जनताकी भलाई के लिये करके जो कुछ बचेगा उसका स्वयं भोग करना योग्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

है, इससे अधिक भोगोंकी लालच धारण करना अधर्म है, क्यों कि किसी एक व्यक्तिका धन नहीं है। धन तो सब का है। इसी लिये जो अपने पास अत्यधिक संग्रह करते हैं वे पापी होते हैं, और जो अपने पासके धनादिका दान द्वारा यज्ञ करते हैं, वे ही उसका योग्य उपयोग करते हैं, अतः वे पुण्यशील होते हैं और येही सद्गतिको प्राप्त करते हैं।

यज्ञ न करनेसे इस लोकमें भी सुव्यवस्था नहीं होती, (न अयं लोकः अयज्ञस्य) यदि मनुष्यों में से दानभाव, त्यागभाव अर्थात् यज्ञभाव लुप्त हो जाय, तो वे मनुष्य ही नहीं रहेंगे; वे पशुओंसे भी गिर जांयगे। मनुष्योंका मनुष्यपन यज्ञभावसेहि स्थिर रहता है। मनुष्यके साथ यज्ञकी उत्पत्ति हुई है ऐसा जो (भ० गी० ३।१० में) कहा है उस का यही उद्देश्य है। मनुष्य वाचक 'नर' नाम (न रमते) जो भोग में नहीं रमता, जो त्यागभावसे रहता है, जो यज्ञरूप जीवन व्यतीत करता है, इस अर्थका वाचक है। मनुष्यवाचक 'जन' नाम संतान उत्पन्न करनेके अर्थ में है, यहां वीर्य का यज्ञ करनेका भाव है। वीर्यका यज्ञ करनेका अर्थ धर्मानुकूल गृहस्थधर्मका आचरण करना है। मनुष्यवाचक नामों में 'व्राताः' 'पञ्चजनाः' आदि शब्द सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेका अर्थ बतानेवाले हैं और सामुदायिक जीवन यज्ञसे हि सुखकर हो सकता है, अयज्ञीय वृत्तिवाले स्वार्थी भोगी लोगों का संघ अन्तमें दुःखकारक ही सिद्ध होगा। इस तरह देखनेसे मनुष्यका संबंध यज्ञके साथ घनिष्ट है, यह बात स्पष्ट होती है। अर्थात् यदि इस लोकमें यज्ञके विना उन्नतिकी संभावना नहीं है, तो भला (कुतः अन्यः) पर लोक यज्ञके विना प्राप्त होगा यह कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् इहपर लोकमें जो उच्चता प्राप्त होती है, वह यज्ञ, दान और त्याग भावपर हि अवलंबित है।

इस तरह अनेक यज्ञ (ब्रह्मणः मुखे=ज्ञानके मुख्य भागमें) वेदमें कहे हैं। ये सब यज्ञ (कर्म-जान् विद्धि) कर्मसे सिद्ध होनेवाले हैं, कर्म न करनेपर एक भी यज्ञ सिद्ध नहीं होगा, यह बात जाननेसे (एवं ज्ञात्वा वि मोक्ष्यसे) विशेष रीतिसे मनुष्य मुक्त होगा। कर्मसे यज्ञ सिद्ध होते हैं इतनी बात जाननेसे मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होता है, कर्म करनेसे सब प्रकार के छोटे बडे यज्ञ सिद्ध होते हैं, इससे उसको ज्ञान होता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त होता है। कर्मसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसका यह आशय है। यही बात अगले श्लोकमें कही है—

द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान्। (४।३३)

"द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है," अधिक कल्याण करनेवाला है। धन, द्रव्य, गौ, भूमि तथा अन्य पदार्थ अथवा ज्ञानसे भिन्न किसी वस्तुका दान करनेसे जो लाभ होते हैं उससे कई गुणा अधिक लाभ ज्ञानका दान करनेसे होता है। अध्यापक, गुरु, आचार्य, शिक्षक आदिकों का जो महत्त्व है वह इसी कारण है। ये राष्ट्रनिर्माता हैं। शिक्षासे हि सब कुछ उन्नति साध्य होती है। (ज्ञानात् मोक्षः) ज्ञानसे मोक्ष होता है, ज्ञानसे स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, ज्ञानस स्वाधीनता प्राप्त होती है, ज्ञानसे अभ्युदय और निश्रेयस् मिलता है, यह बात सत्य है। यहां जैसा लौकिक ज्ञान लौकिक व्यवहार का साधक है, उसी तरह पारमार्थिक ज्ञान पारमार्थिक सिद्धिको प्राप्त करानेवाला है। अर्थात् दोनों स्थानोंमें ज्ञानसे शुभ अवस्था मिलती है। अतः कहा है—

सर्वं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते। (४।३३)

"सब कर्मोंकी समाप्ति ज्ञानमें होती है।" ज्ञानमें कर्म समाप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान होनेके पश्चात् कर्म रहते नहीं। क्योंकि आत्मज्ञान किंवा ब्रह्मज्ञान अन्तिम है, जो प्राप्त होनेके पश्चात् कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता। यह ज्ञान किस तरह प्राप्त होता है इस विषयमें अगले श्लोकोंमें

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(११) ज्ञानका महत्त्व।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्स्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

अन्वयः— प्रणिपातेन प्ररिप्रश्नेन सेवया तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः ज्ञानं ते उपदेक्ष्यन्ति तत् (त्वं) विद्धि॥३४॥ हे पाण्डव! यत् ज्ञात्वा (त्वं) पुनः एवं मोहं न यास्यसि, येन भूतानि अशेषेण आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि॥३५॥ (त्वं) सर्वेभ्यः पापेभ्य अपि पापकृत्तमः असि चेत्, सर्वं वृजिनं ज्ञानप्लवेन एव संतरिष्यसि॥३६॥ हे अर्जुन! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मसात् कुरुते, तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ॥३७॥

प्रणाम, विवेकके साथ प्रश्न और गुरुकी सेवा करनेसे तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे। उनसे उस ज्ञान को तू जान ॥ ३४ ॥ हे पाण्डव! जिस ज्ञानको जाननेसे तू फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा और जिससे सब भूतोंको अपने आत्मामें और मुझमें तू देखेगा ॥ ३५॥ यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी सब पापको ज्ञानरूप नौकासे उत्तम रीतिसे पार कर जायगा ॥३६॥ हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जला डालती है, वैसेहि ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को दग्ध करती है ॥३७॥

भावार्थ— यदि कोई मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक है, तो वह सद्गुरुके पास जावे, उसको दण्डवत् प्रणाम करे, उसकी मनोभावसे सेवा करे और अपने मनोगत प्रश्न विवेकपूर्वक और निष्कपट भावसे उसे पूछे। शिष्य की सेवासे सन्तुष्ट होकर वह सद्गुरु उसको सत्य ज्ञानका उपदेश करेगा ॥ इसी सत्य ज्ञानसे मनुष्य मोह-जालमें नहीं फंसता और सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतमात्रमें देखता है॥ पापीसे पापी मनुष्य भी इसी ज्ञानसे पापसे पार हो जायगा॥ क्योंकि ज्ञानसे हि सब कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले बंधन दूर होते हैं॥३४-३७॥

बडा उत्तम उपदेश है, उसका अब मननपूर्वक अवलोकन कीजिये—

ज्ञानप्राप्तिके साधन।

(३४—३७) ज्ञान किस तरह प्राप्त किया जा सकता है, इस का उपदेश यहां किया है (१) प्रणिपात, (२) परिप्रश्न और (३) गुरुसेवा करने से ज्ञान प्राप्त होता है। आजकलके लोग कहेंगे कि फीज के रुपये भरनेसे ज्ञान प्राप्त हो रहा है,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

फिर ये तीन शर्तोंकी आज क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में निवेदन है कि आजकल जो विद्या पैसे देनेसे प्राप्त हो रही है, वह जगत् में भयानक वैरभाव उत्पन्न कर रही है, इससे जितना जगत् का नाश हो रहा है, उतना नाश रोगादि से अथवा क्रूर श्वापदोंसे भी नहीं हो रहा है। अतः वह विद्या अथवा ज्ञान कहलाने योग्य भी नहीं है। यह तो अविद्या अथवा अज्ञान है जो फीज देकर खरीदा जा रहा है। यह भी अध्यापक को प्रणाम करके, उनसे प्रश्न पूछकर और उनके पास बैठकर प्राप्त होता है। एक न एक रूपमें इन तीन शर्तोंको पूर्ण करके हि यह ज्ञान प्राप्त होता है। अतः इन तीन शर्तोंकी आवश्यकता है यह बात निर्विवाद है। अतः ऋषिपरंपरा के अनुसार अहंभाव छोडकर सद्गुरुकी सेवा करके, उनकी संगतिमें रहकर, उनके आचरण देखते हुए, सत्यज्ञान प्राप्त करने से निःसन्देह अधिक लाभ होगा। आजकल या सदा सर्वदा यही पद्धति ज्ञान प्राप्त करनेके लिये लाभदायक है। आज भी गुरुशिष्यका निवास एकत्र होना चाहिये, यह तत्त्व सर्वमान्य हुआ है, एकत्र निवास हुआ परंतु गुरुके विषयमें शिष्यके अन्तःकरण में श्रद्धा भक्ति न हुई, और शिष्य अपनीहि ऐंटमें अकड कर रहने लगा, तो उसे क्या लाभ होगा? इसलिये शिष्यमें नम्रता रहनी चाहिये, उसके मन में अहंभाव नहीं रहना चाहिये और गुरुके विषयमें भक्ति चाहिये। ऐसा शिष्य यदि गुरुके सन्निध रहेगा और गुरुसे प्रश्न पूच्छेगा, तो गुरु उसे योग्य ज्ञान देगा। यदि यह शिष्य मनोभावसे गुरु की सेवा शुश्रूषा करेगा और गुरुका प्रेम संपादन करेगा, तो उसमें जो विशेष दिव्यता होगी, वह सब पाठक अपनी कल्पनासे जान सकते हैं। इस तरह प्रणिपात परिप्रश्न और सेवा करनेसे हि गुरूसे ज्ञान प्राप्त होता है। अध्यात्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान तो सद्गुरु की सेवा करनेसेहि प्राप्त होना संभव है,वह मोल लेना असंभव है और यहां जो 'ज्ञान' शब्द आया है वह विशेषतः इसी मोक्षविषयक ज्ञानके लिये आया है। अतः इस ज्ञान की प्राप्तिके लिये तो ये तीन शर्तें पूरी करना अत्यंत आवश्यक है। यह ज्ञान हरएक पंडित दे नहीं सकता, जो (तत्त्व-दर्शिनः ज्ञानिनः) तत्त्वदर्शी ज्ञानी होंगे, वेही मोक्षज्ञान का उपदेश करनेमें समर्थ होते हैं। अतः जो इस ज्ञानके इच्छुक हैं वे सद्गुरुकी सेवा शुश्रूषा करके, उनसे प्रश्न पूछ कर और उनको नम्रभाव से नमन करके प्राप्त कर सकते हैं।

ज्ञानके फल ।

यह ज्ञान प्राप्त होनेसे कौनसा फल प्राप्त होता है, इस का विचार अब करना चाहिये, क्यों कि फलके विना कौन मनुष्य है जो उसकी प्राप्तिके लिये यत्नवान् होगा? आगेके तीन श्लोकोंमें इस ज्ञान का चार प्रकारका फल कहा है जो सारांशसे यह है—

१मोहका दूर होना।(मोहं न यास्यसि।४।५)
२ अपने में सब भूतोंको और सब भूतोंमें अपने को देखना। (भूतानि आत्मनि द्रक्ष्यसि। ४। ३५)
३ पापके पार होना। (वृजिनं संतरिष्यसि। ४। ३६) और
४ कर्मोंके दोषोंसे बचना। (ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते। ४। ३७)

ज्ञान प्राप्त होनेसे ये चार फल मिलते हैं। इनमें पापके पार होना (४। ३६) और कर्मोंके दोषोंसे बचनेका (४।३७) आशय एक ही है। अतः इन दोनों को एक माननेसे शेष तीन ही फल रह जाते हैं। मोहके कारण पाप करता है, अयोग्य कर्म अयोग्य रीतिसे करता है और वह मोहयुक्त मनुष्य ऐसे कर्म करता है कि जिससे उसकी स्वार्थ साधनेकी इच्छा तृप्त होनेका संभव हो। इसी कारण वह इन कर्मोंसे बद्ध होता है। अर्थात् मोह,पाप और कर्मदोष इनका निकट संबंध है। मोहका अर्थ अज्ञान है,अतः ज्ञान होनेसे मोह दूर होता है,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मोह दूर होनेसे पापप्रवृत्ति हटती है और पाप प्रवृत्ति हटनेसे कर्म सदोष नहीं होते। इस तरह मोहपरंपराके ये दोष ज्ञानसे अज्ञान दूर होनेसे स्वयं नष्ट होते हैं।

अज्ञान	ज्ञान
मोह	मोहनाश
पापप्रवृत्ति	पुण्यशीलता
कर्मदोष	दोषरहित कर्म
बन्ध	मुक्ति

इससे स्पष्ट होजाता है कि ज्ञानसे क्या लाभ है और अज्ञानसे कौनसी हानि है। अर्जुन अज्ञान के कारणहि मोहवश हुआ था, भगवद्गीता का उपदेश श्रवण करनेसे उस में ज्ञान का प्रकाश हुआ, और अज्ञान दूर हुआ। अतः वह स्वकर्तव्य करनेमें समर्थ हुआ। ज्ञानका यह स्पष्ट फल गीतामें दीखता है, अतः कहा है—

मोहनाश।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
(४।३५)

"हे अर्जुन! ज्ञान प्राप्त होनेसे तुझे ऐसा मोह फिर नहीं होगा।" यह ज्ञानसे पहिला लाभ है। आगेके श्लोकोंमें कहा है कि, "पापीसे पापी मनुष्य भी इस ज्ञान को पानेसे पाप के पार हो जाता है। (४।३६)" यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि पापीको ज्ञान कैसा होगा और वह ज्ञानकी नौकामें बैठकर पापसे पार किस तरह होगा? पापी मनुष्य मोहवश होनेसे उसको ज्ञान नहीं होता यह सत्य है, परंतु पापीके किसी अज्ञात कारणसे अथवा पापभोग की समाप्ति होनेपर, उसके मनमें पापके विषय में दोष दृष्टि होती है और सत्संगति करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। वह किसी समय यदृच्छासे सत्संगति प्राप्त करता है, उसको पश्चात्ताप होता है, वह सद्गुरुको शरण जाता है, उसकी सेवा करता है और अपने उद्धारके विषय में प्रश्न पूछता है पश्चात् उसकी कृपासे उसको ज्ञान प्राप्त होकर वह पापी भी उत्तम ज्ञान नौकापर चढकर दोष-समुद्रके पार होता है। इस जगत् में इतिहासमें ऐसे कई पापी देखे हैं कि जो थोडेसे कारण होनेसे बडे पवित्रात्मा बने हैं। पश्चात्ताप होतेही वह सीधे मार्गपर आता है। पश्चात्ताप बहुत शुद्धि करनेवाला है। पश्चात्तापसे तप्त हुआ मनुष्य जिस एकाग्रतासे प्रभुकी शरण जाता है, जिस पवित्र और अहंकाररहित भावसे सद्गुरुकी सेवा शुश्रूषा करता है, उसमें उसकी शुद्धता के बीज हैं। एकवार इस तरह शरणागत हुआ मनुष्य कदापि फिर पापवृत्तिमें नहीं फंसता। इससे पाठक जान सकते हैं कि पापीसे पापी मनुष्यभी किस तरह ज्ञानप्राप्ति करके पुण्यात्मा बनता है। यह कोई असंभव बात नहीं है। सत्संगतिका ऐसाही महत्त्व है। पहिले कितने भी पापोंके पर्वत हुए तो भी ज्ञानाग्निसे उनका भस्म होता है और शरीरभोग रहनेपर भी वह स्वानंदसुखमें मग्न रहता है। इसके लिये एक उत्तम उदाहरण दिया है—

कर्मदोषक्षय।

"जैसा लकडियोंके बडे ढेरको अग्नि लगी तो वह छोटीसी अग्नि सब लकडियों को जलाकर भस्म कर देती है, अग्नि लगनेपर एक भी लकडी अवशिष्ट नहीं रहती, इसी तरह ज्ञानरूप अग्नि लगनेपर सब बुरे भले पूर्व समयमें किये हुए कर्म और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्म और उन कर्मोंके सब दोष जल जाते हैं। उनमेंसे एकभी कर्म और उसका दोष अवशिष्ट नहीं रहता। फिर मनुष्य कितना भी पापी हुआ, तो भी उसके सब कर्म और उन सब कर्मों के दोष ज्ञानाग्निसे जल जानेपर उसके पास क्या अवशेष रह जाता है, जो उसको प्रतिबंध कर सके? यहां पाठक इस उपमा और उपमेय का अच्छा विचार करें। और देखें कि—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते।
(४।३७)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

"ज्ञानरूप अग्निसे संपूर्ण कर्म (और उनके दोष) जल जाते हैं," उन में से एक भी कर्म नहीं रहता कि जिसको भोगनेकी आवश्यकता रहे। पाठक यहां पूछेंगे कि इस श्लोकमें (सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते) सब कर्म भस्म होते हैं ऐसा लिखा है, उन कर्मोंसे उत्पन्न हुए दोष जल जाते हैं ऐसा नहीं लिखा, अतः वे कर्मोंके दोष अवशिष्ट रहते होंगे। परंतु यह शंका व्यर्थ है क्योंकि कर्मके नाश होनेपर कर्ताकी स्थिति कर्म न करनेवालेके समान होगी, कर्ता होता हुआ भी वह अकर्ता होगा (भ० गी० ४। १३); कर्म करने में भी अकर्म अर्थात् कर्म न करनेके समान रहनेकी अवस्था होती है (भ० गी० ४। १८) कर्म करनेपर भी वे सब कर्म लय होते हैं, यह जो उपदेश भगवद्गीतामें अन्यत्र किया है उसका आशय यही है कि ज्ञान होनेसे कर्म और कर्मदोष सब लयको प्राप्त होते हैं और वह मनुष्य शुद्ध होता है।

पापी मनुष्यके दुःखपार होनेकी बात भ० गीतामें आगे भी इस तरह कही है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥ भ० गी० ९

"बडे से बडा दुराचारीभी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करे तो यह मानो कि वह साधु होहि चुका है क्यों कि अब उसका संकल्प शुभ हुआ है॥ वह शीघ्रही धर्मात्मा बनकर निरन्तर शान्ति पाता है। हे अर्जुन! तू निश्चय ही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता॥ हे अर्जुन! जो पापयोनि हैं वे भी, और स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र भी, यदि वे मेरी शरण रहें, तो परम गतिको पाते हैं।"

प्रभुको भक्तियुक्त अन्तःकरणसे शरण जानेसे, सच्चा पश्चात्ताप होनेसे, उत्तम गुरु के पास जाकर उसकी सेवा शुश्रूषा करने से पापी मनुष्य भी पवित्र होकर सद्गति प्राप्त करता है। किसी भी रीतिसे मनुष्य गया तो भी वह अन्तमें ज्ञान प्राप्ति द्वारा ही परमपद प्राप्त करता है। इसमें संदेह नहीं है।

ज्ञानसे सब दोष दूर होनेका एक उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है कि किसी एक धनी मनुष्यके कामधंदेमें बहुत नुकसान आया और उसका दिवाला निकला, पश्चात् बहुत दिन विपन्न दशामें वह रहा, एक दिन किसीने उसके घरमें भूमिगत द्रव्य होनेका ज्ञान उसको दिया। उसने खोदकर वह धन लिया और फिर उसी क्षणमें वह मालदार बना। अपने धनी होनेका ज्ञान होते हि उसका संपूर्ण दारिद्र्य नष्ट हुआ, जल गया और वह फिर उसको सतानेके लिये नहीं रहा। इसी तरह अज्ञानके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष ज्ञान होते ही नष्ट होते हैं।

ज्ञानके इतने लाभ हैं। अब एक लाभ सबसे महत्त्वका है उस का अब विचार करेंगे।

सर्वभूतात्मभाव।

भूतानि अशेषेण आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि।
(४। ३५)

"भूतमात्रको पूर्णतासे अपने आत्मामें और मुझमें देखेगा" यह अन्तिम सिद्धि है और विशेष महत्त्व की भी है; अतः इसका विशेष विचार करना चाहिये। इसी तरह के वाक्य अनेक स्थान पर हैं, उनको इस समय देखिये—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
ईश उ. ६; काण्व य० ४०। ६

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
भ० गी० ६। २९

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
भ० गी० ६।३०

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
श्री० भागवत ११।२।४५;

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥
श्री० भागवत ३।२४।४६;

"जो सब भूतोंको आत्मामें देखता है और सब भूतोंमें आत्माको देखता है उससे कुत्सित कर्म नहीं होते। सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें सब भूत हैं ऐसा जो योगयुक्त आत्मा देखता है उसकी दृष्टि सम हुई होती है। जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये कभी मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिये वह भी कभी नष्ट नहीं होता। सब भूतोंमें जो नित्य प्रभुका स्वरूप देखता है और सब भूत परमात्मा हैं यह अनुभव करता है वह उत्तम भगवद्भक्त है। जो सब भूतोंमें भगवान् और अपना आत्मा है ऐसा देखता है और सब भूत भगवान्में और अपने आत्मामें हैं, ऐसा जो अनुभव करता है वह उत्तम भगवद्भक्त है।" ये सब वचन एकहि भाव बताते हैं।

यहां परमात्मा सब भूतोंमें है इतना कहनेसे परमात्मा सर्वव्यापक है, सब स्थिरचरमें विद्यमान है यह बात स्पष्ट हुई है। परब्रह्म, परमात्मा अथवा आत्मा सर्वव्यापक, 'सर्वगत' (गी० २।२४) है यह बात इससे पूर्व स्थानमें भी कई वार बतायी है।

अहं आत्मा सर्वभूताशयस्थितः। (गी०१०।२०)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजति। (गी० ६।३१)
अहं प्राणिनां देहं आश्रितः। (गी० १५।१४)
सर्वभूतात्मभूतात्मा न लिप्यते। (गी० ५।७)
महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा। (कठ उ०२।२१)

इन वचनोंका आशय यही है कि "एक आत्मा सब भूतोंमें व्यापक है।" जो सब भूतोंको आत्मा के समान मानता है वह दोषोंसे मुक्त होता है। अर्थात् सब भूतोंमें-स्थिरचरमें-एक आत्मा व्यापक है और वह सर्वत्र एकरस ओतप्रोत भरा है, यह जो अनुभव करता है, और उसी तरह मैं अर्थात् मेरा आत्माभी सब भूतोंमें भर गया है ऐसा जिसको अनुभव है, उसको अपना आत्मा और परमात्मा में अभेद का अनुभव होना स्वाभाविक है। यह एक अनुभव है।

दूसरा अनुभव यह है कि (मयि) परमात्मामें सब भूत हैं और अपने (आत्मनि) आत्मामें सब भूत हैं, अर्थात् मैं और आत्मा एक तत्त्व है और उस के अन्दर सब संसार है। ज्ञान प्राप्त होनेसे ये दो अनुभव साक्षात् प्रत्यक्षवत् होते हैं। जिस समय यह अनुभव होगा, उसी समय समझना चाहिये कि 'ज्ञान' हुआ है। ज्ञान का अर्थ शब्दोंका अर्थ जानना नहीं है। ज्ञान का अर्थ यही है कि 'मेरा आत्मा सब भूतोंमें है और सब भूत मेरे आत्मामें हैं यह प्रत्यक्षसा अनुभव होना।' यह ज्ञान अन्तिम सीमा है। यह ज्ञान प्राप्त होते ही उसके सब कर्म और कर्मोंके सब दोष भस्मसात् होते हैं, नष्ट होते हैं, दग्ध होते हैं किंवा बन्धन करने के लिये पीछे नहीं रहते। पापीसे पापी मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करनेसे पापसे पार हो जाता है। और इसी ज्ञान के प्राप्त होनेके बाद उसको कभी मोह नहीं होता है।

पाठक यहां ध्यानमें रखें कि यहां 'ज्ञान'का अर्थ यही है। अन्य व्यावहारिक किंवा प्रापंचिक विद्या इससे भिन्न है। जिस ज्ञानको महत्त्व भगवद्गीतामें वर्णन किया है, वह ज्ञान प्रापंचिक ज्ञान नहीं है, वह ज्ञान सर्वात्मभाव का अनुभविक ज्ञान है। इसी विषयमें छान्दोग्य उपनिषद में कहा है—

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार, तँ होवाच, यदोषा लवणमुदकेऽबाधा अंग तदाहरेति

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तद्धावमृश्य न विवेद ॥१॥ यथा विलीनमे-वाङ्गास्यान्तादाचामेति, कथमिति, लव-णमिति, मध्यादाचामेति, कथमिति, लवण-मित्यन्तादाचामेति, कथमिति, लवणमिति, अभिप्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति, तद्ध तथा चकार, तच्छश्वत्संवर्तते, तँ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किले-ति ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यँ, स आत्मा, तत् त्वं असि० ॥

छां० उ० ६ । १३

इस छांदोग्य उपनिषद् में निम्न लिखित गुरु-शिष्य-संवाद है। यह अत्यंत बोधप्रद है अतः पाठक इसका विशेष विचार करें—

गुरुजी— हे शिष्य ! इस पात्रमें जो उदक है, उसमें यह नमक डाल दे और सवेरे यह मेरे पास ले आ।

शिष्य— अच्छा गुरुजी।

[पश्चात् शिष्यने वैसा किया, तब दूसरे दिन प्रातःकाल गुरुजी शिष्यसे पूछते हैं—]

गुरु— हे प्रिय शिष्य ! कल रात्रिके समय जो नमक जलमें तूने रख दिया था, वह नमक मेरे पास ले आ।

शिष्य— [शिष्यने उस जल में देखा, परंतु उस में नमक उसे नहीं मिला, तब उसने कहा कि] हे गुरो! वह नमक तो यहां नहीं दीखता !

गु०— वह जलमें मिलगया होगा, अस्तु, अब वह जल ऊपरसे थोडासा पीकर देख कि उसकी रुचि कैसी है?

शि०— गुरुजी! यह नमकीन है!

गु०— अच्छा, अब बीच का थोडा पीकर देख, कैसा लगता है?

शि०— यह भी नमकीन है।

गु०— अच्छा, अब सबसे निचले भाग का थोडासा जल पीकर देख तो सही, वह कैसा लगता है ?

शि०— गुरुजी ! वह भी नमकीन ही लगता है।

गु०— हे प्रिय शिष्य ! अब तुम्हें पता लगा कि यह नमक इस जलके साथ एक-रूप हुआ, जलभरमें फैल गया, या व्याप रहा है, अतः वह तुम्हें अलग नहीं दीखता है । यद्यपि वह नहीं दीखता है, तथापि वह उसी में है। इसी तरह यह आत्मा इस सब भूत-मात्रमें व्यापक हुआ है, वही सत्य वस्तु है, उसीको आत्मा कहते हैं, 'वही आत्मा तू है।'

यह उपमा और संवाद परमात्माकी व्यापकता दर्शानेके हेतुसे यहां रखा है। छांदोग्य उपनिषद के इस छटे अध्यायमें यही विषय है। जैसा जल में नमक है और नमकमें जल है, उसी प्रकार सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें भूतमात्र हैं। जो मनुष्य इस बातका साक्षात्कार करता है, उसको ज्ञान हुआ है और वही मोहसे, पापसे और कर्मोंके दोषोंसे दूर होता है।

यह ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होनेके पश्चात् और कुछ भी ज्ञातव्य उसके लिये अवशिष्ट नहीं रहता। इतना इस ज्ञान का महत्त्व है। क्योंकि जब 'मनु-ष्यको मेरे अन्दर जैसा आत्मा है वैसाहि और वही आत्मा सब भूतोंमें है' यह ज्ञान अनुभव-सिद्ध रीतिसे होगा, तब उसके अन्दर आत्मौपम्य बुद्धि स्वभावसे जाग्रत रहेगी, और उसको अन्यान्य उपदेश करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। वह स्वयं अपने स्वभावसेहि दूसरोंपर दया करेगा, दूसरोंकी सहायता करेगा, दूसरोंका भला करेगा, दूसरोंको अभ्युदयके मार्गमें लानेका यत्न करेगा, दूसरोंपर आत्मवत् प्रीति करेगा, उनके साथ प्रेमका व्यवहार करेगा, सबके साथ न्यायसे व्यवहार करेगा, किसीको धोखा नहीं देगा, किसीका धनापहरण नहीं करेगा, किसीकी हिंसा नहीं करेग, किसीके साथ झूट न बोलेगा,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(१२) ज्ञानप्राप्तिके उपाय।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अन्वयः— हि इह ज्ञानेन सदृशं पवित्रं न विद्यते। तत् (ज्ञानं) स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति ॥३८॥ श्रद्धावान्, तत्परः, संयतेन्द्रियः ज्ञानं लभते। ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण परां शान्तिं अधिगच्छति ॥ ३९॥ अज्ञः च अश्रद्दधानः च संशयात्मा विनश्यति। संशयात्मनः अयं लोकः नास्ति, न परः (लोकः), न (च) सुखम् (अस्ति) ॥४०॥

क्यों कि इस लोकमें ज्ञान के समान दूसरी कोई वस्तु पवित्र नहीं है। उस ज्ञानको स्वयं योग द्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध हुआ मनुष्य योग्य समय से अपने आत्मामें प्राप्त करता है ॥३८॥ श्रद्धालु और तत्पर पुरुष इंद्रियसंयम करके ज्ञानको प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्र ही उसको परम शान्ति मिलती है॥३९॥ जिसे ज्ञान नहीं और श्रद्धा भी नहीं है और जो संशयग्रस्त मनुष्य है उसका नाश होता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है, न परलोक है, और न उसे किसी प्रकारका सुख प्राप्त होता है ॥४०॥

भावार्थ— ज्ञानके समान पवित्रता करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। समत्वबुद्धियोगसे सिद्ध हुआ मनुष्य अपनेमें वह ज्ञान योग्य समयके अनुष्ठान के पश्चात् प्राप्त करता है॥ ईश्वरपर श्रद्धा रखनेवाला अनुष्ठानमें तत्पर और अपने इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है। और ज्ञान प्राप्त होनेसे उसको शान्ति प्राप्त होती है॥ अज्ञानी, अश्रद्ध और संशयी मनुष्य का नाश होता है। संशयी मनुष्यको तो इस लोकमें भी सुख नहीं मिलता, फिर परलोकमें कैसा मिलेगा ?

अधिक लोगोंका अधिक कल्याण करनेकी पराकाष्ठा करेगा, सबके साथ आत्मवद्भावके साथ वर्ताव करेगा। यह उसका सहज स्वभाव बनेगा, अतः उसको व्यवहारशास्त्रका उपदेश करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थिति उसको प्रत्यक्ष होगयी है, वह अपने सब व्यवहार प्रत्यक्ष ईश्वरके साथ करनेके समान करेगा, फिर उसके व्यवहारमें कपट छल असत्य आदि दोषोंका उद्भाव कैसे होगा। वह तो आदर्श मनुष्य बनेगा। मनुष्य की पराकाष्ठा की उन्नत स्थिति ही यह है। इसलिये इस ज्ञानकी श्रेष्ठता है।

यह ज्ञानका महत्त्व है, यह ज्ञान किन उपायों से प्राप्त होता है यह विषय अब बताते हैं—

ज्ञानप्राप्तिके हेतु।

(३८-४०) (श्रद्धावान्) ईश्वर, गुरु और सत्यधर्मग्रंथोंके वचनोंपर श्रद्धा रखनेवाला;

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अबतक के विवेचनसे हमें इतना पता चला है कि पितर पृथिवी, अंतरिक्ष तथा द्यु, इन तीनों लोकोंमें निवास करते हैं। इसी परिणाम को निम्न मंत्र प्रमाणित कर रहा है। इस मंत्रमें तीनों लोकों का वर्णन है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशु-
रुर्वन्तरिक्षम्। य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां
तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम॥ अथर्व. १८।२।४९

(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं, (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवीं उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोक में (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए हम (नमसा विधेम) नमस्कार-पूर्वक पूजा करते हैं। यह मंत्र स्वयमेव अधिक स्पष्ट है। यह पितरों का तीनों लोकोंमें निवास होना स्पष्टतया प्रतिपादन कर रहा है।

४ पितृलोक-- 'पिताका कुल वा घर।'

इन उपरोक्त पितृलोकों के सिवाय हमें वेदमें एक ऐसा भी मंत्र मिलता है जिस में कि पितृलोक का अर्थ पिताका घर वा पिताका कुल प्रतीत होता है। मंत्र इस प्रकार है—

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः
अवदीक्षामसृक्षत स्वाहा॥ अथर्व. १४।२।५२

(इमाः) ये (उशतीः कन्यलाः) पति लोक की कामना करती हुई शोभायमान कन्यायें (पितृलोकात्) पितृकुलसे (पतिं यतीः) पतिके पास जाती हुई (स्व—आहा) उत्तम वाणी द्वारा (दीक्षां) दीक्षाको (अवसृक्षत) दें।

नियम व्रत आदि की शिक्षा का नाम दीक्षा है। यहांपर पितृकुल को पितृलोक के नामसे कहा गया है।

५ पितृलोक--पितरों का देश।

निम्न मंत्रमें पितृलोकका अर्थ पैत्रिक भूमि है। जिस भूमिमें वंशपरंपरासे रहते चले आए हैं, उस भूमिका नाम पितृलोकसे यहां कहा गया है।

पंचापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्र दातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम्॥
अथर्व० ३।२९।४॥

(पंच-अ-पूपं) पांचों जनों (ब्राह्मणादि चार वर्ण तथा पांचवां निषाद) को न सडानेवाले अतएव(लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत (शितिपादं अविं) हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागका (प्रदाता) देनेवाला (पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति) पितरोंके देशमें अक्षय होकर जीता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मंत्रमें पितृलोक का अभिप्राय पितरोंका देश है।

पितृलोक के संबन्धमें यहांपर इतना ही विवेचन पर्याप्त है। अब हम 'पितृयाण' पर इसी प्रकार संक्षेपसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे।

पितृयाण।

पितृलोककी स्थापना के अनन्तर हमारे सामने यह सवाल उपस्थित होता है कि इन लोकोंमें कब और कैसे अर्थात् किस मार्ग द्वारा पितर जाते हैं? इस पृथिवी लोकसे अन्य लोकोंमें जानेके दो मार्ग हैं। जिस मार्गसे पितर जाते हैं वह पितृयाण मार्ग कहलाता है। तथा जिससे देवलोक जाते हैं वह देवयान कहलाता है। इसी भावको निम्न मंत्र दर्शा रहा है। मंत्र इस प्रकार है।—

द्वे स्रुती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्या-
नाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा
पितरं मातरं च॥ ऋ. १०। ८८।१५॥ तथा
यजु० अ० १९।४७॥

(मर्त्यानां पितृणां उत देवानां) मनुष्यों, पितरों व देवोंके (द्वे स्तुती) दो मार्ग (देवयान और पितृयाणनामक) (अश्रृणवं) मैंने सुने हैं।(ताभ्यां) उन दोनों मार्गों द्वारा (इदं एजत् विश्वं) यह गतिमान् विश्व (यत्) जो कि (पितरं मातरं च अन्तरा) इस द्यु पिता और पृथिवी माता के बीच में स्थित है, (सं एति) अच्छी प्रकार गति करता रहता है। अर्थात् इन मार्गोंसे आवागमन होता रहता है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

एवं इस मंत्रसे इतना पता चलता है कि देवयान और पितृयाणनामक दो मार्ग हैं जिनसे आवागमन होता है। इसके अतिरिक्त हमें कुछ मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनमें कि पितृयाण मार्गसे जानेका निर्देश पाया जाता है। वे सब मंत्र नीचे दिए जाते हैं।

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणै सं व आ रोहयामि। अव्याड् ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥ अथर्व०१८।४।१॥

(जातवेदसः) हे अग्नियो ! तुम (जनित्रीं आरोहत) अपनी उत्पन्न करनेवालीके पास पहुंचो। मैं (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गों से (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं। (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्यों का वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको (अव्याट्) वहन करता है। हे अग्नियो ! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें (धत्त) धारण करो अर्थात् वहां उसे ले जाओ।

अग्नि और पितरोंका एक विशेष संबन्ध प्रतीत होता है। यह संबन्ध कैसा व क्या है इस पर विस्तारसे विचार आगे 'अग्नि व पितर' इस शीर्षक के नीचे करेंगे। यहां पर तो सिर्फ पितृयाण मार्ग से ही मतलब है। इसी शीर्षक में आगे हम दिखाएंगे कि अग्नि पितृयाण मार्ग को भी जानता है।

प्रेहि प्रेहि पथिभिःपूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ऋ० १०।१४।७॥

यही मंत्र थोडेसे पाठभेद से अथर्ववेद में निम्न प्रकारसे आया है—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैः येना ते पूर्वे पितरः परेताः। उभा राजाना स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ अथर्व० १८।१।५४॥

(यत्र) जहां (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पितर (परेयुः) गए हुए हैं, वहां (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) तू जा। वहां (स्वधया) स्वधासे (मदन्तौ) तृप्त होते हुए (उभौ राजानौ) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम और वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे पता चलता है कि पितरोंके जाने के मार्ग पितृयाण के नाम से प्रख्यात हैं। इस के सिवाय एक मंत्र ऐसा भी है जिसमें कि पितृयाण मार्ग से आनेका भी उल्लेख पाया जाता है।

आ यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पितृयाणैः। आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥ अथर्व० १८।४।६२॥

(सोम्यासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरो ! (गंभीरैः) गंभीर (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गों से (आ यात) आओ। (अस्मभ्यं आयुः, प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो। (पोषैः) अन्य पुष्टियों से (नः) हमें (अभिसचध्वं) चारों ओर से युक्त करो।

इस मंत्र में पितरों के पितृयाण से आकर आयु प्रजा आदि देनेका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त निम्न मंत्र में भी पितृयाण का उल्लेख मिलता है।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥ अथर्व० ६।११७।३॥

(अस्मिन्) इस लोक में हम (अनृणाः) ऋण रहित होवें। (परस्मिन्) पर लोक में (अनृणाः) हम अनृण होवें। तथा (तृतीये लोके) तीसरे लोकमें (अनृणाः) ऋणरहित (स्याम) होवें। (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान व पितृयान मार्ग हैं,(सर्वान् पथः) उन सब मार्गों में (अनृणाः) ऋणरहित हुए हुए (आ क्षियेम) विचरण करें।

इस लोकमें दो प्रकारका ऋण है। (१) भौतिक धन, सोना चांदी आदि उधार लेना। (२) वैदिक- " जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति" (तै. सं. ६।३। १०।५॥) अर्थात् तीन प्रकारका वैदिक ऋण पैदा होते ही मनुष्य पर चढता है। वह तीन प्रकार का ऋण ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

है। ब्रह्मचर्यके पालनसे ऋषिऋण उतरता है, यज्ञ करनेसे देवऋण उतरता है, तथा संतानोत्पत्ति से पितृऋण से मनुष्य मुक्त होता है। निम्न मंत्र पितृयाण मार्गका उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाते हैं, कि कौन पितृयाण मार्गको जानता है और कौन नहीं।

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान। पन्थामनु प्र विद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो विभाहि ॥ ऋ० १०।२।७॥

हे अग्ने !(यं त्वा) जिस तुझको (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक क्रमशः अग्नि और आदित्य रूपसे पैदा करते हैं और (यं त्वा) जिस तुझको (आपः) जल विद्युत् रूपसे पैदा करते हैं, और (यं त्वा) जिस तुझको (सुजनिमा) उत्तम उत्पादक (त्वष्टा) प्रजापति (जजान) उत्पन्न करता है,वह तू (पितृयाणं पंथां) पितृयाण मार्गको (अनु प्र विद्वान्) अच्छी प्रकारसे जानता हुआ (समिधानः) सुप्रज्वलित किया हुआ (द्युमत्) दीप्तिवाला होता हुआ (विभाहि) प्रकाशमान हो।

इस मंत्रमें अग्निको पितृयाण मार्गका जाननेवाला बताया गया है। हम पूर्वही निर्देश कर आए हैं कि अग्नि व पितरोंका विशेष संबन्ध है। उस संबंध पर विशेष विचार आगे किया जायगा। अग्निको छोडकर और कौन पितृयाण मार्ग जानता है यह निम्न मंत्र दिखाता है।—

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति। प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥

अथर्व० १५।१२।४-५

(सः यः) वह जो (एवं) उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् सत्यव्रती अतिथिसे (अतिसृष्टः) आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता है। वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्गको (देवयानं) देवयान मार्ग को भी अच्छी प्रकार जानता है। इसके प्रतिकूल-

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति॥ न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानं ॥

अथर्व० १५।१२।८-९ ॥

जो उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् व्रात्यसे (अनतिसृष्टः) न आज्ञा दिया हुआ(जुहोति) होम करता है। वह (न पितृयाणं पन्थांप्रजानाति) न तो पितयाण मार्ग कोही भली भांति जानता है और नहीं (देवयान) देवयान मार्गका जानता है। अब पितृयाण मार्ग किसे प्राप्त नहीं होता यह नीचे दिया हुआ मंत्र बताता है। मंत्र इसप्रकार है-

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्। यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥ अथर्व० ५।१८।१३ ॥

(देवपीयुः गरगीर्णः मर्त्येषु चरति) देवोंकी हिंसा करनेवाला जहर खाया हुआसा मनुष्योंमें विचरण करता है। वह (अस्थिभूयान् भवति) हड्डियोंकी बहुतायतवाला होता है, अर्थात् शरीरमें मांसादिके न रहनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके शरीरमें हड्डियां ही हड्डियां हैं और अतएव देखनेमें सिवाय हड्डियोंके और कुछ नहीं दीखता। (यः) जो (देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है (सः) वह (पितृयाणं लोकं) पितृयाण मार्गको (अपि) भी (न एति) नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार हमें इतने मंत्रोंसे पता चलता है कि पितृयाण एक खास मार्ग है जिससेकि पितृगण एक लोकसे दूसरे लोकमें आते जाते हैं। अब वह मार्ग कौनसा है यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस प्रश्नपर थोडासा प्रकाश निम्न मंत्र डाल रहा है। इस पर थोडासा प्रकाश अग्नि व पितरके प्रकरणमें भी डलेगा। मंत्र इस प्रकार है-

आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः। इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन् ॥ ऋ. १।१०९।७॥

(वज्रबाहू इन्द्राग्नी) बलवान् भुजाओंवाले इन्द्र और अग्नि (अस्मान् आभरतं) हमारा अच्छी प्रकार भरण करें, (शिक्षतं) शिक्षा दें, और (शचीभिः अवतं) अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें। (नु) निश्चयसे (सूर्यस्य इमे ते रश्मयः) सूर्यकी ये वे किरणें हैं (येभिः) जिनसे कि (नः) हमारे (पितरः) पितर (सपित्वं आसन्) सपित्व हैं।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यहांपर आया हुआ सपित्व शब्द बडे महत्त्व का है। इसीपर थोडासा विशेष विचार करेंगे क्योंकि जो कुछ परिणाम निकाला जासकता है वह इसीपर आश्रित है। सपित्वं 'पि=गतौ' धातुसे औणादिक त्वन् प्रत्यय करनेसे पित्व बनता है। 'समानं च तत् पित्वं च इति सपित्वं' अथवा 'सह पित्वं सपित्वं।' गतिके तीन अर्थ हो सकते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इस प्रकार इस शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं। (१) सहगमन, (२) सहप्राप्ति (३) सहज्ञान। सहगमन और सहप्राप्तिमें विशेष भेद नहीं है क्योंकि सहगमन से सहप्राप्ति होती है। अब हमारे सामने दो पक्ष शेष रहते हैं (१) सहगमन वा सहप्राप्ति और (२) सहज्ञान। इन दो पक्षोंमें से कौनसा अर्थ लेना चाहिए यह विचारना है।

निरुक्तकार यास्काचार्यने निरुक्त अ० ३, पाद३, खण्ड १४ में 'कुहस्विद्दोषा कुहवस्तो रश्विना' इत्यादि ऋ. १०। १४। २॥ की व्याख्या करते हुए 'कुहाभि पित्वं करतः' इस पद समुदाय में आए हुए अभिपूर्वक पित्व शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' ऐसा किया है। वे 'कुहाभि पित्वं करतः' का अर्थ करते हैं 'क्वाभि प्राप्तिं कुरुथः'।

सायणाचार्य ने सपित्वं का अर्थ 'सह प्राप्तव्यं स्थानं' ऐसा किया है। सह शब्द उपपद रखके 'आप्लृव्याप्तौ' धातुसे 'कृत्यार्थे तवैन्केन्केन्यत्वनः, इस सूत्रसे 'त्वन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं' से पिभाव करके सपित्व शब्द व्याकरणानुसार सिद्ध किया है। सायणाचार्य सपित्व की सिद्धि अन्य रीतिसेभी करते हैं। 'षप समवाये' इस धातुसे 'इन् सर्वधातुभ्यः' से इन् करने से सपि शब्द बना कर, 'सपेर्भावः सपित्वं।' अर्थ वही उपरोक्त।

इन दो उपरोक्त आचार्यों के मतानुसार सपित्व का अर्थ सह-गमन वा सह-प्राप्ति है। हम ऊपर पितृलोक के मंत्रों में देख आए हैं कि पितर द्युलोकमें पितृयाण मार्ग से जाते हैं। और यहां इस मंत्र में हम पाते हैं कि पितर सूर्यकिरणों के साथ जाते हैं और उनके साथ वहां पहुंचते हैं। अतः इस से हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितर पितृयाण द्वारा पितृलोक में जाते हैं और वह पितृयाण मार्ग संभव है 'सूर्यकिरणें' हों। इस पितृयाण मार्ग पर विशेष प्रकाश 'अग्नि व पितर' इस प्रकरण में डाल सकेंगे ऐसी हमें आशा है। यहां पर यह संकेत रूपमें लिखा है। पितृयाण मार्ग विशेष विचारणीय है अतः इसके विषयमें एकदम निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। पाठक गण इसपर विचार कर कुछ सहायता करेंगे तो अच्छा होगा।

२ पितरोंके कार्य।

इस लेखमें पितरों के जो कार्य दर्शाए जायंगे उससे यह परिणाम कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पितरोंके कार्यप्रदर्शक मंत्र इतने ही हैं और येही पितरोंके कार्य हैं। पितरोंके अन्य विशेष कार्य दर्शानेवाले और भी बहुतसे मंत्र हैं, परंतु वे अन्य प्रकरणों के लिए अधिक उपयुक्त होनेसे उनको वहीं दिया जायगा।

१ रक्षा करना।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ऋ०१०।१५।१॥ यजु० अ० १९।४९॥ अथर्व० १८।१।४४

(सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे उत् मध्यमाः उत् परासः पितरः) कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्कृष्ट पितर (उत् ईरताम्) उन्नति करें। (ये अवृकाः ऋतज्ञाः) जिन हिंसारहित सत्य वा यज्ञ के जाननेवाले पितरोंने (असुं ईयुः) प्राण, बल वा जीवनको प्राप्त कर लिया है (ते पितरः) वे पितर (हवेषु) संग्रामोंमें-युद्धोंमें वा बुलाए जानेपर (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्। दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥ अथर्व० ८।८।१५॥

(गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सराओंको, (सर्पान्) सर्पोंको, (देवान्) देवोंको (पुण्य-

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जनान्) पुण्यजनोंको,(पितॄन्) पितरों को (दृष्टान् अदृष्टान्) चाहे ये देखे हुए हों या न हों इन सबको (इष्णामि) प्राप्त करता हूं। (यथा) जिससे कि ये सब (अमूं सेनां) उस शत्रु सेनाको (हनन्)मार डालें-नष्ट कर दें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गधर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
सर्वांस्तां अर्बुदे त्वमभित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च
प्रदर्शय॥ अथर्व० ११।९।२४

(वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको, (वानस्पत्यान्) वनस्पतियोंसे उत्पन्न पदार्थोंको (ओषधीः) औषधियोंको (उत) और (वीरुधः) लताओंको (गंधर्वाप्सरसः) गंधर्व तथा अप्सराओंको (सर्पान्) सर्पोंको (देवान्) देवोंको (पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको (पितॄन्) पितरोंको (तान् सर्वान्) इन सबको तथा (उदारान्) उदारोंको (अर्बुदे) हे अर्बुदि! (त्वं) तू (अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) शत्रुओंको देखने लिए कर। अर्थात् इन्हें शत्रुओंको दिखा, ता कि ये शत्रुओंका विनाश करें। इनकी घातक शक्तिका उपयोग शत्रुओंके लिए हो।

अर्बुदिका अर्थ एतेरेय ब्राह्मणने इस प्रकार किया है- ' अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिः मंत्रकृत् ' (ऐ. ब्रा. ६।१) अर्बुद नामका कोई सर्पऋषि था उसका पुत्र अर्बुदि। ' अतइञ् ' इस सूत्रसे इञ्। ' संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इस नियमानुसार आदि वृद्धि न होकर अर्बुदि बनता है।

सायणाचार्यने इसका अर्थ ' अंतरिक्षचर राक्षस व पिशाच अथवा सूर्यरश्मिसे होनेवाले उल्कादि पात यानि आंतरिक्ष्य उत्पात ' ऐसा किया है। इस अर्थ की पुष्टि में उन्होंने तै० ब्रा० का प्रमाण दिया है कि ' तस्मात् ते पानाद् उदारा अजायन्त ' तै० ब्रा० २।२।९।२॥ ' उत् आरयन्ति आर्तिं उद्भावयन्ति इति उदाराः। ' अस्तु, उदार शब्द का कुछ भी अर्थ माना जाए, तो भी हमारे उद्देश में उससे किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती।

इन उपरोक्त मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि पितर युद्धमें हमारी रक्षा करते हैं। हमारे शत्रुओंसे लडकर उनका विनाश कर हमें बचाते हैं। इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंकी युद्धविषयक रक्षाका विधान हैं। अब हम ऐसे मंत्र पेश करते हैं कि जिनमें सामान्य रक्षा का विधान है।

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचनाः उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ऋ. १।१०६।३॥

(सुप्रवाचनाः पितरः नः अवन्तु) उत्तम प्रवचन करनेवाले पितर हमारी रक्षा करें। (उत) और (देवपुत्रे ऋतावृधा देवी) देव अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा जिनके पुत्र-रक्षक-हैं तथा जो सत्य से बढनेवाली हैं ऐसी द्यावापृथिवी भी हमारी रक्षा करें। हे (सुदानवः) उत्तम दानवाले (वसवः) वसुओ! (दुर्गात् रथं न) दुर्गम्यनीय स्थानसे रथकी तरह (विश्वस्मात् अहंसः) सब पापों से (नः निष्पिपर्तन) हमें निकालकर पालो।

अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा सिन्धवः पिन्वमानाः। अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ॥ ऋ० ६।५२।४॥

(जायमानाः उषसः मां अवन्तु) उत्पन्न होती हुई उषायें मेरी रक्षा करें। (पिन्वमानाः सिन्धवः मा अवन्तु) जलका सिंचन करती हुई नदियां मेरी रक्षा करें। (ध्रुवासः पर्वतासः मा अवन्तु) निश्चल पर्वत मेरी रक्षा करें, और (देवहूतौ) देवोंके आह्वान करनेमें (पितरः) पितृगण (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें।

इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंको देवोंके आह्वान के कार्यमें रक्षा करनेके लिए कहा गया है।

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहन्तप्तं वार्बहिर्द्रा यज्ञान्निःसृजामि॥

यजु० अ० ५।११॥

(इन्द्रघोषः त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु) इन्द्रकी वाणी तेरी आगेसे वसुओं द्वारा रक्षा करे। (प्रचेताः रुद्रैः त्वा पश्चात् पातु) प्रचेता रुद्रोंद्वारा तेरी पीछेसे रक्षा करे। (मनोजवाः पितृभिः त्वा दक्षिणतः

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पातु) मनोजव पितरों द्वारा तेरी दक्षिण से रक्षा करे । (विश्वकर्मा आदित्यैः त्वा उत्तरतः पातु) विश्वकर्मा आदित्यों द्वारा तेरी उत्तरसे रक्षा करे। (अहं)मैं (इदं तप्तं वाः) यह गरम जल (यज्ञात्) यज्ञसे (बहिर्धा) बाहिरकी ओर (निःसृजामि) फैंकता हूं। पितर हमारी दक्षिण दिशासे रक्षा करते हैं, अर्थात् दक्षिण दिशासे आनेवाले विघ्नों को पितर दूर करते हैं ऐसा इस मंत्रसे सूचित होता है ।

निम्न मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि पितर किन किन कार्योंमें हमारी रक्षा करते हैं । मंत्र इस प्रकार है—

पितरः परे ते मावन्तु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ अथर्व० ५।२४।१५॥

(ते) वे (परे पितरः मा अवन्तु) पूर्वकालीन वा उत्कृष्ट पितर मेरी निम्न कर्मोंमें रक्षा करें। (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञमें (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्मयज्ञमें । (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहितके (Leading) कार्य में । (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठामें । (अस्यां चित्याम्) इस चेतनायुक्त कार्योंमें । (अस्यां आकूत्याम्) इस संकल्प में । (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वाद कार्यमें । (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंके आह्वानमें । (स्वाहा) ।

इस प्रकार हमने इन मंत्रोंसे देखा कि कहां कैसे पितर हमारी रक्षा का कार्य करते हैं। अब हम पितरों के अन्य कार्योंपर दृष्टि डालते हैं ।

२ सूर्य प्रकाश देना।

अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋत माशुषाणाः । अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः। ऋ० ४।१।१३ ॥

(अत्र) यहां (ऋतं आशुषाणाः) यज्ञ वा सत्यको प्राप्त करते हुए (मनुष्याः पितरः) मननशील पितर (अभिप्रसेदुः) प्रसन्न होते हैं, और (अश्मव्रजाः सुदुघाः) मेघोंमें गमन करनेवाली, सुखसे कामनाओं को पूर्ण करनेवाली (उषसः) उषाओं को (हुवानाः) बुलाते हुए (वव्रे अन्तः) अन्धकारमें (उस्राः) सूर्यकिरणोंको (उत् आजन्) प्राप्त करते हैं। अथवा अंधकारमें सूर्य की किरणें फैंकते हैं यानि सूर्यकिरणों द्वारा सर्वत्र प्रकाश करते हैं। एवं इस मंत्रमें पितरोंका सूर्य प्रकाश देना बताया गया है ।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः । शुचीदयन् दीधितिमुकथशासः क्षामाभिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥

ऋ० ४।२।१६ ॥ तथा यजु० अ० १९।६९॥

यह मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकारसे आया है ।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमानाः । शुचीदयन् दीध्यत उकथशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥

अथर्व० १८।३।२१

(यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः) जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरों ने (ऋतमाशुषाणाः) सत्य वा यज्ञ को प्राप्त करते हुए (शुचिदीधितिं) शुद्ध सूर्य किरणको (इत्) ही (अयन्)प्राप्त किया था और (उकथशासः) उक्थों से प्रशंसा-स्तुति करते हुए (क्षामा=क्षाम) क्षयकारी अंधकारको (भिन्दन्तः) नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओं की किरणोंको (अपव्रन्) प्रकाशित किया था, उसी प्रकार हे अग्ने ! तूभी कर ।

उक्थ वेदों के खास सूक्तों का नाम है । ब्राह्मणों व उपनिषदोंमें उक्थ शब्द प्राणके लिए भी आता है । कहीं अन्न प्रजा आदिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है । क्षामा=क्षाम । ' संहितायां ' से दीर्घ हुआ हुआ है। यद्यपि क्षाम शब्दका पाठ निघण्टुमें पृथिवी वाचक नामों में किया है तथापि यहां क्षाम शब्द का अर्थ प्रसंगसे ' अंधकार ' ही करना उचित है और यही ठीक जंचता है । इसके अतिरिक्त इस विभागमें दिए गए सब मंत्रभी इसी अर्थको पुष्ट कर रहे हैं । पृथिवी को भेदन करने का यहां कोई संबध

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रतीत नहीं होता। अरुणीका अर्थउषः कालकी किरणें ऐसा है। 'अरुण्यः गावः उषसाम्' अर्थात् उषाओंकी किरणोंका नाम अरुणी है। निघण्टुः१।१५॥

इसी प्रकार निम्न मंत्रभी उपरोक्त मंत्र के कथन को ही पुष्ट कर रहा है—

त इदेवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः। गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्द-न्त्सत्यमंत्रा अजनयन्नुषासम्॥ ऋ. ७।७६।४॥

(ते इत् ऋतावानः, कवय, पूर्व्यासः सत्यमंत्राः, पितरः) वे ही सत्ययुक्त, क्रान्तदर्शी, पूर्वकालीन, सत्य मंत्रणावाले पितर (देवानां सधमादः आसन्) देवोंके साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले थे कि जिन पितरोंने (गूळ्हं ज्योतिः) छिपे हुए प्रकाशको (अनु अविन्दन्) प्राप्त किया और (उषासं) उषाको (अज नयन्) उत्पन्न किया।

इस प्रकार इस मंत्रमें भी पितरों के उषा पैदा करके सूर्यप्रकाश देनेकी बातको कहा गया है।

वीळु चिद्दळहा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्न-ङ्गिरसो रवेण। चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वः विविदुः केतुमुस्राः॥ ऋ. १।७१।२॥

(नः अङ्गिरसः पितरः) हमारे अङ्गिरस पित-रोंने (उक्थैः) शस्त्रोंसे, (रवेण) और उक्थ अर्थात् वेदके स्तोत्रोंसे उत्पन्न घोषसे (वीळु चित्) बलवान् तथा (दळहा) दृढ (अद्रिं) मेघको (रजन्) तोड गिराया। अर्थात् वेदमंत्रोंके पाठसे इतना बडा शब्द हुआ कि उससे बादल टूट कर नीचे आगिरे। और तब (बृहतः दिवः गातुं चक्रुः) बडे भारी द्युलोकमें से मार्ग बनाया। और इस प्रकार (अस्मे) हमारे लिए (स्वः अहः केतुं) सुख से प्रापणीय सूर्यको तथा (उस्राः) सूर्यकिरणों का (विविदुः) प्राप्त किया।

इस मंत्रमें उक्थों की महिमा का वर्णन किया गया है और साथही में उन उक्थों की सहायतासे पितरोंने हमारे लिए दिन व सूर्य को प्राप्त किया जिससे कि हमें प्रकाश प्राप्त हो सके, यह दर्शाया गया है पितर बादलों को हटाकर उन्हें छिन्न भिन्न कर हमारे लिए सूर्यप्रकाश पहुंचाते हैं यह इससे स्पष्ट होता है। उपरोक्त मंत्रके इसी भावको निम्न मंत्रभी प्रकट कर रहा है—

स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत्। येन नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन्॥

ऋ. ९।९७।३९॥

(सः) वह (वर्धनः) बढता हुआ (वर्धिता) बढानेवाला (पूयमानः) पवित्र करता हुआ (मीढ्-वान्) सुख वा कामनाओंका वर्षक (सोमः) सोम (नः ज्योतिषा अभि आवीत्) हमारी प्रकाशसे चारों ओर से रक्षा करे। (येन) जिस सोमसे कि (नः पदज्ञाः, स्वर्विदः, पूर्वे पितरः) हमारे परम पदको जाननेवाले पूर्व पितरोंने (गाः) किरणोंको (अभि=अभिलक्ष्य) उद्देश्य करके अर्थात् किरणों की प्राप्तिका उद्देश्य करके (अद्रिं उष्णन्) मेघका अपहरण किया अर्थात् उसे दूर हटाया जिससे कि सूर्यकिरणोंके आनेमें रुकावट न हो।

पूर्व मंत्रोक्त भावको इस मंत्रमें भिन्न रूपसे दर्शाया गया है। उसी बातकी यह मंत्र पुष्टि करता है। 'स्वर्विदः' का अर्थ है सूर्य को जाननेवाले। द्युलोक कोभी स्वः कहते हैं अतः द्युलोकको जानने-वाले भी अर्थ है। यास्काचार्य भी यह अर्थ स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्वः शब्दका निर्वचन निरु० अ० २। पा० ४। खण्ड १४ में निम्न प्रकारसे किया है—

"स्वः आदित्यो भवति। सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता।" अर्थात् स्व आदित्यका नाम है क्योंकि यह सूर्य (सु-अरणः सु ईरणः) पूर्णतया अंधकार को दूर भगानेवाला है।

सु अर् = स्वः। अथवा 'स्वृतो रसान्' यह रसों के प्रति ग्रहण के लिए जाता है। सूर्यका रस लेना प्रसिद्ध ही है। सूर्यके रस लेनेकी बातको कालि-दासने रघुवंश में इस प्रकार कहा है—

'सहस्रगुणमुत्सृष्टुं आदत्ते हि रसं रविः'

अर्थात् सूर्य हजार गुणा वापिस करनेके लिए रसोंको पृथिवी परसे लेता है। सुपूर्वक ऋगतौ। सु+अर् = स्वः। अथवा 'स्वृतो भासं ज्योतिषां'

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अर्थात् चन्द्रादि प्रकाशमानोंको प्रकाशित करनेवाला। अथवा 'स्वृतो भासा' दीप्तीसे युक्त होनेसे सूर्यका नाम स्वः है। इसीसे द्युलोक की भी व्याख्या होगई ऐसा समझना चाहिए।

इस मंत्रमें पितरोंको सूर्यका जाननेवाला कहा गया है अतः इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि संभव है पितर सूर्यलोकमें भी विचरण करते हों। पितरोंकी सूर्यसे घनिष्ठता प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त हमें पितृयाण के प्रकरण में एक ऐसा मंत्रभी मिला है जिसमें कि पितरों की सूर्यकिरणोंके साथ सहप्राप्ति व सहगमन बताया गया है। यहांपर पितरों को सूर्य को जाननवाले बतलाया गया है। अतः इन दोनों बातों को लक्ष्य में रखकर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि पितर पृथिवी लोक से सूर्य किरणों के साथ सूर्य लोकमें जाते हैं और वहांसे फिर द्युलोकमें स्थित पितर लोकमें जाते हैं। अतः संभव है यही पितृयाण मार्ग हो। उपरोक्त दोनों मंत्रोंके भावको निम्न मंत्र और भी स्पष्ट रूपमें पुष्ट कर रहा है-

अभिश्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्। रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरह्न् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ऋ० १०।६८।१॥

तथा अथर्व० २०।१६।११

(बृहस्पतिः अद्रिं भिनत्) जब बृहस्पतिने मेघको तोड गिराया और (गाः विदत्) सूर्य किरणोंको प्राप्त किया तब (कृशनेभिः श्यावं अश्वं न) जैसे सुवर्णके अलंकारोंसे काले घोडेको शोभायमान किया जाता है वैसे (पितरः) पितरोंने (नक्षत्रेभिः द्यां अपिंशन्) पितरोंने नक्षत्रों द्वारा द्युलोकको दीप्त किया व शोभायमान किया। और फिर (रात्र्यां तमः अदधुः) रात्रिमें अंधकारको रखा तथा (अहन् ज्योतिः अदधुः) दिनमें प्रकाशको स्थापित किया। अतएव दिनमें प्रकाश होता है और रातमें अंधेरा। इस प्रकार इस मंत्रमें 'प्रकाश व अंधेरा पितर करते हैं' यह दर्शाया गया है।

आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि। महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥ ऋ० १०।१०७।१॥

(एषां माघोनं महि आविरभूत्) इन पितरोंका मघवा संबन्धी महान् प्रकाश प्रकट हुआ, और प्रकट होकर उसने (विश्वं जीवं) सारे संसारको (तमसः निरमोचि) अंधकारसे छुडाया। (पितृभिः दत्तं महि ज्योतिः आगात्) वह पितरोंसे दिया हुआ प्रकाश आया और आकर उसने (दक्षिणायाः उरुः पन्थाः अदर्शि) दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दर्शाया।

'माघोनं' का अर्थ है मघवा अर्थात् इन्द्र संबंधी प्रकाश। सूर्यकी चैत्र मासमें इन्द्र संज्ञा होती है अर्थात् सूर्य चैत्रमासमें इन्द्र कहलाता है। अतएव माघोनं का यहां अर्थ सूर्यका प्रकाश ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रकरण भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है।

इस मंत्रमें पितरोंके प्रकाश देनेके महत्त्वको दर्शाया गया है। इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि पितरोंका काम उषाओंका उत्पन्न करना, अन्धकारको दूर करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करना, तथा बादलोंको तोड फोडकर उनसे छिपे हुए प्रकाश को प्राप्त करना है। द्युलोकको नक्षत्रोंसे सुशोभित करके दिनरात बनानाभी पितरोंका कार्य है। इस प्रकार पितर सूर्यप्रकाश प्रदाता है यह हमने देखा।

३ पापसे छुडाना।

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्। मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

अथर्व. ११।६।१६

(अरायान्) न दान देनेवालोंको, (रक्षांसि) राक्षसोंको, (सर्पान्) सर्पोंको, (पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको और (पितॄन्) पितरोंको (ब्रूमः) कहते हैं तथा (एकशतं) मृत्यून्) एक सो मृत्युओंको (ब्रूमः) कहते हैं कि (ते) वे सब (नः अंहसः) हमें पापसे (मुञ्चन्तु) छुडावें। यहांपर अन्योंके साथ पितर भी पापसे छुडाते हैं यह दर्शाया गया है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

४ सुख व कल्याण करना।

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव। शर्दिनो अत्रिरग्नभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥ अथर्व. १८।३।१६

हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक, (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, (भरद्वाज) हे अन्नबल धारक, (गोतम) हे उत्तम स्तोता, (वामदेव) हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले, (सुसंशासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो! तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो क्योंकि (शर्दिः अत्रिः) बलविशिष्ट अग्निने (नमोभिः) अन्नोंसे हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है!

अथवा शर्दिः=छर्दिः=घर। शर्दिका अर्थ घर करने पर छर्दिका विभक्ति व्यत्यय करना पडेगा। शर्दिः=शर्दिम्। इस अवस्था में तृतीय पादका अर्थ होगा कि "क्यों कि अग्निने हमारे घरोंको अन्नोंसे भर दिया है, अतः हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो।" अत्रिका अर्थ है जिसके तीनों ताप नहीं रहे। (निरु० ३। १७) इस मंत्रमें विश्वामित्र, जमदग्नि आदि शब्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं।

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः। शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो अवन्तु पितरो हवेषु॥ ऋ० ७।३५।१२
तथा अथर्व० १९।११।११

(सत्यस्य पतयः) सत्य की रक्षा करनेवाले (नः शं भवन्तु) हमारा कल्याण करें। और (अर्वन्तः नः शं) घोडे हमारे लिए कल्याणकारी हों। (उ) और (गावः शं सन्तु) गौएं हमारे लिए कल्याणकारी हों। (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं) श्रेष्ठकर्मवाले कार्यकुशल कारीगर लोक हमारे लिए कल्याणकारी हों। (हवेषु) बुलाए जानेपर (पितरः नः शं भवन्तु) पितर हमारा कल्याण करें।

ऋभु का अर्थ निघण्टुमें मेधावी जन व कारीगर ऐसा है। (निघण्टु ३। १५।)

५ गर्भ धारणा करना

अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः॥ ऋ० ९।८३।३

(अग्रियः) अग्रणी - मुख्य - प्रसिद्ध (उषसः पृश्निः) उषासे संबन्ध रखनेवाला सूर्य (अरुरुचत्) सबको प्रकाशित करता हैं। (वाजयुः) भूतजातके लिए अन्नकी कामना करता हुआ अतएव (उक्षा) जलोंका सिंचन करनेवाला सूर्य (भुवनानि बिभर्ति) भुवनों का धारण पोषण करता है। (अस्य मायया) इसकी मायासे (मायाविनः) मायावीगण (ममिरे) पदार्थोंका निर्माण करते हैं और (नृचक्षसः पितरः गर्भं आदधुः) मनुष्यों के देखनेवाले पितर गर्भ को धारण करते हैं।

यहां सूर्यकिरणों को पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। सूर्यकिरणें जलको अपने गर्भ में धारण करती हैं। सूर्यका किरणोंद्वारा जल ऊपर ले जाकर पुनः वृष्टिके समय बरसाना प्रसिद्ध ही है।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्।
यथेह पुरुषोऽसत्॥ यजुः अ० २।३३॥

(पितरः) हे पितरो! (पुष्करस्रजं कुमारं गर्भं आधत्त) पुष्करस्रक् कुमारको गर्भमें धारण करो। (यथा) जिससे कि (इह पुरुषः असत्) यहां यह पुरुष बन जावे।

इस मंत्रपर भाष्य करते हुए उवटाचार्य तथा महीधराचार्यने पुष्करस्रक् कुमारका अर्थ अश्विनी कुमार जो कि देवोंके वैद्य हैं उनकासा सुन्दर कुमार ऐसा किया है। पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि देवोंके वैद्यकासा सुन्दर पुत्र उत्पन्न करो। स्वामी दयानंदजी ने इस मंत्रपर भाष्य करते हुए पुष्करस्रक् कुमार का अर्थ 'विद्याग्रहणार्थ फूलकी माला धारणा किया हुआ कुमार' ऐसा किया है। इस अर्थानुसार यह मंत्र विद्याभ्यासके प्रारंभके समय का वर्णन करता ऐसा प्रतीत होता है, तथा इससे निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं—

१ यहां आचार्यों के लिए पितृ शब्द का प्रयोग

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

किया गया है।

(२) विद्याभ्यासके प्रारंभ करनेके लिए गुरुके पास जाते हुए विद्यार्थी को फूलोंकी माला अपने गलेमें डालकर जाना चाहिए।

(३) बहुवचनान्त पितृशब्द एकही समयमें एक शिष्य के अनेक आचार्यों का होना दर्शाता है।

पाठकों के सामने हमने दोनों भाष्योंका दिग्दर्शन करा दिया है। इस पर विशेष विचार पाठक स्वयं करें।

६ पितरोंका संतति बढाना आदि।

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा। स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुं आततम्॥ ऋ० १०।५६।६

(सूनवः) आदित्यके पुत्र देवोंने (असुरं स्वर्विदं) बलवान् द्यु लोकको जानने वाले आदित्यको (तृतीयेन कर्मणा) प्रजोत्पत्ति नामक तीसरे कर्मसे (द्विधा) दो प्रकारका अन्त व उदयवाला (अस्थापयन्त) स्थापित किया। (पितरः) पितरोंने (स्वां प्रजां) अपनी प्रजाको उत्पन्न करके (अवरेषु पित्र्यं सहः आदधुः) आनेवाली संततिमें पैत्रिक तेजबल स्थापित किया और इस प्रकार (तन्तुं आततं) संततिको विस्तृत बनाया।

पितर संतति बढाकर उसमें पैत्रिक तेज स्थापन करते हैं, ऐसा इस मंत्रमें बतलाया गया है।

७ मनके प्रत्यावर्तन अर्थात् पुनर्जन्ममें पितरोंकी सहायता!

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः।
जीवं व्रातं सचेमहि॥ ऋ० १०।५७।५
तथा यजुः ३।५५

(नः पितरः) हमारे पितर तथा (दैव्यः जनः) देवोंका संघ (पुनः नः मनः ददातु) फिरसे हमें मनको देवे। हम (जीवं व्रातं सचेमहि) प्राणादि इन्द्रियसमूहको प्राप्त करें।

जन शब्द यह संघके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है। यह मंत्र पुनर्जन्मपर प्रकाश डालता हुआ पितरोंका मनादि इन्द्रियोंके देनेमें सहायक होना दर्शा रहा है।

मनोन्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन।
पितॄणां च मन्मभिः॥ ऋ० १०।५७।३

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदसे यजुर्वेदमें निम्नप्रकार से आया हुआ है—

मनो न्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन।
पितॄणां च मन्मभिः॥ यजुः अ. ३।५३

हम (नाराशंसेन सोमेन) नर जिसकी प्रशंसा करते हैं ऐसे सोम (चंद्रमा) से (च) और (पितॄणां मन्मभिः) पितरोंके मनन करने योग्य स्तोत्रोंसे (नु) निश्चयसे (मनः) मनको (आ हुवामहे) बुलाते हैं।

यजुर्वेदमें 'सोमेन' के स्थानमें 'स्तोमेन' ऐसा पाठ है। वहांपर 'स्तुतियोंसे' ऐसा अर्थ होगा। मनकी उत्पत्ति सोम अर्थात् चन्द्रमासे है यह हमें पुरुषसूक्त (यजुः अ० ३१) से पता चलता है। यहांपर मनके प्रत्यावर्तनमें सोम व पितरोंकी स्तुतियोंको साधन बताया गया है। उपरोक्त दोनों मंत्रोंमें मनकी पुनः प्राप्ति पितरों द्वारा होती है यह स्पष्टतया दिखाया गया है।

८ पितरोंके स्तोत्र।

तमूषु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः।
नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा मध्यमा नभन्तामन्यके समे॥
ऋ० ८।४१।२॥

(तं उ समानया गिरा) उस वरुणकी समान स्तुतिसे (च) और (पितॄणां मन्मभिः) पितरोंके मननीय स्तोम अर्थात् स्तुतियोंसे तथा (नाभाकस्य प्रशस्तिभिः) नाभाकके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे (सु अभिष्टौमि) अच्छी प्रकार स्तुति करता हूं। (यः) जो (मध्यमः) मध्यम वरुण (सिन्धूनां उप उदये सप्त स्वसा) नदियोंके उद्गम स्थानमें सात बहिनों वाला है। (समे) सब (अन्यके) जो हमसे द्वेष करते हैं, ऐसे दुष्ट बुद्धिवाले पापबुद्धिवाले पाप संकल्प (नभन्तां) न रहें।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस मंत्रसे हमें पता चलता है कि पितरोंके कोई खास स्तोत्र हैं। वे स्तोत्र अपना विशेष परिणाम रखते हैं ऐसा नीचे दिए जानेवाले मंत्रसे प्रतीत होता है-

यह मंत्र विशेष विचारणीय है। उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या निरुक्तकार यास्काचार्यने अपने निरुक्तमें इस प्रकारकी है-

'तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्वा पितृणां च मननीयैः स्तोमैः, नाभाकस्य प्रशस्तिभिः। ऋषिर्नाभाको बभूव। यः स्यन्दमानामुपोदये सप्त स्वसारमेनमाहवाग्भिः। स मध्यमः इति निरुच्यते। अथैष एव भवति। नभन्तामन्यके समे, मा भूवन्नन्यके सखे, ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंकल्पाः॥

निरुक्त १०।५

हमने जो ऊपर अर्थ किया है वह निरुक्तानुसार ही किया है।

नाभाक ऋषिके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे तथा पितरोंके मननीय स्तोत्रोंसे वरुणकी स्तुति करनेसे पाप संकल्प नष्ट होते हैं अर्थात् पितरोंके स्तोत्र पाप संकल्पोंको दूर करनेमें सहायक हैं, यह इस मंत्रके कथनका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसके सिवाय पितरोंकी स्तुतियोंसे और क्या विशेष लाभ हैं यह निम्न मंत्र दर्शाता है—

त्वेह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन्। त्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्त्वं वसु देवयते वनिष्ठः॥ ऋ० ७।१८।१॥

हे इन्द्र! (त्वे) तेरेमें (जरितारः नः पितरः विश्वा=विश्वानि वामा=वामानि) स्तुति करते हुए हमारे पितरों ने सारे प्रशंसनीय पदार्थों वा धनों को (असन्वत्) प्राप्त किया। (यत्) क्यों कि (त्वे सुदुघाः गावः) तेरे पास सुखसे दोही जानेवाली गौएं हैं। (त्वे अश्वाः) तेरे पास घोडे हैं और साथ ही तू (हि) निश्चयसे (देवयते वसु वनिष्ठः) कामना करनेवाले के लिए या स्तुति करनेवाले के लिए धनका संभाजक अर्थात् विभाग कर के देनेवाला है।

इस मंत्र में यह बताया गया है कि पितरों ने स्तुति करके सब कुछ प्राप्त किया और जो कोई अन्य चाहे तो वह भी स्तुति कर के प्राप्त कर सकता है। पितरोंकी स्तुति का फल यहां पर दिखाया गया है। अब कुछ ऐसे मंत्र नीचे दिए जाते हैं जिन में से कि प्रत्येक में पितरों के भिन्न भिन्न कार्योंका उल्लेख है।

पितरोंसे दीर्घायु।

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन। चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु॥ अथर्व० १८।३।१०

(सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु) सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें। (देवाः मधुना घृतेन) देव मुझे माधुर्योपेत घृत से व्यक्त करें। (चक्षुषे मां प्रतरं तारयन्तः) देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, (जरदष्टिं मां) जिसका खान पान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको (जरसे) वृद्धावस्था तक (वर्धन्तु) बढावें अर्थात् जिस बुढापेमें खाने पीनेकी शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढापेतक मुझे पहुंचाएं। यथासंभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुष्यके लिए कहा गया है। दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है।

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः। पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥

यजुः अ० १९।३७

(सोम्यासः पितरः मा पुनन्तु) सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे पवित्र करें। (पितामहाः मा पुनन्तु) पितामह मुझे पवित्र करें। (प्रपितामहाः) प्रपितामह मुझे पवित्र करें। (पवित्रेण शतायुषा) पवित्र सौ वर्ष की आयुसे। अर्थात् ये उपरोक्त पितृगण मुझे पवित्र सौ वर्ष की आयु दें! मेरा सौ वर्षका जीवन

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पवित्रतापूर्वक व्यतीत हो, और इस प्रकार पवित्रतासे आयु व्यतीत करता हुआ (विश्वं आयुः व्यश्नवै) सम्पूर्ण आयु को जितनी कि मनुष्य की हो सकती है, प्राप्त करूं। पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करनेसे ही पूर्णायु भोगी जा सकती है, अन्यथा नहीं।

निम्न मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि पितर मृतको पुनरुज्जीवित करते हैं। मंत्र इस प्रकार है।

यत्ते अङ्गं प्रतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ
वा ते परेतः। तत्ते संगत्य पितरः सनीडा
घासाद् घासं पुनरावेशन्तु॥ अथर्व० १८।२।२६

(ते यत् अङ्गं पराचैः प्रतिहितम्) तेरा जो अंग उलटा होकर हट गया है, और (यः ते प्राणः, अपानः परेतः) जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है, शरीर से निकल गया है, (तत् ते) उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण या अपान को (सनीडाः पितरः) साथ रहनेवाले पितर (संगत्य) मिलकर (घासाद् घासं इव) (यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है) जैसे घाससे घास बांधी जाती है, उसी प्रकार (पुनः आवेशयन्तु) फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें, यानि पुनरुज्जीवित करें।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है। वह उस हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है। इस मंत्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है। इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है। इस के सिवाय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया हो वा टूट गया हो, तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है।

सायणाचार्य ने 'घासाद् घासं' का अर्थ इस प्रकार किया है—'अद्यते भुज्यते अस्मिन्निति घासः। भोगायतनं शरीरम्। घासात् भोजनाधिकरणशरीरात् घासं अन्यत् शरीरं पुनः आवेशयन्तु।' अर्थात् जिसमें खाया जावे उसका नाम है घास। भोगायतन शरीरका नाम घास है, क्यों कि इसमें भोग भोगे जाते हैं। अतः घासात् अर्थात् भोजनाधिकरण-शरीरसे घांसं यानि दूसरे शरीरको फिर देते हैं। मरने के बाद एक शरीर छुडाकर दूसरा शरीर देते हैं यह अभिप्राय है।

इस प्रकरण में संक्षेपसे इतना ही पितरों के कार्यों के विषयमें लिखना पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त अन्य पितरों के कार्य दर्शानेवाले मंत्र अन्य प्रकरणों में यथास्थान दिए जाएंगे। उनकी वहां उपयुक्तता अधिक होनेसे यहां पर वे नहीं दिए हैं।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य।

इस प्रकरण के हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि पितरों के लिए दान, नमस्कार, स्वधा आदि देनेका वर्णन है। द्वितीय विभाग में पितरों के लिए यज्ञ अथवा पितरों से यज्ञ का सबन्ध दर्शानेवाले मंत्रों का उल्लेख करेंगे। इस दूसरे विभाग का शीर्षक 'पितर और यज्ञ' होगा। प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शीर्षक होंगे। इस विभाग का सामूहिकरूपसे शीर्षक देना कठिन है।

१ पितरों के लिए नमस्कार।

'नमः' का अर्थ अन्नभी होता है, परन्तु पितरोंके लिए आये हुए 'नमः'का अर्थ नमस्कार ही है, क्यों कि पितरों के अन्नका खास नाम 'स्वधा' है और अतएव जहां पितरोंके लिए अन्न अभिप्रेत होता है वहां स्वधा का प्रयोग होता है।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा
नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ ऋ० १०।१५।२॥
तथा यजुः अ० १९।६८

यही मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदसे निम्न प्रकारसे है—

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा
नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥ अथर्व० १८।१।४६

(ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(ईयुः) स्वर्गको गए हुए हैं और (ये) जो कि (अपराञ्चः) अर्वाचीन कालके पितर (ईयुः) स्वर्ग को गए हैं, (पितृभ्यः अद्य इदं नमः अस्तु) उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार हो। (ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ताः) और जो कि पितर पृथिवी लोकपर स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो कि (नूनं) निश्चयसे (सुवृजनासु विक्षु) उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओंमे स्थित हैं,उन पितरों के लिए भी नमस्कार हो। अथर्ववेदमें विक्षु के स्थान पर दिक्षु पाठभेद है। वहांपर 'ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु' का अर्थ ऐसा होगा- 'अथवा जो कि पितर निश्चय से उत्तम बलवाली दिशाओं में स्थित हैं।'

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्यः
उत ये नयन्ति। उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं
पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥ अथर्व० ५।३०।१२

(यमाय नमः अस्तु) यमके लिए नमस्कार हो। (मृत्यवे नमः) मृत्यु के लिए नमस्कार हो। (पितृभ्यः नमः पितरों के लिए नमस्कार हो। (उत ये नयन्ति) और जो कि ले चलते हैं अर्थात् जो नायक (Leaders) हैं उनके लिए भी नमस्कार हो। (य उत्पारणस्य वेद) जो उत्पारण अर्थात् पार लगाने के उपाय वा मार्ग को जानता है (तं अग्निं) उस अग्नि को (अस्मै अरिष्टतातये) इस जीवके कल्याण के विस्तार के लिए (पुरो दधे) आगे रखता हूं अर्थात् उस ऐसी अग्निको सदा मैं अपने सामने धारण करता हूं।

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥
अथर्व० १४।२।२०

(यदा पूर्वं इयं वधूः गार्हपत्यं अग्निं असपर्यैत्) जब पहिले यह वधू गार्हपत्य अग्नि की पूजा करे (अथ) तब उसके बाद (नारि) हे नारी! तू (सरस्वत्यै पितृभ्यः च) सरस्वती व पितरोंके लिए (नमः कुरु) नमस्कार कर।

इस प्रकार हमने देखा कि इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंके लिए नमस्कारका विधान है।

२ पितरोंके लिए स्वधा।

अग्ने वाजजित् वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं
सम्मार्ज्मि। नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः
सुयमे मे भूयास्तम् ॥ यजुः अ० २।७॥

(वाजजित् अग्ने) हे अन्नको जीतनेवाली अग्नि! (वाजं सरिष्यन्तं त्वा) अन्नके प्रति जाती हुई तुझको (सं मार्ज्मि) शुद्ध करता हूं। (देवेभ्यः नमः) देवोंके लिए नमस्कार हो तथा (पितृभ्यः स्वधा) पितरोंके लिए स्वधा हो। (मे) मेरे लिए (सुयमे भूयास्तम्) नमः और स्वधा बल व पराक्रम देनेवाले हों। अथवा मनः और स्वधा, मुझे नियममें रखनेवाले हों।

यहांपर देवोंके लिए नमः और पितरोंके लिए स्वधाका निर्देश है। 'वाजं सरिष्यन्तं त्वा संमार्ज्मि' से पता चलता है कि अन्न पकानेके लिए शुद्ध अग्नि काही प्रयोग करना चाहिए। अशुद्ध वह्नि अन्न पकानेके लिए अनुपयुक्त है।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रतितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः। पितरः शुन्धध्वम् ॥ यजुः अ० १९।३६॥

(स्वधायिभ्यः पितृभ्यः) स्वधा प्राप्त करना जिनका शील (स्वभाव) है ऐसे पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा और नमस्कार हो। (स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः) स्वधा लेनेवाले पितामहों के लिए स्वधा और नमस्कार हो। (स्वधायिभ्यः प्रतितामहेभ्यः स्वधा नमः) स्वधा लेनेवाले प्रपितामहोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। (पितरः) हे पितृगणो! (अक्षन्) उस स्वधाको खाओ। (पितरः) हे पितरो! (अमीमदन्त) उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ। (पितरः) हे पितरो! उस स्वधाको खाकर (अतितृपन्त) अत्यन्त तृप्त होओ। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो शुद्ध होओ। इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभावही स्वधा खानेका है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
यजुः अ. १९।४५

(यमराज्ये) यमके राज्यमें (ये पितरः समानाः समनसः) जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार वा संकल्पवाले हैं, (तेषां लोकः स्वधा नमः यज्ञः) उन पितरोंका लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पतां) देवोंमें समर्थ होवे।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि। स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि॥ अथर्व. १२।२।३२

मैं (एतौ) इन दोनोंको (हविषा) हविद्वारा (व्याकरोमि) प्रसिद्ध करता हूं। (तौ अहं) उन दोनोंको मैं (ब्रह्मणा विकल्पयामि) ब्रह्मद्वारा विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हूं। (पितृभ्यः स्वधां अजरां कृणोमि) पितरोंके लिए स्वधाको अक्षय करता हूं। (इमान् दीर्घेण आयुषा) इन्हें दीर्घायु द्वारा (संसृजामि) संयुक्त करता हूं अर्थात् इन्हें दीर्घायु देता हूं। इस मंत्रमें पितरोंके लिए अक्षय्य स्वधा का वर्णन है।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति॥
अथर्व० १२।४।३२

(पितृभ्यः स्वधाकारेण) पितरोंके लिए स्वधाकारसे अर्थात् स्वधा देनेसे और (देवताभ्यः यज्ञेन) देवताओंके लिए यज्ञ करनेसे तथा (दानेन) दान करनेसे (राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति) क्षत्रिय वशामाताके तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता। यहांपर स्वधाका महत्त्व दर्शाया गया है। पितरोंके लिए स्वधा न देनेसे वशामाता गुस्से होती है। स्वधा न देनेवालेका वह तिरस्कार करती है।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु॥
अथर्व० १८।४।७५

हे (प्रततामह) प्रतितामह! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे। (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिएभी यह स्वधा हो।

तत शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय आ० का प्रमाण है- 'एतां वाव प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरद् एकाक्षरं द्व्यक्षरां ततेति तातेति। तयैवैतत् ततवत्या वाचा प्रति पद्यते।' इति ऐ० आ० १।३।३॥ आश्वलायनने भी 'अपने पितरोंका नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्दका प्रयोग करे' इस आशयवाला सूत्र बनाया है- 'नामान्यविद्वाँस्तत पितामहप्रपितामहेति'। आश्व० २।६॥ इस मंत्रमें प्रपितामह के लिए स्वधाका विधान है।

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु॥
अथर्व. १८।४।७६

(ततामह) हे पितामह! (ते एतत् स्वधा) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (हवि) स्वधा होवे। (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे।

एतत् ते तत स्वधा॥ अथर्व० १८।४।६७॥

हे (तत) पिता! (ते एतत् स्वधा) तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे। इन उपरोक्त अथर्ववेदके ३ मंत्रोंसे पता चलता है कि प्रपितामह, पितामह तथा पिता, इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः॥
अथर्व० १८।४।८५॥

हे (पितरः) पितरो (वः)तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे। (पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे लिए (स्वधा) स्वधा होवे।

इस मंत्रमें पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार दोनोंके देनेका उल्लेख है।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः। स नो नि यच्छाद् वसु यत् परा-भृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत्॥
अथर्व० ७।४१।२

(नृचक्षाः) मनुष्योंका देखनेवाला, (दिव्यः) दिव्य अर्थात् देवगुणोंसे युक्त,(सुपर्णः) उत्तम गतिवाला, (सहस्रपाद) हजारों पैरोंवाला अर्थात् शीघ्रगामी (शतयोनिः) सैंकडोंका कारण यानि सैंकडोंका उत्पन्न करनेवाला (वयोधाः) अन्न, बल, आयुको

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

देनेवाला जो (श्येनः) श्येन है (सः) वह (नः) हमें (यत् पराभृतं वसु) जो शत्रुओंसे हरण किया हुआ धन है उसे (नियच्छात्) वापस दे और वह धन (अस्माकं पितृषु स्वधावत्) हमारे पितरोंमें स्वधाकी तरह होवे अर्थात् पितरोंमें जो स्थान स्वधाको प्राप्त है वही स्थान उसे प्राप्त होवे, या वह धन पितरोंमें स्वधावत् अर्थात् आत्मधारण शक्ति करानेवाला होवे। उस धनसे पितर स्वावलंबी बनें, स्वाश्रयी होवें। यहांपर स्वधाका अर्थ आत्मधारण ऐसा प्रतीत होता है। स्वधा क्या चीज है यह एक विचारणीय विषय है, तथापि आगे चलकर हम थोडासा स्वधापर प्रकाश डालने की कोशीश करेंगे।

३ पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ।

सोदक्रामत् सा पितॄनगच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति॥ अथर्व० ८।१३।५॥

तां स्वधां पितर उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ अथर्व० ८।१३।८

(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपरको उछली। (सा) वह (पितॄन् अगच्छत्) पितरोंके पास गई। (तां उसे पितरः उप आह्वयन्त) पितरोंने अपने पास बुलाया कि (स्वधे) हे स्वधा! (एहि इति) तू हमारे पास आ॥ (पितरः तां स्वधां उपजीवन्ति) पितर उस स्वधाका उपभोग करते हैं, यानि उस स्वधाको खाकर जीते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है कि पितर उस स्वधाको खाकर जीते हैं, वह भी (उपजीवनीयः भवति) उस स्वधाका उपभोग करने योग्य बनता है अर्थात् उस स्वधाके आश्रयसे जीता रहता है।

इन मंत्रोंसे यह बात स्पष्ट है कि पितर स्वधाके आश्रयसे जीते हैं, अतः पितरोंको स्वधा देनी चाहिए और जो पुरुष इस रहस्यको जानता है, उसे भी स्वधा मिलती रहेगी और इस प्रकार वह भी स्वधा खाकर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेगा।

४ जलद्वारा पितृतर्पण।

हिंदू लोग मृत पितरोंका जो जलद्वारा तर्पण करते हैं उसका आधार संभवतः निम्न तीन मंत्र हैं। इन मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका विधान पाया जाता है। मंत्र इस प्रकार हैं—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ यजु०अ० २। मं. ३४

इस मंत्रका देवता 'आपः' अर्थात् जल है। (ऊर्जं) बलको, (अमृतं) अमृतको, (घृतं)घीको, (पयः) दूधको,(कीकालं) अन्नको तथा (परिस्रुतं) फूलों फलोंसे निकले हुए सारभागको (वहन्ती) वहन करते हुए (आपः) हे जलो! तुम (स्वधा स्थ) स्वधा होवो। अर्थात् पितरोंका अन्न बनो और (मे पितॄन् तर्पयत) मेरे पितरोंको अपने उपरोक्त रसभागोंसे तृप्त करो।

मंत्र स्पष्ट है इसपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट शब्दोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका निर्देश है। दूसरी मंत्र इस प्रकार है-

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती॥
अथर्व० १८।३।७२

(ते) वे (ये पूर्वे परागताः) जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और (ये अपरे पितरः) जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके लिए (शतधारा व्युन्दती) सैंकडों धाराओंवाली उमडती हुई (घृतस्य कुल्या) जलकी कुल्या क्षुद्र नदी (एतु) प्राप्त होवे। यह मंत्रभी उपरोक्त प्रथम मंत्रके भावकोही पुष्ट कर रहा है। पहिले मंत्रकी तरह यह मंत्रभी स्पष्ट है। कुल्याका अर्थ निघण्टुमें 'कृत्रिमा सरित्' अर्थात् बनावटी नदी यानि नहर ऐसा दिया है। पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नहर बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मंत्र का मालूम पडता है। उपरोक्त दोनों मंत्रों के भावको ही पुष्ट करता हुआ तीसरा मंत्र इस प्रकार है—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पुत्रं पौत्रमभि तर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः। स्वधां पितृभ्यः अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयां· स्तर्पयन्तु ॥ अथर्व० १८।४।३९

(पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः) पुत्रपौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए (इमाः मधुमतीः आपः) ये मधुर जल हैं। (पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः) पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए (देवीः आपः) ये दिव्यजल (उभयान्) दोनों पुत्र पौत्रोंको (तर्पयन्तु) तृप्त करें।

उपरोक्त तीनों मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पण का उल्लेख है। हिंदुओं का जलद्वारा पितृतर्पण करना इन मंत्रोंके आधार पर है।

किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए यह अभीसे नहीं कहा जा सकता, तथापि इतना जरूर पता चलाता है, कि जलद्वारा पितृतर्पण करना चाहिए।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः। संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः॥ अथर्व० १।१।११॥

(यत् यज्ञे पितृभ्यः ददतः ते नाम जगृहुः) यदि यज्ञमें पितरों के लिए दान करते हुए तेरा नाम उन्होंने लिया हो अर्थात् तेरे पर दोषारोपण किया हो तो(सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्)उस सर्व संदेश्य अर्थात् किसीके आदेशसे-कहनेसे किए गए पापसे (इमाः औषधीः त्वा मुञ्चन्तु) ये औषधियां तुझे छुडाएं। इस मंत्रमें पितरों के लिए यज्ञमें दान देने का उल्लेख है।

५ पितरोंका भाग।

पितृणां भागःस्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये॥ अथर्व० १०।५।१३

इस मंत्रका 'आपः' देवता है। हे जलो! तुम (पितृणां भागः स्थ) पितरोंका भाग-अंश हो। (देवीः आपः) हे दिव्य जलो! (अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त) जलोंका वीर्य व तेज हमारेमें धारण करो अर्थात् हमें दो। (अस्मै लोकाय) इस लोकके लिए, (प्रजापतेः धाम्ना वः सादये) प्रजापतिके तेजसे तुम्हें बिठलाता हूं स्थित करता हूं। इस मंत्रमें जलोंको पितरोंका भाग-अंश बतलाया है।

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम्। अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति॥ अथर्व० ११।१।५॥

(वः देवानां पितृणां मर्त्यानां) तुम देवों, पितरों व मनुष्योंका (यः त्रेधा भागः) जो तीन प्रकारका भाग (पुरा निहितः) पहिलेसे रखा है, उसमेंसे अपने अपने (अंशान्) अंशोंको भागोंको (जानीध्वं) जानो अर्थात् मनुष्य, पितर व देवोंका जो तीन प्रकारका भाग हमने कर रखा है, उसमेंसे अपने अपने भागको जानते हुए लो। (तान् विभजामि) उन भागोंको मैं बांटता हूं। (वः देवानां यः सः इमां) तुम देवोंका जो अंश है वह इस ब्रह्मौदन पाचक पत्नीको (पारयाति) पार लगावे अर्थात् जिस कार्यका इसने प्रारंभ किया है उसमें यह पार हो जावे। इस मंत्रमें देव, मनुष्य व पितरोंके लिए अलग अलग भाग देनेका उल्लेख है।

६ पितरोंके शर्मका विस्तार करना।

यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते प्रिया शर्म पितृणाम्। अध स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः॥ ऋ० ६।४६।१२

(यत्र शूरासः तन्वः) जहांपर शूरवीर अर्थात् शूरवीर गण शरीर (पितृणां प्रिया शर्म वितन्वते) पितरोंके प्यारे घरोंका विस्तार करते हैं वहांपर (तन्वे तने च) अपने शरीरके लिए व हमारी संततीके लिए (अचित्तं छर्दिः यच्छ स्म) अज्ञानसे अज्ञात घरको दे जिससे कि शत्रु हमारा व हमारी संतानका विनाश न कर सकें। (द्वेषः) द्वेष करनेवालोंको वैरभाव रखनेवालोंको (यावय) दूर कर। हम सब मित्रतापूर्वक शत्रुरहित हुए हुए रहें। शर्मका अर्थ निघण्टुमें सुख व घर इन दोनों अर्थोंमें आया है। शर्म=गृहं। निघण्टु ३।४॥

शर्म सुख। निघण्टु ३।६॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

'पितृणां प्रिया शर्म' इस पदसमुदायका अभिप्राय पितरोंके देशसे है अर्थात् जहां पर वंशपरंपरासे पितृगण निवास करते चले आ रहे हैं। हम मातृभूमिके नामसे स्वदेशको पुकारते हैं, इस प्रकार इस मंत्रमें स्वदेशके विस्तार करनेका निर्देश है। 'छर्दिः-गृह।' निघण्टु ३।४॥ 'अचित्तं छर्दिः' से यह दर्शाया है कि गुप्त रूपसे भी शत्रु हमारे घरमें न रहने चाहिए, अन्यथा हमारा भेद उन्हें मिलता रहेगा।

पितर और यज्ञ।

इस विभागमें प्रायः वे मंत्र दिए जायंगे, जिनमें कि पितरोंके यज्ञमें आने जाने व हवि खाने आदि का वर्णन होगा। इस विभागसे हमें यह बात सुगमतया पता लग सकेगी कि पितरोंके लिए यज्ञादि करने चाहिए, उन्हें हवि देना चाहिए, और इस प्रकार करनेसे पितर हमारी आयु संपत्ति आदिकी वृद्धि करते हैं, तथा अन्य कष्टोंके दूर करनेमें सहायक होते हैं।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ऋ. १०। १५। ५॥
तथा यजुः अ० १९।५७॥

यह मंत्र अथर्ववेदमें भी है। वहां प्रारंभमें थोडासा पाठभेद है। 'उपहूताः पितरः' के स्थानपर 'उपहूता नः पितरः' है। केवल 'नः' और अधिक है शेष समान है। देखो अथर्व० १८।३।४५॥

(प्रियेषु बर्हिष्येषु निधिषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियोंमें (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) जो पितर (उपहूताः) बुलाए गए हैं (ते आगमन्तु) वे पितर आवें। (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (अधिश्रुवन्तु) हमारी प्रार्थनायें ध्यानपूर्वक सुनें और (अधि ब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें, तथा (ते अस्मान् अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें।

'बर्हिष्य' – बर्हिष् नाम है यज्ञका; उसमें होनेवाला बर्हिष्य, अर्थात् यज्ञ संबन्धी। इसके अतिरिक्त 'सोम्यासः' पद भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। यास्काचार्यने निरुक्तमें सोम्यासः का अर्थ सोमका संपादन करनेवाले ऐसा किया है। और सोम यज्ञमें संपादन किया जाता है। प्रकरणसे भी यही अर्थ होता है, क्योंकि इससे पूर्वके मंत्रोंमें यज्ञ प्रकरणका वर्णन है।

निधिका अर्थ निरुक्ताचार्य यास्कने अपने निरुक्त की भूमिकामें निम्न प्रकार किया है—

निधिः शेवधिरिति। शेवधिका अर्थ है सुखका भण्डार। निरु० अ० २। पा० १। खं. ४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंके यज्ञमें आने, प्रार्थना सुनने, उपदेश करने व रक्षा करनेका उल्लेख हमें मिलता है।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ ऋ. १०।१५।६
तथा यजुः अ० १९।६२

यह मंत्र अथर्व वेदमें थोडेसे पाठ भेदके साथ आया है—

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ अथर्व. १८।१।५२॥

(विश्वे) सब तुम पितरो! (जानु आच्य) दायां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दाईं ओर बैठ कर (इमं यज्ञं) इस यज्ञका (अभिगृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो! (यत् वः आगः पुरुषता कराम) जो तुम्हारा अपराध पुरुषत्व अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं। (केन चित्) ऐसे किसीभी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमें मत मारो अर्थात् क्योंकि हम मनुष्य हैं और मनुष्य मात्र भूलका पात्र होता है, अतः यदि अपराध होभी जाए, तोभी क्षमा करो, हमारी हिंसा मत करो।

'जानु आच्य' का अर्थ हमने दायां घुटना टेककर ऐसा किया है, जो कि शतपथ ब्राह्मणके निम्न वाक्यके आधारपर है। अथैनं पितरः। प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत्' ..... इत्यादि॥ शतपथ. २।४।२।२॥ शतपथके इस वाक्यसे प्रतीत होता है कि दांया घुटना टेककर पितर यज्ञमें बैठते हैं। निम्न मंत्रमें पितरोंके लिए मासिक यज्ञका विधान है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

परा यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पूर्याणैः। अधा मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ अथर्व० १८।४।६३

(सोम्यासः पितरः) हे सोम संपादक पितरो! (गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः) गंभीर पूर्याण-मार्गोंद्वारा (परायात) वापस चले जाओ। जहांसे आए थे वहां पर लौट जाओ। (अथ पुनः) और फिर (सुप्रजसः सुवीराः) हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो! (मासि) मासके अन्तमें यानि महीने महीनेके बाद (नः गृहान्) हमारे घरोंमें (हविः अत्तुं) हविके खानेके लिए (आयात) आओ।

'पूर्याण-पुरं यातीति पूर्याणः।' नगरको जानेवाले रस्तेका नाम पूर्याण है। प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें देश देशान्तरमें स्थित पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका भाव है।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यधा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ.१०।१५।११

यह मंत्र यजुर्वेद व अथर्व वेदमेंभी थोडेसे पाठभेदसे आया है। देखो यजु. १९।५९। तथा अथर्व १८।३।४४। अर्थ इस प्रकार है—

(अग्निष्वात्ताः सुप्रणीतयः पितरः) हे अग्निष्वात्त व उत्तम नेता पितरो! (इह) इस यज्ञमें (आगच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घरमें स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मंत्रमें पितरोंको यज्ञमें हवि खिलानेका व उनसे वीरता पूर्ण धन मांगनेका वर्णन है।

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे। ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः॥ अथर्व. १८।४।३६

(शतधारं सहस्रधारं उत्सं) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैंकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो (सलिलस्य पृष्ठे व्यचमानं) अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, (ऊर्जं दुहानं) अन्न व बलको देनेवाले, (अनपस्फुरन्तं) कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको (पितरः) पितर (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (उपासते) सेवन करते हैं।

यहांपर हवि शब्दका अध्याहार पूर्व मंत्रसे करना पडता है क्योंकि संपूर्ण मंत्रमें आए हुए विशेषणोंका कोईभी विशेष्य नहीं है।

पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं। इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वधा कोई भिन्न वस्तुही है। यहांपरभी पूर्व मंत्रकी तरह पितरोंके हवि सेवनका उल्लेख है।

पितरोंका यज्ञमें धनदान।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात॥ ऋ. १०।१५।७॥ यजु. अ. १९।६३॥ तथा अथर्व० १८।३।४३॥

(अरुणीनां उपस्थे) यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल चमकती हुई ज्वालाओंके समीपमें (आसीनासः) बैठे हुए पितरो! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। (तस्य) और उस दानी मनुष्यके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए भी धनको दो। (ते) उपरोक्तानुसार धन दान करनेवाले तुम (इह) इस यज्ञमें (ऊर्जं) अन्नको धारण करो।

परायात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः। दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥ अथर्व० १८।३।१४॥

(पितरः) हे पितरो! (परायात) यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ। (च) और फिर (आयात) आओ क्योंकि (अयं यज्ञः वः मधुना समक्तः) यह यज्ञ तुम्हारे लिए (मधुना समक्तः) मधुर आज्यसे तैयार किया हुआ है। (इह) इस यज्ञमें (द्रविणा) धनोंको (दत्तो) दो। (भद्रं सर्ववीरं रयिं च) और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति समृद्धिसे (नः) हमें (दधात) पुष्ट

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

करो। मधु का अर्थ है मधुरस्सपूर्ण आज्य। देखो. ऐ. ब्रा. २। २। 'एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्'।

आपो अग्निं प्र हिणुत पितृरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्। आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छात् ॥ अथर्व० १८।४।४०

(आपः) हे आप ! तुम (अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत) अग्नि को पितरों के पास भेजो। (मे पितरः) मेरे पितृगण (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञका सेवन करें। (ये) जो पितर(आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका सेवन करते हैं (ते) वे पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को (नियच्छात्) निरन्तर देते रहें।

इस मंत्रमें आप अर्थात् जलोंसे कहा गया है कि वे अग्नि को पितरों के पास ले जाएं, जिससे कि अग्नि में होमा हुआ हवि पितरों को पहुंच सके।

इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितृगण यज्ञमें आकर हवि का ग्रहण करते हैं तथा प्रार्थीको धन देते हैं। इससे पितरोंका यज्ञसे संबन्ध प्रतीत होता है। पितरों को यज्ञमें बुलाया जाता है, वहांपर उन्हें हवि दी जाती है, जो कि हवि वे अग्नि द्वारा स्वीकृत करते हैं। यह बात अथर्व. १८।४।४० से स्पष्ट होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस रूपमें हवि होमी जाती है उस रूपमें पितर नहीं लेते, परन्तु अग्नि द्वारा सूक्ष्म अदृश्य रूपमें परिणत हुई हुई हवि लेते हैं अर्थात् यज्ञमें अग्निमें होमी हुई हवि पितरोंको पहुंचती है। इसलिए जिसको सर्ववीरोपेत धन सम्पत्ति चाहिए उसे यज्ञ करना चाहिए व पितरोंको हवि देनी चाहिए। इन उपरोक्त बातों का हम इन मंत्रोंसे सहज अनुमान कर सकते हैं।

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः। तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥

अथर्व. १८।२।२९

(इह) इस यज्ञमें (नः) हमारे (स्वाः पितरः) ज्ञातिके पितृगण (स्योनं कृण्वन्तः) सुख उत्पन्न करते हुए (सं विशन्तु) प्रविष्ट होवें। और (आयुः प्रतिरन्त) आयुष्यकी वृद्धि करें। और उसके बदलमें (नक्षमाणाः) गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्य तत्पर हम (ज्योक् पुरूचीः शरदः) निरन्तर बहुत से वर्षोंतक (जीवन्तः) जीवन धारण करते हुए (तेभ्यः)उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंको (हविषा) हविद्वारा (शकेम) परिचर्याके लिये समर्थ बने रहें।

यह मंत्रभी उपरोक्त परिणामको पुष्ट कर रहा है। निम्न मंत्र विशेष विचारणीय है क्योंकि इनमें पितरोंके लिए मांस व वपाके हवनका विधान मिलता है।

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके। मेदसः कुल्या उपतान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्तां स्वाहा ॥

यजुः अ० ३५।२०

(जातवेदः) हे अग्नि! (पितृभ्यः वपां वह) पितरोंके लिए वपाका वहन कर, (यत्र) जहां (पराके) दूरपर (निहितान्) स्थित (एतान् वेत्थ) इन पितरोंको तू जानता है। (मेदसः कुल्याः तान् उपस्रवन्तु) चरबीकी छोटी छोटी नदियां उनको प्राप्त होवें और (एषां सत्याः आशिषः) उनके सत्य आशीर्वाद (सं नमन्ताम्) हमें प्राप्त होवें। (स्वाहा) उपरोक्त कथन सत्य है।

यहांपर अग्निको पितरोंके लिए चरबीकी नहरें पहुंचानेके लिए कहा गया है। निम्न मंत्रमें पितरोंके लिए मांसवाले चरुके देनेका विधान है-

अपूपवान् मांसवाँश्चरुरेह सीदतु। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इहस्थ ॥

अथर्व. १८।४।२०॥

अपूपों व मांसवाला चरु यहां वेदी पर आवे। (लोककृतः पथिकृतः) स्थानोंके बनानेवाले व मार्गोंके बनानेवालोंको (यजामहे) हम पूजते हैं। (ये) जो कि तुम (इह) यहां (देवानां हुतभागाः) देवोंमें दिए हुए भागका लेनेवाले हो।

वेदमें मांस शब्द मांसके लिए आता है। यास्काचार्यने इसके जो निर्वचन किए हैं, वे इसी बातका सिद्ध कर रहे हैं। साथही जो उन्होंने मंत्र पेश

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

किया है उसमें भी स्पष्ट शब्दोंमें बकरीके मांस खानेका निषेध है। यास्काचार्यने मांसके विर्वचनमें निम्न किए हैं- देखो निरुक्त- ४।१।३।३

(१) मांसं माननं- (मा+अननं) अर्थात् मांस-भक्षणसे दीर्घायु प्राप्त नहीं होती।

(२) मानसं-मांस खानेसे मानसिक पाप पैदा होते है।

(३) मनोऽस्मिन्सीदति-मांस खानेमें मन जाता है। मांसभक्षणको मन बहुत चाहता है।

इसके अतिरिक्त मनुने मनुस्मृतिमें मांसका जो निर्वचन किया हैं वह भी देखने लायक है। वह इस प्रकार है—

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ५।५५॥

अर्थात् जिस प्राणीका मांस मैं इस जन्ममें खाता हूं,परजन्ममें वह मुझे खाएगा। यह मांसका मांसत्व है ऐसा विद्वान् लोकोंका कथन है।

इसी सूक्तके ४२ वें मंत्रमेंभी ऐसाही वर्णन है। वह मंत्र इस प्रकार है—

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥
अथर्व० १८।४।४२॥

(ते) तेरे लिए (यं मंन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदिको और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिए (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृत-श्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवें।

इस मंत्रमें मांसका विधान है। प्राचीन सूत्रकारों के सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर मांसविधान पाया जाता है।

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायित॥
यजुः अ० २।३१

(पितरः) हे पितरो! (अत्र) इस यज्ञमें (माद-यध्वम्) प्रसन्न होओ और (यथाभागं) अपने अपने भागके अनुसार हवि लेते हुए (आवृषाय-ध्वम्) वृष की तरह आचरण करो अर्थात् मस्त होकर खाओ। जिस प्रकार कि (अमी पितरः) वे पितर (यथाभागं) अपने अपने भाग के अनुसार हवि लेकर (मदन्त) प्रसन्न हुए और (आवृषा-यित) उन्होंने उसे खाया।

शतपथ ब्राह्मणमें ' यथाभागमावृषायध्वं' का अर्थ किया है ' यथाभागं अश्नीतेति ' श० २। ४। २। २०॥ पितरों के लिए यज्ञ में खास हवि का भाग करके रखा जाता है जिसे खा कर वे प्रसन्न होते हैं, यह इससे सूचित होता है। अतः यज्ञमें पितरों के लिए भाग रखना चाहिए।

यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च ते नो सचध्वं स्वयशसो हि भूत॥ ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः॥
अथर्व० १८। ३। १९

(पितरः) हे पितरो! (वः यत् मुद्रं सोम्यं च) तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है (तेनो) उस द्वारा (सचध्वं) हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो। (हि) निश्चयसे तुम (स्वयशसः) अपने यशसे ही यशस्वी (भूत) होते हो। (अर्वाणः) गतिवाले अर्थात् निरालसी, (कवयः) क्रान्तदर्शी तथा (सुविदत्राः) उत्तम धनवाले, (हूयमानाः) बुलाए गए (ते) वे तुम (विदथे) यज्ञमें हमारी उपरो-क्त प्रार्थनायें (आशृणोत) आकर सुनो।

अबतकके मंत्रोंसे हमने देखा कि पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है और वहांपर उन्हें हवि देकर प्रस-न्न किया जाता है। प्रसन्न हुए हुए वे आयु, धनादि की इच्छा पूर्ति करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे काममूर्ति करानेके लिए यज्ञ साधन-भूत है।

पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान।

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽनत।
सा मासि समभवत्॥ अथर्व० ८।१२।३॥
तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददाति प्र पितृ
याणं पन्थां जानाति य एवं वेद॥ अथर्व० ८।१२।४

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपरको उछली और (सा) वह (पितॄन् अगच्छत्) पितरोंके पास गई। (तां) उसको (पितरः अग्रभत) पितरोंने प्राप्त किया। फिर (सा) वह विराट् (मासि) मासमें (संभवत्) संयुक्त हुई॥ अथर्व० ८।१२।३॥ (तस्मात्) इस लिए (पितृभ्यः मासि) पितरोंके लिए महीनेमें (ददाति) देते है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार अर्थात् पितरोंको महीनेमें दिया जाता है ऐसा जानता है, वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्गको (प्रजानाति) अच्छी प्रकार जानता है।

यहांपर जो कहा गया है उससे इतना परिणाम अवश्य निकलता है कि पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान करना चाहिए, उनके लिए कुछ देना चाहिए।

पितरोंका आसन।

येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि॥ अथर्व. १८।४।६८

(ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं, (तेषां) उनका (बर्हिः) आसन (असि) है।

कुशाघासका नाम बर्हि है। बर्हिको संबोधन करके कहा गया है। यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इससे पता चलता है।

अग्नि और पितर।

(१)

इस प्रकरणमें हम अग्नि व पितरोंका संबन्ध तथा पितरोंके प्रति अग्निके कार्योंको दर्शायंगे। पाठक इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंको ध्यानपूर्वक पढें व उनसे निकलते हुए परिणामोंपर गौर करें।

यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाना।

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिः अर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिः घर्मसद्भिः॥ ऋ. १०।१५।९

(देवत्रा जेहमाना) देवोंको प्राप्त होते हुए हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोम तष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) पूजनीय स्तुतियोंसे (तातृषुः) अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, ऐसे (सुविदत्रेभिः, सत्यैः, कव्यैः, घर्मसद्भिः पितृभिः) उत्तम धनवाले अर्थात् समृद्ध, सत्यवचनी, कवि अथवा कव्य नाम वाले पितरोंके लिए दिए गए हव्य का। अतः कव्योंके लेनेवाले, यज्ञोंमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (अग्ने) हे अग्नि तू (आयाहि) आ।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववृन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ. १०।१५।१०

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी (हविरदः) हविके खानेवाले, (हविष्पाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः सन्ति) इन्द्र व देवोंके साथ एकही रथपर चढते हैं ऐसे (सहस्रं देववृन्दैः) हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) प्राचीन व अर्वाचीन (घर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (आयाहि) आ। उपर निर्दिष्ट दोनों मंत्र एकही बात कह रहे हैं। इन दोनोंमें अग्निको, पितरोंको अपने साथ लानेके लिए कहा गया है। पितरोंको यज्ञादिमें साथ लाना अग्निका कार्य है, यह इन मंत्रोंसे स्पष्ट होता है। यह अग्नि कौन है इसका निर्णय मंत्रोंसे स्वयं पाठक कर सकेंगे। इस अग्निका यज्ञ व हविसे विशेष संबन्ध है, यह आगे आनेवाले मंत्रोंसे स्वयं स्पष्ट हो जायगा। उन सब मंत्रोंको लक्ष्यमें रखते हुए ही अग्निके विषयमें निर्णय करना चाहिए। यह अग्निविषयक निर्णय पितरोंपर प्रकाश डाल सकेगा। ऐसा हमारा कहना है।

अग्निका पितरोंको हवि खानेके लिए ले आना।

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥

ऋ. १०।१६।२॥ तथा यजुः अ० १९।७०॥ तथा अथर्व० १८।१।५६॥

हे अग्ने! (उशन्तः) कामना करते हुए हम त्वा निधीमहि) तेरी स्थापना करते हैं। और (उशन्तः

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

समिधीमहि) कामना करते हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) कामना करती हुई हे अग्नि! तू(हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरोंको (आ वह) ले आ। यहांपर अग्निसे हवि खानेके लिए पितरोंके ले आनेके लिए कहा गया है।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
अथर्व० १८।१।५७॥

हे अग्नि! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम (समिधीमहि) तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ। उपरोक्त मंत्रके भाव का ही यह मंत्रभी समर्थन कर रहा है।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्ने आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
अथर्व० १८।२।३४॥

(अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो पितर अग्निसे जलाए गए हैं (ये च) और जो पितर (उद्धिताः) जमीनके ऊपर रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरोंको तू (हविषे अत्तवे) हविभक्षणार्थ (आवह) ले आ।

इस मंत्र में यह बताया है कि चार प्रकार का अंत्येष्टि संस्कार होता है। (१) गाडना, (२) बहाना, (३) जलाना,(४) हवामें खुला छोडना। यहां पर इन चारों संस्कारों से संस्कृत पितरों को हवि खाने के लिए अग्निको बुलाने के लिए कहा गया है। इस मंत्रपर विशेष प्रकाश 'प्रेत व अंत्येष्टि नामक शीर्षकके नीचे डालेंगे।

अग्निका पितरों को हवि पहुंचाना।

ऊपर हमने देखा कि अग्नि पितरों को हवि खानेके लिए अपने साथ ले आती है। अब हम देखेंगे कि वह पितरों के पास हवि ले भी जाती है और वहां उन्हें देती है।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ऋ० १०। १५। १२ तथा
अथर्व० १८। ३। ४२ ॥

यह मंत्र यजुर्वेद में पाठभेद से निम्न प्रकार आया है—

त्वमग्न ईळितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ यजुः अ० १९।६६

(जातवेदः अग्ने!) हे जातवेदस् अग्नि! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्यों को (सुरभीणि कृत्वी) सुगन्धित बनाकर (अवाट्) वहन कर। और फिर (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों को दे। (ते) वे पितर (प्रयता हवींषि) दी गई हवियों को (स्वधया अक्षन्) स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि! (त्वं) तू भी (अद्धि) उन हवियों को खा।

इस मंत्र में अग्नि से कहा गया है कि वह हवियों को ले जाकर पितरों को दे, ताकि वे उन्हें खावे। यजुर्वेद में स्थित उपरोक्त मंत्र में अग्निका विशेषण 'कव्यवाहन' आया हुआ है। पितरों के लिए दी गई हवि का नाम कव्य है। और क्यों कि अग्नि उस कव्य को पितरोंको पहुंचाती है अतः उसे कव्य वाहन के नाम से पुकारा गया है। हम आगे भी देखेंगे कि पितरों के प्रति हविको ले जानेवाली अग्नि को कव्यवाहन के नाम से कहा गया है।

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥
अथर्व० १८। ४। ६५

(सायं न्यह्ने) सायं काल और प्रातः काल (नृभिः उपवन्द्यः) नरों स वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है। क्यों कि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि! (प्रयता

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

हवींषि) हमारे से दी गई हवियों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिस से कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बना कर भेजा है, (स्वधया अक्षन्) स्वधाके साथ हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें। (त्वं अद्धि) तू भी उन हवियों को खा। इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्नि की सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिए अग्नि माध्यम है, यह यहां पर स्पष्ट होता है।

उपरोक्त दोनों मंत्र इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि अग्नि पितरों के पास हवि पहुंचाती है और पितर उसे अपना दूत बनाकर हवि लाने के लिए भेजते हैं।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ।
ऋ० १०। १६। ११ ॥ तथा यजुः अ० १९। ६५

(यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) कव्य का अर्थात् पितरों की हवि का वहन करनेवाली है और जो (ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्) यज्ञ वा सत्य से बढनेवाले पितरों का यजन करती है वह अग्नि (देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति) देवों और पितरों के लिए हव्यों को कहे अर्थात् देवों व पितरोंसे कहे कि मैं तुम्हारे लिए हव्य ले आई हूं।

पूर्व मंत्रमें हम अभी देख आए हैं कि अग्नि पितरोंका दूत बनकर उनके लिए हवियोंको ले जाती है। हवि ले जानेपर पितरोंको वह सूचीत करती है कि तुम्हारे लिए मैं हवि ले आई हूं इसी भावको इस मंत्रमें कहा गया है। यहांपर अग्निको कव्यवाहन कहा गया है। देवों व पितरों दोनों को ही अग्नि हवि पहुंचाती है यह भी इससे पता चलता है। निम्न मंत्रमें भी अग्निको कव्यवाहन के नामसे कहा गया है।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः॥ अथर्व.१८।४।७१

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे।

पितरोंके लिए दी जाती हवि का नाम कव्य है और देवोंके लिए दी जाती हविका नाम हव्य है।

अग्निका दूरगत पितरोंको जानना।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्। स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान्॥
अथर्व० १८।४।४१

(अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानोंकी तरह (यहां लुप्तोपमा है) (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरोंको (वेद) जानती है।

यहांपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं (चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों) उन्हें अग्नि जानती है। इसी लिए अग्निसे कहा गया है है कि वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकती है।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यां उ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ ऋ. १०।१५।१३

(ये च इह पितरः) जो पितर यहां पर हैं, (ये च न इह) और जो यहांपर नहीं हैं, (यान् च विद्मः) तथा जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यां च न प्र विद्म) तथा जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (त्वं वेत्थ) तू जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अग्निको विद्यमान अविद्यमान, ज्ञात अज्ञात, आदि सब प्रकारके पितरोंका जाननेवाला बताया गया है। निम्न मंत्रमें अग्निका पितरोंको पितृलोकमें पहुंचानेका निर्देश है।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः। तद् व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्।

अथर्व० १८।४।६४

हे पितरो! (वः यत् एकं अङ्गं) तुम्हारे जिस एक अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं। (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरने के अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अवयवको यहांपर छोड जाती है।

इसके शिवाय पितृयाण में हम निर्देश कर आए थे कि अग्नि पितृयाण मार्ग को जानती है। यहां हमें पता चलता है कि अग्नि पितरों को जनती है, पितृलोक को जानती है। इतना ही नहीं अपितु पितृलोकमें जाकर पितरों को हवि पहुंचाती है और वहांसे उनको हमारे यज्ञोंमें भी अपने साथ ले आती है। हमने पितृयाण में यह भी देखा कि पितर सूर्यकिरणों के साथ जाते हैं। इन बातों से ऐसा पता चलता है कि पृथिवी लोक की हदतक पार्थिव अग्नि पितरों को ले जाती है तथा द्युलोक में वही अग्नि सूर्यरूप में परिणत होकर ले जाती है। इस प्रकार द्युलोकमें जानेके पितृयाण मार्ग का कुछ पता किया जा सकता है। अबतक के विवेचन से इतना हमें जरूर बतलाना है कि पितरों को अग्नि अपने साथ पितृलोकमें ले जाती है और वहांसे अपने साथ पुनः यज्ञादिमें हवि आदि खानेके लिए ले भी आती है।

अग्निका मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुंचाना।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ऋ. १०।१७।३

तथा अथर्व० १८। २। ५४

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्राका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृष्ट मार्ग की ओर ले जावे। (सः अग्निः) वह अग्नि (वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्यः) इन पितरों के लिए या (सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धनवाले देवोंके लिए (परिददत्) देवे।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणाम को स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है। यास्काचार्यने पूषाका अर्थ आदित्य किया है। (निरु० ७। ३। ९) तदनुसार सूर्य मृत पुरुषकी आत्माको अपनी रश्मियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है। पितृयाणमें जो मंत्र (ऋ. १।१०९।७) हमने दिया है उसीकी यह मंत्र पुष्टि करता हुआ प्रतीत होता है।

मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदाश्रृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥ ऋ. १०।१६।१

यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकार आया है।

मैनमग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। श्रृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥

अथर्व० १८।२।४

(अग्ने) हे अग्नि! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। (मा अभि शोचः) इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी चमडीको मत फैंक। (मा शरीरं) और इस प्रेतके शरीर कोभी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मत फैंक अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर पूर्णतया जला दे, कोईभी भाग दहनक्रियासे अवशिष्ट न रहे और (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बनादे अर्थात् पूर्णतया जलादे (अथ) तब (एनं)इसको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके लिए भेज दे अर्थात् पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचा दे।

यह मंत्र यद्यपि अंत्येष्टिसंस्कारविषयक है तथापि अग्निका पितरोंके लिए प्रेत जला देनेका कार्य दर्शानेके लिए यहां दिया गया है। इस मंत्रके उत्तरार्धसे ऐसा पता चलता है कि जबतक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती, तबतक आत्मा देहके आसपास ही मंडलाती रहती है। इस परिणामानुसार तो आत्माको शीघ्र मुक्त करनेके लिए व उसके लिए निर्धारित स्थानपर भेजनेके लिए शरीरका दहन करना अधिक उत्तम प्रतीत होता है।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः। यदागच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ऋ. १०।१६।२॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं करसि) जब इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ एनं पितृभ्यः परिदत्तात्) तब इसको पितरोंके लिए सौंपदे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयनको प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेके बाद प्रेत (मृत शरीर) (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

प्रेत देवोंके वश किस प्रकार होता है वह इसी मंत्रके बादके मंत्र अर्थात् ऋ. १०।१६।३॥ में दर्शाया है।

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥ ऋ. १०।१६।३

हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्यको जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायुको जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्त्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व है वह पृथिवी में जावे इत्यादि रीतिसे (द्यां च पृथिवीं च गच्छ) द्यौ व पृथिवीको जा, अर्थात् जो धुका अंश तेरे में है वह द्युमें जावे व पृथिवीका है वह पृथिवीमें जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलांश जावे (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो। और इसी प्रकार (ओषधीषु शरीरैः प्रतितिष्ठा) ओषधियों में शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधिमें चला जावे।

यह ऋग्वेदके १० वें मण्डलका सम्पूर्ण १६ वां सूक्त अंत्येष्टिसंस्कारविषयक है, अतः हम इस संपूर्ण सूक्त पर आगे चलकर स्वतंत्र विचार करेंगे। यहां पर हमें इतनाही देखना था, कि अग्नि प्रेतको क्या करती है, और तदनुसार हमने देखा कि प्रेतको अग्नि पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचाती है।

मरनेपर पितृलोकमें जाना।

जीवानामायुः प्रतिरत्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ते मृताः। सु गार्हपत्योवितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसी धेह्यस्मै॥ अथर्व० १२।२।४५॥

(अग्ने) हे अग्नि! (त्वं जीवानां आयुः प्रतिर) तू जीवितोंकी आयुको बढा और जब (ते मृताः) वे मर जावें तब (पितृणां लोकं अपि गच्छन्तु) पितृलोकमें जावें, अर्थात् जबतक वे जीवित हैं तबतक उनकी आयु वृद्धि करता रह और जब मरें तब पितृलोकमें पहुंचा दे (अरातिं वितपन्) न दान देनेवालेको विशेष रूपसे तपाता हुआ(सुगार्हपत्यः) उत्तम गार्हपत्य तू (अस्मै) इस जीवके लिए(श्रेयसीं उषां उषां) कल्याणकारिणी प्रत्येक उषाको (धेहि) धारण कर, अर्थात् इसके लिए प्रत्येक उषा कल्याण करनेवाली हो। इस मंत्रमें अग्निसे उषा देनेकी प्रार्थना की गई है, परन्तु उषा तो सूर्य देता है अतः यहां अग्नि सूर्यके लिए आया है ऐसा प्रतीत होता है। इसके सिवाय सूर्यसे भी दीर्घायुकी प्रार्थना करनेवाले मंत्र हैं तथा पहिले हम यह भी देख आए हैं कि सूर्यकिरणोंसे पितर पितृलोकमें जाते हैं,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अतः अग्निसे यहां सूर्यका ग्रहण है और सूर्यसे कहा गया है कि वह मृत को पितृलोकमें ले जावे। पितृलोककी अवधि पूर्ण होने पर अग्नि फिर वापिस मर्त्यलोकमें जीवात्माको लौटा लाती है, यह निम्न मंत्र हमें दर्शा रहा है—

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः॥ ऋ. १०। १६। ५॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठ भेद के साथ निम्न प्रकार आया है—

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् आयुर्वसान उपयातु शेषः संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः॥ अथर्व. १८। २। १०॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः) जो (ते आहुतः) तेरे में अंत्येष्टि के समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंद्वारा अर्थात् स्वधाओंको खाता हुआ विचरण करता है उसको (पितृभ्यः) पितरोंसे (पुनः) फिर लाकर (अवसृज) यहां छोड, जिससे कि (शेषः) यह पुनर्जन्म लिहुआ अपत्य (उपयातु) कुटुंबियों को प्राप्त करे तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (तन्वा संगच्छतां) यह शरीर से युक्त होवे। शेष नाम संतान का है। शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति'। निरु० ३। २॥ अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकारभी किया जा सकता है।

हे अग्ने! जो पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है, उसे पितरों के लिए दे अर्थात् उसे पितृलोक में पहुंचा। यहां शेष अर्थात् मृत पुरुष की संतान दीर्घ जीवन धारण करती हुई अपने घर जाए। वह तेजयुक्त शरीर को प्राप्त होवे।

इस अर्थ के अनुसार इस मंत्र का भी विनियोग अंत्येष्टिसंस्कार में किया जा सकता है। मंत्रके पूर्वार्ध से मृत पुरुष के लिए प्रार्थना की गई है तथा उत्तरार्ध से दाह संस्कार में आई हुई मृत पुरुष की संतान के लिए दीर्घायु की प्रार्थना है।

क्रव्यात् अग्नि।

जिस अग्नि का अंत्येष्टि संस्कार में विनियोग किया जाता है उस अग्नि का नाम क्रव्यात् अग्नि है। क्रव्यात् अग्नि का अर्थ है मांसाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होमा जाता है वह अग्नि। अंत्येष्टि संस्कारमें मृत देह को होमा जाता है अतः इसका नाम क्रव्यात् अग्नि है। इसके सिवाय कइयोंका ऐसा भी मत है कि अन्यत्र पितृयज्ञादिमें भी मांस होमा जाता है और अतः उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। हम पीछे 'पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य' इस शीर्षक के नीचे देख आए हैं कि दो एक मंत्र हमें ऐसे भी मिले हैं जिनमें कि पितरों के लिए वपा मांस आदि देने का निर्देश मिलता है। श्राद्ध करनेवाले लोक पितरोंके लिए मांसका विधान मानते हैं परंतु मांस देनेके समय उसके स्थानपर माश (उडद) देते हैं। परंतु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मृत शरीर होमा जाने के कारण ही वपा और मांस के होमने की कल्पना वेदमें की गई है, क्यों कि मृत शरीरमें वपा और मांस तथा मेद होते हैं। अस्तु, अब हम देखते हैं कि, क्रव्यात् अग्नि के क्या कार्य हैं व पितरोंसे उस का क्या विशेष संबन्ध है।

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ ऋ. १०। १६। ९॥ यजुः अ० ३५। १९॥ अथर्व० १२। २। ८

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांसभक्षक अग्नि को दूर भिजवाता हूं। (रिप्रवाहः) पापका वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है उन प्रदेशों को चली जावे। (इह) यहां पर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्यात् अग्नि से भिन्न जातवेदस् अग्नि जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवों के लिए हव्यों का वहन करें अर्थात् उन्हें पहुंचावें।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्नि को यमराज के देशमें भेजनेका निर्देश है और साथही क्रव्यात् अग्नि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

देवोंके हव्यके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है यहभी बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रव्यात् अग्निका संबन्ध यमलोकसे है जहां कि पितर रहते हैं।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे ॥

ऋ० १०। १६। १० ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरसे अथर्ववेदमें निम्न प्रकार आया है।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे।

अथर्व. १२। २। ७॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसं पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देख कर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घर में घुस गई है। (तं देवं) उस दीप्यमान क्रव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं। (सः) वह (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें (घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त होवे। यहांपर इस बातको स्पष्ट किया गया है कि क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए काम आती है। इसका यह मतलब प्रतीत होता है कि पितृयज्ञमें मांसकी आहुतियां हैं जिसके लिए दूसरी अग्नि अनुपयुक्त है। इसी अग्निमें पितरोंके लिए मांस व वपाका होम (जैसा कि पूर्व देख आए हैं) होता होगा। इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि क्रव्यात् अग्निसे भिन्न दूसरीको जातवेदस् के नामसे कहा गया है। क्रव्यात् अग्निको जातवेदस् से नहीं कहा गया। इसका मतलब यह है कि पितृयज्ञको छोडकर अन्यत्र सर्वत्र जातवेदस् अग्निका विनियोगही होता है। खास पितृयज्ञ वा पितरोंके अन्य कार्योंके लिए जैसे शवदहनादिके लिए क्रव्यात् अग्निका प्रयोग होता है।

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दहन्तं वज्रेण मृत्युम्। नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितृणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥अथर्व० १२। २। ९

(इषितः) प्रेरणा किया गया मैं (जनान् मृत्युं दहन्तं) मनुष्यों को मृत्युसे दृढ करती हुई अर्थात् मनुष्यों में मृत्युसंख्याको बढाती हुई (क्रव्यादं अग्निं क्रव्यात् अग्निको (वज्रेण) वज्रद्वारा (हरामि) दूर भगाता हूं। (विद्वान्) ज्ञानी मैं (तं गार्हपत्येन निशास्मि) उस क्रव्यात् अग्नि को गार्हपत्य द्वारा पूर्णतया शासित करता हूं ताकी मृत्यु मनुष्योंमें दृढ न होने पावे। इस प्रकार क्रव्यात् अग्नि पर शासन करने के कारण (पितृणां लोकेऽपि) पितरों के लोकमें भी (भागः अस्तु) मेरा भाग हो।

क्रव्यात् अग्नि पर शासन करने से अर्थात् उसे वश में करनेसे पितृलोक में भाग मिलता है, ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है अर्थात् पितृलोकमें यदि भाग चाहिए तो क्रव्यात् अग्नि को वशमें करना चाहिए। क्रव्यात् अग्नि के रहने का स्थान मुख्यतया पितृलोक ही है ऐसा इस नीचे के मंत्रसे ज्ञात होता है।

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः। मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥ अथर्व० १२।२।१०

(शशमानं उक्थ्यं क्रव्यादं अग्निं) शशमान, प्रशंसा के योग्य, मांसभक्षक अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाणमार्गों द्वारा (प्रहिणोमि) पितृलोकमें भेजता हूं। (देवयानैः पुनः मा अत्र आगाः देवयान मार्गों द्वारा फिर यहां वापिस लौटकर मत आ। (एधि) वहीं पर वृद्धि को प्राप्त हो। (पितृषु एव त्वं जागृहि) पितरों में ही तू जागती रह, अर्थात् उन्हींमें तू सावधानता पूर्वक रह।

क्रव्यात् अग्निका पितरों से कोई विशेष संबन्ध है, अतएव उसे पितरों में ही रहने के लिए तथा वापिस न आने के लिए आदेश इस मंत्र में दिया गया है।

शशमान-शशप्लुतगतौ से यह शब्द बना है। प्लुत गति का अर्थ उछल उछलकर जाना है। यहां पर क्रव्यात् अग्नि को शशमान विशेषण दिया है। इसका मतलब यह प्रतीत होता है कि क्रव्यात् अग्नि मांस को चटक चटक कर जलाती है। उस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

चटकनेको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उछल उछल कर जल रही है, इसी कारण संभव है इसे शशमान से पुकारा गया है।

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा।
प्रियं पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम्॥
अथर्व० १२। २। ३४

(गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्निसे (अपावृत्य) हटकर अर्थात् गार्हपत्य अग्निको छोडकर (क्रव्यादा) क्रव्यात् अग्नि के साथ (दक्षिणा प्रेत)दक्षिण दिशा को जाओ। (आत्मने पितृभ्यः प्रियं कृणुत) अपने लिए तथा पितरों के लिए प्रिय करो। (ब्रह्मभ्यः प्रियं) ब्रह्मज्ञानियोंके लिए प्रिय करो।

हमें वेदमंत्रों के देखने से पता चलता है कि पितरों की दक्षिण दिशा है। और उपरोक्त मंत्रों से यह भी भली प्रकार ज्ञात हो चुका है कि क्रव्यात् अग्नि पितरोंमें रहती है। इन दो बातों को लक्ष्यमें रखते हुए इस मंत्र को देखने से इस का भाव समझमें आ सकता है। यहांपर क्रव्यात् अग्नि के साथ दक्षिण दिशामें जानेका आदेश है। इसके सिवाय यह भी हमें पता चलता है कि क्यों कि पितरों की दक्षिण दिशा है,अतः पितृलोक दक्षिणमें है। क्रव्यात् अग्नि के इतने विवेचन से क्रव्यात् अग्नि के कार्य क्या हैं व उसका पितरों से क्या संबन्ध है इत्यादि बातें पाठकों के ध्यानमें आगई होंगी। अब अग्नि के अन्य कार्यों को दर्शानेवाले मंत्रों को दिया जाता है। निम्न मंत्र में अग्नि का पितरों में प्रविष्ट हुए हुए दस्युओं का यज्ञ से हटाना बतलाया गया है। मंत्र इस प्रकार है।

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात्॥ अथर्व० १८।२।२८॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियों के सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिए हुए को खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरों में प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विचरण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुत्रों को तथा (निपुरः) पौत्रों को (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओं को (अग्निः) अग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञसे (प्र धमाति) दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता।

भरन्ति=हरन्ति। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' से ह को भ हो गया है।

इस मंत्रसे यह प्रतीत होता है कि अन्य ज्ञातिगण जिनकी कि पितरों में गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारी संततिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियों को जो कि पितरों के उद्देश्यसे दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरों में बैठकर हवि खाने नहीं देती। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि पितरोंके लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरों को ही मिले। अग्नि ज्ञातिमुख लोकों को न लेने देगी।

अग्निके शरीरका पितरोंमें प्रवेश।

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश। पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि॥ अथर्व० १९।३।३॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः ते महिमा) जो तेरी महिमा (देवेषु स्वर्गः) देवों में सुख पहुंचानेवाली है और (या ते तनूः) जो तेरा शरीर (पितृषु आविवेश) पितरों में प्रविष्ट हुआ हुआ है तथा (या ते पुष्टिः) जो तेरी पोषकता (मनुष्येषु पप्रथे) मनुष्यों में फैली हुई है (तया) उस से (अस्मासु रयिं धेहि) हमारे अन्दर रयि को धनसम्पत्ति को स्थापित कर अर्थात् हमें धनसम्पत्ति दे।

यहां पर अग्नि अपने शरीर से पितरों में प्रविष्ट हुई हुई है यह बात दिखाई गई है। अग्नि सदा पितरों में विद्यमान रहती है ऐसा इसका अभिप्राय मालूम पडता है। निम्न मंत्र में पितरों से यह प्रार्थना की गई है कि न तो अग्नि हमसे द्वेष करे और नहीं हम अग्नि से द्वेष करें। मंत्र निम्न है—

CCO. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तरा विवेशामृतो मर्त्येषु। मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम्॥ अथर्व० १२।२।३३॥

(पितरः) हे पितरो! (यः अमृतः अग्निः) जो अमरणशील अग्नि (वः मर्त्येषु हृत्सु) हम मरणशीलों के हृदयों में (आविवेश) प्रविष्ट हुई हुई है (तं देवं) उस प्रकाशमान अग्नि को (अहं मयि परि गृह्णामि) मैं अपने अन्दर सब ओरसे ग्रहण करता हूं- स्थापित करता हूं। (सः) वह अग्नि (अस्मान् मा द्विक्षत) हम मर्त्यों से द्वेष मत करे और (वयं मा तं) हम उससे द्वेष मत करें। दोनों परस्पर द्वेष न करते हुए मिलकर रहें।

उपरोक्त मंत्र में पितरों से प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमसे द्वेष न करे व हम अग्निसे द्वेष न करें। नीचे लिखे मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्ती न करें। मंत्र इस प्रकार है—

मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः। पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ऋ० ३।५५।२॥

(अग्ने) हे अग्नि! (अत्र) यहांपर देवाः मो नः सुजुहुरन्त) देवगण हमारे साथ जबरदस्ती मत करें। और (पूर्वे पदज्ञाः पितरः मा) पुरातन अर्थात् पूर्वकालीन पदज्ञ पितृगण जबरदस्ती मत करें। क्योंकि हे अग्नि! (केतुः) प्रकाशक तू (पुराण्योः सद्मनोः) पुरातन द्यावापृथिवीके (अन्तः) अन्दर सूर्यरूपसे प्रकाशित होती है (अध्याहार)। और क्योंकि तू (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् प्राणदाता है।

यहांपर अग्निसे कहा गया है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्तीका व्यवहार न करें। हमारी इच्छाके विरुद्ध हठ करके वे हमें किसी भी कार्यमें प्रवृत्त न करें। सूर्यके लिए यहां पर अग्नि शब्दको प्रयुक्त किया गया है ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि द्यु तथा पृथिवी दानोंपर सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि नहीं। इसके अतिरिक्त 'महद्देवानां असुरत्वमेकं' सेभी यही पता चलता है। सूर्यमें सब देवोंको प्राणशक्ति देनेका सामर्थ्य है, जैसा कि असुरत्व बता रहा है। असुरत्व-असु नाम है प्राणका। 'प्राणो वा असुः' श० ६।६।२।६॥ असुं प्राणं राति ददातीति असुरः प्राणदाता आत्मा। असुरस्य भावः असुरत्वम्-आत्माकी प्राण देनेकी शक्ति। सूर्यको देवोंकी आत्मा कहा गया है। 'सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा'॥ श० १४।३।२।९॥

जुहुरन्त- हृ प्रसह्यकरणे धातु के लङ् लकार का रूप है। 'प्रसह्यकरणे' का अर्थ होता है हठ पूर्वक जबरदस्तीसे कोई काम करना।

पितरोंकी रक्षार्थ अग्निकी उत्पत्ति।

होताजनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये।
प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्॥ऋ०२।५।१

(चेतनः) चेतनवाला व चेतना देनेवाला (पिता) पालक व रक्षक (होता) लेने व देनेवाला (अग्निः) अग्नि (पितृभ्यः ऊतये) पितरों की रक्षाके लिए (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। उस अग्निकी सहायता से (वाजिनः) बलवान् वा अन्नसे युक्त हुए हुए हम (प्रयक्षं) अत्यन्त पूजनीय (जेन्यं) जयशील जीतने लायक (वसु) धनका (यमं शकेम) नियमन करनेमें समर्थ हों। अर्थात् इस प्रकारके धनको हम अपने पास स्थिर रखने में समर्थ हो सकें।

इस मंत्रमें अग्निकी उत्पत्तिका प्रयोजन पितरोंकी रक्षा बताया गया है। हम ऊपर देख आए हैं कि अग्नि पितरोंकी पर्याप्त सहायक है। उसके बिना पितरोंकी रक्षा संभव नहीं। इसीको यह मंत्र प्रतिपादित कर रहा है।

वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना।

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्। स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः॥ अथर्व० १८।४।३५॥

(वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि) वैश्वानर अग्नि में यह हवि डालता हूं जो कि हवि (शतधारं साहस्रं उत्सं इव) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैंकडों व हजारों धाराओंवाली है। (सः)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वह वैश्वानर अग्नि (पिन्वमानः) उस हविसे तृप्त हुई हुई (पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) पिताका, दादाओंका तथा परदादाओं का धारण पोषण करती है।

यहां पर अग्निको वैश्वानरके नामसे कहा गया है। वैश्वानरका अर्थ है सब नरोंको लेजानेवाला। अग्नि सब मनुष्योंको ले जाती है। अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। इस मंत्रमेंभी उपरोक्त कथनोंकी ही पुनरावृत्ति की गई है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो, वह अग्निको देना चाहिए, वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है।

(२)

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त का क्या अर्थ है यह एक विचारणीय विषय है। क्योंकि भिन्न भिन्न भाष्यकर्ताओंने इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया है। तथापि वेदमंत्रोंसे इस का क्या अर्थ निकालता है यह हमें देखना है। अग्निष्वात्तका शब्दार्थ इस प्रकार है 'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः' अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है यानि जो अग्निमें जलाए गए हैं। इसी विग्रहकी तथा इस अर्थ की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण कर रहा है- 'यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः'। श० २।६।१।७॥ अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इस विवेचनसे अग्निष्वात्त पितरोंके विषयमें हमारे सामने यह परिणाम निकला कि जिनका अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है उन पितरोंका नाम अग्निष्वात्त पितर है। अब हम वेद मंत्रोंपर दृष्टि डालेंगे और देखेंगे कि उनसे क्या पता चलता है।

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः
स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां
यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ यजुः १९।६०॥

(ये) जो (अग्निष्वात्ताः) अग्निष्वात्त पितर और (ये) जो (अनग्निष्वात्ताः) अनग्निष्वात्त पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) द्युलोक के बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, (तेभ्यः) उन पितरों के लिए(स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावशं) कामनाके अनुसार अर्थात् कर्मानुसार (एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयाति) इस प्राणों द्वारा ले जाए जानेवाले शरीर को बनाता है।

असुनीतिका अर्थ है जो प्राणोंद्वारा लेजाया जावे यानि जिसका प्राणों द्वारा संचालन होवे। यह शरीर असुनीति है क्योंकि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है। इस मंत्र से यह बात स्पष्ट है कि पितृलोकस्थ पितरों का पुनर्जन्म होता है। उपरोक्त मंत्र ठीक ऐसा का ऐसा ही ऋग्वेदमें मिलता है। वहांपर जो थोडासा परिवर्तन है वही अग्निष्वात्त के अर्थका स्वयं निर्णय कर रहा है।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः
स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां
यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ ऋ. १०।१५।१४

अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है इन दोनों मंत्रों की तुलना करके देखनेसे पाठकों को स्वयमेव अग्निष्वात्त का अर्थ ज्ञात हो जाएगा। यजुर्वेदस्थ इस मंत्र में जहां 'अग्निष्वात्ताः' और 'अनग्निष्वात्ताः' पद हैं वहां पर ऋग्वेदमें 'अग्निदग्धाः' व 'अनग्निदग्धाः' पद हैं। शेष मंत्र सर्वथा समान है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अर्थ अग्निष्वात्त का है वही अर्थ अग्निदग्ध का है। अग्निदग्ध का अर्थ स्पष्ट है कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो। अतः अग्निष्वात्त का भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो। हम प्रारंभ में देख आए है कि शतपथ ब्राह्मणने भी वही अर्थ किया है जो कि वेदमंत्रों से पता चल रहा है। इस प्रकार वेद व ब्राह्मण अग्निष्वात्त के इसी अर्थ पर सहमत हैं कि 'जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो।' पाठक इसपर विचार करें क्यों कि इससे पितरों पर विशेष प्रकाश पडता है। अग्निष्वात्त का उपरोक्त अर्थ होनेपर निश्चय से

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अग्निष्वात्त पितर मृत पितर ही हैं यह साबितहोता है और उनसे जैसा कि आगे देखेंगे यज्ञमें बुलाकर रक्षा करने धनादि देने,वह हवि खिलानेका उल्लेख है। इसका अभिप्राय स्पष्ट रूपसे यह है कि मृत पितरों के लिये के लिए कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए। इतना अग्निष्वात्त शब्दपर प्रकाश डालने के बाद अब हम अग्निष्वात्त पितरों के यज्ञादि में आने, हमारी रक्षा करने आदि दर्शानेवाले मंत्रोंको उद्धृत करते हैं।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यधा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ. १०।१५।११

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें भी आया है। देखो यजुः १९। ५९ तथा अथर्व० १८। ३। ४४॥ अर्थ इस प्रकार है-

हे उत्तम नेता अग्निष्वात्त पितरो! इस यज्ञमें आओ! घर घरमें स्थित होओ, और यज्ञमें दिए गए हवियों को खाओ। हमें सब प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाने,हवि खिलाने तथा धन मांगनेका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है।

आयान्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ यजु. अ० १९।५८॥

(सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (नः अग्निष्वात्ता पितरः) हमारे अग्निष्वात्त पितर (देवयानैः पथिभिः) देवयान मार्गों द्वारा (अस्मिन् यज्ञे आयान्तु) इस यज्ञ में आवें। (स्वधया मदन्तः) स्वधासे तृप्त होकर आनन्दित होते हुए (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें और (ते अस्मान् अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें।

इस मंत्रमेंभी पूर्व मंत्रानुसार यज्ञमें पितरोंके आने स्वधासे तृप्त होने, उपदेश करने व हमारी रक्षा करनेकी प्रार्थना है।

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः। ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ यजुः अ० १९।६१॥

(ऋतुमतः) ऋतुओंवाले (अग्निष्वात्तान्) अग्निष्वात्त पितरों को (हवामहे) हम बुलाते हैं, (ये) जोकि (नाराशंसे सोमपीथं आशुः) जिस में मनुष्य प्रशंसाको पाते हैं ऐसे यज्ञमें सोमपानको करते हैं, (ते विप्रासः)वे मेधावी पितर (नः सुहवाः भवन्तु) हमारे लिए सुखपूर्वक बुलाने लायक होवें अर्थात् हमें उन्हें बुलाने में कष्ट न हो, बुलाते ही वे हमारी प्रार्थना का स्वीकार कर आ जावें। (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें।

'ऋतुमतः' का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता। आशुः 'अश-भाजने' से बना है।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको सोमपान करनेके लिए आमन्त्रित किया गया है। तथा प्रार्थना की गई है कि वे सुगमतासे हमारे आमंत्रण को स्वीकार करें। निम्न मंत्र में भिन्न भिन्न प्रकारके पितरोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंका उल्लेख है।

धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितृणां सोमवतां, बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितृणां बर्हिषदां, कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितृणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः॥ यजुः २४।१८॥

(धूम्राः) धूएंके रंग जैसे तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (सोमवतां पितृणां) सोम रसपान करनेवाले पितरोंके हों। (बभ्रवः) भूरे तथा (धूम्रनीकाशाः) धूएं जैसे पशु वा पदार्थ (बर्हिषदां पितृणां) कुशाघास पर बैठनेवाले पितरों के हों। (कृष्णाः) काले तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (अग्निष्वात्तानां पितृणां) अग्निष्वात्त पितरोंके हों। शेष 'कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः' इस मंत्रभागका कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता और नहीं अर्थ स्पष्ट होता है। इस प्रकार अग्निष्वात्त पितरोंका प्रकरण यहां पर प्रायः समाप्त होता है। यह प्रकरण विशेष विचारणीय एवं महत्त्वपूर्ण है।

(३)

बर्हिषत् पितर।

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ऋ० १०।१५।३॥ यजु: १९।५६॥ अथर्व० १८।१।४५॥

(सुविदत्रान् पितॄन् अहं विष्णोः आ आविस्सि) उत्तम धनवाले पितरोंको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। (न पातं विक्रमणं च) और न गिरानेवाले अर्थात् अजेय विक्रम यानि पराक्रम को मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। अतः (ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पित्वः भजन्त) जो बर्हि अर्थात् कुशा (दर्भ) पर बैठनेवाले पितर स्वधाके साथ निचोडकर उत्पादित सोमरूपी अन्नका सेवन करते हैं (ते) तुम पितरो ! (इह) इस यज्ञमें (आगामिष्ठाः) बार बार आओ।

यहां पर बर्हिषत् पितरों को यज्ञमें बुलाने का निर्देश है।

बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गता वसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥ यजु. अ० १९।५५॥ अथर्व०१८।१।५१॥

(बर्हिषदः पितरः) हे कुशासन पर बैठनेवाले पितरो ! (ऊती) रक्षा द्वारा (अर्वाक्) हमारी ओर हो ओ अर्थात् हमारी रक्षा करो। (वः) तुम्हारे लिए (इमा हव्या चकृम) इन हव्यों को करते हैं, (जुषध्वम्) इनको सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आ गत) आओ। (अथ) और (नः) हमें (शं) रोगों का शमन तथा (योः) भयोंका दूर भगाना और (अरपः) पाप रहित आचरण दो।

यहां पर बर्हिषद् पितरों से रक्षण, रोगों का शमन, भयों का दूरीकरण आदि करने की प्रार्थना है।

इस प्रकार ये अग्नि व पितरों संबंधी विचार वेद में हमें मिलते हैं। इस प्रकरण में कई मननीय विचार हमें मिलते हैं जिनपर विशेष विचार करना नितान्त जरूरी है। जिन जिन मंत्रोंसे वे विचार मिलते हैं उन उन मंत्रोंको उनके मंत्रार्थसहित हमने पाठकों के सामने रख दिया है।

प्रेत व अंत्येष्टि।

इस प्रकरण में हम शरीर से प्राण निकलने के बादसे अर्थात् प्रेत बननेके प्रारंभ से उसके अंतिम संस्कार दहन तक की सब क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे और अन्तमें उस प्रेतसंबंधी जो प्रार्थनायें हैं उन का उल्लेख करेंगे।

(१)

प्राण निकलने के कुछ समय पूर्व।

मनुष्य देहसे प्राण के निकल जानेपर उसकी प्रेत संज्ञा होती है। जब प्राण निकल जानेको हों उस समय क्या करना चाहिए यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है।

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा।
स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥
अथर्व० १८।४।५६

हे मरणासन्न पुरुष ! (इदं हिरण्यं बिभृहि) इस सोने को धारण कर, (यत्) जिस सोनेको कि (पुरा) पहिले (ते पिता अबिभः) तेरे पिताने धारण किया था। इस प्रकार हे मनुष्य !(स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि) स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर।

निर्मृड्ढि– 'मृज् शौचालङ्कारयोः' से बना है। मृज् धातुका अर्थ शुद्ध करना व सुशोभित करना है।

इस मंत्रमें दर्शाई गई क्रिया हम अभीतक कई हिंदु × जातियों में पाते हैं। मरनेसे पूर्व मरणासन्न

× जैसा कि हमें ज्ञात हुआ है यह मृत को सुवर्णसे अलंकृत करने का रिवाज गुजरात प्रांत, युक्तप्रांत व महाराष्ट्रमें किसी न किसी रूपमें अभीतक विद्यमान है। संभव है संपूर्ण भारत में भी यह रिवाज प्रचलित होगा। कच्छ प्रांतकी 'लुहाणा' जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर एकाध सुवर्ण अलंकार रहने देते हैं और मरनेके बाद भी गोबर से लीपी हुई जमीन पर प्रेतको सुलाकर तुलसी सुवर्णादि उसे देते हैं। युक्तप्रांत में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है। कोई कोई तो प्रेत के दांतों में सोने की छोटी छोटी कीलें भी लगवाते हैं, ताकि प्राण जाते हुए मुख सुवर्णहीन न रहे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुगंधित धूप

सब प्रकारके सुगंधित धूप, अगरबत्तियां, धूपकी टिकियां, धूपबत्तियां हमारे पास मिलती हैं।

सुगंधशाला, डा० किन्ही (जि. सातारा)

The Vedic Magazine

The only Journal in English which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas in all climes and countries. It is the only organ of the Arya Samajic world which carries the message of the Arya Samaj beyond the seas. Indian emigrants from Non-Hindi-knowing Provinces of India, e. g., Madras, Mysore, Andhradesh, Burma, etc. etc., can remain in contact with Aryan thought through this monthly. The contents of the Magazine have always been highly spoken of by men and women of light and leeding.

Conductd by Prof. Ramdev, Principal & Governor, Gurukula Kangri.

Subscription Rs. 5 only in advance.

Managar 'The VEDIC MAGAZINE'

P. O. GURUKULA KANGRI.
(Dist. Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करने के लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय एक आना।

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, जि. सातारा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B. 1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	(५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०७]	११	१०७६	६	१)

कुल मूल्य ५८।) कुल डा. व्य.१०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे त आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथक तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना हगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवलेकर भारतभूषणालय, औंध, (जि० सातारा.)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्म

वर्ष १३

अंक ८

क्रमांक

१५२

श्रावण

संवत् १९८९

अगस्त

सन १९३२

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

आप संस्कृत सीखना चाहते हैं ?

तो आप "संस्कृत-पाठ-माला" के २४ भाग मंगवाइये और प्रतिदिन आधा घंटा पढकर एक वर्षमें महाभारत समझनेकी योग्यता प्राप्त कीजिये। २४ भागोंका मूल्य ६॥); १२ भागोंका मूल्य ४); ६ भागोंका मूल्य २।); ३ भागोंका मूल्य १।); और एक भागका मू०॥) है। वी० पी० द्वारा ।) अधिक मूल्य होगा। —मंत्री, स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५॥)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयसूची

१ ईशस्तुति।	७७
२ स्वा. हर प्रसाद जीका पत्र।	७८
३ श्रीमद्भगवद्गीता।	३६९
४ श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।	१
५ अथर्ववेदका स्वाध्याय।	२४१

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं। प्रत्यक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा.व्य.।-) जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धों को अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है। भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते। परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है। इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपने पास रखें। मूल्य केवल ।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ८

श्रावण
संवत् १९८९

क्रमांक
१५२

वैदिक धर्म।

अगस्त
सन १९३२

वैदिक-तत्त्वज्ञानप्रचारक मासिक पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

ईशस्तुति।

वषट् ते विष्णवास आकृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥४०॥

ऋ० ७।९९ ७; १००।७

हे विष्णो! वषट्कारद्वारा तेरा महत्त्व वर्णन करते हैं। हे तेजस्वी देव! हमारे हविर्द्रव्यों का तू स्वीकार कर। हमारे उत्तम स्तोत्र तेरा महिमा बढावेंगे। आप सब देव हम सबकी उत्तम कल्याणमय रक्षा करें॥

देवताओंका छः प्रकारका ऐश्वर्य बतानेवाला शब्द वषट्कार है। अतः इसका प्रयोग देवताओं की प्रशंसा के लिये करते हैं। हवन द्वारा देवताओं की प्रीतिके लिये यज्ञ करना मनुष्यों का कर्तव्य है। मनुष्यों की वाणी देवताओंके गुणवर्णन का कार्य करे। देवताओं के वर्णनसे वाणी की पवित्रता होगी और देवताओं का यश फैलेगा। मनुष्यों द्वारा किये जानेवाले यजन और स्तवन से सन्तुष्ट हुए देव मनुष्यों का कल्याण करेंगे और मनुष्यों की रक्षा करेंगे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्वा० हरप्रसादजीका पत्र।

आपका "यम और पितर" नामका ग्रन्थ मुझे चार घण्टाके लिये देखनेको मिला, मैंने स्थालीपुलाक न्यायसे सब देख लिया। आपका हृदय, आपका परिश्रम, देखकर चित्त चाहता है कि आपको एक लाख रुपया उपहारके तौर पर दिया जाये। कौन देगा, यह ईश्वरकी प्रेरणा पर निर्भर है, मुझे चिन्ह करनेकी आज्ञा नहीं थी, नहीं तो मैं बहुत बातें लिखकर भेजता।

(१) पितर क्रिया शब्द है, क्रियासे जनन तथा पालन, दोनों विवक्षित हैं। वेदके सब मन्त्रोंमें पितृ शब्दका प्रयोग इसी क्रियाकी दृष्टिसे हुआ है। अपनेसे पूर्व पुरुष, यह उसका फलित अर्थ है। वे अपने हों चाहे बेगाने, मृत हों चाहे जीवित, पितर शब्द इसमें उदासीन है। आपने जो हिंसा अर्थमें पितृशब्दके प्रयोगका मन्त्र (ऋ० ६।५।९) उद्धृत किया है, उसमें भी पितर शब्दका अर्थ पूर्व पुरुष ही है। "देवशत्रवः" में देव पद, सामान्य होनेपर भी यहां इन्द्राग्नीके अभिप्रायसे प्रयुक्त हुआ है।

यदि यहां पितरका अर्थ हिंसक किया जाये, तो 'देवशत्रवः' पद निरर्थक हो जाता है। "हतेषु सुतेषु सोमेषु अर्थात् सोमयज्ञेषु" अर्थ होना चाहिये।

(२) वेद मंत्रोंमें दिव् शब्द, अन्तरिक्ष और द्युलोक, दोनों के लिये सांझा प्रयुक्त हुआ है। अपने द्युलोक के विभाग मन्त्रमें इसका ख्याल नहीं किया।

(३) पितृयाण और देवयान यद्यपि कल्पित दो मार्ग हैं, तोभी पितृयाण चन्द्ररश्मियां और देवयान सूर्यरश्मियां, होनी चाहिये। आपने सूर्यरश्मियों को पितृयाण मान लिया है। ऐसा माननेसे दो मार्ग अलग अलग हैं, नहीं सिद्ध होते।

(४) सूर्यलोकमें सुकर्मा या देवकर्मा पुरुष जाते हैं, पितर नहीं जाते। इसी लिये देवकर्ममें उपयुक्त अश्वको "यत्र आसते पितरः" न पढकर "यत्रासते सुकृतः" (यजु० २३।१६) पढा है और "तत्र त्वा देवः सविता दधातु" कहा है।

(५) सपित्वमें बहुव्रीहि समास और अर्थ पितरोंका सांझा लोक है। दूसरे अर्थोंसे सायणाचार्यका अर्थ अच्छा है।

(६) यम, पितरोंका राजा है, वरुण जलोंका, दोनोंका स्थान अन्तरिक्ष है। यमका अर्थ सर्वत्र मन्त्रोंमें नियमनकर्ता है।

(७) आपने मंत्रोंमें उपमाके तौरपर आये हुए ऋषिनामोंके जो यौगिक अर्थ किये हैं, उन्हें सब स्वीकार नहीं कर सकते।

(८) आपको मन्त्रोंमें आये हुए मांस मेदा शब्दोंसे उदास न होना चाहिये और यह निश्चय जानना चाहिये कि किसी संमिति समाजको इनसे मुक्त किया जा सकता है, जाति भरको नहीं। आपको जातिका ख्याल रखकर काम करना चाहिये।

(९) यमके दोनों कुत्ते पुण्य पाप होने चाहिये रातदिन नहीं।

(१०) यदि आप "ऋक्संहिता" की एक शुद्ध तथा सुवाच्य अक्षरोंमें सुन्दर कागज पर एक प्रति छापकर प्रकाशित कर दें, तो आपका हिन्दु जातिपर बहुत उपकार होगा। सूत्रके आरम्भ सर्वानुक्रमणीके सूत्र रखकर मन्त्रोंको छापना बहुत अच्छा रहेगा। अजमेरकी छपाई बहुत अशुद्ध है।

(११) यदि ऋक्संहिताके मन्त्रोंका संक्षिप्त, सरल तथा प्रसादान्वित संस्कृत वाणीमें अर्थ छप जाये, तो विद्यालयों कालजोंके कोर्समें ले लिये जानेकी बडी सम्भावना है और जनता स्वाध्यायके लिये भी बहुत चाहती है। मन्त्रोंमें आये हुए अग्नि आदि देवता शब्दोंके विवरण प्रस्तवनामें लिखे जायें, तो हर्ज नहीं। मन्त्रोंके अर्थोंमें नहीं, वहां अग्नि का अग्नि और वायुका वायु ही होना चाहिये।

आपका

हरिप्रसाद, वैदिक मुनि, चेतनदेव आश्रम

ता. ३।८।३२ कनखल।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(तत्परः) अनुष्ठानमें तत्पर अर्थात् दूसरे विचारों में अपना समय न गमानेवाला, कर्तव्य कर्ममें दत्तचित्त रहकर उत्तम निर्दोष रीतिसे अपने कर्तव्य करनेवाला, परमेश्वर में तल्लीन और (संयत—इन्द्रियः) अपने इंद्रियों को अपने स्वाधीन रखनेवाला, इन्द्रियनिग्रही और संयमी मनुष्य को ही अर्थात् (स्वयं योग-सं-सिद्धः) स्वयं समत्व बुद्धियोग द्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध बना हुआ मनुष्य योग्य (काले) समय तक अनुष्ठान करके अपने आत्मामें ज्ञान का प्रकाश हुआ है, इस बात का अनुभव करता है। इस ज्ञानप्राप्ति के चार उपाय हैं—

(१) श्रद्धा, (२) तत्परता, (३) इंद्रियसंयम और (४) योगसंसिद्धि ये चार उपाय हैं, जिनसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रद्धा में बडा बल है। जो ईश्वरपर अटल श्रद्धा रखता है वह ईश्वरके साथ अपना संबंध अतिशीघ्र जोडता है और शीघ्रही तन्मयता प्राप्त करता है। गुरुके वचनोंपर और शास्त्रकी आज्ञाओंपर श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य अपने मनको इधर या उधर न भटकाता हुआ, एक ही बिन्दुमें केन्द्रित करके अनुष्ठान करता है। इंद्रियसंयम करनेवाला मनुष्य अपने इंद्रियोंको वशवर्ती रखकर, उनको विषयमें न फंसाता हुआ, ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके शान्तिसे अपने मार्गका आक्रमण करता है। इसी तरह योगसे सम्यक् सिद्धि प्राप्त करता है, अर्थात् समत्वबुद्धिरूपयोगसे सम्यक् सिद्धि प्राप्त करके वह अपने अन्दर पूर्वोक्त ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धा, कर्तव्यतत्परता, इंद्रियसंयम और समत्वबुद्धियोग इन चार साधनों द्वारा मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है, यहां ज्ञान का अर्थ- "आत्मा का सब भूतोंमें निवास और सब भूतोंका आत्मामें निवास देखना है। (४।३५; ६।२९; ६।३०)" यह ज्ञान श्रद्धा, तत्परता, संयम और समबुद्धि से प्राप्त होता है। और यह ज्ञान प्राप्त होते ही—

अचिरेण परां शान्तिं अधिगच्छति । (४।३९)

"शीघ्रही श्रेष्ठ शान्ति प्राप्त होती है।" यह ज्ञान अत्यंत पवित्र है और पवित्रता करनेवाली वस्तु है। जहां यह ज्ञान प्रकट होता है, वहां पवित्रता बनती है और सब प्रकारकी अपवित्रता वहांसे हट जाती है। यह पवित्र ज्ञान जिसको प्राप्त होता है उसको इस लोकमें भी सुख मिलता है और परलोकमें भी आनन्द प्राप्त होता है।

संशयसे नाश।

परंतु जो स्वयं अज्ञानी, अश्रद्ध और संशयग्रस्त है, उसका तो नाश होता है। वह जैसा इस लोक में दुखी होता है वैसाही परलोक में भी वह अनिश्चित स्थितिमें रहता है। यहां सश्रद्ध और अश्रद्ध ऐसे दो प्रकार के मनुष्यों की स्थिति वर्णन की है, देखिये उनकी क्या स्थिति होती है-

श्रद्धवान् (३९)	अश्रद्दधानः (४०)
तत्परः (३९)	चञ्चलः
संयतेंद्रियः(३९)	भोगपरः, असंयमी
योगसंसिद्धः(३८)	चंचलबुद्धि
स्थितप्रज्ञः	संशयात्मा (४०)
ज्ञानवान्	अज्ञः (४०)
पवित्रः (३८)	अपवित्रः, मलीनः
अविनाशी	विनश्यति (४०)
सुखमयः	दुःखरूपः
शान्तः	अशान्तः

श्रद्धालू का क्या बनता है और अश्रद्ध मनुष्यकी कैसी गिरावट होती है, यह बात यहां उत्कृष्टतासे विशद हुई है। श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेसे शान्तिसुख प्राप्त होता है, परंतु अश्रद्ध और भोगमय जीवन बननेसे सब प्रकार की गिरावट हो जाती है।

अज्ञ वह है कि जिसको 'परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है और सब संसार परमात्मामें है' इसका पता नहीं है। इस तरह का अज्ञ मनुष्य किसीपर अर्थात् ईश्वर गुरु और शास्त्रवचनोंपर श्रद्धा नहीं रखता, और इस अश्रद्धा के कारण वह

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(१३) संदेह-निवृत्ति ।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे धनंजय ! योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयं आत्मवन्तं कर्माणि न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥ हे भारत ! तस्मात् अज्ञानसंभूतं हृत्स्थं आत्मनः एनं संशयं ज्ञानासिना छित्वा योगं आतिष्ठ, युद्धाय (च) उत्तिष्ठ॥४२

हे युद्धमें विजयी अर्जुन ! जिसने योगद्वारा अपने सब कर्मोंका संन्यास किया है, जिसने ज्ञानसे सब संशय काट दिये हैं, जो आत्मिक बलसे युक्त है, उसको कर्मसे बंधन नहीं होते हैं ॥४१॥ हे भारतीय वीर ! इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले इस हृदयके संशयको अपने ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर कर्मयोग का आचरण कर और युद्ध करनेके लिये उठकर खडा हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ— कर्मयोगके अनुसार अपने सब कर्म कर, ज्ञानसे अपने संदेह दूर कर, आत्मिक बलसे युक्त हो, तब तुझे कर्मोंके दोष नहीं लगेंगे, अज्ञानसे संदेह होते हैं, उनको ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर कर्मयोग कर और युद्ध करनेके लिये उठ ॥ ४१-४२ ॥

संशयसागर में डूबता रहता है। ईश्वर नहीं होगा, यह सृष्टी स्वयं बनी होगी, क्या इसका कोई कर्ता होगा, मृत्युके पश्चात् इस जीव का क्या होता है इत्यादि विषयमें उसके विचार संशयित होते हैं। इस कारण वह कहां भी श्रद्धा नहीं रखता, कुछ भी अनुष्ठान नहीं करता और वह यहां भी दुखी रहता है और मृत्युके पश्चात् भी वह दुखीहि रहता है। संशयी मनुष्यको सत्य मिथ्या, अनुकूल प्रतिकूल, हित अहित, योग्य अयोग्य, धर्म अधर्म आदिका ज्ञान नहीं होता, और वह हित को अहित और अहित को हित मानकर फंसता है और प्रतिसमय दुःखमें रहता है। यह दुःख हटानेकी इच्छा है तो श्रद्धा, तत्परता, संयम और योगाभ्यास आदि मार्गका अवलंबन करके अपने प्रयत्नसेहि ज्ञानप्राप्तिद्वारा ऊपर उठना चाहिये। यही बात आगे के दो श्लोकोंमें कही है—

कर्मबंधनिवृत्ति ।

(४१-४२) जो मनुष्य (योग-) बुद्धिकी समता (गी० २।४८) और कर्मकुशलता (गी० २।५०) रूप योगके द्वारा (-सं-न्यस्त-कर्मा) सब कर्मोंकी उत्तम प्रकार से (न्यास) व्यवस्था करता है, किंवा कर्मोंके फलोंका जगत्की भलाई के लिये समर्पण करता है; और जो (ज्ञान-संछिन्न-संशयः) परमात्माके सर्वत्र व्यापक होनेके अनुभविक ज्ञानसे अपने सब संशयोंको काटकर नाश करता है; तथा जो (आत्म-वान्) आत्मिक

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शक्तिसे संपन्न है ऐसे मनुष्य को उसके किये कर्मोंका (कर्माणि न निबध्नन्ति) बंधन नहीं होता । अर्थात् कर्मोंके बन्धनसे छूटनेके तीन कारण हैं—

(१) बुद्धिकी समता और कर्मोंकी कुशलता के साथ कर्तव्यकर्मोंको यथा योग्य रीतिसे करना; (योग-संन्यस्त-कर्मा);

(२) (ज्ञान-) परमेश्वर सब में है और सब जगत् परमेश्वरमें है इस का अनुभव करना और परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है ऐसा अनुभव करके (-संछिन्नसंशयः) संदेह दूर करना और उसी की अध्यक्षता में उसकी संतुष्टीके लिये अपने कर्तव्य कर्म करना; और

(३) (आत्मवान्) आत्मा के बलसे युक्त होकर प्रमादरहित रीतिसे अपने कर्तव्य करना ।

इन तीन शर्तोंका पालन करनेसे मनुष्य कर्मों के बंधनसे मुक्त होता है और इस तरह वह जो जो कर्म करता है वह कर्म उसको बंधन करनेके लिये रहता ही नहीं । अर्थात् वह सब कर्म निर्दोष रीतिसे करता है अतः कर्मदोषोंसे अलिप्त रहता है । यह निर्दोषता क्यों सिद्ध होती है, इसकी उपपत्ति देखिये । कर्मके बंधसे मुक्त होने के लिये कर्मसे दोषकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये । यह निर्दोष कर्म किस तरह साध्य होता है, इसका मनन करना चाहिये । " समता, कुशलता, प्रभुकी समीपता, अपनी बलवत्ता और फल का समर्पण करनेसे कर्मोंके दोषोंसे मुक्ति होती है; " अब एक एक का विचार करेंगे—

(१) (योग) समता ।

अपना पराया, छोटा बडा, उच्च नीच आदि विषमता मनमें रही, तो कर्म विषम होते हैं और विषम कर्मोंसे विविध दोष होते हैं । परंतु इनके विषयमें (योग) समभाव मनमें रहा, मैं और दूसरा यह भेद मिट गया और सब के साथ समान व्यवहार होने लगा, तो वैसे व्यवहार से दोष नहीं होते । यह पुत्र मेरा है और यह दूसरे का है, ऐसा भेदभाव मनमें रहेगा तब तक ही उक्त दोनों पुत्रोंके साथ विषम व्यवहार होगा और विषमतासे दोष होगा, परंतु जिस समय यह भेदभाव नहीं रहेगा और अपने और पराये पुत्रके साथ समान व्यवहार होने लगा, तो उस समय विषमता मिटनेके कारण कर्मसे दोष नहीं होंगे और कर्म भी बाधा नहीं करेंगे । सब प्रकार के द्वन्द्वों के विषयमें समबुद्धि होनेसे इसी तरह सब प्रकारकी विषमता हट जाती है और ऐसी अवस्थामें जो कर्म होते हैं, वे बाधा करनेवाले नहीं होते ।

(२) (योग) कुशलता ।

कुशलता से कर्म निर्दोष होते हैं, यह सब जानते हि हैं । एक कारीगर अपने कर्ममें कुशल है और दूसरा नहीं है । उनमें जो कुशल होगा उसीके कर्म निर्दोष होंगे, वैसे दूसरेके नहीं हो सकते । और निर्दोष कर्म बाधक नहीं हो सकते प्रत्युत उद्धारक होसकते हैं ।

'योग' के ये दो अर्थ हैं, समता और कुशलता । इन दोनों अर्थों को देखनेसे पाठकों को ज्ञान हुआ होगा कि इन से कर्म दोष रहित होंगे और कर्ता को मुक्त करनेमें समर्थ होंगे । (योग-संन्यस्त-कर्मा) जो इस प्रकारके योग के साथ कर्तव्य करता है वह बंधन से मुक्त होता है, यह बात अब पाठकोंको स्पष्ट हुई होगी ।

(३) प्रभुकी उपस्थिति ।

परमेश्वर सर्वत्र है और सब परमेश्वरमें है, इसका मुख्य अर्थ है प्रभुकी सर्वत्र प्रत्यक्ष उपस्थिति । मनुष्य जहां जाये वहां उसको यदि प्रभुकी उपस्थिति प्रत्यक्ष हो, वह प्रभु मेरे कर्म देख रहा है ऐसा इसको प्रतीत होता हो, और उस प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये मैं यह कर्म कर रहा हूं यह इसका निश्चय हो, तो निःसन्देह उस के कर्म उत्तम होंगे और निर्दोष होंगे । स्वामीके सन्मुख रहनेसे सेवक से उत्तम कर्म होते हैं, और

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जहां तक हो सके वहां तक सेवक प्रमादरहित होकर सब कर्म करता है। फिर सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा प्रभु मेरे सन्मुख है ऐसा जिस भक्त के अन्तःकरण में विश्वास होगा, वह उसकी अध्यक्षता में निर्दोष कर्म करेगा इस में कुच्छ भी संदेह नहीं है। (ज्ञान-संछिन्न-संशयः) ज्ञानसे जिसके संदेह नष्ट होते हैं, परमेश्वर सर्वत्र है वा नहीं, वह मेरे कर्म जानता है वा नहीं, इस प्रकार के संदेह दूर होनेसे वह प्रभुको सर्वत्र उपस्थित जानता है और वह जो करता है वह उस की संतुष्टीके लिये करता है।

(४) आत्मबल।

अपने बल से कर्म करनेसे कर्म निर्दोष होता है। दूसरेकी सहायतासे जो कर्म होंगे, उसमें दूसरेके बलपर निर्भर होनेकी परतंत्रता होनेके कारण पारतंत्र्य का बडा दोष उसमें है। यह दोष हटना अशक्य है। आत्मबलसे कर्म करनेवाले में वह पारतंत्र्य का दोष नहीं रहता, यही इसकी निर्दोषता है। (आत्मवान्) आत्मिक बल सबसे श्रेष्ठ बल है अतः जिसके पास यह बल होता है, वह श्रष्ठबलयुक्त होनेके कारण अन्य कनिष्ठ बलवालों की अपेक्षा निःसन्देह श्रेष्ठ है और उसी प्रमाणसे वह निर्दोष भी है।

(५) कर्मफल का समर्पण।

अपने (संन्यस्तकर्मा= कर्मफलसंन्यासः) कर्मोंसे जो फल प्राप्त होगा, वह अपने भोग के लिये न रखते हुए, सब जनता की भलाईके लिये उसका समर्पण करनेवाला मनुष्य इसी त्यागभाव के कारण निर्दोष होता है। क्योंकि स्वार्थभोग-वासना उससे पूर्णतया हट जानेके कारण और उससे जो होता है वह सब जनता की भलाई, भूतमात्रका हित, (सर्वभूतहिते रताः। ५।२५; १२।४) करनेमें तत्पर होनेके कारण और उसकी स्वसुख-निरपेक्षता के कारण जो कर्म उससे होते हैं, उनका दोष उसको बाधक नहीं होता है।

इस प्रकार इस श्लोकमें कर्मके दोष से मुक्त होनेके जो उपाय कहे हैं उनका विचार पाठक करें। इस श्लोकका संक्षिप्त विवरण यहां किया है, इससे पाठकोंके मनमें इसका तत्त्व ठीक प्रकार आजायगा ऐसी हमें आशा है। इतना उपदेश कर्मदोषसे मुक्त होनेके विषय में कहनेके पश्चात् अन्तिम श्लोकमें कहते हैं कि- "अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले और हृदयमें रहनेवाले संशयको ज्ञान-रूपी शस्त्रसे काटकर अपनी उन्नतिका उद्योग कर।"

(संशयात्मा विनश्यति। ४।४०) जिसके अन्तःकरणमें संदेह हैं उसका नाश होता है, ऐसा पहिले कहा है, अतः उस संशयको हटाने का उपाय 'ज्ञान' है, यह बात यहां कही है। ज्ञानका अर्थ यहां "परमेश्वरकी सर्वत्र उपस्थिति और सबकी परमेश्वरमें उपस्थितिकी प्रत्यक्षता" है। इस प्रकार का ज्ञान होते ही सब सन्देह दूर होते हैं और कर्तव्याकर्तव्य के विषय में निश्चय होता है। इस तरह जिसका निश्चय होता है, वह अपने अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिये कर्मयोग का आचरण करता है और उन्नति प्राप्त करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे
निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के
संवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक
चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥४॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायपर थोडासा विचार।

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग।

कर्मका सूक्ष्म विचार।

इस चतुर्थ अध्यायमें 'ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग' कहा है, अर्थात् "ज्ञानपूर्वक कर्मोंका संन्यास करके कर्मोंके दोषोंसे छूटनेकी युक्ति" कही है, अतः इसमें कर्मोंका बडा सूक्ष्म विचार किया है। इस दृष्टीसे यज्ञविचार का प्रकरण वारंवार मनन करने योग्य है। अध्याय के प्रारंभमें हि 'इस गीता शास्त्र की अखंड परंपरा आदिकालसे चली आ रही है और इस अनादि परंपरा का पुनरुद्धार करने के लिये अपना यत्न है,' यह बात भगवान् के मुखारविंद से प्रकट हुई है। श्रीभगवान् कहते हैं कि "मैंने हि पूर्व समयमें विवस्वान् से इस शास्त्र का उपदेश किया था, उससे मनु और इक्ष्वाकु को यह योग प्राप्त हुआ, पश्चात् यह लुप्त हो चुका, उसका पुनरुद्धार करनेके उद्देश्यसे मैंने तुझे यह उपदेश दिया" इस तरह भगवान् स्वयं वारंवार अवतीर्ण होते हैं, और इस योग की पुनः पुनः जाग्रति करते हैं। ऋग्वेद में भी इसी तरह का आशय कहा गया है—

पूर्ववृत्तकथन।

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥१॥ अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥२॥ अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य। शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥३॥ ऋग्वेद ४।२६।१—३

"मैं मनु हुआ, मैं सूर्य बन गया था, मैंने बुद्धिवान् कक्षीवान् ऋषि बनकर (ज्ञानका प्रसार किया था।) मैंने अर्जुनीके पुत्र कुत्सको अपने आधीन रखा था और मैंने ही महाकवि उशना अर्थात् शुक्राचार्य बनकर (विद्या का प्रचार बहुत किया था।) यह मेरा कार्य देखो॥ मैंनेहि आर्यों को यह भूमि समर्पण की, दाता परोपकारी मनुष्योंके हितके लिये मैं हि वृष्टि करता हूं और उन्हीं के लिये मैं नदियां बहाता हूं। और सब देव मेरे द्वारा प्रचारित हुए इस ज्ञानको अनुसरते हैं॥ मैंने शंबर नामक शत्रुके ९९ कीले तोड कर और सौंवा नगर आर्योंके रहने योग्य बनाकर आर्योंको रहनेके लिये स्थान कर दिया और अतिथिपूजक दिवोदास की रक्षा युद्धमें मैंने हि की थी।"

इस स्थानपर ऋषि बनकर धर्मोपदेशका कार्य और क्षत्रिय बनकर आर्योंकी रक्षा करनेका कार्य मैंने किया था ऐसा श्री भगवान् का कथन है। यह कथन इस गीताके वचन के साथ तुलना करने योग्य है। इसी प्रकार ऋ० १०।४८-४९ और ऋ० १०।१२५ ये सूक्त इसी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। अर्थात् जैसा भगवद्गीतामें कहा है कि, "मैंने पूर्व युगमें ऐसा किया और वैसा किया," इसी तरह वेदमें भी कई सूक्तोंमें कहा है।

पिताका पुनर्जन्म।

चतुर्थ अध्यायके श्लोक ५-६ के विवरण में पिताका पुनर्जन्म पुत्ररूपसे होता है, यह विषय कहा है। यही विषय महाभारतमें अधिक स्पष्ट शब्दोंके साथ आया है, अतः वे श्लोक यहां अवश्य देखिये—

भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः। जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः॥३७
आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तस्माद्भार्यां नरः पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम् ॥४९॥
म० भा० आदि० अ० ७४

"पति बीजरूपसे अपनी स्त्रीमें प्रविष्ट होकर पुनः पुत्ररूपसे जन्मता है। इस तरह पतिको पुत्ररूपसे उत्पन्न करनेके कारण धर्मपत्नीको जाया नाम सार्थ होता है, ऐसा प्राचीन ज्ञानी मानते हैं॥ स्वयं अपना ही जन्म होकर पिताही पुत्र बनता है, ऐसा ज्ञानियोंका मत है। इसलिये पुत्र की माता अर्थात् अपनीहि धर्मपत्नीको पुत्रजन्म के पश्चात् (मातृवत् पश्येत्) अपनी माताके समान देखना उचित है।" इस रीतिसे यहां कहा है कि पिताका पुत्ररूपसे पुनर्जन्म होता है। पुनर्जन्मके कई भेद भ० गी० (अ०४) श्लो० ५-६ के विवरणमें बताये हैं,उनके साथ विचारने योग्य यह श्लोक है, इतनाही पाठक यहां स्मरण रखें।

ईश्वरभावकी प्राप्ति।

संपूर्ण भगवद्गीताका उद्देश्य एकहि है कि 'नर का नारायण बने।' पुरुषका पुरुषोत्तम हो जावे। जीव का शिव बने किंवा—

ज्ञानतपसा पूताः मद्भावं आगताः। (४।१०)

"ज्ञान और तपसे पुनीत होकर (मद्भावं) परमेश्वरके भावको प्राप्त होते हैं।" जो ज्ञान और तपसे पवित्र बनेंगे वे ईश्वरके भावको प्राप्त होंगे। जैसा अग्निभाव को लकडी या लोहा प्राप्त हुआ तो वह अग्नि ही होता है, इसी तरह ईश्वर भाव को जो मनुष्य प्राप्त होता है, वह साक्षात् ईश्वर बनता है। कई पाठक इस विषयमें संदेह करते हैं, अतः श्रीमद्भगवद्गीता का इस विषयमें निश्चित सिद्धान्त क्या है वह अब देखेंगे। भगवद्गीतामें इस प्रकारके भगवद्भाव से युक्त बन जानेको "सिद्धि अथवा परम सिद्धि को प्राप्त होना" कहा है, अतः वे श्लोक यहां देखिये—

परम सिद्धि।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥
गी० १४।१

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥
गी० १८।४९

"उत्तम से उत्तम ज्ञान वह है कि जो ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् अनेक मुनि यहांसे परम सिद्धि को पहुंचे हैं॥ जिसकी भोगोंपर आसक्ति नहीं है, जिसने अपने मनको जीता है, जिसने भोगेच्छाओंका त्याग किया है, वह संन्यास द्वारा परम सिद्धिको प्राप्त होता है।"

यहां 'परमसिद्धि' प्राप्त करनेके साधन "सत्य ज्ञान, अनासक्ति, मनका संयम और भोगोंकी अनिच्छा" कहा है, तथा और भी देखिये—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
गी० १८।४६

"जिसके द्वारा सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई और जो सर्वत्र व्याप्त है, उस ईश्वर की पूजा अपने कर्म के द्वारा करनेसे मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।" ईश्वरपूजा करनेका और सिद्धि प्राप्त करनेका यह अति सुगम उपाय है। प्रत्येक मनुष्य जो काम धंदा करता है अथवा प्रत्येक मनुष्य जिस कर्म में नियुक्त हुआ है, वह मनुष्य वही कर्म परमेश्वर को अपने सन्मुख उपस्थित जान कर और उसको सन्तुष्ट करने के लिये करे। इस से वह परम सिद्धि को प्राप्त करता है। पुरुष हो या स्त्री हो, अपना निज कर्म करता हुआ इस प्रकार उच्च होता है; किसी भी मनुष्य को किसी भी अवस्थामें इस मार्ग से जानेमें किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं हो सकता। माता अपने पुत्रको उत्तम रीतिसे सुसंस्कृत करने द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकती है, पत्नी अपने पतिविषयक और पति अपने पत्नीविषयक कर्तव्य उक्त प्रकार करते हुए उन्नत हो सकते हैं; इसी तरह ओहदेदार, व्योपारी, कारीगर, कर्म-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

चारी तथा हरएक प्रकारका अन्य मनुष्य अपना कार्य परमेश्वर को संतुष्ट करने लिये करता रहेगा, तो निःसन्देह उन्नत होगा। इसमें दोही बातें मुख्य हैं।

(१) परमेश्वर को अपने सन्मुख उपस्थित मानना, और

(२) अपना कर्म उसको संतुष्ट करने के लिये करता हूं ऐसा मान कर कर्म करना।

इतने ही से मनुष्य शुद्ध, पवित्र और उन्नत होता है। दुष्ट दुराचारी मनुष्य भी ये दो बातें मानेगा, तो थोडे ही समयमें दुष्टतासे और दुराचारसे दूर होगा, फिर सदाचारी मनुष्य की उन्नति होनेमें क्या संदेह हो सकता है? उन्नति का यह सुगमसे सुगम उपाय है। यही बात अन्य शब्दोंसे निम्न लिखित श्लोकमें कही है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
गी० १२। १०

"यदि तू योगादि साधनोंका अभ्यास करनेमें समर्थ नहीं है, तो तू मेरे लिये कर्म कर। मेरे लिये कर्म करनेसे हि तू सिद्धिको प्राप्त करेगा।" बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं कि वे योगादि साधन नहीं कर सकते। इस प्रकारकी असमर्थता होने पर भी उन मनुष्योंको हताश होनेका कोई कारण नहीं है, क्यों कि ऐसे मनुष्य यदि अपने कर्म परमेश्वरकी संतुष्टी के लिये करेंगे अथवा अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करेंगे तो वे सिद्धी प्राप्त करेंगे।

कई यहां शंका करेंगे कि, केवल अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करनेसे किस तरह उन्नति होगी? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक मनुष्य स्थान स्वच्छ करता है, यदि यह स्थान स्वच्छ करनेका कार्य वह अपने देशके राजाके लिये करेगा, तो वही काम वह कितनी दक्षतासे करेगा!! अपना कर्म राजा देखेगा, इतना विश्वास होनेसे उसका वह स्वच्छता का कर्म निर्दोष होता है, फिर राजाओंका भी जो राजा है, उस सर्वसमर्थ परमेश्वरके लिये जब वह अपना कर्म समर्पण करेगा तब उसकी शुद्धता, पवित्रता और उन्नति होनेमें संदेह ही क्या होगा? अर्थात् अपने कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होगी इसमें संदेह ही नहीं है।

इस तरह सिद्धि प्राप्त होनेके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है- यह सिद्धि प्राप्त होनेके साधन ये हैं—

१ भोगोंपर अनासक्ति,

२ आत्मसंयम, मनःसंयम और

३ वासनाओंका त्याग;

यदि ये साधन कोई मनुष्य न कर सके, तो वह मनुष्य—

४ अपने कर्म परमेश्वर को अर्पण करे।

यह सुगमसे सुगम उपाय है, इसका अवलंबन करनेसे प्रत्येक मनुष्य उन्नतिके पथपर आगे बढ सकता है। 'मनुष्य जो कर्म करता है वह परमेश्वरको समर्पण करे' इस से और सुगम उपाय क्या हो सकता है? यहां सुगम साधन की परम सीमा हो चुकी है। मनुष्य अपना जीवन परमेश्वर के लिये समर्पण करेगा तो सिद्धि को अवश्य प्राप्त करेगा।

परंतु "सिद्धि" शब्द से किसी भी निश्चित अवस्थाका बोध स्पष्टतया नहीं होता, 'सिद्धि'का तात्पर्य क्या है? मनुष्य जब सिद्धिको प्राप्त करता है, तब उसको क्या मिलता है, और मनुष्य को जबतक सिद्धि नहीं मिलती, तब तक उसमें किस बातकी न्यूनता रहती है, इसका विचार करना चाहिये। इसका निश्चय होनेसेहि परम सिद्धिकी कल्पना ठीक प्रकार आसकती है, अतः इस बातका अब विचार करेंगे।

विशेषता।

जिस मनुष्यको सिद्धि प्राप्त नहीं हुई होती है, उस सामान्य मनुष्यकी अपेक्षा जिसको सिद्धि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्राप्त हो चुकी है, ऐसे सिद्ध पुरुषमें कुछ न कुछ विशेषता होती है, ऐसा निम्नलिखित गीतावचनोंसे प्रतीत होता है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
गी० ७। १७

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
गी० ६। ९

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
गी० ३। ७

"इनमें नित्य योगानुकूल व्यवहार करनेवाला, अकेले मेरी (ईश्वरकी) भक्ति करनेवाला ज्ञानी विशेष योग्यतावाला है। मैं ज्ञानीको प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है॥ उत्तम हृदयवाला, मित्र,शत्रु, पक्षपातरहित, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु और पापी इन सबपर जो समभाव रखता है वही विशेष श्रेष्ठ है॥ जो मनुष्य मनके द्वारा इंद्रियों को अपने आधीन रखता है और भोगमें आसक्त न होता हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है वह विशेष श्रेष्ठ होता है॥"

इस तरह "(१) योगानुकूल व्यवहार, (२) ईश्वरभक्ति, (३) सर्वत्र समभाव, (४) इंद्रियसंयम, (५) अनासक्ति और (६) कर्मयोगका आचरण करनेसे मनुष्यकी योग्यता विशेष उच्च होती है," यह गीताका कथन है। पूर्व स्थानमें "परम सिद्धि" प्राप्त करनेके लिये "अनासक्ति, संयम, वासनात्याग और प्रभुको अपने कर्म समर्पण करना" ये चार बातें लिखीं हैं। यहां मनुष्यको "विशेषता" प्राप्त करनेके लिये छः बातें कहीं हैं, जिनमें आधीं पूर्वोक्त ही दुबारा कहीं हैं।

'विशेषता' प्राप्त करनेका भी क्या आशय है? सामान्य मनुष्योंमें कौनसी हीनता होती है और विशेष मनुष्यमें कौनसी पूर्णता होती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है, जब तक इस बातका निश्चय नहीं होगा, तब तक 'विशेषता' प्राप्त होनेका आशय ध्यानमें नहीं आवेगा। अतः इसकी खोज करना चाहिये।

श्रेयःप्राप्ति।

यहां कई कहेंगे कि श्रेय प्राप्त होनेसे मनुष्यकी योग्यता विशेष श्रेष्ठ होती है। सामान्य मनुष्य श्रेय मार्गसे दूर रहते हैं और विशेष मनुष्य श्रेयमार्गमें प्रवृत्त होते हैं। दोनोंमें यही भेद है।। इस श्रेय को प्राप्त करने का उपाय भ० गीतामें निम्न लिखित श्लोक में कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
भ० गी० ३। ११

"तुम यज्ञद्वारा देवोंकी संभावना करो और देव तुम्हारी संभावना करेंगे। इस रीतिसे परस्पर सहायता करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त करो।" यहां परमश्रेयःप्राप्ति का साधन 'परस्परसहायता' है ऐसा कहा है। समाजमें अथवा राष्ट्रमें द्विविध लोग रहते हैं। पूंजीपति और कर्मचारी, ज्ञानी और अज्ञानी, अधिकारी और जनता, आर्य और दस्यु, द्विज और द्विजेतर इस प्रकार अनेकविध लोक समाजमें रहते हैं, इनकी परस्पर सहायतासेहि सबका पूर्ण हित होसकता है। ज्ञानी अशक्त होंगे और कर्मचारी सशक्त होंगे, तो ज्ञानी लोग कर्मचारियों की सहायता ज्ञानद्वारा करें और कर्मचारी अपने शारीरिक बलसे ज्ञानीयोंको लाभ पहुंचावें। इस तरह परस्पर सहायतासे सबका कल्याण हो सकता है और आपसके झगडेसे सबकी हानी होसकती है। यह बात सहजहीमें सबके ध्यानमें आसकती है। यहां कल्याण अथवा श्रेय शब्दसे इहपर लोकमें प्राप्त होनेवाला सुख जाना जाता है।

'सिद्धि, परमसिद्धि, विशेषता, श्रेय,परमश्रेय, और कल्याण' ये सब शब्द संदिग्ध ही हैं। इनसे कुछ अवस्थाविशेषकी कल्पना मनमें उत्पन्न

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

होती है, यह सत्य है; तथापि उस अवस्थामें क्या लाभ है और वह अवस्था प्राप्त न होनेसे क्या हानि है, इस बात की निश्चित कल्पना इन शब्दोंसे नहीं होती है, अतः इस बात की खोज और करनी चाहिये।

मायाके पार होना।

इस स्थानपर कई लोग कहेंगे, कि श्रेयःप्राप्ति का अर्थ 'माया के पार होना' है। जिस का वर्णन इस प्रकार किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
गी० ७। १४

"मेरी यह तीन गुणोंवाली दैवी माया पार करना बडा कठिन कार्य है। जो लोग मेरी शरण लेते हैं वे ही इस माया से पार जाते हैं।"

इस श्लोकमें कहा है कि संसारमें रहनेवाले सामान्य मनुष्य इस दैवी माया के पाशोंसे बंधे होते हैं, इस माया के बन्धन तोडना कठीन कार्य है; परंतु जो मनुष्य परमेश्वर की शरण में जाते हैं, केवळ वेही इस माया के बंधनोंको तोडकर मुक्त होते हैं। यहां कुछ न कुछ विशेष अवस्थाकी कल्पना होती है। 'माया' नाम की दैवी शक्ति है, उसके तीन गुण हैं, येही बडे पाश हैं, साधारण अज्ञानी मनुष्य इन पाशोंसे बांधे जाते हैं। जो विशेष ज्ञानी परमेश्वर की भक्ति करते हैं, वेही इन पाशोंको तोड कर मुक्त होते हैं।

यद्यपि यहां "माया और गुण (पाश)" इन शब्दोंसे कुछ बंधन की कल्पना आती है, तथापि 'माया' शब्दसे किसी निश्चित पदार्थ का बोध नहीं होता और गुणों (पाशों) में मनुष्य कैसा बांधा जाता है, इस का भी बोध ठीक तरह नहीं होता है, अतः इस विषयकी अधिक खोज करनी चाहिये।

पुनर्जन्म न होना।

यहां कई विद्वान् कह सकते हैं कि 'माया के पाशोंमें बंधा होनेके कारण जीव को वारंवार जन्ममरण के चक्रमें परवश होकर घूमना पडता है; परंतु जो मायापाशोंसे दूर रहता है वह पुनर्जन्म में नहीं आता।' अतः कह सकते हैं कि 'साधारण मनुष्य जन्ममरण के चक्रमें घंसीटे जाते हैं, परंतु विशेष श्रेष्ठता प्राप्त करनेवाले मनुष्य जन्ममरण के प्रवाह के बाहर हो जाते हैं। इस विषयमें निम्न लिखित श्लोक विशेष विचार की दृष्टीसे देखने योग्य हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः॥ गी० ५।१७

"ज्ञानसे जिनके पाप धुलगये हैं, वे पवित्रात्मा लोग ईश्वर का ध्यान करते हैं, ईश्वर में अपने आत्माको लगाते हैं, ईश्वरकी भक्ति करते हैं और ईश्वरपरायण होते हैं और इससे वे जन्ममरण के प्रवाहसे छूट जाते हैं।" तथा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ गी०८।१६

"ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक जन्ममरण की यातना भोगनेवाले हैं। परंतु जो मनुष्य मुझे (ईश्वरको) प्राप्त करते हैं, उनको पुनः जन्म नहीं लेना पडता।" इस प्रकार यहां कहा कि परमेश्वरकी भक्ति करनेवाले श्रद्धालु आस्तिक लोग परमेश्वरको प्राप्त होनेके पश्चात् पुनः पुनः जन्ममरण लेनेके कष्टमें नहीं पडते हैं। यहां निश्चय हुआ कि 'सिद्धि प्राप्त होना, श्रेय कमाना, विशेष अवस्था प्राप्त करना' इत्यादि वाक्योंका तात्पर्य 'परमेश्वरको प्राप्त करना' है। परमेश्वरको प्राप्त करनेसेहि मनुष्य परमसिद्ध होता है, परमश्रेय प्राप्त करता है, और पुनर्जन्मसे पार होता है। परमेश्वरको प्राप्त करनेका विषय, गीतामें क्या और अन्य शास्त्रोंमें क्या, वारंवार आगया है। इसका निश्चित अर्थ समझनेकी इच्छा है, तो नीचे लिखे श्लोकका अच्छी तरह मनन करिये—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥
गी० १४। २

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

"इस ज्ञान को प्राप्त करके उपासक ईश्वरके गुणधर्मोंके समान गुणधर्मोंसे युक्त होता है, तत्पश्चात् उसको सृष्टिकी उत्पत्तिके समय में भी जन्म लेना नहीं पडता, और प्रलयकालमें भी उसको व्यथा नहीं होती।" यहां परम सिद्धि की स्पष्ट-कल्पना होगई है। परमेश्वर के जो जो गुणधर्म हैं वे गुणधर्म इस को प्राप्त होते हैं, मानो वह परमेश्वर के समान बन जाता है। जैसा अग्नि का स्फुलिंग अपनी दाहक शक्ति बढाकर अग्नि बन जाता है, उसी प्रकार यह जीव शिवस्वरूप हो जाता है। (मम साधर्म्यं=ईशसाधर्म्यं) ईश्वर के समान धर्मवाला बनना ही अन्तिम सिद्धि है। ईश्वर के समान गुणधर्म होनेसे वह जन्ममरण के क्लेशोंसे दुःखी नहीं होता है। जैसा ईश्वर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है वैसाही यह बनता है, फिर इसको दुःख, शोक कैसे हो सकेंगे? जन्म मरण के क्लेशोंसे दूर होनेका हेतु और भी एक है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।
गी० १३।२३

"जो मनुष्य गुणमयी प्रकृति और पुरुष को यथावत् जानता है उसको सब तरह का बर्ताव अर्थात् सब कर्म करनेपर भी फिर से जन्म लेना नहीं पडता।" प्रकृति पुरुष का यथावत् ज्ञान होनेपर उसको कर्म करते हुए भी निर्लेपता सिद्ध करनेका उपाय ज्ञात होता है, और उस कारण उसको पुनर्जन्म लेनेका कारण नहीं रहता। अस्तु इस तरह परम सिद्धि प्राप्त करनेका अर्थ परमेश्वरके समान गुणधर्मोंसे युक्त बनना है, अर्थात् निर्दोष, निर्लेप या निष्कलंक बनना है। इस निर्लेपता का स्वरूप अब देखिये—

निर्लेपता।

मनुष्य इस संसारमें विचरता है, अतः अनेक रीतिसे उसपर दोष लगनेका संभव होता ही है। ऐसा दोष लगनेका संभव होनेपर भी, श्रीमद्भगवद्गीताने एक अपूर्व युक्ति दर्शाई है, उसका उपयोग करनेसे इस संसारमें यह मनुष्य निर्लेप या निष्कलंक, शुद्ध और पवित्र बन सकता है। निर्लेपता को प्राप्त करनेकी युक्ति यह है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
गी० ५।१०

"कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके अर्थात् सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करके जो मनुष्य आसक्ति-रहित होकर सब व्यवहार करता है, वह पानी में जैसा कमल पत्र निर्लेप रहता है वैसा पापसे कलंकित नहीं होता।" यहां निष्कलंक रहने की दो युक्तियां कहीं हैं,-"(१) कर्म परमेश्वर को समर्पण करना, और (२) भोगोंका संग छोडना।" इस युक्तिसे मनुष्य सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी निर्दोष रह सकता है। पापी मनुष्य भी इस ज्ञानसे निर्दोष होगा, देखिये—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
गी० ४।३६

"सब पापियोंमें भी तू बडेसे बडा पापी हुआ, तो भी इस ज्ञानरूपी नौका द्वारा तू संपूर्ण पापोंसे पार हो जायगा।" इस तरह इस ज्ञानसे और पूर्वोक्त युक्तिसे मनुष्य निष्कलंक हो सकता है।

जो जो कर्म मनुष्य करता रहे वह परमेश्वरके लिये करे, और उसके फलभोग की इच्छा न धरे। बस इतनी युक्ति करनेसे वह निर्दोष रहेगा। कर्म करनेपर भी कमलपत्रके समान निर्लेप रहेगा। वस्तुतः तत्त्वदृष्टिसे जैसा आकाश घरघर में रहनेपरभी घरके दोषसे दोषी नहीं होता है, इसी तरह यह आत्मा सर्वव्यापक होनेसे शरीर से बने कर्मोंके दोषोंसे दोषी नहीं बनता, देखिये इस विषयमें भगवद्गीता का कथन कितना स्पष्ट है—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२॥

गी० अ० १३

"यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहते हुएभी न कुछ करता है और न किसी से लिप्त होता है॥ जैसे सूक्ष्म होनेके कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे हि सब देहोंमें रहनेवाला आत्मा भी लिप्त नहीं होता॥" यही उपदेश उपनिषदोंमें भी कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ १०॥ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥११॥ कठ० २।५

"जैसा अग्नि एक है, तथापि वह भुवनोंमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तुमें अलग अलग दीखता हैं, इसी तरह सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, परंतु वह प्रत्येक रूपमें भिन्न रूपवाला दीखता है और उसके बाहर भी वह है॥ वायु जैसा एक है, परंतु प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर विभिन्न रूपवाला दीखता है, उसी तरह सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, परंतु वह प्रत्येक रूपमें अलग अलग दीखता है और वह उसके बाहेर भी है॥ जैसा सूर्य सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण सबका चक्षु जैसा है, तथापि किसी से संसर्ग होने के कारण दोषयुक्त नहीं होता, वैसा ही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, तथापि वह लोकोंके दोषोंसे दोषी अथवा लोकोंके दुःखसे दुखी नहीं होता।"

आत्मा सर्वगत-सर्वव्यापक-है, यह बात (गी० २।२४ में) पूर्व स्थानमें कही है। यह सर्वगत होनेसेहि तत्त्वतः निर्दोष है। जैसा थोडा थोडा जल बिगडता है, नदीनाले गंदे होते हैं, परंतु यह सब दोषपूर्ण जल महासमुद्र में पहुंचनेपर भी समुद्रका जल कभी बिगडता नहीं, समुद्रका जल सदा पवित्र रहता है, (सागरे सर्वतीर्थानि) महासमुद्रमें सब प्रकारके पवित्र तीर्थ हैं, यह सागरजलकी पवित्रता उसके "महत्त्व"के कारण है चूंकि सागर बहुत बडा है, इस लिये बडा पवित्र है। आत्मा भी सब से बडा है अतः वह निर्दोष है। 'भूमा और अल्प' का विचार इससे पूर्व (गी० २।२३-२५ के विवरणमें) किया है, वह लेख यहां अवश्य देखें। जो दोष होता है वह अल्पमें होता है, अतः व्यक्तिगत संकुचित भावकी दृष्टिसे कर्म करनेपर दोष होते हैं और सामुदयिक विस्तृत सार्वभौमिक भाव की दृष्टिसे कर्म करनेपर निर्दोषता सिद्ध होती है, अतः वैयक्तिक भोगतृष्णा दूर करनेसे सब दोष हट जाते है, ऐसा वारंवार कहा है, वह युक्तियुक्त है।

इस निर्लेपताका अर्थ "कर्मके बन्धसे निवृत्ति" है। यह कर्मबन्ध किस तरह दूर होता है, यह विचार भी बडा सूक्ष्म है, वह अब देखिये—

कर्म-बन्ध-निवृत्ति।

कर्मसे बन्धन उत्पन्न होता है और प्रत्येक जीवित मनुष्य सदा कर्म करता है, अतः प्रत्येक मनुष्य कर्मबन्ध में फंसता है। ऐसी अवस्था में कौन मनुष्य किस तरह कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकता है? इस तरह विचार करनेसे मनुष्य अपनी मुक्ति के विषय में निराश होगा, अतः भगवद्गीता ने कहा है कि, हे मनुष्य तू निराश न हो, क्योंकि, असंगवृत्तिसे रहनेपर कर्मके बंधन नहीं रहते, यह सिद्धान्त बतानेके उद्देश्य से गीतामें कहा है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ गी.४।२३

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

"जो भोगोंपर आसक्त नहीं है, जिसका चित्त ज्ञानसे पूर्ण है, और जो यज्ञके लिये कर्म करता है उस मुक्तके सब कर्म नष्ट होते हैं।" भोगोंपर आसक्त न होनेसे और ईश्वरविषयक ज्ञानसे चित्त पूर्ण करनेसे मनुष्य के सब कर्म नष्ट होते हैं, सब कर्मोंका लय होता है, अतः बन्धन उत्पन्न करनेके लिये वे कर्म उसके पास अवशिष्टही नहीं रहते। इसी तरह कर्मयोगके द्वारा कर्मके बन्धन दूर किये जा सकते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
गी० २।३९

"यह सांख्यतत्त्वज्ञान तुझे बताया; अब कर्मयोगका तत्त्वज्ञान समझाता हूं सो तू श्रवण कर, इस ज्ञानसे तू कर्मके बन्धनोंको तोड सकेगा।" कर्मयोग की रीतिसे कर्म करनेपर कर्म के दोषसे बंधन नहीं है। कर्मदोष से मुक्त होनेकी यह युक्ति है। तथा और-

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥
गी० ५।३

"जो मनुष्य किसी का द्वेष नहीं करता और किसी भोगकी इच्छा भी नहीं करता, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे दूर रहता है,वह सच्चा संन्यासी बन्धनसे मुक्त होता है।" यहां बन्धन से छूटनेके तीन हेतु दिये हैं, (१) अद्वेष, (२) निरिच्छता और (३) निर्द्वन्द्वता। जिस मनुष्य के आचरण में ये तीनों सहज ही से रहते हैं वह मनुष्य कर्म के दोषोंसे बद्ध नहीं होता है। किसी का द्वेष न करो,भोग की कामना न करो और सुखदुःखादि द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखो, ऐसा करनेसे मनुष्य मुक्त होगा। तथा और—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
गी० ३।३१

"जो लोग श्रद्धा रखकर, और द्वेष का त्याग करके, इस मेरे कथन के अनुसार अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्म के बन्धन से मुक्त होते हैं।" इस वचन में भी (१) श्रद्धा, (२) अद्वेष और (३) भगवान् के मतानुकूल व्यवहार करना ये तीन हेतु कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये दिये हैं। भगवान् के मतानुसार चलनेका अर्थ आसक्ति रहित कर्म करना इत्यादि भगवद्गीतामें कहा हुआ है। अब कर्म बन्धन न होनेके लिये क्या करना चाहिये इस विषयमें देखिये -

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
गी० ४।१४

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गी० ४।२२

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
गी० ४।४१

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
गी० १८।१७

"मुझे कर्मफल की लालसा नहीं है, अतः मुझे कर्मोंका लेप नहीं होता है; इस तरह जो मुझे भलीभान्ति जानता है, वह कर्मोंसे बांधा नहीं जाता॥ जो सहजप्राप्त हुए वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है, जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहता है, जो द्वेषरहित होता है और जो सफलता और निष्फलता के विषय में मन में समभाव रखता है, वह कर्म करते हुए भी बंधन में नहीं पडता॥ समत्वरूपी योगद्वारा जिसने कर्मफलका त्याग किया है, ज्ञान के कारण जिसके सब संदेह दूर हो चुके हैं और जो आत्मबलसे युक्त है, उसको कर्मोंसे बन्धन नहीं होते हैं॥ जिसमें अहंकार--घमण्ड-नहीं है, जिसकी बुद्धि मलीन नहीं हुई

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

है, वह इन सब लोकोंको मारते हुए भी नहीं मारता,और किये कर्मोंसे बन्धन में नहीं पडता।"

इन चार श्लोकोंमें कर्मोंके द्वारा होनेवाले बन्धन दूर करनेके उपाय कहे हैं। कर्मबन्धन तोडनेके उपाय ये हैं— (१) कर्मफल की अनिच्छा, (२) यदृच्छालाभ में संतोष, (३) द्वन्द्वातीत होना, (४) मत्सररहित होना, (५) सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखना, (६) योग से कर्म को करना, (७) ज्ञान से सन्देहनिवृत्त होना, (८) आत्मबलसे युक्त होना, (९) अहंकार न होना, (१०) शुद्ध पवित्र निर्मल बुद्धि करना, इन दस उपायोंसे कर्मों के बन्धन दूर होते हैं। ये दस युक्तियां जिसने साध्य की हैं, वह सदा कर्म करता रहा, तो भी बद्ध नहीं होता; तथा—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
गी० ५।७

"जो समत्वरूपी योगका आचरण करता है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने अपने मन को जीता है और जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, और जो सब भूतमात्रको अपने आत्माके समान अनुभव करता है, वह कर्म करते हुए भी अलिप्त रहता है।" यहां (१) समत्वयोगका आचरण, (२) हृदय की शुद्धता, (३) आत्मविजय, (४) इंद्रियसंयम, और (५) सर्वभूतात्मभाव ये पांच साधन कर्मदोष निवारण के लिये कहे हैं, इन में से कई पूर्वोक्त साधनों में आचुके हैं और शेष उनके साथ साथ सिद्ध होनेवाले हैं।

इन श्लोकोंका मनन करनेसे हमें पता चलता है कि मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होनेका आशय 'कर्म के दोषोंसे दूर होना' है। जो कर्मोंके करनेपरभी निर्लेप रहता है, उसको सिद्ध पुरुष समझना चाहिये, इसीको मुक्त कहते हैं।

मुक्ति अथवा मोक्ष।

मनुष्य को सिद्धि मिली, मनुष्य विशेष योग्यतासे युक्त हुआ, कर्मबन्धनसे दूर रहा, निर्लेप या निष्कलंक हुआ, तो कहा जाता है कि वह मुक्त हुआ। यह मुक्ति प्राप्त करना मनुष्यका मुख्य ध्येय है, अतः इस मुक्तिके विषय में गीतामें क्या कहा है उसका यहां विचार करना चाहिये—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
गी० ९।१

"तू द्वेष रहित है, इस लिये तुझे यह गुह्य ज्ञान मैं कहता हूं, इस ज्ञान से तू अशुभ से अपने आपको मुक्त करेगा।" यहां मुक्तिका अर्थ 'अशुभसे बचना' है और यह मुक्ति गुह्य ज्ञानसे प्राप्त होती है। तथा—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥
गी० १८।७१

"जो मनुष्य श्रद्धालु और द्वेष न करनेवाला है, यदि वह यह मोक्षका ज्ञान श्रवण करेगा, तो निःसन्देह मुक्त होकर शुभकर्म करनेवालों के पुण्य लोकों को प्राप्त होगा।" यहां मुक्त होनेके तीन साधन कहे हैं, (१) श्रद्धालुता, (२) द्वेषरहितता और (३) मोक्षमार्ग का ज्ञान। श्रद्धाहीन और द्वेष करनेवाले लोग वारंवार बन्धनमें फंसते हैं, अतः मुमुक्षु मनुष्यको उचित है कि वह श्रद्धा से मोक्षज्ञान प्राप्त करे और कभी द्वेषभाव मनमें न धारण करे। अथवा ईश्वर की शरणमें जानेसे भी मोक्ष प्राप्त होता है, देखिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।
गी० १८।६६

"सब विभिन्न धर्मकल्पनाओंका त्याग करके तू मेरी (ईश्वरकी) शरणमें आ। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, अतः तू शोक मत कर।"

यहां एकनिष्ठासे परमेश्वर की शरण में जानेसे मुक्ति मिलती है,ऐसा स्पष्ट कहा है। अन्य विचार छोडकर शुद्ध भावसे परमेश्वरकी शरणमें जानेसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मनुष्य मुक्त होता है। परमेश्वर मनुष्य का हृदय देखता है, उसमें श्रद्धाभक्ति होगी और सत्य-निष्ठासे शरण में आनेका भाव होगा, तो उसकी मुक्ति होनेमें क्या देरी होगी? इस तरह शरण जानेवाले को साधनोंके विविध आडम्बर करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह भक्तिसे प्राप्त होनेवाली मुक्ति है। ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली मुक्ति का वर्णन यह है—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ गी.१०।३

"जो मनुष्य मुझ सब लोकोंके महेश्वर को अजन्मा और अनादि स्वरूपमें यथावत् जानता है,वह सब लोगोंमें बडा ज्ञानी होता है और सब पापोंसे मुक्त होता है।" यहां ईश्वरको यथावत् जाननेसे अर्थात् ज्ञानमार्गसे मुक्ति प्राप्त करनेका वर्णन है। परमेश्वरका दिव्य स्वरूप जाननेसे इस तरह मुक्ति होती है। अब योगमार्गसे मुक्त होनेके विषय में देखिये—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
गी० ५। २८

"जो मोक्षपरायण मुनि अपने इंद्रिय, मन और बुद्धिको अपने वश में रखता है और इच्छा, भय और क्रोधसे रहित होता है, वह सदा मुक्त ही है।" यह अनुष्ठान तथा योगसाधनसे मुक्ति है, इंद्रियादिकोंका संयम करना और इच्छा, कामना, वासना, भय, क्रोध आदिसे दूर होना, यही प्रयत्नसाध्य है। यह साध्य होते हि मुक्ति सिद्ध होती है। मुक्तिका अर्थ इंद्रिय-मन-बुद्धि की स्वाधीनता और इच्छा-भय-क्रोधरहित होना है। इसका नाम मुक्ति है। पूर्वोक्त निर्द्वन्द्व आदि स्थिति इस से स्वयंसिद्ध होती है।

यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि बन्धन-निवृत्ति, पापसे बचना, कर्मबन्धन से छूटना आदि जो मुक्तिके लक्षण हैं वे निषेधभावदर्शक हैं। फलानी बात वहां नहीं होती, यह अभाव-कथन है, अभावकथन से मुक्त स्थितिमें क्या होता है इसकी कल्पना नहीं होती। अतः मुक्तिका भावरूपस्वरूप क्या है इसका विचार करना आवश्यक है। वह अब करते हैं—

शान्ति की प्राप्ति।

मुक्तिमें 'शान्ति' रहती है। यह मुक्तिका भाव-रूप वर्णन है। मुक्तिमें शान्ति है। आपने देखा कि मुक्तिमें निर्द्वन्द्व स्थिति होती है। द्वन्द्व का अर्थ लडाई झगडा है और निर्द्वन्द्व स्थितिका अर्थ शान्ति है। इसी तरह इच्छा-भय-क्रोध ये अशान्तिके स्वरूप हैं और इनसे दूर होनेका नाम मोक्ष अथवा शान्ति है। इस तरह मुक्तिके जो अन्यान्य साधन कहें हैं, उनसे अशान्ति हटती है और शान्ति प्राप्त होती है; इसका अनुसन्धान पाठक करें। इस शान्तिके विषयमें भगवद्गीतामें निम्न लिखित वचन मनन करने योग्य हैं –

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
गी० २। ७१

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
गी० ५। १२

"सब कामनाओंको छोडकर जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार रहित होकर विचरण करता है वही शान्ति प्राप्त करता है॥ समत्वरूप योगका आचरण करनेवाला कर्मफलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करता है, परंतु समत्व-रूप योगका आचरण न करनेवाला कामना के वशमें होकर फलासक्तिके कारण बंधनमें फंसता है॥"

यहां परम शान्ति प्राप्त करनेके जो साधन कहे हैं वे ये हैं— "(१) कामना अथवा वासना का त्याग, (२) निःस्पृह वृत्तिका धारण, (३) ममत्व-का त्याग, (४) अहंकारका त्याग, (५) समत्व रूप योगका आचरण, (६) कर्मफलका त्याग।"

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पाठक यदि पूर्व स्थानमें मोक्ष, बन्धननिवृत्ति, परम सिद्धि आदि प्रकरण देखेंगे, तो उनको येही साधन वहां भी दिखाई देंगे, अर्थात् यद्यपि इन शीर्षकोंके शब्द विभिन्न हैं, तथापि उनसे बोधित होनेवाली स्थिति एक ही है, क्योंकि येही सब साधन हरएक स्थानमें भिन्न भिन्न रूपसे आरहे हैं। यही बात और देखिये—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
गी० ४। ३९

"श्रद्धालु और तत्पर पुरुष इंद्रियसंयम करके ज्ञानको प्राप्त करता है, ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्र ही उसको परम शान्ति मिलती है।" यहां श्रद्धा, तत्परता, इंद्रियसंयम ये साधन ज्ञान प्राप्ति के लिये कहे हैं और ज्ञानसे शान्ति प्राप्त होनेका उल्लेख यहां भी है। योगसे भी शान्ति मिलती है देखिये—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ ६।१५

"जिसका मन इस तरह नियम में रहता है, वह योगी आत्माको परमात्माके साथ मिलाता है जिससे वह मुझ-परमात्मा में रहनेवाली परम शान्ति प्राप्त करता है।"

इस तरह ध्यानयोगी भी परम शान्ति प्राप्त करता है, इस के साधनों में भी (१) मन का संयम, (२) ध्यानयोग, (३) ईशप्राप्ति ये शान्ति के साधन कहे हैं। इनमें मनःसंयम पूर्वोक्त साधनोंमें से एक है। परमेश्वरको जाननेसे भी शान्ति मिलती है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
गी० ५। २९

"यज्ञ और तपके भोक्ता, सब लोकोंके बडे ईश्वर, और सब भूतमात्रों का हित करनेवाले, सब भूतोंके साथ मित्रवत् आचरण करनेवाले मुझ परमेश्वरको जान कर मनुष्यको शान्ति प्राप्त होती है।" परमेश्वर को यथावत् जाननेसे शान्ति प्राप्त होनेका कथन यहां है। यहां जो 'सब भूतका हित करनेका गुण' परमेश्वरमें है ऐसा कहा है, वही सब भूतोंका हित करनेका स्वभाव अथवा सब भूतोंके हित में आत्मसमर्पण करनेका स्वभाव बनाना (सर्वभूतहिते रताः। गी० ५। २५; १२। ४) उपासक को योग्य है। ईश्वर के गुणोंका ज्ञान होने से उन गुणोंका अपने में धारण करने की ओर प्रवृत्ति होती है और उससे ईश्वरीय भाव उपासक में प्रति समय बढता है और अन्त में शान्तावस्था प्राप्त होती है। इसीका वर्णन इस श्लोकमें है। परमेश्वर सब लोकोंका महान् ईश्वर है इस लिये सब भूतमात्रोंका हित करनेका कार्यक्षेत्र उसके लिये बहुत ही विस्तृत है। जो मनुष्य जितना बडा होगा, उस प्रमाणसे उसका सब भूतोंका हित करनेका कार्यक्षेत्र बडा होगा। जैसा उदाहरण के लिये देख सकते हैं, कि—एक ग्रामनिवासी ग्रामनेताका भूतहित करने का कार्यक्षेत्र ग्राम होगा, किसी प्रांतके नेताका कार्यक्षेत्र प्रांत तक होगा, और राष्ट्रके नेताका कार्यक्षेत्र राष्ट्र तक होगा, इस तरह कार्यक्षेत्र न्यूनाधिक होगा। परमेश्वर सब विश्व का नेता है इस कारण वह सब विश्वका हित करता है। कार्यक्षेत्र छोटा हो या बडा हो, उस में अपनी योग्यतानुसार 'सब भूतोंका हित' करनेका नियम सर्वत्र समान है जो उन्नतिका हेतु है। परमेश्वर सब विश्वका हित करता है इसी लिये वह विश्वका नेता है, यह योग्यता उसके उस कर्म के कारण उसको प्राप्त हुई है। अर्थात् जो मनुष्य जितना कार्यक्षेत्र अपने लिये विस्तृत करेगा, उतनीहि उसकी योग्यता बढना संभव है। और उसी प्रमाणसे वह शान्तिका अधिकारी होगा। तथापि अपना कर्तव्य कर्म करनेकी शान्ति तो कर्तव्य करनेपर प्रत्येक कर्ता को प्राप्त होगी। अब त्यागसे प्राप्त होनेवाली शान्तिके विषयमें देखिये—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
गी० १२। १२

"अभ्यास से ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है, ज्ञानसे ध्यान विशेष है, ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है क्यों कि इस त्यागसे तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।" यहां योगाभ्यास, ध्यान, ज्ञान आदिसे कर्मफलका त्याग अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इस त्यागभावसेहि शान्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो कहा है वह शान्ति प्राप्त करनेकी दृष्टीसे विशेष महत्त्व की बात है। कर्मयोगियोंको तथा अन्यों को भी फलत्याग से ही शांति की संभवना है, अब शांत मनुष्य की स्थिति कैसी होती है सो देखिये—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वेस शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ गी० २। ७०

"चारों ओर से पानी भर जानेपर भी अचल रहनेवाले समुद्रमें जिस प्रकार सब नदियां स्वयं चलीं जातीं हैं, उसी प्रकार जिसमें सब विषय (स्वयं उसकी कामनाके विना) प्रवेश करते हैं, उसे ही सच्ची शान्ति मिलती है। जो कामोपभोगोंकी इच्छा करता है, उसको शान्ति नहीं मिलती।"

यहां उपमा और उपमेय का विचार करना चाहिये। समुद्र चाहता नहीं की नदियां अपनेमें पानी लावें, वह तो पहिले भी पूर्ण होता है, ऐसे स्वयं पूर्ण में नदियोंने पानी भर दिया तो भी वह वैसाही पूर्ण रहता है, जैसा पहिले था। नदियोंने पानी न लाया तोभी वह अपूर्ण नहीं होगा। नदीयोंसे पानी आने और न आनेपर समुद्रकी पूर्णता अवलंबित नहीं है, वह तो दोनों अवस्थाओं में पूर्ण है इसी कारण वह शान्त है। जो नदियोंके पानी लानेसे भर जायगा और न लानेसे सूख जायगा, उसमें यह पूर्णताकी शान्ति नहीं होगी। इसी तरह जिसको विषय प्राप्त होनेसे ही सुख होगा और न प्राप्त होनेसे नहीं होगा, वह तो उसकी अपूर्णताका लक्षण है। जिसमें ऐसी बात नहीं है, जो दोनों अवस्थाओं में सम रहता है, उसीको शान्ति प्राप्त होती है।

यह शान्ति मनुष्य चाहता है। यह शान्ति प्राप्त होनेके साधन ये हैं— (१) कर्मफलका त्याग, (२) समत्वयोगका आचरण, (३) मनका संयम, (४) कामनात्याग, (५) निःस्पृहता, (६) ममत्व छोडना, (७) निरहंकार होना, (८) श्रद्धालु होना, (९) ईश्वरतत्परता, (१०) इंद्रियसंयम करना (११) परमेश्वरको जानना, (१२) परमेश्वर सबका मित्र है ऐसा जानना (और वैसा स्वयं सबका मित्र बनना), (१३) स्वयं परिपूर्ण रहना, ये शान्ति प्राप्त करनेके साधन हैं। इनमें बहुतसे पूर्व स्थानमें आगये हैं। इसका विचार करनेसे पता चलता है कि शान्ति प्राप्त करनेका आशय भी पूर्ववत् "सिद्धि" प्राप्त करना है। सुख प्राप्त होनेके साधन भी ऐसे ही हैं, देखिये—

अक्षय्य सुख।

मनुष्य प्रतिसमय कुछ न कुछ सुख प्राप्त करता है, परंतु वह सुख क्षणिक होता है अतः प्राप्त होते हि नष्ट होता है, और फिर मनुष्य दुःख का अनुभव करने लगता है। इस तरह सुख के नंतर दुःख और दुःखके नंतर सुख, ऐसा सुखदुःखादि द्वन्द्वोंका चक्र चलनेके कारण मनुष्य त्रस्त होता है। इस त्राससे मुक्त होना और अक्षय्य सुख प्राप्त करना यह मनुष्यका ध्येय है। सब धर्मशास्त्र मनुष्यको अक्षय्य सुख प्राप्त करने का सीधा मार्ग बतानेके लिये हैं। यह अक्षय्य सुख कैसा मिलता है, इस विषयमें भगवद्गीताका उपदेश देखिये—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥
गी. ५।२१

"जो बाह्य स्पर्शविषयोंपर आसक्त नहीं है, उसको अपने आत्मामें सुख प्राप्त होता है; वह ब्रह्मके साथ अपने आत्माका योग करनेवाला मनुष्य अक्षय्य सुख प्राप्त करता है।" इसमें

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

१ धर्म और राजनीति।

(ले०- श्री भ० मायानन्द चैतन्यजी, औपधर्मप्रकाशक, विज्ञान-शाला, ओंकार-मांधाता)

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
गीतोपनिषद् ३।२६

सम्पूर्ण विश्वमें स्थायी सत् कल्याण अवलोकन करनेकी इच्छा करनेवाले जनों,

वह महत् शक्ति अविद्या (अज्ञान) है जो बुद्धि-भेद उत्पन्न करके मनुष्य मात्रका अकल्याण करती है। श्रुतिकालसे श्रीकृष्णजी तक सब विभूतियां और सब सत्पुरुष भी इसके प्रभावसे बचने नहीं पाये। 'अच्छे शुभ कर्म करना चाहिये, जैसे जो आदेश प्रचलित हुए उनका कारण अधिकतर इस अविद्या का भय ही है न कि समष्टि धर्मका व्यापक विचार।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्यात् विद्वांस्तथाऽसक्तः चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।
गीतो० ३।२३,२५

"आलस छोडकर यदि मैं लोकसंग्रहात्मक स्वभावज कर्म करनेको तत्पर न रहूं, तो ये मनुष्य सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करेंगे। जिस प्रकार अज्ञानी लोग किसी भी कालमें आसक्तिसे काम करते हैं, उसी प्रकार लगातार किन्तु कर्मफलके संबंधमें अनासक्त रहकर लोकसंग्रह करनेके इच्छुक विज्ञानी पुरुषको अपना कर्तव्य (स्वभाव-धर्माचरण) करना चाहिए।" यही उपर्युक्त श्लोकोंका भाव है। भगवान् श्रीकृष्णके बतलाये इस सिद्धान्त के अनुसार इस भयकी भावना सब देशोंके सभी समाजोंमें दिखाई देती है। किंबहुना यही भय सभी मानवजातियोंके पीछे पडा है। यह भय तब तक पूर्ण रीतिसे नष्ट नहीं होता, जबतक 'दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं होती। जब तक दिव्यचक्षु की प्राप्ति नहीं होती तब तक पूर्ण और स्पष्ट बोध नहीं होता कि धर्म क्या चीज है?

बुद्धिभेदका वास्तविक स्वरूप क्या है?

श्रीकृष्णका परम मित्र,राजनीतिनिपुण,क्षत्रियवीरश्रेष्ठ अर्जुन भी पुष्पितावाणीवान्,पेट-अर्थी,पण्डितमंन्योंके इस प्रकारके अविद्यारूप मोहजालमें फँस गया और किंकर्तमूढ होकर वह कबूल करता है कि-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यत् श्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
गीतोप० २।७

परोक्ष ज्ञान और शब्द ज्ञान बहुतोंने दिया, तब भी श्रुति-कालसे वेदव्यासजी तक और उनके विचारोंका स्व-बुद्धिसे विचार करनेवाले सब आचार्यों तक किसीनेभी प्रत्यक्ष और यथार्थ दृढ निश्चय नहीं कराया। इससे राजधर्म, प्रजाधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, जातिभेदधर्म, देशधर्म, प्रांतधर्म, व्यक्तिधर्म व मनसोक्त धर्म आदि मनुष्यकल्पनानिर्मित बुद्धिभेदरूप भिन्न भिन्न सामाजिक बंधनोंके 'कर्मों' कोही लोग 'धर्म' समझ बैठे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र धर्मरहित हैं और धर्मसे इनका कोई संबंध नहीं, ऐसे प्रलाप ये पर-प्रत्ययनेय बुद्धिके लोग करने लगे ।

धर्महीं सब कर्मोंका मूल (कर्ता) है ।

और धर्मरहित अवस्था का दृश्यही नहीं दिख सकता। किसी भी प्रकार की संस्था क्यों न हो,वह वस्तुतः धर्मसे ही उदय होती है । इसका बोध सर्वथैव नष्ट हुआ । इसलिये प्रथम देखें कि 'धर्म' क्या है । धारण किया हुआ जो स्वभाव—धर्म अर्थात् ईश्वरी स्वभाव (सत्) उसे ' धर्म ' संज्ञा है । इसमें ' धर्म ' विषयक सभी अर्थोंके हेतु अंतर्गत होते हैं। व्याकरण की दृष्टिसे वस्तुके अनेक रूप नहीं हो सकते, कल्पनाजन्य अनेकविध नाम हो सकते हैं । धर्मके इस स्वरूप की प्रत्यक्षानुभवसे परीक्षा करके देखें क्या निष्कर्ष निकलता है—

' एकोऽहं बहु स्याम् ' ' एकं सत् विप्रा बहुधा वदंति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों का हेतु यही दर्शानेका है कि 'एक रहते हुए भी बहुरूपोंमें दिखाई देता हूं'। इसमें धर्मका स्वरूप अभिप्रेत है। क्यों कि एक रहते हुए अनेक होनेका जो कारण है उस कारण(स्वभाव) का नाम ' धर्म ' है। 'स्वभाव' या धर्म परस्पर पर्याय की संज्ञाएं हैं और वे एक ही हेतु का बोध कराती हैं । यह स्वभावरूप ' धर्म ' ही सब जीवमात्र, वस्तु मात्र अथवा विश्वमात्रमें ' क्षर ' स्वरूपजन्य (महद्-ब्रह्म या प्रकृतिजन्य) त्रिगुणोंके साथ चक्रगतिमें घूमता है और चार वर्ण, सोलह भेद, तथा चौसट प्रकारके भद-दृश्य तथा उनके अनेकविध उपप्रकार बनाता हुआ कार्यकर्ता होता है । इसीसे प्रकृति गुणोंके इस स्वभावको अर्थात् ' वर्ण ' स्वभावको 'धर्म' संज्ञा प्राप्त होती है; यह 'वर्ण धर्म' पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार इस जन्ममें प्राप्त होता है । जाति तथा जातिभेद, संप्रदाय तथा संप्रदाय भेद आदि मनुष्यकृत कल्पनाओंसे उत्पन्न हुए मान-लिये हुए धर्मकर्म उक्त स्वभाव नियत वर्ण धर्मको सर्वथैव बदल नहीं सकते । अत्यन्त दरिद्री पुरुषसे लेकर अत्यन्त श्रीमान् पुरुष तक, यही नहीं किन्तु सब जातिकी प्रजाओंसे सब जातिकी राजशक्तियों तक जो अनेकविध दृश्य हैं उन सबमें यह वर्णधर्म रहता ही है । इस कारण वर्णधर्मका वास्तविक व्यापक स्वरूप पृथ्वीतल पर स्थित सभी मनुष्योंमें एकही ज्ञान, एकही धर्म, और एकही उपासना के रूपमें प्रकट होता है और इसका आरम्भ शुद्ध प्रेममें है । यदि किसी प्रजा या राजाको यह लगता है कि निजधर्मका अर्थात् वर्णस्वभावधर्मका त्याग करके कोई भी कर्म कर सकेंगे तो वह भ्रम है ।

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुनेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥
गीतोपनिषद् १८।६०

यह श्रीकृष्ण प्रतिज्ञा इसकी साक्षी है । ' धर्म ' की यह परिभाषा दृढ प्रतिज्ञापूर्वक राजकाजपटु भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं बतलाते हैं। उक्त विवेचन से विदित होगा कि इसका बीज क्या है ।

'राजकाज' और ' धर्म ' भिन्न नहीं हैं । जो मनुष्य धर्म को 'राजकाज' से अलग करने की इच्छा करता है,समझ लेना चाहिये कि उस मनुष्यको धर्म का वास्तविक ज्ञान नहीं है ।

धर्म और कर्म का स्वरूप ।

दृश्य पदार्थों में धर्म (स्वभाव, गुण) तथा उन के स्वभावज गुण विद्यमान हैं । वेद के षड् अंगोंने इसका विचार अच्छी तरह किया है । ज्योतिष-शास्त्रने खगोलके कुछ विशेष नक्षत्रों तथा ग्रहों को लेकर उनके धर्म-कर्मका वर्णन किया और कल्प-शास्त्रने (वैद्यकशास्त्रने) वस्तुधर्म (निदान) और तज्जन्य कर्म (चिकित्सा) का विवरण कर जनता के लिए लाभकारी वैद्यकशास्त्र की रचना की । इसी प्रकार अन्य वेदांगों के संबंध में समझना चाहिए । धर्म और कर्म येही नियम उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इस चतुर्विध सृष्टिमें भी हैं। परंतु इस लेखमें जरायुज योनि-श्रेष्ठ मनुष्यदेह का विचार करना है। अतः उसके धर्म-कर्म का वास्तविक जीवकल्पना का मिश्रणरहित स्वरूप क्या है सो तथा देखेंगे । प्रकृतिस्वभावसे विश्व में स्थित मनुष्यमात्र निम्नलिखित नियमों में बांधा है ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्ववर्ण	स्वधर्म	स्वकर्म
१ 'ब्राह्मण'	सत्त्व रज, तम ॥ ।' ।'	शम,दम,तप,शौच शांति,ज्ञान,विज्ञान और आस्तिक्य
२ 'क्षत्रिय'	रज, सत्त्व, तम ॥ । ।'	शौर्य, तेज धृति, दक्षता, अपलाय न,दान, ईश्वरभाव
३ 'वैश्य'	रज, तम, सत्त्व ॥ । ।	कृषि, गोरक्षा, और व्यापार
४ 'शूद्र'	तम, सत्त्व, रज, ॥ । ।	त्रिवर्णों की सेवा

आत्मस्वभाव में कौन कौन वर्ण, धर्म और कर्म प्राप्त होते हैं इसका उपर्युक्त दिग्दर्शन गीतामें बहुत संक्षेप में दिया है; ('गीतोपनिषद्' १८।४०-४४ और १४।१० देखिये) किन्तु विवेकवान् पुरुष उसे समझ सकता है। जिन्हें आत्मविवेक नहीं है, ऐसे लोग मलिन-रजोगुणी भावना में फंसकर कल्पना करने लगते हैं कि राजनैतिक आंदोलन से धर्म का बहिष्कार करो, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में धर्म को स्थान नहीं है। इसी विचार की हवा लोक-समूह में चलपडती है और वे भी इसी प्रकार की समझ बना बैठते हैं। इसलिये आवश्यक है कि इस विषय में आर्य-पुरुषों के प्राचीन राजनैतिक शास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्रका यथार्थ स्वरूप विशद किया जाय। तब मननपूर्वक उसका अवलोकन करने से धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ में आवेगा।

धर्मशास्त्र के यथार्थस्वरूप की मीमांसा।

'शास्त्र' प्रत्यक्षानुभवरूप होता है। प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान और बौद्धिक प्रत्यक्ष ज्ञान पर वह स्थित होता है। अतएव नरदेह के पंच ज्ञानेंद्रिय और मन, बुद्धि तथा अहंकार ये जो प्रत्यक्ष ज्ञान के अष्टविध साधन हैं उनसे पिण्डब्रह्माण्ड के अर्थात् व्यष्टिसमष्टि के एकरूपताका अनुभव लेकर इसके आधारपर प्राकृतिक नियमों का अवलोकन करते हुए सिद्धान्त स्थिर करने पडते हैं। साथ ही व्यष्टिसमष्टि में पुनः उसका अनुभव भी देखना पडता है। इस प्रकार का शास्त्रसंशोधन करके सत् को सिद्ध करने के लिए पूर्वग्रहदोषरहित शुद्ध बुद्धि की (सात्त्विक श्रद्धा की) आवश्यकता होती है। इस प्रकार की धर्मशास्त्रसिद्धि पूर्वयुग में प्रथमतः श्रीमान् विवस्वान् आदिनारायण ने की और उन से यह विश्वकल्याणकारी सत् ज्ञान जगत् को प्रथम प्राप्त हुआ और अनुभवयुक्त स्वधर्म की प्राप्ति हुई। उसका यथार्थ रहस्य जानकर आचरणद्वारा उक्त चारों वर्णोंके पुरुषों ने खुद का अनुभव इस प्रकार कथन किया –

१ चातुर्वर्ण्यस्थित 'ब्राह्मण वर्ण' अपने स्वभाव के तत्त्व का कथन इस प्रकार करता है- 'श्रीमान् राजपुरुष से किसी सामान्य दरिद्री मनुष्यतक सभी मनुष्यमात्र को प्रथमतः सत् उपदेश की आवश्यकता है। यदि बाल्यकाल ही से सत् उपदेश किसी समाज को मिलता जावे,तो वह समाज, वह राजनीति, इत्यादि के जीवनसंबंधी कार्य अति सुंदर होने लगते हैं। यदि ऐसा सत् उपदेश न मिले तो आसुरी संपत्ति के दृश्य वहां दिखते रहेंगे और उसी दशामें देहत्याग करना पडता है। वहां मनुष्य-शरीर की पूर्ण उन्नति नहीं दिखाई देगी। सत् निश्चय प्राप्त करके सत् तत्त्वका उपदेश बनने के लिये मनोनिग्रह (शम), इन्द्रियों का यथार्थ व्यवहार (दम), सत् विचार की धारणा (तप), घृणारहित अर्थात् द्वेषरहित वृत्ति (शौच), शांति, सब के साथ प्रेमयुक्त व्यवहार (आर्जव) और क्षर प्रकृति स्वभाव के स्वरूप का परिज्ञान (ज्ञान), ज्ञानाधिष्ठान प्रत्यक्ष होना (विज्ञान) तथा प्रत्यक्ष स्वानुभव में उस अनुभव की स्थायी स्थिति कायम रहना (आस्तिक्य) इस प्रकार नवविध स्वभाव कर्म रचना होने की आवश्यकता होती है। यदि पुरुष इस पर आरूढ न हुआ तो वह सच्चा उपदेशक बन नहीं सकता। इन गुणों से संपन्न पुरुष ही वस्तुतः राजमन्त्री होने के लिए लायक होता है। वही मन्त्रिपद के यथार्थ कार्य को करने की योग्यता का भाजन बन सकता है। जहां ब्राह्मणवर्ण धर्मवान् अनुभवी पुरुष मंत्री न होगा, उस राज्यसंस्था का

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

क्षय जल्दही होने लगता है। सब देशों के इतिहास में इसके लिये प्रमाण मिलेंगे। परन्तु उस प्रकार के प्रमाण देना इस लेख की मर्यादा के बाहर की बात है। अतएव यदि सुज्ञ वाचक उन देशों के ऐतिहासिक ग्रन्थों का सूक्ष्म अवलोकन करें तो इस सिद्धान्त की सत्यता के प्रमाण उन्हें मिल जावेंगे। अस्तु। इसीका नाम 'नीति' है। अन्य तीनों वर्णों का कल्याण इस नीतिधर्म का उत्तम रीतिसे पालन करने ही में है।"

२ इसके पश्चात् राजनीतिज्ञ पुरुष राजर्षि बोला, "मेरे स्वभावज धर्म का कर्तव्य शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धक्षेत्र से अपलायन, दानवृत्ति और सम्पूर्ण प्रजा को ईश्वरस्वरूप जानना इस प्रकार मुख्यतः सात प्रकारका है। इसके अन्दर कई शाखा-उपशाखाएं भी हैं। ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र इन तीन वर्णों के स्वभावज कर्मोंका उचित रक्षण होने के लिये ये कर्म स्वधर्म के अनुसार धारण किये गये हैं। राजनीति में धर्म-कर्म और उसकी सब शाखाएं शामिल हैं। क्षात्रधर्म का मूल हेतु है कि तीन वर्णों का संरक्षण करे।"

३ अनन्तर वैश्यधर्मवान् पुरुष बोला, "मेरे स्वभावज धर्म के काम हैं कृषि, जीवरक्षा और व्यापार। इसमें तीनों वर्णों के धर्म-कर्म का साधन भरा हुआ स्पष्ट ही है।"

४ शूद्रधर्मवान् पुरुष बोला, "ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इनके कर्मोंमें जिस जिस कार्य की आवश्यकता होगी उस उस कार्य में सहायता करना ही मेरे स्वभाव धर्म का एकविध कर्तव्य कर्म है।"

अब तक वर्णन किये हुए 'धर्म-कर्म' से 'राजनीति' भिन्न नहीं है। वह भिन्न रहभी तो नहीं सकती। साधारण विवेकी मनुष्य भी इस बात को जान सकता है। ऊपर ब्राह्मणवर्ण के धर्मकर्मों का दिग्दर्शन आया है। उससे सहज ही विदित होगा कि वे राजनीति के पोषक ही हैं। वे व्यापारी वर्ग को (वैश्य धर्म को) जागृत करनेवाले और शूद्र वर्ण को सत्य का बोध करनेवाले हैं। राजनीति कदापि प्रतिपादन नहीं कर सकती कि ब्राह्मणवर्ण के विश्वकल्याणकारी स्वभावज कर्मों में विघ्न करनेवाली व्यक्ति को दण्ड न दो। राजनीति यहभी नहीं कहती वैश्य वर्ण के विश्वकल्याणकारी कृषि, व्यापार और जीवरक्षा जैसे कार्यत्रयहेतु के कारण होनेवाले कर्मों में बाधा उत्पन्न करनेवाले का नियमन न करना चाहिये। किंबहुना राजनीति में यह भी व्यवहार संभव नहीं कि शूद्र से द्वेष करके उस की यथार्थ आजीविका में बाधा डालनेवाली व्यक्ति को सजा न दे छोड दिया जाय। राजनीतिको पृथक् करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषों को अवश्यमेव ध्यान देना चाहिए कि—

जो सब कर्मोंमें जय देता है, वही धर्म है।

'यतो धर्मस्ततो जयः' यह तो अनुभव का सिद्धान्त है। 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः०' यह गीतावचन मिथ्या नहीं है। उसमें भी अनुभव का ही रहस्य संचित है। स्वधर्म का आचरण करनेवाले सज्जन पुरुषों का आदर राजशक्ति करती है। क्योंकि ये सब कर्म लोककल्याणकारी होने के कारण उनपर जो पुरुष आरूढ हैं। वे वस्तुतः राजशक्ति को अनेक रूपोंसे बल देनेवाले हैं। ब्राह्मण वर्ण राजशक्ति को 'ज्ञानबल' देता है, क्षत्रिय वर्ण 'शौर्यबल' देता है, वैश्य 'धनबल' और शूद्र 'सेवाबल' देता है। क्षात्रबलप्रधान राजशक्ति पर जब परराष्ट्र का आक्रमण होता है, उस समय ब्राह्मणवर्णधर्मवान् मन्त्री को छोड 'साम, दाम, दण्ड, भेद' की राजनीति अन्य कौन दिखा सकेगा? यदि वैश्यधर्म के लोग राजशक्ति को अन्न धन आदि के द्वारा समय समय पर सहायता न दें, तो सेनासमूह का प्रबन्ध यथोचित न रहेगा, उसमें गडबड मचेगी और उस का नाश भी त्वरित होगा। ऐसे समय शूद्रवर्ण अपने स्वभावज धर्म का यथार्थ आचरण न करेगा तो सब प्रकार का साहित्य कौन लावे-लेजावेगा? घायलों की शुश्रूषा और मृत सैनिकों की अन्त्येष्टि कौन करेगा?

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्मग्लानि का स्वरूप ।

जो लोग किसी एक विभूति पुरुष से प्रचलित हुई खास कर्मोपासना और मत को ही 'धर्म' समझते हैं और मानते हैं तथा 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' को हर कोई चरितार्थ करे ऐसी ही जिन लोगों की इठमूलक दृढ समझ रहती है, उन लोगों को धर्म का यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं है। ये लोग उसी उपासना को और उसी कर्म को धर्म समझ बैठे हैं जिस उपासना और कर्म को श्रीमत् शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, ईसामसीह, मोझेस, मुहम्मद पैगंबर, अरिहंत, कबीर, नानक, आदि पुरुषोंने स्वतः आचरण किया था। जो आचार विचार राजनीतिमें तथा अर्थशास्त्रमें बाधा उत्पन्न करते हैं, वे धर्म स्वरूप हो नहीं सकते। यद्यपि ये लोग मुखसे यही कहते हैं कि "गुरुका वर्णस्वभाव और शिष्यका वर्णस्वभाव भिन्न है, अतएव गुरु जो कुछ 'कहे' उसे करना चाहिए न कि जो कुछ 'करे'।" तथापि यदि इनका आचरण देखें तो विदित होगा कि वे गुरुके द्वारा आचरण किये गये वर्णकर्म तथा उनकी उपासनाकी नकलही कर दिखाते हैं। यद्यपि वे मुखसे—

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
गीतोप० ९।२२

इस गीता श्लोकको कहते हैं परन्तु उसमें प्रतिपादित सत् विश्वोपासना का प्रत्यक्ष आचरण करते समय उपकारी पुरुषसे छुताछूत, स्पर्शास्पर्शदोष, उच्चनीचभाव आदि धारण कर लेते हैं। इन लोगोंने धर्मको समझा नहीं है इससे उनके इस आचरणमें आश्चर्य नहीं। परन्तु विवेकवान् पुरुषको समझना चाहिए कि ऐसे आचार विचार सामाजिक संघशक्तिके बाधक हैं। इन्हें 'धर्म' कहना कदापि योग्य नहीं। इसे वास्तवमें 'धर्मग्लानि' का ही स्वरूप समझना चाहिये। इस प्रकारके भावनाप्रवण आचारविचारोंको नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसी विश्वोपकारी संस्थाओंमें प्रवेश न मिलना चाहिए। विवेकवान् लोकोपकारी पुरुषोंको चाहिए कि सर्वसम्मत कानून बनाकर इन धर्म समझी जानेवाली वैयक्तिक, भावनाप्रवण, धर्मग्लानिस्वरूप आचारविचारोंका उच्चाटन कर दें। इस प्रकारके भावनाप्रवण आचार विचार चातुर्वर्ण्य धर्मस्वरूप नहीं हैं अपि तु ईश्वरीय आज्ञा के घातक हैं। यह स्वधर्मविरोधी घोर अज्ञान है और यही 'धर्मग्लानि' है। जो स्वधर्मके अनुसार अर्थात् अपनी प्रकृति—स्वभाव—नियत वर्ण-धर्मका आचरण करनेवाले हैं, उनके लिये जाति, सम्प्रदायआदिजन्य, बुद्धिभेद करनेवाले, मनुष्यकल्पनासृष्ट भेद ईश्वरीय न्यायके विरुद्ध हैं। ऐसे आचार विचार जीवको रोचक भयानक भावनामें फाँस कर प्रजाको दीन, दुर्बल, आलसी और सत् पुरुषार्थहीन बनाते हैं। इसी विचारसे ऋग्वेद संहिताके अन्तिम भागमें संवनन ऋषि उनपर उपाययोजना कथन करते हैं। उसका आशय—

१ हे कामपूरक अग्नि! (सब सुखोंका अधिष्ठान) तू ईश्वर (अक्षर, आत्मा) सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है। उत्तर वेदीमें (बुद्धिमें) तू ही प्रदीप्त (प्रकाशित) किया जाता है। तू हमें धन (आत्मनिश्चय) दे।

२ हे जनो! आप एक विचारके होवें और एकही विचार बोलिये। आपके मन निश्चित(अनुभव युक्त) ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार सत् युगके पुरुषोंने एकमतसे अपने कार्य सिद्ध किये, उसी प्रकार आप भी अपने अपने कार्य एकमतसे करें।

३ सबकी प्रार्थना एक होवे। आपके विचारोंका स्थान भी एक होवे। आपके मन भी एक विचारमें मग्न हों। सबका ज्ञान भी एक समान होवे। आपको एक सर्वोत्कृष्ट रहस्य कथन करता हूं कि आप सब मिलकर एक साहित्यसे (प्रेमसे) ईश्वरकी उपासना करें।

४ आप सबके अभिप्राय एक-समान हों, आपका अंतःकरण एक-समान होवे और आपका मन भी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

एक होवे। इससे आपकी संघशक्ति का बल बढेगा। (आपको स्थिर सुख प्राप्त होगा)।

श्रुतिग्रंथोंमें पाये जानेवाले उक्त वैदिक सिद्धान्त-विचार गीतामें प्रतिपादित विश्वोपासना के पोषक ही हैं। ये विचार राजनीति, समाजशास्त्र अथवा अर्थशास्त्रके बाधक न रहते हुए चारों वर्णोंको परस्पर-सहायता करनेवाले हैं। यही नहीं वे –

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।

इस व्यास महर्षिके अटल सिद्धान्तके भी रक्षक हैं। क्या कोईकी राजनीतिज्ञ पुरुष कह सकता है कि दूसरेको पीडा देनी चाहिये अथवा परोपकार न करना ही राजधर्म है? क्या समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र कह सकेगा कि प्रकृति के स्वभावज गुणोंके चतुर्विध विभाग कल्याणकारी नहीं हैं और सच्चा धर्म उनसे भिन्न है? श्रीकृष्णोत्तर कालमें जो भिन्न भिन्न विभूतियां निर्माण हुईं उन हजरत ईसा-मसीह ,हजरत महम्मद पैगंबर, अरिहन्त, श्रीमत् शंकराचार्य,स्वामी दयानन्द आदि सभीने पुनः पुनः जतलाकर कहा है कि स्थायी सत्य धारण करो, एकही परमात्मा मानो, खुदाके नूरसे आदम जुदा मत मानो, इत्यादि। परन्तु इनके नामोंपर चलने-वाले मत 'धर्म' नहीं हैं किन्तु वे पुष्पितावाणीवान् पण्डित, पोप, काजी, मुल्ला इत्यादि द्वैतबुद्धि धारण करनेवाने धनलोलुप मनुष्योंके निर्माण किये हुए अपने अपने समाजकी रचनाके सांप्रदायिक मत हैं। ये मत राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र अथवा विश्वरूपका विश्वकल्याणकारी 'भक्तिधर्म' (चारों वर्ण स्वकर्मके द्वारा परस्पर सेवा करें) को सब प्रकारसे बाधक हैं। यही नहीं वे जीवकल्पना-निर्मित होनेके कारण सर्वथा त्याज्य हैं। उनके फंदेमें फँसे हुए मनुष्य को समष्टि भाव की (आत्मभा-वकी) सेवाकी बुद्धि नहीं होती। इसीका खण्डन श्रीकृष्णजीने गीता के अन्तिम रहस्यभूत श्लोकमें किया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
भगवद्गीतोपनिषद् १८।६६

इस श्लोक में किया हुआ वर्णन –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
गीतो० १८।४१,६०

इस सिद्धिप्रद स्वभावज ईश्वरी सत् धर्म को छोडने को नहीं कहता। वह मतमतांतरयुक्त जाति-धर्म, कुलधर्म आदि पाखण्ड-त्याग का निदर्शक है। विश्वकल्याणप्रद अनन्यभक्तिरूप उपासना में से विविध सांप्रदायधर्म का उच्चाटण कर दें तो जगत् की तनिक भी हानि होने की संभावना नहीं है। श्रीमान् विवस्वान् नारायण कहते हैं –

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
ऋग्वेद० १०।९०।२२

इस प्रकार वर्णन किये हुए उत्पत्तिसिद्ध याने स्वयंभू प्रथम धर्मको धारण कर उसपर आरूढ हो विश्वरूप परमेश्वर की आराधना (उपासना) करनेवाले –

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

इस श्रीकृष्ण-प्रोक्त वाक्य का प्रत्यक्ष अनुभव भी ले सकते हैं। किन्तु अधर्म को ही धर्म मान लिए हुए मतों का अनुभव तीनों कालों में भी नहीं दि-खाई देगा। इस प्रकार के कल्पनामय धर्म को अप-नाने से 'आचारः प्रथमोः धर्मः' इस सिद्धान्त का सच्चा रहस्य लोगों के ध्यान में नहीं आता। कुला-चार, ग्रामाचार, देशाचार, जात्याचार, सांप्रदाया-चार इत्यादि मनुष्यमात्र का प्रेम नष्ट करनेवाले और जिनका संबंध विश्वसेवा से नहीं है ऐसे बाह्य आचार को ही 'प्रथम धर्म' मानकर ये लोग हठ करते हैं। ऐसे हठवादी विचारों को राजनीति, समाजसंगठन, अर्थशास्त्र इत्यादि विश्वोपकारी संस्थाओं से निकाल बाहर करना चाहिए। ऐसा करने ही में भलाई है और जगत् कल्याण के लिये उपयोगी होनेवाला समय भी व्यर्थ न जावेगा। जिस कालसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि चारों वर्ण अपने

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्वभाव धर्माचरण को (प्रथम धर्म को अर्थात् स्वभाव-नियत स्वयंभू धर्म को) भूल कर अनंत आचार मानने लगते हैं, उस काल से ही उस गृह का, उस गांव का, उस देशका अथवा संपूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों का स्वात्मसुख नष्ट होने लगता है। अतएव अविवेकी लोगों द्वारा माना हुआ 'आचारः प्रथमो धर्मः' का अर्थ सर्वथा छोडकर इस लोकमें जन्मतः अर्थात् सर्व प्रथम गोचर होनेवाले स्वयंभू स्वधर्म का आचरण करते हुए –

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
गीतोप० १२।१७

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।
गीतोप० १८।५४

इस प्रकार श्रीकृष्णके बतलाए हुए यथार्थ भक्ति-योग को ही विवेकशील पुरुषों को धारण करना चाहिए, केवल विशिष्ट मनुष्य का ही नहीं किन्तु जीवमात्र का कल्याण उसी में है ।

गीता-माहात्म्य ।

(गीता माहात्म्य के संबंध में महान् भगवद्भक्त श्री० तुकाराम के वचनों का अनुवाद·)

(अभंग २४३।२४२)

भगवद्गीता ग्रंथ मानो अमृतकी परिपूर्ण सरिता है।
एक एक अक्षर में हमारा रमाकान्त है ॥ १ ॥
यह जो सगुण निर्गुण है, वह एक रुक्मिणीरमण है।
तुकाराम कहते हैं कि ज्ञानेश्वरी आत्मपदकी संबंधी
(रिश्तेदारिन) है ॥२॥

धन्य धन्य देवी गीता आदिमाया वेदमाता।
(इसका) अर्थ जो जाने वह मातापिता धन्य है ॥ १ ॥
एक एक श्लोक अथवा चरण का अर्थ अनुभवसे शरीरका आभूषण होता है।
संसारसे मुक्ति का साधन (अन्यत्र) कहीं ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं ॥ २ ॥
एक चरण का अर्थ राजा जनक जानते थे ।
इससे उनके अंग में विदेहावस्था दृढमूल हुई ॥ ३ ॥
एक चरणका अर्थ वसिष्ठ मुनि जानते थे ।
(जोकि) शान्तिरूप गृहमें अपनी शय्यापर पहुडे थे ॥ ४ ॥
एक चरण का अर्थ पंडुपुत्र धर्मराज जानते थे।
उनका भाषण सत्य और यथार्थ होता था,
उन्हें शत्रुमित्र समान थे ॥५॥
अर्जुन नर और नारायण, ये तो सिद्ध साधक थे ।
दुष्टों का निर्दलन करनेके हेतु (इन्होंने) अवतार लिया ॥६॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(२)

श्रीमद्भगवद्गीतामन्दिर की रचना और सजावट।

(ले०—श्री० जनार्दन सखाराम करंदीकर, B. A , LL. B., संपादक केसरी, पूना)

१

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ॥

गी. ३।८

संसार की भाषाओं में गीर्वाणवाणीसदृश भाषा नहीं। उस भाषामें महाभारत की तुलना का अन्य ग्रन्थ नहीं। और ऐसे अप्रतिम भारतग्रन्थ में श्रीमद्भगवद्गीता के समान अमृततुल्य दूसरा भाग नहीं। इसीलिए पूर्व के शास्त्रकारोंने—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।

के समान निर्णय दे गीताके सम्बन्ध का आदरातिशय प्रकट किया है। इसी दृष्टिसे लोकमान्य तिलकजीने अपने 'गीतारहस्य' में यह मत प्रकट किया कि "श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथों में एक अत्यन्त तेजस्वी तथा निर्मल हीरा है।" गरीब मनुष्य यदि हीरा पा ले, तोभी वह उसके मूल्य को तुर्त ही नहीं जान सकता। इसी प्रकार हम लोगों को गीता ग्रन्थ का सच्चा मूल्य अबतक नहीं मालूम हुआ। जिस दिन उस ग्रन्थ की वास्तविक योग्यता हम लोगों के हृदयपर पक्की जम जावेगी, उसी दिन से हम लोग उस ग्रन्थ को सब धर्मग्रन्थों में अग्रमान देंगे। यही नहीं अखिल मानवजाति को इसकी योग्यता का निश्चय करा कर, उसे सब धर्मग्रन्थों में अग्रस्थान प्राप्त करा कर, उस स्थान को ध्रुव के सदृश अटल बनाए रखने का प्रयत्न हम लोग अहोरात्र करेंगे।

इस प्रकार के इस सर्वांगसुन्दर तथा विश्ववंद्य ग्रन्थकी रचना जगत्-गुरु श्रीकृष्णजीने किस उद्देश्य से और किस बुनियाद पर की, तथा उसे किन अलंकारों से सजाया यही संक्षेप में देखना है। 'महाभारत का उपसंहार' नामक ग्रन्थ में भारताचार्य श्रीयुत चिन्तामणरावजी वैद्य महाशयने गीता को सुन्दर तथा भव्य मन्दिर का रूपक दिया है। आप इस मन्दिर का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि

'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह'

यह इस गीतारूप मन्दिर की नीव है; 'विश्वरूपदर्शन' इस मन्दिर का मध्य है; और 'करिष्ये वचनं तव' इस मन्दिर का शिखर है। सांख्य, योग, वेदान्त और भक्ति ये चार बाजुएं तथा चार कोने को चार मीनारें हैं। कर्मयोग मुख्य और बीच की मीनार है; और इस मीनार के अंतर्भाग में 'परब्रह्म' भरा है।

श्रीयुत वैद्य महाशय का रूपक पढकर ही मुझे प्रस्तुत प्रबंध लिखनेकी कल्पना हुई। यह स्फूर्ति हुई कि वाचकों के सन्मुख भगवद्गीतासदृश नयनमनोहर मन्दिर जगत्गुरु श्रीकृष्णजीने किस उद्देश्य से किस नीव पर रचा तथा इस मन्दिरको ऐसी अप्रतिम सुन्दरता प्राप्त करा देने में उस जगद्वंद्य कारीगरने रचनाकौशल्य किस प्रकार प्रकट किया इस विषय के अपने विचार रखूं।

गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

भगवद्गीता की यथार्थ योग्यता का परिचय होने के लिये आवश्यक है कि उसको इतिहास की दृष्टि से देखें। यदि कल्पना करें कि गीता का उपदेश तथा उसकी विचारप्रणाली केवल कविकल्पना है, तब तो उसका आधे से अधिक रस नष्ट हो जाता है। कविकल्पना कितनी ही कुतूहलजनक क्यों न हो उसे अनुभवजन्य ज्ञानका आधार न होनेसे वह सदैव डाँवाडोल ही रहेगी। जिस ग्रंथ को ऐतिहासिक परंपरा का आधार है, उस ग्रंथकी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मजबूती कवि-कपोल-कल्पित ग्रंथ को कैसे आसक-ती है? गीताका तत्त्वज्ञान ऐसा आधाररहित सूखा फोफला नहीं है। उसे दीर्घकालीन प्राचीन परंपरा है और तत्त्वज्ञान की मात्रासे अर्जुन का मोह नष्ट हुआ यह अनुभवसिद्ध बात उसमें गुथी है। इसलिये उस तत्त्वज्ञानके गुणपर संशय करनेकी गुंजाइशही नहीं।

भारतीय युद्धका ऐतिहासिकत्व सिद्ध करना इस लेखका विषय नहीं। अतएव उसका विस्तृत विवेचन यहां नहीं किया जा सकता। हिन्दुस्थान अनेक विद्यमान राजवंशोंमें यह समझ प्रचलित है कि उनके कुलकी परंपरा रामकृष्ण-आदिसे अथवा तत्कालीन राजवंशोंसे अखण्ड चली आई है, और इस समझको पुराणादि प्राचीन ग्रंथोंका आधार है। सिकंदरकी चढाईसे आरंभ होनेवाले इतिहास-कालके ऐतिहासिक ग्रंथोंमें उन वंशावलियोंको शामिल कर लिया है। यदि हम परिक्षितिके जन्मसे नन्दके राजतिलक तकके बीते हुए वर्षोंकी तथा किसी राजाकी कितनी पीढियां हुई इसका हिसाब करके भारतवर्षके प्राचीन इतिहासकी कालगणना करते हैं और भारतीय युद्धका काल निश्चित करते हैं, तब उस भारतीय युद्धके संबंधमें वह ऐति-हासिक है या काल्पनिक है ऐसी शंका करना केवल भ्रम नहीं तो और क्या है? भारतीय युद्धमें उपस्थित मुख्य राजाओंके पूर्वजोंका उल्लेख वेद जैसे आद्य ग्रंथोंमें मिलता है; उनके वंशजोंका उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण जैसे ग्रंथोंमें पाया जाता है, उन वंशोंके आगे की पीढियोंके नाम पुराणग्रंथोंमें विस्तारसे लिखे हुए नजर आते हैं और उन वंशोंके अवशेष अब भी कहीं कहीं राजघरानोंमें दिखाई देते हैं। यह परंपरा इस प्रकार वेदकालसे अखण्ड चली आई है। इस-लिये भारतीय युद्धके ऐतिहासिकत्वके संबंधमें शंका करनेका कारण नहीं। भारतीय युद्धका या उसके योद्धाओंका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण अतएव अश्रद्धेय क्यों न हो, किन्तु इतनेही से उन योद्धाओं का अस्तित्व अश्रध्येय नहीं बन सकता। भारतीय योद्धाओंके आजके वंशजोंका यह कहना कि वे भारतीय योद्धा कल्पना मात्र हैं, 'मम माता वन्ध्या' कहनेके सदृश 'वदतो व्याघात' का उदाहरण होगा। भारतीय युद्धस्थित काश्मीरके गोनर्दसे राजतरं-गिणीकारके समकालीन राजातक की अविच्छिन्न परंपरा 'राजतरंगिणी' ग्रंथमें दी है। उस ग्रंथकी ऐतिहासिक योग्यता सर्वसंमत ही है।

क्या गीता युद्धके समयही कही गई?

भारतीय योद्धा ऐतिहासिक हुए और कुरुक्षेत्रपर भारतीय युद्धभी प्रत्यक्ष हुआ हो, किन्तु इस प्रश्नका उत्तर उक्त बातोंके समान निश्चयसे नहीं दिया जा सकता कि क्या गीता युद्धके समय ही अर्जुनसे कही गई? क्योंकि यद्यपि गीताका उपदेश महायुद्ध के संबंधमें उत्पन्न होनेवाली शंकाको दूर करनेके लिये ही किया गया था, यह बात अंतःप्रमाणसे निश्चित है, तथापि वह गीता दोनों सेनाओंके बीच रथ खडा कर रथमेंसेही कही गई और उसका विस्तार सांप्रतकी गीताके बराबर याने ७०० श्लोकोंका था, यह बात छातीपर हाथ रखकर कह सकने लायक सबूत अब मिलना मुश्किल है। इस विवादमें किसीको अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये कि इस प्रकारके सबूत मिले। गीतामें युद्धमूलक आक्षेपोंका खंडन है, अतएव वे बातें युद्धके पूर्व किसी समय श्रीकृष्णजीने पाण्डवोंसे कहीं इतनाभी मान लिया जावे, तो विवाद मिट जायगा। चाहे वह उपदेश रथमें बैठकर किया हो या युद्धके लिए प्रस्थान करनेके पूर्व डेरेमें किया हो; वह अकेले अर्जुनको किया हो या सभी पाण्डवोंको किया हो और वह ७०० श्लोकोंमें किया हो या उनके बीजभूत सौ, सवासौ श्लोकोंमें किया हो। जिस युद्धमें गुरु-वधादि घोर और सकृद्दर्शनमें ही पापात्मक कर्म करनेका अवसर है ऐसा युद्ध 'करें या न करें' इस प्रकारकी शंका योद्धाओंके मनमें उत्पन्न होनेकी संभा-वना थी। उद्योगपर्वमें ही धर्मराजने यह शंका कह सुनाई और अर्जुनने स्वयं ही उस शंकाका निरा-करण कुंती और विदुरके वचनोंके तथा अनुमतिके आधार पर किया था। वनपर्वमें भी पांच पाण्डव और द्रौपदी के बीच इसी प्रकारकी बहस होनेकी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कथा है। इससे स्पष्ट होता है कि यह प्रश्न पाण्डवों को लगातार रोकता था और उसका शास्त्राधारपूर्वक निश्चित उत्तर अद्यापि नहीं मिला था। श्रीकृष्ण के लिये आवश्यक था कि पाण्डवों के हृदय का किंचिमात्र उस प्रश्न का निश्चित उत्तर देकर दूर करे। कर्तव्य-अकर्तव्य का ऐसाही अन्तःस्थ कलह अनेकों के मन में अनेक अवसरोंपर आन्दोलन मचाता है, इस गरज से इस प्रश्न का सर्वमान्य निश्चित निर्णय अपने ग्रंथ में देना जयग्रंथकार व्यासमहर्षि को भी उतना ही आवश्यक जान पडा। इसीलिये श्रीकृष्णने युद्ध के पूर्व यह उपदेश दे अर्जुन को निःशंक हो लडने को तैयार किया और श्रीव्यास महर्षीजीने यही उपदेश अपने ग्रंथ में विस्तार से ग्रथित कर सामान्य जनता को कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णयरूप सदा के लिये कह दिया।

मनुष्य-हृदय के अंतःकलह का रूपक नहीं है।

ऊपर के विवेचन से विदित हुआ होगा कि गीता में जो कर्तव्य-अकर्तव्य की मीमांसा है वह प्रत्यक्ष भौतिक युद्ध का उदाहरण आंखों के सामने रहते हुए की है। सामान्यतः यह उपदेश किसी भी प्रकार के कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय करने के लिए उपयोगी होता है। परन्तु उस उपदेश की मूलभूत भूमिका 'कामक्रोधादि षड् रिपुओं के अन्तःकलह' की नहीं है, किन्तु बाह्यतः विगुण दिखनेवाला स्वधर्म और स्वनुष्ठेय दिखनेवाला परधर्म इनके झगडे का निर्णय देनेवाली वह भूमिका निःसंदेह है।

गीता की विचारप्रणाली देखें तो विदित होगा कि अर्जुन का पूर्वपक्ष कामक्रोधादि षड्रिपुओं का समर्थन करनेवाला है और श्रीकृष्णजी का सिद्धांत पक्ष ऐसे लेचेपेचे एवं असमर्थनीय पूर्वपक्ष का खण्डन करनेवाला है, यह कथन वस्तुस्थितिदर्शक नहीं, किन्तु इस प्रकार की कल्पना ही गीताशास्त्र को निम्नता लानेवाली है। क्योंकि ताश के घर के समान फूंक से उडा देने योग्य पूर्वपक्ष का खण्डन करने को श्रीकृष्णसदृश योगेश्वर की आवश्यकता ही क्या? और ऐसे खण्डनमण्डनात्मक वादविवाद को उपनिषद् की योग्यता कैसे प्राप्त हो सकती है? अर्जुन की शंका फूंक से उडा देने योग्य नहीं थीं. इसी गरज से श्रीकृष्ण को इतना विस्तार करने की आवश्यकता हुई। अर्जुन लोभी होता तो उसके मुख से ऐसे उद्गार न निकलते कि—

'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयं।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥'

इसी प्रकार—

'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥'

इस प्रकार के लोभरहितता के अथवा—

'यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥'

इसके समान अनत्याचारी सत्याग्रही के योग्य उद्गार जिसके मुह से निकले वह लोभाविष्ट या मत्सरग्रस्त अथवा आसुरी वृत्ति का न होकर इस के विपरीत पापभीरु याने दैवी वृत्ति का ही होना चाहिये। श्रीकृष्ण भी तो अर्जुन का स्वभाव समझे हुए थे। इसीसे वे उसको यह कह कर पुचकारते थे कि—

'मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।'

ऐसे पापभीरु योद्धा को श्रीकृष्ण उसी 'पाप' के करने में उद्यत करने के लिए 'बुद्धियोग' कह रहे हैं, इस प्रकार सदैव के व्यवहार की प्रचलित बातों के बिलकुल विपरीत बात माननी पडेगी। अतएव यह कल्पना कि गीता में प्रतिपादित युद्ध आधिभौतिक नहीं आध्यात्मिक है, टिकही नहीं सकती। क्यों कि भौतिक युद्ध की आवश्यकता को दूर करते ही अर्जुन और श्रीकृष्ण में मतभेद ही नहीं रहता।

व्यक्ति-धर्म श्रेष्ठ या समाज-धर्म श्रेष्ठ?

अर्जुन के हृदय में जो गडबडी मची थी वह पापपुण्य के झगडे के संबंध में नहीं थी, किन्तु भिन्न भिन्न पुण्यमार्गों के किंबहुना दो प्रकार की

CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्मकल्पनाओं के झगडे की खलबली थी। अर्जुन का मन कहता था कि व्यक्ति के विचार से द्रोणाचार्य गुरु हैं और भीष्माचार्य पितामह हैं। इस युद्ध में प्रहार करना पडेगा सोभी इसलिये कि पाण्डवों को आधा राज्य वापिस मिले! इस प्रकार का घोर कर्म करने की अपेक्षा अच्छा होगा कि राज्य की आशा छोडकर भिक्षावृत्ति का स्वीकार करें। क्या ऐसा करने से यह हिंसा टल कर पुण्य न होगा? यदि व्यक्ति धर्म की दृष्टि से विचार करें तो अर्जुन के विचारों पर आक्षेप के लिए स्थानही नहीं था। तथापि समाजधर्म की दृष्टि से देखने पर असत्यका विजय होना और सत्य पैरोंतले कुचला जाना संसार के लिए अत्यन्त हानिकर होता, यह बात जगच्चालक श्रीकृष्ण को ज्ञात थी और उनका अवतार ही –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

इस श्लोक में सूचित किये अनुसार –

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय .....।'

था। इससे उनकी दृष्टि व्यक्तिधर्म पर नहीं समाजधर्म पर थी। इसीलिये अर्जुन का यह व्यक्तिधर्म विचार उन्हें 'क्लैब्य और हृदयदौर्बल्य' दर्शक मालूम हुआ। तब उन्होंने उसे समाजधर्म और मुख्यतः क्षात्रधर्म समझा दिया, तथा उस धर्म का आचरण करते समय बुद्धि को शुद्ध, सत्त्वस्थ, त्रैगुण्यरहित, और निर्द्वंद्व रखकर आत्मवान् होने का उपदेश दिया। श्रीकृष्ण के उपदेश का सच्चा सार किस बात में है इसका विचार इसी लेख के उत्तरार्धमें आनेवाला है, इसलिये उसका यहां अधिक विचार नहीं करते। इस स्थानमें यही बतलाना है कि व्यक्तिधर्म (आश्रमधर्म) और समाजधर्म (वर्णधर्म) इन दोनोंका जहां विरोध उत्पन्न होता है वहां यह प्रश्न उठनेके लिए कि व्यक्तिधर्म श्रेष्ठ या समाज धर्म श्रेष्ठ है, भौतिक युद्धकी भूमिका जैसे कारण होती है वैसे केवल आध्यात्मिक भूमिका कारण हो नहीं सकती। इस कारण गीताके वादकी अर्जुनकी शंका यदि असंबद्ध प्रलाप न मानकर सुसंबद्ध मानकर है, तो उसपर श्रीकृष्णका सुझाया हुआ उपाय कि–

यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्, न हन्ति न निबध्यते॥

को लाजवाब मानना है, तो यही मानना आवश्यक है कि कुरुक्षेत्रका युद्धप्रसंग ऐतिहासिक है, उस ऐतिहासिक अवसर पर अर्जुनके मनकी शंका ही पूर्वपक्ष है, उसपर श्रीकृष्णजीका जो उत्तर वही सिद्धान्त पक्ष है और वह शिक्षा देता है कि 'हत्वाऽपि न निबध्यते' को कैसे हल करना चाहिए।

श्रीकृष्णजीने अवतार लेनेका कारण बताते समय बतलाया है कि मुझे तीन कार्य करने पडते हैं-साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी संस्थापना। इन कार्योंमें से कंस, जरासंध, शिशुपाल आदिका वध करके दुष्टोंका निर्दालन हो चुका था। कौरवादि का संहार करके पाण्डवादि साधु पुरुषोंकी रक्षा अभी होनी थी, तब भी उसकी सब तैयारी हो चुकी थी। बार ठूंसकर भरा था, बत्ती लगानेकी देर थी। इतना होते ही वह बार प्रलयकालके सदृश आकांत करते हुए एकदम धडाकेसे उडा होता। परन्तु इस बत्तीके लगानेमें निमित्तमात्र कारण होनेवाला अर्जुन ही ऐन मौकेपर अड गया! घडीका लम्बक ही थम जानेसे जैसे अन्य सब कलपूर्जे बन्द हो जाते हैं उसी प्रकार श्रीकृष्णके मनकी योजना सबकी सब बन्द पडनेका मौका आया। अपना यन्त्र एकाएक बिगडा कैसे? इस बातका विचार करते करते श्रीकृष्णके ध्यानमें आया कि मैंने अपने अवतारका विशिष्ट संदेश अद्यापि किसी से कहा नहीं है और उसके द्वारा प्रकृत कालके अनुरूप जो धर्मसंस्थापना करनी है सो भी करना अभी बाकी है। अतएव उस नये युगधर्म के अभावसे यह गाडी रुक गई है। यह मर्म जानकर भगवान्ने उसी अर्जुको युगधर्मका उपदेश देनेका योग्य अवसर देखा जिस अर्जुनको निमित्त करके भू-भार हरण करना था। इस योग्य अवसरमें भगवानने अर्जुनको गीताका उपदेश किया।

*

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पुराना धर्म अपूर्ण मालुम पडने लगता है अथवा उस धर्मके समान आचरण नहीं होने पाता, तब नवीन धर्मग्रंथकी आवश्यकता जान पडती है। भारतीय युद्धके समय ऐसी ही स्थिति प्राप्त हुई थी। निवृत्ति मार्गका बोलबाला आवश्यकतासे अधिक होगया था। यहांतक कि अर्जुनके समान रणपण्डित भी युद्धके ऐन मौकेपर हतोत्साह हो, मैं संन्यास लेता हूं कहकर, धनुष्यबाण फेंककर बैठ गया! ऐसे समय प्रवृत्ति मार्गका अर्थात् कर्मयोगकाही उपदेश देना आवश्यक था। ब्राह्मण कालमें जब यज्ञयागादिका महत्त्व बढा, तब सांख्योंने निवृत्तिमार्गका उपदेश किया। उसका अतिरेक होकर जब प्रबंध बिगड गया, तब उपनिषदोंको तथा गीताको प्रवृत्ति मार्ग की राह पुनः साफ करके दिखानी पडी। लंबक का झुकाव प्रवृत्तिकी ओर अत्यधिक हुआ देखकर गौतमबुद्धने पुनः संन्यासका तथा अहिंसाका उपदेश शुरू किया। परन्तु गौतमबुद्धके इस उपदेशका दुष्परिणाम देखकर पुनः कर्मकाण्डकी ओर प्रवृत्ति हुई। अनन्तर श्री शंकराचार्य आये। उन्होंने कलिवर्ज्य संन्यासकी पुनः धर्मपीठपर स्थापना की। इसके पश्चात् के समयमें देशकी हीनदीन स्थिति देखकर श्री समर्थ रामदास स्वामीने पुनः कर्मयोग की स्थापना की। इस प्रकार लंबक का झूलना जारी है। प्रस्तुत प्रश्न इतना ही है कि श्रीकृष्णके समय में कौन पक्ष प्रबल था? पाण्डवसेनाका मुख्य सेनाध्यक्ष अर्जुनही युद्धके ऐन मौकेपर कर्मसंन्यासकी बात बोलता है, इससे सिद्ध है कि संन्यास पक्ष उस समय बहुत प्रबल था। इसीलिए श्रीकृष्णका उपदेश अर्जुनको संन्यास मार्गसे परावृत्त करके कर्मयोगकी राहपर लानेवाला ही होना चाहिए।

कर्मयोग पंथका पुनरुज्जीवन।

श्रीकृष्णजीने अर्जुनको जो उपदेश दिया वह कर्मसंन्यासका नहीं था किन्तु कर्मयोगका ही था। यह बात अर्जुनके पूर्वपक्षसे और ऊपर जो संन्यास मार्ग और कर्ममार्गके ज्वार भाटेका वर्णन दिया है उससे अनुमानसे सिद्ध होता है। परन्तु जहां प्रत्यक्ष भगवानके वचनोंका विवादरहित सबूत है, वहाँ अनुमान की आवश्यकता ही क्या? गीतामें अर्जुनको कर्मयोगका उपदेश यथासांग करनेके उपरान्त चौथे अध्याय के आरंभ में श्रीकृष्ण कर्मयोग पन्थ की परम्परा कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययं।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

गीता ४-३

इन तीन श्लोकोंमें कर्मयोगका पुरातनत्व, उसकी श्रीकृष्णसे लगाकर इक्ष्वाकु तक की अखण्डित परम्परा, राजर्षियोंमें यह परम्परा, चालू रहते समय कालमाहात्म्यसे उसका सूत्र खण्डित होनेका ऐतिहासिक हाल और उसी प्राचीन कर्मयोग परम्परा का मैं आज पुनरुज्जीवन करके विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु इत्यादि राजर्षियोंको परम्परासे किया हुआ उपदेश ही आज तुम्हें कर रहा हूं। इस प्रकार का स्पष्ट परिचय श्रीकृष्णने दिया है। इस परम्पराके कथन का उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट है। पुरानी लकीरके फकीर की मानवी प्रवृत्तिकी कोई कितनीभी निन्दा क्यों न करे, जबतक मनुष्य स्वभाव आजके समान ही रहेगा तब तक नये सम्प्रदाय की अपेक्षा पुराने सम्प्रदाय की ओर जनता का मन अधिक खिंचेगा और नये की अपेक्षा पुराना कहा जानेवाला उपदेश बिनाशिकायदके मान्य होगा। अर्जुन तो किसीभी प्रकार युद्ध टालना चाहता था। और श्रीकृष्ण उसीके हाथों युद्ध की घटना घटित करना चाहते थे। ऐसी मनःस्थितिमें श्रीकृष्ण कितनाही जी तोडकर क्यों न कहें, अर्जुनको शंका अवश्य ही होगी कि श्रीकृष्ण कुछ गडबड करके मुझसे युद्ध कराते हैं। इसी लिये अर्जुन आवश्यकतासे अधिक चिकित्सक बना था। एक वार तो उसने श्रीकृष्ण पर दोगलेपनका स्पष्ट आरोप किया और कहा कि–

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।'

इस प्रकार की विपरीत कल्पना को दूर करने के लिए श्रीकृष्णने विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु आदिकी परम्परा कथन की। पर अर्जुन बडा चांई। वह बोला, 'भगवन्, आप मुझे इस प्रकार चकमा न दे सकेंगे। देवकी के गर्भ से जन्म लेनेवाले आजकल के आप मनु-इक्ष्वाकु आदिकों के उपदेश की गप्पें झाडकर क्या मुझे धोखा देना चाहते हैं?' जब अर्जुन ने इस प्रकार की शंका की तब श्रीकृष्णने अपने अवतारों का विवरण किया। उसका अर्जुन ने कुछ प्रत्युत्तर नहीं दिया। परन्तु उसे हृदय से विश्वास नहीं हुआ था। विभूतियोग के उपदेश से भी उसका सब संशय नष्ट नहीं हुआ था। अन्तमें श्रीकृष्ण की सचाई की परीक्षा के हेतु उसने उन्हें विश्वरूप दिखाने की विनय की। श्रीकृष्णने सोचा कि विश्वरूपदर्शन से मेरे परमात्मस्वरूप के संबंध में अर्जुन को तो विश्वास होगा ही; पर उसी में दूसरा भी कार्य सध जावेगा। वह यह कि जिन भीष्मद्रोण आदि के विषय में इसे इतना डर लग रहा है, उन्ही भीष्मद्रोणादिकों को मृत्युद्वारा कुचले जाने का दृश्य दिखाकर इसे यह मालूम करा देना कि तुम केवल निमित्तमात्र हो, पर्याप्त होगा। इससे एक दृश्य में दो कार्य सध जावेंगे। इसी विचार से श्रीकृष्णने अपना भयानक विश्वरूप दिखाया। वह रूप देखकर अर्जुन घबडा गया सही; पर साथही-

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः॥
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ।
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति।
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि॥
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु।
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥
गी०अ०११ श्लो० २६।२७

इस दृश्य को देखकर उसे निश्चय हुआ कि कुरुक्षेत्र के इस युद्ध में भीष्मद्रोणादि का नाश अवश्य ही होगा। उसे ऐसा भी लगा कि ये मरते तो हैं ही तब भीष्म जैसे इच्छा-मरणी एवं अजेय वीर को जीतने की किर्ति क्यों खोवें? उस समय सबके हृदय को जाननेवाले श्रीकृष्णने यह जान कर कि उपाय कामयाब हुआ—

'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व'

इस मात्रा का भी प्रयोग किया। तब अर्जुन का आरंभ का क्लैब्य और हृदयदौर्बल्य लुप्त हो गया। इस अध्याय से आगे चलकर श्रीकृष्णने जो जो कहा वह सब अर्जुन ने बिनारुकावट के सुना। इसके आगे श्रीकृष्ण को रोकने का या 'आप गप्पें मार रहे हैं' जैसी अप्रबुद्ध बात कहकर आक्षेप लेने का साहस अर्जुनने नहीं किया।

इतने विस्तारका उद्देश्य यही कि अर्जुनकी शंका यदि केवल आध्यात्मिक होती और उसमें भौतिक युद्ध का संबंध न होता तो अर्जुन को निरुत्तर करने के लिये इतना प्रयास करनेकी श्रीकृष्णके लिये आवश्यकता ही न थी। "तू काम-क्रोधादिके अधीन मत हो तू असत्य न बोल, तू हिंसा न कर," इस नमूनेका सामान्य उपदेश करनेके लिये श्रीकृष्णने अपनी वाणी को इतना कष्ट कदापि न दिया होता। विदुरके द्वारा धृतराष्ट्र को उपदेश कराया, वैसा ही अर्जुनको कराया होता। अर्जुनने भी कब हट किया था कि मैं हिंसा करूंगा, मैं काम क्रोधादिकोका त्याग न करूंगा? सारांश यही कि अर्जुनका पूर्वपक्ष अपूर्व एवं पेचीदा था। यदि यह कहा जाता है कि 'युद्ध न कर, संन्यास का स्वीकार कर,'तो दुष्टनिर्दलनका, साधुरक्षणका तथा धर्मसंस्थापनाका कार्य अधूरा रहता है और अवतारका उद्देश विफल होता है। यदि केवल युद्ध करने भरको कहें तो हिंसा कृतघ्नता, राज्यलोभ आदि दोष लगते हैं। अर्थात् यहांपर श्रेयस् और प्रेयस् का मेल करना ऐसा दुर्घट कार्य था कि अर्जुनने, मनमें निश्चय कर कि यह बात श्रीकृष्णसे भी न सधेगी, धनुष्यबाण फेंक कर। मनही मन संन्यास मार्गपर चलना आरंभ कर दिया। ऐसी दशामें जिस गीतापदेशने अर्जुनकी यच्चयावत् शंकाओंका निरसन किया और उसे धर्म्य युद्ध करनेको प्रवृत्त किया और स्वधर्मच्युतिसे उत्पन्न होनेवाले दोषसे बचाया, उस गीताके उपदेशमें ऐसी ही कोई अपूर्वता अवश्य होनी चाहिए।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

गीता-मन्दिर की सजावट।

गीता-मन्दिर कब, किस हेतुसे और किस बुनियाद पर खडा किया सो अब तक बताया। आगे चलकर देखना है कि उसे किस कौशलसे किस प्रकार सजाया है –

गीताकी भाषा।

मनुष्यकी परीक्षा बाह्य स्वरूपसे नहीं की जाती, किन्तु उसके सद्गुणोंसे की जाती है। ठीक इसी प्रकार ग्रन्थ की परीक्षा उसकी भाषासे न करनी चाहिए,अपितु प्रतिपाद्य विषयके विचारोंकी ग्राह्य-ग्राह्यतासे करनी होती है। तथापि जैसे मनुष्यके गुणोंकी अपेक्षा उसके रूपकी ओर ही प्रथम दृष्टि जाती है; उसी प्रकार ग्रन्थकी विचारप्रणाली देखकर मत निश्चित करनेके पूर्व ही उसकी भाषाकी ओर ध्यान जाता है। यदि भाषा चटकीली और प्रसादयुक्त हुई तो ग्रन्थ पढा जाता है, नहीं तो तत्त्व भले ही सर्वोत्कृष्ट हो, भाषा निकृष्ट होनेपर ग्रन्थ पढा ही नहीं जाता। उसके विचारोंको समझ कर उनकी प्रशंसाकी तो बातही दूर है। किन्तु गीता ग्रन्थके संबन्धमें इस आपत्तिका भय नहीं है। धार्मिक ग्रन्थके नाते उसका पठन करनेवाले लाखों मनुष्य तो अवश्य ही होंगे; परन्तु तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे जो लोग इस ग्रन्थको पढने की इच्छा करेंगे, उन्हे भी इस ग्रन्थकी भाषा चित्तवेधक जान पडेगी। गीता की भाषा सादी रहते भी मधुर, आकर्षक एवं आल्हादकारी है। साथ ही वह ओजस्विनी,जोरदार एवं प्रसादयुक्त भी है। इतने गहन तत्त्वज्ञानका ग्रन्थ ऐसी रसीली एवं मनको हरनेवाली भाषामें लिखा हुआ क्वचित्‌ही दिखाई देगा। कहीं कहीं गीताकी भाषाका ओघ गंगाके प्रवाहके सदृश गम्भीर निर्मल तथा अस्खलित है। विशेषतः प्रथम अध्यायका अर्जुनकी आत्मस्थिति का वर्णन और युद्ध न करने की कारणपरम्परा, दूसरे अध्याय का स्थितप्रज्ञ का वर्णन, तीसरे अध्यायका यज्ञचक्र का वर्णन, नवमें और बारवें अध्यायका भक्त का वर्णन, चौदहवें अध्याय का गुणातीत का वर्णन, सोलहवें अध्याय का आसुरी सम्पत्ति का वर्णन,ये सब भाग भाषा की सुन्दरता की दृष्टिसे अप्रतिम हैं। कहीं भी भाषा कृत्रिम नहीं है, किन्तु सहजालंकारयुक्त है। उपमा, रूपक, दृष्टान्तादि अलंकार सहज में भाषाके प्रवाह के साथ आने के कारण अधिक शोभादायक हुए हैं। गीता में प्रायः सर्वत्र शान्तरस का ही साम्राज्य है; तथापि बीच बीचमें वीररस की भी छटा दिखाई देती है। ग्यारहवें अध्याय का वर्णन रौद्र, अद्भुत, भयानक आदि रसों का नमूना है।

अरसिक आक्षेपक।

ऐसी रसभरी तथा चित्तवेधक भाषा के भी अरसिक आक्षेपक मिलते ही हैं। उनका मुख्य आक्षेप यह है कि गीता में पाणिनी के व्याकरण की दृष्टिसे अनेक गलतियां हैं। कहीं कारकों के रूप गलत हैं, तो कहीं आत्मनेपद और परस्मैपद में भूल है। कहीं सन्धि की ही नहीं है, तो कहीं गलत की है। कहीं वाजिब से अधिक शब्दों की खिचडी है, तो कहीं आवश्यक शब्द भी लुप्त हैं। इन सब आक्षेपों का सर्वसामान्य उत्तर यह है कि गीताग्रन्थ पाणिनी के पहले का है। उसे पाणिनी के व्याकरण की कसोटी पर कसना उचित नहीं। इसके सिवा यह ग्रंथ संवादात्मक है; अतः इसमें पंचमहाकाव्यों के सदृश सुश्लिष्टता की अपेक्षा करना भी ठीक नहीं। अर्वाचीन काल के 'शंकरदिग्विजय' जैसे ग्रंथमें भी जब 'विचारयित्वा, श्रुणुध्वम्' सदृश अशुद्ध रूप दिखाई देते हैं, तब गीता के समान प्राचीन ग्रन्थ में कुछ रूप आजकल के व्याकरण की दृष्टिसे सदोष दिखाई दिये, तो भी उतनेसे गीता की भाषा त्याज्य कैसे हो सकती है? भाषा तो हृदयगम्य होती है इससे पाठकों को जो भाषा मधुर मालूम हो वही काव्य भी मीठा होता है; उस भाषा में कुछ रूप व्याकरण के एकाध नियम के अनुसार हों

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

या न हों। इसके विपरीत भट्टीकाव्य के जैसे शब्दों के सभी रूप पूर्णतया व्याकरणशुद्ध रहनेही से यह नहीं होता कि उनमें काव्य की आत्मा का अस्तित्व निश्चिय से हो।

आक्षेपकों ने गलत या सदोष कहे हुए कुछ स्थान वास्तव में आक्षेपार्ह नहीं हैं किन्तु उन्हें ऐसा समझने में ही भूल हुई है। उदाहरण के लिये 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इसमें 'सर्व' 'अखिल' ये एकही अर्थ के शब्द आये हैं, अतः द्विरुक्ति दोष हुआ। परन्तु अनेक टीकाकारों ने बडी मार्मिकता से बतलाया है कि 'सर्व' और 'अखिल' शब्द भिन्न अर्थों में आये हैं। सभी कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में नहीं होता, 'अ-खिल' अर्थात् निर्दोष कर्म जितने होंगे उन्हीं का ज्ञान में पर्यवसान होता है। यह है उसका वास्तविक अर्थ और इसीलिये 'सर्व' और 'अखिल' दो भिन्न अर्थवाले शब्द आवश्यक हैं।

'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु'

इस श्लोकार्ध में भी समानार्थक शब्दोंकी फजूल द्विरुक्ति बतलायी जाती है। परन्तु यह आक्षेप भी गलत है। सुहृद् और मित्र, उदासीन और मध्यस्थ अरि और द्वेष्य ये शब्द समानार्थक नहीं हैं, उनमें भेद हैं। महाभारत में तथा कौटिलीय अर्थशास्त्रादि ग्रन्थों में उन शब्दों का उपयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। द्विरुक्ति दोष के बतलाये गये अधिकांश स्थान इसी प्रकार निर्दोष हैं। आक्षेपकों की ही उन्हें एकार्थक समझने में भूल हुई है। और एक आक्षेप यह है कि क्रियाओं में व्यर्थ ही उपपद जोडे गये हैं। इसका समर्थन इस प्रकार किया जा सकता है कि उन स्थानों में उस उस उपपद से अर्थ की विशषता बढती है, इसलिये उपपद निरर्थक नहीं हैं।

अब ऐसे दो एक उदाहरण देखें जो असमंजस के कारण दोषावह माने गये हैं। 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं' इसका अर्थ केवल यह नहीं है कि 'कर्म बोद्धव्यं' किन्तु 'कर्मणः फलं बोद्धव्यं' है। इसी लिये 'कर्मणः, अकर्मणः, विकर्मणः' ये तीनों शब्द षष्ठ्यन्त हैं। तथा-

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्॥
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ ५।२१

इस श्लोक का अन्वयार्थ ठीक न लगा सकने के कारण सदोष वाक्यरचना का वह उदाहरण कहा जाता है। परन्तु इसका अन्वय इस प्रकार है-'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा आत्मनि यत् सुखं विन्दति (तेन) सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (भूत्वा) अक्षय्यं सुखं अश्नुते।' आपेक्षक समझते हैं वैसा उसका अन्वयार्थ नहीं है।

सार यही कि गीताग्रन्थ पाणिनी के पूर्व का है। उस समय संस्कृत भाषा प्रत्यक्ष व्यवहार में थी। अतएव वह आज जैसी व्याकरणबद्ध नहीं हुई थी। इसीलिये गीता के तत्कालीन शब्दप्रयोगों की ओर या वाक्यरचना की ओर आज की दृष्टि से देखना युक्त नहीं।

गीता की तर्कशुद्ध विचारप्रणालि।

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ काव्य नहीं है। वह तत्त्वज्ञानात्मक ग्रन्थ है। इससे भाषासौष्टव उसका प्रधान अंग नहीं है। अतः गीता की भाषा की चर्चा छोड अपन गीता के तत्त्वज्ञान को देखें। वेदान्त जैसे गहन विषय की विचारप्रणालि गीताने जिस सिलसिले से तथा तर्कशुद्ध पद्धति से सामने रखी है वैसी अन्यत्र शायद ही दिखाई दे। जैसे अत्यंत कठिन विषय विद्यार्थियों को क्रमसे समझाते जाते हैं वैसे ही गीता का कर्मयोग का सिद्धान्त क्रम से अर्जुन को समझाया गया है। गीता-काल की परिस्थिति कैसी थी और कर्मत्याग का कैसा भारी स्तोम था इसका उल्लेख प्रास्ताविक भागमें आचुका है। ऐसी दशा में 'न योत्स्ये' का निश्चय कर बैठनेवाले अर्जुन को 'कर्मयोग' के उपदेश की सत्यता समझा कर उसे क्षत्रियोचित युद्ध का कर्तव्य करने में लगा देना बडा कठिन काम था। परंतु श्रीकृष्णने अत्यंत चतुराई से, किंबहुना बॅरीस्टरी ठाट से, तर्कशुद्ध विचारप्रणालि से अर्जुन को अपनी बात मानने को विवश किया और उसे 'करिष्ये

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वचनं तव ' कहना पडा । गीताके विषयकी रचना वास्तवमें बॅरीस्टरी ठाटबाट की है । अपनी दूकान का माल अच्छा रहनेपर भी उसको ऐसी रचनासे सजा कर रखना पडता है जिससे वह ग्राहक को आकर्षित करे । इसी प्रकार अपने पक्ष का सबूत काफी जोरदार होनेपर भी उसे योग्य रीतिसे और यथाक्रम रखना चाहिये तभी ज्यूरी और कोर्टको अपना पक्ष जँचता है । यह क्रम निश्चित करनेमें मानवी स्वभाव पर ध्यान रखना पडता है, परिस्थिति पहचाननी पडती है, जनता की रुचि समझनी होती है । इन सब अंगोंपर विचार कर अपना कहना योग्यरूपमें गिने हुए शब्दोंमें रखनाही वकीली कुशलता है । अर्जुन को ' योगः कर्मसु कौशलं ' का उपदेश करनेवाले योगेश्वरमें यदि इस प्रकारकी कुशलता विपुल हो और उस कुशलता का उपयोग उन्होंने पूर्ण तया किया हो तो आश्चर्य कहाँ?

कर्मसंन्यासकी पकड ।

भारतीय युद्धके दिनोंमें सांख्य मार्ग इतना अधिक प्रचलित था कि अर्जुन जैसे युद्धपण्डित को भी लडनेका कर्तव्य त्यागकर भैक्ष्यचर्या स्वीकार करना पसंद हुआ । इसके विपरीत कर्मयोग की परंपरा खंडित हुई थी; इस कारण उसका पुनः एकाएक लोकप्रिय होना संभव नथा । तिसपर भी कर्मसंन्यास का मार्ग अहिंसात्मक होनेके कारण वह ग्राह्य मालूम होना तथा ' कर्मयोग ' में युद्ध जैसा घोर कर्म करना आवश्यक होनेका संभव होनेके कारण वह मार्ग सकृद्दर्शनसे ही त्याज्य मालूम होना स्वाभाविक था । ' कर्म ' शब्दका उच्चारण करतेही यज्ञयागादिक काम्य कर्मोंका ' कर्मकाण्ड ' दृष्टिके सन्मुख आता था, और काम्य कर्म मोक्षकी राहके विघ्न हैं; इसीलिये ' कर्म ' मात्र मोक्षका प्रतिबंधक होनाही चाहिये ऐसी समझ रूढ थी । ऐसी दशामें कर्मयोगका उपदेश करना बडा कठिन कार्य था । मोक्षका लक्ष्य तो दृष्टिसे अलग नहीं होने देना । यह निःसंदिग्धतासे दिखा देना कि अपन जिसका उपदेश दे रहे हैं वह ' कर्मयोग ' तत्कालीन रूढ ' कर्मकाण्ड ' से भिन्न है । इसके लिये आवश्यक हो तो कर्मकाण्ड की निन्दा भी करना । सर्वकर्मसंन्यास कैसा असम्भव है और ऐसा कर्मसंन्यास करनेसे शरीरयात्रा का चलना भी किस प्रकार दुर्घट होगा सो मुख्यतः प्रगट करना । इस प्रचलित समझको नष्ट कर देना कि कर्मयोग मोक्षदायक नहीं है तथा उसका मोक्षदत्व सिद्ध करना; यह दिखाकर कि कर्मत्यागसे अधायुत्व आता है, कर्मयोगकी आवश्यकता सिद्ध करना; लोकसेवा तथा लोकसंग्रहकी महत्ता सिद्ध कर यह दिखा देना कि कर्मयोगके विना उनको साधना असंभव है । यदि वे बिगड जावें तो वर्णसंकर होकर जगत् का उच्छेद किस प्रकार हो जाता है इसका घोर चित्र रंगाकर यह दिखा देना कि समत्वयोग साधकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब कर्म करनेसे कर्मयोग से आमुष्मिक और पारलौकिक श्रेय साध्य होता है । इस प्रकार सांख्य मार्गसे कर्मयोगका श्रेष्ठत्व सिद्ध करना । श्रीकृष्ण को गीताका उपदेश करते समय उपरोक्त प्रकारकी अनेक बातें संभालनी पडीं । इन सबको अतीव कुशलतासे संभालकर श्रीकृष्णने गीताके द्वारा कर्मयोगकी प्राणप्रतिष्ठा की है ।

कर्मयोगका बीजारोपण ।

शिष्टाचार है कि नये दमाद का पूजन करनेके पूर्व पहलेके दमाद की संभावना की जाय । इसी प्रथाके अनुसार श्रीकृष्णजीने कर्मयोगका आवाहन करनेके पूर्व अर्जुनको सांख्य योगका थोडासा उपदेश दिया । अर्जुनकी प्रथम शंका थी कि भीष्मद्रोणादिकों की मृत्युसे मुझे शोक होगा और तब जीवन भी व्यर्थ मालूम होगा । इस शंकाके निरसन के हेतु आत्मा का अमरत्व, देहकी क्षणभंगुरता और मृतकका पुनर्जन्म इत्यादि वेदान्त तत्त्व बतलाना आवश्यक था । ये तत्त्व सांख्य मार्ग या अन्य किसी भी मार्गमें एकसे हैं । इसलिये सांख्यनिष्ठा जो कि रूढ थी उसीके आधारसे श्रीकृष्णजीने अर्जुनको समझाया कि मृतके लिये शोक करना और यह मानना कि आत्मा मारता है या स्वयं मरता है

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कितना भ्रमपूर्ण है। सांख्य-तत्त्वज्ञान से अर्जुन की मनोभूमि साफ करने पर उसमें कर्मयोग का बीज बोनेका आरंभ करना था; परन्तु यदि एकदम कर्मयोगका उपदेश किया जाय तो संभव है कि अर्जुन चकरा जावे, इसलिये—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि॥२।३९

इस प्रकार प्रस्तावना करके श्रीकृष्णने कहा 'मैं तुझे बुद्धियोग बतलाता हूं।' बतलाना तो था 'कर्मयोग' इसलिये इसका प्रस्ताव करते समय जो भाषा उपयोग में लायी गई है-अर्थात् जिस बुद्धियोग से 'कर्मबंध' दूर हो जाते हैं वही बुद्धियोग बतलाता हूं- वह निश्चित उद्देश्य से ही कही गई मालूम पडती है। इसमें निर्दिष्ट उद्देश्य स्पष्टतया प्रतीत होता है कि कर्मयोग के आचरण में बुद्धि को प्रधानता है और उसमें किया हुआ कर्म बंधन कारक नहीं होता। यह बात आरंभ ही में जतला देने से अर्जुन की कर्मयोग के संबंध में गलत समझ न होगी। उन दिनों कर्मत्यागका अधिक बोलाबाला होने का कारण यही भूलभरी समझ थी कि कर्म जितना भी है सब अवश्य ही बंधनकारक है; इसी लिये यज्ञ, दान, तप आदि पुण्यकारक कर्म भी इसी डर से बडे बडे स्यानों ने त्याज्य समझ लिये थे! यह समझ सु-स्थिति के लिये अनिष्ट थी; अतएव श्रीकृष्णने गीता में ही इस मत का खण्डन किया है और स्पष्ट रीतिसे कहा है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्यागना नहीं चाहिये।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः॥१८।३
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥१८।५
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥१८।६

इस प्रकार का निश्चितार्थक उपदेश है। परन्तु यह बात अठारहवें अध्याय की है। तब तक अर्जुन के मन पर कर्मयोग के उपदेश का बहुत कुछ असर हो चुका था; इसलिये उस स्थान पर अर्जुन के ही प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्णने यह निश्चित मत बतलाया। कर्मयोग के उपदेश के आरंभ में आवश्यकता यह बतलाने की थी कि इस मार्ग में कर्मबंध का भय नहीं है। इसीलिये इसका उल्लेख प्रथम और प्रमुखतः किया गया है। अनन्तर यह स्पष्ट करनेके अभिप्राय से कि यह कर्मयोग 'भोगैश्वर्यप्रसक्त' कामात्माओं द्वारा किये हुए यज्ञ-याग से भिन्न है, उन यज्ञ यागादिकों की त्याज्यता दिखाई गई। साथ ही वेद में स्थित कर्म-काण्डात्मक भाग त्याज्य बताकर—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
गी. २। ४५

इस श्लोकमें कर्मयोग का सत्य, शुद्ध एवं स्पृहणीय रूप व्यक्त किया। और—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
गी. २।४५

इस श्लोक से कर्मयोग का मोक्षप्रदत्व भी दर्साकर कर्मयोग का बीजारोपण पक्का किया; परन्तु 'कर्मयोग' शब्द यहां तक एक बार भी प्रत्यक्ष रीतीसे नहीं कहा गया।

सांख्ययोग और कर्मयोग की तुलना।

श्रीकृष्ण की यह दुहरी भाषा सुनकर अर्जुन चक्कर में पड गया। उसने देखा कि श्रीकृष्ण इधर कर्मकी निन्दा भी करते हैं और तुर्त ही कर्म की अतीव स्तुति भी करते हैं। इसमें से सच्चा मत कौनसा सो न समझ सकने के कारण अर्जुन ने कुछ गुस्से से ही श्रीकृष्ण से स्पष्ट रीतिसे कहा कि ऐसी दुहरी सलाह देकर आप मुझे उधेडबुन में न डालिए। जिसमें मेरी भलाई हो ऐसा एकही मार्ग आप मुझे असंदिग्ध रीति से बतलाइए। परंतु श्रीकृष्ण थे पक्के दूरदर्शी और मनको जाननेवाले। उन्होंने देखा अबतक इसकी मनोभूमिका अच्छी तरह तैयार नहीं हुई है। अतएव इसे एकदम यह कह देना ठीक न होगा कि कर्मयोग ही तेरा मार्ग है। इससिये उन्होंने कहा, "अर्जुन, तू मुझे एकही

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मार्ग बतलाने को कहता है, पर पुरातन कालसे दो मार्ग चले आये हैं। एक है सांख्योंका (कर्मत्याग-का) मार्ग और दूसरा है कर्मयोगियोंका का मार्ग। ऐसी दशामें मैं कैसे कहूं कि श्रेयोमार्ग एकही है? पर मैं अब इन दोनों मार्गोंकी तुलना कर दिखाता हूं। इनमें मेरी दृष्टिमें कर्मयोग अधिक अच्छा है (५-२)। तथापि इनमें तर-तम देखकर तू ही निश्चय कर कि कौन मार्ग अच्छा है।

निःश्रेयस् प्राप्तिके लिये कर्मसंन्यास एकही उपाय नहीं है (३-४)। सांख्योंको जो पद प्राप्त होता है,वही कर्मयोगियोंको भी मिलता है (५-५)। इस बातमें दोनों तुल्यबल हैं। कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों एकसे मोक्ष-प्रद हैं (५-२)। इनमें कर्म-संन्यास दिखनेमें सरल मालूम होता है;क्योंकि सब कर्मोंको छोड देकर स्वस्थ बैठे, याने कर्म-संन्यास हुआ ऐसा लगता है। किन्तु यह समझकर लेना भारी भूल है कि केवल कोईभी कर्म करना नहीं इतना निश्चय कर लेने भरसे नैष्कर्म सध गया (३-४)। बाह्येन्द्रियोंका निरोध करके कर्म बन्द कर दें, तब भी यदि मन संसार भरमें भटकता रहेगा,तो वह मनुष्य मिथ्याचारी सिद्ध होगा (३-६)। इस प्रकार का मिथ्याचार करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर तो यह होगा कि कर्मेन्द्रियोंको अपने अपने कर्म करने देकर मन भर काबूमें रखा जाय और सब प्रकारकी आसक्ति समूल त्याग दी जाय (३-७)। कोई भी मनुष्य कुछभी कार्य न करते हुए एक क्षणभर भी नहीं रह सकता (३-५)। यदि तुम कहो कि मैं कुछभी काम न करूंगा, तो तुम्हारी शरीर-यात्रा भी अच्छी तरह न चल पावेगी (३-८)। एवंच कर्म-संन्यासका मार्ग सधना कठिण है (५-६)। उसकी अपेक्षा कर्म-योगीको ब्रह्मप्राप्ति जल्दी होती है (५।६)

कर्म-योगकी परंपरा और आवश्यकता।

कर्मयोग और कर्मसंन्यासकी तुलना सुनकर भी अर्जुनको संतोष न हुआ। उसकी यही धारणा हुई कि मुझे किसी भी प्रकार युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये श्रीकृष्णने कर्मयोगका नया झगडा तैयार किया है। अर्जुनकी यह भूल दूर करना आवश्यक था। क्योंकि यद्यपि हर एक पुरानी बातको अच्छा कहनेके लिये हम लोग तैयार नहीं रहते, तथापि पुरानी बातोंके दोषोंको जानते हुए भी उन्हीं का समर्थन हम करते हैं और नया मार्ग कितना भी कल्याणकारी क्यों न दिखे आरंभमें उसकी ओर हम शंका की दृष्टिसेही देखते हैं। अर्जुनके मनकी यही दशा जानकर श्रीकृष्णने कहा, 'यह कर्मयोग मैं तुम्हें पहली बार और बिलकुल नये सिलसिलेसे नहीं बता रहा हूं। विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियोंको प्राचीन कालमें मुझसेही किन्तु परंपरा से यही उपदेश प्राप्त हुआ था। बीचके कालमें इसमें कुछ रुकावट पड गयी थी, इसलिये आज तुम्हे वही पुराना कर्मयोग बतलाकर मैं उसका पुन-रुज्जीवन कर रहा हूं।'

इससे अर्जुनको इस कर्मयोगका पुरातनत्व जँचा भी हो, तोभी उसके मनमें शंकाएं ऊधम मचा रही थीं कि कर्मत्याग न कर कर्माचरण की आवश्यकता की जिम्मेदारी मनुष्यपर क्यों आती है; कर्म भर जितना है सब बंधनकारक होना ही चाहिये इस सिद्धान्तके रहते कर्मयोगी का कर्म उसे बंधन-कारक कैसे नहीं होता। इस दशाको जानकर श्रीकृ-ष्णने अर्जुनको सृष्टिके यज्ञचक्रके तत्वको समझाया यह निरपवाद नियम नहीं हो सकता कि प्रत्येक कर्म बंधनकारक होनाही चाहिये। यज्ञके लिये किया हुआ कर्म बंधनकारक नहीं हो सकता, हाँ वह अनासक्तिसे अवश्य किया हुआ हो। ये बातें समझाते समय श्रीकृष्णने भाषा कैसे संभाल संभाल कर और वकील जैसी कही है सो देखने योग्य है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ३-९

इस श्लोकमें यह नहीं कहा कि यज्ञार्थ किये हुए कर्म बंधनकारक नहीं होते। क्योंकि ऐसा कहने से अतिव्याप्ति का दोष होता। यह कहने से कि जो कर्म यज्ञार्थ नहीं हैं वे बंधकारक हैं, यज्ञ के लिये किये हुए कर्मों का अलग वर्ग होही गया। उस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

में के भी सभी कर्म बन्धकारक नहीं होते यह नहीं क्यों कि कुछ यज्ञ काम्य होते हैं और कुछ निष्काम अतएव, यह दर्साकर कि फल की अपेक्षा से किये हुए कर्म बन्धनकारक होते हैं, यह दिखा दिया कि 'यज्ञार्थ और मुक्तसंगत्व' से किये हुए कर्म भर बन्धनकारक नहीं होते। और आगे-

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ३-१९

इस श्लोक में कहा कि आसक्ति छोडकर कर्माचरण करनेवाला पुरुष निर्वाणपद प्राप्त कर लेता है। और पुनः एकबार कर्मयोग का मोक्षप्रदत्व अर्जुन को जतलाया।

लोकसेवा तथा लोकसंग्रह।

इसके पूर्व 'कर्म' शब्द सुनकर अर्जुन घबडा उठता था। इस विवेचन से वह भय जाता रहा। तथापि यह शङ्का रही आई कि यदि कर्म न करें तो क्या बिगडेगा। इस शङ्काको दूर करनेके लिये श्रीकृष्णने लोकसेवा तथा लोकसंग्रहकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया। गीता के पूर्व के और उसके पश्चात् के तत्वज्ञानविषयक ग्रन्थों की अपेक्षा गीता में यदि कोई विशेषता है, तो वह विशेषता लोकसंग्रह तथा लोकसेवा के सिखापन में ही है। उपनिषदों में भी प्रवृत्तिपर कर्मयोगका उपदेश दिखाई देने लगाथा। तथापि यज्ञ, परोपकार, लोकसंग्रह आदि सिद्धान्तों की सुश्लिष्ट रचना गीतामें ही सर्व प्रथम इतने सिलसिलेसे की गई है। यह कल्पना वेदकाल से रूढ है कि जगत् का प्रत्येक मानवी प्राणि जन्म के साथही तीन ऋण अपने साथ लाता है और इन ऋणों को चुकायेबिना छुटकारा नहीं है। उसमें देव ऋण तथा पितृऋण का चुकाने के मार्ग कहकर यज्ञ और अध्ययन-अध्यापन का निर्देश है। परन्तु उसमें स्थित यज्ञ की कल्पना गीता की कल्पना के समान व्यापक नहीं है। गीता की यज्ञ कल्पना में व्यक्तिगत कर्तव्य के साथ ही सामाजिक कर्तव्य के एवं परोपकार शामिल हैं। मनुष्य जन्म लेता है तब ऐसा तो होता ही नहीं कि वह बिना आगापीछा के जन्म लेता हो। वह किसी न किसी देश का निवासी, धर्मका अनुयायी, किसी न किसी का पुत्र, किसी का बांधव, किसी कुल का घटक इस प्रकार के अनेक रिश्ते और संबंध लेकर जन्म ग्रहण करता है। इन नातों के कारण उसे बालपन में जो लाभ होता है उसका बदला होश संभालनेपर किसी न किसी रूपमें चुकाना उसका कर्तव्य हो जाता है। इसी कर्तव्य को गीता ने 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' वचन से यज्ञ का रूप दिया है और -

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

कहकर परस्पर सहकारिता का सिद्धान्त सबके लिये बतला दिया है। गीता का सिद्धांत है कि जो इस कर्तव्य का पालन नहीं करता वह अघायु होता है। इसलिये अघायुत्व का आरोप टालने के हेतु गीताने लोगों को यज्ञ का मार्ग दिखा दिया है। आनृण्य का संपादन करने के लिये तथा अघायुत्व टालनेके लिये जो जो करना है वह यज्ञरूप है। अतएव केवल यज्ञके लिये आसक्तिरहित जो कर्म करना है वह बंधनकारक होइ नहीं सकता। सरकारी नौकर सरकार के हुक्म की तामीली करने में जो कुछ करे उसके लिये वह व्यक्ति के नाते किसी के भी प्रति उत्तरदायी नहीं है। यह राजकाज का नियम ही सृष्टिके कानूनों में भी है। यह अवश्य है कि इन दोनों में स्वार्थ निरपेक्षता का पथ्य संभालना पडता है।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

आनृण्य का संपादन तथा अघायुत्वका टालना ये जिम्मेदारियां छोटे, बडे, विद्वान् अविद्वान्, ज्ञानी, अज्ञानी, अधिकारी, अनधिकारी सभी पर समानतासे पडती हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य अपना आचरण वैसे ही रखता है जैसे ज्ञानी मनुष्यका आचरण होता है और उन्हीं नियमोंका पालन करता है जिन्हें ज्ञानी मनुष्यने बतलाया हो या मान लिया हो। इसलिये ज्ञानी मनुष्य पर इतना उत्तरदायित्व अधिक आन पडता है। जिसकी यह इच्छा हो कि जनता सत् मार्गसे चले उसे स्वतःका आचरण शुद्ध रखना चाहिये, स्वतःका कर्तव्य निरलसतासे करना चाहिये, निश्चय कर लेना चाहिये कि कौनसा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शास्त्र मानना है और जहां शास्त्र मुग्ध होगा वहां स्वतः विधिनिषेध लगा लेना चाहिये। 'लोकसंग्रह' शब्दमें ये सब कर्तव्य शामिल हैं। ज्ञानी भी यही अपेक्षा करेगा कि समाज सु-स्थितिमें और सुखसे रहे। अतएव लोकसंग्रह का यह कार्य ज्ञानीकोही करना आवश्य है। यदि ज्ञानी इस कार्यकी टालमटोल करेगा, तो यह सत्ता अनधिकारी मनुष्यके हाथमें चली जावेगी और वर्ण-सङ्कर होगा तथा समाजका उच्छेद होगा। ईश्वर स्वतः अवतार लेकर जगत्का योग्य धारण पोषण न करे, तो जगत् काभी उच्छेद होता है। इसीलिये उसे टालनेके लिये मैं दक्षतासे कर्तव्य करता हूं, यह श्रीकृष्ण ने स्वतः बतलाया है।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

यह भगवान् का वचन जो प्रमाण मानता है, उसे

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

यह वचन भी प्रमाण मानना होगा। इस प्रकार आचरण रखनेवाले जनकादि कर्मयोगियोंने कर्मयोगके द्वारा ही संसिद्धि प्राप्त की। श्रीकृष्णने प्राचीन इतिहासका यह दृष्टान्त देकर कर्मयोग का उपदेश पक्का किया है। वकील अपने मतकी पुष्टिके के लिये जब प्रीवी कौंसिल का प्रमाण देता है, तब नीचे के कोर्टका कुछ नहीं चलता। ठीक वैसे ही यहां भी हुआ। कर्मयोगको दोष देनेवालोंको यह स्थान कर्मयोगका दुर्भेद्य किला ही है। जनक ज्ञानी नहीं थे यह तो कह ही नहीं सकते क्योंकि उसे उपनिषदोंकाही आधार है। यह भी नहीं कह सकते कि जनक राज्य नहीं करते थे क्योंकि इसके लिये भी वही आधार है। अर्थात् यह कहनेको कि ज्ञानी मनुष्य ज्ञानोत्तर कर्म नहीं कर सकता मुद्दा ही नहीं रहता। ज्ञान व कर्मका 'तमःप्रकाशवत् विरोध' जनक के उदाहरण में बिलकुल दिखाई नहीं देता। इसलिये अर्जुन भी श्रीकृष्णके वचन पर कुछ भी न कह सका। यह देखकर श्रीकृष्णने अबतक जो उपदेश अप्रत्यक्ष रीतिसे किया था सो—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।

इस श्लोकसे स्पष्ट किया। इसमें निर्ममत्व आदि शर्तें पहले की ही हैं; परन्तु 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' पदसे ईश्वरार्पण बुद्धि का नया पथ्य कर्मयोग में क्यों आया।

भक्ति-मार्ग की संस्थापना।

कर्मयोग से लोकसेवा होती है, लोकसंग्रह होता है इसलिये वह कर्मत्याग से श्रेष्ठ है सही; परन्तु लोकसंग्रह या लोकसेवा करना किसलिये? यदि फलाशा रखना ही नहीं तो कार्यकी ओर प्रवृत्ति हो कैसे? शास्त्रज्ञ कहते हैं कि 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितं' अतः उस प्रेरक शक्ति के अभाव में कर्मेंद्रियां हलचल भी कैसे कर सकेंगी? इस लिये कई लोग समझते हैं कि निष्काम कर्मयोग साधना असंभव है। कर्तव्य-बुद्धि, आत्मौपम्यबुद्धि से दूसरों का दुःख निवारण करनेकी इच्छा, ईश्वर का आदेश इत्यादि शक्तियां प्रेरकत्व का कार्य कर सकती हैं। अर्थात् जो सचमुच समझता है कि मुझे जो कुछ करना है वह करने के लिये ईश्वर ही प्रेरणा करता है; वह उस कार्य का कर्तृत्व तथा फल ईश्वर को ही सौंप कर स्वतः अलिप्त रहेगा। इससे ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कार्य तो होगा ही साथ ही अलिप्तता भी लधेगी। इसी लिये कर्मयोग को भक्तिभाव का साथ मिलना आवश्यक है। भक्ति से अन्तःप्रेरणा का कार्य होता है और जब यह तत्त्व जंचता है कि जनसेवा ही ईश्वरसेवा है, तब कर्मयोगी से निष्काम कर्म बन सकता है। भक्ति की यह महत्ता जान करही श्रीकृष्णने कर्मयोग की पूर्ति के लिये उसे भक्ति का जोड दिया है।

कर्मयोगमन्दिरको भी ज्ञानकाही कलश।

इस प्रकार कर्मयोग के मन्दिर की रचना हुई। तिस पर भी ज्ञानरूप कलसे के बिना उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। क्योंकि सभी पक्ष 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' का सिद्धान्त एकसा मानते हैं। संन्यास

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

योग हो, कर्मयोग हो अथवा भक्तियोग हो उसका पर्यवसान ज्ञान में होता है तभी कैवल्यप्राप्ति होती है। इस पर सांख्य-मार्गी या संन्यासमार्गी कहेंगे कि कर्मयोग साक्षात् मोक्ष को देनेवाला नहीं है; कर्मत्याग करके ध्यान-धारणादि नियमों का अवलंब करें तभी ज्ञानप्राप्ति होती है। इस कथन को गीता में कहीं भी आधार नहीं है। इसके विपरीत गीता कण्ठरव से कहती है कि—

संन्यासः कर्मयोगश्च निश्रेयसकरावुभौ ॥ ५।२

यदि कर्मयोग का उपयोग केवल चित्तशुद्धि के लिये ही होता, आगे चलकर उसका प्रभाव होता, तो संन्यास के साथ ही कर्मयोग भी निश्रेयसकर है ऐसा गीता कदापि न कहती। चूंकि गीताने वह बात निस्संदिग्धता से कही है, इसलिये गीता का यही मत होना चाहिये कि कर्मयोगी को आत्मज्ञान की प्राप्ति स्वतंत्र रीतिसे होती है। गीता में ऐसा कहा भी तो है कि—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥
गी० १८। १०

इसमें कहा है कि रागद्वेषादि से मुक्त त्यागी पुरुष सत्त्वसमाविष्ट, मेधावी तथा छिन्नसंशय होता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ १३।२४

इस श्लोक में बतलाया है कि भिन्न भिन्न मार्गोंसे आत्मज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है। इसमें कहीं भी नहीं कहा गया कि कर्मयोग-मार्ग दूसरे पर अवलंबित होता है। इसीसे स्पष्ट है कि प्रत्येक मार्ग पृथक् रीतिसे आत्मज्ञान करा देनेके लिये समर्थ है।

यह गीता—मन्दिर किसका है?

श्रीकृष्ण परमात्माने भव्य, दिव्य, प्रेक्षणीय, कुतूहलजनक और मोक्षमार्गदर्शक इस गीता-मन्दिर की रचना धर्मक्षेत्र-रूप कुरुक्षेत्र पर उपरोक्त रीति से अत्यन्त चतुराई से की। सांख्यसांप्रदायिकों का कर्मसंन्यास का मन्दिर समाज की आकांक्षाओं के लिये अपर्याप्त होता है, क्योंकि उसमें व्यक्तिधर्मका ही अवास्तव स्तोम है और उसमें व्यापक वर्णधर्म, समाजधर्म और राष्ट्रधर्म के लिये पूरा अवसर नहीं मिलता। यह देखकर उसी के पडोस में सनातन वैदिक-धर्म की विस्तृत नीव पर वर्णधर्म, यज्ञ,दान, तप, लोकसेवा, लोकसंग्रह इत्यादि पत्थर और त्रिगुणातीतत्व, निर्द्वंद्वत्व, निष्कामता, निरहंकारता, अनासक्ति इत्यादि मसाला काम में लाकर इस मन्दिर की रचना की गई है। इस मन्दिर पर कर्मयोग का शिखर बनाकर उसपर ज्ञानरूप कलश चढाया। मन्दिर का भीतरी भाग भक्तियोग के विविध रङ्गों से रंगाया गया। उस पर ईश्वरार्पणबुद्धि की कलम से आश्रमधर्म, वर्णधर्म, यज्ञार्थ कर्म, जनसेवा, लोकसंग्रहार्थ कर्म इत्यादि नयनवेधक चित्र खींचकर मन्दिर को अप्रतिम शोभा प्राप्त करा दी है। इस प्रकार का दिव्य मन्दिर देखकर संन्यासवादियों के मन को भी लोभ ने पछाडा। उन्होंने यह कह कर कि आज तक इस धर्मक्षेत्र में हम लोगों का एकही संप्रदाय का मन्दिर था, इस नये कर्मयोग मंदिर के नीचे का स्थान पहले हमारा ही था और इस मन्दिर के शिखरपर स्थित कलश हमारे ही कारखाने में बना है, कर्मयोगियों को भगा दिया और मन्दिर पर अधिकार कर लिया। आगे चलकर मन्दिर की भीतरी दीवालों पर जहाँ तहाँ भक्तियोग की चित्रकला का विलास देख भक्तिमार्गी सांप्रदायिक भी इस मन्दिरपर अपना हक बतलाने लगे। उस समय यह देखकर कि कर्मयोगवालोंसे विवाद उठाने में भक्तिमार्गवालों की गवाह उपयोगी होगी, संन्यासमार्गवालोंने भक्तिमार्गवालोंको मन्दिर में अपनी बराबरी से व्यवहार करने की इजाजत दी। इतनी इजाजत मिलते ही भक्तिमार्ग के सांप्रदायिकों ने मन्दिर का बहुतेरा भाग खुदही व्याप लिया। संन्यासमार्गवालों का हक केवल नाममात्र के लिये रहा, व्यवहार और सब ठाट बाट भक्तिमार्गवालोंकाही शुरू हुआ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सच्चे मालिक जो कर्मयोगी उन्हें कोई पास भी न आने देता। यदि बहुत ही जिद की तो दहलान तक आने मिलता और आगे के लिये सदा की मनाही लगी। यह अन्याय देखकर कर्मयोग के नेताओं ने अनेक बार अपना हक स्थापित करनेका प्रयत्न किया। परन्तु परिस्थिति प्रतिकूल होने के कारण सब प्रयत्न असफल हुए। समर्थ रामदास-स्वामी ने अधिक जोरदार प्रयत्न किया और उन्हें कुछ यश मिलाभी। तथापि उनके पश्चात् महाराष्ट्र में रणरङ्ग रचा रहा और समर्थ रामदास के संप्रदाय में भी उनकी परंपरा को चलानेवाले महंत बिरले ही दिखाई देने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो यश मिल चुका था वह भी हाथ से निकल गया।

लोकमान्य तिलक का कार्य।

ऐसी परिस्थिति में लोकमान्य की नजर इस मन्दिर की ओर पडी। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि के सामने और तर्कशुद्ध बुद्धि के आगे कोई भी वस्तुस्थिति छिपाई जाना संभव नहीं था। इससे उन्होंने सकृत् दर्शन से ही ताड लिया कि कर्मयोगी श्रीकृष्णने यह गीतामन्दिर धनुर्धर अर्जुन के लिये रचा; और कर्मयोगी लोग ही उसके सच्चे वारिस हैं। प्रत्यक्ष मन्दिर के अन्तरङ्ग और बहिरंग का निरीक्षण करके कर्मयोगियों के हक के संबंध में उन्होंने निश्चय कर लिया। अनन्तर संपूर्ण सबूत एकत्रित कर के उसे 'गीतारहस्य' में शामिल करके उन्होंने जनता-जनार्दनके सन्मुख अपना हक साबित करने का दावा किया। यह मुकदमा दाखिल होनेके समय से लाखों लोगों का ध्यान इस मन्दिर की ओर आकर्षित हुआ और हर कोई अपनी ओरका सबूत ढूंढने लगा। श्री शंकराचार्य के पहले का अन्य सबूत उपलब्ध न होने से आचार्य का भाष्य और बारह सौ वर्षों की कब्जियत के बल पर संन्यास-मार्गवाले अपना हक छोडने को तैयार न होते थे। परन्तु लोकमान्य तिलक कसे हुए संशोधक तथा वकील होने कारण वे जानते थे कि सबूत कहां मिलेगा। उन्होंने कुछ स्थानों में नीव खुदवाई, नीव के ऊपर के नाम रंग में डूब गये थे उन्हें खरोंचकर साफ किया, दीवाल के चित्रों में पुराने चित्र लुप्त हो गये थे वे ऊपर का रंग पोंछकर दृश्यमान किये; तब तो उन्हें बडा ही मजबूत सबूत मिला। नीव के एक पत्थरपर श्रीकृष्ण, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, अर्जुन जैसे सब राजर्षियों के नाम दिखाई दिये। उनमें एक भी ब्रह्मर्षि का नाम न था। कर्मयोग की मुख्य कमानी पर राजा जनक का भव्य चित्र था और उसके नीचे बडे बडे अक्षरों में लिखा था—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'

एक भक्तिपर चित्रके नीचे लिखा था 'मामनुस्मर युध्य च' दूसरे चित्र के नीचे—

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'

लिखकर उसके नीचे 'जनसेवा एव जनार्दन-सेवा' ऐसा उसका स्पष्टीकरण किया था। एक स्थान में संसारदर्शक अश्वत्थ वृक्ष बनाया गया था और दिखाया गया था कि एक मुमुक्षु उस वृक्षको कुल्हाडीसे तोड रहा है। उस कुठारपर 'असंग शस्त्र' नाम खुदा था, 'अकर्मशस्त्र' नाम न था। उसी के पास एक संन्यासी बताया गया था जो सर्व कर्मोंका संन्यास किये बैठा था। उसके नीचे यह संदेश लिखा था कि 'मा ते संगोस्त्वकर्मणि'। दूसरा एक संन्यासी अन्नके अभावसे मृत्यु शैय्या पर पडा हुआ दिखाया गया था और उसके नीचे-

'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः'

यह भगवद्वचन इशारेके लिये लिखा था। एक स्थानमें एक क्षत्रिय धनुष्यबाण त्यागकर भिक्षापात्र लेनेकी तैयारीमें दिखाया गया था और उसीके सामने बडे अक्षरोंमें लिखा था 'परधर्मो भयावहः'। दूसरे एक स्थानमें एक क्षत्रिय रणपण्डित अपने देशके और धर्मके रक्षणके हेतुको घोर युद्ध कर रहा था और हजारों शत्रुओं को यम सदनको भेज रहा था। उसके नीचे यह लेख खुदा हुआ था कि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यह सब असली सबूत मन्दिरकी नीवकी शिला-पर तथा दिवालपर खुदा हुआ देखकर लोकमान्य तिलकको पूर्णतया निश्चय हो गया। इस सबूतके बलपर ही उन्होंने कर्मयोगी लोगोंका गीतामन्दिरपर वारिसका हक बतलाया है। यदि न्यायाधीश पक्ष-पात-रहित होगा, तो सभी को विश्वास है कि इस दावे का फैसला लोकमान्य तिलक के पक्षको अनु-कुल ही होगा।

अस्तु। गीतामन्दिर पर किसी भी पंथकी मालि-कता सिद्ध होवे, उस मन्दिरकी शोभा देखनेके लिये तथा उसकी छायामें विश्राम करनेके लिये किसीको भी रुकावट नहीं है। केवल हिन्दू ही नहीं अपि तु अन्य किसी भी धर्मके लोग इस मन्दिर की छायामें विश्राम करनेको आवें, तो कोई हानि नहीं। यही नहीं, संसारके सब मानवी प्राणि इस मन्दिरका उपयोग करें और उसके द्वारा त्रिविध तापसे मुक्त हो जावें, तो उसमें सनातन धर्मियों को आनन्द ही है। परन्तु यदि परंपरा और वारसके बाबत विचार उपस्थित हुआ, तो ऐतिहासिक सत्य प्रतिपादन करनेके हेतु तथा प्रचलित भ्रमनिरसनके हेतु यह स्पष्ट कह देना आवश्यक है कि यह गीता मन्दिर कर्मयोगी श्रीकृष्णजीने कर्मयोगकी खण्डित पर-म्पराको पुनरुज्जीवित करनेके हेतु बनाया और अर्जुन को उपदेश करके उस परंपरा का पुनरु-ज्जीवन किया।

"गीतार्थ-सार"

(कवि— 'विवेक' कृत कविता का गद्य भाषान्तर.)

१

कुरुक्षेत्र में उपस्थित सैन्य-समूह में आप्तमित्रोंको देखकर
'इनके साथ युद्ध करना, अथवा धनुष्यबाण का त्याग करना'
ऐसा मनमें विकल्प आकर अर्जुन संभ्रम में पडा।
ऐसे इस कठिण समयपर
सम्मोह को हटाने के हेतु
कर्तव्योन्मुख करने के हेतु
कुरुक्षेत्रपर उस समय श्रीकृष्णने गीता का कथन किया॥

२

शांतिके लिये, धर्मके लिये, नयरक्षण हो इस गरजसे,
जगत् में जो सज्जन हैं, उनके कल्याण के हेतु,
भागश्री और समता का परि पालन हो इस हेतु,
चित्तमें मेरा स्मरण करके
धनुष्यबाण हाथ में लेकर
आगे बढकर युद्ध करो
इस प्रकार शुभशाली 'कर्मयोग' का अर्थात् गीताका कथन
श्रीकृष्णने किया।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

गीता-माहात्म्य ।

(श्री० ना. वि. गोलिवडेकर, औंध.)

(गद्यानुवाद)

श्रीहरीनें जो तत्त्व वाक्य अपने मुखसे कहे हैं ।
वेही गीतारूप से जनों में प्रसिद्ध हुए हैं ॥
पृथ्वीपर ऐसा दूसरा ग्रंथ नहीं है ।
जो नरको बोध करके शीघ्र संग्राम में नियुक्त करे ॥ १ ॥

(ऐसा नर) कर्म करता है, सुखकी फलाशा छोडता है ।
स्वभावतः उसकी सिद्धि स्वधर्म में रममाण होती है ॥
सकल विश्व उसके वशमें आता है ।
वह सकल जनों को देवतासे अधिक वंद्य समझता है ॥२॥

वहां (ऐसे नरके पास) ज्ञान भरा है जैसा समुद्रमें पानी । उस (ज्ञान)में क्षार नहीं है, वह ज्ञान (माधुर्यमें) अमृतको लज्जित करता है । जिसको (इस ज्ञानोदधिमें) तत्त्वबोधसे स्नान करनेका सौभाग्य प्राप्त हो । उसको जन्म मृत्युकी बाधा नहीं होती ॥३॥

जो (परमात्मा) सकल विश्वमें व्याप्त होकर निराला है ।
तरुमें काष्ठमें पाषाण में अंतराल में (जो व्याप्त है) ॥
जो समस्त भूतों के लिये एकमात्र पिता है ।
उस विश्वपालक का वर्णन शब्द कैसे करें ॥ ४ ॥

ऐसा गूढ (तत्त्वज्ञान) शब्दोंमें संकलित करनेके हेतु ।
गीताने जन्म लिया, जिससे जनों को बोध हो ॥
(हे गीते!) इसी कारण योगियोंको तुम्हारी लटक लगती है।
और ऐसा संग × करके वे निःसंग हो जाते हैं ॥ ५ ॥

समरमें भगवानने अपना मनोगत व्यक्त किया ।
(कि हे पार्थ!) युद्ध करके इन दुष्ट कौरवोंके बल को मारो ॥
पृथ्वीपर पूर्ण शान्ति और धर्म की स्थापना करो ।
तभी हे पार्थ! अंत में तुम्हारा जन्म धन्य होगा ॥ ६ ॥

×(तुम्हारा सत्संग)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाई जाती है। सायणाचार्यने 'हिरण्यं' का अर्थ सोनेकी अंगूठी किया है अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्वसाधारण होगा।

इस मंत्र पर उनका भाष्य भी इसी बातका समर्थन कर रहा है।

२ प्राण निकलनेपर प्रेतका जलस्नान।

प्राण निकल जानेपर मृत देहको जलसे स्नान कराया जाता है। इस बातका निर्देश निम्न मंत्रमें मिलता है।

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्।
अथर्व० ५।१९।१४

हे (ब्रह्मज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले! (येन मृतं स्नपयन्ति) जिससे मृत पुरुषको स्नान कराते हैं, (येन श्मश्रूणि च उन्दते) जिससे दाढीमूंछके बाल गीले करते हैं, (तं वै अपां भागं देवाः ते अधारयन्) उस जलोंके भागको अर्थात् जलको देवोंने तेरे लिए निर्धारित किया है। यहांपर जल द्वारा प्रेतको स्नान करानेका स्पष्ट रूपसे निर्देश हमें मिलता है।

३ स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना।

स्नान करानेके बाद नवीन स्मशानोचित वस्त्रके पहिनानेका निम्न मंत्रमें निर्देश है-

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपतदह यदिहा बिभः पुरा। इष्टापूर्तमनु संक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु॥ अथर्व० १८।२।५७

हे मृत पुरुष! (एतत् प्रथमं वासः) यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र (त्वा नु आ अगन्) तुझे प्राप्त हुआ है। (यत् इह पुरा अबिभः) जिस वस्त्रको पहिले यहांपर तू पहिना करता था (तत्) उस वस्त्रको (अप ऊह) छोड दे। (यत्र) जहां (ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं) तेरा प्रायः विबन्धुओंमें जो दान है, उसको (विद्वान्) जानता हुआ (इष्टापूर्तको अर्थात् तज्जन्य फलको (अनुसंक्राम) प्राप्त हो।

विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ, गरीब आदि।

इस मंत्रमें मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्यागकर शवको नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनानेका उल्लेख है।

४ स्मशान भूमिकी तरफ पयाण।

स्मशान का ग्रामसे बाहिर होना।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परिग्रामादितः। मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार॥ अथर्व० १८।२।२७

(जीवाः) प्राणधारी लोकोंने (इमं) इस प्रेतको (गृहेभ्यः) घरोंसे (अप अरुधन्) बाहिर कर दिया है (तं) उसको तुम लोक (इतः ग्रामात्) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहिरकी ओर स्मशान भूमिमें ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूतः आसीत्) यमका जो मृत्यु दूत है उस (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (असून्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिए अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दिए है। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है इस लिए इसके शवको ग्रामसे बाहिर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिए व तदनन्तर ग्रामसे बाहर लेजाना चाहिए। स्मशानभूमि ग्रामसे बाहिर होनी चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय है।

अप पूर्वक रुध् धातुका अर्थ बाहिर करना है। यहां पर मृत्युको यमका दूत बताया गया है।

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर स्नान आदि करा कर वस्त्र बदलकर उसे स्मशान भूमिमें ले जानेकी बारी आती है। हिन्दुलोक शवको, बांसोंकी शय्या बनाकर उस पर घास फूस डालकर उसे चार आदमी कंधेपर रखकर स्मशानमें ले जाते हैं।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मुसलमान लोक भी इसी प्रकारसे ले जाते हैं। ईसाई लोक गाडीमें शव डालकर श्मशानभूमिमें ले जाते हैं। नीचे दिए गए तीन मंत्रोंके सायण भाष्यसे शवको बैलगाडीमें लेजाना चाहिए ऐसा पता चलता है।

इमौ युनज्मि ते वही असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्॥
अथर्व० १८।२।५६

हे मृतपुरुष! (इमौ वही) वहन करनेवाले इन दो बैलोंको (ते वोढवे) तेरे वहन करनेके लिए (युनज्मि) बैलगाडीमें जोडता हूं। किस लिए? (असुनीताय) जिसमेंसे प्राण निकल लिए गए है, उस असुनीत अर्थात् गतप्राण देहके वहन करनेके लिए। अथवा असुनीतका अर्थ है जो कि सुखपूर्वक न लेजाया जा सके। जिसके उठानेमें तकलीफ होती हो। (ताभ्यां) उन बैलोंसे (यमस्य सदनं इति) यह यमका घर है इस प्रकार (सं अवगच्छतात्) भली भांति जान।

इदं पूर्वमपरं नियानं येनाते पूर्वे पितरः परेतः।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति
सुकृतामु लोकम्॥ अथर्व० १८।४।४८॥

(इदं) यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) आजकी (नियानं) बैलगाडी है। (येन) जिस पुरानी बैलगाडीसे (ते पूर्वे पितरः परेतः) तेरे पुरातन पितर यहांसे गए हैं। (अस्य) इस आजकी बैलगाडीके (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, (जैसा कि बैलगाडीमें बैल दोनों और पार्श्वोंमें जुते हुए होते हैं) (पुरोगवाः) अगले भागमें अर्थात् धुरामें जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतोंके लोकमें (वहन्ति) प्राप्त करावें।

नियानं=नीचीनं पराङ्मुखं यान्ति अनेन प्रेता इति नियानं शकटम्। श्मशानमें पहुचनेपर बैलोंका गाडीसे खोलना—

आ प्रच्यवेथामपतन्मृजेथां यद् वामभिभा
अत्रोचुः। अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः
पितृष्विह भोजनौ मम॥ अथर्व० १८।४।४९

हे प्रेतवाहक बैलो! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ। (तत्) उस वक्ष्यमाण (जो आगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ। उस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है, कहते हैं- (अभिभाः) दोष देनेवाले पुरुषों ने (वां) तुम दोनों को 'पुंगवौ किल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊढवन्तौ' इत्यादि निन्दारूप, (यत् ऊचुः) जो वाक्य कहा है, उससे शुद्ध होओ। (अघ्न्यौ) हे हिंसा करने के अयोग्य बैलो! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणभूत गाडी से (एतं) जो छूट आना है (तत्) वह (वशीयः) श्रेष्ठ होवे। और तब (इह) इस पितृमेध में (पितृषु दातुः मम) पितरोंका उद्देश्य करके अग्नि को देते हुए वा हविको देते हुए मेरे (भोजनौ) पालना करनेवाले होओ।

इन मंत्रोंके अनुसार बैलगाडी द्वारा प्रेतका श्मशान में ले जाना वैदिक प्रथा प्रतीत होती है।

५-श्मशानभूमिसे विघ्नकारियोंका भगाना।

अब श्मशान में प्रेतके पहुंच जानेपर जिस स्थान पर प्रेतको जलाना वा गाडना है, वहां से दुष्टोंके दूर करनेकी प्रार्थना का निम्न मंत्रोंमें उल्लेख है। तदनुसार प्रार्थना करके अगली विधि करनी चाहिए।

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः अस्य
लोकः सुतावतः। द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं
यमो ददात्ववसानमस्मै॥ यजुः अ० ३५।१॥

(देवपीयवः) देवोंकी हिंसा करनेवाले (असुम्नाः) दुःख देनेवाले (पणयः) दुष्ट व्यवहार करनेवाले लोक (इतः) इस स्थानसे जहां कि प्रेत की अंत्येष्टि करनी है, (अपयन्तु) दूर हट जावें। क्योंकि (लोकः) यह स्थान (अस्य सुतावतः) इस सोमाभिषव करनेवाले याज्ञिक का है। (अस्मै) इसके लिए (यमः) यम (द्युभिः अहोभिः) प्रकाशमान दिनों व (अक्तुभिः) रात्रियोंसे (व्यक्तं अवसानं)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्पष्ट समाप्ति(ददातु) देता है। अर्थात् इस जिवनमें अब उसके लिए दिन व रात्रिकी समाप्ति हो चुकी है। भावार्थ यह है कि यमने उसका यह जीवन समाप्त कर दिया है, अब उसके लिए दिन व रात्रि नहीं होनी हैं। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि हे दुष्टलोको! इस स्थान से भाग जाओ जहां कि हम ने इस प्रेतका अंत्येष्टि-संस्कार करना है, जिससे कि संस्कारमें तुम विघ्न न डाल सको। इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना है। मंत्र इस प्रकार है -

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ ऋ० १०।१४।९॥
अथर्व० १८।१।५५॥

हे दुष्टो! (अपेत) यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (विसर्पतातः) सर्वथा हट जाओ। क्योंकि (अस्मै) इस मृत पुरुषके लिए (पितरः एतं लोकं अक्रन्।) पितरोंने यह स्थान (स्मशान-भूमिका) किया है-- चुना है- निर्धारित किया है। शेष उत्तरार्धका अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है। केवल 'अद्भिः' पद विशेष है, जिसका शब्दार्थ है जलोंसे। परन्तु यह पेय पदार्थोंके लिए यहां आया है। मरनेपर सांसारिक पेय पदार्थोंकी भी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह मंत्रभी उपरोक्त प्रयोजनके लिए ही है।

अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः। अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै ॥ यजुः १२।४५

(ये) जो तुम (पुराणाः) पुरातन विघ्नकर्ता और (ये नूतनाः) जो तुम नवीन विघ्नकारी लोक (अत्र) यहां स्मशान-भूमिमें (स्थ) हो वे तुम (अपेत) यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (विसर्पतातः) सर्वथा हट जाओ। क्योंकि (यमः) यमने (अस्मै) इस मृतके लिए (पृथिव्याः अवसानं अदात्) पृथिवीकी समाप्ति दी है यानि इसका पृथिवीपरका जीवन समाप्त कर दिया है इसलिए (पितरः) पितरोंने इसके लिए (इमं लोकं) यह स्मशानभूमिका स्थान (अक्रन्) किया है यानि चुना है क्योंकि इसका यहां अंत्येष्टि-संस्कार होना है। इस प्रकार इन मंत्रोंमें स्मशानमें विघ्नकारीओंके भगानेका उल्लेख है तदनुसार उन्हे भगाकर अगली विधि करनी चाहिए ऐसा इन मंत्रोंका आशय है।

(६) प्रेतको जलाना, गाडना आदि।

प्रेतके स्मशानभूमिपर पहुंच जानेके अनन्तर उसे गाडने, बहाने, जलाने वा हवामें खुला छोडनेकी क्रिया की जाती है। नीचे लिखे मंत्रमें इन इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तानग्ने आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
अथर्व० १८।२।३४

(अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये पराप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीनके ऊपर हवामें रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरोंको तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ।

यहांपर चार प्रकारके स्मशान-कर्म दर्शाए गए हैं। (१) गाडना, (२) बहाना, (३) जलाना और (४) हवामें जमीनपर खुला छोडना।

(१) गाडना-कुछ प्रेत जमीनमें गाडे जाते हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता। ये कौन हैं इसपर हमने थोडासा विचार करना है। जो मनुष्य संन्यासी होकर अपना देहत्याग करते हैं उनके देहको न जलानेके लिए स्मृतियोंमें कहा गया है, क्योंकि संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हुए पुरुषका सर्वमेध याग करना पडता है। इस यागमें वह अग्निसंबन्धी सर्व कार्योंसे मुक्त हो जाता है। अतएव उसे मरनेपर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता। संन्यासीके शरीरको जलाना चाहिए वा नहीं इस विषयमें अभीतक हमें श्रुतिका निश्चय ज्ञात नहीं है, पर स्मृति इनकार करती है। अतः 'निखात' से संन्यासीका भी ग्रहण किया जा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें खास करके मुसलमान व ईसाई लोक मुर्दोंको न जलाते हुए गाडते हैं। अतः उनके प्रेतोंका भी निखातसे ग्रहण किया जा सकता है, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मुर्दैकी चार अवस्थायें हो सकती हैं उनमेंसे एक निखात है।

(२) जलाना वा
(३) जलमें बहाना] ये दो अवस्थायें खास कर हिन्दुओंमें पाई जाती हैं।

(४) जमीनपर वायुमें रखना यह चौथी अवस्था पारसीओंमें पाई जाती है।

इस प्रकार ये चारों अवस्थायें वर्तमान समयमें हमें मिलती हैं। वेदमें मृतोंके दो विभाग मिलते हैं (१) अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें जलाए जाते हैं तथा (२) अनग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें नहीं जलाए जाते। अनग्निदग्धमें जलानेकी अवस्थाको छोडकर शेष तीनों अवस्थायें अन्तर्हित हो सकती हैं।

यदि हम सूक्ष्म रीतिसे हिन्दुओंके अंत्येष्टिसंस्कारका अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थायें चिन्हरूपमें उनके अंत्येष्टि संस्कारमें विद्यमान हैं। इससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रथायें हिन्दुओंमें प्रचलित होंगी। यद्यपि इस समय वे संकेत रूपमें ही अवशिष्ट रह गई हैं। इस समयका हिन्दुओंका प्रेतसंस्कार इन संकेतों सहित इस प्रकारसे होता है। इसे देखनेसे ऊपरका परिणाम स्पष्ट प्रतीत होगा।

(१) प्रायः आजकल हिन्दुलोक मुर्दा अग्निमें जलाते हैं और जलानेके बाद तीसरे दिन (२) एक अश्मा (पत्थर) लेकर उसको जमीनमें रख देते हैं। इसी प्रकार मृतकी हड्डियां चुनकर एक मिट्टीके बरतनमें रखते हैं अथवा वृक्षपर लटका देते हैं। अथवा (३) बहुतसे लोक समीपस्थ नदी या समुद्रमें बहा देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोक सीधा मुर्दैकोही नदीमें बहा देते हैं। यदि इतनाभी न हो सका तो चावलों वा आटेका पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पूजा कर उस पिण्डको बहा देते हैं। (४) मरने बादके दसवे दिन उपरोक्त कथनानुसार पिण्ड बनाकर घरके बाहिर खुला रख देते हैं, ताकि उसे कौवा स्पर्श करें। जबतक कौवा स्पर्श नहीं करता, तबतक अंत्येष्टिक्रिया पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है। यह संकेत हवामें मुर्दैको पारसियोंकी तरह खुला छोडने की क्रिया का है।

इस प्रकार ये चारों विधियां केवल हिन्दुओंमें भी किसी रूपमें पाई जाती हैं यह हम देख सकते हैं। उपरोक्त मंत्रमें जो चार विधियां दर्शाई गई हैं वे ये ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं। अतएव 'ये उद्धिताः' अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं यानि जो हवामें जमीन के ऊपर रख दिए हैं, यही प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ये परोप्ताः' का अभिप्राय जो जलद्वारा दूर बहा दिए हैं यही प्रतीत होता है। अस्तु इसमें कही गई अवस्थाओंपर हमने यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कोशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचार कर उचित निष्कर्ष निकालें।

नीचे लिखे तीन मंत्रोंमें प्रेतके जमीनमें गाडनेका उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार हैं—

अभित्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि॥
अथर्व० १८।२।५२॥

हे प्रेत! (त्वा) तुझे (मातुः पृथिव्याः) माता पृथिवीके (भद्रया वस्त्रेण) कल्याणकारी वस्त्रसे (अभि ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। (जीवेषु भद्रं तत् मयि) जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और (पितृषु स्वधा) जो पितरोंमें स्वधा है (सा त्वयि) वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहां पर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है।

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥
अथर्व० १८।२।५०॥

हे मृत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिसप्रकार पुत्र को माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओर से ढांप। इस मंत्रके पूर्वार्धकी उत्तरार्धसे कैसे संगति है यह अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। उत्तरार्ध का भाव स्पष्ट है।

अमौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः।
अभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ अथर्व० १८।४।६६॥

(अमौ) हे फलाने नामवाले प्रेत! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चे को वस्त्रसे ढांपती हैं या कुल स्त्रियां अपने सिरको ढांपती है उस प्रकार (एनं) इस प्रेतको (अभि ऊर्णुहि) भली प्रकार ढांप।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें प्रेतके जमीन में गाढने का उल्लेख है। इससे गाढनेकी प्रथाभी वैदिक ही है यह पता चलता है। अब तक अन्त्येष्टिके मंत्रोंको देखने से हम कह सकते हैं कि हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदियोंमें जो मुर्देके जलाने गाडने आदिकी प्रथायें प्रचलित हैं, वे सब वैदिक हैं। या यूं कह सकते हैं कि वे सब वेदोंसे उनके पास गई हुई हैं। उनका आदि स्रोत वेद ही है।

(७) अंत्येष्टि-संस्कार।

काष्ठ संचय करके उस पर प्रेत रखकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर निम्न मंत्रोंसे अग्निसे प्रार्थना की जाती है। आवश्यक दो एक मंत्र हम यहां देते हैं।

मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः॥ ऋ० १०।१६।१॥

(अग्ने) हे अग्नि! (एनं मा विदहः) इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। (मा अभिशोचः) इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी त्वचा को मत बखेर। (मा शरीरं) इसके शरीर को भी मत बखेर। अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर को पूर्णतया जला दे कोई भी भाग जलने से अवशिष्ट न रह जावे। और (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं कृणवः) जब इसे पूर्णतया पक्व बना दे अर्थात् जलादे, (अथ) तब (एनं) इसको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरों के लिए भेज दें यानि पितृ लोकमें पितरों के पास पहुंचा दे।

यह मंत्र अथर्व वेद (१८।२।४) में भी आया है। इस मंत्र को हम पहिले 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहांपर जो कुछ विशेष वक्तव्य इस मंत्रपर था वह दे आए हैं अतः यहां पुनः लिखना व्यर्थ है।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति॥ ऋ० १०।१६।२॥

हे जातवेदस् अग्नि! जब इस प्रेत को पूर्णतया दग्ध कर दे तब इसे पितरों के लिए सौंप दे। जब इस प्रेत के प्राण निकल जाते हैं तब यह देवों के वशमें होता है।

यह मंत्र भी पूर्ण व्याख्यासहित उपरोक्त मंत्रके साथ 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहांपर देखने से यह मंत्र स्पष्ट हो जायगा।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः॥ यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ऋ० १०।१६।४॥ अथर्व० १८।२।८॥

(अजः भागः) हे अग्नि इस प्रेत का जो अज-भाग (आत्मा) है (तं) उसे तू (तपसा तपस्व) अपने तपसे तपा। (तं) उस अजभाग को (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) उस अज भागको (ते अर्चिः) भासमान ज्वाला (तपतु) तपावे। और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (याः ते शिवाः तन्वः) तेरे जो कल्याण-कारी ज्वालारूपी तनू हैं (ताभिः) उन द्वारा इस अज भाग को (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालों के लोकमें (वह) प्राप्त करा।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस मंत्र से भी वही परिणाम निकलता है, जैसा कि हम पहिले दर्शा आए हैं, यानि शरीर के जल जाने तक आत्मा शरीर के पासही रहती है और शरीर दहन के अनन्तर अग्नि द्वारा अन्यत्र ले जाई जाती है। यह सम्पूर्ण सूक्त इसी भावके मंत्रोंवाला है जिस का कि अंत्येष्टि में विनियोग होता है। इस प्रकार प्रेतदहन के समय अग्नि से प्रार्थनायें करनी चाहिए ऐसा इन मंत्रों का अभिप्राय है।

उपरोक्तानुसार अग्निसे प्रार्थनायें करके अंत्येष्टि-परक मंत्रों से अग्निमें आहुतियां देनी चाहिए। यजुर्वेद का ३९ वां अध्याय अंत्येष्टिपरक है। हम यहां वेही मंत्र देंगे जिनका कि हमारे प्रकरण से संबन्ध है अर्थात् जिन मंत्रों में यम वा पितर विषयक किसी प्रकार का निर्देश है।

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा।
ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो
देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥
यजुः ३९।१३॥

(यमाय स्वाहा) यम के लिए स्वाहा। (अन्तकाय स्वाहा) अन्तक के लिए स्वाहा। (मृत्यवे स्वाहा) मृत्युके लिए स्वाहा। (ब्रह्मणे स्वाहा) ब्रह्मके लिए स्वाहा। (ब्रह्महत्यायै स्वाहा) ब्रह्महत्या के लिए स्वाहा। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) सर्व देवों के लिए स्वाहा। (द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा) द्यु तथा पृथिवी के लिए स्वाहा।

इस मंत्रमें यम के लिए भी एक आहुतिका निर्देश है। इसी प्रकार के अन्य मंत्रों से आहुतियां देकर प्रेत से कहा जाता है कि हे प्रेत!—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ
पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र
ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥ ऋ०१०।१६।३
अथर्व० १८।२।७॥

तेरी आंख सूर्यको जावे। तेरे प्राण वायु को जावें। और हे प्रेत! तू कर्मफलजन्य धर्म से वा पार्थिवादि तत्वोंके धर्म से (पृथिवीका अंश पृथिवीमें जावे इस प्रकारसे) द्यु व पृथिवी को जा, उन उन के अंश उनमें मिल जावें। इसी प्रकार जलोंमें जलांश जावे यदि जलों का कोई अंश तेरे में स्थित हो। इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो। इस मंत्रपर जो विशेष वक्तव्य था वह हम पहिले दे आए हैं। इस प्रकार प्रेत का अग्नि संस्कार हो जानेपर उसकी आत्मा से कहा जाता है कि—

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥
ऋ० १०। १५४। ५॥ अथर्व० १८। २। १८॥

(सहस्रणीथाः कवयः) हजारों को ले जानेवाले अर्थात् हजारों के नायक, क्रान्तदर्शी, (ये) जो कि (सूर्यं गोपायन्ति) सूर्य की रक्षा करते हैं, ऐसे (तपस्वतः) तपोयुक्त, (तपोजान्) तप से उत्पन्न (ऋषीन्) ऋषियों को (यम) हे नियमवान्! तू (गच्छतात्) प्राप्त हो, अर्थात् इनमें जाकर तू जन्म ले।

८ प्रार्थनायें।

इस प्रकार प्रेतदहन की क्रिया समाप्त हो जाने पर उसके लिए पीछेसे की जानेवाली प्रार्थनाओंका उल्लेख निम्न मंत्रों में है।

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरङ्कृतः॥
अथर्व० २। १२। ७॥

(ते) तेरे (तान् सप्त प्राणान्) सात प्राणोंको, (अष्टौ मन्यः) आठों नाडियों को (ब्रह्मणा) ब्रह्म से (वृश्चामि) काटता हूं। तू (अग्निदूतः) अग्नि को दूत बनाकर (अरंकृतः) शीघ्रता करता हुआ (यमस्य) यमके (सादनं) घरको (अयाः) जा।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे
व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व
तन्वा सुवर्चाः ॥ ऋ० १०। १४। ८॥
अथर्व० १८। ३। ५८

(परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्ग में (पितृभिः) पितरों के साथ (संगच्छस्व) तू जा। (यमेन सं) और यमके साथ स्वर्ग में जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टा पूर्तके साथ स्वर्गमें जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्द्य कर्मोंका त्याग करके (पुनः) फिर (अस्तं एहि) घरको आ, अर्थात् पुनर्जन्म

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ले। और (सुवर्चाः) उत्तम तेजसे युक्त हुआ हुआ (तन्वा संगच्छस्व) शरीर धारण करके दुनियामें विचरण कर।

भिन्न भिन्न अर्थमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग।

पितृ शब्द वाले मंत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुवचनमें प्रयुक्त पितृशब्द खास अभिप्रायसे प्रयुक्त किया गया है। एकवचन व द्विवचनमें आया हुआ पितृ शब्द खास महत्त्वका नहीं है यह बात आगे दीये जानेवाले मंत्रोंके समन्वयसे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। अबतक आए हुए मंत्रोंके देखनेसे पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात अवश्यमेव ओगई होगी, कि उन मंत्रोंमें सर्वत्र बहुवचनान्त पितृशब्द ही प्रयुक्त है। इस प्रकरणमें हम उन थोडेसे मंत्रोंको देंगे कि जिनमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग उस अभिप्रायसे नहीं किया गया, जिस अभिप्रायसे कि अबतकके मंत्रोंमें किया गया है। पाठक वर्ग हमारे इस कथनका अनुभव स्वयमेव मंत्रोंके देखनेसे कर सकेंगे। यह प्रकरण, अबतकके मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके प्रयोगका अभिप्राय आगे आनेवाले मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके अभिप्रायसे भिन्न है। यह दर्शाता हुआ हमें पूर्वोक्त मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें पूर्ण सहायक होगा ऐसी आशा है। इस प्रकार यह प्रकरण बहुवचनान्त पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें महत्त्वशाली होगा, यह पाठकोंको यहांपर ध्यानमें रखना चाहिए।

१ हिंसा अर्थमें।

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः।
हतासो वां पितरो देवशत्रवः इन्द्राग्नी
जीवथो युवम्॥ ऋ० ६।५।९॥

हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम दोनों (सुतेषु यानि वीर्या चक्रथुः) उत्पन्न पदार्थोंमें जो पराक्रम करते हो, उनका (नु) निश्चयसे (प्रवोचा) मैं प्रवचन करता हूं। अब प्रवचन का प्रकार बताते हैं-हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम्हारे (पितरः) हिंसा करने वाले (देवशत्रवः) देवोंसे शत्रुता करने वाले (हतासः) नष्ट हागए हैं। (युवं) तुम दोनों (जीवथ) जीवित हो।

पितरः-पियति हिंसाकर्मा धातुसे पितर शब्द बनाया गया है क्योंकि देवशत्रुका यह विशेषण है। अतः यहां पितरका अर्थ हिंसा करनेवाले ही है। मंत्र भी इस अर्थका पोषक है।

२ ज्ञानी लोक पितर।

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः। नोपस्पिजं वः पितरा वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्॥ ऋ. १०।८८।१८

(अग्नयः कति) अग्नियां कितनी हैं? (सूर्यासः कति) सूर्य कितने हैं? (उषासः कति) उषायें कितनी हैं?(आपः कतिस्वत्) भला आप कितने हैं? (कवयः पितरः) हे क्रान्तदर्शी ज्ञानी पितरो! (वः उपस्पिजं न वदामि) तुम्हारी स्पर्धा करता हुआ यानि परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उपरोक्त प्रश्न नहीं पूछता हूं अपितु मैं नहीं जानता अतः (विद्मने) जाननेके लिए (वः पृच्छामि) तुमसे पूछता हूं। मंत्र स्पष्ट है। ज्ञानी लोकोंको पितरसे संबोधन किया गया है।

३ राज-सभाके सभासद पितर।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ अथर्व० ७।१२।११

(संविदाने) परस्पर मेल रखनेवाली एक मतको प्राप्त हुई हुई (प्रजापतेः) प्रजापति राजाकी(दुहितरौ) दो दुहितायें(सभा च समितिः च) सभा और समिति (मा) मेरी (अवतां) रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिस जिस सभासदसे मैं संगत होऊं यानि उसकी संगति करूं (सः) वह वह सभासद (मा उपशिक्षात्) मुझे शिक्षा दे। (पितरः) हे सभासदो! (संगतेषु) संमेलनोंमें मैं (चारु वदानि) प्रिय बोलूं।

इस मंत्रमें राजाकी राजसभासदोंके प्रति उक्ति है। उनको पितरके नामसे कह गया है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

४ सैनिक पितर।

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः। चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः॥

ऋ० ६। ७५। ९॥ यजुः २९। ४६॥

इस मंत्रकी देवता 'रथगोपाः' अर्थात् लडाई में रथरक्षक सैनिक हैं। अर्थ इस प्रकार है—

(स्वादुषंसदः) शत्रुओंके अन्न में बैठनेवाले वा शत्रुओंके अन्नका नाश करनेवाले, (वयोधाः) अन्न देनेवाले (कृच्छ्रेश्रितः) कठिनाईयोंमें भी स्थिर रहनेवाले (शक्तीवन्तः) शक्तिवाले या शक्ति नामक अस्त्रसे युक्त (गभीराः) गंभीर, (चित्रसेनाः) दर्शनीय सेनावाले, (इषुबलाः) बाण है बल जिनका अर्थात् बाणसे लडनेवाले (अमृध्राः) जिनकी शत्रुओंसे हिंसा नहीं हो सकती ऐसे, (सतोवीराः) वीर्यशाली, (उरवः) विशालकाय, (व्रातसाहाः) शत्रुसमुदाय का पराजय करनेवाले (पितरः) रक्षा करनेवाले रथरक्षक होते हैं।

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा। पूषा नः पातु दुरितादृता-वृधो रक्षा मा किर्नो अघशंस ईशत॥

ऋ० ६। ७५। १०॥ यजुः २९। ४७॥

यह मंत्र ऊपरोक्त मंत्रसे अगला मंत्र है। यह संपूर्ण सूक्त युद्धविषयक है। इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार है–

(ब्राह्मणासः) हे ब्रह्मज्ञानी, (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले अर्थात् यज्ञादि कर्मोंके करनेवाले (ऋतावृधः) सत्यसे बढनेवाले वा सत्यको बढानेवाले (पितरः) रक्षको! (अनेहसा द्यावापृथिवी) अहिंसक द्यु तथा पृथिवी (नः शिवे) हमारे लिए कल्याण के करनेवाले हों। (पूषा) पोषक सेनापति (नः) हमारी (दुरितात्) पापसे (पातु) रक्षा करे और (मा किः अघशंसः नः ईशत) कोईभी पापी हमारे ऊपर शासन मत करे। (रक्षा) उससे पूषा हमारी रक्षा करे।

इन मंत्रोंमें सैनिकोंको पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

५ प्राण-पितर

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते ते॥ ऋ० १०।१३०।१॥

(यः यज्ञः) जो यह जीवनरूपी यज्ञ (विश्वतः तन्तुभिः) चारों ओरसे क्षण, दिन,मास वा वर्षरूपी तन्तुओंसे (ततः) लम्बाईमें विस्तृत है और (एकशतं देवकर्मेभिः) एक सौ देवकर्मोंसे अर्थात् सौ वर्षकी आयुसे (आयतः) चौडाईमें फैला हुआ है उस यज्ञको (इमे पितरः) ये जीवनाधार प्राण पितर (वयन्ति) बुनते हैं। (ये आययुः) जो कि प्राण इस यज्ञमें आए हुए हैं, वे (ते आसते) इस विस्तृत जीवन-यज्ञमें बैठते हैं व कहते हैं कि (प्रवय अपवय) आगे बुनते जाओ और पीछेका ठीक करते जाओ।

इस मंत्रमें कपडे बुननेके अलङ्कारसे जीवनरूपी वस्त्रका वर्णन है। प्राण इस जीवनके रक्षक होनेसे पितर हैं।

स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा प्रावभ्यः स्वाहा प्रतिरवेभ्यः। स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः॥ यजुः अ० ३८।१५॥

इस संपूर्ण मंत्रका अर्थ हम यहां नहीं देंगे क्यों कि हमारा प्रयोजन सिर्फ 'स्वाहा पितृभ्यः उर्ध्वबर्हिभ्यः' इतनेसे ही है। अतः इतने ही मंत्र खंडक अर्थ हम देंगे।

(उर्ध्वबर्हिभ्यः पितृभ्यः स्वाहा) शरीरमें जिनकी उत्कृष्ट स्थिति है ऐसे प्राणोंके लिए स्वाहा। संपूर्ण मंत्रमें 'पूष्णे, शरसे' आदि प्राण के लिए हैं। अतः 'ऊर्ध्वबर्हि' विशेषण प्राणों का है। यह मंत्र शतपथ में इसी प्रकार व्याख्यात है। देखो श० १४।२।२।३२॥

६ पालकरक्षक आदि अर्थ में।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥ ऋ० १।८९।९॥ यजुः २५।२२॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(देवाः) हे देवो ! (नु) निश्चयसे (शतं इत्) सौ ही (शरदः) वर्ष (अन्ति) मनुष्यके पास हैं। (यत्र) जिन सौ वर्षोंमें आप देवगण (नः तनूनां जरसं चक्रा) हमारे शरीरों में बुढापा लाते हो। (यत्र) और जिन सौ वर्षोंमें (पुत्रासः) पुत्रगण (पितरः) संतानोत्पत्ति के लायक होकर व अन्योंका पालन करनेके लायक होकर पितर बनते हैं। इस सौ वर्ष की (आयुः) आयुको (गन्तोः मध्ये) पूर्ण रूपसे प्राप्त करने से पहिले ही बीचमें (नः) हमें (मा रीरिषत) मत नष्ट करो।

त्राता नो बोधि ददृशानः आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः पितृणां कर्तेषु लोकमुशते वयोधाः ॥

ऋ० ४।१७।१७॥

वह इन्द्र (नः) हमारा (त्राता) रक्षक, (ददृशानः) हमारा देखनेवाला, (अभिख्याता) उपदेश करनेवाला, (मर्डिता) सुख देनेवाला, (सखा) मित्र, (पिता) पालक, (सोम्यानां पितृणां पितृतमः) सोम्य पितरों में श्रेष्ठ पिता,(कर्ता) बनानेवाला, तथा (लोकं उशते) लोकों की कामना करनेवाले के लिए (वयोधाः) अन्न-बल-आयु का देनेवाला है, इस प्रकार हे उपासक! (बोधि) तू जान।

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः। उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरु रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः ॥

ऋ० १०।६४।१४॥

(मातरा) सब जगत् की निर्माण करनेवाली, (मही) बडी (देवी) दिव्य गुणोंवाली (यज्ञिये) पूजनीय (ते द्यावापृथिवी) वे द्यावापृथिवी (देवान्) देवोंको (जन्मना इतः) जन्मसे प्राप्त करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न करती हैं। (उभे) दोनों द्यु और पृथिवी (भरीमभिः) भरणपोषणसे (उभयं बिभृतः) दोनों मनुष्य व देवोंका धारण पोषण करती हैं। और (पितृभिः) पालक इन्द्रादि देवोंके साथ मिलकर (पुरु रेतांसि) बहुत जलोंसे (सिञ्चतः) सिंचन करती हैं अर्थात् प्रखर वृष्टि करती हैं।

७ इषु पितर।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

अथर्व० ३।२७।२॥

दक्षिण दिशाका इन्द्र अधिपति है। वह तिर्यक् गतिवाले सर्पादिसे रक्षा करनेवाला है। इसके बाण पितर हैं अर्थात् रक्षक हैं। इत्यादि।

इस मंत्रमें बाणोंको पितर कहा गया है, क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

जनकपितर।

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः। वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितृणां न शंसाः सुरातयः॥ ऋ०१०।७८।३॥

(ये) जो मनुष्य (वातासः न) वायुओंकी तरह (धनुयः) शत्रुओंको कंपानेवाले हैं, तथा जो (जिगत्नवः) क्रियाशील (Active) (अग्नीनां जिह्वाः न) अग्नियों की ज्वालाओंकी तरह (विरोकिणः) दीप्यमान हैं;और जो (वर्मण्वन्तः योधाः न) कवचधारी योद्धाओंकी तरह (शिमीवन्तः) शूरता के कार्योंके करनेवाले हैं, व (पितृणां शंसाः न) जनक पितरोंकी वाणियों की तरह (सुरातयः) उत्कृष्ट दान देनेवाले हैं, ऐसे मनुष्य हमारी सर्वदा रक्षा किया करें।

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते। अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः॥

ऋ० १०।९४।१२॥

(वः) तुम्हारे (पितरः) उत्पन्न करनेवाले (ध्रुवा एव) निश्चयसे स्थिर हैं। तुम (युगे युगे) युग युगमें (क्षेमकामासः) कल्याण करनेकी इच्छावाले हो इत्यादि। इस संपूर्ण सूक्तमें 'यज्ञमें सोमलता से सोम निकालने के लिए लाए हुए पत्थरोंका वर्णन है।'

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

८ पूर्वज पितर

चाकल्प्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥ ऋ० १०।१३०।६॥

(पुराणे यज्ञे जाते) पुरातन यज्ञके हो जानेपर (तेन) उस यज्ञ द्वारा (ऋषयः) ऋषिगण, (मनुष्याः) अन्य मनुष्य समुदाय व (नः पितरः) हमारे पूर्वज (Fore-fathers) (चाकल्प्रे)उत्पन्न हुए। (ये पूर्वे इमं यज्ञं अयजन्त) जिन पूर्वकके देवोंने इस सृष्ट्युत्पत्तिरूपी यज्ञको किया था (तान्) उन देवोंको (मनसा चक्षसा) मनरूपी आंखसे अथवा (चक्षसा मनसा) सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेके साधनभूत मनसे (पश्यन्) देखता हुआ मैं (मन्ये) उन देवोंका मनन करता हूं।

यह सूक्त सृष्ट्युत्पत्तिपर कुछ कुछ प्रकाश डालता हुआ प्रतीत होता है। इस मंत्रमें आए हुए ऋषि, पितर व मनुष्य संभवतः क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यके द्योतक प्रतीत होते हैं, जैसा कि पुरुषसूक्तमें सृष्ट्युत्पत्तिमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यकी उत्पत्ति दर्शाई गई है। क्षत्रियोंके लिए पितरका प्रयोग वेदमें हुआ है, जैसा कि अभी हम ऊपर दर्शा आए हैं।

ऋतुपितर।

नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे,नमो वः पितरः पितरो नमो वः गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मै तद्वः पितरो वासः॥यजुः अ०२।३२॥

इस मंत्र पर शतपथ ब्राह्मणने इतनीही टिप्पणी चढाई है कि 'इस मंत्रमें ६ वार नमस्कार हैं वह इस लिए है कि क्योंकि६ऋतुएं होती हैं। शतपथका वचन इस प्रकार है- 'षट्कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतवः ऋतवः पितरः तस्मात् षट् कृत्वो नमस्करोति—।

श० २।४।२।२४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें ऋतुओंको पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। ब्राह्मणोंमें स्थान स्थानपर ऋतुओंको पितर कहा गया है। उदाहरणार्थ—

श० २।६।१।४॥ कौ० ५। ७॥ गो उ० १। २४॥ तथा ६। १५॥ श० २। ६।१। ३२॥ तै० १।४।१०।८॥ तथा १।३।१०। ५॥

इत्यादि। इस स्थापनानुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(पितरः) हे पितरो ! (वः रसाय) तुम्हारी रसभूत वसंत के लिए (नमः) नमस्कार है। वसन्तऋतु में मधु आदि रसका बाहुल्य होता है अतः रससे यहां वसन्त ऋतुका उपलक्षण है। (पितरः वः शोषाय नमः) हे पितरो ! तुम्हारी शोषक ग्रीष्मके लिए नमस्कार है। ग्रीष्ममें गरमी पडनेसे सब रस सूख जाते हैं अतः शोषकसे ग्रीष्म का यहां ग्रहण किया गया है। (पितरः वः जीवाय नमः) हे पितरो! तुम्हारी जीवनदात्री वर्षाके लिए नमस्कार है। जीवन नाम जलका है क्योंकि वह जीवन देता है। वर्षाऋतु जीवनदात्री है। (पितरः वः स्वधायै नमः) हे पितरो ! तुम्हारी अन्न देनेवाली शरद् ऋतुके लिए नमस्कार है। स्वधा नाम अन्नका है। और शरद् ऋतुमें अन्न बहुत होता है। स्वधा शरद् ऋतुकी उपलक्षण है। (पितरः वः घोराय नमः) पितरो ! तुम्हारी शीतयुक्त हेमन्तके लिए नमस्कार है। हेमन्तमें बडा घोर शीत पडता हैं अतः घोरसे हेमन्तका ग्रहण है। (पितरः वः मन्यवे नमः) हे पितरो ! तुम्हारी मन्युभूत शिशिर के लिए नमस्कार है। शिशिरऋतुमें औषधियां जल जाती हैं,अतः तत् सादृश्यसे मन्यु शिशिरका उपलक्षण है। (पितरः) हे पितरो ! (नः गृहान् दत्त) हमें घर दो अर्थात् हमारे घरोंको समृद्ध करो। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (सतः देष्मै) जो कुछ हमारे घरमें है हम देंगे। हे पितरो! (वः एतत् वासः) तुम्हारा यह वस्त्र है अर्थात् यह ओढने पहिरनेका साधन है उसे लो। शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्रकी व्याख्यामें नमः का अर्थ यज्ञ किया है इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन प्रत्येक ऋतुमें यज्ञ करना चाहिए व उस उस ऋतुमें उत्पन्न पदार्थकी यज्ञमें हवि डालनी चाहिए।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

गो-संयामक पितर।

न किरेषां निन्दिता मर्त्येषु येऽस्माकं पितरो गोषु योधाः। इन्द्र एषां दंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥ ऋ० ३।३९।४॥

(ये अस्माकं पितरः) ये जो हमारे पितर (गोषु योधाः) इन्द्रयोंसे लडनेवाले हैं (एषां) इनका (मर्त्येषु) मनुष्योंमें (न किः निन्दिता) कोई भी निन्दक नहीं है। (माहिनावान्) अत्यन्त पूजनीय वा महिमावाला तथा (दंसनावान्) कर्मशील (इन्द्रः) आत्मा (एषां गोत्राणि) इनके इन्द्रियसमूहोंको (दंहिता उत्ससृजे) दृढ बनाता है।

इस मंत्रमें गोशब्द इन्द्रियवाची है। इन्द्रियोंको वश करनेके लिए मनुष्यको उनके साथ युद्ध करना पडता है। जो योद्धा इन्द्रियोंपर विजय पालेता है अर्थात् उन्हें अपने काबुमें कर लेता है, उसका फिर दुनियामें कोई भी निन्दक नहीं रहता, क्योंकि इन्द्रियां ही निन्दाकी जड हैं। इन्द्रिय-संयम करना वस्तुतः एक बडी भारी लडाई फतेह करना है। अतएव यहां इन्द्रियसंयम करनेवाले पितरोंको योद्धा के नामसे पुकारा गया है। इन्द्रियसंयम होनेपर आत्मा उन्हें दृढ बनाती है। संयमित इन्द्रियोंवाले पुरुष को सुख दुःख आदि द्वन्द्व कदापि सता नहीं सकते। उसका इन्द्रियसमूह इतना दृढ बन जाता है कि उसे सांसारिक कोईभी आपत्ति सता नहीं सकती। इस प्रकार इस मंत्रमें इन्द्रियसंयमका महत्त्व दर्शाया है।

सोम और पितर।

त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पंथाम्। तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥ ऋ० १।९१।१॥ यजुः १९।५२॥

हे सोम! (त्वं मनीषा प्रचिकितः) तू अपने मन की गतिसे यानि अपनी बुद्धिसे सब उचित अनुचितको जानता है, इसलिए (त्वं) तू (रजिष्ठं पन्थां अनुनेषि) सरल व सुगम मार्गपर अपने पीछे पीछे लेजाता है। (इन्दो) हे इन्दु! (तव प्रणीती) तेरे नेतृत्व (Leading) से (नः धीराः पितरः) हमारे धीर पितर (देवेषु रत्नं अभजन्त) देवोंमें रत्नको प्राप्त करते हैं अर्थात् देवोंमें शिरोमणि बन जाते हैं, या देवोंसे रत्न यानि संपत्ति प्राप्त करते हैं।

इन्दु-उन्दी क्लेदनेसे इन्दु शब्द बनता है। क्लेदनका अर्थ है गीला होना। अमृतसे गीला करनेवाला यानि अमृत देनेवाला। सौम्य गुणोंसे युक्त।

इस मंत्रमें सोमके नेतृत्व की महिमा दर्शाई है। पितर सोमके नेतृत्वसे देवोंमें उच्च पदको प्राप्त करते हैं, ऐसा यहां से पता चलता है।

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश। तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम॥ ऋ० ८।४८।१२॥

हे (पितरः) पितरो! (यः हृत्सु पीतः) जो हृदयोंमें पिया गया (अमर्त्यः इन्दुः) मरणरहित इन्दु (नः मर्त्यान्) हम मरणधर्मा मनुष्योंमें (आविवेश) प्रविष्ट हुआ हुआ है, (तस्मै सोमाय) उस सोमके लिए (हविषा) हविद्वारा (विधेम) हम पूजा करते हैं। (अस्य) इस सोमके (मृळीके) सुखमें और (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) हम रहें।

इस मंत्रमें सोमको हवि देनेका व सुखेच्छुको सोमकी सलाहमें रहनेका निर्देश है। यह सोम हमारेमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, यह बात भी यहांसे पता चल रही है।

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ। तस्मै ते इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ऋ० ८।४८।१३॥ यजुः १९।५४॥

हे सोम! (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) पितरोंके साथ मिला हुआ (द्यावापृथिवी) द्युलोक व पृथिवी लोकका (अनु आ ततन्थ) अनुकूलतासे विस्तार करता है। (इन्दो) हे इन्दु! (तस्मै ते) उस तेरे लिए हम (हविषा विधेम) हवियोंसे पूजा करते हैं, जिससे कि (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोम पितरोंके साथ मिलकर द्यु व

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पृथिवीका विस्तार करता है। उसको हवि देनेसे धनसंपत्ति मिलती है।

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः। वन्वन्नवातः परिधीँरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः॥ ऋ० ९।९६।११॥ यजु० १९।५३॥

(पवमान सोम) हे पवित्र सोम! (त्वया हि) तेरेसेही अर्थात् तेरी सहायता द्वारा ही (नः पूर्वे धीराः पितरः) हमारे धीर पूर्वज पितरोंने (कर्माणि चक्रुः) श्रेष्ठ कर्मोंको किया।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोमकी सहायता द्वारा हमारे पूर्वज पितर श्रेष्ठ कर्म करनेमें समर्थ हुए। सोम राक्षसोंका विनाश करता है। वीर अश्वोंवाला होकर सोमको शासक बननेके लिए कहा गया है।

पितृमान् सोम।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा। अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः॥ ॥ यजुः २।२९ ॥

कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए स्वाहा हो। उत्तम पितावाले सोमके लिए स्वाहा हो। (वेदिषदः असुराः रक्षांसि) पृथिवीपर स्थित असुर व राक्षस (अपहताः) नष्ट हो जावें। यहां सोमको उत्तम पितावाला कहा गया है। अग्नि व सोम पृथिवीस्थ असुर व राक्षस नष्ट करते हैं, ऐसा मंत्रकी संगति लगानेसे पता चलता है॥

सोमाय पितृमते स्वधा नमः॥ अथर्व० १८।४।७२॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो। यहां सोमके लिए स्वधा व नमः देनेका उल्लेख है।

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः॥ अथर्व० १८।४।७३

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। इन मंत्रोंके देखनेसे इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष संबन्ध है। यह सोम कौन है यह कहना कठिन है जब तक कि संपूर्ण सोम-विषयक मंत्रोंका समन्वय न किया जासके।

अङ्गिरस् पितर।

प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम। येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्॥ ऋ० १।६२।२॥ यजुः ३४।१७

हे मनुष्यों! (वः) तुम (महे शवसानाय) बडे भारी बलवान् इन्द्रके लिए(महि नमः)महान् नमस्कार तथा (आङ्गूष्यं साम) आङ्गूष्य नामक सामसे (प्रभरध्वं) गायन करके स्तुति करो (येन) जिस आङ्गूष्य सामद्वारा (अर्चन्तः) अर्चना करते हुए (नः) हमारे (पूर्वे पदज्ञाः अङ्गिरसः पितरः) पुरातन पदज्ञ अङ्गिरस् पितरोंने (गाः अविन्दन्) सूर्यकिरणोंको प्राप्त किया था।

हम पहिलेभी देख आए हैं कि पितरोंके सूर्यकिरणोंके प्राप्त करनेका उल्लेख हमें मिलता है। यहां पर पुनः अङ्गिरस् पितरों द्वारा सूर्यकिरणकी उपलब्धिका जिक्र है। आङ्गूष्य सामकी महिमा यहां व्यक्त हो रही है। अङ्गिरस् पितर किन पितरोंका नाम है इसका विचार हम फिर करेंगे।

आङ्गूष्यं साम-आङ्गूषका अर्थ है स्तुतिसमूह अथवा आघोष। आघोषका अर्थ है जोर का शब्द-आवाज ॥ देखो-निरुक्त आङ्गूषः स्तोमः आघोषः। नि० अ. १। पा० १। खं. १२। श. ४५। अतः आङ्गूष्यका अर्थ हुआ स्तुतिसमूहवाला या आघोषवाला यानि जो जोर जोरसे बोला गया है ऐसा। अतएव आङ्गूष्य सामका अर्थ हुआ कि जो सामस्तुति पूर्ण मंत्रोंसे युक्त है अथवा जो साम जोर जोरसे गाया गया है। क्योंकि सामसे दुःख दूर होते हैं अतः इसका नाम साम है। स्यन्ति खण्डयन्ति दुःखानि येन तत् साम। पदज्ञ-परम पद (परमात्मा) को जाननेवाला। आत्मज्ञ। आत्मा वै पदं। कौ० २।३६।

वः- प्रथमार्थमें द्वितीयाका प्रयोग हुआ हुआ है। अथवा इसे षष्ठ्यन्त भी माना जा सकता है। गाः- सूर्यकिरणें।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उपरोक्त मंत्रके भावका ही निम्न लिखित मंत्रभी समर्थन कर रहा है।

य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम्। दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ ऋ० १०।६।२२॥

(ये पितरः) जिन अङ्गिरस् पितरोंने (परिवत्सरे) परिवत्सरमें (बलं) मेघको (ऋतेन) यज्ञ वा सत्य द्वारा (अभिन्दन्) विदारण किया और (गोमयं वसु) सूर्यकिरणरूपी धनको (उत् आजन्) प्राप्त किया ऐसे हे (सुमेधसः) उत्तम मेधावाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरस् पितरो!(वः) तुम्हारी (दीर्घायुत्वं अस्तु) दीर्घायु होवे। (मानवं प्रति गृभ्णीत) तुम मनुष्य जातिपर अनुग्रह करो।

इस मंत्रमें भी पूर्वोक्त मंत्रानुसार अङ्गिरस् पितरों द्वारा मेघभेदन करके सूर्यकिरणोंकी प्राप्तिका उल्लेख है। साथही ऐसे पितरोंकी दीर्घायुकी प्रार्थना की गई है व उनसे मनुष्य-जातिपर कृपादृष्टि रखनेको कहा गया है।

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम्। अङ्गिरसः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता॥ अथर्व० २।१२।५॥

(द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी (मा अनु दीधीथां) मेरे अनकूल प्रकाशित होवें। (विश्वे देवासः) हे सब देवो! (मा अनु रभध्वम्) मेरे अनुकूल कार्यका प्रारंभ करो। (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) हे अङ्गिरस् तथा सोम संपादन करनेवाले पितरो! (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामनाओंका करनेवाला (पापं आ ऋच्छतु) पापको प्राप्त होवें।

इस मंत्रमें अङ्गिरस् पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि वे पापकामनाओंके करनेवाले को पापके कुण्डमें डाल दें ता कि आगेसे वह पापकामनायें करना भूल जावे।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ऋ. १०।१४।६॥ अथर्व० १८।१।५८॥ यजु० १९।५०

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोम संपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (वयं) हम (तेषां) उन उपरोक्त विशेषणविशिष्ट पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम सलाहमें और (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम संकल्पमें (स्याम) स्थित होवें।

इस मंत्रमें पितरोंकी शुभ सलाहमें तथा शुभ-संकल्पमें रहनेका निर्देश किया गया है।

'नवग्व' शब्दपर थोडासा निर्देश हम करआए हैं। इसपर विशेष विचार अपेक्षित हैं।

अथर्वाणः— 'अथर्वाणोऽथर्वन्तः' थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः॥' निरु० ११।२।१८॥

अर्थात् अथर्वन् अथर्वणवाले यानि स्थिर-निश्चल-प्रकृतिवाले होते हैं। चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है। जो निश्चल हो वह अथर्व।

भृगवः- अर्चिषि भृगुः संबभूव। भृगुः भृज्यमानः, न देहे। निरु० ३।३॥

अर्थात् भृगु ऋषि ज्वालाओंमें पैदा हुआ था। भृगुका अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो, अतएव इसकी शरीरमें आस्था नहीं होती।

यज्ञियः- यज्ञके योग्य-पूजा, दान सत्कारादिके योग्य, अथवा यज्ञमें बैठने लायक।

पितरोंकी उत्पत्ति।

अब आगे उन मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा जो कि अबतकके विभागोंमें नहीं आ सके हैं। यद्यपि इन मंत्रोंमें पितृ शब्द बहुवचनान्त ही प्रयुक्त हुआ हुआ है तथा ये मंत्र पहिले दिए गए मंत्रोंका सा ही महत्त्व भी रखते हैं परन्तु हमने जो मंत्रोंके विभाग बनाए हैं उनमेंसे किसीमें भी ये नहीं आसके हैं और अतएव ऐसे बचे हुए मंत्रोंको इकट्ठा कर उपरोक्त शीर्षकके नामसे यहांपर दिया गया है।

निम्न लिखित मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिसंबन्धी निर्देश मिलता है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधि-
पत्न्यासीत् ॥ यजुः १४।२९ ॥

(नवभिः अस्तुवत) नव प्राणोंसे प्रजापतिने स्तुति की जिससे (पितरः असृज्यन्त) पितर उत्पन्न हुए। (अदितिः अधिपत्नी आसीत्) प्रजापतिकी अखण्ड शक्ति पालन करनेवाली थी।

इस मंत्रकी व्याख्या श० ८।४।३।७ में है। शतपथ के अनुसार यह अध्याय सृष्टि – उत्पत्तिपर प्रकाश डाल रहा है ऐसा ज्ञात होता है। इस अध्यायकी व्याख्या प्रारंभ करते हुए शतपथ-ब्राह्मणने लिखा है कि 'अथ सृष्टीरुपदधाति। एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वा कामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति' इत्यादि।

'नवभिरस्तुवत' की शतपथने निम्नलिखित व्याख्या की है– 'नवभिरस्तुवतेति। नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत।'

इस मंत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतु, सूर्य, चन्द्र आदि अन्यों की तरह पितरों की भी खास ढंग से उत्पत्ति होती होगी, क्यों कि सामान्य मनुष्य की उत्पत्ति में पितरों की उत्पत्ति का समावेश हो सकता था, फिर भी इस मंत्रमें विशिष्ट रूपसे पितरों की उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है।

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः
पितर ऋषयः ॥ अथर्व० १०।१०।२६॥

(वशां एव अमृतं आहुः) वशाको ही अमृत कहते हैं और (वशां मृत्युं उपासते) वशा को ही मृत्यु मानते हुए उसकी उपासना करते हैं। (देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः) देव, मनुष्य, असुर, पितर तथा ऋषिगण (इदं सर्वं) यह सब (वशा अभवत्) वशा ही हुई हुई है।

इस मंत्रसे हमारा इतनाही अभिप्राय है कि पितर भी वशा से उत्पन्न होते हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥
अथर्व० ११।७।२७॥

(देवाः पितरः मनुष्याः) देव, पितर, मनुष्य (ये च) और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं वे तथा (दिवि श्रिताः) द्यु लोक के आश्रय में स्थित (देवाः) सूर्य चन्द्र आदि देवगण हैं (सर्वे) ये सब (उच्छिष्टात्) उच्छिष्ट से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए हैं।

उच्छिष्ट-यह परमात्मा का नाम है क्यों कि परमात्मा उत् अर्थात् सब को उत्क्रमण करके भी शिष्ट अर्थात् शेष बच रहा है।

यहांपर उच्छिष्टसे पितरों की उत्पत्ति दर्शाई गई है।

इस प्रकार इन मंत्रों में पितरोंकी उत्पत्तिविषयक वर्णन मिलता है।

दक्षिणा व पितर।

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सु-
दुघा वयोधाः। यौवने जीवानुप पृञ्चती जरा
पितृभ्यः उप संपराणयादिमान् ॥
अथर्व० १८।४।५०॥

(सुदुघा) उत्तम तथा कामनाओं को पूर्ण करनेवाली (वयोधाः) अन्न को देनेवाली (अनेन दत्ता) इससे दी हुई (इयं दक्षिणा) यह दक्षिणा (भद्रतः नः आ अगन्) कल्याणकारी स्थान से अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। (यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव) जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर जीवों को वृद्धावस्था अवश्य आती है, उस प्रकार यह दक्षिणा (इमान्) इन जीवों को (पितृभ्यः) पितरों के लिए भली प्रकार (उप संपराणयात्) प्राप्त करावे अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीति से पहुंचावे।

इस मंत्र में स्पष्ट शब्दों में दक्षिणा का माहात्म्य दर्शाया गया है। दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यं भाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले की पितरों की प्राप्ति भी अवश्यं भाविनी है ऐसा इस मंत्र में उपमाद्वारा स्पष्ट सूचित किया

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

गया है। पाठक दक्षिणाके इस महत्त्वपर अवश्यमेव विचार करें।

मरनेपर पितरों में गणना।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः। परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु संभवन्तु॥

अथर्व० १८।४।४८

(पृथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेशयामि) मिट्टी से बने हुए हे मृतपुरुष! तुझको मिट्टी में मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवी में गाडता हूं। (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयु को बढावे। हे (परापरैताः) प्रकृष्टतया हम से दूर चले गए पितरो! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) वास करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रयदाता हो। (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरों में अच्छी तरह होवें अर्थात् पितरों में जा मिलें।

इस मंत्र के पूर्वार्ध में मृत देह के गाडने का निर्देश मिलता है। यह मानव देह पार्थिव तत्त्वों के आधिक्य से बना हुआ है, अतएव यहांपर मृत देह को पृथिवी (मिट्टी) के नाम से पुकारा गया है। इसी भावको निम्न लिखित दोहे में कहा गया है-

खाक का पुतला बना खाक की तसबीर है।
खाक में मिल जायगा खाक दामन गीर है॥

मंत्र के उत्तरार्ध में मृतों के पितरों में होनेका निर्देश है। इसका अभिप्राय यह है कि मरनेपर पितरों में मनुष्य जा मिलता है यानि मरने के बाद से उस की पितृसंज्ञा हो जाती है।

अश्विनौ तथा पितर।

युवं भुज्यं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निर्वहन्ता पितृभ्यः आ। यासिष्टं वर्तिर्वृषणा विजेन्यन् दिवोदासाय महि चेति वामवः॥

ऋ० १।११९।४॥

(वृषणा) हे कामनाओं की वर्षा करनेवाले अश्विनौ! (युवं) तुम दोनों (भुरमाणं) पुष्टिकारक (भुज्यं) भोगदायक और जो कि (विभिः गतं) घोडों द्वारा लादकर लाया जाता है, ऐसे पदार्थ को (स्वयुक्तिभिः) अपनी युक्तियों अर्थात् योजनाओं द्वारा (पितृभ्यः) पितरों के लिए (आ निः वहन्तौ) चारों ओर से लाकर पहुंचाते हो। इसलिए (विजेन्यं वर्तिः) दूरस्थ विद्यमान पदार्थों के लाने के लिए (यासिष्टं) जाओ। (दिवोदासाय) दिवोदासके लिए (वां अवः) तुम्हारा संरक्षण (महि) महान् है यह सब को (चेति) मालूम है।

दिवो दासः-- प्रकाशका देनेवाला, चाहे वह ज्ञान-प्रकाश हो वा अन्य कोई हो।

इस मंत्रमें पितरों के लिए भोग्य पदार्थ अश्विनौ पहुंचाते हैं ऐसा उल्लेख है।

सरस्वती और पितर।

सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मे। ऋ० १०।१७।८॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें इस प्रकार आया है--

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ अथर्व० १८।१।४३॥

(सरस्वति देवि) हे सरस्वती देवी! (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथ पर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है। वह (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर प्रसन्न हो। (अस्मे) हमें (अनमीवः इषः) रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खाने से किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको (आ धेहि) दे।

अथर्ववेद में जो पाठभेद है वह विशेष करके उत्तरार्धमें ही है। उस उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है- हे सरस्वती! तू (अत्र) इस यज्ञमें (यजमानाय) यजमानके लिए (सहस्रार्घं इडः भागं) हजारोंसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पूजनीय अन्नके भागको और (रायस्पोषं) धनकी पुष्टिको (धेहि) दे। इस मंत्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वधा खाना व यज्ञ में आना दर्शाया गया है।

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः। सहस्रार्घमिळो अत्रभागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥ ऋ० १०।१७।२॥

अथर्ववेदमें यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ है-

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधेह्यस्मे ॥ अथर्व० १८।१।४२॥

(दक्षिणा) दक्षिण दिशासे आकर (यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः) यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर (यां सरस्वतीं हवन्ते) जिस सरस्वतीको बुलाते हैं, ऐसी हे सरस्वती! तू (अत्र) यहां इस यज्ञमें (यजमानेषु) यजमानोंमें (सहस्रार्घं इडः भागं) हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको तथा (रायस्पोषं) धनकी पुष्टिको (धेहि) दे।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेदमंत्र दर्शाते हैं, अतः हमने ऊपर दक्षिणाके साथ (आगत्य) आकर इतना अध्याहार करके अर्थ किया है। इस मंत्रमें पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं यत्। इमानि ते उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ अथर्व ७।६८।२

(सरस्वति) हे सरस्वती! (इदं ते घृतवत् हव्यं) यह तेरे लिए घृतवाला यानि घीसे मिश्रित हव्य है। (यत् इदं हविः पितॄणां आस्यं) जो यह हवि पितरोंके लिए दिया जानेवाला है। (इमानि ते शंतमानि उदितानि) ये तेरे लिए कल्याणकारी वचन हैं। (तेभिः) इनसे (वयं) हम (मधुमन्तः स्याम) मधुयुक्त बनें।

आस्य- असु क्षेपणे से बना है। शब्दार्थ फैंका जानेवाला है, भावार्थ दिया जानेवाला ॥

इस मंत्रमें पितरोंके लिए जो हव्य दिया जाता है, वह सरस्वतीको भी दिया जाता है यह दर्शाया गया है और साथ ही में सरस्वतीको हव्यादि देनेका लाभ दर्शाया है।

इस प्रकार इन उपरोक्त मंत्रोंसे सरस्वती व पितरोंका संबन्ध विशेष है यह हमें यहां स्पष्ट पता चलता है।

गौ व पितर।

देवाः पितरो मनुष्याः गन्धर्वाप्सरसश्च ये। ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमतिद्रव ॥ अथर्व० १०।९।९॥

(देवाः पितरः मनुष्याः) देव, पितर, मनुष्य (ये च) और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं, (ते सर्वे) वे सब (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझ गौकी रक्षा करेंगे, (सा) वह तू (अतिरात्रं) अतिरात्र नामक यज्ञको (अतिद्रव) शीघ्रतासे प्राप्त कर।

यहांपर अतिरात्रमें आनेवाली गौ की पितर भी रक्षा करते हैं ऐसा दर्शाया है।।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः। शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम ॥ ऋ० १०।६१।४॥

(प्रजापतिः) प्रजापति (विश्वैः देवैः पितृभिः संविदानः) सब देवों व पितरोंके साथ मिला हुआ एक मतसे (मह्यं) मेरे लिए (एताः) ये गायें (रराणः) देता है। वह प्रजापति (शिवाः सतीः) कल्याणकारिणी होती हुई उन गौओंको (नः) हमारे (उपगोष्ठं आ अकः) गोष्ठके समीप करे अर्थात् हमारे गोष्ठमें वे गौयें स्थित होवें। और इस प्रकार उन गौओंके प्राप्त करनेपर (वयं) हम (तासां प्रजया सं सदेम) उन गौओंकी संतानसे संगत होवें अर्थात् उन गौओंकी संतान हमें प्राप्त होती रहे ताकि ऐसी गौओंका वंशोच्छेद न हो जावे।

गोष्ठ- जहांपर गौयें बांधी जाती हैं, उस स्थानको गोष्ठ कहा जाता है।

इस मंत्रमें उत्तम गौयें पितरोंकी सहमतिसे हमें मिलती हैं, यह दर्शाया गया है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

खुद पढिए! पढकर सुनाइए! पता न भूलिए!

(स्थापना १९२१)

श्रीराम ॲण्ड कम्पनी

(Railway-Claims Experts)

स्थानः—धुरु हॉल (छबीलदास स्कूलके सामने)
दादर, बम्बई।

(१) यात्री, दलाल, हुण्डीवाले, आढतिये, कार्टिङ्ग-एजेण्ट्स आदि के रेलवे कम्पनीद्वारा तथा जहाजी कम्पनीद्वारा हुए

नुकसान को हम पुरा करा देते हैं।

(Through Tickets) थ्रू टिकट के सम्बन्ध की सब प्रकार की बातों का तस्फिया करा देते हैं। किसी भी कारण से रेलवे तथा जहाजी कम्पनी के पास गए ज्यादा पैसे वापिस दिलाते हैं।

(२) किसी भी स्टेशन पर माल रह जावे, गुम जावे, समय पर न मिले, Exchange (बदल जावे) या Over-carry (आगे के दूसरे स्टेशन को चला जावे), खराब हो जावे, वजन में घट जावे, तो रेलवे और जहाजी कम्पनी से उस नुकसान को पूरा करा देते हैं।

(३) पोस्टल, करन्सी (सरकारी नोटें), स्टीम-शिप (जहाज), म्युनिसिपल, कस्टम आदि के सम्बन्ध के **जनरल क्लेम्स** वसूल करा देते हैं। ग्रॅच्युइटि और प्रोव्हिडेण्ट फण्ड दिला देते हैं।

विशेष हाल जानने के लिये हमें लिखिये। वापसी चिट्ठी का डाकव्यय अपनी चिट्ठी के साथ भेजिए।

कमिशनः—कोर्ट में गये बिना ही (Out of court) यदि क्लेम वसूल हो जावे तब तो कमिशन लिया जावेगा अन्यथा कुछ न लिया जावेगा।

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करने के लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय —)

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, (जि. सातारा)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B. 1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ "४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३१	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०७]	११	१०७६	६	१)

कुल मूल्य. ५८।) कुल डा. व्य. १०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय पृथक् के अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि०सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्म

वर्ष १३
अंक ९

क्रमांक
१५३

भाद्रपद
संवत् १९८२
सितंबर
सन १९३२

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

आप संस्कृत सीखना चाहते हैं ?

तो आप "संस्कृत-पाठ-माला" के २४ भाग मंगवाइये और प्रतिदिन आधा घंटा पढकर एक वर्षमें महाभारत समझनेकी योग्यता प्राप्त कीजिये। २४ भागोंका मूल्य ६॥); १२ भागोंका मूल्य ४); ६ भागोंका मूल्य २।); ३ भागोंका मूल्य १।); और एक भागका मू०॥) है। वी० पी० द्वारा ।) अधिक मूल्य होगा। —मंत्री, स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५॥)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयसूची

१ हमारा साम्राज्य ।	७९
२ धर्म का मूल ।	८०
३ अथर्ववेदका स्वाध्याय ।	२५७

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं । प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है । प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है । अन्तमें ईशोपनिषद्के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है । इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं । इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा. व्य. ।-) जिल्द अच्छी बनाई है ।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची ।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धों की अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है । इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है । भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते । परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है । इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपने पास रखें । मूल्य केवल ।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ९
क्रमांक
१५३

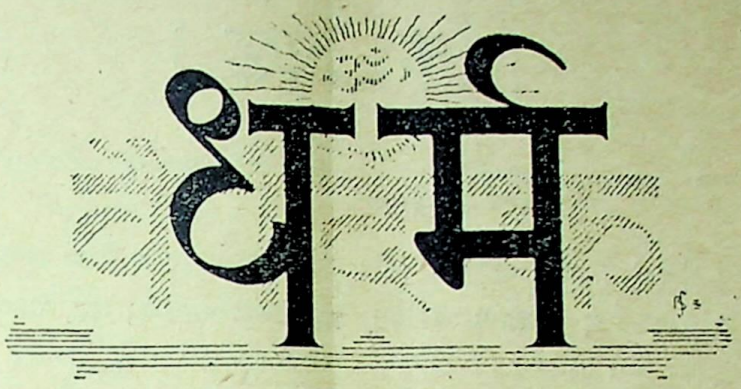

भाद्रपद
संवत् १९८९
सितंबर
सन १९३२

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

हमारा साम्राज्य।

ॐ राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने ॥ नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे ॥ स मे कामान् कामकामाय मह्यम् ॥ कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु ॥ कुबेराय वैश्रवणाय ॥ महाराजाय नमः॥ ॐ स्वस्ति ॥ साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आं तादापरार्धात् ॥ पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति ॥

"सर्वशक्तिमान् और उपासकोंकी प्रार्थना निश्चयसे सुननेवाले प्रभुको हम सब उपासक नमन करते हैं। वह निश्चयसे हमारी कामना पूर्ण करेगा। उसी सबके राजाधिराज प्रभुको हमारा प्रणिपात हो। हम सबका कल्याण हो। हमारा साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि विविध प्रकारके ऐहिक और पारमार्थिक स्वराज्य हमें प्राप्त हों। हमारा स्वराज्य सार्वभौमिक हो। अर्थात् समुद्रकी मर्यादातक जितनी भूमि है, उतना हमारा महाराज्य हो, और वह अनंत कालतक सुव्यवस्थासे चलता रहे, और सब मानवजातिकी उन्नति करता रहे।"

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्मका मूल।

सब धर्मका मूलबीज 'वेद' है और वेदका भी बीज ओंकार है। यह घोषणा वेद ब्राह्मण स्मृति और पुराणोंमें एक मतसे की है। अर्थात् "वैदिक धर्म" शब्द का अर्थ "वेद जिसके बीज भूत हैं वह धर्म" ऐसा स्पष्ट है। वेद सब सत्य शास्त्रोंका मूल है, बीज है। मूल या बीज मुख्य तो होता ही है, परंतु वह छिपा रहता है और उसका विस्तार दिखाई देता है। वट, आम या अन्य वृक्षों का बीज भी दीखता रहे और उसका विस्तार भी दीखता रहे, यह बात साथ साथ नहीं हो सकती।

मनुष्यदेहमें बीज वीर्यबिंदु मुख्य है, इसी कारण वह सबको तयमें गुप्त रहता है। उसको व्यक्त करने से कमजोरी होगी। वृक्षका बीज वारंवार उखाड कर देखते रहनेसे वृक्षका भी नाश होगा और बीजका भी। सबका मूलाधार ईश्वर है इसीलिये वह विशेष गूढ है।

इसका सर्वसाधारण नियम यह है कि जो मूल है वह तयमें आधारमें गुप्त रहना चाहिये और उस का जो विस्तार है वह उससे विशेष स्पष्ट दीखना चाहिये।

"वैदिक धर्म" शब्दमें 'वेद सबका मूल बीज होनेसे' वैदिक शब्द आधार स्थानमें दीखना चाहिये और उससे फैला धर्म सुव्यक्त दीखना चाहिये और ॐकार सबका मूल होनेसे वह सबसे सूक्ष्म दीखना चाहिये, यह कल्पना किस प्रकार चित्रमें परिणत की जावे, इतका विचार हम कई वर्षोंसे कर रहे थे। इस वर्ष अनेक कल्पनाओंमें से जो अधिक उचित प्रतीत हुई, वह चित्रित करवा के मुद्रित की।

प्रिय पाठकोंका इसमें भी विरोध हुआ और पचासों भलेबुरे पत्र आगये। यदि कोई पाठक पूर्वोक्त मूलभूत कल्पना चित्रमें अभिव्यक्त करनेका अन्य उपाय सुझा देंगे, तो उसका अवश्य विचार किया जायगा।

इस प्रकारका "वैदिक धर्म" नाम लिखने में कोइ शब्द हटाया नहीं, ॐ इसमें है, वैदिक शब्द आधार स्थानपर विराजमान है और धर्म सुव्यक्त रूपमें खडा है। जिन सुविज्ञ पाठकोंको यह कल्पना दिलसे असह्य प्रतीत होती है, उनके कारण हम जानना चाहते हैं। इस चित्रमें काव्य है, अद्भुतता है और वस्तुस्थिति का निदर्शन भी है। पहिले नामके लेखन में इनमें से एक भी गुण नहीं था।

"वैदिक धर्म" मासिक का नाम वही है, शब्द वेहि हैं, केवल अक्षरोंकी लंबाई चौडाई बदली है और वह पूर्वोक्त हेतुसे बदली है।

"संपादक"

—०—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इन्द्र व पितर।

स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारु-
धायः। त्वं ह्यापिः प्रदिवि पितृणां शश्वद्
बभूथ सुहव पष्टौ ॥ ऋ० ६।२१।८॥

हे वीर इन्द्र! (सः) वह (कारुधायः) स्तोताओं वा शिल्पियों का धारक तू (नूतनस्य ब्रह्मण्यतः) नवीन धनको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले की अथवा नवीन स्तोत्र करनेकी इच्छावाले की (श्रुधि) प्रार्थनाको सुन। (हि) क्योंकि (आ इष्टौ) आयजन करनेपर अथवा कामनाके होनेपर (सुः हवः) सुखसे बुलाने योग्य तू (त्वं) तू (पितृणां प्रदिवि) पितरोंके प्रकृष्ट व्यवहारमें (शश्वत्) सदा (आपिः) बन्धु व्याप्त रहनेवाला (बभूथ) होता है।

इस मंत्रमें इन्द्रको पितरोंका बन्धु कहा गया है। क्योंकि वह पितरोंको उनके कार्योंमें बन्धुवत् सहायता करता है।

जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितृणामक्षमव्ययं न
किलारिषाथ। यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे
शुष्ममदधाता वसिष्ठाः ॥ ऋ० ८।३३।४॥

(वसिष्ठाः) हे उत्तम वास करानेवालो! (यत्) क्योंकि तुम (शक्वरीषु) ऋचाओंमें अर्थात् ऋचाओंके गानमें (बृहता रवेण) बडे भारी शब्दसे यानि ऋचाओंके ऊंचे स्वरमें गानेसे (इन्द्रे शुष्मं) इन्द्रमें बलको (अदधात) स्थापित करते हो; अतः हे (नरः) नेतागणो! (जुष्टी) प्रसन्नता वा सेवासे और (ब्रह्मणा) ज्ञानसे तुम (वः पितृणां) तुम्हारे पितरोंका (अव्ययं अक्षं) न नष्ट होनेवाले अक्षको (किल) निश्चयसे (न रिषाथ) नष्ट होने नहीं देते। इस मंत्रमें सैनिकोंके लिए पितर आया है ऐसा प्रतीत होता है। यह मंत्र पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं हुआ है।

नवग्व पितर।

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो
अभिवाजयन्तः। नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम-
द्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥ ऋ. ६।२२।२॥
अथर्व. २०।३६।२॥

(सप्त विप्रासः) सात संख्यावाले मेधावी तथा (नवग्वाः नः पूर्वे पितरः) नवग्व हमारे पुरातन पितर (तं) उस इन्द्रको (नु) निश्चयसे (अभिवाजयन्तः) चारों ओरसे बलवान् बनाते हुए, (नक्षद्दाभं) आगत शत्रु वा पापका नाश करनेवाले (ततुरिं) तारक (पर्वतेष्ठां) पर्वतस्थ (अद्रोघवाचं) द्रोहरहित वा अनतिक्रमणीय वाणीवाले (शविष्ठं) बलवत्तम इन्द्रकी (मतिभिः) मननीय स्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं।

निरुक्तकार यास्काचार्यने ऋ० १०।१४।६ की व्याख्या करते हुए नवग्व शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है- 'नवगतयो नवनीतगतयो वा'। अर्थात् नव प्रकारकी गतिवाले अथवा नवनीत यानि मक्खन जैसी गतिवाले शुद्धाचरणवाले।

महर्षि स्वामी दयानन्दजीने 'नवीन गतिवाले' ऐसा अर्थ किया है।

सायणाचार्य निम्न लिखित अर्थ करते हैं—नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रमनुतिष्ठवन्तः'। अर्थात् जो नवमासवाले सत्र (यज्ञविशेष) को करनेवाले हैं।

इस मंत्रमें आत्माका वर्णन व 'सप्त विप्रासः' से ५ प्राण, मन व बुद्धिका अभिप्राय है। और इस प्रकार इस मंत्रमें प्राणोंको पितरसे कहा गया जान पडता है।

काम और पितर।

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न
मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँ-
स्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥
अथर्व० ९।२।१९॥

(कामः प्रथमः जज्ञे) काम प्रथम पैदा हुआ। (एनं) इस को (न देवाः आपुः न पितरः न मर्त्याः) न तो देवोंने ही पाया, न पितरोंने और नहीं मनुष्योंने। (ततः)इस कारण से हे काम! तू (विश्वहा) सब प्रकारसे (ज्यायान्) बडा है। हे महान् काम!

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(तस्मै ते) उस तेरे लिये (नमः इत् कृणोमि) मैं नमस्कार करतां हूं।

यहांपर कामको जाननेमें पितरों की भी असमर्थता दर्शाई गई है।

मणि और पितर।

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रेष्ठ्याय मूर्धतः॥
अथर्व० १०।६।३२॥

(देवाः पितरः मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव, पितर व मनुष्य सदा जिस मणि के आश्रय से जीते हैं (सः अयं मणिः) वह यह मणि (श्रेष्ठ्याय) श्रेष्ठ पद की प्राप्ति कराने के लिए (मां मूर्धतः अधिरोहतु) मेरे सिरपर स्थित होवे अर्थात् ऐसे मणि को मैं सिरपर धारण करता हूं।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि देव, पितर व मनुष्य मणि के आश्रय से जीते हैं। यहां यह भी पता चलता है कि पितर व देव मनुष्य से भिन्न हैं।

ब्रह्मौदन पाचक पितर।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके। पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि॥ अथर्व० ११।१।१९॥

हे ब्रह्मौदन! (सहस्रपृष्ठः) हजारों पीठोंवाला अर्थात् अत्यंत फैला हुआ तू (सुकृतस्य लोके) सुकृत के लोकमें (महता महिम्ना) अपनी बडी भारी महिमासे (उरुः) विस्तीर्ण होता हुआ (प्रथस्व) फैल। (पितामहाः पितरः प्रजा उपजा) पितामहों का समूह, पितर, संतति तथा संततिकी संतति और (पंचदशः अहं) पंचदश मैं (ते पक्ता अस्मि) तेरा पकानेवाला हूं।

पंचदश—पंद्रहवां अथवा ५ प्राण, ५ इन्द्रियां व ५ भूतोंसे बना हुआ।

इस मंत्र में पितामह, पितर आदियोंको ब्रह्मौदन पाचक कहा गया है। अर्थात् ये सब ब्रह्मौदन पकाते हैं।

ब्रह्मचारी व पितर।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशताः षट् सहस्राः सर्वान्त् स देवांस्तपसा पिपर्ति॥ अथर्व० ११।५।२॥

(पितरः देवजनः देवाः) पितर, देवजन तथा देव (सर्वे) ये सब (पृथक्) अलग अर्थात् स्वतंत्र रूपसे (ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति) ब्रह्मचारी की रक्षार्थ अनुगमन करते हैं। (गन्धर्वाः एनं अन्वायन्) गन्धर्वगण इस ब्रह्मचारीके पीछे पीछे चलते हैं। (षट् सहस्राः त्रिंशतः त्रयः त्रिंशत्) छे हजार तीन सौ तैंतीस (६३३३) (सर्वान् देवान्) इन सब देवों को (सः) वह ब्रह्मचारी (तपसा पिपर्ति) अपने तप द्वारा पूर्ण करता है—पालन करता है।

इस मंत्रमें दर्शाया गया है कि पितर भी ब्रह्मचारी की रक्षाके लिए उसके पीछे पीछे सदा फिरते रहते हैं ताकि ब्रह्मचारी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंच सके।

पितरों की शक्ति का नियंत्रण।

मा छेत्त रश्मीँरिति नाधमानाः पितृणां शक्तीरनुयच्छमानाः। इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे॥ ऋ० १।१०९।३॥

(रश्मीन् मा छेत्त इति नाधमानाः) संततिरूपी रश्मियों को हम मत काटें, इस प्रकार याचना करते हुए, तथा (पितृणां शक्तीः अनुयच्छमानाः) पितरों की शक्तियों को नियंत्रित करते हुए और अतएव (वृषणः) वीर्ययुक्त हुए हुए (धिषणायाः उपस्थे) बुद्धि के समीपमें अर्थात् बौद्धिक कार्योंमें (इन्द्राग्निभ्यां) इन्द्र व अग्नि से (कं मदन्ति) सुख प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं। (हि) निश्चय से (तौ) वे इन्द्राग्नी (अद्री) न नष्ट होनेवाले हैं।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि न तो सर्वथा संततिका उच्छेद ही करना चाहिए और नहीं सर्वथा संतति की वृद्धि ही करनी चाहिए। पितरों की शक्ति अर्थात् उत्पादक शक्तिका नियंत्रण करना

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

चाहिए, जिससे बुद्धि की व बलकी वृद्धि होती है। यहां पितरों की शक्तिसे उत्पादक शक्ति का अभिप्राय है।

देवों के पितर।

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्। सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ॥ अथर्व० १।३०।२॥

(देवाः) हे देवो! (ये वः पितरः ये च पुत्राः) जो तुम्हारे पितर हैं और जो पुत्र हैं वे सब तुम (सचेतसः) सावधान हुए हुए (मे इदं उक्तं) मेरे इस कथन को (शृणुत) सुनो। (वः सर्वेभ्यः) तुम सब के लिए मैं (एतं) इस मनुष्य को (परिददामि) सौंपता हूं, (एनं) इसे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (जरसे वहाथ) वृद्धावस्थाके लिए पहुंचाओ अर्थात् यह वृद्धावस्था आनेके पूर्व ही अल्पायुमें मरने न पावे।

परिददामि-रक्षाके लिए सौंपता हूं। परि उपसर्गपूर्वक दा धातुका अर्थ रक्षणार्थ देना है। इस मंत्रमें देवोंके पितर व पुत्रोंका उल्लेख है।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि। अथर्व० ६।१२३।३॥

(देवाः पितरः) देवगण पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं। (यः अस्मि) जो मैं हूं (सः अस्मि) वह मैं हूं।

सायणाचार्यने इस मंत्रका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है-जो देव वसुरुद्रादि रूप हैं वे हमारे पितर हैं और जो हमारे पितर हैं वे वसुरुद्रादि रूप हैं। इस प्रकार परस्परके व्यतिहारसे पितरोंका देवात्मक होना दृढ किया है। (यः अस्मि) जिसका मैं हूं उसका ही मैं हूं। अर्थात् एकही पिताका हूं। क्योंकि स्त्रियां संभावित व्यतिक्रम होती हैं अतः मैं निश्चयसे कहता हूं कि मैं अपने पिताकाही पुत्र हूं। अपने इस अभिप्रायकी पुष्टिके लिए सायणाचार्यने मीमांसा-सूत्रका प्रमाण दिया है- 'स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्'।

अस्तु। इस मंत्रका अभिप्राय हमें इतना दीखता है कि पितर देवत्वको प्राप्त होते हैं। इस मंत्रके अभिप्रायवाले और मंत्र पहिले आचुके हैं।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार।

नमो वः पितरः ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय॥ अथर्व० १८।४।८॥

(पितरः) हे पितरो! (वः ऊर्जे नमः) तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो! (वः रसाय नमः) तुम्हारे रस-अन्नरस (दुग्ध आदि) के लिए नमस्कार है।

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे॥ ॥ अथर्व० १८।४।८२॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे (भामाय) क्रोधके लिए (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे (मन्यवे) मन्युके लिए (नमः) नमस्कार हो। भाम तथा मन्यु दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं। भाम साधारण क्रोधका नाम है। मन्युको हम सात्त्विक क्रोध कह सकते हैं।

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै॥ अथर्व० १८।४।८३॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारा (यत् घोरं) जो कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो! (व) तुम्हारा (यत् क्रूरं) जो क्रूर कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है।

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै॥ अथर्व० १८।४।८३॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारा (यत्) जो (शिवं) कल्याणमय कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै नमः) उसके लिए नमस्कार है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार किया गया है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पितरोंका इष्टापूर्त।

अशीतिभिः तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः। इष्टापूर्तं भवतु नः पितृणामामुदे हरसा दैव्येन॥ अथर्व० २।१२।४॥

(तिसृभिः अशीतिभीः) तीन अशीतियोंके साथ, (सामगेभिः) साम गायकोंके साथ, (आदित्येभिः) आदित्योंके साथ, (वसुभिः) वसुओंके साथ तथा (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरसोंके साथ मिलकर (पितृणां) पितरोंका (इष्टापूर्तं) इष्टापूर्त (नः अवतु) हमारी रक्षा करे। (दैव्येन हरसा) दिव्य तेजद्वारा (अमुं) इस दुष्ट पुरुषको (आददे) ग्रहण करता हूं अर्थात् उसका नाश करता हूं।

इष्टपूर्तका लक्षण निम्न लिखित है।

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥ १॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥ २॥

इस मंत्रमें पितरोंका इष्टापूर्त हमारा रक्षण करता है यह दर्शाया है। पुत्रोंके रक्षणार्थ पितरोंको इष्टापूर्त करना चाहिए ऐसी प्रतिध्वनि यहांसे निकलती है।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परिभ्रातुः पुत्राच्चेतसः पन आगन्। यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः॥ अथर्व० ६।११६।३॥

(यदि यत् इदं एनः) यदि यह जो पाप (नः मातुः, पितुः, भ्रातुः, पुत्रात् चेतसः वा) हमारी माताके पाससे, पिताके पाससे, भाईके पाससे, पुत्रके पाससे अथवा मनके पाससे (परि आगत्) प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है, तो (यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते) जितनेभि पितर हमारे साथ संगत हुए हुए हैं (तेषां सर्वेषां) उन सबका (मन्युः) क्रोध (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे। उससे हमारा नुकसान न होने पावे।

इस मंत्रमें पापके कारणसे उत्पन्न पितरोंके क्रोधको शांत करके उसे कल्याणकारी बनानेकी प्रार्थना है।

पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना।

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्माँस्ते नु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ॥ अथर्व० १८।४।८६॥

(ये पितरः अत्र) ये जो अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण (अत्रस्थ) यहां पर हो, (ते) वे अन्य पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल होवें और (यूयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उनमें श्रेष्ठ होवो।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म॥ अथर्व० १८।४।८७॥

(ये) जो (पितरः) पितृगण (इह) यहां हैं उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहां (जीवाः स्मः) जीवित हैं, (ते पितरः अस्मात् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें।

इन मंत्रोंमें पितरोंके साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंसे श्रेष्ठ बननेका उल्लेख है।

पितरोंके लिए धन, बल व आयु।

दमूनाः देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्यः आयूंषि। पिबात् सोमं ममदेनमिष्टे परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥ अथर्व० १।१४।४॥

(दमूनाः) दानशील (वरेण्यः) श्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य (सविता देवः) सूर्य देव (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (रत्नं) रत्नको, (दक्षं) बलको और (आयूंषि) आयुको (दधत्) धारण करता हुआ (सोमं) सोमका (पिबात्) पीए। (एनं) इस सविता देवको (इष्टे) यज्ञमें सोमपान कराके (ममत्) प्रसन्न करे। (अस्य धर्मणि) इस सविता सूर्यके धर्ममें स्थित हुई हुई (ज्मा) पृथिवी (चित्) भी (परि क्रमते) परिक्रमा करती है। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सूर्य पितरोंके लिए धन बल आयुको देता है। यहांपर हमें 'परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि' से यह भी स्पष्ट पता चलता है कि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पृथिवी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है। पृथिवीके सूर्यके चारों ओर घूमनेके भौगोलिक सिद्धान्तको यह मंत्र पुष्ट कर रहा है। उमा शब्द निघण्टुमें पृथिवीवाची नामोंमें पठित है।

पितर व तृतीय ज्योति।

एतद् वा ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति। अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिल्लोके श्रद्धयानेन दत्तः॥ अथर्व० ९।५।११॥

(पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे लिए (एतद् तृतीयं ज्योतिः) यह तीसरी ज्योति परमात्मा (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानार्थ (पञ्चौदनं अजं) पंचौदनवाले अर्थात् ५ भूत से बने शरीर से युक्त जन्मरहित जीवात्माको (ददाति) देता है। (श्रद्धयानेन दत्तः) श्रद्धा रखने के कारण दिया हुआ (अजः) यह अज जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारों को (अप हन्ति) नष्ट करता है, दूर करता है।

इस मंत्र में यह दर्शाया कि श्रद्धा रखने के कारण परमात्मा पितरों को ऐसी आत्मा देता है कि जो सारे अज्ञानान्धकारों को दूर करके प्रकाश का मार्ग दर्शाती है। यहां श्रद्धा का माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा मे एषा। इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ अथर्व. ११।१।२८॥

(इदं हिरण्यं) यह सोना (मे अमृतं ज्योतिः) मेरा अनश्वर प्रकाश है। (क्षेत्रात्) खेतसे उत्पन्न यह (पक्वं) पका हुआ अन्न (मे एषा कामदुघा) मेरी यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली गौ है। (इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे) यह धन मैं ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूं अर्थात् उन्हें देता हूं। और इस प्रकार (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरोंमें रस्ता बनाता हूं (यः) जो कि रस्ता (स्वर्गः) स्वर्ग है-सुखप्रापक है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि ब्राह्मणोंको धन दान करनेसे पितरोंके बीचमें सुखप्रद मार्ग बनाया जा सकता है। पितरोंके बीचमें यदि सुखपूर्वक विचरण करना हो तो ब्राह्मणोंको धन दान करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् विमृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्। घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ अथर्व०११।१।३१॥

(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु! (बभ्रेः) पोषण करनेवाले ब्रह्मौदन के (एतत् मुखं) इस मुख को अर्थात् उस के ऊपर के छिलके को (विमृड्ढि) विशेष रूपसे साफ कर। (प्रविद्वान्) हे प्रकृष्ट ज्ञानवान्! (आज्याय लोकं कृणुहि) उन चावलों में घी डालनेके लिए स्थान बना। (घृतेन सर्वाणि गात्राणि विमृड्ढि) घी द्वारा उस ब्रह्मौदनके सर्व अवयवोंको परिमार्जित कर। इस ओदन द्वारा मैं (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरों में मार्ग बनाता हूं (यः) जो कि मार्ग (स्वर्गः) सुखप्रापक है।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यदि पितरों में सुखपूर्वक विचरण करना हो तो खूब घी-मिश्रित चावलों (ब्रह्मौदन) का होम करना चाहिये।

मृत पितरोंका अनुगमन निषेध।

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मानुगा मा पूर्वाननुगाः।
पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम्॥ अथर्व० ५।३०।१॥

(ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः) तेरे दूरसे भी (आवतः) दूर देशसे (ते असुं) तेरे प्राणको (दृढं बध्नामि) दृढता से बांधता हूं। (इह एव भव) तू यहां ही रह। (मा पूर्वान् अनुगाः) पूर्व मृत पुरुषों के पीछे मत जा अर्थात् विनष्ट मत हो। और (मा पितॄन् अनुगाः) इसी प्रकार पूर्व मृत पितरों के पीछे भी मत जा।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्रमदो मानु गाः पितॄन्। विश्वे देवा अभिरक्षन्तु त्वेह॥ अथर्व० ८।१।७॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

हे आयु की कामना करनेवाले मनुष्य! (ते मनः) तेरा मन (तत्र मा गात्) वहां मृत्यु लोक में मत जाए। (मा तिरः भूत्) और तेरा मन अन्तर्हित भी मत होवे। (मा जीवेभ्यः प्रमदः) तू जीवों के लिए अर्थात् जीवित रहने के लिए असावधान मत रह। (पितॄन् मा अनुगाः) मृत पितरों के पीछे मत जा। (विश्वे देवाः) सब देवगण (त्वा इह अभिरक्षन्तु) तेरी यहां ही रक्षा करें अर्थात् सब देव तुझे यहींपर बनाए रखें, मरने न दें।

इन उपरोक्त मंत्रों में मृत पितरों के अनुगमन करने का अर्थात् मरने के विषय में अनुगमन का निषेध किया गया है। और दीर्घायु प्राप्त करने के लिए कहा गया है।

पितरोंमेंसे यक्ष्मा के दूर करने की प्रार्थना।

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अपयक्ष्मं निदध्मसि।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् अपो मा प्रापन् मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥
अथर्व० १४। २। ६९॥

(अस्या अङ्गात् अङ्गात्) इसके प्रत्येक अंग से (वयं यक्ष्मं नि अप दध्मसि) हम यक्ष्मको बिलकुल बाहिर निकाल देते हैं। (तत् पृथिवीं मा प्रापत्) वह यक्ष्म पृथिवी को मत प्राप्त होवे। (उत देवान् मा) और देवोंको भी मत प्राप्त होवे। (दिवं मा) द्यु लोक को भी मत प्राप्त होवे। (उरु अंतरिक्षं मा) विशाल अंतरिक्ष को भी मत प्राप्त होवे। (एतत् मलं) यह यक्ष्मरूपी मैल (अपः मा प्रापत्) जलों को भी मत प्राप्त होवे। (अग्ने) हे अग्नि! (यमं मा प्रापत्) यम को भी मत प्राप्त होवे। (च) और (सर्वान् पितॄन्) सब पितरों को भी मत प्राप्त होवे।

इस मंत्र में यक्ष्म रोग के दूर करने की तो प्रार्थना है ही, पर यहां एक बात विशेष लक्ष्य में रखने जैसी है और वह यह कि यम व पितरों को यक्ष्म के न प्राप्त होने की प्रार्थना अग्नि से की गई है। इसका कारण स्पष्ट ही है। हम पहिले देख आए हैं कि अग्नि यम लोक में पितरों के पास जाती है। अतः अग्निद्वारा ही यक्ष्म रोग के वहां पहुंचने की संभावना है। अतएव अग्नि से कहा गया है कि यम व पितरों को यक्ष्म प्राप्त मत होवे।

वधूदर्श पितर।

ये पितरा वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥
अथर्व० १४।२।७३॥

(ये) जो (वधूदर्शाः) वधू को देखने की इच्छावाले (पितरः) पितृगण (इमं वहतुं) इस रथको (आगमन्) प्राप्त हुए हैं, (ते) वे पितर (संपत्न्यै अस्यै वध्वै) उत्तम पत्नी इस वधू के लिए (प्रजावत् शर्म) संततिवाले सुख को (यच्छन्तु) देवें। अर्थात् इसे संततिजन्य सुख देवें।

जब कन्या विवाहके अनन्तर पतिगृहको जाने लगती है तब रथमें वा अन्य वाहन में सवार होनेपर उसे जो पितर देखने आए हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि इस वधू को उत्तम संतान देकर सुखी करो।

कन्याका सदा पितरों (श्वशुरकुल) में रहना।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महावुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥
अथर्व० १।१४।१॥

(वृक्षात् स्रजं इव) जिस प्रकार वृक्ष से फूलों की माला ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार मैं वर (अस्याः) इस कन्या का (भगं वर्चः) ऐश्वर्यशाली तेज को मैं (आदिषि) ग्रहण करता हूं अर्थात् इस कन्या को पत्नी रूप से मैं स्वीकृत करता हूं। यह वधू (महावुध्नः पर्वतः इव) बडे मूलवाले पर्वत की

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तरह (ज्योक्) सदा (पितृषु आस्ताम्) पितरोंमें अर्थात् अपने (कन्या के) श्वशुर कुलमें स्थिर रह, जिस प्रकार बडी मूलवाला पर्वत जडों के खूब जमीन के अन्दर गहरा जाने से निश्चल होता है, उसी प्रकार यह निश्चल श्वशुरकुल में रहे।

पषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि।
ज्योक् पितृष्वास्ताता आशीर्ष्णः शमोष्यात् ॥
अथर्व १।१४।३॥

इस मंत्र में वरके श्वशुरकुल की वरके प्रति उक्ति है। कन्या का पिता कन्यादान करता हुआ वरसे कहता है कि—(राजन्) हे राजमान वर! (पषा) यह वधू (ते कुलपा)तेरे कुलका रक्षण करनेवाली है (तां) इस प्रकारकी इस वधू को (ते परि-दद्मसि) तुझे हम सौंपते हैं। यह कन्या (ज्योक्) सर्वदा (पितृषु आस्ताते) तेरे (वरके) पितरों में अर्थात् श्वशुरकुल में स्थित रहे। (आशीर्ष्णः सं ओष्यात्) सिर से लेकर सब अङ्गों में इसकी वृद्धि होती रहे अर्थात् श्वशुरकुलमें यह क्षीण न होवें सर्वदा वृद्धिको प्राप्त होती रहे।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंका अभिप्राय श्वशुर-कुल प्रतीत होता है।

पूषाकी पितरोंको प्रेरणा।

आ तत्ते दस्रमन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे।
येन पितॄनचोदयः॥ ऋ० १।४२।५॥

(दस्र) हे दर्शनीय वा दुष्टोंके नाश करनेवाले (मंतुमः) ज्ञानवान् (पूषन्) पूषा! (ते अवः वृणीमहे) हम तेरी उस रक्षा को चाहते हैं (येन) जिस से कि तू (पितॄन् अचोदयः) पितरों को प्रेरित करता है।

पूषा पितरों को अपनी रक्षा द्वारा प्रेरित करता रहता है ऐसा यहांपर ज्ञात होता है।

ब्रह्मगौके दूध पीने से पितरों में पाप।

क्रूरमस्या आशसनं तुष्टं पिशितमस्यते।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम्॥
अथर्व० ५।१९।५॥

(अस्याः) इस ब्रह्मगौका (आशसनं) मारना (क्रूरं) क्रूरता का काम है। यदि (पिशितं अस्यते) उसका मांस खाया जावे तो वह (तृष्टं) प्यास लगानेवाला होता है। (अस्याः यत् क्षीरं पीयते) इसका जो दूध पिया जाता है (तद्) वह दूध पीना (वै) निश्चय से (पितृषु किल्बिषं) पितरों में पाप पैदा करनेवाला होता है।

संपूर्ण सूक्त देखने से ब्रह्म-गौका अर्थ ब्राह्मण की जमीन, वाणी किंवा गाय प्रतीत होता है। यदि राजा ब्राह्मण की जमीन को छीन ले वा उसपर कर लगावे अथवा अन्य किसी प्रकारका अत्याचार करे, तो उसे इससे क्या नुकसान होता है,इसका यहांपर वर्णन है। इसके अनुसार पितर शब्द से राजकर्म-चारियों का ग्रहण है।

पालक अर्थमें पितर।

खण्वखाई खैमखाइ मध्ये तदुरि।
वर्षे वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत॥
अथर्व० ४।१५।१५॥

(खण्वखे, खैमखे तदुरि) हे खण्वखा, खैमखा तथा तदुरि नामक जातिवाले मण्डूको! (वर्षे मध्ये वनुध्वं) वर्षाके बीचमें आनन्दित होओ। (पितरः) हे पालक जनो! तुम (मरुतां मन इच्छत) वायुओंका (मनः) मनन करने योग्य ज्ञान प्राप्त करो। अर्थात् किस वायु से कब व कैसी वृष्टि होती है इत्यादि वायुसंबन्धी ज्ञानके मनन करनेका प्रयत्न करो।

इस मंत्रके आध्यात्मिक अर्थमें पितर इन्द्रियोंके लिए आया प्रतीत होता है। आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है—

(खण्वखे) हे इडानाडि! (खैमखे) हे पिंगला नाडि! (तदुरि) हे ब्रह्म तक पहुंचानेवाली नाडि! तथा (मध्ये) हे मध्यमें रहनेवाली सुषुम्ना नाडि! तुम (वर्षे वनुध्वं) ब्रह्मज्ञानसे उत्पन्न आनन्दवृष्टिसे आनन्दित होओ। (पितरः) हे इन्द्रियगणो! तुम (मनः इच्छत) मनके साथ संगत होने की इच्छा करो अर्थात् मनके साथ

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

एकाग्र होओ, ताकि ब्रह्म ज्ञानका लाभ होसके। 'खण्वखाः-कण्वं आत्मानं खनतीति खण्वखाः। खकारः छांदसः। खैमखाः-खै स्थैर्ये से मन् प्रत्यय। जो स्थिरता उत्पन्न करे। तदुरी-तत् ब्रह्म इयर्तीति तदुरी।'

मेधाके उपासक पितर।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥
यजुः ३२।१४॥

(यां मेधां) जिस बुद्धिकी (देवगणाः पितरः च) देवगण तथा पितृगण (उपासते) उपासना करते हैं, हे अग्ने! (तया मेधया) उस मेधासे (अद्य) आज (मां) मुझे (मेधाविनं) मेधावी (कुरु) कर। (स्वाहा)।

इस मंत्रमें उस मेधाको मांगा गया है, जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं।

पितरोंका देवत्व लाभ।

महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम्। सम विव्यचुरुत यान्यत्विषु रैषां तनूषु नि विविशुः पुनः॥ ऋ. १०।५६।४॥

(एषां महिम्नः पितरः चन ईशिरे) इन देवोंकी महिमाके पितरभी स्वामी बने अर्थात् पितरोंने देवोंकी महिमाको प्राप्त किया यानि देव बन गए। और इस प्रकार (देवाः) देव हुए हुए (देवेषु अपि क्रतुं अदधुः) देवोंमेंभी कर्म करने लगे ताकि देवत्वसे भी ऊंचे पदका लाभ हो। (उत) और (यानि अत्विषुः) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे (सम विव्यचुः) एकत्रित हुए। तथा (पुनः) फिर (एषां) इन पितरोंके (तनूषु) शरीरोंसे (निविविशुः) पूर्णतया प्रविष्ट होगये। पितरोंके देवत्व लाभका इस मंत्रसे पता चलता है।

यज्ञका पितरोंमें जाना।

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ता मे भद्रमभूत्॥
यजुः ८।६०॥

(यज्ञः) यज्ञ (देवान् दिवं अगद्) देवोंको व द्युको गया है। (ततः) इस कारणसे (मा द्रविणं अष्टु) मुझे धनसे व्याप्त करे अर्थात् धन मिले।

इसी प्रकार यज्ञ मनुष्य व अंतरिक्ष, पितर व पृथिवी, तथा जिस किसी लोकको गया हुआ है वहांसे मुझे धनप्राप्ति करावे।

पितरोंके लिए यज्ञ करनेसे धनलाभ होता है ऐसा यहां हमें मंत्रसे पता चल रहा है। इस मंत्रमें यज्ञके महत्त्वका वर्णन है।

जनक अर्थमें पितर।

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः। देवत्वष्टर्भूरि ते संसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति। देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु॥
यजुः ६।२०॥

(ऐन्द्रः प्राणः) आत्मासंबन्धी प्राण (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्गोंमें (निदीध्यत्) प्रकाशित होवें। (उदानः अङ्गे अङ्गे निधीत) उदान वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होवें। (देवः त्वष्टः) त्वष्टा देव (यत् सलक्ष्मा विषुरूपं भवाति) जो एकसा होते हुएभी विविध रूपवाला होगया है उसे (सं समेतु) भली प्रकार एकत्रित करे वा एकसा बनावे। (अवसे) रक्षाके लिए (देवत्रा यंतं त्वा) देवोंके प्रति जाते हुए तेरे (माता पितरः) माता पिता (अनु मदन्तु) प्रसन्न होवें।

विषाणका ओषधि व पितर।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः। विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशिनी॥ अथर्व० ६।४४।३॥

इस मंत्रमें विषाणका नामक ओषधिका वर्णन है। हे ओषधि! तू (रुद्रस्य मूत्रं असि) भयंकर रुलानेवाले रोगसे छुडानेवाली है। अर्थात् तेरे सेवनसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भयंकर रोगका भी शमन होजाता है। तू (अमृतस्य नाभिः) अमरताकी जननी है। तेरे सेवनसे अमरत्व प्राप्त हो सकता है। (विषाणका नाम असि) तू विषाणका नामवाली है। तू पितृणां मूलात् उत्थिता) पितरोंके मूलसे प्रकट हुई हुई है तथा तू (वातीकृत-नाशिनी) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका नाश करनेवाली है।

इस मंत्रमें विषाणका ओषधिको पितरोंके मूलसे उत्पन्न हुई हुई बताया गया हैं। पितरोंके मूलसे उत्पन्न होनेका क्या अभिप्राय है, तथा ये पितर कौन हैं, जिनके कि मूलसे इस ओषधिकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि वैद्योंके खोज करनेका विषय है। संभव है वैद्यगण इसपर विशेष प्रकाश डाल सकें। वैद्यगण इस विषयमें सहायता करेंगे तो उत्तम होगा।

स्वर्गवर्णन।

यत्रा सुहार्दःसुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरहृता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ अथर्व० ६।१२०।३॥

(यत्र) जहांपर (सुहार्दः सुकृतः) साधु हृदयवाले श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरके रोगका त्याग करके अर्थात् रोगरहित शरीरसे युक्त हुए हुए (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं, (तत्र स्वर्गे) वहांपर स्वर्गमें (अश्लोणाः) अपङ्ग न होते हुए (अङ्गैः अहृताः) शरीरावयवोंसे कुटिल गतिवाले न होते हुए अर्थात् अङ्गादिके ढेढे न होनेसे सुन्दर गति करते हुए (पितरौ) माता, पिता तथा (पुत्रान्) पुत्रोंको देखें।

इस मंत्रमें स्वर्गका वर्णन है। जहांपर नीरोगी होते हुए मनुष्य सुखी रहते हैं, वह स्वर्ग है, ऐसा मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

पितरोंका धन आदि देना।

यन्माहुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः। यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ अथर्व० ६।७१।२॥

(यत्) जो प्रथम मंत्रोक्त गाय, घोडा, सोना आदि धन(हुतं) दिया हुआ अथवा(अहुतं)किसीसे न दिया हुआ,स्वयं कमाया हुआ और जो (पितृभिः दत्तं) पितरोंसे दिया हुआ जिसको कि (मनुष्यैः अनुमतं) मनुष्योंने अनुमति दी है अर्थात् जो साधिकार न्यायसे (मा) मुझे (आजगाम) प्राप्त हुआ है, और (यस्मात्) जिस धनसे (मे मनः उत् इव रारजीति) मेरा मन उदयको प्राप्त हुआ हुआ अत्यंत शोभायमान हो रहा है, (तत्) उस धनको (होता अग्निः) दाता अग्नि (सुहुतं) उत्तमतासे दिया हुआ बनावे। अर्थात् उसको मैं सन्मार्गमें लगाऊं ऐसी मुझे सन्मति प्रदान करे।

व्रात्य व पिता, पितामह आदि।

स सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलत्॥ अथर्व० १५।६।२४॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन्॥ अथर्व० १५।६।२५॥

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ अथर्व० १५।६।२६॥

(सः) उस व्रात्यने (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब भीतरी देशोंमें (अनुव्यचलत्) विचरण किया॥ १५।६।२४॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे (प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च) प्रजापति अर्थात् राजा, परमेष्ठी यानि ऊंचेपदवाले विद्वान् वा संन्यासी पिता तथा पितामह विचरने लगे॥ १५।६।२५॥ (यः) जो व्यक्ति (एवं) इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र (१५।६।२५) में कहे अनुसार (वेद) जानता है, वह प्रजापति, परमेष्ठी, पिता तथा पितामहका (प्रियं धाम) प्रियघर बनता है अर्थात् उसीके घरमें यह पूजनीय वर्ग आता है दूसरेके घरमें नहीं।

व्रात्य अर्थात् अतिथिका महत्त्व यहां दिखाया गया है। अतिथिके पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके घरको अपने आगमनसे पवित्र करे।

स महिमा सद्रुभूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत्॥ अथर्व० १५।७।१॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहः इषश्च श्रद्धा च वर्ष भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥
अथर्व० १५।७।२॥

(सः) उस व्रात्यने (महिमा) अपनी महिमासे (सद्युः भूत्वा) वेगवान् होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथिवीके अन्तको प्राप्त किया। और (सः) वह व्रात्य (समुद्रः अभवत्) समुद्र हुआ ॥ १५।७।१॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे पीछे प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, (आपः) श्रेष्ठ कर्म, (श्रद्धा च)और श्रद्धा (वर्ष भूत्वा) वर्ष बनकर (व्यवर्तयन्त)वर्तमान हुए वा वर्ताव करने लगे।

यहां परभी व्रात्यकी महिमा गाई गई है।

पितरोंका जल्पिके विषयमें अज्ञान।

नैतां विदुः पितरो नोत देवाः येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम्। त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः॥ अथर्व.१९।५६।४॥

(येषां) जिन ३३ देवोंकी (जल्पिः) दुःस्वप्नकी कारणभूत जो यह वाणी (इदं अन्तर) इस जगत्के बीचमें (चरति) विचरण कर रही है, (एतां) इस वाणीको (न पितरः विदुः न उत देवाः) न तो पितर ही जानते हैं और नहीं देव। (वरुणेन अनुशिष्टाः) वरुण द्वारा भली प्रकार उपदेश किए गए (आदित्यासः नरः) आदित्य नरोंने (स्वप्नं) स्वप्नका (आप्त्ये त्रिते) आप्त्य त्रितमें (अदधुः) स्थापित किया।

इस मंत्रसे प्रकृत विषयमें इतना ज्ञात होता है कि पितर जल्पि को नहीं जानते।

नाराशंस पितर।

.....पितरो नाराशंसाः॥ यजुः। ८। ५॥

(नाराशंसाः) नर जिनकी प्रशंसा करते हैं वे (पितरः) पितर नाराशंस पितर कहलाते हैं।

पिता-पितामह आदि पितर।

जीवं रुदन्ति विमयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मनः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे।
ऋ० १०।४०।१०॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है-

जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे॥
अथर्व. १४।१।४६॥

(नरः) जो नर (जीवं रुदन्ति) पत्नियोंके जीवन के उद्देश्य से रोते हैं अर्थात् जो स्त्रियों की बहुत परवाह करते हैं,उनकी दुर्दशापर रोते हैं तथा जो (अध्वरे विमयन्ते) यज्ञमें उन स्त्रियों को प्रविष्ट कराते हैं अर्थात् उनके साथ यज्ञ में बैठते हैं,अथवा जो स्त्रियों की हिंसा नहीं करते, और जो (दीर्घां प्रसितिं) भुजाओंका लंबा लंबा आलिंगन स्त्रियोंको (अनुदीधियुः) देते हैं अर्थात् उनसे खूब प्रेम करते हैं, और (ये) जो (पितृभ्यः) पितरों के लिए (वामं) सुन्दर संतान को (समेरिरे) पैदा करते हैं, ऐसे (पतिभ्यः) पतियोंके लिए (जनयः) पत्नियां (परिष्वजे) आलिंगन के लिए (मयः) सुख देती हैं अर्थात् ऐसे पतियों को ही वास्तव में पत्नीसुख मिलता है।

इस मंत्रमें पत्नीसुख अर्थात् गार्हस्थ्यसुख किनको मिलता है,यह उत्तमतया दर्शाया गया है। पितरों के लिए संतानोत्पत्ति करने व यज्ञमें पत्नीके बैठाने का भी यहां निर्देश है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(२) यम।

अबतक के प्रकरणों में पितरों का विषय था वह प्रायः समाप्त हुआ है। अब हम आगे के प्रकरणोंमें यम पर विचार करेंगे। यमविषयक मंत्रों के हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभाग में उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें यमको कोई खास विशेषण प्रयुक्त हुए हुए न होंगे। द्वितीय विभागमें विशेषणविशिष्ट यम होगा। विशेषणविशिष्ट यमवाले मंत्र यमकी उत्पत्ति, स्थिति आदि विषयोंमें कुछ प्रकाश डालने में सहायक हो सकेंगे। द्वितीय विभाग के शीर्षक का नाम 'वैवस्वत यम' रखेंगे क्योंकि वैवस्वत विशेषण ही प्रायः यमके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है।

प्राणापहारी यम।

यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है। प्राणियों के जीवन के अपहरण का कार्य यम करता है। मृत्यु यमका ही दूत है, यह हमें आगे पता चलेगा। प्राणियोंके मारनेका काम यम करता है, यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है।

यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहितः एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ऋ० १०।१६५।४॥

(उलूकः यत् वदति) उल्लू जो अशुभ बोलता है (एतत्) यह उसका बोला हुआ (मोघं) निष्फल हो, अर्थात् इस उल्लूने जिस आनेवाली आपत्तिकी सूचना दी है वह निष्फल होवे। (कपोतः) और कबूतर (अग्नौ यत् पदं कृणोति) अग्निमें जो पैर करता है अर्थात् पैरसे अग्नि सेकता है, वह भी निष्फल हो। इस अपशकुन से सूचित आपत्ति का भी निराकरण हो। (एषः) यह उल्लू वा कबूतर (यस्य प्रहितः दूतः) जिसका भेजा हुआ दूत है उस (मृत्यवे यमाय) मारनेवाले यम के लिए (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे।

इस मंत्र में उल्लू के बोलने वा कबूतर के पैर से अग्नि सेकने आदि अपशकुन से उत्पन्न आपत्ति-निवारण की प्रार्थना है। अथर्ववेद सू० ६ मंत्र २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। पाठक वहां देख सकते हैं। ऐसे अपशकुन मृत्यु की संभावना को सूचित करते हैं, ऐसा जान पडता है। अतएव इन अपशकुनोंके करनेवालों को यमका दूत कह कर पुकारा गया है। शकुन व अपशकुन संबन्धी वेदमंत्र हैं यह पाठकोंको लक्ष्यमें रखना चाहिए। अस्तु, यहां यम उसी अर्थ में है जिस अर्थ में कि वह प्रसिद्ध है।

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः। योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥

अथर्व० ६।२८।३॥

(यः) जिस यमने (अनुपस्पशानः) खोज करते हुए (बहुभ्यः प्रथमः) बहुतोंसे पहिले होकर (प्रवतं पन्थां आससाद) प्रकृष्ट मार्ग को प्राप्त किया तथा (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दोपैरोंवाले मनुष्यजगत् का व (अस्य चतुष्पदः) इस चारपैरोंवाले पशुजगत् का (ईशे) स्वामी है, (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) मृत्यु करनेवाले यम के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

यहां पर भी यम उसी अर्थ में है जिस अर्थमें कि पूर्व मंत्रमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥

अथर्व० ६।६३।२॥

हे (तिग्मतेजः निर्ऋते) हे तेज नष्ट करनेवाली निर्ऋति! (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार है। (अयस्मयान् बन्धपाशान्) लोहे की बनी हुई बेडियों को (विचृत) खोलदे, काटदे। (यमः) यमने (त्वां)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तुझ (मह्यं) मेरे लिए (पुनः इत्) फिर भी (ददाति) दिया है अर्थात् पुनः यमने मुझको तुझे सौंपा है। (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) प्राणापहरण करनेवाले यम के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

तिग्मतेज- 'तिग गतौ हिंसायां च' से हिंसा अर्थ में तिग शब्द बनानेपर इसका अर्थ होगा कि जो तेज का नाश करे वह तिग्मतेज।

निर्ऋति का अर्थ है कष्ट, दुःख, अनिष्ट।

यम यहां पर भी उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ है।

एवोष्वस्मान् निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वा ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥
अथर्व० ६।८४।३॥

(निर्ऋते) हे निर्ऋति! (त्वं) तू (अनेहा) न मारनेवाली होती हुई (अस्मान्) हमारे (एवो) उसी पूर्वोक्त प्रकारसे (अयस्मयान्) लोहमय-लोह के बने हुए (बन्धपाशान्) बेडियों को (विचृत) खोलदे काट दे। (यमः त्वा पुनः इत्) यमने तुझको फिर भी (मह्यं ददाति) मुझे सौंपा है। (तस्मै मृत्यवे यमाय) उस प्राणापहरण करनेवाले यम के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः। पथा यमस्य गादुप॥ ऋ० १।३८।५॥

हे मरुतो! (यवसे मृगः न) जिस प्रकार पशु घास आदि भक्ष्य पदार्थोंसे पृथक् नहीं होता अर्थात् सृष्टिमें उसे जैसे सदा घास आदि भक्ष्य पदार्थ स्वतंत्रासे मिलते रहते हैं, उसी प्रकार (वः जरिता) तुम्हारी स्तुति करनेवाला (अजोष्यः) अप्रीतिकर अथवा असेवनीय अर्थात् उपभोगसामग्री की प्राप्ति से रहित (मा) मत होवे। उपासकको भी मृग की तरह स्वतंत्रतासे उपभोगसामग्री प्राप्त होती रहे। और वह उपासक (यमस्य पथा) यम के मार्ग से (मा उपगात्) मत जावे यानि शीघ्र मृत्युको प्राप्त मत होवे।

इस मंत्र में भी स्पष्ट रूपसे प्राणापहरण करनेवाले यम का ही उल्लेख है।

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत। बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्॥ ऋ० १०।१३।४॥

इस मंत्र का उत्तरार्ध थोडेसे पाठभेद के साथ अथर्ववेद में इस प्रकार से आया है—

बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं मा रिरेच॥ अथर्व० १८।३।४१॥

(देवेभ्यः) देवोंके लिए (कं मृत्युं) किस मृत्युको (अवृणीत) स्वीकृत किया है अर्थात् देवों के लिए मृत्यु कौनसी है? (प्रजायै) उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि संतति के लिए (किं अमृतं न अवृणीत) क्यों अमरता स्वीकृत नहीं की? अर्थात् प्रजाको अमर क्यों नहीं बनाया? मनुष्योंने (बृहस्पतिं ऋषिं) बृहस्पति ऋषिको अमरताप्राप्तिके लिए (यज्ञं अकृण्वत) यज्ञ बनाया, तोभी (यमः) यमने उनके (प्रियां तनुं) प्रिय शरीराको छीन लिया अर्थात् तोभी उन्हें अमरताका लाभ न हुआ। अथवा अथर्ववेदके पाठभेदानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकारभी हो सकता है-

(देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था? अर्थात् देवभी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए (अमृतं अवृणीत) अमरताको प्राप्त किया पर (प्रजायै) प्रजाके लिए (किं अपि अमृतं न) कोईभी अमरता न प्राप्त की अतएव (यमः) प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे (प्रियां तनं) उनकी प्यारी देह (प्रारिरेचीत्) छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है।

यहांपर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी नश्वरता का वर्णन किया गया है।

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। यममृत्वा ते पराञ्चोऽव्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि॥ अथर्व० ४।४०।२॥

(जातवेदः) हे जातवेद! ये जो शत्रु (दक्षिणतः)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

दाहिनी ओरसे (जुह्वति) यज्ञ करके हमारे पर आक्रमण करते हैं और जो (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशासे (अस्मान् अभिदासन्ति) हमें दास बनानेके लिए आक्रमण करते हैं (ते) वे शत्रु (यमं ऋत्वा) यमको प्राप्त करके (पराञ्चः) पीठ मोड कर भागते हुए (व्यथन्तां) व्यथित होवें अर्थात् उनका दुर्दशापूर्वक नाश होवे। (एनान्) इन शत्रुओंको मैं (प्रतिसरेण) प्रति सरसे (हन्मि) मारता हूं।

प्रतिसर-सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि जिससे आभिचारिक कर्मका निवारण हो।

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि यमेन समजीगमत्॥ अथर्व० ६।३२।२॥

(पिशाचाः) हे पिशाचो! (वः ग्रीवाः) तुह्मारी गर्दनोंको (रुद्रः) रुद्रने (अशरैत्) काट डाला है। (यातुधानाः) हे पीडा देनेवालो! (वः पृष्टीः अपि) तुह्मारी पसलियां भी वह रुद्र (शृणातु) काट डाले। (विश्वतः वीर्या वीरुध्) सम्पूर्ण तथा वीर्यसे युक्त ओषधि! (वः) तुम्हें (यमेन सं अजीगमत्) यमके साथ भली भांति संयुक्त करे अर्थात् मार डाले।

इस मंत्रमें शत्रुविनाशार्थ जहरी औषधियों के प्रयोग करनेका निर्देश है। यमका अर्थ यहां अत्यन्त स्पष्ट है।

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोस्ता नीलशिखण्डः। देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परिवृञ्जन्तु वीरान्॥ अथर्व० ६।९३।१॥

(यमः) यम, (मृत्युः) मृत्यु, (अघमारः) पापसे वा पाप के कारण मारनेवाला, (निर्ऋथः) निरन्तर पीडा देनेवाला, (बभ्रुः) पालक, (शर्वः) हिंसक (अस्ता) उठाकर फैंक देनेवाला, (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड (ते) उपरोक्त (देवजनाः) तथा देवजन मिलकरके (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेना द्वारा आक्रमण के लिए तैयार हुए हुए (अस्माकं वीरान्) हमारे वीर सैनिकों को (परिवृञ्जन्तु) छोड देवें अर्थात् लडाईमें हमारे सैनिकों का विनाश न हो, अपितु उपरोक्त सब शत्रुसैनिकोंका विनाश करें। यहांपर भी यमकी गिनती मारनेवालोंमें की गई है।

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्। अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ अथर्व० ६।११०।२॥

(ज्येष्ठघ्न्यां जातः) ज्येष्ठघ्नीमें पैदा हुए हुए तथा (विचृतोः) विचृत् में पैदा हुए हुए इस कुमारकी (यमस्य मूलबर्हणात्) यमके मूलोच्छेदनसे हे अग्नि! (परि पाहि) रक्षा कर। इसे मरनेसे बचा। (एनं) इस पुत्रको (विश्वानि दुरितानि) सर्व पापों-विघ्नोंसे (अति) बचाकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घायुके लिए (नेषत्) लेचल। इसे सौ वर्षकी पूर्ण दीर्घायु प्राप्त होवे।

ज्येष्ठघ्नी- ज्येष्ठा नामक नक्षत्रमें उत्पन्न संतान ज्येष्ठका नाश करती है। इस विषयमें तैत्तिरीय ब्राह्मण का निम्न वचन है- 'ज्येष्ठ एषां अवधिष्मेति तज्जेष्ठघ्नी'। तै० ब्रा० १।५।२।८॥

विचृत्- हिंसक स्वभाववाले, मूल नक्षत्रका नाम है। इसमें पैदा हुई हुई संतान नष्ट हो जाती है। इसमें निम्न तै० ब्रा० का वचन है- 'मूलं एषां अवृक्षामेति तन्मूलबर्हिणी'॥ तै० ब्रा० १।५।२।८॥

यहांपर यमका जो संततिका मूलोच्छेदन अर्थात् जडसे नाश करना है, उससे बचानेकी प्रार्थना है। एवं यम यहांपर विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त है।

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु। इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषामसवो यमं गुः॥ अथर्व० १८।३।६२॥

(नः) हमें (विवस्वान् अमृतत्वे) विवस्वान् सूर्य अमरतामें (दधातु) स्थापित करे। (मृत्युः परा एतु) मृत्यु दूर भाग जाय। (अमृतं नः एतु) हमें अमरत्व प्राप्त होवे। (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (विवस्वान्) सूर्य (जरिम्णः आरक्षतु) बुढापे तक रक्षा करे। (एषां असवः मो यमं गुः) इनके प्राण यमको मत जावें।

इस प्रकार इन मंत्रोंके अवलोकनसे यम एक

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नाशक शक्ति है, यह प्राणियोंके प्राण हरण करनेवाला है यह हमें स्पष्ट रूपसे पता चलता है। यम अन्य अर्थोंमें भी वेदोंमें प्रयुक्त है जैसा कि हम आगे चलकर दिखायंगे, पर इसके साथ साथ यम नाश करनेके अर्थमें भी प्रयुक्त है। इसीको हम यूंभी कह सकते हैं कि प्राणियोंके प्राण हरण करनेके महकमेके अधिकारी का नाम यम है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यम इस महकमेका राजा है। इसकी बाकायदा प्रजा है, इसका लोक है, इसके दूत हैं, इत्यादि।

अश्विनौ व यम।

वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना। तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय॥ ऋ० १।११६।२॥

हे (शाशदाना) चीराफाडी करनेवाले (नासत्या) अश्विनौ! (वीळुपत्मभिः) बलसे गिरनेवाले अर्थात् शक्तिशाली, (आशुहेमभिः) शीघ्रगामी घोडोंसे (वा) अथवा (देवानां जूतिभिः) देवोंकी प्रेरणाओंसे (तत् रासभः) उस रासभ अर्थात् गर्दभने जो कि तुह्मारी अश्विनौकी (सवारी है) (यमस्य) यमके (प्रधने आजौ) जिसमें बहुत धनकी प्राप्ति होती है ऐसे संग्राममें (सहस्रं) हजारोंको जीत लिया।

इस मंत्रमें अश्विनौ व यमकी लढाईका आलंकारिक वर्णन है। यम मारनेवाला है, और अश्विनौ देवोंके वैद्य होनेसे जीलानेवाले हैं। यहांपर यमका पराजय व अश्विनौके रासभकी जीतका वर्णन है।

शाशदाना- शदळ शातने से यह शब्द बना है। इसका अर्थ चीराफाडी करनेवाले (अर्थात् Surgery के जाननेवाले।)

रासभ- गर्दभ, गधा। यह अश्विनौ की सवारी ह। देखो निघण्टु १।१५॥

अमुत्र भूयादधि यद् यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः। प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः॥

यजुः २७।९; अथर्व० ७।५३।१॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति! (यमस्य अमुत्र भूयात् अभिशस्तेः) इस परलोकमें यमके कष्टसे (अमुंचः) हमें छुडा अर्थात् यम हमें मारने व पावे। (अग्ने) हे अग्नि! (देवानां भिषजा अश्विना) देवके वैद्य अश्विनौ (शचीभिः) अपनी शक्तियों से-सामर्थ्योंसे (अस्मत् मृत्युं) हमारी मृत्युको (प्रत्यौहतां) दूर करें।

अश्विनौ मृत्यु दूर करनेमें समर्थ हैं, ऐसा यहां पर व्यक्त होता है। यमकी हिंसासे बचानेके लिए प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार अश्विनौका जिस यमसे मुकाबला पडता है वह भी यम वही है, जो हम ऊपर दर्शा आए हैं। उपरोक्त यमकी ही पुष्टि इन मंत्रोंसे हो रही है।

विष्टारी ओदन व यम।

विष्टारिणं ओदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदाचन। आस्ते यम उपयाति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः॥ अथर्व० ४।३४।३॥

(ये) जो (विष्टारिणं ओदनं) विस्तारवाले अर्थात् फैले हुए ओदन को (पचन्ति) पकाते हैं, (एनान्) उनको (अवर्तिः) दरिद्रता (कदाचन) कभी भी (न सचते) प्राप्त नहीं होती अर्थात् वे कभी भी गरीब नहीं होते। वह ओदन पाचक (यमे आस्ते) यममें स्थित होता है, (देवान् उपयाति) देवों को प्राप्त होता है और (सोम्येभिः गन्धर्वैः) सोम्य गंधर्वों के साथ (संमदते) आनन्दित होता है।

विष्टारी ओदन पाचक की यममें स्थिति होती है, ऐसा यहां दर्शा गया है।

एवं इस मंत्रमें विष्टारी ओदन की महिमा का वर्णन किया गया है। यहां यमका अर्थ योगशास्त्रोक्त अहिंसादि षड्यम प्रतीत होता है। परन्तु इससे अगले मंत्र अर्थात् ४।३४।४ में यम उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ प्रतीत होता है। वह मंत्र इस प्रकार है-

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः। रथीह भूत्वा रथयान ईयते

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥
अथर्व० ४।३४।४॥

(ये) जो (विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) विस्तृत ओदन को पकाते हैं (एनान् रेतः यमः न परिमुष्णाति) उनका वीर्य-सामर्थ्य यम अपहरण नहीं करता । (ह) निश्चयसे वह ओदन पाचक (रथी भूत्वा) रथ पर सवार होकर (रथयाने) रथ से जाने योग्य अर्थात् उत्तम मार्ग में (ईयते)विचरण करता है । अर्थात् वह रथादि यानों से संपन्न हुआ हुआ सर्वत्र विचरण करता है । (पक्षी भूत्वा)पक्षपंखोंवाला होकर अर्थात् विमानादि वायुयानों में सवार होकर (दिवः समेति) द्युलोक में विचरण करता है । वह आकाश, भूमि आदि सर्व स्थानों में अव्याहत गति से विचरण कर सकता है । उसके जाने के लिए कहीं भी रोक टोक नहीं ।

यम जो सब का सामर्थ्य हरण कर लेता है, वह भी इसका वीर्य नहीं हरता । इस प्रकार इन दोनों मंत्रों में विष्टारी ओदन की महिमा गाई गई है । यम को भी इसके पाचक के सामने हार माननी पडती है ऐसा इस सारे का अभिप्राय व्यक्त होता है ।

विष्टारी ओदन-विष्टारी का अर्थ है विस्तारवाला अर्थात् जिसका परिमाण बडा विस्तृत है । ओदन शब्द यहांपर अन्न का उपलक्षण है। विष्टारी यज्ञ ओदन से किया जाता है । इस अन्नदानयज्ञ की महिमा इस सूक्त में दर्शाई गई है ।

यम का कर्ता अग्नि ।

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः । अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥ ऋ० १०।५२।३॥

(अयं यः होता) यह जो दान-आदान करनेवाली अग्नि है (स) वह (यमस्य किः) यमकी कर्ता है। वह (कं अपि ऊहे) अन्नका भी वहन करती है (यत्) जिस अन्न को (देवाः समञ्जन्ति)देव लोक खाते हैं । यह अग्नि (अहः अहः जायते), प्रतिदिन हवन के समय उत्पन्न होती है अर्थात् इसे प्रज्वलित किया जाता है । और यह (मासि मासि) प्रत्येक मासमें वा प्रत्येक पक्षमें मासिक व पाक्षिक यज्ञमें प्रकट होती है । (अथ) और (देवाः)देवगण (हव्यवाहं) हव्य का वहन करनेवाली इस अग्नि को (दधिरे) स्थापित करते हैं ।

इस मंत्रमें अग्नि को यम की करनेवाली बताया गया है। यहांपर यम का अर्थ वायु भी हो सकता है क्यों कि अग्नि वायु को शुद्ध करती है । प्रचण्ड अग्नि की उद्दीप्त होनेपर हवा खूब जोर से चलने लगती है। इसके अतिरिक्त इस मंत्रसे यह भी पता चलता है कि दैनिक, पाक्षिक तथा मासिक यज्ञ करने चाहिए ।

क = अन्न । मास = मास तथा पक्ष ।

यमकी बेडी ।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ।
॥ ऋ० १०।९७।१६॥ यजुः१२।९०॥
अथर्व. ६।९६।२॥ तथा ७।११२।२॥

(मा) मुझे औषधियां (शपथ्यात्) शाप देने से होनेवाले पापसे (मुञ्चन्तु) छुडावें । (अथ उत) और (वरुण्यात्) वरुण संबन्धी किए गए पापसे छुडावें । (अथ) और (यमस्य) यमकी (पड्वीशात्) पैरोंके बेडियोंसे छुडावें । (सर्वस्मात् देवकिल्बिषात्) सभी देवोंके संबन्धी पापोंसे औषधियां मुझे छुडावें । पड्वीश पादबंधन, शृंखला=पैरों की बेडी ।

उत् त्वाहार्षं पञ्च शलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ अथर्व० ८।७।२८॥

(त्वा) तुझे (पंचशलात्)पंचभूतमें होनेवाली पापसे (अथ उत) और (दशशलात्) दशों दिशाओंमें होनेवाले पापसे (अथ) और (यमस्य पड्वीशात्) यमकी पैरोंकी बेडियोंसे तथा (विश्वस्मात्) सारे (देवकिल्बिषात्) देवोंके प्रति किए गए पापोंसे (उत् आहार्षं) बचाकर ऊपर ले गया हूं ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इन मंत्रोंमें यमकी बेडियोंसे छूटनेकी प्रार्थना है। यहां पर भी यम मारनेवाला ही है, यह स्पष्ट पता चला रहा है। आगे चलकर यमविषयक वर्णन जब हम देखेंगे तो यमकी पड्वीश आदिका खुलासा स्वयमेव हो जाएगा।

वैवस्वत यम।

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥
ऋ० १०।५८।१॥

(ते) तेरा (यत् मनः) जो मन (दूरकं) बहुत दूर (वैवस्वतं यमं) विवस्वान् के पुत्र यमके पास (जगाम) चला गया है, (ते तत्) तेरा वह मन पुनः (इह) इस लोकमें (क्षयाय) निवास करनेके लिए व (जीवसे) जीवन धारण करनेके लिए हम (आवर्तयामसि) लौटाते हैं।

यहां पर वैवस्वत यम के पास चले गए मनके प्रत्यावर्तनका उल्लेख है। यमको वैवस्वत विशेषण दिया गया है। वैवस्वतका अर्थ है विवस्वान् की संतान। इससे यह पता चलता है कि मारनेवाला यम विवस्वान् का लडका है। इसपर हम थोडासा प्रकाश आगे चलकर डालेंगे।

क्षयाय = निवास करनेके लिए, रहनेके लिए। ' क्षि निवासगत्योः '॥

यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये॥
ऋ० १०।६०।१०

(अहं) मैं (वैवस्वतात् यमात्) विवस्वान् के पुत्र यमसे (सुबन्धोः मनः आभरम्) सुबन्धु अर्थात् उत्तम बन्धुका मन छीन करके ले आता हूं। किस लिए? (जीवातवे) इस लोकमें जीनेके लिए (मृत्यवे न) मरनेके लिए नहीं। (अथ) और (अरिष्टतातये) सुखके विस्तारके लिए।

इस मंत्रका भाव भी पूर्वके मंत्रसे मिलता है। यहां परभी यमको विवस्वान् के पुत्रके नामसे कहा गया है। निम्न लिखित मंत्र हमारी ऊपरकी स्थापनाको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है। इसमें यमकी माता व पिता विवस्वान् दोनोंका उल्लेख है। विवस्वान् कौन है यह भी पाठकोंको इससे स्पष्ट रूपमें पता चल जायगा। मंत्र इस प्रकार है –

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महोजाया विवस्वतो ननाश॥ ऋ० १०। १७।१;
अथर्व० १८।१।५३॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति) इकट्ठा होता है। (परि उह्यमाना) व्याही जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है।

इसी सूक्त के प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री का नाम सरण्यू है और उस का त्वष्टा विवस्वान् के साथ विवाह करता है। इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री सरण्यू यमकी माता है व विवस्वान् की पत्नी है अर्थात् विवस्वान् यमका पिता है। अब हमें यह देखना है कि यमका पिता यह विवस्वान् कौन है।

यास्काचार्य इस मंत्रके उत्तरार्धकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, कि ' यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते।' अर्थात् यमकी माता व्याही जाती हुई जो कि महान् विवस्वान् की जाया है नष्ट हो गई। आगे 'जाया विवस्वतो ननाश' का स्पष्टीकरण करते हैं कि ' रात्रि सूर्यकी जाया, सूर्यके उदय होनेपर छिप जाती है।'

इस प्रकार विवस्वान्का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य। इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न परिणाम पर पहुंचते हैं- यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिताका नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है, अतएव उसे वेदमंत्रोंमें ' वैवस्वत ' के नामसे पुकारा गया है। वैवस्वत यमका ही सर्वत्र विशेषण है अन्य का नहीं, अत एव वैवस्वतके साथ यम न भी प्रयुक्त हुआ हुआ हो, तो भी इसीका ग्रहण होता है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

निम्न लिखित मंत्रोंमें अकेले 'वैवस्वत' शब्द-काही प्रयोग है।

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः॥
ऋ० १०।१६४।२॥

इस मंत्रमें दुष्ट स्वप्नके नाश करनेकी प्रार्थना है। अर्थ इस प्रकार है—

सब लोक (वै) निश्चयसे (भद्रं वरं वृणते) कल्याणकारी वरको ही चाहते हैं। (दक्षिणं भद्रं) बढे हुए कल्याणसे ही अपना (युञ्जन्ति) योग रखना चाहते हैं। (वैवस्वते भद्रं चक्षुः) विवस्वान् के पुत्रकी मैं कल्याणकारी चक्षुको अर्थात् उसकी कृपादृष्टि चाहता हूं, ताकि दुःस्वप्न हमें बाधा न पहुंचावे। क्योंकि (बहुत्रा) बहुतसे विषयोंमें (जीवतः) जीते हुए अर्थात् लगे हुए मेरा (मनः) मन उनमें विचरण करता रहता है, अतः दुःस्वप्न आनेकी संभावना है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है, कि कल्याणकारी विचार व वातावरण रहनेसे दुःस्वप्न नहीं आ-सकता। दुःस्वप्न न आनेके लिए वैवस्वतसे प्रार्थना की गई है। यह वैवस्वत यम ही है, यह उपरोक्त विवेचनसे तो पुष्ट हो ही रहा है, पर आगे चलकर 'यम व स्वप्न' इस प्रकरणमें हमें स्पष्ट रूपसे ज्ञात होगा कि स्वप्नका यमसे कितना संबन्ध है। दुःस्वप्न यमका साधन है अर्थात् दुःस्वप्नसे मृत्यु भी हो सकती है। अस्तु। वहांपर यह सब स्पष्ट रूपसे हम दर्शानेका प्रयत्न करेंगे।

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति। मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे॥ अथर्व. ६।११६।२॥

(वैवस्वतः) विवस्वान्का पुत्र (भागधेयं कृणवत्) भागको करे अर्थात् बँटवारा करे। (मधु-भागः) उत्तम भाग करनेवाला वह हमें (मधुना संसृजाति) हमें मधुसे युक्त करे। अर्थात् हम भी उत्तम बंटवारा करनेवाले हों व सर्वप्रिय बनें। (यत् एनः) जो पाप (मातुः नः आगन्) मातासे हमें प्राप्त हुआ है अर्थात् माताका अपराध करनेसे यदि हमने कोई पाप किया है तो वह (यद् वा) अथवा जिस पापसे (पिता अपराद्धः) हमने पिताका अपराध किया है जिससे कि पिता (जिहीडे) क्रोधित हुआ है, वह सब उपरोक्त शांत होवे।

इस प्रकार इस प्रकरणमें हमें यमके संबन्धमें निम्न लिखित मुख्य बातोंका पता चलता है-

(१) यम नामक कोई प्राणियोंके जीवनोंका अप-हरण करनेवाला है।

(२) उसके पिताका नाम विवस्वान् (सूर्य) है, अतएव उसका दूसरा नाम वैवस्वत भी है।

(३) उसकी माताका नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टाकी पुत्री है।

इतने यमसंबन्धी विवेचनके बाद हम यह देखेंगे कि यमका रहनेका कोई स्थान है वा नहीं, वह प्राणि-योंको मारकर कहांपर लेजाता है, इत्यादि।

यमलोक व यमराज्य।

इस प्रकरणमें हम यमके लोक व उसके राज्यके संबन्धमें विचार करेंगे अर्थात् यमलोक यदि है, तो कहांपर है, इसपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे। निम्न लिखित मंत्र यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि यमका एक खास लोक है-

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु-दत्तं न एतत्। ऋणान्नो नर्णमेत्वसमानो यमस्य लोके अधि रज्जुरायात्॥
अथर्व० ६।११८।२॥

हे (उग्रंपश्ये) तीव्रदृष्टिवाली तथा हे (राष्ट्रभृत्) राष्ट्र का भरण पोषण करनेवाली अप्सराओ! (किल्बिषाणि) सर्व पाप व (यत् अक्षवृत्तं) जो पाप इन्द्रियों द्वारा किया है (तत्) वह पाप (नः) हमें (अनुदत्तं) अनुकूलतासे दिया हुआ हो अर्थात् उस पापसे हमें हानि न पहुंचे इस प्रकारसे दो, उस पापको दूर करो। और (ऋणात् ऋणं एत्वसमानः) ऋणसे व्याज आदि द्वारा ऋणको बढाता हुआ उत्त-मर्ण अर्थात् ऋण देनेवाला (यमस्य लोके) यमके लोकमें (अधिरज्जुः) हाथमें रस्सी लिए हुए (नः न आयात्) हमें प्राप्त न होवे अर्थात् हमें ऋणसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भी मुक्त कर दो ताकि यमलोकमें हम सुखपूर्वक रह सकें।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि जबतक ऋण न चुकाया जावे तबतक मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता। मरनेवाला यदि ऋण बिनाचुकाए मरेगा तो यमलोकमें भी उसे वह ऋण चुकाना पडेगा। उत्तमर्ण वहांपर भी अपना ऋण लेनेके लिए पीछा करता हुआ आ पहुंचेगा। ऋण लेना कितना कष्ट-प्रद है यह इससे पता चलता है।

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः॥
अथर्व० १२।११।३॥

इस मंत्रके अर्थके स्पष्टीकरणके लिए पूर्व मंत्रको भी साथमें लेना चाहिए। पूर्व मंत्र इस प्रकार है-

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनु संदह॥
अथर्व० १२।११।२॥

हे (अघ्न्ये) अहिंसा करनेके अयोग्य! हे देवी ब्रह्मगौ! (ब्रह्मज्यं) ब्रह्मकी हिंसा करनेवाले घातकको (आमूलात्) जडसे लेकर उपरतक (अनुसंदह) संपूर्ण जला दे॥ १२।११।२॥ (यथा) जिससे कि वह ब्रह्मघातक (यमस्य सादनात्) यमके सदनसे भी (परावतः) दूर स्थित (पापलोकान्) पापियों-के लोकको (अयात्) जावे।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि घोर कर्म करनेवाले पापियोंको यमलोकमें स्थान नहीं मिलता, वे उस यमलोकसे भी परेस्थित पापलोक में जाते हैं। इसके उलट यह भी ज्ञात होता है कि यमलोकमें जानेवाले पापियोंके अतिरिक्त जन हैं। अतः यमलोक निकृष्ट स्थान नहीं है।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धमते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥
ऋ० १०।१३५।७॥

(इदं यमस्य सादनं) यह यमका घर है। (यत् देवमानं उच्यते) जो कि देवों द्वारा बनाया गया है, इस प्रकार कहा जाता है। (अस्य इयं नाळीः) इस यमकी प्रीतिके लिए यह स्तुतिरूपी वाणी (धमते) उच्चारण की जाती है। (अयं) यह यम (गीर्भिः) स्तुतियुक्त वाणियोंसे (परिष्कृतः) शोभित होवे।

इन मंत्रोंसे हमें साधारणतया इतना पता चलता है कि यमलोक करके कोई स्थान अवश्य है। निम्न लिखित मंत्रोंके देखनेसे ऐसा पता चलता है कि यमका उस लोकमें राज्य है अर्थात् यम वहां का राजा है। उस लोकका यम राजा होनेसे उसका नाम यमलोक पडा है। अतएव वह लोक उसके नामसे अर्थात् यमलोकके नामसे प्रसिद्ध है।

पुमान् पुंसोधितिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते। यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम्॥ अथर्व० १२।३।१॥

(पुमान् पुंसः अधितिष्ठ) हे पुरुष! पुरुषों का अधिष्ठाता बन अर्थात् उच्चाधिकार को प्राप्त कर। (चर्म) सुख को (इहि) प्राप्त कर। (तत्र) उस सुख में (यतमा ते प्रिया) जो तेरी प्यारी है उसे(ह्वयस्व) बुला। (अग्रे) पहिले (यावन्तौ) जितने समर्थ हुए हुए तुम पतिपत्नी दोनों (प्रथमं) मरने से पूर्व की आयु में (समेयथुः) प्राप्त किया है (तत् वां वयः) वह तुम्हारा अन्न वा आयु (यमराज्ये) यमके राज्य में समान हो।

इस मंत्रमें बडे महत्त्वका उपदेश है। सबसे पूर्व मनुष्य को उन्नति करनेके लिए कहा गया है। तद-नन्तर सुख प्राप्त करके अपने अनुसार पत्नीके चुन-नेके लिए कहा गया है। इसीको स्वयंवर कह सकते हैं अथवा जिसको अंग्रेजी में Choice-marriage कहते हैं, इस प्रकारके विवाहके बाद दम्पती मिल-जुलकर अपने भविष्य को उज्ज्वल बनानेका प्रयत्न करें। जितना वे इस लोकमें कमावेंगे उतना यम-लोकमें मिलेगा यह ' वां वयः यमराज्ये समानं ' से दर्शाया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्त्रियांभी पतिके साथ यमलोकमें जाती हैं। अर्थात् जितना मृत पितरोंके प्रति हमारा कर्तव्य है, उतनाही मृत मामी, दादी आदि स्त्रीवर्गके लिए भी है।

समस्मिंल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यम-राज्येषु। पूतौ पवित्रैरुप तद्वयेथां यद् यद् रेतो अधि त्वां संबभूव॥ अथर्व० १२।३।३॥

(अस्मिन् लोके) इस लोक में (सं) अच्छी तरह वा साथ साथ तुम पतिपत्नी (एतं) विचरण

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

करो। (उ) और (देवयाने) देवों के मार्ग में (सं) मिलकर विचरण करो। (यमराज्येषु) यम-राज्यों में (सं एतम्) साथ मिलकर विचरण करो। (यत् यत् रेतः) जो वीर्य (त्वां अधि संबभूव) तुम दोनों में उत्पन्न हुआ है, (तत्) उस वीर्य को (पवित्रैः) पवित्राचरणों द्वारा (पूतौ) पवित्र हुए हुए तुम दोनों (उप ह्वयेथां) अपने पास बुलाओ, अर्थात् पवित्र कार्योंमें ही वीर्यका उपयोग करो, व्यर्थ नष्ट मत करो।

इस मंत्र में वीर्य के सदुपयोग के लिए गृहस्थ-दंपतीको उपदेश दिया गया है। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण बात यह दर्शाई गई है कि पतिपत्नी में इतना अधिक प्रेम होना चाहिए कि वे सर्वत्र साथ ही रहें। चाहे वे इस लोकमें हों, चाहे यमलोक में वा अन्य किसी लोकमें। उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे किसी भी हालतमें जुदा न हो सकें। मरें भी तो साथ ही मरें। यह वैदिक आदर्श यहां स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। इस प्रकार यह मंत्र विशेष महत्त्वका है। इस का मनन करना चाहिए।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥
अथर्व० १२।४।३६॥

(वशा) वशा गौ (यमराज्ये) यम के राज्य में (प्रददुषे) प्रकृष्टके दानीके लिए (सर्वान् कामान्) सर्व प्रकार की कामनाओं को (दुहे) पूर्ण करती है। (अथ) और (याचितां) मांगी हुई के (निरुन्धानस्य) रोकनेवालेका अर्थात् यदि कोई सुपात्र वशा को मांगे और उसको यदि न दी जावे तो न देनेवालेका (लोकं) लोक को (नारकं) महाकष्टप्रद (आहुः) कहते हैं अर्थात् न देनेवाले को नरक मिलता है।

इस मंत्र में वशा गौकी महिमा का वर्णन है। वशा गौके दान करनेवाले को यमराज्यमें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। उसकी सर्व कामनायें पूर्ण होती हैं और इसके प्रतिकूल वशा को न देने-वाले को नरक मिलता है।

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥
अथर्व० १८।४।३१॥

हे पुरुष! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए (एतत् वासः) यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्र को (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यम के राज्य में (चर) विचरण कर।

इस मंत्र में मृत पुरुष को जो कि यमलोक में पहुंच गया है, उसको वस्त्र देने का विधान है।

निम्न लिखित मंत्रमें उस मृत पुरुष को तिल-मिश्रित धान देने का उल्लेख है, तथा यमराजासे इन को उस पुरुष के देने के लिए अनुमति मांगी गई है—

यास्ते धानाः अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधा-वतीः। तास्ते सन्तूद्भवीः प्रभवीः तास्ते यमो राजानुमन्यताम्॥ अथर्व० १८।४।४३॥

(ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः) जिन तिलों से मिश्रित अर्थात् तिलमिले हुए स्वधावाले धानों को (अनु किरामि) अनु-कूलता से फैंकता हूं, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (उद्भवीः) उदय करनेवाले व (प्रभवीः) प्रभूत मात्रा में यानि बहुत मात्रा में (सन्तु) होवें। (ताः) उन्हें (ते) तुझे देने के लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुमन्यतां) अनुमति देवे। यम के राज्यमें बिना यम की अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता, अतः उसकी अनुमति मांगी है।

इस मंत्र में यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धाना देने का उल्लेख है। ये तिलमिश्रित धान यमराज्यमें जाकर किस रूपमें परिणत हो जाते हैं, यह निम्न लिखित मंत्र बतला रहा है—

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति॥
अथर्व० १८।४।३२॥

यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) तृप्त करनेवाली गौ

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(अभवत्) बनता है। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा (तिलः) तिल (अभवत्) बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस धानों की बनी हुई गयापर ही (उप जीवति) आश्रि तहुआ हुआ जीता है।

यहां पर धान तथा तिल यमराज्यमें जाकर किस स्वरूप में परिणत हो जाते हैं, यह दर्शाया गया है। इन दोनों मंत्रानुसार धान व तिल यमलोकमें रहते हुए के लिए देने चाहिए, क्यों कि उस के जीने के ये एकमात्र आधार हैं।

इन मंत्रों में हमने देखा कि यमलोक में यम का राज्य है। यमराज्य से भी यमलोक का ही ग्रहण है। वहीं पर यम मृतों को ले जाकर रखता है।

निम्न लिखित मंत्रमें यम का आए हुए मृत पुरुष को अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है–

ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन्
ममचेदभूदिह। यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह
ममैष राय उपतिष्ठतामिह॥ अथर्व० १८।२।३७॥

(अस्मै) इस मृत पुरुष के लिए (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं। क्यों कि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यमलोक में आया है और (इह) यहांपर आकर (ममचेत्) मेराही (अभूत्) होगया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं, अपने राज्य से नहीं निकालता। इस उपरोक्त प्रकार से (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त 'ददाम्यस्मै' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोक में आए हुए के प्रति कहता है। और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिए (इह) यहां यमराज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धन का भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमकी यमराज्यमें आए हुए के प्रति उक्ति है। अबतक के मंत्रोंसे यह पता चला कि यम का यमलोकमें राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है। अब हम यह देखेंगे कि यमलोक कहांपर है अर्थात् इसकी स्थिति कहां है।

यमकी दक्षिण दिशा।

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः॥
अथर्व० ९।७।२०॥

(इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्) इन्द्र पूर्व दिशामें स्थित हुआ हुआ है। और (यमः) यम (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशामें ठहरा हुआ है।

इस मंत्रसे हमें इतना पता चलता है कि यम दक्षिण दिशामें रहता है, यानि यमलोक दक्षिण दिशामें है।

द्युलोकमें यमलोक।

नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा। सूर्यामासाचन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना॥ ऋ० १०।६४।३॥

(नरा शंसं, पूषणं, अगोह्यं, देवेद्धं अग्निं) नरोंसे प्रशंसा करने योग्य, पुष्टि करनेवाले, सर्वसाधारणसे जाननेके अयोग्य तथा जिसको देवोंने प्रज्वलित किया है ऐसी अग्निकी (गिरा अभ्यर्चसे) स्तुतियुक्त वाणियोंसे तू अभ्यर्चना करता है। (सूर्यामासा चन्द्रमसौ) सूर्य तथा पक्षोंके निर्माण करनेवाले चन्द्रमाकी, (दिवि यमं) द्युलोकमें विद्यमान यमकी, (त्रितं वातं) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुकी, (उषसं) उषाकी, (अक्तुं) रात्रिकी व (अश्विनौ) देवोंके वैद्य अश्विनौ की भी स्तुति कर।

यहांपर इतना बताया गया है कि यमकी द्युलोक में स्थिति है। पूर्व मंत्रसे यह पता चला था कि यमकी दिशा दक्षिण है। इसका मतलब यह हुआ की द्युमें दक्षिणकी ओर कहीं पर यमलोक है।

हमें पितृलोकके प्रकरणमें 'उदन्वती द्यौरवमा' इत्यादि मंत्रसे पता चला था कि तीन द्यु हैं। उनमेंसे प्रथम में जल रहता है, द्वितीयमें सूर्यादि नक्षत्रगण रहते हैं तथा तृतीयमें पितर रहते हैं।

अब हमने यह देखना है कि इन तीनोंमेंसे यमकी द्यु कौनसी है। इसके निर्णयके लिए हमें पितृलोकमें आया हुआ 'तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां' इत्यादि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मंत्र सहायता देता है। इस मंत्रमें यह कहा गया है कि, तीन द्युलोक हैं, जिनमेंसे दो सूर्यके समीप हैं। ये दो सूर्यके समीपकी द्यु जलवाली व नक्षत्रोंवाली है। बीचमें सूर्य है और उसके ऊपर नीचे ये दोनों द्यु हैं। आगे चलकर इसी मंत्रमें कहा है कि तीसरी जो द्यु है, वह यमलोकमें है, जिसमें वीरगण निवास करते हैं। इसी द्युको लक्ष्यमें रखते हुए संभवतः गीतामें कहा है, कि 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं'। वीर लडाईमें मरनेपर स्वर्गमें जाता है और वह स्वर्ग यही यमलोकमें विद्यमान द्यु है। जैसा कि 'विरा-षाट्' विशेषणसे प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार इन दोनों मंत्रोंका अभिप्राय यह हुआ कि यम-लोकमें जो द्यु है, वह उदन्वती अर्थात् जिसमें जल रहता है वह भी नहीं है और जिसमें नक्षत्र रहते हैं वह भी नहीं है। परिशेष न्यायसे जो तीसरी बच गई वह यमलोकमें है, यह मानना पडेगा। तीसरी द्युमें पितर रहते हैं अतः पितर यमलोकमें रहते हैं यह भी इसका अभिप्राय हुआ। यमलोक का यम राजा है, अतः पितर उसकी प्रजा हुए। पितर यमराज्यमें रहते हैं, इस परिणामको निम्न मंत्र पुष्टि कर रहा है-

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
यजुः १९।४५॥

(यम-राज्ये) यमके राज्यमें (ये पितरः समानाः समनसः) जो पितर समान तथा समनस् अर्थात् एकसंकल्पवाले हैं, (तेषां) उन पितरोंके अर्थ दिए गए (लोकः, स्वधा, नमः, यज्ञः) लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पतां) देवोंमें समर्थ होवे अर्थात् विफल न हों।

इस मंत्रमें पितर यमराज्यमें हैं यह दर्शाया है। पितरोंका स्थान तीसरी द्यु है। अतः वह द्यु यमके राज्यमें ही है, यह इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है।

यमका राज्य तीसरी द्युमें है और उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है यह निम्न लिखित मंत्र बता रहा है—

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥
ऋ० १।११३।८॥

(यत्र) जहांका (वैवस्वतः राजा) विवस्वान् का पुत्र यम राजा है, जहां कि (दिवः अवरोधनं) द्युलोककी समाप्ति है, वहां तथा जहां (अमूः) ये (पयस्वतीः आपः) बडे बडे जल हैं, (तत्र) वहां (मां अमृतं कृधि) मुझे अमृत बना। (इन्दो) हे इन्दु! (इन्द्राय) ऐश्वर्यके लिए (परिस्रव) चारों ओरसे बह अर्थात् मुझे ऐश्वर्य दे।

इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न लिखित परि-णाम पर पहुंच सकते हैं— यमलोक जहां कि यमका राज्य है, दक्षिण दिशाकी ओर स्थित तृतीय द्युमें है। वहां पितर रहते हैं। यम उनका राजा है व वे उसकी प्रजा हैं। यह बात 'पितर व यमके सहकार्य' नामक शीर्षकमें और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी। निम्न मंत्रमें अलंकार रूपमें उस विराट्का वर्णन प्रतीत होता है। उस विराट्को बैलकी कल्पना करके उसका वर्णन किया गया है—

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्॥ अथर्व० ९।७।१॥

उस विराट् बैलको (प्रजापतिः च परमेष्ठी च) प्रजापति व परमेष्ठी ये दोनों (शृङ्गे) दो सींग हैं यानि शृङ्गस्थानीय हैं। (इन्द्रः शिरो) इन्द्र उसका सिर है अर्थात् इन्द्र शिरःस्थानीय है। (अग्निः ललाटं) अग्नि उसका ललाट (माथा) है और (यमः) यम उसकी (कृकाटं) गर्दनका भाग है।

यमको विराट्की रचनामें गर्दनमें स्थान मिलता है अर्थात् यमकी स्थिति उसके शरीरमें गर्दन-स्थानीय है।

इस प्रकरणसे हमें यमलोक, यमराज्य तथा उस की स्थितिका पता लगा है। अब अगले प्रकरणमें हम यमराजाके दूतोंपर विचार करेंगे।

यमके दूत।

इस प्रकरणमें यमके दूतोंका अस्तित्व, स्वरूप तथा कार्य दर्शाया जायगा। निम्न लिखित मंत्रोंमें यमके दूत होनेके विषयमें उल्लेख है-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति। वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥ अथर्व० ८।२।११॥

(ते) तेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपानको (कृणोमि) स्थिर करता हूं। और (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयुको तथा (स्वस्ति) कल्याणको भी तेरे लिए स्थिर करता हूं। (जरां मृत्युं) बुढापे व मृत्युको दूर भगाता हूं। (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान्) विवस्वान्के पुत्र यमद्वारा भेजे हुए,संसारमें विचरण करते हुए सब यमके दूतोंको (अपसेधामि) दूर भगा देता हूं।

इस मंत्रमें यमदूतोंका उल्लेख है। यम उन्हें प्राणियोंको ले आनेके लिए संसारमें भेजता है। उन दूतोंको दूर भगानेका निर्देश यहां है।

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। परः सहस्रा हन्यन्तां तृणेद्वेनान् मत्यं भवस्य ॥ अथर्व० ८।८।११॥

(मृत्युदूताः) हे मृत्युके दूतो! (अमून्) इन शत्रुओंको (नयत) ले जाओ। हे (यमदूताः) यमके दूतो! (अप उम्भत) इन्हें कसकर बांध लो ताकि छूट कर भाग न जावें। (परः सहस्राः) हजारोंकी संख्याओंसे भी अधिक (हन्यन्ताम्) मारडालो। (एनान्) इन शत्रुओंको (भवस्य मत्यं) भवकी मुष्टी अर्थात् घूंसा (तृणेढु) चूर चूर कर डाले।

इस मंत्रमें शत्रुओंके विनाशके लिए यमदूतोंसे कहा गया है। मारना यमदूतोंका कार्य है, यह यहांपर स्पष्ट हो रहा है। इस प्रकार इन मंत्रोंमें यमदूतोंका उल्लेख व कार्य दर्शाया गया है। अब हम देखेंगे कि ये यमदूत कौन हैं व इनका स्वरूप क्या है।

यमदूत—श्वान (कुत्ते)

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्रां उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेद के साथ इस प्रकार है-

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्रां अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ अथर्व०१८।२।११॥

(सारमेयौ) सारमेय, (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले, (शबलौ) चित्रविचित्र रंगबिरंगी (श्वानौ) दो कुत्तों से (अति) बचकर (साधुना पथा) उत्तम मार्ग से (द्रव) जा। (अथ) और (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम ज्ञान वा धन से उपेत-युक्त-पितरों के (उप इहि) समीप जा। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ अत्यन्त आनन्दित हो रहे हैं।

सारमेयौ-सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सरमा नाम की देवोंकी कुत्ती है,उसके बच्चे। सरमा शब्द सृ गतौ धातुसे बाहुलकसे अम करनेपर बनता है। जिसका अर्थ है 'बहुत दौडनेवाली'। उसका पुत्र सारमेय। स्त्रीभ्यो ढक् से ढक्। लौकिक साहित्य में सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है। अस्तु। तथापि हम सारमेय का अर्थ बहुत दौडनेवाला ऐसा कर सकते हैं।

इस मंत्र में प्रेतको कहा गया है कि यमके दोनों कुत्तोंसे जो कि रंगबिरंगे हैं, उनसे बचाकर उत्तम मार्गसे पितरों के पास जा, जो कि पितर यम के साथ आनन्दित हो रहे हैं। यद्यपि इस मंत्र में यम के कुत्तोंको यमदूतके नामसे नहीं कहा गया है, तथापि आगे आनेवाले मंत्रोंमें उन्हें यमदूतके नामसे कहा गया है व उनमें से प्रत्येकके रंग आदिका वर्णन है। यहांपर उन्हें शबल कहा है जिसका कि स्पष्टीकरण वहां है।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि ॥ ऋ० १०।१४।११॥ अथर्व० १८।२।२॥

(यम) हे यम! (ते यौ) तेरे जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आखोंवाले (पथिरक्षी) यमलोक में जाने के रस्ते की रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन्! (ताभ्यां) उन

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इसको (स्वस्ति)कल्याण (देहि) दे अर्थात् वे कुत्ते इसे हानि न पहुंचावें ऐसा कर । (च) और (अस्मै अनमीवं धेहि) इसके लिए नीरोगिता-रोगरहितता दे । इसे कभी रोग न सतावें ।

इस मंत्र में यम से कहा गया है कि वह अपने कुत्तोंसे किसीभी प्रकार का अकल्याण न होने देवे, सर्वदा कल्याण व आरोग्य देता रहे ।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु । तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ ऋ० १०।१४।१२॥ अथर्व० १८।२।१३॥

(उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणों के भक्षण से तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यम के दूत-उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनु चरतः) मनुष्यों के पीछे पीछे विचरण करते रहते हैं। ताकि अवसर मिलते ही उनके प्राणों से अपनी तृप्ति करें। (तौ) ऐसे वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीने के लिए (अद्य) आज (इह) यहां (भद्रं असुं) कल्याणकारी प्राण को (पुनः) फिर (दातां) देवें । वे हमारे प्राणों को छीनकर हमें मार न डालें,अपितु उलटा प्राणों को देवें ताकि हम यहां जीवित रह सकें ।

इस मंत्र में पूर्व मंत्रोक्त यमदूत कुत्तों के स्वरूप का वर्णन है । वे लम्बी लम्बी नाकवाले, अत्यन्त बलवान् व प्राणों के भक्षण से तृप्त होनेवाले हैं। उनसे प्राणों की भिक्षा उत्तरार्ध में मांगी गई है ।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ अथर्व० ८।१।९॥

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे रंगबिरंगी (यौ) जो दो (यमस्य)यम के (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं वे (त्वा) तुझे (मा प्रेषितौ) मत बाधा पहुंचावें । (अर्वाङ् एहि) हमारे सन्मुख आ । (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जाने की कोशिश मत कर । (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्तचित्त हुआ हुआ (मा तिष्ठः) मत स्थित हो । संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि यमके जो दो कुत्ते हैं, उनमेंसे एक तो काले रंगका है तथा दूसरा काले सफेद आदि रंगोंसे मिश्रित चितकबरा है । इस मंत्रमें जो काला व चितकबरा करके यमके दूत कुत्तोंका वर्णन है, वह आलंकारिक रूपसे रात व दिनका वर्णन प्रतीत होता है । काला कुत्ता रात है और शबल कुत्ता दिन है । वे दिनरात मनुष्योंके पीछे प्राण हरण करने के लिये लगे हुए हैं । ज्यों ज्यों दिन व रात गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है । अतः संभव है ये दिन व रात वास्तवमें यमके दूत हों और उनका यमके श्वान (कुत्ते) करके वर्णन किया हो । यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके इन कुत्तोंका उल्लेख किया गया ? कुत्तेके लिए दूसरे अनेक शब्द विद्यमान हैं ही । परन्तु पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिए कि श्वान शब्द हमारी ऊपर कि कल्पना को और भी दृढ करता है । श्वान शब्दके अर्थपर विचार करनेसे उपरोक्त शंका स्वयमेव शांत हो जाती है और इस श्वान द्वारा किए गए आलंकारिक वर्णन का महत्त्व प्रतीत होने लगता है । श्वानका अर्थ है (श्वा=श्वः=कल, न=नहीं) जो आनेवाली कल में न रहे अर्थात् जो आज तो है पर वह कल न रहेगा। जो दिन व रात एक वार निकल गए, वे फिर दुबारा लौटकर नहीं आते । अब पाठक श्वान शब्द के महत्त्व को समझ गए होंगे, कि क्यों यमके दूतों को श्वानके नामसे कहा गया है और उससे किस से किस प्रकार दिन व रातका वर्णन किया गया है। परन्तु जबतक इस विषयमें पूर्ण खोज न की जावे तबतक निश्चयसे कुछभी नहीं कहा जा सकता। पाठक इस पर विचार करेंगे ऐसी आशा है । उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धके भावको नीचे लिखे मंत्रमें

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अधिक स्पष्ट किया गया हैं-

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानुगा अधि जीवपुरा इहि॥
अथर्व०५।३०।६॥

हे पुरुष! (सर्वेण मनसा सह) संपूर्ण मनके साथ अर्थात् मन लगाकर (इह) यहां इस संसार में रहता हुआ (एधि) वृद्धिको प्राप्त कर। (यमस्य दूतौ) उपरोक्त यमके दोनों दूतों के (मा अनुगाः) पीछे मत जा अर्थात् यमलोकमें मत जा। (जीव-पुराः) जीवोंके पुरों को अर्थात् शरीरोंको (अधि इहि) प्राप्त कर। शरीर को छोडकर यमलोकमें मत जा।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धका इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे पक्षपोषण किया गया है। यमके दूतों का अनुकरण करने अर्थात् मरनेका निषेध करते हुए देहधारण कर मन लगाकर संसारमें रहनेका उपदेश है।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे निम्न सारांश निकलता है-

(१) यम के दूत दो कुत्ते हैं।
(२) वे दोनों कुत्ते लम्बी नाकवाले व चार आंखों वाले हैं।
(३) उनमेंसे एक कुत्ता काला व एक चितकबरा है।
(४) उनकी तृप्ति प्राणों के भक्षण से होती है। वे मनुष्यों के पीछे सर्वदा प्राणापहरण के लिए लगे रहते हैं। यमलोकमें जानेके मार्ग की वे सर्वदा रक्षा करते रहते हैं।

यमका दूत- 'मृत्यु'।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत् परि-ग्रामादितः। मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयांचकार॥ अथर्व० १८।२।२७॥

प्राणधारी लोकोंने इस शवको घरोंसे बाहिर कर दिया है। उसको तुम लोक इस ग्रामसे बाहिर अंत्येष्टि संस्कार के लिए स्मशानभूमिमें ले जाओ; यमका दूत जो मृत्यु है उसने इसके प्राणोंको पितरों के पास यमलोकमें भेज दिया है। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है, इसवास्ते इसके शवको ग्राम से बाहिर दहनादि क्रिया के लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मृत्यु यमका दूत है, वह मृतके प्राणोंको पितरों के पास पहुंचाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मरनेपर जीव पितृलोकमें जाता है।

यह मंत्रभी पूर्वोक्त निम्न लिखित परिणामों को पुष्ट करता है।

(१) यम प्राणों का अपहरण करनेवाला है, क्योंकि मृत्यु उसका ही दूत है।

(२) पितृलोक यम के राज्यमें है, क्यों कि मृत के प्राणों को पितरों के पास पितृलोकमें यमका दूत मृत्यु पहुंचाता है।

पाठकगण यमके दूतों संबन्धी इस उपरोक्त विवेचनसे यह कदापि न समझें कि यमके ये तीन (दो कुत्ते व तीसरा मृत्यु) ही दूत हैं। और भी अनेक दूत हैं, पर ये उनमें से प्रधान-मुख्य हैं, अतः इनका विशद रूपसे वर्णन किया गया है। हम इस प्रकरण के प्रारंभमें ही एक ऐसा मंत्र देख आए हैं जिस से सहज पता चलता है कि यम के अनेक दूत हैं। उनका निर्देश मात्र है। विशेषों का मात्र विगतवार वर्णन है। उस यमके अनेक दूत बतानेवाले मंत्रको मूल रूपसे हम पुनः यहां दिग्दर्शन कराते हैं-

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। परः सहस्राः हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य॥
अथर्व० ८।८।११॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे मंत्र हैं, जिनमें यम के अनेक दूत होनेका उल्लेख है।

यमका पितृयाणमार्ग जानना।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नेषा गव्यूतिरपभर्तवै उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥ ऋ० १०।१४।२॥
अथर्व० १८।१।५०॥

(प्रथमः यमः) वह प्रसिद्ध यम (नः गातुं विवेद) हमारे मार्ग को जानता है। (एषा गव्यूतिः) यह मार्ग किसीसेभी (अपभर्तवै न) अपहरण नहीं किया जा सकता। (यत्र) जिस मार्ग में (नः पूर्वे पितरः) हमारे पुरातन पितर (परेयुः) गए हुए हैं।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) उत्पन्न प्राणी-मात्र (स्वाः पथ्याः) अपने अपने पथ्यों के अनुसार (अनु) जाते हैं।

यहांपर यम उस मार्गको (पितृयाणको) जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं व अन्य उनका अनुगमन करते हैं यह दर्शाया है।

यमकी स्वर्गमें पहुंचानेके लिए सहमति।

नमः सुते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्। यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम्॥ यजुः १२।६३॥

हे (निर्ऋते) निर्ऋति! (ते नमः) तेरे लिए नमस्कार है। (तिग्मतेजः) उत्कट तेजवाली तू (अयस्मयं एतं बन्धं) लोहेके इस बन्धनको (विचृत) काट डाल। (त्वं) तू (यमेन यम्या संविदाना) यम व यमके साथ मिलकर (एनं) इसको (उत्तमे नाके) उत्तम स्वर्गमें (अधिरोहय) पहुंचा।

इस मंत्रमें निर्ऋतिका यमके साथ एकमत होकर स्वर्गमें पहुंचानेका उल्लेख है। अर्थात् स्वर्गमें जानेके लिए यमकी भी सहमति चाहिए।

यमका दीर्घायु देना।

ऊर्जो भागो य इमं जजानाइमान्नानामाधिपत्यं जगाम। तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्॥ अथर्व. १८।४।५४॥

(यः) जिस (ऊर्जः भागः) अन्नके विभाग करनेवालेने (इमं) इस अन्नको (जजान) पैदा किया है और जो (अश्मा) अश्मा होनेसे (अन्नानां अधिपत्यं) अन्नोंके स्वामीत्वको प्राप्त हुआ है ऐसे (तं) उसकी हे (विश्वमित्राः) सबके मित्रो! (हविर्भिः) हवियोंद्वारा (अर्चत) पूजा करो। (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धात्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे।

यमकी मनुष्योंसे रक्षा।

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः॥ अथर्व० १६।४।४॥

(सूर्यः) सूर्य (अह्नः) दिनसे अर्थात् दिन में होनेवाले कष्टोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे। (अग्निः) अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवीसे, (वायुः अन्तरिक्षात्) वायु अंतरिक्षसे, (यमः मनुष्येभ्यः) यम मनुष्यों से तथा (सरस्वती पार्थिवेभ्यः) सरस्वती पार्थिव पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे।

यमकी मृत्युसे रक्षा।

अपन्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः। सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परिपातु मृत्योः॥ अथर्व० १९।२०।११॥

(यं पौरुषेयं वधं) जिस पुरुषसंबन्धी वधको अर्थात् पुरुष के खूनको शत्रुओंने (अपन्यधुः) छिपकर किया है, उस वध के कारण होनेवाली (मृत्योः) मृत्युसे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, (धाता) धारण करनेवाला, (सविता) प्रेरणा करनेवाला, (बृहस्पतिः) वाणियोंका अधिपति, (सोमः राजा) सौम्य स्वभाववाला राजा, (वरुणः) वरुण, (अश्विना) देवों के वैद्य अश्विनों, (यमः) यम तथा (पूषा) पोषक देव (अस्मान्) हमारी (परि पातु) रक्षा करें।

मंत्रोक्त प्रत्येक देवतासे पुरुष की हिंसा से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। सबके साथ यम से भी मृत्युसे रक्षा करनेके लिए कहा गया है। यम के अनेक कार्य हैं जैसा कि पाठकोंको यमके प्रकरणसे पता चलेगा। यहां पर सिर्फ थोडेसे मंत्रों का जिनका कि अन्यत्र समावेश नहीं हो सका है, दर्शाए गए हैं।

यम के प्रति हमारे कार्य।

यमके लिए हवि।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ ऋ०१०।१४।१॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(प्रवतः) प्रकृष्ट, उत्तम तथा निकृष्ट योनिगत प्राणियों का (अनु) लक्ष्य करे (महीः परेयिवांसं) पृथिवीपर आए हुए तथा (बहुभ्यः) बहुतोंके लिए (पन्थां) यमलोकके मार्ग को (अनुपस्पशानं) दर्शाते हुए (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जमा होते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान् के पुत्र (यमं राजानं) यम राजा की (हविषा दुवस्य) हवि देकर पूजा कर।

हमने पहिले देखा है कि यम के दूत मनुष्यों के पीछे सर्वदा लगे हुए हैं। यहांपर उसी भाव को भिन्न रूपसे दर्शाया है। यम सबके पीछे लगा हुआ है। जिस जिसकी अवधि पूर्ण हुई कि उसे यमलोक का मार्ग वह दर्शाता है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूता अरङ्कृतः॥
ऋ० १०।१४।१३॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है-

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः॥
अथर्व० १८।२।१॥

(यमाय सोमं सुनुत) यम के लिए यज्ञमें सोम को निचोडो। (यमाय हविः जुहुत) यमके लिए यज्ञ में हवि दो। (ह) निश्चयसे (अरङ्कृतः अग्निदूतः यज्ञः यमं गच्छति) शीघ्रता करता हुआ, अग्नि जिसका दूत है ऐसा यज्ञ यमको जाता है।

इस मंत्रमें यमके लिए सोम व हवि देनेका उल्लेख है। यमके लिए किया गया यज्ञ उसे प्राप्त होता है यह भी साथ दर्शाया गया है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घायुः प्रजीवसे॥
ऋ०१०।१४।१४॥

अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ यह मंत्र इस प्रकार है—

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमद्दीर्घायुः प्रजीवसे॥
अथर्व० १८।२।३॥

(यमाय) यमके लिए (घृतवत् हविः) घीसे परिपूर्ण हविको (जुहोत) दो। और इस प्रकार (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठित होओ। (सः) वह यम (नः) हमें (प्रजीवसे) उत्तम प्रकारसे जीनेके लिए (देवेषु) देवोंमें (नः) हमें (दीर्घायुः आयमत्) दीर्घायुष्यको देवे।

इस मंत्रमें यमके लिए घीसे परिपूर्ण हविके देनेकी व दीर्घायु देनेकी प्रार्थनाका उल्लेख है।

यमके लिये अन्नकी हवि।

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया। वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्॥
अथर्व० ६।११६।१॥

(अग्रे) पहिले (निखनन्तः) भूमि खोदते हुए अर्थात् कृषि करते हुए (अन्नविदः) अन्नको जाननेवाले अर्थात् अन्नकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है इस बातके जाननेवाले अथवा अन्नकी प्राप्ति करनेवाले (कार्षीवणाः) किसानोंने (न विद्यया) अज्ञानके कारण (यत् यामं चक्रुः) जो यमसंबंधी अपराध किया अथवा (अन्नविदः न) अन्नोंको प्राप्त करनेवालोंकी तरह (यत् यामं चक्रुः) जो कृषिसंबन्धी नियमसमूह बनाया (तत्) उस उत्पन्न अन्नको (वैवस्वते राजनि) वैवस्वत राजा यममें (जुहोमि) देता हूं (अथ) और तब (नः) हमारा (यज्ञियं अन्नं मधुमत् अस्तु) यज्ञके योग्य जो अन्न है, वह मधुरतावाला होवे।

इस मंत्रमें नवीन उत्पन्न अन्नका अंश यमके लिये देनेका निर्देश है।

यमकी पूजा।

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः। देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्ररोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे॥
ऋ० १०।९२।११॥

(ते भूरिरेतसा द्यावापृथिवी) वे बहुत जलवाली द्यु और पृथिवी, (यमः) यम, (अदितिः) अदिति, (त्वष्टा देवः) त्वष्टा देव, (द्रविणोदाः)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अग्नि, (ऋभुक्षणः) ज्ञानी वा कारीगर गण, (रोदसी) रुद्रकी पत्नी, (मरुतः) देवगण तथा (विष्णुः) विष्णु ये सब (नराशंसः चतुरङ्गः) नराशंस चतुरंग यज्ञमें (अर्हिरे) पूजे जाते हैं। यहां अन्योंके साथ यमकी भी पूजाका उल्लेख है।

यमके लिए घर बनाना।

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पंचमानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत॥
अथर्व० १८।४।५५॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांचमानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है, (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें।

पंचमानवाः- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण व पांचवा निषाद। अथवा देवमनुष्यादि पूजन, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है- 'सर्वेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितृणां च। एतेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यम्' इति। ऐ. ब्रा. ३।३१॥

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं।

यमके लिये स्वधा-नमः।

यमाय पितृमते स्वधा नमः॥ अथर्व० १८।४।७४॥

(पितृमते यमाय) उत्कृष्ट पिताके पुत्र यमके लिए स्वधा और नमस्कार है। यहां यमके लिए स्वधाका निर्देश है।

इस प्रकार इस विभागमें संक्षेपसे यमके लिए हमें क्या करना चाहिए, यह दर्शाया गया है।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणमें यमके साथ स्वप्नका क्या संबन्ध है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि बातोंकी चर्चा होगी।

*

स्वप्नका पिता यम।

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न। वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि॥ अथर्व० ६।४६।१॥

हे स्वप्न! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है। (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरुणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है। (अररुः नाम असि) तू अररु नामवाला है।

देवानां- यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है। स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है। क्योंकि जागृत अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न वासनाओंसे वह उत्पन्न होता है। हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यहां अमृतगर्भसे कहा गया है।

अररुः-पीडा देनेवाला, हिंसक। 'ऋगतिहिंसनयोः' से बना है। तै. ब्रा. ३।२।९।४ के अनुसार अररु नामवाला असुर।

वरुणानी- वरुण अर्थात् अंधकार की पत्नी।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है। अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है। अतएव कई वार स्वप्नसे मृत्युभी हो जाता है।

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः। एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ॥
अथर्व० १९।५६।१॥

हे स्वप्न! तू (यमस्य लोकात्) यमके लोकसे (अधि आ बभूविथ) प्रकट हुआ हुआ है। (धीरः) धीठ (Bold) तू (प्रमदा) बडे अभिमानसे (मर्त्यान्) मरणधर्मा मनुष्योंको (प्रयुनक्षि) अपने साथ संयुक्त करता है- अर्थात् अपने प्रभावसे उनमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव मनुष्योंको स्वप्न आता

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

है। (विद्वान्) जानता हुआ अर्थात् जानबूझकर तू (असुरस्य योनौ) आत्मा के उपलब्धि के स्थान हृदय में (स्वप्नं मिमानः) स्वप्न को उत्पन्न करता हुआ (एकाकिना) अकेले स्वप्नदर्शी पुरुष वा मृत्यु के साथ (सरथं) समान वाहनपर सवार हुआ हुआ (यासि) विचरण करता है।

पूर्व मंत्र में यम को स्वप्न का पिता दर्शाया गया है। इस मंत्र में उसी की पुष्टि के रूपमें बताया गया है कि स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर यहांपर संसार में आकर मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ हुआ है।

स्वप्न, यम का करण।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि॥ अथर्व० ६।४६।२॥

हे स्वप्न! (ते जनित्रं विद्म) तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं। तू (देवजामीनां पुत्रोऽसि) देवों की पत्नियों का पुत्र है और (यमस्य करणः) यमके कार्यों का साधक है। तू (अंतकः असि) अंत करनेवाला है। (मृत्युः असि) तू मारनेवाला है। हे स्वप्न! (तं त्वा) उस तुझ को (तथा) वैसा उपरोक्त जैसा (सं विद्म) हम जानते हैं। (सः) वह तू स्वप्न! (नः दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न से हमारी (पाहि) रक्षा कर।

इस मंत्र में स्वप्न को देवपत्नियों का पुत्र कहा गया है। पूर्व मंत्र की टिप्पणी में हमने स्वप्न की उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न वासनाओंसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है। उसी कथन की पुष्टि इस मंत्र में 'देवजामीनां पुत्रः असि' से की गई है। देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रियविषयजन्य वासनायें हैं। स्वप्न उनका पुत्र है। यहां पर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है। पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायी में किया है कि- 'साधकतमं' (अष्टा. १।४।४२॥) अर्थात् जो कार्यसाधनेमें समीपतम साधन है, वह करण है। कार्यसाधक सब साधनों में जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है। इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि यम के मारने के कार्यमें स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है। पाठक स्वप्न के इस विशेषण से उसकी भयंकरता का अनुमान सहज कर सकते हैं।

इसी मंत्र के भाव को ही नीचे लिखे मंत्रमें शब्द-भेदसे कहा गया है-

देवानां पत्नीनां गर्भं यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद्विषते प्रहिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्॥
अथर्व० १९।५७।३॥

हे (देवानां पत्नीनां गर्भ) देवोंकी पत्नियों के गर्भरूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न! (यो भद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (सः) वह अंश (मम) मेरा होवे। (यः पापः) और जो तेरा पापी-अनिष्टकारी अंश है (तत्) उस अंश को (द्विषते) द्वेष करनेवाले के प्रति(प्रहिण्मः) हम भेजते हैं। (तृष्टानां) तृषितों-लोभियों-क्रूरों के बीचमें (कृष्णशकुनेः) काले पक्षी के (कौएके) (मुखं) मुखकी तरह तू (मा असि) हमारे लिए बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियों को वा क्रूरों के लिए कौए का मुख अनिष्टकारी होता है, उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ अथर्व० १६।५।१॥

हे स्वप्न! (ते जनित्रं विद्म) तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं। तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) ग्राही का पुत्र है और (यमस्य करणः) यम के कार्यों का साधक है।

इस मंत्र में स्वप्न को ग्राही का बेटा कहा गया है। गठिया आदि शरीर के जकडनेवाले रोग 'ग्राही' कहलाते हैं। उन रोगों के कारण शरीर में पीडा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नकीसी अवस्था बनी रहती है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अतएव स्वप्नको ग्राहीका पुत्र कहा गया है। यमस्य करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ अथर्व० १६।५।२;
,, १६।५।९॥

हे स्वप्न! तू (अन्तकः असि) प्राणान्त करनेवाला है। तू (मृत्युः असि) मारनेवाला है।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आने से स्वास्थ्य बिगडकर अंतमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्न को यहां अन्तक व मृत्यु के नामसे कहा गया है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ अथर्व १६।५।४॥

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं। वहां पर ऐसा ही मंत्र आया है। इस मंत्र में स्वप्न को निर्ऋतिका पुत्र कहा गया है। निर्ऋति से स्वप्न की उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदि से मनुष्य को निद्रा नहीं आती। स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्था में कि गाढ निद्रा का अभाव होता है। और कष्टादि की दशामें मनुष्य को गाढ निद्रा नहीं आती। इसी अभिप्राय से स्वप्नको निर्ऋति का पुत्र कहा है। शेष मंत्र की व्याख्या पूर्ववत् ही है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि० इत्यादि अथर्व. १६।५।४ वत् ॥ अथर्व० १६।५।५॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्नको अभूति अर्थात् अनैश्वर्य-दारिद्र्य का पुत्र कहा है। दरिद्रता के परितापसे भी मनुष्य को निद्रा नहीं आती। इस प्रकार गरीबी से भी स्वप्न (वास्तविक निद्राके न आने) की उत्पत्ति है। शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि०। इत्यादि पूर्ववत् ॥ अथर्व० १६।५।६॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्न को निर्भूति का पुत्र कहा गया है। निर्भूतिका अर्थ है ऐश्वर्य-संपत्ति का निकल जाना, नष्ट हो जाना। सम्पत्तिशाली की सम्पत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती। वह सुखकी निद्रा से नहीं सो सकता। इस प्रकार संपत्तिविनाश का भी स्वप्न पुत्र है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि०। इत्यादि ॥ अथर्व० १६।५।७॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्र में स्वप्न को पराभूतिका पुत्र कहा गया है। पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हार जाना, तिरस्कार को प्राप्त होना। पराभवसे वा तिरस्कार से मनुष्य को इतना मानसिक कष्ट होता है कि, उसके लिए निद्रा हराम हो जाती है। और इस प्रकार पराभूति से स्वप्न की उत्पत्ति होती है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ अथर्व० १६।५।८॥

हे स्वप्न! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं, तू देवोंकी पत्नियों का पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है। इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं। देवपत्नियों का पुत्र स्वप्न किस प्रकार है, यह वहां विशदरूपसे दर्शा आए हैं।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्नविषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है। इस सूक्तसे व इससे व दिए गए पहिले के मंत्रोंसे यम व स्वप्नका संबन्ध स्पष्ट होता है। स्वप्न यमलोकमें रहता है, वहांसे मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, उसका पिता यम है, वरुणानी उसकी माता है। वह अपने पिता यमके कार्योंका निकटतम साधक है। इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्राका अभाव किन किन कारणोंसे होता है तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यमका करण किस प्रकार है, इत्यादि बातोंका उल्लेख इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखने को मिला है। इस प्रकार यह सूक्त तथा स्वप्नविषयक अन्य मंत्र भी यमके स्वरूप दर्शानेमें पर्याप्त सहायक हैं। यमविषयक

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पूर्व स्थापना को ये मंत्रभी पुष्ट कर रहे हैं,यह पाठक इस विवेचनसे समझ सके होंगे।

अब यहां यमविषयक वे मंत्र दिए जायंगे जो कि निर्धारित प्रकरणोंमें से किसी में भी शामील नहीं किए जा सके हैं। इस प्रकरण में दिए गए मंत्र भी अबतक आए हुए यमसे ही संबन्ध रखते हैं, यह बात पाठकों को भूलनी नहीं चाहिए। और यह न समझना चाहिए कि इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंमें शायद यम अन्य अर्थोंवाला हो। अन्य अर्थोंमें प्रयुक्त यम हम सबसे अंतमें 'भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम' नामक शीर्षकमें देंगे।

यम कौन है ?

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥

अथर्व० १८।३।१३॥

(यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र इयाय) इस लोक-यमलोक को सबसे पहिले गया उस (जनानां संगमनं) जनों के संगमन (वैवस्वतं यमं राजानं) विवस्वान्के पुत्र यमराजाकी (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो।

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र,सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले उस लोकमें गया, अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा। इस का अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता, है वह इस कल्पमें यम बनता है।

संगमनका अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं। यमराजाकी हवि द्वारा पूजा करनेका भी यहां निर्देश है। अर्थात् यम को भी हवि देनी चाहिए।

यम व विवस्वान्।

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नाति-पश्यामि किंचन। यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥

अथर्व० १८।२।३२॥

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है। (ततः परं) उस यम से परे मैं (किंचन न अति पश्यामि) कुछभी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं वा नहीं समझता हूं। (यमे मे अध्वरः अधि-निविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसा-रहित यज्ञ स्थित है। (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने द्युलोक को अपने प्रकाशसे फैला रखा है।

इस मंत्र में पिता पुत्र,यम व विवस्वान् की स्थान की दृष्टिसे तुलना की गई है। यम का स्थान सूर्यसे परे है और उससे परे कोई नहीं है। हमने यमलोक नामक प्रकरणमें देखा था कि तीन प्रकारकी द्युमेंसे दो सूर्यके समीप हैं तथा तीसरी यमके राज्यमें है। उसको दृष्टिमें रखते हुए इस मंत्रके यम विव-स्वान्से परे है, इस कथनका अभिप्राय यह हुआ कि यम जिस द्युमें है वह सबसे परे है अर्थात् वह द्युलोककी समाप्तिपर है। उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है। हमारी समझमें यहांपर स्थान की दृष्टिसेही तुलना है। पर का अर्थ उत्कृष्ट भी हो सकता है और अवर का अर्थ अधम भी हो सकता है, परन्तु ऐसा अर्थ करनेसे उसका भाव ध्यानमें आना कठिन है। उपरोक्त अर्थकी पुष्टि करनेवाले मंत्र हम पूर्व देख आए हैं और अतः उस दृष्टिसे इस मंत्रका अर्थ विशेष संगत प्रतीत होता है। भुवः-इसका अर्थ द्युलोक है जैसा कि 'भू-र्भुवः-स्वः' इसमें भुवः का अर्थ है।

इषुमान् यम।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चि-राजये रक्षित्रे यमायेषुमते। एतं परिदधस्तं

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह संभवेम ॥ अथर्व० १२।३।५६॥

(दक्षिणायै दिशे अधिपतये) दक्षिण दिशाके स्वामी के लिए (तिरश्चिराजये रक्षित्रे) कीट-पतङ्गादि तिर्यक् गमन करनेवालोंसे रक्षा करनेवाले (इषुमते इन्द्राय यमाय) बाणधारक ऐश्वर्यशाली यमके लिए (एतं त्वा) इस तुझको (परिदद्मः) सौंपते हैं। (अस्माकं ऐतोः) हमारी गतिसे (तं) उसकी तथा (नः) हमारी (गोपयत) रक्षा कर। (दिष्टं नः अत्र जरसे नि नेषत्) हमारे पूर्वजन्मके कर्म अर्थात् नसीब हमें यहां बुढापे तक पहुंचावें। (नः) हमें (जरा) बुढापा (मृत्यवे परि ददातु) मृत्युको सौंपे अर्थात् वृद्धावस्थासे पूर्व हमारी मृत्यु न हो। (अथ) मरनेके बाद (पक्वेन सह संभवेम) पक्व परिपूर्ण परमात्मासे जा मिलें।

यम और ऋण।

अपमित्यमप्रतीतं ददस्मि यमस्य येन बलिना चरामि। इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्था सर्वान् ॥ अथर्व० ६।११७।१॥

(यत्) क्योंकि मैं (अपमित्यं) जो देना है पर वह (अप्रतीतं) नहीं दिया है ऐसा ऋण हूं अर्थात् मेरे पर वह ऋण है। (यमस्य येन बलिना) यमके जिस बलवान् ऋणसे मैं ऋणी हुआ हुआ (चरामि) विचरण कर रहा हूं, (अग्ने) हे अग्नि! (तत्) वह उपरोक्त जो ऋण है उससे मैं तेरे द्वारा (अनृणः) ऋणरहित होऊं। क्योंकि (त्वं) तू (सर्वान् पाशान्) सब पाशोंको (विचृतं वेत्थ) काटना वा खोलना जानती है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि अग्निकी सहायतासे यमके ऋणसे मुक्त हुआ जा सकता है। अग्नि सर्व प्रकारके बंधनोंको काटना जानती है।

यमकी अग्निको स्थिर करना।

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिलिपञ्जं दण्डनं नडम्। तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥ अथर्व० १२।२।५४॥

(इन्द्रः) इन्द्रने (जरतीं इषीकां) जरती इषीकासे (इष्ट्वा) याग करके और (तिलिपञ्जं) तिलिपञ्ज, (दण्डनं) दण्डन व (नडं) नडको (इध्मं) समिधा बना करके (यमस्य) यमकी (तं अग्निं) उस अग्निको। (निः आदधौ) निश्चयसे स्थापित किया।

जरती इषीका = बूढे अर्थात् सूखे हुए कानें।

तिलिपञ्ज- तिलोंके गुच्छे। दण्डन- यह भी एक प्रकारकी कानेकी जातकी वनस्पति है। नड-नडे जिसकी कलमें बनती हैं।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यमकी अग्निमें इन चीजोंसे याग करना चाहिए जिससे कि यमकी अग्नि स्थिर बनी रहे।

यमके भाग जल।

यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवी वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥ अथर्व० १०।५।१२॥

हे जलो! तुम (यमस्य भाग स्थ) यमके भाग हो। (देवीः आपः) हे दिव्य जलो! (अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त) जलोंका शुद्ध तेज हमारेमें स्थापित करो। (वः) तुम्हें (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके तेजसे (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिए स्थित करता हूं।

इस मंत्रमें जलोंको यमका अंश बताया गया है। उनसे तेज मांगनेकी प्रार्थना की गई है।

..... यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा ... ॥ यजुः अ० ९।३५॥

(यमनेत्रेभ्यः) यम जिनका नेता है,ऐसे (दक्षिणासद्भ्यः) दक्षिण दिशामें बैठनेवाले (देवेभ्यः स्वाहा) देवोंके लिए यह आहुति है।

... ... ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ... ॥ यजुः अ० ९।३५॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(ये देवाः यमनेत्राः) जो देव यमनेत्र अर्थात् यम जिनका नेता हैं ऐसे तथा (दक्षिणासदः) दक्षिण दिशामें बैठनेवाले हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वाहा) स्वाहापूर्वक यह आहुति हो।

इन मंत्रोंसे दक्षिण दिशावालोंका यम नेता है, ऐसा पता चलता है।

... यमस्य त्रयोदशी ... ॥ यजुः २५।४॥

यमकी त्रयोदशी है।

... यमाय कृष्णः यजुः २४।३०॥

यमके लिए काला पशु होवे। यजुर्वेदके इस मंत्रमें भिन्न भिन्नके लिए भिन्न भिन्न पशुओंका विधान है। परन्तु इस विधानका क्या रहस्य है, यह एक विचारणीय समस्या है।

तस्या यमो राजा वत्स आसीद्
रजतपात्रं पात्रम् ॥

(तस्याः) उस विराटरूपी गौका (यमः राजा) यमराजा (वत्सः आसीत्) बछडा था व दूध दोहने के लिए (पात्रं) बरतन (रजतपात्रं) चान्दीका बरतन था।

यहांपर आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है, पर यह अलंकार किसका किस प्रकार है यह एक विचाणीय बात है। यहां दिए हुए कई मंत्र, खास करके पिछले विशेष विचारणीय हैं, क्योंकि इनका अभिप्राय बराबर व्यक्त नहीं हो रहा है।

यम व पितरोंका संबंध।

यम व पितर विषयक के अबतक के विवेचनसे पाठकगण पितर व यमके पारस्परिक संबन्धसे कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गए होंगे। यमके तथा पितरों के अलग अलग दिए गए विवरणोंसे यम क्या है व पितर क्या हैं, यह भी पाठकोंके ध्यानमें सहज आगया होगा। यम व पितरों के संबन्ध का खास खास स्थानोंपर हमने निर्देश भी किया है। उन निर्देशोंसे जो बातें हमें पता चली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं। पितर यमलोकमें रहते हैं। उसीका नाम पितृलोक भी है।

इन्हीं उपरोक्त परिणामों की पुष्टि निम्न मंत्र स्पष्ट रूपमें करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

यम पितरोंका अधिपति।

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ अथर्व० ५।२४।१४॥

(सः पितृणां अधिपतिः) वह पितरोंका स्वामी (राजा) (यमः) यम (मा अवतु) निम्न लिखित कर्मोंमें मेरी रक्षा करे। (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिमें। (अस्मिन् कर्मणि) इस श्रेष्ठ कर्ममें। (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहिताईके काम में। (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठाके कार्यमें। (अस्यां चित्यां) इस चेतनायुक्त कार्योंमें। (अस्यां आकूत्यां) इस संकल्पमें। (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वादके कार्यमें। (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंके आवाहनके कार्योंमें।

इस मंत्रमें यमको पितरोंका स्वामी कहा गया है। पितरोंके ऊपर यमके अधिकार को यहां पर स्पष्ट किया गया है। यह अधिकार किस रूपमें है अर्थात् यम पितरोंका किस तरह स्वामी है, यह नीचेके मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है—

स यत् पितॄननुव्यचलद् यमो राजा भूत्वाऽनुव्यचलत् स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा ॥
अथर्व० १५।१४।१३॥

(सः) वह व्रात्य (यत्) जब (पितॄन् अनुव्यचलत्) पितरोंका लक्ष्य करके चला अर्थात् पितरोंमें आया तब (यमः राजा भूत्वा) यम पितरों का राजा बनकरके तथा पितरों के लिए (स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वधा करके दिए हुए को जीवनयात्रा का साधनभूत अन्न बनता हुआ (अनुव्यचलत्) उस व्रात्यके पीछे पीछे पितरों में आया।

व्रात्य नाम अतिथि का है। यहांपर यम पितरोंका राजा बनकर उनमें रहता है, यह दर्शाया गया है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पितरोंका यम राजा है, इस बातकी निम्न मंत्रभी पुष्टि कर रहे हैं।

मां त्वा वृक्षः संबाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु विन्वैधस्व यमराजसु॥
अथर्व० १८।२।२५॥

(त्वा वृक्षः मा संबाधिष्ट) तुझे वृक्ष अर्थात् वनस्पतियां बाधा मत पहुंचावें। वृक्ष यहां वनस्पतियोंका उपलक्षण है। (देवी मही पृथिवी मा) और दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे बाधा मत पहुंचाए। (यमराजसु पितृषु लोकं विन्वा) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके (एधस्व) वृद्धिको प्राप्त हो।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे यमका पितरोंके राजा होनेको दर्शाया गया है। पितर यमकी प्रजा हैं। यमराज्यमें भी पितर रहते हैं, इसका यहांपर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है। यह मंत्र प्रेतको लक्ष्य करके कहा गया है। इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी उपरोक्त मंत्रके भावको ही पुष्ट किया गया है।

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दशये सूर्याय।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ॥
अथर्व० १८।२।४६॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनके लिए अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें। और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करनेपर हे प्रेत! तू (अपरिपरेण पथा) अकुटिल मार्ग द्वारा (यमराज्ञः पितॄन्) यम जिनका राजा है, ऐसे पितरोंको (गच्छ) जो, प्राप्त हो।

अपरिपरः- परि परितः सर्वतः परः परभावः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः=अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता वा शत्रु आदि नहीं है वह अपरिपर।

इस मंत्रमें भी पितरोंका जो विशेषण दिया गया है, वह यमका पितरोंके राजा होनेको ही सिद्ध कर रहा है।

यम-श्रेष्ठ पितर।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
अथर्व० ११।६।११॥

(सप्त ऋषीन्) सात ऋषियोंको (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं। (देवीः अपः) दिव्य जलोंको हम कहते हैं। (प्रजापतिं) प्रजापतिको हम कहते हैं और (यमश्रेष्ठान् पितॄन्) यमके कारणसे जो श्रेष्ठ हैं ऐसे पितरोंको हम (ब्रूमः) कहते हैं कि (ते) उपरोक्त सब (नः) हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पापसे छुडावें।

यहांपर पितरोंको यमश्रेष्ठ कहा गया है। यहांपर यमका अर्थ योगमें कहे गए अहिंसा, अस्तेय आदि भी हो सकता है। जो इन षड् यमाके पालनेसे श्रेष्ठ हुए हैं। वे यमश्रेष्ठ ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है। अथवा यम जिनमें श्रेष्ठ है ऐसा भी होगा।

अस्तु। उपरोक्त विवरणसे यह पता चला कि यम पितरोंका राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं।

यम व पितरोंके सहकार्य।

इसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौनसे कार्य यम तथा पितर मिलकर करते हैं।

यमके साथ हवि खाना।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ऋ० १०।१५।८॥ यजुः १९।५१॥

(ये पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) हमारे जिन पुरातन सोम संपादन करनेवाले तथा उत्तम धनवाले पितरोंने यज्ञमें (सोमपीथं) सोमपानको (अनु ऊहिरे) किया था, (तेभिः) उन (उशद्भि) यमके साथ सोम पानकी कामना करते हुए पितरोंके साथ, (उशन् यमः) पितरोंके साथ सोमपानकी इच्छा करता हुआ यम (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) यथेच्छ (अत्तु) खावे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस मंत्रमें पितरोंके साथ हवि खानेकी इच्छा करता हुआ यम उनके साथ हवि खाता है यह दर्शाया गया है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनुजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्यु-शन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ अथर्व० १८।३।४६॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध उपरोक्त ऋ० १०।१५।८ के साथ सर्वथा मिलता है।

(नः ये पितुः पितरो ये पितामहाः) हमारे जिन पिताके पितरोंने और उनके भी जिन पितामहोंने जो कि उत्तम धनसंपन्न थे, (सोमपीथं) यज्ञमें सोमपान (अनुजहिरे) स्वीकृत किया था अर्थात् सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ० इत्यादि पूर्ववत्॥

इस मंत्रमें भी प्रथम मंत्रोक्त बातको ही पुनः कहा गया है। इस प्रकार यमका पितरोंके साथ हवि लेनेका कार्य ये मंत्र बता रहे हैं।

यम व पितरोंके साथ जाना।

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उपजुजुषाण एहि। सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योना-स्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः ॥

अथर्व० १८।२।२१॥

(ते मनः मनसा ह्वयामि) तेरे मनको मन द्वारा बुलाता हूं। (इह) यहां (इमान् गृहान्) इन घरोंसे (जुजुषाणः उप एहि) प्रीति करता हुआ अन्दर आ। तू (पितृभिः) पितरोंके साथ (सं गच्छस्व) विचरण कर। (यमेन सं) यमके साथ विचरण कर। (स्योनाः) सुखदायक, (शग्माः) शक्तिशाली (वाताः) वायु (त्वा उप-वान्तु) तेरे लिए बहें।

यहांपर यम व पितरोंके साथ जानेको कहा गया है, उसका अभिप्राय यह हुआ कि यम व पितर साथ साथ विचरण करते हैं।

पितर व यमका मिलकर सुख देना।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्। तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥

अथर्व० १२।३।८॥

(दक्षिणां दिशं) दक्षिण दिशा की (अभिनक्ष-माणौ) ओर जाते हुए तुम दोनों (एतत् पात्रं अभि) इस पात्र की ओर (परि आवर्तेथाम्) लौट आओ। (तस्मिन्) उस पात्रमें (पितृभिः संविदानः यमः) पितरोंके साथ मिला हुआ यम (पक्वाय) पक्व होनेके लिए अर्थात् पूर्ण आयु देनेके लिए (वां) तुम दोनों को (बहुलं शर्म) बहुत सुख (नि यच्छात्) देवे।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम पितरों के साथ मिलजुलकर सुख देता है। यहां पात्र शब्दसे किसका अभिप्राय है. यह व्यक्त नहीं होता।

यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति।

अयस्मये द्रुपदे बेधिषे इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्। यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकं अधिरोहयेमम्॥ अथर्व० ६।६३।३॥

,, ६।८४।४॥

(इह) यहां (अभिहितः) सर्वत्र स्थित हुई हुई हे निर्ऋति ! तू (ये सहस्रं) जो हजारों हैं ऐसे (मृत्युभिः) मृत्युके पाशोंसे (अयस्मये द्रुपदे) लोहमयी लकडी की बनी हुई बेडीमें (बेधिषे) बांधती है। (त्वं) तू (यमेन पितृभिः सं विदानः) यम और पितरोंके साथ मिलकर उनकी सहमतिसे (इमं) इसको (उत्तमं नाकं अधिरोहय) उत्तम स्वर्गमें पहुंचा।

निर्ऋतिसे यहां प्रार्थना की गई है कि वह यम व पितरोंसे मिलकर स्वर्गमें पहुंचावे। परन्तु इसका क्या अभिप्राय है अर्थात् निर्ऋति किस प्रकार स्वर्ग को पहुंचाती है, उसका स्वर्गसे क्या तालुक है यह विचारणीय है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पितरों का स्थूणा धारण करना व यम का स्थान देना।

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥

ऋ० १०।१८।१३॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी आया है—

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥

अथर्व० १८।३५।२॥

(ते) तेरे लिए (पृथिवीं) पृथिवी को (उत् स्तभ्नामि) ऊपरको उठाकर रखता हूं। फिर (त्वत् परि) तेरे पर उस (लोगं) मिट्टीके ढेलों को जो कि उठा रखा है (निदधत्) रखता हुआ (मो अहं रिषम्) मैं मत नष्ट होऊं। (एतां स्थूणां) इस खंभेको तेरे लिए (पितरः धारयन्तु) पितर धारण करें। (अत्र) और उस आधारस्तंभपर (ते) तेरे लिए (यमः) यम (सादना) घरोंको (मिनोतु) बनावे।

अङ्गिरस् पितर व यम।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥

ऋ० १०।१४।३॥

यह मंत्र पाठान्तरसे अथर्ववेद में है-

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवाँस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ अथर्व० १८।१।४७॥

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्य खानेवाले पितरोंसे, (यमः) यम (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरस् पितरोंसे तथा (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ऋक्वभिः) ऋचाओंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देव बढाते हैं (ये च) और जो (देवान्) देवोंको बढाते हैं, (अन्ये) उनमेंसे अन्य मातली, यम और बृहस्पति तो (स्वाहा मदन्ति) वषट्कारसे दी हुई हविसे प्रसन्न होते हैं और (अन्ये) इनसे भिन्न दूसरे कव्य, अङ्गिरस् आदि (स्वधया) स्वधाकारसे प्रसन्न होते हैं।

अथर्ववेदमें जो थोडासा पाठभेद है वह इस मंत्र के अर्थको अधिक स्पष्ट करता है। उसके अनुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है—

इन्द्र कव्य पितरोंसे, यम अङ्गिरस् पितरोंसे तथा बृहस्पति ऋचाओंसे स्तुति करनेवाले पितरोंसे बढता है। जिन पितरोंको ये उपरोक्त देव बढाते हैं तथा जिन देवोंको ये उपरोक्त पितर बढाते हैं ऐसे वे पितर बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम अङ्गिरस् पितरोंसे बढता है यानि यशस्वी होता है।

इमं यम प्रस्तरं मा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ताः वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥

ऋ० १०।१४।४॥ अथर्व० १८।१।६०॥

हे यम। (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अङ्गिरस् पितरोंसे मिला हुआ तू (इमं प्रस्तरं) इस फैलाए हुए आसन पर (आसीद) बैठ। (त्वां कविशस्ताः मंत्राः) तुझे कविशस्त मंत्र (आ वहंतु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

कविशस्त मंत्र- कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोकोंसे जिनकी प्रशंसा की गई है ऐसे मंत्र, प्रशंसनीय मंत्र। इस मंत्रमें प्रशंसापरक मंत्रोंद्वारा यमके अङ्गिरस् पितरोंके साथ बुलाकर यज्ञमें विस्तृत आसन पर बैठानेका उल्लेख है।

यमका अंगिरस् पितरोंके साथ आना।

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिः यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० १०।१४।५॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी है-

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरागहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व । विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ अथर्व० १८।१।५९॥

हे यम! (वैरूपैः) विविधरूपवाले (यज्ञियेभिः) पूजनीय यज्ञके योग्य (अंगिरोभिः) अंगिरस् पितरोंके साथ (इह आगहि) इस यज्ञमें आ। और (मादयस्व) प्रसन्न हो। (विवस्वन्तं हुवे) मैं विवस्वान् को भी बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह तेरा पिता (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (बर्हिषि आ निषद्य) आसनपर बैठ कर यजमान को आनन्दित करे।

इस मंत्रमें यमको अंगिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया गया है। इसके अतिरिक्त यह मंत्र यमका पिता विवस्वान् है इस पूर्वोक्त परिणाम का समर्थन कर रहा है। विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलानेका यहां निर्देश है।

अबतक के इन मंत्रोंसे अंगिरस् पितर व यमके संबन्ध का व परस्परके व्यवहारोंका हमें पता चलता है। ये सब मंत्र यमका पितरोंसे विशेष संबन्ध है यह स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं। यम बहुतसे काम पितरोंसे मिलकर ही करता है। इससे यमराज्यमें पितरोंकी स्थितिपर भी थोडासा प्रकाश अवश्य पडता है।

इस प्रकार विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त यम संबन्धी मंत्र समाप्त होते हैं। पाठक इन पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तथा जो उचित हो वह ग्रहण करे। अब हम अगले प्रकरणमें उन मंत्रोंपर विचार करेंगे जिनमें कि यम इस अर्थके अतिरिक्त अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

१ नियमन अर्थ में यम ।

इस विभागमें उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें कि यम नियमन, नियामक आदि इन्हीं के सदृश अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च। शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि श्रवो देवभक्तं दधानाः ॥ ऋ० १।७३।१०॥

(वेधः अग्ने) हे मेधावी अग्नि ! (एता उचथानि) ये वैदिक स्तोत्र (ते मनसे हृदे च) तेरे मन व हृदय के लिए (जुष्टानि सन्तु) प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों। (देवभक्तं श्रवः दधानाः) देवोंसे सेवित अन्न वा धन को धारण करते हुए हम (ते सुधुरः रायः यमं शकेम) तेरे उत्तम तथा धारण करने योग्य अथवा जो उत्तम प्रकारसे दारिद्रका नाश करनेवाले धनका नियमन कर सकें। श्रवः अन्न। निघण्टुः- २। ७॥ श्रवः=धन। निघ० २।१०

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि। आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ ऋ० १।८३।५॥

(अथर्वा) स्थिरप्रकृति विद्वान् ने (प्रथमः) सबसे पहिले (यज्ञैः) यज्ञोंद्वारा (पथः तते) मार्ग का विस्तार किया। (ततः) तब (व्रतपाः वेनः सूर्यः) व्रतरक्षक चमकीला सूर्य (आजनि)उत्पन्न हुआ। और फिर (उशनाः काव्यः सचा) कामना करते हुए कविको पुत्रके साथ मिलकर सूर्यने (गाः आ आजत्) किरणोंको फैंका अर्थात् सर्वत्र प्रकाश किया। (यमस्य जातं अमृतं) नियमन के लिए उत्पन्न अमृत का हम (यजामहे) यजन करते हैं- उसकी पूजा करते हैं। यहां सूर्योदय का वर्णन है। सचा-सह। निघ० ४।२॥

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ ऋ० १।१६३।२॥
यजुः २९। १३॥

इस मंत्रका देवता अश्व है। (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) वसुओंने सूर्य से घोडे को बनाया यानि उत्पन्न किया। फिर (यमेन दत्तं) नियामक अग्निसे दिए हुए उस घोडेको (त्रितः) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुने (आयुनक्) रथादिमें जोडा। (इन्द्रः एनं प्रथमः अध्यतिष्ठत्) इन्द्र उस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पर सबसे पहिले सवार हुआ। (गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात्) गन्धर्वने उस घोडे की लगाम पकडी। रशना=घोडे बांधनेके रस्सी।

२ जीवात्मा अर्थ में यम।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति॥
ऋ० १०।१३५।१॥

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् हरेभरे, भोगसामग्री से परिपूर्ण संसाररूपी वृक्षपर (यमः) इन्द्रियों का संयमन करनेवाला जीवात्मा (देवैः) दिव्य गुणोपेत इन्द्रियोंके साथ (संपिबते) सांसारिक सुखदुःखों का उपभोग करता है,(अत्र)उस संसाररूपी वृक्षपर (विश्पतिः) मनुष्य प्रजाका रक्षक (पिता) उत्पादक परमात्मा (पुराणान् नः) पुरातन समयसे भक्ति करते आए हुए हमारी (अनुवेनति) अनुकूलतासे कामना करता है।

३ ज्ञानेन्द्रियां—यम।

इदं सवितर्विजानीहि षड्यमा एक एकजः।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः॥
अथर्व० १०।८।५॥

हे (सवितः) सविता! (इदं विजानीहि) इस बातको तू भली प्रकार समझ कि (षड् यमाः) पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा एक मन ये मिलकर छः यम हैं। तथा (एकः एकजः) एक जीवात्मा अकेला ही जन्म लेनेवाला है। और (एषां यः एकः एकजः) इनमें जो एक अकेला उत्पन्न होनेवाला है(तस्मिन्) उस जीवात्मा में ये छः मनसहित ज्ञानेन्द्रियां (ह) निश्चयसे (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छन्ते) चाहती हैं।

४ आचार्य यम।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय। तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥ अथर्व० ६।१३३।३॥

(यत्) क्यों कि (अहं) मैं (मृत्योः ब्रह्मचारी) मृत्युका ब्रह्मचारी (अस्मि) हूं, अतः (भूतात् पुरुषं) प्राणीमात्रमें से पुरुषको (यमाय) यम के लिए अर्थात् आचार्यके लिए (निर्याचन्) मांगता हुआ आया हूं। (तं एनं) उस इस पुरुषको (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानसे, (तपसा) तपद्वारा,(श्रमेण) श्रमद्वारा तथा (अनया मेखलाया) इस मेखलाद्वारा (सिनामि) बांधता हूं।

५ वायु--यम।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा।
स्वाहा धर्माय। स्वाहा घर्मः पित्रे॥ यजुः ३८।९॥

इस मंत्रकी शतपथ १४।२।२।११ में व्याख्या है। वहां पर यमका अर्थ निम्न लिखित किया गया है- 'यमाय त्वांगिरस्वते पितृमते स्वाहेति। अयं वै यमो योऽयं पवते तस्मा एवैनं जुहोति तस्मादाह यमाय त्वेत्यङ्गिरस्वते पितृमत इति...॥' तदनुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार हुआ- (पितृमते अङ्गिरस्वते यमाय त्वा स्वाहा) पितृमान् अंगिरस्वत् वायुके लिए तुझे स्वाहा करके दी गई आहुति हो। (घर्माय स्वाहा) यज्ञके लिए स्वाहा। (घर्मः पित्रे) यज्ञ रक्षक के लिए स्वाहा।

६ सूर्य--यम।

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे।
देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सँस्पृशस्पाहि अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि॥
यजुः ३७।११॥

इस मंत्रकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ सूर्य किया है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है- 'स प्रोक्षति यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येतेनेदं सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति॥ श० १४।१।३।४॥ शतपथके इस वचनानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है-(यमाय त्वा) सूर्यके लिए तुझे, (मखाय त्वा) यज्ञके लिए तुझे,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(सूर्यस्य तपसे त्वा) सूर्यके तपके लिए तुझे, (सविता देवः त्वा) सविता देव तुझे (मध्वा अनक्तु) मधुसे युक्त करे। तू (पृथिव्याः संस्पृशः पाहि) पृथिवीके संस्पृश् अर्थात् उपद्रव्यजन्य संस्पर्शोंसे रक्षा कर। तू (अर्चिः) दीप्यमान असि है। (शोचिः असि) दुष्टोंको शोक करानेवाला है। (तपः असि) दुष्टोंको तपानेवाला है।

इस प्रकार यहांपर यमवाले मंत्र तथा बहुवचनान्त पितृ शब्दवाले मंत्र समाप्त होते हैं। यम व पितर विषयक जो जो भी सिद्धान्त स्थापित किए जा सकते हैं वे सब इनमें आ चुके हैं। यम व पितर-विषयक नवीन सिद्धान्त अब आगे संभवतः देखनेको नहीं मिलेंगे। इससे आगे हम जैसा कि अन्यत्र निर्देश भी कर आए हैं, यम व पितर-संबन्धी संपूर्ण सूक्तोंपर विचार करेंगे, जिससे कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण मंत्र जिसमें कि यम वा पितृ शब्द न होनेसे छूट गया होगा तो वह भी पाठकोंके सामने आ सकेगा। सम्पूर्ण सूक्तोंपर विचार करनेसे प्रकृत विषयपर विचार करनेके लिए व विशेष निर्णयपर पहुंचनेके लिए पर्याप्त सहायता मिलनेकी संभावना है।

यम और पितरोंके ऋग्वेद सूक्त।

अब हम यम और पितरोंसे संबन्ध रखनेवाले सूक्तों पर अर्थात् जिन सूक्तोंका देवता यम अथवा पितर है, उनपर सूक्तके क्रमसे विचार करेंगे। यद्यपि इन सूक्तोंमें आए हुए बहुतसे मंत्रोंपर पहिले विचार किया जा चुका है,तथापि यहांपर पूर्वापर प्रकरणके साथ उनपर विचार करनेसे उनका भाव अधिक खुल सकेगा। साथ ही पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात भी आ सकेगी कि उनके जो पहिले अर्थ दे आए हैं वे कहांतक संगत हैं और उनसे निकाला हुआ परिणाम कहांतक ठीक है। संपूर्ण सूक्तके भावके साथ यदि तो उन मन्त्रोंकी संगति लग सकती है तो इन मंत्रोंका अर्थ ठीक है अन्यथा अवश्यमेव अर्थमें खींचातानी की गई है यह स्पष्ट हो जायगा। और इसीलिए पाठकोंसे भी निवेदन है कि वे भी यदि किसी मंत्रके अर्थ वा भावसे असहमत हों तो वे प्रथम उस मंत्रके सूक्तके भावके साथ उस मंत्रकी संगति देखें और फिर अर्थपर विचार करें। संपूर्ण सूक्तके साथ संगतीकरण करते हुए मंत्रका अर्थ करना अधिक पूर्ण व ठीक होगा। यद्यपि सबके सब मंत्रोंके अर्थोंकी कसौटीके लिए हम यहां साधन उपस्थित नहीं कर सकते, तथापि जिन सूक्तोंपर यहां विचार करना है, उनमें वे प्रायः सभी मंत्र आ जायंगे जो कि प्रकृत विषयमें एक बडा भारी महत्त्वपूर्ण भाग ले रहे हैं अर्थात् जिनके आधारपर यम व पितर विषयक परिणाम निकाले गए हैं। पहिले ऋग्वेदके सूक्तोंपर क्रमशः विचार करेंगे। ऋग्वेदमें ५ सूक्त ऐसे हैं जो कि प्रकृत विषय से संबन्ध रखते हैं। पहिले तीन सूक्त अर्थात् १४, १५ और १६ लगातार इसी विषयसे संबन्ध रखनेवाले हैं।

१ ऋग्वेद मं० १० । सू० १४

१-१६ यम ऋषिः। देवताः- १-५, १३-१६ यमः। ६ लिङ्गोक्ताः। ७-९ लिङ्गोक्ताः पितरो वा। १०-१२ श्वानौ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥ ऋ० १०।१४।१ ॥

(प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालोंको, उत्तम कर्म करनेवालोंको तथा निकृष्ट कर्म करने वालोंको (महीः) भूमिप्रदेशोंको (अनुपरेयिवान्सं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतोंके लिए मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान्के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी (हविषा दुवस्य) हविदानपूर्वक पूजा कर। " प्रवतः महीः अनुपरेयिवान्सं " इसका अभिप्राय यह है कि सबको उन उनके कर्मानुसार उचित स्थानपर जन्म देता है। जैसे कोई भारत वर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र। भारतवर्षमें भी जीव स्वकर्मानुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है ऐसा इसका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मंत्रभागका अर्थ यूं भी किया जा सकता है-(प्रवतः अनु महीः परेयिवान्सं) प्रकृष्ट, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट योनिस्थ जीवोंके उद्देश्यसे पृथिवी पर आए हुए यमको... इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है। और उसका यह कार्य है इसकी पुष्टि आगे ' जनानां संगमनं ' यह कर रहा है।

" बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानम्"- इसका अभिप्राय यह है कि नाना योनिस्थ जीवोंमेंसे जिस जिसकी आयु संपूर्ण होती है, उस उसको वह यमलोकका रस्ता दिखाता जाता है। इस प्रकार इन कर्मोंके करनेवाले यम राजाको हवि देकर उसकी पूजा करनी चाहिए यह मंत्रका आशय है।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥ ऋ० १०।१४।२॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्ववै) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा ह यह मंत्रके उत्तरार्धस दर्शाते हैं- (यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं।

इस मंत्रको प्रथम मंत्रोक्त ' जनानां सङ्गमनं यमं राजानं ' का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अन्त में यमलोकमें सब प्राणियोंके जानेके लिए जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है। यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्योंकि वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्गसे छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगाही। इसी भावको और भी अधिक स्पष्ट मंत्रके उत्तरार्धसे करते हुए कहा गया है कि उस मार्गमेंसे हमारे पूर्वज गए और जात प्राणीमात्र भी अपने कर्मानुसार जायगा।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमलोकके जानेके मार्गका वर्णन है। उस मार्गसे सबको जाना होगा। कोई भी इससे बच नहीं सकता। अतएव यमको पूर्व मंत्रमें ' जनानां संगमनं ' कहा है। यह मंत्र अथर्ववेदमें (१८।१।५०) भी है।

अगले तृतीय मंत्रसे छठे मंत्र तक नया प्रकरण शुरु होता हुआ प्रतीत होता है। इन चार मंत्रोंमें यम व अङ्गिरस् पितरोंकी चर्चा है।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति॥

ऋ० १०।१४।३॥

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्योंसे, (यमः अङ्गिरोभिः) यम अङ्गिरसोंसे और (बृहस्पतिः ऋक्वभिः) बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचासंबन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनका देवोंने बढाया है तथा (ये देवान्) जो देवोंको बढाते हैं, उनमें से (अन्ये) अन्य अर्थात् मातली, यम तथा बृहस्पति (स्वाहा) वषट्कार से दी गई हविद्वारा (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं और (अन्ये) दूसरे कव्य, अङ्गिरस् तथा ऋक्व (स्वधया) स्वधाकार से दी गई हविद्वारा प्रसन्न होते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४७) में है। वहां पर जो चतुर्थ पाद है वह इस मंत्रके चतुर्थ पादसे भिन्न है। अथर्ववेद के पाठानुसार कव्य, अङ्गिरस् कौन है यह स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में आए हुए इस मंत्रका चौथा पाद इस प्रकार ह- 'ते नोऽ-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वन्तु पितरो हवेषु।' अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, अङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें।

कव्य- पितरोंको प्रायः बहुतसे मंत्रोंमें कविके नामसे कहा गया है। और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका नाम 'कव्य' है। देवोंके लिए दी जाती हवि 'हव्य' के नामसे कही जाती है। दोनों हवियोंका भेद करनेके लिए पितरोंकी हविको कव्यके नामसे कहा गया है। तथापि कई स्थानोंपर पितरोंके लिए हवि शब्दसे भी हव्यका विधान है ही। यहां पर कव्य शब्दसे कव्य खानेवाले पितरों का ग्रहण है।

इमं यम प्रस्तर मा हि सीदाङ्गिरोभिः
संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ता
वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व॥
ऋ० १०।१४।४॥

(अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अंगिरस् पितरों के साथ एकमत हुआ हुआ हे यम! तू (इमं प्रस्तरं) इस विस्तृत फैले हुए आसनपर (आसीद) बैठ। (त्वा) तुझे (कविशस्ताः मंत्राः) क्रान्तदर्शीयों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

इस मंत्रमें यमका अंगिरस् पितरों के साथ यज्ञ में विस्तृत आसनपर बैठजाने का वर्णन है। उसकी मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है। ये अङ्गिरस् पितर कौन हैं इस पर स्वतंत्र विचार करेंगे। इन तीन चार मंत्रोंसे उनका व यमका संबन्ध दिखाया गया है। उपरोक्त मंत्रके भावको अगले मंत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया गया है-

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिः यम वैरूपैरिह
मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्
यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ऋ० १०।१४।५॥

हे यम! (वैरूपैः) विविध स्वरूपवाले, (यज्ञियेभिः) यज्ञके योग्य पूजनीय (अङ्गिरोभिः) अंगिरस् पितरोंके साथ (इह आ गहि) इस हमारे यज्ञमें आ। यज्ञमें आकर दी गई हविको खाकर (मादयस्व) आनन्दित हो। (विवस्वन्तं हुवे) विवस्वान् (सूर्य) को मैं बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह विवस्वान् (अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य) इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे।

यज्ञमें यम व अंगिरस् पितरों को बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यमका पिता विवस्वान् (सूर्य) है, उसे भी साथ में यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिए दी जाती है। अंगिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। इस भिन्न भिन्न स्वरूपका आगले मंत्रमें स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद (१८।१।५९) में भी आया है।

अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः
सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि
भद्रे सौमनसे स्याम॥ ऋ० १०।१४।६॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अंगिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अंगिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह अंगिरस् पितरों की (सुमतौ) उत्तम सलाहोंमें तथा (भद्रे सौमनसे) शुभसंकल्पों में (स्याम) होवें।

वेदमें नवग्व तथा दशग्व शब्द कई स्थानोंपर आते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्यने इस मंत्रमें आए हुए नवग्व आदि शब्दोंके निर्वचन निम्न लिखित किए हैं—

नवग्व-नवगतयो नवनीतगतयो वा।
नि० ११।१८॥

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अथवा नवनीत अर्थात् मक्खन की तरह गतिवाले। सायणाचार्य अपने भाष्यमें इस शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं— 'नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रमनुतिष्ठवन्तः।' अर्थात् नव मासका सत्र याग करने से इनका नाम नवग्व है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्वा-अथर्वाणोऽथर्वण्वन्तः, थर्वतिश्चरति कर्मात्तत्प्रतिषेधः। निरु० ११।२।१८॥

अथर्वा स्थिर अर्थात् निश्चल प्रकृतिवाला होता है। चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है। जिसका अर्थ है अस्थिर-चलायमान। इससे उलटा अथर्वा-निश्चल।

भृगुः - अर्चिषि भृगुः संबभूव। भृगुः भृज्यमानः, न देहे। निरु० ३।३॥ भृगु अग्निकी ज्वालाओंमें पैदा हुआ था। भृगुका अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो, जिसकी शरीरमें आस्था न हो। सोम्यासः-सोम-संपादिनः। निरु०॥ जो यज्ञमें सोमरस तैयार करते हैं वे सोम्य कहलाते हैं।

इस प्रकार इन विशेषणोंसे पूर्व मंत्रोक्त 'वैरूपैरिह मादयस्व' में अङ्गिरस् पितरोंको जो वैरूप कहा था उसका इस मंत्रमें स्पष्टीकरण करके दिखाया है कि अङ्गिरस् पितर वैरूप किस प्रकारसे हैं। मंत्र के उत्तरार्धमें उनको नेक सलाहमें रहने को कहा गया है। यह मंत्र अथर्व (१८।१।५८)में तथा यजुर्वेद (१९।५०)में भी आया हुआ है। यहांपर तीसरे मंत्र से अङ्गिरस् पितरका जो प्रकरण प्रारंभ हुआ था वह समाप्त होता है।

अब अगले दो मंत्रोंमें अर्थात् ७ वें व आठवें में पुनः उसी प्रकरणका निर्देश करते हुए मृत पुरुषकी आत्माको यमलोकमें जहां कि पूर्व पितर गए हुए हैं वहां यम व वरुणके दर्शन करनेके लिए कहा गया है।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ऋ० १०।१४।७॥

हे मृत पुरुष! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गोंद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर (स्वधया मदन्तौ) स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए (उभा राजाना) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इस मंत्रमें प्रथम दो मंत्रोंके भावको बिलकुल व्यक्त कर दिया है। सबसे प्रथम यहां यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि जिस लोकमें हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक यमलोक है अथवा उस लोक में यमका राज्य है, क्यों कि यम उस लोक का राजा है ऐसा उत्तरार्ध में कहा है। दूसरी बात यम भी स्वधासे तृप्त होता है, यह यहांपर स्पष्ट होती है। तीसरी बात यमके साथ ही वरुण भी रहता है। चौथी बात यमलोकमें जानेके मार्ग पितृयाण कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथम दो मंत्रोंके भावको किस प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया है, यह पाठक स्वयं देख सकते हैं। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तर के साथ अथर्ववेद (१८।१।५४) में भी है।

सं गच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ऋ० १०।१४।८॥

हे मृत पुरुष! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मोंका त्याग कर के अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ, अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज-कान्तिसे युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीरको धारण करके संसारमें विचरण कर।

इस मंत्रसे हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम ये दोनों मंत्र अर्थात् सातवां व आठवां मृत पुरुषको संबोधन करके कहे गए हैं। मंत्रका उत्तरार्ध इस बातकी पूर्ण रूपसे पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवीपर लेने आते हैं। तीसरी बात 'परमे व्योमन्' से यमलोक उत्कृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यमलोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जाता है। इष्टापूर्तके साथ जानेका कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है –

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अथर्ववेद (१८।३।५८) में भी यह मंत्र आया हुआ है।

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ ऋ० १०।१४।९॥

(अप इत) हे विघ्नकारी जनो! यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (वि सर्पतातः) सर्वथा यह स्थान छोडकर हट जाओ। (अस्मै) इस प्रतके लिए (पितरः) पितरोंने (एतं लोकं अक्रन्) यह स्थान किया है। (अस्मै) इस मृतके लिए (यमः) यमने (अहोभिः) दिनोंसे व (अद्भिः) पेय जलोंसे तथा (अक्तुभिः) रात्रियोंसे (व्यक्तं अवसानं) स्पष्ट समाप्ति (ददातु) दी है।

इस मंत्रमें शवकी अंत्येष्टि क्रिया के लिए स्थान को पितर निर्धारित करते हैं ऐसा उल्लेख है। यहां शरीरसे प्राणोंके निकल जानेके बादका वर्णन है। उत्तरार्धमें यह स्पष्ट कहा है कि इसके लिए अब दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् यह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरने पर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं- (१) या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह स्मशान-भूमिका हो सकता है अथवा (२) वह यमलोकका हो सकता है। यदि दूसरा विकल्प माना जाए तो इससे यमलोकपर थोडासा प्रकाश अवश्य पड सकता है और वह यह कि जैसा उत्तरार्धमें दर्शाया है यमलोकमें दिन व रात नहीं होते और वहां जल भी नहीं है।

अवसान = समाप्ति। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।५५) में भी है।

अब यमके दूत दो श्वानोंका वर्णन अगले तीन मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १० से लेकर १२ तक में है।

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

हे पितृलोकमें जाते हुए जीव! (सारमेयौ चतुरक्षौ) सारमेय, चार आंखोंवाले (शबलौ) चितकबरे (श्वानौ) दो कुत्तोंसे (अति) बचकरके (साधुना पथा) कल्याणकारी उत्तम मार्गसे (द्रव) जा। (अथ) तब (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धन वा ज्ञानसे युक्त पितरोंको (उप इहि) प्राप्त हो। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं।

सारमेय- सायणाचार्यने सारमेयका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है। उसका बच्चा सारमेय। सरमा शब्द सृगतौ धातुसे अम करनेपर बनता है, जिसका अर्थ है बहुत दौडनेवाली। उसका पुत्र सारमेय। सारमेयका अर्थ हुआ बहुत दौडनेवाली का पुत्र। लौकिक साहित्यमें सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है। यमके कुत्तोंका वर्णन इस मंत्रमें किया गया है। उनकी चार आंखें हैं, तथा चितकबरे रंगके हैं। इस मंत्रमें यम व पितरोंका संबन्ध भी व्यक्त हो रहा है। अगले मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वे इस जीवको उन कुत्तोंसे कल्याण तथा आरोग्य प्रदान करे।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परि देहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि ॥ ऋ० १०।१४।११॥

हे यम! (ते) तेरे (यौ) जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिरक्षी) यमलोकमें जानेके मार्गकी रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्योंके देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन्! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इस जीवको (स्वस्ति) कल्याण (देहि) प्रदान कर। (च) और (अस्मै) इस जीवके लिए (अनमीवं) रोगरहितता अर्थात् आरोग्य (धेहि) धारण कर। इसे नीरोगी बना।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस मंत्रमें जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।१२) में है।

ऊरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दाता-मसुमद्येह भद्रम्॥ ऋ० १०।१४।१२॥

(ऊरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान्, (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनु चरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं। (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोक में जीवन धारण करनेके लिए (अद्य) आज (इह) इस संसारमें (भद्रं असुं) कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दातां) देवें।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका थोडासा और अधिक वर्णन हमें मिलता है। वे लम्बी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले,अत्यंत बलशाली हैं। वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं। इसी सूक्तके आठवें मंत्रमें हम देख आए हैं कि वहां पुनर्जन्मका वर्णन मिलता है। इस मंत्रका उत्तरार्ध भी पुनर्जन्मविषयक निर्देश कर रहा है। 'सूर्याय दृशये' से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इस लोकमें रहकर ही सूर्यदर्शन हो सकता है अन्यत्र नहीं। यह मंत्र भी अथर्ववेद (१८।२।१३) में है। यमके कुत्तों पर अधिक प्रकाश डालनेके लिए हम प्रसंगवश अथर्व० ८।१।९ को उद्धृत करते हैं, जिससे कि यमके श्वानविषयक कल्पनाको जो कि हम आगे देनेवाले हैं, समझनेमें पाठकोंको सहायता मिलेगी।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥ अथर्व० ८।१।९॥

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं, वे (त्वा) तुझे (मा) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) तू हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जाने की कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्त चित्तवाला होकर (मा तिष्ठः) मत स्थित हो। अर्थात् संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रके पूर्वार्धमें यमके कुत्तोंका स्वरूप दर्शाया है। उनमेंसे एक काला है व दूसरा चितकबरा है। इस प्रकार १० वें मंत्रसे १२ वें मंत्रतकमें तथा इस अथर्वेदके मंत्रमें जो यमके श्वानोंके लिए विशेषण प्रयुक्त किए गए है उनसे ऐसा पता चलता है कि आलंकारिक रूपसे दिन व रातका वर्णन इन मंत्रोंमें है। यमके दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। काला कुत्ता रात है व चितकबरा कुत्ता दिन है।

इस कल्पनाका आधार इन मंत्रोंमें कुत्तोंके लिए प्रयुक्त हुए हुए विशेषण हैं। हम खास खास विशेषणोंके आधार पर पाठकोंको उपर्युक्त कल्पनाका दिग्दर्शन करायंगे। यमके श्वानोंके लिए कहा है कि (जनान् अनुचरतः) अर्थात् वे मनुष्योंके पीछे पीछे प्राणापहरणके लिए लगे हुए विचरण कर रहे हैं। ज्यों ज्यों रात व दिन गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। और एक दिन व रात आती है जब मनुष्यका प्राणान्त हो जाता है। दिन व रात सारमेय भी हैं, क्योंकि जल्दी जल्दी आकर चले जाते हैं। ये शबल अर्थात् चितकबरे भी हैं। दिन सफेद है, व रात काली है इस प्रकार दोनों मिलकर शबल हैं। ये नृचक्षस अर्थात् मनुष्यों को देखनेवाले भी हैं। ये असुतृप अर्थात् प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं। जबतक शरीरसे प्राण नहीं छूटता तबतक मनुष्यके साथ दिन रात लगे ही हुए हैं। प्राण छूटे कि दिन रात उसके लिए समाप्त हुए। उसके प्राणोंके लेनेके लिए ही मानो दिन रात पीछे पीछे लगे हुए थे। वे प्राण मिले के उस मनुष्यका दिन रातसे पीछा छूटा। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है कि और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके दूत कुत्तोंका उल्लेख किया गया? क्या कुत्तेके वाचक अन्य शब्द नहीं हैं? परंतु

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पाठकों को यहां पर ध्यानमें रखना चाहिए कि यह श्वान शब्द हमारी उपरोक्त कल्पना को विशेष दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त शंका का तो उत्तर मिलही जाता है पर दिन रातका यमके श्वान होनेका रहस्यभी पूर्ण रूप-से खुल जाता है। श्वानका अर्थ है- (श्वा=श्वः= कल+न-नहीं) जो आनेवाली कलमें नहीं रहेगा अर्थात् जो आज तो है पर कल न रहेगा। पाठक देख सकते हैं कि यह अर्थ पूर्ण रूपसे दिन व रात पर घट रहा है। जो दिन व रात आज हैं वे ही फिर दुबारा लौटकर कल नहीं आयंगे। इस प्रकार आलंकारिक वर्णनसे यमके दूत श्वान दिन और रात हैं।

यहांपर यमके श्वानविषयक प्रकरण समाप्त होता है। अब आगेके तीन मंत्रोंमें अर्थात् १३ से १५ तकमें यमके लिए हवि देने, यज्ञ करने आदिका निर्देश है।

यमाय सोमं सनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः॥
ऋ० १०।१४।१३॥

(यमाय सोमं सुनुत) यमके लिए यज्ञमें सोमको निचोडो। (यमाय हविः जुहुत) यमके लिए हवि प्रदान करो। (अरङ्कृतः) नाना प्रकारके द्रव्योंके डालनेसे जो अलङ्कृत किया हुआ, (अग्निदूतः) अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चयसे (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यमको प्राप्त होता है।

यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए। यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है।

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तर के साथ अथर्ववेद (१८।२।१) में है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घायुः प्रजीवसे॥
ऋ०१०।१४।१४॥

(यमाय) यमके लिए (घृतवत् हविः) घीवाली हवि (जुहोत) प्रदान करो। और हवि देकर (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवन का लाभ करो। (सः)वह यम (प्रजीवसे) अच्छी प्रकारसे जीनेके लिए (देवेषु) देवोंमें (नः) हमें (दीर्घायुः) लम्बी आयुष्य (आ यमत्) देवे।

यमके लिए घीसे मिश्रित हवि देकर प्रतिष्ठा वा दीर्घ जीवन प्राप्त करो। यमको हवि देनेसे वह देवोंमें दीर्घायु देता है। यह मंत्र भी अथर्व० (१८।२।३) में कुछ पाठभेदके साथ आया है।

[टिप्पणी- 'प्रतिष्ठत' - ऐसा प्रतीत होता है कि यमके लिए घीवाली हवि देनेसे मनुष्यकी सांसारिक व पारलौकिक स्थिति उत्कृष्ट हो सकती है।]

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥
ऋ० १०।१४।१५॥

(यमाय राज्ञे) यम राजाके लिए (मधुमत्तमं हव्यं) अत्यन्त मधुर हव्य का (जुहोतन) प्रदान करो। (पथिकृद्भ्यः) रस्ता बनानेवाले मार्ग प्रद-र्शक (पूर्वजेभ्यः) जो सबसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं व (पूर्वेभ्यः) हमसे पूर्वके हैं ऐसे (ऋषिभ्यः) ज्ञानि-योंके लिए (इदं नमः) यह नमस्कार है।

इस मंत्रमें यम राजाके लिए मधुरतम हवि देनेका व प्राचीन ऋषियोंके लिए नमस्कार का विधान है। इस प्रकार इस प्राणापहारी यमका वर्णन करनेके बाद अन्तिम मंत्रमें उपसंहार करते हैं। इस उप-संहारके मंत्रमें उस यम (सर्वनियन्ता परमात्मा) का वर्णन है।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥
ऋ० १०।१४।१६॥

(एक इत् बृहत्) अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम (त्रिकद्रुकेभिः) तीन कद्रुकोंसे (षट् उर्वीः) छहों उर्वियोंको (पतति) प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। (त्रिष्टुप् गायत्री) त्रिष्टुप् गायत्री आदि (ता सर्वा छंदांसि) वे सब छन्द (यमे) उस नियन्ता परमात्मामें (आहिता) स्थित हैं।

षट् उर्वी- द्यु, पृथिवी, आप, ओषधी, दिन व रात ये छः उर्वियां हैं। सायणाचार्यने त्रिककद्रु का

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अर्थ यागविशेष करके लिखा है। छहों उर्विओंमें वह यम व्याप्त है, इतना अवश्य पता चलता है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सर्व उस यम (नियामक परमात्मा) में स्थित हैं।

संसारमें हम देख रहे हैं कि परमात्माकी भिन्न भिन्न शक्तियां अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुई कार्य कर रही हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि शक्तियां यद्यपि अन्तमें परमात्मा में ही समाविष्ट होती हैं,तथापि इनकी अपनी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् ये परमात्मा की शक्तियां होतीं हुई भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखतीं हुई संसार में कार्य कर रही हैं। ये सब परमात्मा की ही भिन्न शक्तियां हैं अर्थात् इनके नामसे परमात्मा की ही सत्ता व महत्ता का बोध होता है, जैसा कि हमें ऋ० १।१६४ मंत्र ४६ दर्शा रहा है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १।१६४।४६॥

परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि इन्द्र मित्रादि की स्वतंत्र सत्ता ही नहीं। इनकी स्वतंत्र सत्ता से इनकार करना परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओंसे इनकार करना है। उपरोक्त मंत्रमें गिनाई गई परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्ताओं में यम भी एक है। यमका सर्वत्र अर्थ वायु करनेका यह मंत्र विरोध करता है। इस प्रकार इस सूक्तमें जो यमका वर्णन है वह परमात्मा की विनाशक शक्ति व मरनेके बाद जीवों की व्यवस्था करनेवाली शक्ति का वर्णन है। यह शक्ति अग्नि वायु आदिकी तरह अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। जिस प्रकार वायु आदि की स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यमकी भी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। परमात्मा की भिन्न शक्तियों में से एक यम नामक शक्ति है जिसका कि यम व पितरमें उल्लेख किया गया है। कोई यह न समझ ले कि यम परमात्मा की शक्तियों से भिन्न कोई अलग ही शक्ति है, अतः इस सूक्तके अंतमें इस शंका के निवारणार्थ इस मंत्रसे उपसंहार करते हुए ऋ० १।१६४।४६ मंत्र के आशय को दर्शाया गया है। इस अंतिम मंत्रका यह प्रयोजन है कि अन्तिम यम तो वही एक परमात्मा है, पर जो सूक्तमें यमका वर्णन है वह उस की एकदेशीय शक्ति का वर्णन है। हमारे ख्याल में इसी प्रकार इस मंत्र की सूक्तके साथ संगति है। यम यह एक स्वतंत्र सत्तावाली परमात्मा की शक्ति है, जो वायु अग्नि आदिसे भिन्न है, सूक्ष्म पाठक इस विवेचन पर और भी अधिक विचार कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

प्रथम मंत्र।

१ कर्मानुसार जन्मस्थानका निर्णय यम करता है।
२ यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है।
३ यम को सब जन प्राप्त होते हैं।

द्वितीय मंत्र।

४ यम ने यमलोक में जाने के मार्ग को सबसे प्रथम जाना।
५ यमलोक के मार्ग से कोई भी बच नहीं सकता अर्थात् प्रत्येक को यम लोक में अवश्य जाना पडता है।
६ यमलोकमें हमारे पूर्व पितर गए हुए हैं।

तृतीय मंत्र।

७ यम अङ्गिरस् पितरों से बढता है।

चतुर्थ व पंचम मंत्र।

८ यम को अङ्गिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है।
९ अङ्गिरस् पितर नाना स्वरूपवाले हैं।
१० यमके पिता विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलाया जाता है।

षष्ठ मंत्र।

११ अङ्गिरस् पितरोंके नाना रूप नवग्व, अथर्वन्, भृगु आदि हैं।

सप्तम मंत्र।

१२ प्रेत पितृलोक (यमलोक) में भेजा जाता है।
१३ यमलोकमें यम व वरुण राजा है।
१४ यम व वरुण स्वधासे आनन्दित होते हैं।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अष्टम मंत्र।

१५ प्रेत को यम व पितर लेने आते हैं। वह अपने इष्टापूर्त को साथ लेकर उनके साथ यमलोक में जाता है।

१६ प्रेत यमलोकसे पुनः वापिस लौटता है।

नवम मंत्र।

१७ स्मशानभूमिसे विघ्नकारियों को भगाया जाता है।

१८ यमलोकमें दिन रात नहीं होते।

दशम मंत्र।

१९ यमके दो कुत्ते हैं जिनकी चार आंखें हैं तथा वे स्वयं चितकबरे हैं।

२० मृत आत्मा पितरोंको प्राप्त होती है।

२१ पितर यमके साथ आनन्दित होते हैं।

एकादश मंत्र।

२२ यमके श्वान यमलोकके मार्गकी रक्षा करते हैं।

२३ वे मनुष्योंको सर्वदा देखते रहते हैं।

द्वादश मंत्र।

२४ यमके श्वान लम्बी नाकवाले हैं।

२५ प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं।

२६ ये श्वान यमके दूत हैं।

२७ वे मनुष्योंके सर्वदा पीछे पीछे फिरते रहते हैं।

२८ यमके दोनों श्वानोंमें से एक काला व दूसरा चितकबरा है।

२९ संभवतः वे यमके दोनों श्वान दिन व रात हैं।

त्रयोदश मंत्र।

३० यमके लिए यज्ञमें सोम निचोडा जाता है व हवि दी जाती है।

३१ अग्निको अपना दूत बनाकर यज्ञ यमके पास पहुंचता है।

चतुर्दश मंत्र।

३२ यमके लिए घीमिश्रित हवि दी जाती है जिस से कि उत्कृष्ट स्थिति उपलब्ध होती है।

३३ यम देवोंमें जीनेके लिए हविर्दाता को दीर्घायु देता है।

पंचदश मंत्र।

३४ यमराजाके लिए अतीव मधुरतम द्रव्य देना चाहिए।

३५ पूर्वज सब ऋषियोंका सत्कार करना चाहिए।

षोडश मंत्र।

३६ छहों उर्वियोंको अकेले ही उस महान् ब्रह्मने व्याप्त कर रखा है।

३७ त्रिष्टुप् आदि सब छंद भी उसी यम (सर्व नियामक-परमात्मा)में स्थित हैं-यमके अन्तर्गत हैं।

---

२ ऋग्वेद मं० १० सू० १५

इस सूक्तमें जीवित तथा मृत दोनों पितरोंको यज्ञमें बुलाने आदिका वर्णन है। किस मंत्रमें जीवित पितरोंके प्रति कथन है व किसमें मृत पितरोंके प्रति यह निर्णय प्रत्येक मंत्र स्वयं करता है।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा स्ते नो ऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ऋ० १०।१५।१॥

हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे) निकृष्ट, (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मध्यमाः) मध्यम (पितरः) पितरो! (उदीरतां) उन्नतिको प्राप्त होओ। (ये अवृकाः) जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने (असुं ईयुः)प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं (ते) वे (ऋतज्ञाः) सत्य व यज्ञको जाननेवाले (पितरः) पितर (हवेषु) बुलाए जानेपर (नः) हमारी (रक्षन्तु) रक्षा करें।

निरुक्त०

सोम्यासः—सोम संपादन करनेवाले।

अवृकाः—अनभित्राः-शत्रुरहित।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उदीरतां=उत् ईरताम्। उत् उपसर्गपूर्वक ईर गतौ धातु। ऊपर गति करना अर्थात् उन्नति करना।

सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें। हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें।

'असुं य ईयुः' पदसे यह ज्ञात होता है कि इस में जीवित पितरोंसे प्रार्थना की गई है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४४) में तथा यजुर्वेद (१९।४९) में भी आया है।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अप-
रास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा
नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ ऋ० १०।१५।२॥

(अद्य) आज (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (इदं नमः अस्तु) यह नमस्कार हो। किन पितरों के लिए? (ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर (ईयुः) स्वर्गको गए हुए हैं और (ये) जो कि (अपरासः) अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं और (ये) जो कि पितर (पार्थिवे रजसि) पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर (आ निषत्ताः) स्थित हैं, (वा) अथवा (ये) जो कि (नूनं) निश्चय से (सुवृजनासु विक्षु) उत्तम बल वा धनयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं।

पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवीलोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य संपन्न प्रजाओंमें विद्यमान हैं, उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है।

विश् शब्द निघण्टुमें मनुष्यवाची नामोंमें पठित है। देखो निघण्टु २।३॥ वृजनका अर्थ निघण्टुमें बल ऐसा किया गया है। निघण्टु २।९॥ इस मंत्रमें सर्व प्रकारके पितरोंका अर्थात् प्राचीन, अर्वाचीन, जीवित, मृत सबके लिए नमस्कार का निर्देश है। पूर्वासः अर्थात् प्राचीन कालके पितर इस वखत मृत ही हैं। जो पार्थिव लोकपर विद्यमान हैं, वे ही जीवितोंमें गिने जा सकते हैं। अतः इसके सिवाय शेष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निःसंदेह मृत पितर ही हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरोंको भी नमस्कार करना चाहिए।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४६) तथा यजुर्वेद (१९।६८) में भी आया हुआ है।

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च वि-
क्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य
भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ऋ० १०।१५।३॥

(सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धनसंपन्न पितरोंको (आ अवित्सि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं। (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करानेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूं। (बर्हिषदः पितरः) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आवें।

धनधान्यसंपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूं। स्वधाके साथ पक्व अन्न को खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ।

सुविदत्रः—सुविदत्रः कल्याणवित्तः। निरु० अ० ६। पा० ३। खं० १४। सुविदत्रका अर्थ निघण्टुमें धन भी है। निघ० ७।१०॥ पित्वः=पितु + अस्=पित्वः= अन्नका। नपात=न पातयति=जो न गिरावे।

'आहं सुविदत्रान् पितॄन् आवित्सि' से जीवित पितर प्रतीत होते हैं। क्योंकि सुविदत्र पितरोंको तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब कि उनके यहां उनसे जन्म लिया जावे। और जन्म जीवित पितरों से ही मिलता है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४५) में तथा यजुर्वेद (१९।५६) में आया है।

बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा
जुषध्वम्। त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः
शंयोररपो दधात॥ ऋ० १०।१५।४॥

(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषत् पितरो! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्यों को (चकृम) करते हैं, उनका (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आगत) आओ। (अथ) और

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तब (नः) हमें (अरपः) पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुखवियोग (दधात) दो।

बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदलेमें हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें। वे हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें।

बर्हिषदः- बर्हिष् में अथवा बर्हिष् पर बैठनेवाले। निघण्टु में बर्हिष् शब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है। अंतरिक्षमें जल रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष् पड गया ऐसा प्रतीत होता है। बर्हिष् = अंतरिक्ष। निघण्टु १।३ ॥ बर्हिष् = जल। निघण्टु-१।१२॥ अंतरिक्ष में पितर रहते ऐसा हमें वेदमंत्रोंसे (जैसा कि हम पूर्व दर्शा आए हैं) पता चलता है। तदनुसार ' बर्हिषदः ' का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर। निघण्टु-३। ३। में बर्हिषत्, महत् वाची नामों में भी पठित है। तदनुसार महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। बर्हिष् कुशाघास का भी नाम है। तदनुसार इसका अर्थ कुशाघास के आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है। वेदमें बर्हिष् यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है, अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं। प्रसङ्गानुसार उचित अर्थ लेना चाहिए। बर्हिषत् पितरों के विषयमें विशद विवरण हम अन्यत्र प्रकाशित करेंगे।

शंयोः- शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् ॥ निरुक्त० ४।३।२४॥ अरपः- रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः ॥ निरुक्त० ४।३।२४॥ न रपः = अरपः- पापरहित। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५५) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५१) में भी है।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ऋ० १०।१५।५॥

(ते) वे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियों में (उपहूताः) बुलाए गए हैं। (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आवें। (ते अधिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें।

याज्ञिक कार्यों में पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें।

बर्हिष्य- बर्हिष् नाम यज्ञका है। उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञसंबन्धी। सोम्यासः- यास्काचार्यने निरुक्तमें ' सोम्यासः ' का अर्थ ' सोम का संपादन करनेवाले ' ऐसा किया है। निधिः-निधिः शेवधिरिति। निरु० अ० २। पा० १। खं० ४। अर्थात् सुख का भण्डार।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५७) में तथा अथर्ववेद (१८।३।४५) में है।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ऋ० १०।१५।६॥

(विश्वे) तुम सब पितरो! (जानु आच्य) दांयां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दांई ओर बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञ का (अभि गृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो! (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो।

हे पितरों! दांई ओर दांयां घुटना टेककर इस यज्ञ में बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकार का अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो।

जानु आच्य- इसका अर्थ हमने ' दांयां घुटना टेककर ' ऐसा किया है, जिसका आधारभूत शतपथ ब्राह्मण का निम्न वचन है- ' अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत् ...' इत्यादि। शतपथ २।४।२।२॥

इस मंत्रमें जिन पितरों का उल्लेख है वे जीवित पितर हैं ऐसा ' आच्याजानु ' से प्रतीत होता है। मृत पितर देहरहित होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नहीं बैठ सकते। देहधारी पितरोंके लिए ही यह करना संभव है और देहधारी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं, मृत पितर नहीं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६२) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५२) में है।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात॥ ऋ० १०।१५।७॥

(अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) यज्ञ में प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाला ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। (तस्य) उस दानीके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो।

हे पितरो! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो।

अरुणी- यद्यपि निघण्टु १।१५ में उषाकी किरण ऐसा अर्थ है, तथापि यहांपर प्रकृत प्रकरण में यज्ञ का वर्णन होनेसे यज्ञकी रक्तवर्ण ज्वालाओंसे ही अभिप्राय है। ऊर्जः- अन्न। निघण्टु २।७॥

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।३।४३) में तथा यजुर्वेद (१९।६३) में आया है।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ऋ० १०।१५।८॥

(ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोम संपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरों ने (सोमपीथं) सोमपान को यज्ञमें (अनु ऊहिरे) प्राप्त किया था, (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपान करने वा हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशन्) सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करता हुआ, (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अत्तु) खावे।

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए।

वसिष्ठके विषयमें निम्न लिखित ब्राह्मणोंके वचन हैं-

(१) यद्वै नु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठो अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः॥ श० ८।१।१।६ (२) येन वै श्रेष्ठः तेन वसिष्ठः॥ गो. उ. ३।९ (३) एष (प्रजापतिः) वै वसिष्ठः॥ श० २।४।४।२ (४) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः॥ श०८।१।१।६ (५) सा ह वागुवाच (हे प्राण!) यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति॥ श० १४।९।२।१४ (६) अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः॥ ऐ० १।२८ यह वचन ऋ० २।९।१ पर है। (७) वाग्वै वसिष्ठा॥ श० १४।९।२।२॥

इन वचनानुसार वसिष्ठ का अर्थ उत्तम वास करानेवाला अर्थात् उत्तम आश्रयदाता ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है। वसु नाम धनका भी है। तदनुसार उत्तम धनवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है।

इस मंत्रके वर्णन से यहां मृत पितरोंका उल्लेख है। यम के साथ हवि खानेवाले पितर जीवित नहीं हो सकते।

इस मंत्रसे लेकर इस सूक्तकी समाप्तिपर्यन्त मृत पितरोंके संबंधमें निर्देश है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५१) में आया है।

निम्न दो मंत्रों (११।१२) में अग्निको पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया गया है—

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। अग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ०१०।१५।९॥

(देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोमतष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले (ये)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जो पितर (अर्कैः) अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे (सुविदत्रेभिः सत्यैः कव्यैः, घर्मसद्भिः पितृभिः) उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले अर्थात् उत्तम ज्ञानी, (सत्यैः) सत्यवचनी, (कव्यैः)कव्य नाम है पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हविका, उसको खानेवाले तथा यज्ञमें आकर बैठनेवाले पितरोंके साथ (अर्वाङ्) हमारे प्रति (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) यज्ञमें आ।

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं।

घर्म-यज्ञ। निघण्टु ३।१८॥

अर्क-- मंत्र, स्तोत्र। अर्कके अनेक अर्थ हैं- 'अर्को देवो भवति, यदेनमर्चति। अर्को मंत्रो भवति यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति, संवृक्तः कटुकिम्ना। निरुक्त ५।१।५॥ सुविदत्रः- सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरुक्त ६।३।१४ ॥इसका अर्थ धन भी है। निरुक्त ७।४।९॥

इस मंत्रके 'देवत्रा जेहमानाः' के भावको अगला मंत्र विशेष रूपसे स्पष्ट करता है। उसमें भी अग्नि द्वारा देवयोनिमें गए हुए पितरोंका ही आवाहन किया गया है।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। अग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ० १०।१५।११॥

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी, (हविरदः) हविके खानेवाले, (हविष्पाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (इन्द्रेण दैवैः सरथं दधानाः) जो इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं, ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) पुरातन तथा अर्वाचीन (घर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) आ।

देवोंके साथ एकरथारूढ अर्थात् देवोंके साथ विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें अग्नि लाती है।

यह मंत्र पूर्व मंत्रकेही आशय को स्पष्ट कर रहा है। प्राचीन पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते। इसके सिवाय यहां एक और भी महत्त्वपूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरनेके बाद जीव एकदम पुनर्जन्म नहीं लेता, कमसे कम सबके सब जीव तो एकदम नहीं ही लेते। दूसरे शब्दोंमें इसे यूं भी कह सकते हैं कि परलोकवासी जीवोंका इस लोकवासी जीवोंसे संबन्ध बना रहता है। वे इस लोकमें आकर यहांके जीवोंके कार्योंमें हिस्सा बटोरते हैं व समय समयपर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं। उनको हमारे समाचार पहुंचानेवाली अग्नि है। अतः जीवित पितरोंकी तरह उनका भी समय समयपर सत्कार करना चाहिए, ऐसा इसका अभिप्राय हुआ। इस विषयमें विशेष प्रकाश डालनेवाले मंत्रको मूल लेखमें उद्धृत किया जा चुका है। उन मंत्रोंपर विशेष विचार करना जरूरी है।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ.१०।१५।११॥

हे (सुप्रणीतयः) उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले (Leaders) (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो ! (इह) इस यज्ञमें (आगच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घरमें स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो।

हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घरमें आओ। यज्ञोंमें तुम्हारे उद्देश्यसे दी गई हवियोंको खाओ, तथा उस के बदलेमें वीर संतति का प्रदान करो।

सुप्रणीति- जिसकी नीति (Leading) उत्तम है अर्थात् जो उत्तम पथप्रदर्शक है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५९) में तथा अथर्ववेद (१८।३।४४) में भी आया हुआ है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड् ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ऋ० १०।१५।१२॥

हे (जातवेदः अग्ने) जातवेदस् अग्नि! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्योंको (सुरभीणि कृत्वी) सुगंधित बनाकर (अवाट्) वहन कर (पितृभ्यः) उन हव्योंको पितरोंके लिए (प्रादाः) दे। (ते) वे पितर (स्वधया अक्षन्) उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि! (त्वं) तूभी (प्रयता हवींषि) दी गई हवियोंको (अद्धि) खा।

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिए हविको सुगंधित बनाकर ले जाती है। और ले जाकर पितरोंको देती है ताकि वे खावें।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि दूरस्थ पितरोंके पास हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है। अतः अग्निद्वारा दूरस्थ पितरोंको हवि पहुंचाना चाहिए।

जीवित पितरोंको अग्निद्वारा हवि देनेसे तृप्ति नहीं हो सकती, अतः अग्निद्वारा हवि मृत पितरोंकोही दी जासकती है और उसीके द्वारा वे तृप्त हो सकते हैं। स्थूल रूपमें विद्यमान हवि जीवितोंके लिए उपयोगी है और अग्निद्वारा सूक्ष्म रूपमें की गई हवि मृतोंके लिए उपयोगी है। इसमें हेतु यह है कि जीवित पितरोंका भौतिक देह उस अग्निद्वारा की गई सूक्ष्मरूप हविसे तृप्त नहीं हो सकता, यह बात निर्विवादही है। इसके प्रतिकूल मृत पितरोंका भौतिक देह नहीं है अर्थात् उनके पास स्थूल हविके ग्रहण करनेका एक मात्र साधन स्थूल शरीर नहीं है, अतः उनके लिए स्थूल हवि निरुपयोगी है, पर सूक्ष्म शरीरके अवशिष्ट होनेसे उसके संरक्षणके लिए उन्हें सूक्ष्म रूपमें हवि चाहिए, जो कि अग्नि द्वारा उन्हें मिल सकती है और उससे वे तृप्त हो सकते हैं। जीवित दशामें स्थूल शरीर होते हुए भी सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है व स्थूल शरीरके साथ साथ तृप्त होता रहता है। स्थूल शरीरकी खोराकमेंसे सूक्ष्म शरीरको थोडा बहुत अंश मिलता रहता है, पर स्थूल देहके अलग होजानेपर सूक्ष्म देहको स्थूल शरीरके द्वारा जो खोराक उपलब्ध होती थी, वह बंद हो जाती है। अन्नके विना देहकी स्थिति नहीं रह सकती, अतएव अग्निद्वारा सूक्ष्म देहको खोराक पहुंचाई जाती है। और यही कारण प्रतीत होता है कि अग्निको सर्वत्र कहा गया है कि वह मृत पितरोंके पास हवि ले जाए, उनको हवि खानेके लिये ले आए, इत्यादि। हमारी समजमें अग्नि द्वारा मृत पितरोंको हवि पहुंचानेका कारण यही है कि उनके सूक्ष्म शरीरको अन्न मिलता रहे। मृत पितरोंकी स्वसूक्ष्म देह संरक्षणार्थ हविकी आवश्यकता रहती है और अतएव वेदमें ऐसे मंत्र हमें उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार इस मंत्रमें मृत पितरोंके उद्देश्यसे हवि देनेका उल्लेख है ऐसा हम मान सकते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।३।४२) में तथा यजुर्वेद (१९।६६) में भी आया हुआ है।

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्र विद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ ऋ० १०।१५।१३॥

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर विद्यमान हैं, (ये च न इह) और जो पितर यहांपर विद्यमान नहीं हैं, (यान् च विद्म) और जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यान च न प्रविद्म) और जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितनेभी वे पितर हैं उन सबको (त्वं) तू (वेत्थ) जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको तू (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

जो पितर इस संसारमें विद्यमान हैं और जो नहीं हैं, तथा जिनको हम जानते हैं और जिनको हम नहीं जानते अर्थात् जो हमारे जन्मसेभी पहिले इस लोकसे चले गए हैं, उन सब पितरोंको अग्नि जानती है।

पूर्व मंत्रमें मृत पितरोंको हविकी आवश्यकता क्यों है यह दर्शाते हुए हमने यह भी दर्शाया था कि अग्नि द्वारा उन्हें हवि पहुंचाने में हेतु क्या है। इस मंत्रमें अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका दूसरा हेतु दर्शाया गया है और वह यह कि अग्नि सब प्रकार

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

के पितरोंके विषयमें परिचय रखती है। अतएव वही एक ऐसी है कि जो पितरोंके पास चाहे वे कहीं पर भी हों हवि पहुंचा सकती है। यह दूसरा हेतु है जिसके कि कारण अग्नि द्वारा हवि पहुंचाने का वेदमंत्रोंमें निर्देश है। अग्निसंबन्धी विशेष विवेचन हम पहिले अग्नि व पितरमें कर आए हैं, वहांसे पाठक देख सकते हैं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६७) में है।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभिः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ ऋ० १०।१५।१४॥

(ये) जो पितर (अग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा जलाए गए हैं, (ये) और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा नहीं जलाए गए हैं, ऐसे जो दोनों प्रकार के पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) द्युलोक के बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, (तेभ्यः) उन दोनों प्रकार के पितरों के लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावशं) कामना के अनुसार (एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयस्व) इस प्राणों द्वारा ले जाए जानेवाले शरीर को बना।

जिनका अंत्येष्टिसंस्कार अग्निद्वारा किया गया है व जिनका अग्निद्वारा नहीं किया गया, ऐसे द्युलोक में रहनेवाले पितरों का पुनर्जन्म होता है।

असुनीति— जो प्राणोंद्वारा ले जाया जावे। अर्थात् जिसका संचालन प्राणों द्वारा होता है। यह शरीर असुनीति है, क्यों कि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है।

अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध।

['ये निरवाता ये परोप्ताः' इत्यादि अथर्व. १८। २।३४ में जो प्रेत के अंत्येष्टिसंस्कार के चार प्रकार दर्शाए हैं उनमें से दग्ध को छोडकर शेष तीन संस्कार अर्थात् गाडना, बहाना और हवामें खुला छोडना इन विधियोंसे जिन प्रेतोंका अंत्येष्टिसंस्कार हुआ है, वे अनग्निदग्ध हैं, तथा जिनकी अंत्येष्टि अग्नि से हुई है, वे अग्निदग्ध हैं।

अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त।

प्रसंगवश थोडासा यहांपर अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त के विषयमें लिखना जरूरी है। उपरोक्त मंत्र (ऋ० १०।१५।१४) और यजुर्वेद (१९।६०) में आया हुआ है। वहांपर जो थोडासा पाठभेद है वह अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त के अर्थनिर्णय को स्वयमेव कर देता है। ऋग्वेद का पाठ उपर हम दे आए हैं। यजुर्वेद का पाठ इस प्रकार है—

ये अग्निष्वाता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ यजुः १९।६०॥

इन दोनों मंत्रों की तुलना करने से पाठकों को दोनों मंत्रोंमें कितना व कहां पाठभेद है यह बात सुगमता से पता चल सकती है। ऋग्वेदस्थ मंत्रमें जहां 'अग्निदग्धाः' पद है वहांपर यजुर्वेदस्थ मंत्र में 'अग्निष्वात्ताः' ऐसा पद है। और इसी प्रकार ऋग्वेद के मंत्र में जहां 'अनग्निदग्धाः' है, वहांपर यजुर्वेद के मंत्रमें 'अनग्निष्वात्ताः' ऐसा आया है। शेष भाग दोनों वेदों के मंत्र में सर्वथा समान है। थोडासा लकार व पुरुषभेद अंतिम पद में है और वह यह कि यजुर्वेदस्थ मंत्रमें 'कल्पयाति' है और उसके स्थानमें ऋग्वेदमें 'कल्पयस्व' है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि—

अग्निदग्धाः = अग्निष्वात्ताः और अनग्निदग्धाः = अनग्निष्वात्ताः अर्थात् जो अग्निदग्धका अर्थ है वही अग्निष्वात्तका अर्थ है और जो अनग्निदग्धका अर्थ है वही अनग्निष्वात्तका। अग्निदग्ध का अर्थ स्पष्ट ही है कि जो अग्निसे जला हुआ हो। अतः अग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि से जला हुआ हो। इसी प्रकार अनग्निदग्धका अर्थ है कि जो अग्नि से न जला हुआ हो। अतः अनग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि से न जला हुआ हो।

'अग्निष्वात्ताः' का विग्रह इस प्रकार है-'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः।' अर्थात् जिनका अग्नि ने स्वाद लिया है, जिनको अग्नि ने

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

चुका है अर्थात् जिनको अग्नि ने जलाया है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र भी उपरोक्त कथन का ही पोषक है। अग्निष्वात्त के अर्थ के विषय में शतपथ का निम्न लिखित वचन है—

यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः। श० २।६।१।७॥

अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनका अंत्येष्टि-संस्कार अग्निद्वारा हाता है वे अग्निष्वात्त पितर हैं। अंत्येष्टि संस्कार के विना अग्नि को पितरों के जलाने का अन्य कोई अवसर ही नहीं। इस प्रकार शतपथ-ब्राह्मणानुसार भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि होती है। अतः अग्निष्वात्तका अर्थ हुआ कि जिसका अंत्येष्टिसंस्कार अग्नि से हुआ है और अनग्निष्वात्तका अर्थ हुआ जिसका अंत्येष्टिसंस्कार अग्नि-से नहीं हुआ है। अग्निष्वात्त व अग्निदग्ध के इस विवेचनानुसार उपरोक्त मंत्र में मृत पितरों का ही उल्लेख हैं, यह साबित होता है।

संपूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ जीवित पितर संग्रामोंमें अथवा रक्षार्थ बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र २

२ प्राचीन, अर्वाचीन, पृथिवीस्थ आदि पितरों के लिए नमस्कार करना चाहिए।

मंत्र ३

३ बर्हिषत् पितरों को यज्ञ में बुलाना चाहिए।

मंत्र ४

४ बर्हिषत् पितरों को हवि देनी चाहिए।

५ बर्हिषत् पितर हमारे रोग, भयादि को दूर करते हैं।

मंत्र ५

६ पितर यज्ञमें आकर हमारी प्रार्थनाओंको सुनते हैं, हमें उपदेश देते हैं, तथा हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र ६

७ पितर यज्ञ में दांयां घुटना टेककर बैठते हैं व यज्ञ का स्वीकार करते हैं।

मंत्र ७

८ पितर यज्ञ में बैठकर दानी मनुष्य को व उस के पुत्रोंको धन देते हैं। उसे अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं।

मंत्र ८

९ सोमपान करनेवाले पुरातन मृत पितरोंके साथ यम हविको खाता है।

मंत्र ९

१० अग्नि देवत्वको प्राप्त किए हुए यज्ञादि में बैठनेवाले पितरोंके साथ यज्ञमें आती है।

मंत्र १०

११ पितर इन्द्र तथा देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होकर विचरण करते हैं।

मंत्र ११

१२ अग्निष्वात्त पितर बुलानेपर घरघरमें आते हैं, हवियां खाते हैं व सर्ववीरगुणोपेत संतति देते हैं।

मंत्र १२

१३ अग्नि हव्योंको सुगंधित बनाकर ले जाती है व ले जाकर पितरोंको खानेके लिए देती है।

मंत्र १३

१४ जो पितर यहां हैं व जो यहां नहीं हैं, जिन पितरोंको हम जानते हैं व जिनको हम नहीं जानते इत्यादि सर्व प्रकारके पितरोंको अग्नि जानती है।

मंत्र १४

१५ द्युलोक के मध्यमें स्वधासे तृप्त होनेवाले पितरचाहे अग्निदग्ध हों चाहे अनग्निदग्ध हों, उनका पुनर्जन्म होता है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

३ ऋग्वेद मं० १० सू० १६

इस सूक्तमें विशेषतः अंत्येष्टि संस्कार संबन्धी मंत्रोंका उल्लेख है। इस सूक्तकी देवता अग्नि है।

मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा श्रृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥

ऋ० १०।१६।१॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेत को इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। (मा अभि शोचः) इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी त्वचा अर्थात् चमडीको मत फैंक। इसके शरीरमें विद्यमान त्वचा मांस आदि को इस प्रकारसे जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा श्रृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इस प्रेतकी आत्माको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा चली जावे !

प्रेतदहनके समय अग्निसे किस प्रकारकी प्रार्थना करनी चाहिए इस बातका इस मंत्रमें उल्लेख है। इस मंत्रके उत्तरार्धसे एक महत्त्वपूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जबतक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती, अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तबतक आत्मा उस देहको छोडकर स्थानान्तर में नहीं जाती। उस देहके आसपासही मंडलाती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। इस निर्देशानुसार आत्माको देहसे शीघ्र मुक्त करानेके लिए व उसके लिए निर्धारित भावी स्थानपर शीघ्रतासे पहुंचानेके लिए शरीरका शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है, क्योंकि अग्निदहन के सिवाय शरीरको संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है।

मंत्रके चतुर्थ पादसे यह भी पता चल रहा है कि मृतात्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोक में भेजती है। इस मंत्रसे जो महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं, वे विशेष विचारणीय हैं। यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ है। (अथर्व० १८।२।४)

श्रृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति॥ ऋ० १०।१६।२॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा श्रृतं करसि) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब(एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिए सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत (मृत शरीर), (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।५) में भी आया है। इस मंत्रका पूर्वार्ध प्रथम मंत्रके उत्तरार्धके समान है। आत्मासे युक्त शरीरके, जिस समय आत्मा शरीरसे पृथक् होती है जिसे कि हम लौकिक भाषामें मरना कहते हैं, शरीर व आत्मा इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं। उन दो विभागोंका आगे चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहां कहां जाते हैं यह बात इस मंत्रमें दर्शाई गई है। मंत्रके पूर्वार्धमें आत्माका क्या होता है, यह दर्शाया गया है तथा उत्तरार्धमें शरीर का क्या होता है यह दर्शाया गया है। पूर्वार्ध स्पष्ट है। उत्तरार्धमें कही गई बातका स्पष्टीकरण अगला तीसरा मंत्र स्वयं स्पष्ट कर रहा है। यहांपर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाता है। यह मृत

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

देह देवोंके वश किस प्रकार हो जाता है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकारसे है—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥

ऋ० १०।१६।३॥

हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्य को जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायु को जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्त्वोंके धर्म से अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व हैं वे पृथिवीमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जलमें जा मिलें इत्यादि प्रकारसे (द्यां च पृथिवीं च) द्यु व पृथिवी लोकको जा अर्थात् पार्थिव तत्त्व पृथिवीमें जा मिले और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोकमें जा मिले। जहां जहां से जो जो अंश तेरे शरीरमें आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलीय अंश जावे। (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो। और इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधिमें चला जावे।

मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्त्व अपने अपने स्थानपर जहांसे आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवोंके अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं। हरेक देव अपना अपना अंश शरीरसे खींच लेता है। इस प्रकार इस मंत्रमें तृतीय मंत्रके चतुर्थ पाद 'अथ देवानां वशनीर्भवाति' का स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।७)में भी आया हुआ है।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृताम् लोकम्॥

ऋ० १०।१६।४॥

हे अग्नि! इस प्रेतका जो (अजः भागः) अज अर्थात् न जन्म लेनेवाला भाग (आत्मा) है (तं) उसको तू (तपसा तपस्व) अपने तपसे तपा। (तं) उस अज भागको (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) उस अज भागको (ते अर्चिः) भासमान तेरी ज्वाला (तपतु) तपावे। और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (याः ते शिवाः तन्वः) जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायेंरूपी तनू अर्थात् शरीर हैं (ताभिः) उन शरीरों द्वारा इस अज भागको (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालोंके लोकमें (वह) प्राप्त कर।

हे अग्नि! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नानागुणविशिष्ट ज्वालाओंसे शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा।

जैसा कि हम उपर दर्शा आए हैं कि मरनेपर शरीर दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है, जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अज आत्मा है। मृत शरीर को क्या करना चाहिए तथा अग्निदाह के अनन्तर वह किस किस रूपमें कहां कहां जाता है, यह तृतीय मंत्रमें स्पष्ट रूपसे दर्शाया जा चुका है। द्वितीय मंत्रमें संकेतरूपसे अज भाग आत्माके लिए भी निर्देश किया जा चुका है। इस मंत्रमें उसीका विशदरूपसे वर्णन वा स्पष्टीकरण है। वस्तुतस्तु तृतीय व चतुर्थ मंत्र द्वितीय मंत्रके ही स्पष्टीकरण हैं। इस मंत्रसे भी यही पता चलता है कि अग्नि ही मृतात्माको सुकृतोंके लोकमें ले जाती है। यह मंत्र भी अथर्ववेदमें (१८।२।२८) में पाया जाता है।

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥ ऋ० १०।१६।१५॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंसे विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पितरोंके लिए लाकर छोड अर्थात् वह पुनर्जन्म ले। अथवा 'पितृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड। दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एकही है। दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ (शेषः)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अपत्य (संतान) (उपयातु) कुटुंबियों को प्राप्त करे, तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (तन्वा संगच्छतां) यह अपत्य शरीरसे भली भांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्ति से संपन्न बने।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है-

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टि के समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड। क्यों कि इस भावके अन्य मंत्र मिलते हैं जिनमें कि अग्निका मृत को पितृलोकमें पहुंचानेका उल्लेख है, अतः यह अर्थ भी हो सकता है। यहां शेष अर्थात् पीछे शेष रह गई मृतकी संतान दीर्घायुको प्राप्त हुई हुई घरोंको वापिस जाए। वह संतान सुंदर शरीरको प्राप्त करे। इस अर्थानुसार मंत्रके पूर्वार्धमें मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है व उत्तरार्धमें उस पुरुषकी जीवित संततिके लिए दीर्घायु आदिकी प्रार्थनाका उल्लेख है। शेष नाम संतान का है। 'शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति'। निरुक्त ३।२॥ इस मंत्रसे अग्निके एक और विशेष कार्य का पता चलता है और वह यह कि पुनर्जन्मके लिए जीवात्माको पितरोंके पास पहुंचानेका कार्य भी अग्नि का ही है। यह मंत्र थोडे से पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१८।२।१०) में भी आया हुआ है।

यत्ते कृष्णः शकुनः आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः। अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आ विवेश॥ ऋ० १०।१६।६॥

हे प्रेत ! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तुओंने वा, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है तो (अग्निः) अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोगरहित करे। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

काले अनिष्टकारी पक्षी वा कीडी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जनावरों से पहुंचाए गए कष्टको अग्नि व सोम दूर करें। जिनकी मृत्यु सर्पादि मंत्रोक्त प्राणियोंसे होती है उनकी अंत्येष्टिमें इस मंत्रका विनियोग होता है ऐसा इस मंत्रका अभिप्राय प्रतीत होता है। मंत्रके शब्दार्थ स्पष्ट हैं। इन प्राणियोंसे काटे गए अंगोंको अग्नि नीरोग करती है,इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वह उन प्राणियोंके विषसहित उस अंगको ऐसा जला देती है कि फिरसे वह रोग औरोंमें नहीं जा सकता। उस शवकी भस्ममें इन प्राणियोंके विषके जन्तु किसीभी अवस्थामें बचने नहीं पाते। इस मंत्रमें सर्पादि विषैले प्राणी व जंगली हिंसक जानवरोंसे आक्रांत देह सोमसेभी नीरोग की जासकती है ऐसा कहा गया है।

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व स प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च। नेत्वा धृष्णुहरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते॥ ऋ० १०।१६।७॥

हे प्रेत ! (गोभिः) घृतसे उत्पन्न हुई हुई (अग्नेः वर्म) अग्निकी ज्वालारूपी कवचसे (परि व्ययस्व) अपनेको चारों ओरसे ढक ले। अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके। (सः) वह तू (पीवसा मेदसा) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे (प्रोर्णुष्व) अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे (हरसा धृष्णुः) अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ, (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव (विधक्ष्यन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वां) तुझे (नेत्) नहीं (पर्यङ्खयाते) इधर उधर घसेरेगा अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावशेष कर डालेगा।

मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। उसका कोईभी भाग जले बिना रहने न पावें।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

व्यापारियों और प्रवासी भाइयों!

रेल्वेसे होनेवाले नुकसान का बदला कानूनी नियमों के अनुसार लेने के लिये या रेल्वेवालों ने अकारण अधिक वसूल किया किराया वापस लेने के लिये रेल्वे क्लेम्स एक्सपर्ट को लिखकर सलाह लिजिये। लिखो—

श्रीराम एन्ड कम्पनी

(स्थापना १९२१)

(Railway-Claims Experts)

दादर, बम्बई १४

विशेष सहूलियत !

व्योपारियोंसे रेल्वेवालोंने योग्य किराया लिया है, या अधिक लिया है, इसकी तलाश, कुछ भी कमिशन न लेते हुए हम करते हैं और यदि रेल्वेवालों ने अकारण अधिक किराया लिया ह, ऐसा मालुम हुआ तो वह कानूनी नियमोंके अनुसार वसूल भी करते हैं। अपनी रेलवे-रसीदोंका संपूर्ण वर्णन भेजकर छोटे-मोटे सब व्योपारी इस खास सहूलियतसे लाभ उठा सकते हैं।

सुगंधित धूप

सब प्रकारके सुगंधित धूप, अगरबत्तियां, धूपकी टिकियां, धूपबत्तियां हमारे पास मिलती हैं।

सुगंधशाला, डा० किन्ही (जि. सातारा)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणें)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥) रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूनेका अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश-माला

इसमें जीवन शुद्ध और पवित्र करने के लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ॥) आठ आ० डाकव्यय —)

मंत्री- स्वाध्यायमंडल, औंध, (जि. सातारा)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B. 1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ "४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०३	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७ "१०७]	११	१०७६	६	१)

कुल मूल्य. ५८।) कुल डा. व्य. १०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि०सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्म

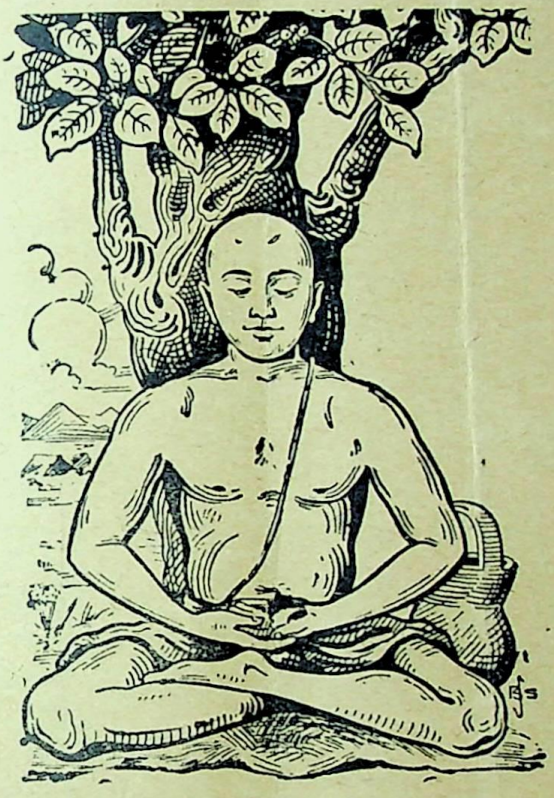

वर्ष १३

अंक १०

क्रमांक

१५४

अश्विन

संवत् १९८९

अक्तूबर

सन १९३२

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

आप संस्कृत सीखना चाहते हैं ?

तो आप "संस्कृत-पाठ-माला" के २४ भाग मंगवाइये और प्रतिदिन आधा घंटा पढकर एक वर्षमें महाभारत समझनेकी योग्यता प्राप्त कीजिये। २४ भागोंका मूल्य ६॥); १२ भागोंका मूल्य ४); ६ भागोंका मूल्य २।); ३ भागोंका मूल्य १।); और एक भागका मू०॥) है। वी० पी० द्वारा।) अधिक मूल्य होगा। —मंत्री, स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५॥)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयसूची

१ ब्रह्मनगरी।	८१
२ समान दृष्टि।	८२
३ आ० रामदेवजीका बयान।	८४
४ हिन्दी का प्रश्न।	८६
५ श्रीमद्भगवद्गीता।	३८५
६ अथर्ववेदका स्वाध्याय। (कां. १८)	३१३
७ श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।	९

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं। प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा-व्य.।-) जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्थसूची।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धों की अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है। भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते। परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है। इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपने पास रखें। मूल्य केवल।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक १०
क्रमांक
१५४

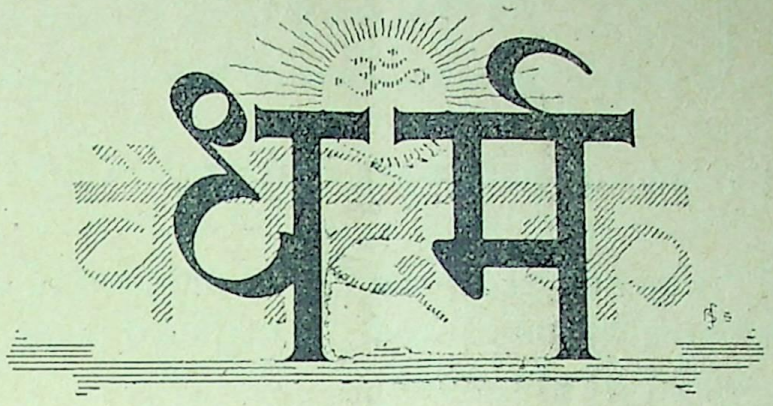

आश्विन
संवत् १९८९
अक्तूबर
सन १९३२

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

ब्रह्मनगरी।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥

अथर्व० १०।२।२९॥

"(यः) जो (वै) निश्चयसे (अमृतेन आवृतां ब्रह्मणः पुरं) अमृतसे आवृत उस ब्रह्मकी नगरी को जानता है, (तस्मै) उसको (ब्रह्म च ब्राह्माः च) ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न अन्य देव (चक्षुः) आंख, (प्राणं) प्राण और (प्रजां ददुः) संतान देते हैं॥"

ब्रह्म नगरी अमृतसे परिपूर्ण है और यह मनुष्यके अन्तःकरणमें है। जो इस ब्रह्मकी नगरीको यथावत् जानता है उसके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न हुए सब अन्य देव अत्यंत प्रसन्न होते हैं और उसको आंख आदि आरोग्यपूर्ण सब इंद्रियाँ, प्राण अर्थात् जीवन- दीर्घ आयुष्य और सुप्रजा अर्थात् उत्तम संतति देते हैं। इन फलोंको प्राप्त करके वह ब्रह्मज्ञानी इस ब्रह्मनगरीको प्राप्त करके, मुक्त होके, अनंत अद्वितीय और अपरिमेय आनंदको प्राप्त करता है।

———

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

समान दृष्टि।

(ले०- श्री० रामस्वामी तुमकूरी, कँगेरी गुरुकुल, बंगलूर जिला)

वैदिक धर्मशास्त्रमें 'समानता' को भी एक स्थान मिला है। लेकिन उसके अनुसार आचरण करनेवालों की क्या संख्या है? जो लोग अपनेको वेदशास्त्रपारंगत समझते हैं, वे ही समान दृष्टि नहीं रखते, इसे देखकर किस आर्यको दुःख न होगा? यदि एक आर्यधर्मशास्त्रोंको श्रद्धासे पढे तो उसे यह अवश्यही ज्ञात होगा कि वैदिक धर्मसाहित्य में कितना बडा प्रबल स्थान समानताका है। यह प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों रीतियोंसे हमें दीख पडता है।

हर एक आर्य रोज यह उच्चारण करता ही रहता है कि 'सर्वे जनाः सुखिनः भवंतु।' इसका अर्थ तो स्पष्ट शब्दोंसे ऐसा किया जा सकता है। 'सर्व जन सुखी होवें।' जब मुंहसे 'सर्वे जनाः' 'सर्व जन' शब्द निकलता है तब वह उच्च नीच सभीको अपनाता है। ऐसा मंत्र जब हमारे मुखसे आता है तब हमें कैसे मनुष्य होने चाहियें? भिन्न भिन्न दृष्टि रखनेवालेको इसका उच्चारण करनेका भी अधिकार है? कदापि नहीं। लेकिन, सहज है, यह प्रश्न जरूर आता है, कैसे राजा और गुलामको समान भावसे देखना होगा? उत्तर भी साथ ही है। वह यह है- हाँ, अवश्य होता है, चाहें वह राजा हो और दूसरा हो दास, लेकिन राजा परमात्माका भी राजा नहीं, वह दासके समान भगवान् का दास ही है, या दोनों भगवानके पुत्र ही हैं। चाहे एक ब्राह्मण हो और दूसरा अस्पृश्य हो, ईश्वरके लिये दोनों संतान ही हैं।

गीता खोलें तो अवश्यही पाठक स्पष्ट वचनोंसे समानताविषयक श्लोक देख सकते हैं। कृष्ण भगवान् कहते हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥
अ० ५ श्लो. १७

यह श्लोक तो मेरी जिव्हा पर नाचता रहता है। 'विद्याविनयसंपन्न ब्राह्मण' का अनुवाद, अंग्रेजीमें सर एड्विन अर्नाल्ड महोदय ने 'The Brahman with his scrolls and sanctities' ऐसा किया है। अर्थात् 'पुरानी पुस्तकों और पवित्रताके साथ रहने वाला ब्राह्मण' ऐसा होता है। इस श्लोकका संपूर्णार्थ यह है- ज्ञानी लोग पढे लिखे तथा विनम्र ब्राह्मणको, गायको, हाथी को, कुत्तेको, कुत्ते खानेवाले नीच कुलजको समान दृष्टिसे देखते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो लोग आर्य हैं उनको उच्च नीच सबों पर समान दृष्टि रखनी चाहिये। श्री कृष्ण अनार्य तथा अज्ञानी नही थे। आर्य शब्दका अर्थ पूज्य है, बिना अच्छे गुणोंके लोग कैसे पूज्य यानी पूजार्ह हो सकते हैं? जो लोग इतरोंसे पूजा किये जाते हैं उन्हींको आर्य शब्द योग्य है।

आज वैदिक धर्मकी बडी अवनति हो गयी है। जहाँ देखें वहां हमारे धर्मानुयायी धर्मके नामसे अधर्म ही कर रहे हैं। अपनेको वैदिक यानी वेदमतावलंबी समझते हैं और परिस्थिति अवैदिक या अनार्योंकी ही है। यह क्यों? 'लोकाः समस्ताः सुखिनः भवंतु' 'न कश्चित् दुःखमाप्नुयात्' ऐसे मंत्रोच्चारण रोज करते हुए भी अपने ही धर्मके दीन लोगोंको 'अस्पृश्य' पुकार कर दूर रखना कौनसा धर्म है? उनको दूर रखनेसे 'लोकाः समस्ताः' कैसे सुखी हो सकते हैं? उनको छोडकर 'सब' या 'सर्व' कहनेको किसका अधिकार है? उनकी सहा-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यता न करके उन्हें दूर ही रखनेसे उनका कैसा कल्याण होगा? उनका कल्याण न रहा तो समस्त लोकका कल्याण कहाँ से? इस तरह हम सोचते जावें तो हमें स्पष्ट ही मालूम होगा कि किसी को दूर रखनेका हमें कोई भी अधिकार नहीं। तो ब्राह्मण पवित्र रहते हैं और अस्पृश्य अपवित्र रहते हैं इन दोनों को कैसे समान दृष्टिसे देखें? ब्राह्मण हमेशा उत्तम कार्य करते हैं, तो अस्पृश्य सदा नीच कामों में लगे रहते हैं। इन दोनों को समान मानना उचित है? इन दोनों को क्यों एकही करें? एकत्र करना भी साध्य है? इत्यादि अनेक प्रश्न आते हैं ही। लेकिन प्रश्नों के साथ ही उत्तर भी मौजूद हैं। ये सब व्यत्यास क्यों हुए? ब्राह्मण उत्तम क्यों हुए? अस्पृश्य अधम क्यों बने? जन्म लेते ही ब्राह्मण के गलेमें यज्ञोपवीत रहता है? सिर्फ ब्राह्मण के जीभ है और अस्पृश्य को नहीं? यदि पढावे तो अस्पृश्य भी वेद नहीं पढते? उनको न पढाना और 'अस्पृश्य' पुकारना किसका दोष है? उनको शिक्षा दें तो वे मांसभक्षण मद्यपान आदि दुर्गुणों को नहीं छोडते? उनहीं ब्राह्मणों के मुख से जो कि अस्पृश्य को दूर रखते हैं, 'परोपकारार्थं इदं शरीरं' आदि महावाक्य नहीं निकलते? बस, प्रश्न पूछते जावें तो अंत ही नहीं मिलेगा। ऊपर का गीता श्लोकही आर्यों या ज्ञानी लोगों का लक्षण बतलाता है। सम दृष्टि से देखने का अर्थ महात्माजीने अनासक्तियोग में इसी श्लोक की टिप्पणी लिखते हुए ऐसा बतलाया है- "ब्राह्मण को सांप काटने पर उसके घाव को जैसे ज्ञानी प्रेम भाव से चूस कर उसका विष दूर करनेका प्रयत्न करेगा वैसा ही बर्ताव चांडाल को भी सांप काटनेपर करेगा।" इसका तात्पर्य सभीकी सेवा करना है। समभाव रखनेका अर्थ सभीको एक ही तरह के काम में लगाना नहीं। सभी लोग नाक पकडकर बैठ जावें तो रास्ता साफ करनेवाला कौन है? मलादि कश्मलों को उठाकर दूर फेंकनेवाला कौन है? शुद्ध करना सेवा है, और नीच कार्य नहीं। अवश्य मद्यमांससेवन बुरे और पाप भरित हैं, उन्हें जरूर छुडाना चाहिये। सम दृष्टि या समानता की श्रेष्ठता गीताके इन दो श्लोकोंसे ज्ञात होती है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

अ० ६ श्लो० २९।३०

मुझे इन श्लोकों को पढते पढते रोम रोम ऊठ आते हैं। इन श्लोकों का आशय भी सम दृष्टि ही है। कृष्ण भगवान् कहते हैं- 'समदृष्टिवाला ज्ञानी अपने को सब प्राणियोंमें और सब प्राणियों को अपनेमें देखता है। जो मुझे सब जगह में देखता है और मुझ में सभी को देखता है उसको मैं कभी नहीं छोडता और वह मुझे कभी नहीं छोडता।' इन श्लोकोंमें समान दृष्टि के बिना और क्या हैं? जो समान भाव रखता है वही योगी है। और वह यदि कोई किसी को मारे तो अपनेको मारने का अनुभव करता है। क्योंकि वह सभी भूतोंमें अपने ही को देखता है अर्थात् सभी उसको अपने ही समान दीख पडते हैं। सभी हिन्दू श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं। उसी कृष्ण की यह बात निकली है-'जो उसको सर्वत्र देखता है अर्थात् उसको (देवको) सर्वान्तर्यामी समझता है, और सब को उसी में देखता है अर्थात् उसको (देवको) विराट्रूपी या विश्वरूपी समझता है, उसके हाथ आप (देव) नहीं छोडता और उसको (देवको) वह नहीं भूलता।' तात्पर्य यह हुआ कि सभी के दिल में भगवान् है, अतः सभी भाई-भाई हैं और जो सभी प्राणियों को भगवानके वासस्थान समझता है वह भगवानसे अलग नहीं होता, लेकिन उसी को प्राप्त होता है। इतना कहने पर भेदभावका अधिकार कहां रहा? फिर 'भेदभाव जो रखता है वह भगवान् का द्रोही है' ऐसा मालूम होता है। अब दीन लोगोंको अस्पृश्य कह कर दूर भगानेका साहस किसको होगा?

अपने अपने काम आप करते रहें, लेकिन मद्यमांसादि तुच्छ सेवन छोड दें, और पवित्र रहें-ऐसे लोगोंमें सम-भाव रखने में क्या दोष है? कोई भी

*

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जन्म से उच्च या नीच नहीं हो सकता। उससे किये जानेवाले कर्म ही उन्हें उच्च या नीच बनाते हैं। इस कथन के बाद ब्राह्मण-अस्पृश्यादि भेद-भाव कहां बचेगा ?

इस विषयकी ओर थोडा ध्यान देवें तो पाठकों को बेशक विदित होगा कि वैदिक धर्म अस्पृश्यता के बिलकुल विरुद्ध है लेकिन समान-दृष्टि का प्रतिकूल कदापि नहीं।

मेरे इस लेखन का आशय प्रत्येक आर्य को यह समझना है कि भेद-भाव रखने का उसका अधिकार उसके वैदिक रहने तक नहीं है। जब हर एक के हृदय में यह समभाव या समान दृष्टि पैदा होती है तब अस्पृश्यता का मूल आप ही कट जाता है। सभी आर्य बनने लगते हैं। तब 'कृण्वंतो विश्वमार्यं' यह वेद की आज्ञा पूरी की जायगी। तब ही सब लोग सुखी रहते हैं।

श्री आचार्य रामदेवजीका बयान

(अतिरिक्त- जिला मैजिस्ट्रेटकी कचहरी लाहोर)

असाधारण अधिकार ओर्डीनेन्सकी २१ धारायें।

"मैं वर्तमान युगके सबसे बडे महात्मा ऋषि दयानन्दका अनुयायी हूं। अपने रचे सत्यार्थ-प्रकाश, के प्रथम संस्करणमें ऋषिने अन्यायप्रयुक्त नमक कर, अत्याचारपूर्ण जंगल कर, मंहगे न्यायप्रबन्ध, शराबके ठेके तथा विदेशी नौकरशाहीके दुःशासन (जिसे बृटिश भारतमें न्यायद्वारा स्थापित राज्य कहा जाता है) की अन्य सभी बुराईयोंके विरुद्ध आवाज उठाई थी। अपने उसी ऐतिहासिक ग्रन्थ-रत्नकी दूसरी आवृत्तिमें सबसे पूर्व ऋषिनेही आधुनिक राजनैतिक शास्त्रके इस सिद्धान्तकी घोषणा की थी कि अच्छा राज्य स्वराज्यका स्थान नहीं ले सकता इसी सिद्धान्तको उनके पीछे मिल, बेजहोट लीले, सर हेनरी केम्पबेल, वेनरमैन इत्यादि अनेक राजतत्ववेत्ता तथा राजनीतिनिपुणोंने अनुमोदित किया है। इस प्रकार आर्यसमाजके संस्थापक द्वारा निर्धारित मन्तव्योंमें श्रद्धा रखनेका अर्थ सुतराम् अंग्रेजोंकि आर्थिक लूट तथा संस्कृतिक बलात्कार और (भारतकी) राजनैतिक दासताके विरुद्ध विद्रोह करना है। "राजभक्त आर्यसमाजी" यह दो परस्पर विरोधी शब्दोंका जोड है। उस संस्थाके लिये भक्ति रखना जिसकी कि ऋषिने निन्दा की है, ऋषि तथा ईश्वरीय विधान वेद जिस की ऋषि प्रतिमा था, दोनोंसे द्रोह करना है। परन्तु ऋषि दयानन्दकी क्रियाप्रणाली चरित्रसुधार की थी। ऋषिकी इच्छा थी कि पुरानी संस्कृतिको पुनरुज्जीवित कर भारतीय प्रजाओंके जातीय अभिमान को फिरसे जागृत किया जाय। अस्पृश्यताको दूर कर जातिमें एकता लाई जाय, शराबकी बुराइयोंका उन्मूलन कर सदाचारको उन्नत किया जाय, बाल-विवाहको हटा तथा ब्रह्मचर्यकी संस्थाको फिरसे जीवित कर जातिकी शारीरिक शक्तिका उद्धार तथा स्त्रीपुरुषोंमें आचारकी पवित्रता का प्रचार किया जाय, और सत्य और अहिंसा (केवल हिंसा का प्रभाव ही नहीं किन्तु भावात्मक दया) का प्रचार कर जनताके आचार का उद्धार किया जाय। ऋषिका विश्वास था कि यदि जनता देशभक्त हो जाय, तथा अपनी उन्नतिके प्रति गर्व, और भविष्यके लिये आशा का भाव धारण करलें तो विदेशी राजकी अनिवार्य बुराई स्वयं हट जायगी, और (शासकों की) आर्थिक लूट अपने आप समाप्त हो जायगी। ऋषिका तो इस बातका भी विश्वास था कि अंग्रेज अफसर भारतीय सुधारकों का हाथ बंटायेंगे, और उस दिनकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, जबकी बृटिश साम्राज्यवादकी अन्त्येष्टि की जाय

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

और भारतमें स्वराज्यकी स्थापना हो। इस प्रसंगमें यह भी कह दूं कि स्वराज्य शब्दका उसके नैतिक अर्थोंमें प्रयोग सबसे पूर्व ऋषिने ही किया था, इस लिये ऋषिद्वारा निर्मित आर्यसमाजने सांस्कृतिक स्वराज्यकी सिद्धिके लिये कांगडी गुरुकुल खोला। और सामाजिक शक्तिके उद्धारके किये अस्पृश्यता, मद्यपान, बालविवाह और जन्मके जातके विरुद्ध सफल जिहाद किया है।

मैंने अपने जीवनका श्रेष्ठतम भाग आर्यसमाजकी सेवा तथा समाज और शिक्षासम्बन्धी सुधारोंकी प्रगति बढानेमें काम किया है। मैं अपना सारा जीवन एक प्रचारक, आचारसुधारक, लेखक और शिक्षाशास्त्री रहा हूं। मैं राजनैतिक आन्दोलनसे जान बूझकर अलग रहा हूं, और अब इस आन्दोलनमें इसलिये संमिलित हुआ हूं कि मैं महात्मा गान्धी को एक आचारसुधारक, समाजोपकारक तथा प्राणिमात्रका हित करनेवाला समझता हूं। एक शिक्षाविज्ञ की हैसियत से मैं अनुभव करता हूँ कि सरकारने जान बूझकर हमारी जातीय संस्कृति क्या विनाश कर दिया है। और एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का आविष्कार किया है जो वर्तमान प्रधान मन्त्री रेम्जे मेक्डोनल्ड के शब्दोंमें अच्छे भारतीयों को निकृष्टतर अंग्रेज बनाना है। एक आचार-सुधारक की हैसियत से मैं अनुभव करता हूं कि विदेशी नौकरशाहीका स्वार्थ शराब की बिक्री बढा कर नैतिक सदाचार तथा स्त्रीपुरुषोंके आचार की पवित्रता की जडों को खोखला बनाती है। एक धर्मप्रचारक की हैसियत से मैं अनुभव करता हूं कि नौकरशाहीने जान बूझ कर धार्मिक संप्रदायों के पारस्परिक झगडों की पुष्टि कर सार्वभौम धर्म और तत्व के प्रचार को कठिन बना दिया है। मेरा विश्वास है कि देशभक्ति को कोई सांस्कृतिक आधार नहीं मिलेगा, वह प्रायः दीन रहेगी, और सदाचार की जडे नियमित रूपसे खोखली होती जायगी, यदि शराब और धननाशक सारे मजहबी फैसलोंके विरुद्ध आन्दोलन दण्डनीय अपराध समझा जाय। जबतक यह उत्तरदायित्वशून्य सरकार स्थिर है। धार्मिक शास्त्रार्थ सम्प्रदायक झगडों का रूप साधारण करते जायगे। उन सारी बुराईयों जिनमें भारत का राष्ट्र शरीर ग्रस्त है। एक मात्र रामबाण औषध स्वार्थपूर्ण विदेशी राज्य के स्थान में तुरन्त प्रजापर प्रजाके हितार्थ प्रजा का ही राजा स्थापित करना है।

श्रीमन्! मेरे अमृतसर कान्फ्रेन्सके सभापतित्वको स्वीकार करनेका कारण यह है। मेरा दोष है तो यह कि मैं चाहता हूं कि भारतीय सच्चे भारतीय बने रहे। और भारतियों की संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति की सहायता से संबद्ध होकर अपने बल-बूते पर स्थिर रहे। इस देशमें और हो सके तो विदेशियों में भी इस संस्कृति का प्राधान्य हो, इस का प्रचार हो। यदि यह कोई अपराध है तो मैं अपने आपको अपराधी स्वीकार करता हूं, और इस प्रकार का अपराधी कहलाने में गर्व अनुभव करता हूं।

श्रीमन्। मुझे दो शब्द आपसे भी कहने हैं। आप भारतीय हैं। और भारतीय स्वराज्य स्थापना में सहायता देना आपका कर्तव्य है। यदि आप वास्तव में यह समझते हैं कि ऐसी संस्था के साथ सहयोग करना जो निर्विवाद रूपसे इस देशमें हमें लूटने ही के लिये विद्यमान है। आपके देशके लिये हितकारक है, तो मैं ईश्वरसे आपके लिये प्रार्थना ही कर सकता हूं। परन्तु यदि इसके विपरीत आप आपने हृदय के अन्तःस्थल में यह अनुभव करते हैं कि उद्देश्य जिसके लिये मैं मुलजिम के कटघेर में खडा हूं, एक धार्मिक उद्देश्य है तो त्यागपत्र देकर इस संग्राम में संमिलित हो जाईये। परमेश्वर आपका भला करें।"

वन्दे मातरम्!

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

हिन्दी का प्रश्न

राष्ट्र भाषा राष्ट्र का प्राण है। मूक पशुओंसे मनुष्य का श्रेष्ठत्व वाक्य ही पर निर्भर है। जातीयता का विकास भी भाषा के ऊपर संपूर्णतया निर्भर है। अस्तु।

भारत-जातीयता के विकास के लिये राष्ट्रभाषा का विकास अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए हमारा कर्तव्य क्या है, यह निम्न पंक्तियोंके द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का ऐलान देकर उसे कहीं ऊंचे आले पर धर देनेसे हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने की शक्ति और योग्यता नहीं प्राप्त कर सकती है। हिन्दी को ३५ करोड प्रजाकी जीती जागती भाषा बनने के लिए उसका उतनाही विकास परमावश्यक है।

हिन्दी के इस विशाल भवन के तैयार करने में स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी, श्री मणिलाल कोठारी, श्री चम्पतराय जैन आदि विचक्षण कलाधारों के लगे रहने पर भी, एक छोटे से मजदूर की हैसियतसे मैं भी उसमें अपना हिस्सा लेना चाहती हूं।

(१) वह जैसे स्कूल, कालेजों, दफतरोंमें अंग्रेजी के स्थान पर अधिकार कर सके।

(२) वैदेशिक व्यापार और उच्च वाणिज्य के कुल काम उसी से हो सकें।

(३) वैदेशिक लोग उसी भाषा को सीखकर हमारे साथ कारोबार करें।

(४) पृथ्वी की समग्र विद्या, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा, भूगोल, खगोल, खनिज, गणित आदि विद्याओं को हमारे देश के लोग इसी भाषा में पढ सकें। जगत् की श्रेष्ठ भाषाओं में हिन्दुस्तान की जातीय भाषा हिन्दी का स्थान हो।

हम लोग भारत की पुरानी और बडी सभ्य जाति हैं। चाहे हम बंगाली, मद्रासी, पंजाबी, मरहठी, उडिया, गुजराती, मुसलमान, ईसाई कोई भी हों हमें इस क्षेत्र में समुदाय, प्रान्तिक और धार्मिक भावों को विसर्जित करके बजाय अंग्रेजी के अपनी मातृभाषा हिन्दी को अपनाना चाहिए।

यह अवश्य ही सोचने की बात है कि हिन्दी में अभी उतना साहित्य विज्ञानादि पुस्तक नहीं है, लेकिन बनाने में भी क्या देर लगती है? हमारे पास हिन्दी को उन्नत बनाने के लिए काफी साधन मौजूद हैं।

इसमें सबसे पहली बात तो यह है कि, समुदाय प्रान्त का सहयोग प्राप्त होना चाहिए, दूसरे जो हिन्दी प्रेमी सज्जन हैं, उन्हें इस ओर काफी ध्यान देना चाहिए। तीसरे जो हिन्दी प्रेमी धनवान् सज्जन हैं, वे इसके लिए धनव्यय में कुण्ठित न हों। यह एक राष्ट्र के जीवनमरण का प्रश्न है।

हम सिर्फ गुजराती, बंगाली, उडिया, तिलगू, मुसलमान इत्यादि होकर सारे हिन्दुस्तान की उन्नति नहीं कर सकते हैं। बंगाला-साहित्य, गुजराति-साहित्य, तामिल-साहित्य जितने भी उन्नत हों, भारत के ३५ करोड के राष्ट्रभाषा बनने की योग्यता उनमें नहीं है, यह निश्चित रूपसे प्रमाणित हो चुका है। इसमें अब झगडे की कोई बात नहीं है। हिन्द का जीना-मरना हिन्दी के ऊपर ही निर्भर है। लार्ड मैकॉले के लेखानुसार आज हम अंग्रेजों के दुभाषये बन गए हैं। अब हमें

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अंग्रेजी भाषा के स्थानपर हिन्दी को ही आरोपित करना चाहिए और उतना ही सम्मान और सहूलियत से, जितना कि अंग्रेजी को प्राप्त है।

हम जैसे बचपन से दूसरी भाषा (Second Language) के माफिक ५ साल से ए. बी. सी. सीखते हैं, वैसे ही हिन्दुस्थान के हर घर में हरेक छात्र, छात्राओं को हिन्दी सीखनी चाहिए। अंग्रेजी आर्ट, साइन्स की जो मर्यादा है, हिन्दी में भी किसी के बी. ए., एम्. ए. पास करनेपर देशवासी उसके साथ उतने ही सम्मान का बर्ताव करें। स्वदेशी व्यवहार के साथ स्वदेशी भाषा भी विशेष आवश्यक है। जो हिन्दी जानते हैं, उन्हें भारत के हर प्रान्त में विद्वान् की हैसियत से अंग्रेजी पढ़ों की भांति आदर भावसे देखना चाहिए। देशवासी यह समझ जावें कि हिन्दी हमारी प्यारी बोली जननी मातृ-भाषा (मादरें जबान) है। इसके लिए हिंदी संसार की हिन्दी-साहित्य-क्षेत्रके प्रकारके लिए बडा भारी परिश्रम करना पडेगा।

(१) जो जो उपादेय ग्रन्थ दुनिया के दूसरे दूसरे भाषाओं में है, उन्हें अनुवाद, छाया-अनुवाद करना—चाहे वे दर्शन, विज्ञान, साहित्य, गणित आदि के हों।

(२) हिन्दुस्तान की विभिन्न प्रान्तीय भाषा में लिखित श्रेष्ठ पुस्तकों का (क) आक्षरिक अनुवाद (Transcript), (ख) आर्थिक अनुवाद।

(३) हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तों में बडे बडे शहरों से लेकर गांव गांव तक हिन्दी का प्रचार स्वदेशी के साथ साथ फैलाना (हर्ष की बात है कि आज कल यह काम बडे जोर शोर से हो रहा है)।

(४) हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का सुधार, संगठन और उन्हें देशवासी लेखक, लेखिकाओं का अपनाना। पाठकों को वैदेशिक भाषा के पत्रिकाओं की जगह ज्यादा से ज्यादा हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का ग्राहक बनना चाहिए।

(५) हिन्दुस्तान के प्रत्येक प्रान्त में हिन्दी वाचनालय, पठनालय, पुस्तकालय खोलना।

इस काम के लिए हिन्दी संसार में संगठित रूप से काम करने के लिए हिन्दी प्रेमी सज्जनों को अगुआ होना चाहिए और हिन्दी भाषा का बहुत विस्तार करना चाहिए। प्रान्तीय भूल दोष छोटी मोटी गलतियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखना उचित है। हजार हजार कोस दूरी पर रह कर हम अंग्रेजोंकी सच्ची अंग्रेजी भाषा का स्वरूप क्या जानते हैं, तो भी हिंदुस्तान के बच्चे बच्चे बचपन से ही ए. बी. सी. डी. पढने में बडा गौरव समझते हैं। हिंदुस्तान के लाख लाख ग्रेजुएट नर-नारियों को अच्छी तरह अंग्रेजी बोलने का कायदा नहीं आता है, तो भी अंग्रेज उन्हें कितनी नेक नजर से देखते हैं। उन्हें अपने साम्राज्य की नींव समझते हैं। इन दोभाषियों की बदौलत उनका सारा कार-बार चल रहा है। हिन्दी प्रेमी सज्जनों! हिन्दी को भी उतना ही सहज सरल और विस्तृत करना होगा। कोई भी भारतवासी को अपने प्रान्तिक ढंग से हिन्दी लिखने या कहने में रुकावट डालने की जरूरत नहीं है। अरबी, फारसी, उर्दू के शब्द के माफिक उसे भी अपना लो। सामान्य क, का, की, स्त्रीलिंग, पुल्लिंग भेद से राष्ट्रभाषाकी नींव ढीली नहीं पड जाती। उसमें अन्य भाषाओं के बहुत से शब्द भी काम में लेने से कुछ हर्ज नहीं।

मैं बडिया हूं। मैं हिन्दी लिखने बोलने में बीसों गलतियां करके भी हिन्दी को मातृ-भाषा कहने को नहीं शर्माऊंगी। गए २५ साल से अर्थात् बचपन से मैंने अंग्रेजी की सेवा करके भी जितनी उन्नति प्राप्त नहीं की है, गत दो वर्ष से हिन्दी सेवा में उससे कहीं ज्यादा उन्नति प्राप्त हुई है। मैं अपने प्रान्त की कवि और लेखिका होकर भी अपने प्राणों से प्यारी उत्कल भाषा की सेविका होकर भी, हिन्दी को अपनाने की गरज सिर्फ हिन्दी हिन्दुस्तान के लिहाज

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

से मेरी मातृ-भाषा, राष्ट्र-भाषा जननी है। वगैरे उसकी उन्नति के हम हिन्दुस्तानी कह कर दुनियां में अपना परिचय भी नहीं दे सकते हैं। "मेरी मां का नाम हिन्द है, तो भाषा हिन्दी है इसमें क्या शक" यह छोटी सी बात अगर हमारे बीच में कोई न समझे तो सूरज को दीपक दिखाना फजूल है।

अतएव ज्ञानी, धनी, विद्वान् हिन्दी प्रेमियों! आप लोगों से मेरी प्रार्थना है कि आप अब चुप न बैठिये। अब हिन्दी के लिए क्या करना चाहिए अपना अपना विचार शीघ्रतया पत्रिकास्थ करना समुचित होगा।

हिंदी लेखकों से मेरा बडा भारी निवेदन है कि वे मन प्राणसे हिन्दीकी सेवामें लग जावें। जो मौलिक लख नहीं लिख सकते हैं, वे अनुवाद, छाया अनुवाद से काम लें। हमें राष्ट्रभाषा की पूर्णता के लिए माल मसाला संग्रह करनेकी सख्त जरूरत है। इसमें किसी को पीछे नहीं हटना चाहिए। जो भाषा स्कूल, कालेज, व्यापार, दफ्तरों में, व्यापार-वाणिज्य में स्थान पायगी उसके लिये बहुत ही सामान अभी से इकट्ठा करना हमारा फर्ज है।

धनी-वणिक् सम्प्रदाय! अब आप लोगों के धन के सदुपयोग का समय आगया है। अपनी भाषा को उन्नत करना हर एक मनुष्य का कर्तव्य है। जो धन व्याहशादी, नाच-तमाशा, तीज-त्यौहार में आप लोग खर्च करते हैं आज उसके सौ हिस्से में से एक हिस्सा भी राष्ट्र-भाषा के लिए खर्च करें तो कल राष्ट्र-भाषा कहीं से कहीं पहुंच जायगी।

अब यह रहा हिन्दी प्रेमी, राष्ट्रप्रेमी सज्जनों को विचारने के लिए कैसे किस उपाय से काम लेना चाहिए। मेरा यह 'हिन्दी का प्रश्न' पढ कर अगर किसी को कुछ सूचित करने की इच्छा हो वृत्तपत्रों में सूचित करें।

डा० कुन्तलकुमारी देवी

वेदोंका अध्ययन।

(ले०- पं० अनंतराव कोल्हटकर, कळवण)

'वेदो नित्यमधीयताम्'— श्री शंकराचार्य।

हम अपने आपको वेदधर्मी कहते हैं, वेदोंको प्रमाण बताते हैं, पवित्र मानते हैं, किन्तु उनका अध्ययन करना, तथा अर्थ-ज्ञान प्राप्त करना, हमारा कर्तव्य है, इस बातको भूल गये हैं, यह बडे दुःख का विषय है। भारतीयोंको गर्व करना चाहिये कि यह प्राचीनतम ज्ञानका भंडार, उन्हींके पूर्वज ऋषियोंके मुखसे प्रकट हुआ है। मुद्रणकलाके अभावमें जिन वेदपाठियोंने, संहिता-पद-क्रम-जटा-घनांत अध्ययन करके, वेदोंको अबतक अक्षुण्ण रखा, उनके हम परम ऋणी हैं। किन्तु हमें केवल भारवाहक नहीं होना चाहिये। अथवा "उपनिषद् वेदोंका सार है, तथा गीता उपनिषदोंका निचोड है" यों समझकर पूर्वपूर्वकी उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये। उपनिषदोंके अध्ययनके बिना गीताका, तथा वेदोंके अध्ययनके बिना उपनिषदोंका अध्ययन, परिपूर्ण नहीं हो सकता है। वेद, उपनिषद् और गीता इनमेंसे किसी का भी आचरण-रहित अर्थज्ञान, तथा अर्थ-ज्ञान-रहित पठन दोनोंहि व्यर्थ-प्राय हैं। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।' इस कथनके अनुसार, जो हमारी संस्कृतिका मूल है, उसे हमें कदापि नहीं भूलना चाहिये।

जीवन-युद्ध दिनोंदिन उग्रतर हो रहा है। हमारी शक्ति और समय दोनों पेट पालनेके उद्योगमेंहि नष्ट हुआ करते हैं। किन्तु पेट पालनेका उद्योग क्षुद्र कीट तथा निर्बुद्ध पशुभी करते हैं। क्या हम पुच्छ-विषाण-हीन पशु हैं? यदि नहीं तो, हमें उचित है कि हम वेदोंका अध्ययन करके अपने मनुष्यत्वको अधिकाधिक उन्नत करें।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अक्षय सुख प्राप्त करनेके दो उपाय कहे हैं—(१) विषयोंपर अनासक्ति और (२) परमात्माके साथ योग। पाठक विचार करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि, इन दोनों उपायोंमें विषयोंपर अनासक्ति रखना ही मुख्य बात है, क्यों कि बाह्य विषयोंपर आसक्ति न रही, तो स्वयंहि अन्तरात्मा परमात्मामें संयुक्त हो जाता है। अतः विषयोंका मोह छोडने का कितना घनिष्ट संबन्ध अक्षय सुख प्राप्त करनेके साथ है, इसका पाठक यहां विचार करें। संपूर्ण मानवी उन्नति अर्थात् मानवोंकी अध्यात्मिक उन्नति विषयोंपर अनासक्त होनेसे हि सिद्ध होती है, फिर उसका नाम अक्षयसुखप्राप्ति हो अथवा सिद्धि, परम सिद्धि, परम गति इत्यादि हो। नामभेदोंसे कल्पनाभेद कितना भी हुआ, तथापि 'भोगोंपर अनासक्त होना' ही साधनोंमें मुख्य साधन है, इसमें सन्देह नहीं है। यही बात आगे कही है—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥
गी० ५।१३

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥
गी० ६।२८

"सब कर्मोंका मनसे त्याग करके, संयमी पुरुष, नव द्वारवाले इस देहरूपी नगरमें, स्वयं कुछ न करता हुआ और कुछ न कराता हुआ, सुखमें रहता है॥ आत्माके साथ निरंतर अनुसंधान करनेवाला निष्पाप योगी सहज ही में ब्रह्मप्राप्तिसे मिलनेवाला अत्यंत सुख अनुभवता है।" पहिले श्लोक में भोगोंपर अनासक्ति का और दूसरे में परमात्माके साथ अपने आत्माका संबंध करनेका विषय कहा है। इस से विना आयास अपने अन्दर ही अन्दर अनन्त और अक्षय सुख प्राप्त होता है। मनुष्य भोगोंपर आसक्त होनेसे दुःखमेंहि फंसता जाता है। इस तरह क्षणिक सुखके पीछे लगकर अक्षय सुखसे वंचित होता है। यही बात और अन्य शब्दोंसे कही है, देखिये—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
गी० ६।२७

"जिसका मन भलीभान्ति शान्त हुआ है, जिसके विकार नष्ट हुए हैं, वह ब्रह्मरूप बना हुआ निष्पाप योगी निःसन्देह उत्तम सुख प्राप्त करता है।" यहां भी वेही दो साधन-भोगोंपर अनासक्ति और ब्रह्मके साथ योग—ये दो साधन उत्तम सुख की प्राप्तिके लिये कहे हैं। यही विषय सारांशसे पुनः अन्य शब्दोंद्वारा कहते हैं, देखिये—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
गी० ५।२३

"जो मनुष्य यह देह छूटनेके पूर्व काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है, वही योगी और वही सुखी है।" यहां कामवेग को सहन करना और क्रोधवेगको सहन करनेसे सुख मिलनेकी बात कही है। यहां मनुष्य मात्रपर कामके वेग और क्रोधके वेगका आक्रमण होता है ऐसा कहा है। जो मनुष्य श्रेष्ठ श्रेणीका होगा, वह उन कामक्रोधके हमलोंको सहता है, अर्थात् उस वेगके आधीन नहीं होता, उनका आक्रमण होनेपरभी अपनी स्थितिमें अचल रहता है, अतः सुखी रहता है। परंतु जो मनुष्य कमजोर होता है वह कामके वेगसे कामी और भोगी बनता है और क्रोधवेगसे क्रोधी बनता है और उन वेगोंके साथ बहता जाता है, अतः निरंतर दुःखी होता है। सुखदुःखका यह मुख्य कारण पाठक ध्यानमें धारण करें। इसी अक्षय सुखको अमृत कहते हैं, अतः अमृत प्राप्त करनेके विषय में गीताका उपदेश देखिये—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अमृतत्वकी प्राप्ति।

मरनेका नाम दुःख है और न मरने अर्थात् अमर होनेका नाम सुख है। परंतु यहां विचार ऐसा करना होता है कि, मनुष्य अपने मर्त्य देह में रहता हुआ अमर कैसे हो सकता है? मर्त्यदेह कभी न कभी मरेगा ही, इसलिये अमरत्वप्राप्ति मनुष्यको किस उपाय से होना संभव है? इस विषयमें गीता का मननीय उपदेश ध्यानमें नित्य धारण करने योग्य है, देखिये—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥२।१५

"सुखदुःखको समान माननेवाले जिस धैर्यशाली मनुष्यको ये विषय पीडा नहीं देते, वह अमरपन के लिये योग्य होता है।" यह पुरुष अमरपन का अधिकारी है। सुखदुःखको समान मानना यह एक बडी भारी तपस्या है, सुखमें कदाचित् मनुष्य सम रहेगा, परंतु दुःख आनेपर भी समवृत्ति रखना और कर्तव्यसे न गिरना बडा कठीन कार्य है। इसी तरह विषयोंसे दूर रहना भी एक तपस्या ही है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर पाठकोंको यह बात विदित होगी कि, यह सब भोगोंपर अनासक्ति रखनेसेही साध्य होना संभव है। इसी विषयमें और देखिये—

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
गी० १४।२०

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
गी० १३।१२

"देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणों से पार होकर देहधारी मनुष्य जन्म मृत्यु जरा आदि दुःखोंसे छूटता है और अमरत्वको पाता है॥ जिसे जाननेवाला अमरपन प्राप्त करता है, वह ज्ञेय वस्तु क्या है सो मैं तुम्हें कहूंगा, वह अनादि परब्रह्म है, उसे न सत् कहते हैं और न असत्॥"

इस तरह मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है। शान्ति, अक्षय सुख, अमरत्व, परमसिद्धि आदिका अर्थ एक ही है। इसीको "अनामय-अव्ययशाश्वत पद" कहते हैं, इस के विषयमें गीताके वचन देखिये—

अनामय-अव्यय-शाश्वत पद।

"अनामय" का अर्थ जहां रोगादिकों के क्लेश नहीं हैं, जो नीरोग स्थान है; "अव्यय" का अर्थ जहां व्यय अर्थात् शक्तिका नाश नहीं होता है, शक्ति अखंडित रहती है और "शाश्वत" का अर्थ चिरकाल रहनेवाला, कभी नाश न होनेवाला। ये सब शब्द अक्षय सुख देनेवाले अमृतत्व के के वाचक हैं; इनके संबंधका वर्णन गीतामें निम्न लिखित श्लोकोंमें आगया है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
गी० २।५१

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ गी० १५।५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
गी० १८।५६

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ गी० १८।६२

"समत्वबुद्धियोग करनेवाले ज्ञानी लोग कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल का त्याग करके, जन्मबन्धसे मुक्त होकर दुःखरहित स्थान को प्राप्त होते हैं॥ जिसने मान और मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको दूर किया है, जो आत्मविचार में मग्न हैं, जिनकी विषयकामनाएं शान्त हो चुकी हैं, जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहते हैं, वे अविनाशी पदको प्राप्त करते हैं॥ मेरा (ईश्वरका) आश्रय करके सदा सब कर्म करनेवाला मनुष्य मेरी (ईश्वरकी)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कृपासे सनातन अविनाशी स्थान प्राप्त करता है॥ भक्तिसे तू उसी ईश्वरकी शरण जा। उसी की कृपासे तू परम शांतिसे परिपूर्ण अमरपद प्राप्त करेगा।"

इन श्लोकोंमें शाश्वत स्थान प्राप्त करनेके साधन निम्न लिखित दिये हैं— (१) कर्मफलत्याग, (२) समत्वयोगका आचरण, (३) मनकी स्वाधीनता, (४) मान और मोह छोडना, (५) भोगदोषोंसे दूर होना, (६) कामनात्याग, (७) द्वन्द्वोंको छोडना, (८) आत्मविचार-ईशध्यानमें तत्परता, (९) सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करना, (१०) परमेश्वरकी शरणमें जाना, इन साधनोंसे शाश्वत सुखका स्थान मिल सकता है। इन में वही त्यागवृत्ति, भोगनिवृत्ति और ईश्वर-परायणता ह, जो इस से पूर्व हमने देखी है। शाश्वत पद का ही अर्थ परम गति है, अतः इस विषयमें गीताका सिद्धान्त देखिये—

परम धाम और परम गति।

परम गति, परम धाम और शाश्वत पद एकही के अनेक नाम हैं। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
गी० ८। २१

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
गी० १५। ६

"जिसका नाम अव्यक्त और अक्षर है, उसको परम गति भी कहते हैं, जिस स्थान को प्राप्त होनेसे पुनर्जन्म लेना नहीं पडता, वही स्थान (मेरा) परमेश्वरका परम पद है॥ सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि उस स्थान को प्रकाशित नहीं करता, जहां पहुंचकर फिर वापस आना नहीं होता, वही (मेरा) परमेश्वर का परम स्थान है॥" अर्थात् परमेश्वरका जो परम स्थान है उसी को परम पद, परम स्थान, परम धाम, परम गति आदि नाम हैं। यह स्थान, धाम अथवा गति प्राप्त करनेसे वारंवार जन्ममरण के कष्ट भोगनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करनेसे हि यह स्थान मिलता है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ गी० ८। २८

"इस ज्ञानको प्राप्त करनेपर वेद, यज्ञ, तप और दान के जो पुण्य फल कहे गये हैं, उन सब का अतिक्रम करके योगी आद्य श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त प्राप्त करता है।" ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करनेसेहि योगी को इस परम स्थानकी प्राप्ति होती है। योगमार्गसे मनुष्य इस परम गतिको प्राप्त करता है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
गी० ६। ४५

"प्रयत्नसे योगाचरणमें दक्ष रहनेवाला योगी पापसे मुक्त होकर और अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे शुद्ध होकर परम गतिको पाता है।" कर्मयोग के अनुष्ठानसे इस तरह परम गति मिलती है। ओंकारके जपयोगसे भी परम गति मिलती है-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
गी० ८। १३

"ओंकार का उच्चार करता हुआ और (मेरा) ईश्वरका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह-त्याग करता है वह परम गतिको प्राप्त करता है।" इसी तरह ईश्वरस्मरण नित्य करनेवाला भी पुण्यात्मा बनता है। यहां परम गति प्राप्त होनेका साधन ओंकारजप और ईश्वरध्यान कहा है। तथा—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
गी० १३। २८

"जो मनुष्य ईश्वरको समभावसे सर्वत्र उपस्थित

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

देखता है, और स्वयं अपने आत्माका घातपात नहीं करता, वह उस कारण परम गतिको पाता है।" यहां भी परमेश्वर के सर्वव्यापक होनेका ज्ञान प्राप्त करनेसे परम गति प्राप्त होनेका विधान स्पष्ट है। जो परमेश्वरको सर्वत्र उपस्थित जानता है वह अपने साथ परमेश्वरकी उपस्थिति देखता है और अपने आपको हीन कर्मसे दूर रखता है, इसलिये उन्नत होता है। यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ गी० ९।३२

"जो पापयोनि हैं वे, तथा स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र भी, जो (मेरी) ईश्वरकी शरणमें जाते हैं वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।" अर्थात् परम गति प्राप्त करनेका सरल और सीधा उपाय परमेश्वर की शरण में जाना है। तथा—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
गी० १६।२२

"(काम क्रोध लोभ) इन तीन नरकद्वारोंसे जो मनुष्य दूर रहता है और अपने आत्माका कल्याण करता है, वह उस कारण परम गतिको प्राप्त होता है।" इस श्लोकमें काम-क्रोध-लोभसे दूर रहनेसे परम गतिकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है, यह मार्ग प्रत्येक मनुष्य अपने दैनिक व्यवहारमें ला सकता है। अन्य मार्गभी सुकर हैं, परंतु काम, क्रोध और लोभ के द्वार प्रत्येक क्षण में मनुष्य के सन्मुख आते हैं;अतः वे सन्मुख खुले होकर आतेहि उनसे दूर रहनेका यत्न करनेसे मनुष्य की उच्च गति होने लगती है। इसका अनुष्ठान करनेका अवसर मनुष्यको प्रतिदिन मिलनेवाला है। सामान्य मनुष्यको आगेके श्लोक में कहा है कि, शास्त्रमर्यादानुसार न चलने से उन्नति, सुखप्राप्ति और परमगति नहीं होती—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
गी० १६।२३

"जो मनुष्य शास्त्रविधि छोडकर स्वेच्छासे भोगोंमें रमता है,वह न तो सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख कमाता है और न परम गतिको पाता है।" अर्थात् मनुष्य शास्त्रमर्यादा के अनुसार चलते रहे तोहि उनको परम गति सुख और सिद्धि मिलती है। मनुष्य इस बातका अनुसंधान करें और शास्त्रविधिके अनुसार चलकर अपना कल्याण करें। शास्त्रमर्यादाके अनुसार चलनेसेहि मनुष्य उन्नत होता हुआ कृतकृत्य होता है।

कृतकृत्यता।

मनुष्य कृतकृत्य किस रीतिसे होता है, इस विषयमें श्रीमद्भगवद्गीताका कथन यह है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥
गी० १५।२०

"यह गुह्यसे गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा है, इसे जानकर मनुष्य समत्वबुद्धिसे युक्त बनता है और कृतकृत्य भी होता है।" अर्थात् इस गीताशास्त्रके अनुसार मनुष्य कर्तव्य कर्म करने लग जांयगे, तो वे निःसन्देह कृतकृत्य बनेंगे। शास्त्रानुसार अपना कर्तव्य कर्म करनेसे मनुष्य पर (ब्रह्म)को प्राप्त होता है।

श्रेष्ठ अवस्था की प्राप्ति।

जो दूर, अति दूर होता है, जो श्रेष्ठ अति श्रेष्ठ होता है, उसको 'पर' कहते हैं, जो मनुष्यका अन्तिम प्राप्तव्य है उसको भी पर कहते हैं। इस पर की प्राप्ति करनेके लिये मनुष्य निम्नलिखित ज्ञानको प्राप्त करे और अनासक्तिसें कर्तव्य कर्म करे—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥
गी० १३।३४

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
गी० ३ । १९

"जो ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृतिपुरुषके भेदको देखता है और भूतों का प्रकृतिबंधसे मोक्ष होनेका उपाय भी जो जानता है, वह पर (ब्रह्म) को प्राप्त करता है ॥ तथा तू संगरहित होकर निरंतर कर्तव्य कर्म करता रह; आसक्तिरहित होकर कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्य को पर (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है।" इस तरह प्रकृतिका, जीवात्मा का और परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके तथा मोक्षमार्गका ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्यको पर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यह ज्ञान मार्गसे उन्नति है। फलासक्ति छोडकर सतत कर्तव्य कर्म करनेसे भी मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त होता है। यह कर्ममार्गसे उन्नति है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अर्थात् प्रकृति, जीव और ईश्वरका ज्ञानचक्षुसे निरीक्षण करनेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त होता है, ऐसा जो ऊपर कहा है, उस 'ज्ञानचक्षु' द्वारा निरीक्षण करनेका तात्पर्य क्या है, और उस ज्ञानचक्षुका अर्थ क्या है? ज्ञानचक्षु, दिव्यचक्षु, दिव्यदृष्टि, ज्ञानदृष्टि आदि शब्दोंके अर्थ क्या हैं? इस ज्ञानचक्षुसे यह किस तरह देखा जाता है, इसका विचार इस स्थानपर अब करेंगे—

ज्ञानचक्षुसे देखना ।

मनुष्य परमेश्वरको देखता है, परंतु वह चर्मचक्षुसे नहीं देख सकता, परंतु ज्ञानचक्षुसेहि देख सकता है, इस विषयमें कहा है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥
गी० १५ । १०

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥
गी० १५ । ११

"चलनेवाले, स्थिर रहे, भोग करनेवाले और गुणोंसे युक्त होनेवाले ईश्वर के अंश को मूर्ख लोग नहीं देखते, परंतु ज्ञानचक्षुवालेहि देखते हैं ॥ यत्न करनेवाले योगी जन अपनेमें रहनेवाले इस ईश्वरको देखते हैं, परंतु आत्मशुद्धि न करनेवाले मूढ लोक इसको नहीं देखते ॥" यहां ज्ञानचक्षुसे परमेश्वरका दर्शन शक्य है और इस ज्ञानचक्षुसे हि ईश्वरको हम चलते फिरते और ठहरे हुए देख सकते हैं। यही बात विश्वरूपदर्शनके समयमें भी कही है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
गी० ११ । ८

"इस अपने चर्मचक्षुसे तू मुझे (ईश्वरको) नहीं देख सकता, अतः तुझे मैं दिव्यचक्षु देता हूं, इससे तू मेरा ईश्वरीय योग देख।" यहां दिव्य चक्षु प्राप्त कर, किंवा ज्ञानचक्षु प्राप्त कर ईश्वरका विश्वरूप अर्जुनने देखा है। यहां कहा है कि ईश्वरका विश्वरूप साधारण आंखोंसे नहीं दीख सकता, वह केवल दिव्यदृष्टिसे ही दीख सकता है। अर्जुनने दिव्यचक्षु का लाभ करनेपर परमेश्वरका विश्वरूप देखा है, उसका वर्णन यह है—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥६
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ७ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥८
गी० ११

"मेरे सैंकडों और हजारों रूप देख, ये अनेक प्रकारके रंगरूपोंसे युक्त हैं। (वसु) अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु, मरुत्, अश्विदेव आदि सब मेरे रूप तू देख। यहां बहुतसे आश्चर्य तू देख। इस मेरे देहमें सारा स्थावर जंगम जगत् और जो तू देखना चाहता है सब यहां देख।" यह भगवान् श्रीकृष्ण का वचन श्रवण करके अर्जुनने

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जो विश्वरूप देखा वह यह है—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
गी० ११

"अनेक मुख और अनेक आंखवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक आभूषणोंसे युक्त, अनेक आयुध धारण करनेवाला, दिव्य माला और वस्त्र धारण करनेवाला, दिव्य चन्दन लगाया, आश्चर्यमय अनन्त देव का सर्वत्र मुखवाला वह रूप था। उस ईश्वरके देहमें अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ सब जगत् का एकत्र ठहरा रूप उस पाण्डवने देखा।" यही रूप अर्जुनने कैसा देखा सो देखिये-

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूत-
विशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशं कमलासन-
स्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतो-
ऽनन्तरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशि-
सूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन
दिशश्च सर्वाः ॥२०॥ गी० ११

"हे ईश्वर! मैं आपकी देहमें सब देवोंको, सब प्राणियोंको, ब्रह्माको, सब ऋषियों और सर्पोंको देखता हूं। आपके अनेक बाहु, पेट, मुख और नेत्र हैं। और अनन्त रूप हैं, आपके विश्वरूप का आदि मध्य और अन्त नहीं है। आपकी आंख सूर्यचन्द्र हैं, अग्नि मुख है, और आप सब जगत् को तपा रहे हैं। आकाश, पृथ्वी और सब दिशाओंमें अकेले आप ही व्याप्त है।"

यह परमेश्वर का विश्वरूप है। विश्वरूपका अर्थ 'सर्वरूप किंवा सब विश्वका अर्थात् जगत् का रूप' है। परमेश्वर का विश्वरूप वही है जो सब जगत् के अन्दर के सब पदार्थों का रूप है। इस विश्वरूपमें मनुष्य, सर्प आदि प्राणी संमिलित होनेके कारण इस परमेश्वरके विश्वरूपके असंख्य मुख, असंख्य आंख, असंख्य हाथ, असंख्य पेट और असंख्य पांव हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सब उसीके शरीर के अवयव हैं। जगत्के प्रत्येक रूपके लिये वही मूल नमूना होनेके कारण जगत् का संपूर्ण रूप उसी ईश्वरका 'विश्वरूप' है।

जैसा मनुष्यका जीवात्मा पूर्ण निराकार है, तथापि उस निराकार जीवात्माके आधार पर रचा हुआ यह शरीर साकार है, अतः उस निराकार जीवात्मा का यह साकार शरीर है; उसी तरह निराकार परमात्माका साकार शरीर यह 'विश्व' है, अतः विश्वका रूप उसकाही रूप है। तथापि इस विश्वरूप के बनने बिगडनेसे उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती है। यही बतानेके लिये परमेश्वर की अष्टधा प्रकृतिका वर्णन गीतामें निम्न लिखित प्रकार किया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
गी० ७।४

"पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह मेरी (ईश्वरकी) आठ प्रकारकी प्रकृति है," अर्थात् यह ईश्वरका शरीर है। जीवात्माका भी यही अष्टधा प्रकृतिका शरीर है। इस अष्टधा प्रकृतिमें मनुष्यशरीर, जीवात्मशरीर और परमात्मशरीरकी समता है। जीवात्मशरीर छोटा और परमात्मशरीर बडा इतना ही इसमें कल्पनाभेद है। जैसा जीवात्मा शरीर में रहता हुआ शरीरसे सदा पृथक् है। उसी प्रकार परमात्मा इस संपूर्ण विश्वरूपमें रहता हुआ भी विश्वरूपसे पृथक् है। उपासक को अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरका ज्ञान,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

और दर्शन तथा उसमें प्रवेश करना चाहिये, यह दर्शानेके लिये कहा है—

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ गी०११।५४

"ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, ईश्वरका दर्शन करना चाहिये, और परमेश्वरमें सच्चा प्रवेश करना चाहिये।" ये तीनों बातें पूर्वोक्त विश्वरूपकी कल्पना लेनेपर ही करना संभव है, विश्वके रूपमें ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना, विश्वके रूपमें ईश्वरका दर्शन करना और उसीके विश्वरूपमें प्रवेश करना अर्थात् मैं प्रत्यक्ष परमेश्वरमें विचरता हूं, इस बातका अनुभव करना। यह त्रिविध अनुभव पूर्वोक्त विश्वरूपको परमेश्वरका रूप माननेपर ही संभव है। नहीं तो (द्रष्टुं) ईश्वर को देखना कैसे संभव हो सकता है? देखना तो विश्वरूपको ही हो सकता है। यही बात और देखिये—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
गी० ६।३०

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥
गी० ६।२९

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥
गी० १३।२७

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
गी० ५।१८

"जो मुझे (ईश्वरको) सब जगह देखता है और सबको मुझमें (ईश्वरमें) देखता है, उसके लिये मैं (ईश्वर) कभी दूर नहीं हूं और वह मेरे लिये (ईश्वरके लिये भी) कभी दूर नहीं है अर्थात् हम दोनों परस्पर के साथी होते हैं॥ सर्वत्र समभाव से देखनेवाला योगयुक्त आत्मा सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतों को देखता है॥ सब भूतोंमें समभावसे परमेश्वर है और वह विनष्ट होनेवाले पदार्थोंमें अविनाशी है, यह जो जानता है वही सत्य जानता है॥ विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तेमें और कुत्तेको पकानेवाले में अर्थात् सब में ज्ञानी लोग सम (भावसे अवस्थित ब्रह्म) को देखते हैं॥" अर्थात् ब्रह्म सबमें एकसां है इसका अनुभव करते हैं।

मुक्तिकी प्राप्तिके लिये जिस तरह की 'समदृष्टि' चाहिये उसका वर्णन इन श्लोकोंमें है। इस समदृष्टिका ही नाम 'ज्ञानदृष्टि ज्ञानचक्षु, दिव्य दृष्टि अथवा दिव्य चक्षु' है। इसी दृष्टीसे ईश्वरका विश्वरूपदर्शन हो सकता है और जब विश्वरूपमें एकरस ईश्वरका दर्शन होने लगा, तो अन्तिम उच्चतम अवस्था प्राप्त हुई, ऐसा मान सकते हैं। यह एक दृष्टि है और भी एक दृष्टि है वह अब देखिये—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
गी० १३।२९

"जो इस बातका अनुभव करता है कि सब कर्म प्रकृतिसे होते हैं, और आत्मा अकर्ता है, वही सत्य ज्ञान जानता है।" यह भी दृष्टि मुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यक है। अन्तिम स्थितिको प्राप्त करने के लिये प्रारंभमें अनेक अनुष्ठान के मार्ग हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
गी० १३।२४

"कई ध्यानसे, कई सांख्यसे, कई योगसे और कई कर्मयोगसे आत्माद्वारा आत्मामें आत्माको देखते हैं।" अर्थात् स्वयं अपने अंदर परमेश्वर का दर्शन करते हैं। यह आत्मा सब आश्चर्योंमें एक बडा भारी अद्भुत आश्चर्य है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति
तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ गी० २।२९

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

"कोई तो इसकी ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टीसे देखता है, वैसे ही कोई दूसरा इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है, और कोई इसका वर्णन आश्चर्य से सुनता है, परंतु सुन कर भी कोई इसको नहीं जानता।" जगत् में अत्यंत आश्चर्यका विषय यही आत्माके ज्ञानका विषय है। यह अत्यंत अद्भुत होनेसे इसको यथावत् जानना कठिन है और शब्दोंद्वारा जानने पर भी इस का यथावत् अनुभव करना तो अत्यंतहि कठिन कार्य है, इसी कारण ब्रह्मज्ञानी विरला होते हैं। और इसी लिये ब्रह्मज्ञान की महती वर्णन की है। और इसी लिये इस लेखमें अन्तिम अवस्थाकी कल्पना शब्दों में वर्णन करनेका यत्न किया है। अस्तु। यहां तक जिस दृष्टिसे मनुष्य की उन्नति होती है उसका स्वरूप बताया, तथापि इस विषयमें एक श्लोक और देखिये—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
गी० ६।३१

"सर्व भूतोंमें रहनेवाले मुझ-ईश्वर-को जो अभेद दृष्टिसे भजता है, वह चाहे जिस तरह बरतता रहे, वह योगी मुझ-ईश्वरमें हि रहता है।" यहां ऐसा कहा है कि जीव अन्तमें परमेश्वरमें रहता है, यह अन्तिम स्थिति है और इसीका नाम ईश्वरप्राप्ति है। अब इस स्थितिका विचार करते हैं। —

परमेश्वर-प्राप्ति।

यहांतक जो विचार किया, उसका तात्पर्य यह है कि, मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति विविधमार्गोंसे करते करते अन्तमें परमेश्वरको प्राप्त करता है, इसीका नाम सिद्धि, मुक्ति, परमपदप्राप्ति आदि है। यह विषय सबसे मुख्य है, इसलिये इसका विशेष मनन करना चाहिये। परम पुरुषकी प्राप्ति के विषयमें भगवद्गीतामें कहा है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
गी० ८।८

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
गी० ८।१०

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
गी० ८।२२

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये-यतः प्रवृतिः प्रसृता पुराणी॥ गी० १५।४

"जो चित्तको अभ्यासद्वारा स्थिर करके उसको इधर उधर भटकने नहीं देता है अर्थात् एकाग्र बनाता है, वह उसीका चिन्तन करनेके कारण उसी दिव्य परम पुरुषको प्राप्त करता है॥ जो मनुष्य प्रयाणसमयमें अचल मनसे, भक्तियुक्त होकर योगबलद्वारा भ्रुकुटीके बीच ठीक प्रकार प्राण को प्रविष्ट करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है॥ जिसमें सब भूत रहे हैं और जिसने सब व्याप लिया है, उस उत्तम पुरुषके दर्शन अनन्य भक्तिसे हि होते हैं॥ जिसने सब जगत् की प्रवृत्ति फैल रखी है, उसी आदि पुरुष की शरण में मनुष्य जाये। और उस पदकी खोज करे कि, जिसे प्राप्त कर फिर से जन्ममरण लेना नहीं होता है।"

इन श्लोकोंमें परमेश्वरप्राप्ति के विषयमें स्पष्ट निर्देश है। अतः परमेश्वरप्राप्ति मनुष्यका अन्तिम साध्य है इस विषयमें सन्देह नहीं है। इसी परमेश्वरप्राप्तिके विषयमें निम्न लिखित श्लोक देखने योग्य हैं, इनमें 'परमेश्वर' वाचक शब्द के स्थानपर '(मां) मुझे' इस शब्दका प्रयोग किया है। भगवद्गीतामें परमेश्वर के अर्थमें 'मैं' शब्द कई वार आगया है, अतः अब ये श्लोक देखिये-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
गी० ४।९

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
गी० ७।१८

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
गी० ७।१९

मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ गी० ७।२३

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
गी० ८।७

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
गी० ८।१५

यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ गी० ९।५४

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
गी० ९।२८

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
गी० ९।३४

तषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
गी० १०।१०

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
गी० ११।५५

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
गी० १२।४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
गी० १८।६५

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य संशयम् ॥
गी० १८।६८

"जो मेरे इस दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जानता है, वह देह छोडनेके बाद फिरसे पैदा नहीं होता, परंतु मुझे पा लेता है ॥ ये सारे भक्त अच्छे हैं, पर मेरी संमति में ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। क्यों कि वह योगी यह जान कर कि मुझे पानेसे बढकर दूसरी अधिक अच्छी गति नहीं है, मेरा ही आश्रय लेता है ॥ बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है, सब "वासुदेवही है," इस बात का अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं ॥ मुझमें मन और बुद्धि को लगानेसे तू अवश्य मुझे पावेगा ॥ मुझे पा कर परमगतिको पहुंचे हुए महात्मा लोग पुनः दुःखके घर अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते ॥ मेरा यजन करनेवाले मुझे प्राप्त होते हैं ॥ इससे तू शुभाशुभ फल दायी कर्मबन्धसे छूटेगा और संन्यास योग से मुक्त होकर मेरे पास आवेगा ॥ मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इस तरह मुझमें परायण होनेसे और मेरे साथ आत्माका योग करनेसे तू मुझेहि प्राप्त होगा ॥ मुझमें इस तरह तन्मय होकर रहनेवालों और प्रीति पूर्वक मेरा भजन करनेवालोंको मैं ज्ञान देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥ जो सब कर्म मेरे लिये करते हैं, जो मुझमें तल्लीन होते हैं, जो मेरे भक्त हैं, जो आसक्ति छोडते हैं और सब भूतोंका द्वेष नहीं करते, वे मुझ प्राप्त होते हैं ॥ जो अपने इंद्रियसमूहोंको अपने वशमें रखते हैं, सर्वत्र समभाव रखत हैं, वे सबभूतोंके हितमें लगे रहनेके कारण मुझेहि पाते हैं ॥ मेरी लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यजन कर, मुझे नमन कर। ऐसा करनेसे तू मुझेहि पावेगा, मेरी यही सत्य प्रतिज्ञा है ॥ जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको कहता है, वह मेरी श्रेष्ठ भक्ति करनेके कारण निःसंदेह मुझे प्राप्त करता है ॥

इन श्लोकोंमें 'मुझे पाता है' इसका अर्थ 'परमेश्वर को प्राप्त करता है' ऐसा है। इस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्थानपर परमेश्वर प्राप्तिके साधन जो कहे हैं वे ये हैं— (१) परमेश्वर के अवतार और कर्मके रहस्य का ज्ञान, (२) आत्मज्ञान, (३) सब जगत् में ईश्वरके विश्वरूपका दर्शन, (४) ईश्वरभक्ति, (५) ईश्वरको सब कर्मोंका समर्पण, (६) संन्यासयोग, (७) ईश्वरमें तल्लीनता, (८) ईश्वरको नमन, (९) ईश्वरसे अपने आत्माका योग, (१०) अनासक्तिसे कर्म करना, (११) इन्द्रियसंयम, (१२) सर्वत्र समभाव, (१३) सब भूतोंके हितमें तत्परता, (१४) ईश्वर के साथ लगन, (१५) यह गुह्य ज्ञान भक्तोंको देना, इतने अनुष्ठानसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त करता है, ईश्वरके साथ रहता है, ईश्वरके पास रहने लगता है अथवा ईश्वरको अपनाता है। इस ईश्वर प्राप्तिका अर्थ क्या है इस का विचार करने के लिये निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
गी० १२।८

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
गी० ८।१४

"अपना मन मुझ (ईश्वर) में लगा, अपनी बुद्धि ईश्वरमें स्थिर कर, इससे तू मुझमें हि निवास करेगा॥ जो अनन्यचित्त होकर निरन्तर मेराहि स्मरण करता है, उस नित्ययोग करने वाले योगीको मैं सुगमतासे मिलता हूं॥"

यहां परमेश्वर प्राप्तिका अर्थ परमेश्वर का सहज से दर्शन होना लिखा है। कई मनुष्योंको राजाका दर्शन कठीन होता है, परंतु कईयोंको सहजही से होता है। अर्थात् जिनके लिये राजाका दर्शन सुलभ होता है उनकी योग्यता विशेष होती है। राजाकी सहायतासे वे जनता का बहुत कल्याण कर सकते हैं। इसी तरह जिनको परमेश्वर का दर्शन सुलभ है, वे उस शक्तिसे बहुत लोगोंका कल्याण कर सकते हैं। परमेश्वर प्राप्ति किंवा ईश्वर का सुलभ दर्शन होनेका क्या भाव है, यह साध्य होनेसे कौनसी शक्ति इसे प्राप्त होती है, इसका निश्चय करने के लिये निम्न लिखित श्लोकों का मनन करिये—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
गी० ४।१०

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
गी० ८।५

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥
गी० १३।१८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
गी० १४।१९

"राग भय और क्रोधसे रहित, ईश्वरकध्यान में तत्पर, ईश्वरकी शरणमें जानेवाले, ज्ञान और तपसे पवित्र होकर ईश्वरके भाव को प्राप्त करते हैं॥ अन्तसमयमें ईश्वर का स्मरण करता हुआ देह छोडता है वह ईश्वर के भाव को प्राप्त करता है, इस में काई संदेह नहीं है॥ इस तरह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के संबन्धमें सारांशसे कहा है। इसे जान कर ईश्वरका भक्त ईश्वर भाव को प्राप्त होता है॥ जब ज्ञानी यह देखता है कि गुणोंको छोडकर दूसरा कोई कर्ता नहीं है, वह गुणोंसे परे आत्मा को जानकर ईश्वर भावको प्राप्त करता है॥"

यहां कहा है कि "(१) राग भय और क्रोध को दूर करता है, (२) ईश्वरमें तल्लिन होता, है, (३) ईश्वरकी शरण जाता है, (४) ज्ञान और तपसे पवित्र होता है, (५) अन्त समयमें ईश्वरका स्मरण करता है, (६) क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयको जानता है, (७) प्राकृतिके गुणोंसे सब

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

किया जा रहा है ऐसा जानकर जो आत्माको अकर्ता अनुभव करता है और आत्मा को गुणोंके परे अनुभव करता है" वह ईश्वर भावको प्राप्त होता है।

ईश्वरके गुणोंका अपने में उत्कर्ष होनेसे अपने में 'ईश्वर भाव' आता है। उदाहरण के लिये अग्निमें कुछ समय लोहा रहा, तो अग्निके गुण धर्मोंको धारण करता है, मानो वह अग्निभावको धारण करता है। अग्निभाव जलती लकडीमें भी आता है। जब लोहा अग्निकी उपासना (उप-समीप, आसन-बैठना) करता है, अनन्य होता है अर्थात् वह किसी अन्यके सहवास में नही जाता, परंतु केवल अग्निके हि सन्निध रहता है, जब पूर्णतया अग्निकीहि शरणमें रहता है, जब अग्निके गुणोंसे प्रभावित होता है, तब अग्निभाव को धारण करता है और अग्निभावसे युक्त होने-से अग्निही बनता है अर्थात् अग्निके कर्म करता है। मनुष्यकी उन्नतिके भी येही नियम हैं, जब मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता है, ईश्वरके पास बैठता है, अनन्य भावसे ईश्वरकी शरणमें जाता है, कभी दूसरा भाव मनमेंनहीं लाता, जब ईश्वर के गुणोंको अपनेमें धारण करता है, तब वह ईश्वरभावसे युक्त होता है। यही नरका नारायण, अथवा पुरुषका पुरुषोत्तम, जीवका शिव अथवा मर्त्यका अमर बनना है। जो अन्तिम पद, परम स्थान, परमसिद्धि आदि शब्दोंसे सब धर्मग्रंथोंमें वर्णन किया है। मनुष्यका जन्म इस ईश्वरभावको प्राप्त होनेके लिये हि है। जो इस ईश्वरभावका प्राप्त करता है उसके जन्मका सार्थक हुआ, अन्य लोगोंने व्यर्थ जन्म लिया, ऐसा कह सकते हैं।

ब्रह्म-प्राप्ति

इस समय तक जो बात 'ईश्वर-प्राप्ति' शब्द से कही गयी, वही बात 'ब्रह्म-प्राप्ति' शब्द द्वारा अब कही जाती है। देखिये—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥
गी० ५।६

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदा जनाः॥
गी० ८।२४

"योगाभ्यास के विना संन्यास का आचरण दुःख दायक है। योगाभ्यास से शीघ्र ही मुनिजन ब्रह्मको प्राप्त करते हैं॥ उत्तरायण के छः मासोंके शुक्लपक्ष के दिन के समय में सूर्य की ज्योती पूर्णतेजस्वी रहने के कालमें और समीप भागमें यज्ञाग्नि प्रज्वलित रहनेके समय जो इह लोक छोड कर जाते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं॥" यहां ब्रह्म प्राप्त होनेका विधान है, "मेरी प्राप्ती, ईश्वर प्राप्ति और ब्रह्म प्राप्ति" एक ही स्थितिका नाम है। इसी का नाम ब्रह्म-नि-र्वाण है—

ब्रह्म-निर्वाण।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
गी० २।७२

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
गी० ५।२४

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
गी० ५।२५

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥
गी० ५।२६

"यह ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके बाद फिर कभी मोहवश नहीं होता और अन्त समय में भी यह ब्राह्मी स्थिति रही, तो ब्रह्मनिर्वाण को पाता है॥ जिसको अन्दरसे सुख मिलता है, जिसके अन्दर शान्ति है, तथा जिस के अन्दर आत्म-प्रकाश हुआ है, वह ब्रह्मभूत

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

योगी ब्रह्म निर्वाण को पाता है॥ जिसके पाप नष्ट हुए हैं, जिनके द्वैतभाव दूर हो चुके हैं, जिनका संयम हुआ है, जो सब भूतमात्र के हितमें लगे हैं, वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं॥ जिन्होंने काम और क्रोध छोड दिया है, जो संयमी हैं, और जिनको आत्माका ज्ञान हुआ है ऐसे ऋषियोंको सर्वत्र ब्रह्म निर्वाणका अनुभव होता है॥"

यहां ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके कुछ साधन कहे हैं—(१) पापोंका नष्ट होना, (२) द्वैतभाव दूर होना, (३) आत्मसंयम, करना, (४) सर्वभूतोंके हित करनेमें आत्म—समर्पण करना, (५) कामक्रोध छोडना, (६) इंद्रिय संयम करना, (७) आत्मज्ञान होना, इन साधनोंसे ब्रह्मनिर्वाण की स्थिति प्राप्त होती है।

इस स्थितिमें जो अनुभव होता है वह भी इन्ही श्लोकों में कहा है—(१) अपने अन्दरसे सुख होता है, (२) अन्दरसे शान्तिका अनुभव होता है, (३) अन्दर से प्रकाश होनेका अनुभव होता है, (४) ब्रह्मरूप अवस्था होती है, (५) मोह सदा के लिये दूर होता है, (६) सर्वत्र ब्रह्मरूपता का अनुभव होता है। यह अनुभव ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होनेके नंतर होता है।

इस से हम अनुमान कर सकते हैं कि, ब्रह्मनिर्वाण जब तक प्राप्त नहीं होता है, तब तक निम्न लिखित अनुभव होता है—(१) बाह्य विषयोंसे सुख प्रतीत होता है, (२) अन्दर से और बाहर से अशान्ति रहती है, (३) अन्दर और बाहर अन्धेरा मोह और अज्ञान रहता है, (४) अहपता का अनुभव होता है, (५) मोहयुक्त अयोग्य व्यवहार होता है, (६) सर्वत्र जडता का अनुभव होता है। ब्रह्मनिर्वाण न प्राप्त होनेकी अवस्थामें मनुष्यकी यह अवस्था होती है। यह अवस्था साधारण मनुष्य के प्रतिदिनके अनुभव की हि है।

इतना विचार करनेके पश्चात् 'ब्रह्मनिर्वाण' का अर्थ क्या है इसका विचार करना चाहिये। 'नि··वा' धातुका अर्थ 'खुली शान्त वायुमें बैठ कर शान्त होना' है। और 'निर्वन्' धातुका अर्थ 'सत्कार करना, संगत होना, मिलना, विजय प्राप्त करना, प्रीति करना, साथ होना, उसीमें रहना' है। येही धात्वर्थ 'निर्वाण' शब्दमें प्रधानतया हैं। अतः 'ब्रह्मनिर्वाण' का अर्थ निम्न लिखितप्रकार होता है—(१) ब्रह्मके साथ मिलकर शान्ति प्राप्त करना, (२) ब्रह्मकी उपासना करना, (३) ब्रह्मके साथ मिलना, (४) ब्रह्मके रूपमें एकरूप होना, (५) ब्रह्मकी शक्ति पाकर विजय कमाना, (६) ब्रह्मके साथ प्रीति करना, (७) ब्रह्मके साथ होना, (८) ब्रह्ममें रहना। ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके ये आशय हैं।

ब्रह्मनिर्वाण न प्राप्त होनेकी अवस्थामें क्या होता है, इसका अनुमान इसीके विचार से हो सकता है, जैसा—(१) विषमतामें रहनेसे अशान्त होना, (२) जड के साथ रहनेसे जड बनना, (३) द्वैतमें फंसना, (४) संकुचित स्थितिमें रहना, (५) पराजित होना, प्राकृतिक जय भी पराजय ही है, (६) ईश्वर का द्वेष करके मोहोत्पादक पदार्थोंपर प्रेम करना, (७) विषयों के साथ रहना, (८) द्वन्द्वों के युद्धमें फंसना, इत्यादि अनुभव ब्रह्म निर्वाण प्राप्त न होने तक होते हैं। सामान्य जनोंके दैनिक अनुभव येही हैं।

कई लोग 'निर्वाण' का अर्थ 'पूर्णनाश को प्राप्त होना' करते हैं, विशेषतः विधर्मी प्रचारक लोग निर्वाण का सत्य अर्थ न ध्यानमें धारण करके, पूर्ण नाश होनेका अर्थ निर्वाण में है, ऐसा मानते हैं, और स्वयं भ्रममें फंस कर दूसरोंका भ्रममें फंसाते हैं। उनको इस सत्य अर्थका विचार करना चाहिये। ब्रह्मनिर्वाणमें ब्रह्म जैसी अवस्था होती है। लोहा तपकर अग्निरूप अवस्थाको प्राप्त होता है, उस अवस्थामें लोहेका नाश नहीं होता है, परंतु उसके अणुरेणु में विशेष महाशक्ति का

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्फुरण होता है, इसी तरह साधारण मनुष्य प्रापंचिक द्वन्द्वोंमें दुःख भोगता है,यह दुःख उससे दूर होकर धर्म नियमादि तपके द्वारा यह शुद्ध होता हुआ, ब्रह्मकी संपूर्ण शक्तिसे यह आविर्भावित होता है, मानो ब्रह्मके समान होता है। अतः इसको 'पूर्ण विनाश' कहना मूढता है। हां, यह तो मान सकते हैं कि इसमें जो त्रुटियां थीं उनका नाश इस समय हुआ है, परंतु वह इसका नाश नहीं। ब्रह्मनिर्वाण में यह स्वयं 'आनन्दमय' बनता है। जैसा सूर्यको अन्धेरेका पता तक नहीं होता, इसी तरह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके पश्चात् उसको अपनेहि अन्दरसे इतना आनन्द मिलता है और इतनी शान्तिका अनुभव होता है कि, उसके पश्चात् उसको दुःख और अशान्तिकी कल्पना भी नहीं रहती। (अन्तःसुखः, अन्तरारामः, अन्तर्ज्योतिः। गी० ५। २४) अन्दर से सुखी, अन्दरसे शान्त, अन्दरसे प्रकाशपूर्ण होनेका नाम ब्रह्मनिर्वाण अथवा निर्वाण है। अतः कोई यह न समझे कि, निर्वाण प्राप्त होनेका अर्थ सर्वस्व नाश होना है, प्रत्युत 'सर्वतःपूर्ण' होनेका नाम निर्वाण है। इस विषयमें ये श्लोक देखने उचित हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
गी० १४। २६

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
गी० १८। ५३

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
गी० १८। ५४

"जो एकनिष्ठ भक्तियोगद्वारा ईश्वरकी सेवा करता है वह प्रकृति के गुणोंसे होनेवाले बंधनको तोडकर ब्रह्मरूप बननेके लिये समर्थ होता है॥ अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और भोगसाधनोंका संग्रह छोडकर, ममत्व भावको छोडता है, वह ब्रह्मरूप बनने योग्य है॥ ब्रह्मभावको प्राप्त मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त रहता है, न शोक करता है न किसी वस्तुकी वासना धरता है। वह भूत मात्रके विषयमें समभाव रखता हुआ, ईश्वरकी परमोच्च भक्ति में मग्न रहता है॥"

यहां ब्रह्मरूप बननेके साधन कहे हैं और ब्रह्मरूप बननेपर कैसी अवस्था होती है इसका भी निरूपण किया है। ब्रह्मरूप बननेके साधन ये हैं— (१) ईश्वरी एक निष्ठ भक्ति, (२) गुणातीत होनेका प्रयत्न, (३) काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मद, बलकी घमंड छोडना, (४) शान्त होना, (५) ममत्व छोडना, (६) शोक और कामना का त्याग करना, (७) सर्वत्र समभाव धारण करना, इससे मनुष्य ब्रह्मरूप अवस्था को प्राप्त होता है।

ब्रह्मरूप बननेपर उनकी स्थिति ऐसी होती है- (१) प्राकृतिक विषयोंसे बाधा नहीं होती, (२) अतुल शान्ति रही है, (३) षड्रिपुओंका हमला नहीं होता, (४) सदा प्रसन्नता रहती है, (५) कामना और शोकसे दूर होता है, (६) सब से समान व्यवहार होता है, (७) ईश्वर की परमोच्च भक्ति में रहता है। ब्रह्मरूप बना हुआ मनुष्य इन गुणोंसे युक्त होता है। अतः यह कहना कि निर्वाण प्राप्त होनेपर पूर्णनाश होता है, केवल अज्ञान का द्योतक है। इस स्थितिका स्वरूप गीतामें और अधिक स्पष्ट किया है, वह अब देखिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
गी० ५। २०

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥
गी० १३। ३०

"जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हुआ है, जो ब्रह्मको जानता है,और जो ब्रह्ममें

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आश्रित है, उसको प्रिय की प्राप्तिसे सुख नहीं होता और अप्रिय प्राप्त होनेसे दुःख नहीं होता॥ जब वह मनुष्य भूतमात्र का अस्तित्व भिन्न होते हुए भी एकमें समाया है ऐसा देखता है और वहां से हि सबका विस्तार होता है ऐसा समझता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है॥" अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति होनेसे (१) बुद्धि स्थिर होती है, (२) मोह दूर होता है, (३) प्रिय अथवा अप्रिय की प्राप्तिसे सुख दुःख नहीं होता, (४) विभिन्न भूतोंका उगम एक सत्तत्वमें है और वहां से हि फिर सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसका ज्ञान होता है। ब्रह्मप्राप्ति के ये और फल पूर्वोक्त फलों के साथ देखने योग्य हैं।

अस्तु। यहां तक अन्तिम सिद्धिका स्वरूप क्या है और उस समय सिद्ध पुरुष में कौनसी शक्ति बढती है और कैसा अनुभव होता है, इस विषयमें सारांश से विवरण किया। इस चतुर्थ अध्याय में इस सिद्धिके निदर्शक ये वाक्य हैं—

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति॥ (४।१२)
पुनर्जन्म नैति। (४।९)
कर्मभिर्न स बध्यते। (४।१४)
कृत्वाऽपि न निबध्यते। (४।२२)
कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्। (४।२१)
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति। (४।४१)
माक्ष्यसेऽशुभात्। (४।१६)
एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे। (४।३२)
ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। (४।३६)
परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। (४।३९)
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्। (४।२४)

"इस मर्त्यलोकमें मनुष्यको सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। सिद्धि प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्मोंका बन्ध दूर होता है। कर्म करनेपर भी पाप नहीं लगता। आत्मबल प्राप्त होनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता। अशुभ दूर होगा। बन्धनसे मोक्ष प्राप्त होगा। पाप दूर होगा। पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी। ब्रह्म प्राप्त होगा।" इतने वाक्य इस अध्यायमें हैं, इनका बोध यथायोग्य रीतीसे होना अत्यंत आवश्यक है। भगवद्गीताका यह मुख्य विषय है और मनुष्यको प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है। इस विषय में गीता के पाठकोंकी निश्चित कल्पना होनी चाहिये। तभी गीताका सिद्धान्त समझमें आजायगा। सिद्धी क्या है, ब्रह्मप्राप्ति होनेपर क्या लाभ होते हैं, न होनेपर हानी कौनसी है इत्यादि विषय मुख्य हैं और इसका निश्चित ज्ञान पाठकोंको होना अत्यंत आवश्यक है। अतः सिद्धि के विषय में संपूर्ण भगवद्गीता में जो जो वाक्य विविध स्थानों में आये हैं, उनको प्रकरणशः यहां एकत्रित करके संगति लगायी है। जो पाठक इनका मनन करेंगे उनको इस विषयकी निश्चित कल्पना हो जायगी।

अब इस लेखका संक्षेपसे सार निकालते हैं। निम्नलिखित कोष्टक में परम सिद्धि के साधन और फल रखते हैं, इससे पाठकोंको विना परिश्रम पता लग जायगा, कि सिद्धिके साधन कौनसे हैं और सिद्धि प्राप्त होनेपर कौनसे फल प्राप्त होते हैं। यह विषय इससे पूर्व आचुका है, अतः यहां केवल सूचक शब्दही दिये जाते हैं, जिन शब्दोंके मननसे पाठक साधनों और फलों का स्वरूप जान सकेंगे—

सिद्धिके साधन।

१ चित्तकी एकाग्रता

चित्तकी एकाग्रता अथवा 'स्थिरता' सिद्ध करनेके लिये '**मनः स्थैर्य**' अर्थात् मनकी स्थिरता, और '**बुद्धीस्थैर्य**' बुद्धिकी स्थिरता सिद्ध करनी चाहियें। मनकी चञ्चलता ही सब परमार्थ सिद्ध होनेमें विघ्न रूप है।

२ संयम

अन्तिम सिद्धि अथवा परमपद प्राप्तिके लिये '**संयम**' करना अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें यह मार्ग है—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यदृच्छालाभसंतुष्ट= सहज जो प्राप्त होगा उसमें संतोष मानना, अधिकाधिक भोगसाधन प्राप्त करनेकी इच्छा न करना; इसके लिये "भोगवासना त्याग" करना चाहिये। मनमें भोग वासना उत्पन्न हुई तो उसका त्याग करना; तथा 'कामत्याग, कामवासनात्याग, भोगत्याग, संग्रहत्याग' करना चाहिये। 'आत्मजय, चित्तसंयम, आत्मसंयम, इंद्रियसंयम, जितेन्द्रियता, मनोनिग्रह, मनः शान्ति' ये शब्द संयमकी व्याप्ति बता रहे हैं। मनुष्यके अन्दर दोष रहनेसे उसका मन चञ्चल होता है अतः 'आत्मशुद्धि, दोषत्याग, कामक्रोधलोभत्याग, भोगभयत्याग, मोहत्याग, अहंकार-गर्व-त्याग, मानत्याग, ममतात्याग' करना चाहिये। इस कार्य के लिये 'कामक्रोधवेगोंको सहन' करना चाहिये। अन्यथा वे हि सिरपर चढ बैठेंगे। इसीसे मनुष्य 'आत्मबलसे युक्त' होगा।

३ अनासक्ति।

विषयों और भोगोंपर तथा कर्मफलपर आसक्ति न रखनेसे हि संमय साध्य हो सकता है। इसके लिये 'असंगभाव, कर्मफलमें अनासक्ति, कर्मफलत्याग, बाह्य सुखोंपर अनासक्ति, निष्कामता, निस्पृहता, कर्मफल के विषयमें निस्पृहता, निस्पृहबुद्धि' धारण करना चाहिये।

४ निर्द्वन्द्वता।

निस्पृह और अनासक्त बननेके लिये 'निर्द्वन्द्व' बनना चाहिये, सुखदुःख, हानिलाभ आदि अनेक द्वन्द्व हैं, इनमेंसे किसीमें भी फंसना नहीं चाहिये, इसकी सूचना देनेवाले शब्द "निर्द्वन्द्वता, सुखदुःखसमबुद्धि," ये हैं। प्रियसे प्रेम और अप्रियका द्वेष न करना, भेदोंमें अभेद का अनुभव करना, यही निर्द्वन्द्वता प्राप्त करनेका साधन है।

५ अद्वेष।

"अद्वेष, अनसूया, मत्सररहितता, वैरत्याग, द्वैतनिवृत्ति' ये शब्द अद्वेष भाव की साधना करनेके सूचक हैं।

६ आत्मवद्भाव।

सबको आत्माके समान देखनेसे द्वेषसे और द्वन्द्वसे दूर रहनेकी संभावना होती है। 'आत्मवद्भाव, सर्वभूतहितरतत्व, सर्वभूतमित्रता,' ये शब्द इस आत्मद्भाव का अभ्यास करनेकी सूचना दे रहे हैं।

७ गुणातीतता।

"निर्गुण, गुणातीतत्व, निर्मल बुद्धि" ये शब्द गुणातीत होनेकी कल्पना दे रहे हैं।

८ समबुद्धि।

समबुद्धि होनेसे मनुष्य को पूर्वोक्त सिद्धि मिलती है। इसके सूचक शब्द "सर्वत्र समबुद्धि, बुद्धियोग, समत्वयोग, सर्वत्र समदर्शन, सर्वत्र समता" ये हैं।

९ कर्मयोग।

समबुद्धिसे कर्म करनेसे मनुष्य पूर्ण उन्नतिका अधिकारी होता है। इसके सूचक शब्द—"यज्ञार्थकर्म, शास्त्रोक्त कर्म, ईश्वरार्पणके लिये कर्म, पुण्यकर्म, कर्तव्यकर्म, इन्द्रियसंयमपूर्वक कर्मयोगाचरण, समत्व योगपूर्वक कर्माचरण, कर्मयोग, स्वकर्माचरण, नित्ययोगाचरण, परस्पर सहायतार्थ कर्म' इत्यादि हैं। इन शब्दोंके मननसे प्रारंभसे अन्ततक संपूर्ण कर्मयोग के मार्ग का ज्ञान होता है।

१० ज्ञानयोग।

"ज्ञान, प्रकृति-पुरुष-विज्ञान, क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान, ईशज्ञान. ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ज्ञान, विज्ञान," ये शब्द ज्ञानका स्वरूप बताते हैं,। यह ज्ञान और विज्ञान महत्वका है जो जाननेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे 'निष्पापता, संशयनिवृत्ति, स्वयंपूर्णता, आत्मबल, आत्मनिष्ठा, आत्माके अकर्तृत्व का अनुभव, आत्मदर्शन, अपनी प्रसन्नता और पवित्रता, अन्तरिक सुखशान्ति और ज्योतिका अनुभव,' होने का वर्णन गीतामें स्पष्ट है। इसी का नाम 'ब्रह्मयोग' है, इसके लिये 'मोक्षतत्पर' मनुष्य योग्य अधिकारी है, 'ओंकारजप' इसका एक

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

साधन है। 'प्रकाशमार्ग' का अवलंबन करना इस कार्य के लिये योग्य है। 'आत्मघात न करते हुए' इस मार्ग का आक्रमण करना चाहिये। इससे 'भूत-प्रकृति-बंधनसे मुक्ति' होती है।

११ ईश्वरभक्ति।

ज्ञानसे 'ईश्वरभक्ति' जाग्रत होती है। ज्ञानसेहि सत्य 'ईश्वरपरायणता, ईश्वरप्रेम, ईश्वर-बुद्धि, ईश-श्रद्धा, ईश्वर-शरणता, ईश्वर-ध्यान-तत्परता, ईश-पूजन, ईश्वर-स्मरण, ईश्वराश्रय, एकनिष्ठ-भक्ति, एकाग्रभक्ति, और पराभक्ति' होती है। इससे आगे 'सर्वत्र आत्मदर्शन, सर्व सृष्टीमें ईश्वर-दर्शन, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ईश्वरमयता, अष्टधा प्रकृति और पुरुषका संबंध' ज्ञात होता है और इस ज्ञानसे 'ज्ञानीका विश्वरूपी परम पुरुषमें प्रवेश' होता है और इसीपर 'ईश्वरकी प्रसन्नता' होती है।

इस तरह 'नरका नारायण बननेका साधनयोग है।' यहां यह अतिसंक्षेपसे इस लिये दिया है कि, यह सूत्ररूपसे पाठकोंके सन्मुख सदा रहे। इनमेंसे ये सूचक शब्द भगवद्गीतामें कौनसे स्थानपर हैं, यह यदि किसी पाठक को देखना हो, तो वह पूर्व प्रकरणोंमें देख सकते हैं। परंतु इतने विस्तृत लेख देखनेका समय जिनके पास न हो, उनके लिये येही शब्द पतोंके समेत आगे प्रकरणशः दिये हैं—

परमासिद्धिकी प्राप्तिके साधन।

१ सिद्धिकी प्राप्ति।

ज्ञानप्राप्ति (१४।१); सर्वत्र असक्त बुद्धि; आत्मजय; निस्पृहता; संन्यास (१८।४९); स्व-(-वर्णाश्रम-)-कर्म से ईशपूजा (१८।४६); ईश्वर के लिये कर्म करना (१२।१०)।

२ विशेषताकी प्राप्ति।

नित्य योगाचरण; एकाग्र भक्ति; ईश्वर प्रेम (७।१७); सर्वत्र समबुद्धिः। (६।९); इंद्रिय संयमपूर्वक कर्मयोगाचरण (४।७)।

३ श्रेयःप्राप्ति।

परस्परसहायता (३।११)।

४ मायाके पार होना।

ईश्वर प्रपन्नता (७।१४)।

५ पुनर्जन्ममरण दूर करना।

ईश्वरबुद्धि, ईश्वरध्यान, ईश्वरपरायणता, ज्ञानसे निष्पाप होना (५।१७); ज्ञान प्राप्ति (१४।२); प्रकृतिपुरुषविज्ञान (१३।२३)

६ निर्लेपता।

कर्म ईश्वरको समर्पण (५।१०); असंगभाव (५।१०); ज्ञान (४।३६); निर्गुणत्व (१३।३१)।

७ कर्म-बन्ध-निवृत्ति।

असंगभाव, ज्ञानतत्परता, यज्ञके लिये कर्म करना (४।२३); बुद्धियोग (२।३९); अद्वेष, निष्कामता, निर्द्वन्द्वता (५।३); श्रद्धा, अनसूया, (गीता-शास्त्रानुसार) नित्यअनुष्ठान (३।३१); कर्मफलमें निस्पृहता (४।१४); यदृच्छालाभसंतुष्टता, द्वन्द्वातीतता, मत्सररहितता, सिद्धिअसिद्धिविषयमें समता (४।२२); समत्वयोगसे कर्मफलत्याग, ज्ञानसे संशयनिवृत्ति, आत्मबलसे युक्त होना (४।४१); अहंकारत्याग, निर्मलबुद्धि (१८।१७); योगाचरण, आत्मशुद्धि, आत्मजय, जितेंद्रियता, सर्वभूतोंके साथ आत्मवद्भाव (५।७)।

८ मुक्ति।

ज्ञान विज्ञान (९।१); श्रद्धा, अद्वेष, पुण्यकर्म (१८।७१); ईश्वरशरण होना (१८।६६); ईश्वरज्ञान (१०।३); इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, मोक्षतत्परता, इच्छा-भय-क्रोध त्याग (५।२८)।

९ शान्ति।

कामनात्याग, निस्पृहता, ममतात्याग, अहंकारत्याग (२।७१); कर्मफलत्याग (५।१२); श्रद्धा, इंद्रिय-संयम, ज्ञान (४।३९); मनोनिग्रह, योगाचरण (६।१५); सर्वभूतोंसे मित्रता (५।२९); कर्मफल त्याग (१२।१२); अचलता, स्वयंपूर्णता, निष्कामता (२।७०)।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि हे अग्नि! तू 'मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्' अर्थात् इस प्रेतकी चमडी तथा शरीरको बिना जलाए हुए इधर उधर मत बखेर, संपूर्णतया इसे जलादे। यहां पर उसी संपूर्ण दहनको लक्ष्यमें रखते हुए मुरदेसे कहा गया है कि तू अग्निकी ज्वालारूपी कवचको पहिन ले व अपने अंदर विद्यमान चर्बीसे अपने आपको लपेट ले, जिससे कि अग्नि तुझे पूर्णतया जलादे। मंत्रका अभिप्राय यह है कि प्रेतका पूर्ण रूपसे दहन होना चाहिए व उसके लिए पर्याप्त घृतका उपयोग करना चाहिए। गो=घी। वेदमें गौसे उत्पन्न पदार्थोंके नामभी गो शब्दसे कहे गये हैं। देखो, निरुक्तमें गो शब्दकी व्याख्या। नि० अ० २। पा. २॥

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते॥ ऋ० १०।१६।८॥

(अग्ने) हे अग्नि! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः)चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देव पान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्ते) पान करके प्रसन्न होते हैं।

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि! इस शरीरकी दुर्दशा मत कर।

चमस—चमचा। यज्ञमें जिस पात्रमें सोमरस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है।

हम इसी सूक्तके दूसरे व तीसरे मंत्रमें देख आए हैं कि इस शरीरका किस प्रकार देवोंसे संबन्ध है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थानपर वेदोंमें ऐसा वर्णन है। अथर्ववेद १० काण्ड सू० २ में भी ऐसा ही वर्णन है।

अबतकके मंत्रोंमें अंत्येष्टिसंबन्धी वर्णन किया गया है। अगले तीन मंत्रोंमें क्रव्याद् अग्निको उपलक्ष्य करके कहा गया है। इस अंत्येष्टि-संस्कारमें प्रयुक्त अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है। क्रव्याद् अग्निका अर्थ है मांसभक्षक अग्नि। और यह मांसभक्षण अंत्येष्टिमें शवदहनद्वारा अग्निको करना पडता है। जैसा कि अबतकके मंत्रों द्वारा स्पष्ट है। इस प्रकार शवके खानेसे मांसभक्षक (क्रव्याद् अग्नि) इस अग्निका क्या करना चाहिए इस विषयमें अगले तीन मंत्र प्रकाश डाल रहे हैं।

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ ऋ० १०।१६।९॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांसभक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं। (रिप्रवाहः) पाप का वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है, उन प्रदेशोंको चली जावे। (इह) यहांपर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्यात् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि सर्व कर्मोंको यथावत् जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्योंका वहन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे।

यह शव दहन करनेवाली अतएव मांसभक्षक (क्रव्यात्) अग्नि फिर लौटकर हमारे घरोंमें वापिस न आजावे, अतः मैं इसे दूर भेज देता हूं, वह यमलोकमें चली जावे। यहांके कार्य संपादन करनेके लिए जातवेदस् अग्नि है। वही देवोंके लिए हव्योंका वहन करती रहे।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्निको यमराजके देशोंमें भेजनेका उल्लेख है। इससे ऐसा पता चलता है कि शवदहनानन्तर वह क्रव्यात् नाम पाई हुई अग्नि पृथिवीलोकसे यमलोकमें जाती है। प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ मंत्रोंके साथ इस मंत्रपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि, शवदाहके अनन्तर यह क्रव्यात् अग्नि आत्माको यमलोकस्थ पितृलोकमें ले जाती है। एकवार जिस अग्निसे शवदहन किया जा चुका वह अग्नि फिर देवोंके लिए हव्यादिके वहनके लिए अर्थात् यज्ञादि कर्मके लिए उपयुक्त

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नहीं रहती यह बात भी इस मंत्रसे स्पष्ट होती है। क्रव्यात्-क्रव्य=मांस, उसका भक्षक क्रव्यात्। निरुक्त अ. ६। पा. ३। खं. १२॥ रिप्रवाहः- रिप्रं पापं तस्य वोढा। निरुक्त अ० ४। पा. ३। खं. २१॥ यह मंत्र यजुर्वेद (३५। १९) में तथा अथर्ववेद (१२। २।८) में भी आया हुआ है।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स धर्ममिन्वात् परमे सधस्थे ॥

ऋ० १०।१६।१०॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसम् पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देखकर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घरमें घुस गई है, (तं) उस (देवं) दैदीप्यमान- अत्यन्त प्रकाशमान क्रव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं, हटाता हूं। (सः) वह क्रव्यात् अग्नि (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें (घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त करे।

तुम्हारे घरोंमें जातवेदस् अग्निके रहते हुए भी जो क्रव्यात् अग्नि घुस गई है, उसे मैं दूर करता हूं ताकि तुम पितृयज्ञ कर सको। यह अग्नि परम लोकमें यज्ञको प्राप्त करती रहे।

इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें क्रव्यात् अग्निको दूर भगाकर यमलोकमें भेजनेका निर्देश है। उस मंत्रके साथ इस मंत्रकी संगति लगानेके लिए व विरोध हटानेके लिए इस मंत्रके 'तं हरामि पितृयज्ञाय देवं' इस तृतीय पादका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'पितृयज्ञ करनेके लिए उस क्रव्यात् अग्निको हटाता हूं'। अर्थात् यह क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए अनुपयुक्त है! यह तो परम सधस्थ जो यमलोक है उसमें चली जावे और वहीं पर अपने भागको प्राप्त करती रहे। इस प्रकार इस मंत्रका अर्थ पूर्व मंत्रके भावको लक्ष्यमें रखते हुए करनेसे दोनों मंत्रोंकी संगति की जा सकती है। क्रव्यात अग्निका घरोंमेंसे निकालनेका व उसे यमलोकमें भेजनेका अभिप्राय जनतामेंसे मृत्यु दूर करनेका अभिप्राय प्रतीत होता है। 'परम सधस्थ' - वह बडा स्थान जिसमें सब इकट्ठे रहते हैं। यहांपर पूर्व मंत्रके साहचर्यसे यमलोक ऐसा अर्थ है। वैसे तो यमलोक भी परम सधस्थ है ही। यह मंत्र कुछ पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१२।२।७) में आया है।

इस प्रकार यहांपर क्रव्यात् अग्निका विषय समाप्त हो जाता है। अब आगेके मंत्रोंमें अग्निके प्रति सामान्य कथनका उल्लेख है।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः। प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥

ऋ० १०।१६।११॥

(यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) कव्यका अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो (ऋतावृधः) यज्ञ वा सत्यसे बढनेवाले (पितॄन्) पितरोंका यजन करती है, वह अग्नि, (देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति) देवों और पितरोंके लिए हव्योंका प्रवचन करे अर्थात् वह देवों व पितरोंको कहे कि 'मैं तुम्हारे लिए यह हवि ले आई हूं'।

अग्नि पितरोंका कव्यसे सत्कार करती है व उनके लिए तथा देवोंके लिए मनुष्यों द्वारा दी गई हवियोंका वहन करती है।

कव्य- उस हव्यका नाम है जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दिया जाता है। ऋतावृधः- ऋत नाम है यज्ञ व सत्यका। जो यज्ञ व सत्यके बढानेवाले अथवा जो सत्य व यज्ञसे बढनेवाले हों। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६५) में भी है।

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥

ऋ० १०।१६।१२॥

हे अग्नि! (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (निधीमहि) स्थापना करते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) हमारी कामना करती हुई हे अग्नि! तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरोंको (आवह) प्राप्त करा-ले आ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

हे अग्नि! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर।

इस मंत्रमें अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ ले आती है ऐसा हमें निर्देश मिलता है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।७०) में व अथर्ववेद (१८।१।५६) में भी आया हुआ है। अगले दो मंत्रोंमें स्मशानभूमिके उस स्थानका वर्णन प्रतीत होता है जहां कि मुरदा जलाया गया हो।

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
कियाम्बत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा॥
ऋ० १०।१६।१३॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यं) जिस प्रेतको तूने (समदहः) जलाया है (तं उ) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) बुझा डाल। (अत्र) इस मुर्देके जलनेके स्थानपर (कियाम्बु) कितना जल छिडकना चाहिए कि जिससे (व्यल्कशा) विविध शाखाओंवाली (पाकदूर्वा) परिपक्व दूर्वा घास (रोहतु) उगे।

शवके सम्पूर्णतया दहन हो चुकनेपर आगको बुझा डालना चाहिए व वहांपर इतना पानी छिडकना चाहिए कि जिससे फिरसे वहांपर दूर्वा घास निकल आवे।

शवाग्निको इतना पानी डालकर बुझाना चाहिए कि उस आगसे जो जमीनपर परिणाम हुआ है वह दूर हो जावे और उसपर पुनः नाना शाखाओंवाली दूर्वाघास उग सके और जमीन वैसी की वैसी ही फिरसे हरीभरी हो जावे। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि, जिस स्थानपर एक शवको जलाया गया हो, वहांपर पुनः दूसरा शव नहीं जलाना चाहिए। इस मंत्रसे स्मशानभूमिसंबन्धी वैदिक कल्पना की जा सकती है और इस कल्पनाके अनुसार वर्तमान समयकी स्मशानभूमियोंके विषयमें पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं व स्मशानभूमिके वास्तविक स्वरूपको समझ सकते हैं। इस प्रकार यह मंत्र अंत्येष्टि-क्रिया की समाप्ति किस प्रकारसे होनी चाहिए, इस बातपर विशेष प्रकाश डाल रहा है।

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्या सु सङ्गम इमं स्वग्निं हर्षय॥
ऋ० १०।१६।१४॥

(शीतिके) हे शैत्ययुक्त! (शीतिकावति) हे शैत्यगुणसंपन्न ओषधियोंवाली! (ह्लादिके) हे हर्षित करनेवाली! (ह्लादिकावति) तथा हे आनन्दित करनेवाले फलफूलयुक्त वृक्षोंवाली पृथिवी! (मण्डूक्या) मेंडकीके साथ (सु सङ्गम) अच्छी तरह संगत हो। अर्थात् तेरे में इतना अधिक पानी हो कि मेण्डक आनन्दसे तेरे अन्दर रह सकें। मेंडक पानीवाली जमीनमें रहता है। अतः मेण्डकीके साथ संगत होनेका अभिप्राय यह है कि जमीन अत्यंत जलवाली हो। (इमं अग्निं सुहर्षय) इस अग्निको आनन्दित कर अर्थात् यह पूर्ण रूपसे तेरेपर प्रज्वलित हो सके।

पूर्व मंत्रके कथनानुसार जल छिडकनेसे पृथिवी का कैसा स्वरूप हो जायगा यह इस मंत्रमें दर्शाया गया है। इस प्रकार यह सूक्त यहांपर समाप्त होता है। सामान्यतया इस सूक्तमें अंत्येष्टिपर विचार किया गया है, यह पाठक स्वयं जान सके होंगे।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ अग्नि मृत देहको सम्पूर्णतया जला देनेपर आत्माको पितृलोक में भेजती है।

२ इसका अभिप्राय यह हुआ कि जबतक मृत देह रहती है तबतक उसकी आत्माभी वहीं रहती है।

मंत्र २ व ३

३ शरीरके पूर्ण रूपसे जल जानेपर देहके घटक अपने अपने स्थानपर चले जाते हैं अर्थात् हरेक देव अपना अपना अंश वापिस लौटा लेता है। आंख सूर्यमें चली जाती है, प्राण वायुमें जा मिलते हैं इत्यादि।

मंत्र ४

४ शरीरका जो अज भाग आत्मा है उसे अग्नि अपनी नानाविध अर्चियोंसे शुद्ध करके सुकृतों के लोकमें ले जाती है।

*

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मंत्र ५

५ अग्नि फिर जीवात्माको पितृलोकसे वापिस लौटा लाती है व इहस्थ पितरोंको सौंपती है अर्थात् पुनर्जन्म देती है।

मंत्र ६

६ काले पक्षीसे, कीडीमकोडे आदि छोटे छोटे जन्तुओंसे, सर्पादिसे तथा जंगली हिंस्रक जानवरोंसे पहुंचाए गए कष्टोंका अग्नि निवारण करती है।

७ सोम भी यही कार्य करता है।

मंत्र ७

८ शवके पूर्ण दहनके लिए घृतकी पर्याप्त मात्रा डालनी चाहिए जिससे कि अग्निकी बडी ज्वालाएं निकले व शवको शीघ्र ही भस्मावशेष कर डालें।

मंत्र ८

९ यह शरीर सूर्यादि देवोंका रसपान करनेका चमस है। इसीमें ये देव अपने अपने अंशसे आकर बसते हैं।

मंत्र ९

१० क्रव्यात् अग्नि पापका वहन करनेवाली है। उसका वासस्थान यमलोक है।

११ वह यज्ञादि कार्योंके लिए अनुपयुक्त है।

मंत्र १०

१२ क्रव्यात् अग्निको घरमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए। उसे घरोंमेंसे निकाल डालना चाहिए।

मंत्र ११

१३ अग्नि पितरोंके निमित्तसे दी गई हविका वहन करती है। वह देवों व पितरोंकी हवि द्वारा पूजा करती है।

मंत्र १२

१४ अग्नि पितरोंको हवि खानेके निमित्त ले आती है।

मंत्र १३

१५ शवके पूर्ण दहनके अनन्तर अग्निको बुझा डालना चाहिए।

१६ वहांपर इतना अधिक पानी डालना चाहिए कि नानाशाखाओंवाली दूर्वाघास उग आवे।

१७ और इसके लिए जहांपर एक शवका दहन किया गया हो वहांपर दूसरेका नहीं करना चाहिए, अन्यथा पानी डालनेसे अग्निका प्रभाव दूर न हो सकेगा व उस स्थानपर घास न उग सकेगी।

मंत्र १४

१८ जमीन पानीसे इतनी तरबतर होनी चाहिए कि उसके गर्भके अंदर मण्डूक निवास कर सकें।

---

४ ऋग्वेद मं० १० सू० १३५

इस सम्पूर्ण सूक्तकी देवता यम है। यमका अर्थ इस सूक्तमें क्या है यह एक विचारणीय विषय है। यास्काचार्यने निरुक्तमें इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ आदित्य किया है। निरुक्त १२।२९॥ परन्तु इस स्थापनाके अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्याप्त कठिन है। यहां सायणाचार्यके मतानुसार अर्थ दिया है।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति॥
ऋ० १०।१३५।१॥

(वृक्षे) यह लुप्तोपमा है। वृक्षकी तरह (सुपलाशे) शोभन उद्यानसे युक्त, अथवा सुन्दर पत्तोंवाले वृक्षमें। इस प्रकारके वृक्षका मूल जिस प्रकार गरमी आदिके दूर करनेसे सुखकर होता है उस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रकार सुखकर जिस स्थानमें (देवैः) परिजन-भूत देवोंके साथ (यमः) नियंता वैवस्वत (विवस्वान् का पुत्र) (सं पिबते) पान करता है। (विश्पतिः) प्रजाओंका अधिपति (नः पिता) मुझ नचिकेताका जनक वाजश्रवस् (अत्र) इस यमके स्थानमें (पुराणान्) यहांपर चिरकालसे निवास करते हुए पितरोंके (अनु) समीप यह नचिकेता रहे इस प्रकारकी मेरे लिए कामना करता है। 'नः' यहांपर व्यत्ययसे बहुवचन हुआ हुआ है। नचिकेता नामके कुमारको वाजश्रवस् पिताने यमलोक भेज दिया था। वहांपर वह यमको प्रसन्न करके फिर इस लोकमें वापिस लौट आया था। यह बात इन मंत्रोंसे प्रतिपादन की जा रही है। अथवा कुमार नामवाला नचिकेतासे भिन्न दूसरा कोई ऋषि था। उसने यम (यच्छतीति यमः आदित्यः) अर्थात् आदित्य की इस सूक्तद्वारा स्तुति की-उत्तम पत्तोंवाले वृक्षकी तरह सुंदर स्थानमें (यमः) आदित्य (देवैः संपिबते) रश्मियोंके साथ गमन करता है। उपसर्गके साथ आनेसे 'पिबति' यहांपर गत्यर्थक है। व्यत्ययसे आत्मने पद हुआ हुआ है। (अत्र) इस स्थानमें स्थित (विश्पतिः) प्रजाओंका प्रकाश वर्षा आदि देनेसे पालक और प्राणरूपसे सबका जनक वह आदित्य (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनेवाले हम लोकोंकी (अनुवेनति) अनुग्रहपूर्वक कामना करता है। अथवा इस स्थानमें स्थित हमारे पूर्व पुरुषोंकी (अनुवेनति) अनुक्रमसे कामना करता है।

वृक्षः= जहांपर कि श्रेष्ठ मृत आत्मायें कर्मोंकी थकान्दको दूर करनेके लिए विश्रान्ति लेती हैं।

पिता= यम।

पुराणां अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्य चाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः॥
ऋ० १०।१३५।२॥

(पुराणान् अनुवेनन्तं) पुरातन पितरोंके प्रति मेरे अनुगमन करनेकी कामना करते हुए अर्थात् मैं पुरातन मृत पितरोंका अनुगमन करूं यानि यमलोकमें जाऊं इस प्रकारकी इच्छा करते हुए (अमुया पापया चरन्तं) इस पापपूर्ण निकृष्ट बुद्धिके साथ वर्तमान पिता वाजश्रवसको (सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मुझको पिताने 'मृत्युके पास जा' इस प्रकार कहा अतः) (असूयन्) मानसिक दुःखसे दुःखित हुए हुए मैंने (नचिकेताने) सबसे पहिले देखा। अर्थात् जब मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था, ऐसी हालत में जब पिताने मुझे यह कहा कि 'मृत्युके पास जा' तो मैंने बडी दुःखभरी निगाहसे उसकी ओर देखा और फिर (तस्मै अस्पृहयम्) पिताकी आज्ञानुसार उस मृत्युको प्राप्त करनेकी इच्छा की। (आदित्यके पक्षमें) अथवा (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनेवाले पितरों की अनुक्रमसे कामना करते हुए (चरंतं) उदय और अस्त के रूपमें द्युलोकमें परिभ्रमण करते हुए आदित्य की ओर(अमुया पापया) इस निकृष्ट बुद्धिद्वारा (असूयन्) निन्दा करता हुआ कि यह आदित्य सामान्यसी वस्तु है इस प्रकारसे (अभ्यपश्यं) मैंने दृष्टिपात किया। असूया-गुणोंमें दोषारोपण करना। (पुनः) अब फिर उस आदित्यकी महिमा को जानता हुआ (तस्मै अस्पृहयं) उस आदित्य को,स्तुतियों द्वारा व परिचर्यादि कर्मों द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करता हूं।

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्रांचमपश्यन्नधि तिष्ठसि॥
ऋ० १०।१३५।३॥

नचिकेता नामवाले कुमार को यम इस ऋचासे व अगली ऋचासे ललचानेका प्रयत्न करता है- हे कुमार! (नवं) बिलकुल नया जिसको कि इससे पहिले तूने कभी नहीं देखा और जो (अचक्रं) पहियों से रहित व ((एकेषं) एकेष है तो भी (विश्वतः प्रांचं) सर्वत्र प्रकर्ष रूपसे गति करता है ऐसे (यं रथं) मेरे पास आनेके लिए अध्यवसाय रूपी जिस रथ को तूने (मनसा अकृणोः) मन से बनाया और बनाकर (अपश्यन्) कर्तव्य-अकर्तव्य विभाग को न जानता हुआ उस रथपर तू (अधितिष्ठसि) सवार हुआ हुआ है। आदित्य के पक्षमें-अथवा स्तुति करनेवाले कुमार

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नामक ऋषिको आदित्य प्रत्यक्ष हुआ हुआ देह व आत्मा के विवेकको बतला रहा है- हे कुमार ऋषि! चक्रसे रहित (एकेषं) एक प्राण ईषास्थानीय है जिसका ऐसे इस अभिनव, सर्व ओर गति करनेवाले शरीररूपी जिस रथको अन्तःकरण द्वारा तूने किया है, उस शरीररूपी रथको मेरा स्वरूप न जानने के कारण न जानता हुआ, भोगायतन के स्वरूपमें स्वीकार करता है अर्थात् शरीर से भोग भोगता है।

मनद्वारा शरीर का निर्माण इस प्रकार से होता है- संकल्पात्मक मनसे काम अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होनेपर पुण्यात्मक वा अपुण्यात्मक कर्म किया जाता है। और उस कर्मद्वारा भोग देनेके लिए इस शरीरका आरंभ होता है। इस प्रकार परंपरारूपसे मन का शरीरनिष्पादकत्व है।

एकेष— एक है ईषा जिसकी। ईषा- धुरा।

इस मंत्रमें कुमारके प्रति यमकी उक्ति है ऐसा म० ग्रिफित का कथन है।

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितं॥

ऋ० १०।१३५।४॥

हे कुमार नचिकेता! (यं रथं) जिस पूर्वोक्त अधिष्ठित रथको जिसमें कि तू सवार होकर आया है, (विप्रेभ्यः परि) मेधावी-ज्ञानी लोकों के ऊपर से अर्थात् अंतरिक्ष में से मेरे पास (प्रावर्तयः) ले आया है, (तं) उस रथका जो कि रथ (नावि सं आ हितं) नौका कि तरह तारनेवाली बुद्धि में स्थित है, उसका (साम) पिताद्वारा की गई सान्त्वनाने (अनु प्रावर्तत) अनुगमन किया है। अर्थात् जब तू भूलोक से संकल्परूपी रथमें चढकर आया तब तेरी रक्षार्थ तेरा अनुकरण पिता की सान्त्वनाने किया।

आदित्य के पक्षमें- अथवा हे कुमार ऋषि! तूने जिस शरीररूपी रथ को उसपर सवार होकर संसार में प्रवृत्त किया है, उस रथके पीछे पीछे मेधावियों के बीचमें साम अर्थात् ऋक् सामादि साध्य स्तोत्र व (नावि) नौका की तरह तारक वेदरूपी वाणीमें स्थित कर्म इस लोकसे प्रवृत्त होते हैं, उसका अनुकरण करते हैं।

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित्तद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत्॥

ऋ० १०।१३५।५॥

(कः कुमारं अजनयत्) किस पुरुषने इस कुमार को उत्पन्न किया? निन्दा अर्थमें किं शब्द है। इस प्रकारके बालकको यमके पास भेजनेवाला पिता कैसे अच्छा हो सकता है? अच्छा, यह बात जाने दो। (कः) किस पुरुषने इस बालकको यमके पास जानेके लिए (रथं) रथको (निरवर्तयत्) प्रवृत्त किया? वह भी मूर्ख था, यह प्रश्नका अभिप्राय है। (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार (अनुदेयी अभवत्) अनुदेयी होता है (तत्) इस बातके कथनको (अद्य) इस कालमें (नः) हमें (कः स्वित् ब्रूयात्) भला कौन कहेगा? पहिले यमके पास जाकर फिर वहांसे उससे छूटनेका उपाय बताता हुआ भी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता, यह इसका अर्थ है। (आदित्यके पक्षमें) अथवा कुमार नामक ऋषि अपने सर्वात्म्यभावको जानता हुआ अपने अतिरिक्त दूसरेकी सत्ताकी असंभवता को निन्दावाची किं शब्दसे दिखलाता है— मुझ कुमारको किस पिताने पैदा किया? किसीनेभी नहीं। 'अजो नित्यः शाश्वतः' इति श्रुत्युक्तरूप मैं हूं। और किसने शरीरात्मक रथका संचालन किया? मेरे सिवाय दूसरा संचालक नहीं है और वैसेही अन्यनिर्वर्त्य (संचालन करने योग्य) का होना भी असंभव है। इस समय सर्वात्म्यानुभव दशामें उस प्रकारको कौन भला हमें कह सकता है, जिस प्रकार से कि अनुदान करने योग्य मेरेसे भिन्न अन्य पदार्थ की सत्ता होवे? वह प्रकारभी दुर्वचनीय है ऐसा इसका अर्थ है।

यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत। पुरस्तादबुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम्॥

ऋ० १०।१३५।६॥

(अनुदेयी) पिताको पीछेसे पुनः वापिस देने योग्य (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार होवे ऐसा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(ततः) उस वाजश्रवस् पितासे (अग्रं) यमके पास जा इस प्रकारके वचनके आगे वर्तमान वचन कि नचिकेताको यमके साथ जानना चाहिए 'तं वै प्रवसंतं गन्तासीति होवाच' इत्यादि (तै. ब्रा. ३।११।८) ब्राह्मणमें कहा गया वचन उत्पन्न हुआ। (पुरस्तात्) उससे पहिले (बुध्नः) उक्त अग्रका मूलभूत 'यमके घरको जा' यह वचन अति विस्तृत हुआ हुआ था। अतः उसका परिहार नहीं हो सकता था, इस वास्ते पीछेसे क्रोधको छोडकर (निरयणं कृतं) उस यमसे बचकर निकल आनेके उपायको पिताने किया। (आदित्यपक्षमें) अथवा (अनुदेयी)अपनेको अनुदातव्यअ।त्मस्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थकी सत्ता जिस प्रकारसे है, उसके गुणानुसार (ततः) उस मायाविशिष्ट आत्माका (अग्रं) सृष्टयविकारका आद्य मनस्तत्त्व उत्पन्न करनेकी इच्छाका कारण उत्पन्न हुआ। (पुरस्तात्) सृष्टिसे पहिली अवस्थामें (बुध्नः) मूल अव्याकृत मायात्मक कारण ही विस्तृत था। (पश्चात्) तमस् की उत्पत्तिके बाद (निरयणं) तद्गत कार्योंका उस कारणसे निर्गमन अर्थात् घटपटादिभेदसे स्वरूपका आलंभन ब्रह्माने किया। अर्थात् कारण-जगत्को कार्य-जगत्के स्वरूपमें लाया। तथा मिट्टीका विकार घटादि मिट्टीसे भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार आदित्य के अनुग्रहसे ब्रह्मभावको प्राप्त मेरा विकार यह प्रपंच मेरेसे भिन्न नहीं है। इस प्रकारसे व्यतिरिक्त पितादिका पूर्वोक्त आक्षेप का समर्थन किया है।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धमते नाळीरियं गीर्भिः परिष्कृतः॥
ऋ० १०।१३५।७॥

यह (यमस्य) नियन्ता आदित्यका वा विवस्वान् के पुत्रका (सदनं) स्थान है। जो कि सदन (देवमानं उच्यते) देवों द्वारा बनाया गया है, ऐसा कहा जाता है। अथवा देव अर्थात् रश्मियों का निर्माण-साधन कहा जाता है। इस यमकी प्रीत्यर्थ (इयं नाळीः) यह वाद्यविशेष-बंश-बजाया जाता है। अथवा नाळी यह वाणी का नाम है। यह स्तुतिरूप वाणी इसकी प्रीत्यर्थ उच्चारण की जाती है। इस प्रकार होनेपर यह यम स्तुतियोंसे परिष्कृत अर्थात् शोभायमान होता है। 'परिष्कृतः संपर्युपेभ्यः' इत्यादिसे सुडागम होता है। 'परिनिविभ्यः' इत्यादिसे षत्व हुआ है। 'गतिरनंतर' इत्यादिसे गतिका प्रकृतिस्वरत्व।

---

५ ऋग्वेद मं० १० सू० १५४

यह सूक्त अंत्येष्टि-संस्कार-विषयक है। इसमें प्रेत से कहा गया है कि तू किन किनको प्राप्त हो, जैसा कि मंत्रोंको देखनेसे पाठकोंको स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इस सूक्तका ऋषि विवस्वान् की दुहिता यमी है। प्रियमाण यजमानादियोंका वर्तन इसमें प्रतिपादित किया जायगा, अतः वे इस सूक्तके देवता हैं।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥
ऋ० १०।१५४।१॥

(एकेभ्यः) कईयोंके लिए (सोमः पवते) सोम रस बहता है। और (एके) कई (घृतं उपासते) आज्यका उपभोग करते हैं। इनको व (येभ्यः मधु प्रधावति) जिनके लिए मधु धारारूपसे बहता है, (तान् चित् अपि) हे प्रेत! उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो आज्यका उपभोग करते रहते हैं, तथा जिनके लिए मधुकी कुल्यायें बहती रहती हैं, ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत! तू प्राप्त हो।

शवदहनादि अंत्येष्टिक्रिया प्रेतकी आत्माके प्रति इस सूक्तकी ऋचाओंके अनुसार उसके संबंधी आदियोंका कथन है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ऋ० १०।१५४।२॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचांद्रायणादि नानाविध तप करने कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे कष्टोंको नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययु) स्वर्गको गए हुए हैं, और (ये) जिन्होंने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत ! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ।

हे प्रेत! जो तपके कारण किसीभी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हुए हैं, तथा जिन्होंने महान् तप किया है, उनको तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ।

प्रथम मंत्रमें यज्ञादि कर्मकाण्डका माहात्म्य दर्शा कर प्रेतको तत्कर्म करनेवालोंमें जानेको कहा है व इस मंत्रमें तपःप्रभाव दिखलाकर तपस्वियोंमें जानेका निर्देश किया गया है ।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ऋ० १०।१५४।३॥

हे प्रेत! (ये शूरासः) जो शूरवीर गण (प्रधनेषु) संग्रामोंमें (युध्यंते) युद्ध करते है, और (ये) जो उन संग्रामोंमें (तनूत्यजः) शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, (वा) अथवा (ये) जो लोक (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो ।

जो शूर वीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीरगतिको प्राप्त हुए हुए हैं, वा जो लोक नाना तरह के दानोंको देकर अपने को संसारमें अमर कर गए हैं, ऐसे लोकों को हे मृतात्मा ! तू प्राप्त हो-तेरे लिये सद्गति होवे ।

इस मंत्रसे यह स्पष्ट होता है कि दानी व शूरवीर गण भी मृत्युके पश्चात् सद्गति को प्राप्त करते हैं। गीतामें ' हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं ' आदि युद्ध में मरनेसे सद्गति होती है, ऐसे द्योतक वाक्योंकी यह वेदमंत्र पुष्टि करता है। शूरवीरतासे युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में सुख मिलता है यह आर्य लोकोंका बडा पुराना दृढ विश्वास चल आता है, उस विश्वास के मूलभूत ऐसे ऐसे वेदमंत्र ही हैं ।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितॄन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ऋ० १०।१५४।४॥

(ये चित्) और जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष (ऋतसापः) सत्यका पालन करनेवाले अथवा यज्ञोंके नित्य नियमपूर्वक करनेवाले, (ऋतावानः) सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिए (ऋतावृधः) सत्य व यम के वर्धक थे,तथा (तपस्वतः) तपसे युक्त (पितॄन्) पूर्व पितरोंको (तान् चित् अपि) इन सबको भी हे (यम) नियमवान् प्रेतात्मा! तू प्राप्त हो ।

जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि नित्यनियमसे करनेवाले हैं, तथा तपस्वी हैं, ऐसे पितरोंको हे मृतात्मा! तू परलोकमें जाकर प्राप्त हो ।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥
ऋ० १०।१५४।५॥

(ये) जो (कवयः) क्रांतदर्शी ज्ञानी लोक (सहस्रणीथाः) हजारों प्रकारोंकी नीतियोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपायन्ति) इस सूर्यका रक्षण करते हैं, ऐसे (तपस्वतः ऋषीन्) तपसे युक्त ऋषियोंको जो कि (तपोजान्) तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ।

जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानों से परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसोंको हे प्रेतात्मा! तू इस लोकसे जाकर प्राप्त हो, उनमें जाकर तू स्थित हो। निकृष्ट लोकों में मत जा ।

इस सूक्तके मंत्रोंपर दृष्टिपात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसारमें रहकर कैसे अर्थात् किस प्रकारके कर्मोंको करनेसे मृत्युके

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अनन्तर उत्तम गति, उत्तम लोक वा उत्तम स्थान स्वर्ग प्राप्त होता है। इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं। पांचों मंत्रोंमें भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोकोंको गिनाया गया है और प्रेतात्मासे कहा गया है कि इन इनको तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर। अर्थात् इन ५ प्रकारके जनोंमेंसे ही किसीको तू जाकर प्राप्त हो। इनसे हीन इतरोंको प्राप्त मत हो। ये पांच प्रकारके जन इस लोकके नहीं, अपितु पर लोकके हैं, ऐसा मंत्रोंसे पता चलता है। अतः 'तान् चित् अपि गच्छतात्' का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि इन ५ प्रकारके इस लोकमें स्थित जनोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले। सद्गतिकी प्राप्तिके लिए इस सूक्तमें यज्ञादि करना, तप करना, लडाईमें पराक्रमके साथ शरीरत्याग करना, नानाविध दान करना, सत्याचरण इत्यादि साधन बताए गए हैं। यह संपूर्ण सूक्त अथर्ववेद (काण्ड १८ सूक्त २ मंत्र १४ से १८) में ऐसा का ऐसा है।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ - यज्ञ करनेसे सद्गति, उत्तम लोक प्राप्त होता है।

मंत्र २

२ - तप करनेसे पराभव नहीं होता व तपस्वीको स्वर्ग मिलता है।

मंत्र ३

३ - जो संग्रामोंमें युद्धकर शरीर छोडते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है।

४ - जो अत्यन्त दानी हैं वे भी स्वर्गको प्राप्त करते हैं।

मंत्र ४

५ - तपस्वी सत्यरक्षक उत्तम गतिका लाभ करते हैं।

मंत्र ५

६ - हजारों प्रकारकी नीतियोंवाले व सूर्यरक्षक ऋषिगण स्वर्गको प्राप्त करते हैं।

उपसंहार।

पितृलोक।

इस प्रकरण का आदिसे अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५ पितृलोक हैं जिनमें कि पितर रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- (१)पृथिवी, (२) अंतरिक्ष (३) द्युलोक (४) पिताका कुल वा घर, (५) पितरोंका देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन कालसे हमारे पूर्व पितर रहते चल आए हैं वह देश। इन सब लोकोंमें हमारे पितर निवास करते हैं ऐसा हमें इस प्रकरण से स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है।

पितृयाण।

पितर जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गका नाम पितृयाण है। इस मार्गको एक तो अग्नि जानता है (देखो ऋ० १०।२।७) और दूसरा वह मनुष्य, जो कि अतिथि आदियोंके सत्कारमें सर्वदा तत्पर रहता है। जो मनुष्य देवहिंसक है वह कभी भी पितृयाणमार्गको प्राप्त नहीं करता। यह पितृयाणमार्ग 'सूर्यकिरणें' भी हैं ऐसा ऋ० १।१०२।७ से पता चलता है। अर्थात् अन्तरिक्ष व द्युलोकमें रहनेवाले पितर इस मार्गसे जाते हैं, ऐसा इससे जान पडता है। ऊपर जो ५ पितृलोक दर्शाए हैं उनमें से इन दो अंतरिक्ष व द्युमें जानेका मार्ग सूर्यकिरणें होनी चाहिए। हमने ऊपर देखा है कि अग्नि भी पितृयाणमार्गको जानती है। हम आगे चलकर यह भी देखेंगे कि अग्नि सर्व प्रकारके पितरोंको चाहे वे हमारे सामने हों वा अदृश्य हों, किसीभी रूपमें कहीं पर भी हों, जानती है; उनके लिए हवि पहुंचाती है। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवीसे अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ पितरोंके पास जानेका जो पितृयाणमार्ग है, वह पृथिवीकी हद तक तो जो अग्नि जानेका मार्ग है

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वह है और आगे जो सूर्यकिरणों के जाने का है वह है।

पितरों के कार्य।

पितरों के अनेक कार्य हैं जिनमें से मुख्य मुख्य कार्य ये हैं- (१) शत्रुओंसे, सर्पादि कुटिल जंतुओं से तथा अन्य आकस्मिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, (२) सूर्यप्रकाश देना, (३) पापसे छुडाना,(४)सुख देना व कल्याण करना, (५)गर्भ धारण करना, (६) मनके प्रत्यावर्तन व पुनर्जन्ममें सहायता करना, (७) नाना प्रकारके स्तोत्र बनाना, (८) दीर्घायु देना, (९) मृतका पुनरुज्जीवित करना, (देखो अथर्व० १८।२।२६) इत्यादि।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य।

हमें पितरोंके लिए क्या करना चाहिए अर्थात् हमारे पितरोंके प्रति जो कर्तव्य हैं वे इस प्रकार हैं- (१) नित्य प्रति पितरोंको अन्नदानपूर्वक नमस्कार करना चाहिए। (२) उनको स्वधा देनी चाहिए। (३) पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए।किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए, इस विषयमें अथर्ववेद काण्ड १८ सू. ४ मंत्र ५७ स्वयं निर्णय करता है। मंत्र इस प्रकार है—

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥

अर्थ स्पष्ट है। यहांपर सर्व प्रकारके पितरोंका जलद्वारा तर्पण करनेका उल्लेख है। (४) पितरोंके शर्म का विस्तार करना। हमें चाहिए कि हम हमारी जन्मभूमि के नित्यप्रति विस्तार करने के कार्यमें लगे रहें। पराधीन होकर न रहें। इत्यादि और भी अनेक कार्य हैं।

पितर और यज्ञ।

बुलानेपर पितर यज्ञमें आते हैं और दांया घुटना टेककर बैठते हैं। वे हमारी प्रार्थनायें सुनते हैं, हमारी कामनायें पूर्ण करते हैं व सर्वदा हमारी रक्षा करते हैं। पितरोंके लिए मासिक यज्ञ करना चाहिए। यज्ञमें 'अग्निष्वात्त' पितरभी आते हैं। स्वधाके साथ हविका भक्षण करके हमें वीरतायुक्त धनादि देते हैं। यजु० अ० ३५।२० तथा अथर्व० १८।४।२० तथा अ० १८।४।४२ ये तीनों मंत्र विचारणीय हैं, क्यों कि इनमें पितरोंके लिए वपा व मांसवाले चरु देनेका विधान पाया जाता है। अस्तु। तथापि इस प्रकरणसे इतना पता अवश्यमेव लगता है कि सर्व प्रकारके पितरोंके लिए यज्ञ करना चाहिए व उनको हविसे तृप्त करना चाहिए। इसके सिवाय प्रत्येक मासमें पितरोंके लिए दान करना चाहिए जैसा कि अथर्व० ८।१२।३ व ४ से पता चलता है।

अग्नि और पितर।

इस प्रकरणको देखनेसे हमें निम्न बातोंका स्पष्ट पता चलता है- (१) अग्नि यज्ञमें पितरोंको हविभक्षणार्थ ले आती है। (२) अग्नि पितरोंको हवि पहुंचाती है और अत एव अग्निका नाम कव्यवाहनभी है। पितरोंके निमित्तसे दी गई हवि कव्य कहलाती है। (३) अग्नि दूरगत छिपे हुए पितरोंको जानती हैं इतनाही नहीं अपितु जो यहां हैं व जो यहां नहीं है और जिनको हम जानते हैं वा नहीं जानते उन सबको अग्नि जानती है। (४) अग्नि पितरोंको पितृलोकमें भिजवाती है। (५) अग्नि प्रेतात्माको पितरोंके पास पहुंचाती है। (देखो ऋ० १०।१७।३ और १०।१६।१) (६) अग्नि उषा देती है, जीवितोंकी आयु बढती है और मरे हुए पितरोंके लोकमें जाते हैं। (अथर्व० १२।२।४'१) (७) अग्नि पितरोंमें प्रविष्ट ज्ञातिमुख दस्युओंको यज्ञसे भगाती है। (८) अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रवेश करती है।

कव्यात् अग्नि।

संभवतः जिस अग्निका अंत्येष्टिमें विनियोग होता है उस अग्निका नाम कव्यात् अग्नि है। इस प्रकरण से निम्नलिखित बातोंका पता चलता है-

कव्यात् अग्निको यमके राज्यमें भेज दिया जाता है, क्योंकि वह देवोंकी हविके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है। कव्यात् अग्निका संबंध यम-लोकसे है। उसका शवदहन जैसे कार्योंमें प्रयोग होता है। कव्यात् अग्निपर शासन करनेसे पितृलोकमें भाग मिलता है। पितर कव्यात् अग्निके साथ दक्षिण

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

दिशामें जाते हैं। पितरोंके रहनेकी दक्षिण दिशा है।

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त पितर वे पितर हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है, जैसा कि हमें शतपथ ब्राह्मण २।६।१।७ से पता चलता है। इसी बातको यजु. अ० १९।६० व ऋ० १०।१५।४ भी पुष्ट करते हैं। अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है, हवि खिलाई जाती है व उनसे धन मांगा जाता है। अग्निष्वात्त पितर यज्ञमें आकर स्वधासे तृप्त होते हैं व उपदेश करते हैं। उनको यज्ञमें सोमपान करने के लिए बुलाया जाता है।

प्रेत व अंत्येष्टि।

इस प्रकरणमें हमें निम्न बातें मिलती हैं- (१) मरनेसे पूर्व मरणासन्नके दांये हाथमें सुवर्णका आभूषण अंगूठी आदि कुछ पहिनाया जाता है। (२) प्राण निकलनेपर शवको जलस्नान कराया जाता है। (३) स्नानके बाद स्मशानोचित वस्त्र पहिनाया जाता है। (४) स्मशान ग्रामसे बाहिर होना चाहिए। (५) शवको बैलगाडीसे लेजाया जाता है। (६) स्मशान-भूमिसे विघ्न-कारियोंको दूर भगाना चाहिए। (७) प्रेतको जलाया जाता है। (८) प्रेतको जलमें बहाया जाता है। (९) प्रेतको जमीनमें गाडा जाता है। (१०) हवामें खुला छोड दिया जाता है। (११) अंत्येष्टि की समाप्तिपर प्रार्थनायें की जाती हैं।

भिन्न भिन्न अर्थमें पितर।

उत्पन्न करनेके अर्थके अतिरिक्त अन्य निम्न लिखित अर्थोंमेंभी बहुवचनान्त पितृ शब्दका प्रयोग वेदमें पाया जाता है- (१) हिंसा अर्थमें, (२) ज्ञानी अर्थमें, (३) राजसभाके सभासद के अर्थमें, (४) सैनिक अर्थमें, (५) प्राण अर्थमें, (६) पालक रक्षक आदि अर्थोंमें, (७) इषु अर्थमें, (८) ऋतु अर्थमें।

यम।

इन प्रकरणोंको देखने से हमें यमके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातोंका पता चलता है। (१) यम मृत्यु की अधिष्ठात्री देवता है अर्थात् प्राणियोंके प्राणापहरण का कार्य यम करता है। (२) विश्वारी ओदन पाचक का यम कुछ भी बिगाड नहीं सकता (३) अग्नि यमका कर्ता है। पर इस मंत्रमें यम संभवतः वायुके लिए आया है। (देखो ऋ० १०।५२।३)। (४) यम विवस्वान् का पुत्र है। (५) यमकी माता का नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टा की पुत्री है। (देखो ऋ० १०।१७।१)

यमलोक व यमराज्य।

इस प्रकरण में यमलोक के विषयमें जहां कि यम का राज्य है निम्नलिखित बातोंका पता चलता है- (१) यमलोक में यमका राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है। (२) मृत पितर कहने से मृत नानी, दादी, माता आदिका भी ग्रहण होता है। (३) वशा गौके दान से यमके राज्यमें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। (४) यमलोकस्थके लिए वस्त्र, तिलमिश्रित धान आदि देना चाहिए ऐसा अथर्व०१८।४।३१ व १८।४।४३से पता चलता है। (५) यम अपने राज्यमें आए हुए को स्थान देता है। (६) पितरोंकी तरह यमकी भी दक्षिण दिशा है।

द्युलोकमें यमलोक।

यमलोक कहांपर है इस बातपर यह प्रकरण प्रकाश डालता है। (१) अथर्व० ९।७।२० में जो यह कहा है कि यमकी दक्षिण दिशा है उससे इतना पता चलता है कि यमलोक दक्षिण दिशामें है। (२) यमलोक द्युलोकमें दक्षिणकी ओर है। (३) पितर यमराज्यमें रहते हैं अर्थात् यम पितरोंका राजा है। (४) पितृलोक यमके राज्यमें है। (५) यमलोक दक्षिणकी ओर द्युलोककी समाप्तिपर है।

यमदूत।

यमके अनेक दूत हैं, जिनमेंसे दो कुत्ते जैसे हैं। ये दोनों कुत्ते लम्बी लम्बी नाकवाले व चार आखोंवाले तथा लोकके मार्गरक्षक हैं। इनमेंसे एक कुत्ता काला है व दूसरा चितकबरा। ये दोनों निरन्तर मनुष्योंके पीछे लगे हुए हैं। ये प्राणोंसे तृप्त होनेवाले हैं। संभवतः इस प्रकारके ये दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। आलंकारिक वर्णनसे दिन व रातका

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यह वर्णन है। यमके कुत्तोंके प्रायः बहुतसे विशेषण दिन व रातमें पाए जाते हैं। (देखो अथर्व० ८।१।६) मृत्युभी यमका दूत है ऐसा इस प्रकरणमें आए हुए अथर्व० १८।२।२७ से पता चलता है।

यमके कार्य।

यमका मुख्य कार्य तो प्राणियोंके प्राणापहरणका ही है, पर इसके अतिरिक्त और भी छोटेमोटे कार्योंका उल्लेख पाया जाता है। यम पितरोंका राजा है व पितृलोक यमलोकमें है यह हम ऊपर देख आए हैं। यहांपर हमें एक नई बात ज्ञात होती है कि यम पितृयाणमार्गको जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं। स्वर्गमें जानेके लिए यमकी अनुमति लेनी पडती है। यम हमें दीर्घायु देता है और मनुष्योंसे हमारा रक्षण करता है। यम मृत्युसे भी हमारी रक्षा करता है।

यमके प्रति हमारे कार्य।

यमके लिए हवि देनी चाहिए। यमको सोमपान कराना चाहिए। यमके लिए यज्ञ करना चाहिए। यमके लिए किया हुआ यज्ञ अग्निको दूत बनाकर यमके पास पहुंच जाता है। (ऋ० १०।१४।१३)। यमके लिए घृतवाली हवि देनेसे वह हमें देवोंमें जानेके लिए दीर्घायु प्रदान करता है। पंच मानव यमके लिए घर बनात हैं और जो अपने घर बढानेकी इच्छा रखता हो उसे यमके लिए घर बंधवाने चाहिए। (अथर्व० १८।४।५५) इसके सिवाय यमके लिए स्वधा और नमः देने चाहिए।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणको पढनेसे हमें यह पता चलता ह कि यमका स्वप्नके साथ क्या संबन्ध है, स्वप्नकी उत्पत्ति कैसी होती है इत्यादि। इस प्रकरणकी निम्न लिखित बातें उल्लेखनीय हैं-

(१) स्वप्नका पिता यम है अर्थात् यमसे स्वप्नकी उत्पत्ति होनेसे वह यमका पुत्र है। अतएव बुरे भयानक स्वप्नोंसे मृत्यु हो जानेकी संभावना बनी रहती है।

(२) स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर वहांसे इस लोकमें आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हो गया है।

(३) स्वप्न यमका करण अर्थात् मारनेके कार्यका साधक है। (अथर्व० ६।४६।२)

(४) स्वप्न प्राणान्त कर देनेवाला है, मार डालनेवाला है।

(५) बुरी भावनायें व भयंकर रोग जो कि निद्राको नहीं आने देते, ये सब स्वप्न की जननी रूप हैं।

यम कौन है?

मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य यम नामवाला जो कि विवस्वान् का पुत्र था, वह इस लोकमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर वहांसे मृत्युलोकमें गया और वहांका राजा बन गया। (देखो अथर्व० १८।३।१३)

यम व पितरोंका संबन्ध।

हम पहिले भी इस विषय पर थोडीसी नजर डाल आए हैं। वहांपर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसीकी इस प्रकरणमें विशेष रूपसे पुष्टि की गई है-

(१) यम पितरोंका अधिपति है। (२) पितरोंपर यमका आधिपत्य राजाके रूपमें है। पितर यमकी प्रजा हैं व वह उनका राजा है।

यमके राज्यमें पितरोंका उच्च स्थान है ऐसा हमें यम व पितरोंके सहकार्यद्योतक मंत्र दर्शाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यमके साथ हवि खाते हैं, उसके साथही यत्र तत्र विचरण करते हैं। यम पितरोंकी सहमतिसे स्वर्ग मिलता है इत्यादि।

भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम।

उपरोक्त यमके अर्थको छोडकर निम्न-लिखित अन्य अर्थोंमें भी यम शब्द वेदोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है- (१) युगल अर्थमें। (२) नियम अर्थमें। (३) जीवात्मा अर्थमें। (४) ज्ञानेन्द्रियोंके अर्थमें। (५) आचार्य अर्थमें। (६) वायु अर्थमें। और (७) सूर्य अर्थमें।

॥ समाप्त ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

पंचदश काण्डकी विषयसूची ।

१ प्रजाका रंजन करनेवाला राजा ।	२
२ ऋषि, देवता और छंद ।	३
३ अध्यात्म-प्रकरण ।	७
४ पंचदश काण्डका विचार ।	३१
व्रात्यका अर्थ	३१
व्रात्य—ईश्वर	३२
ब्राह्मणविभाग—ब्रह्मचारी	३५
ब्रह्मचारीका आसन	३७
रक्षक ऋतु और देव	,,
देवोंकी सहायता	३८
क्षत्रियविभाग, वैदिक स्वराज्य	३९
अतिथिसत्कार	४०
अतिथिका रूप	४१

षोडश काण्डकी विषयसूची ।

१ हमारा विजय ।	४४
२ ऋषि, देवता और छन्द ।	४५
३ दुःखमोचन और विजयप्राप्ति ।	४७
विजयकी प्राप्ति, विजयके प्रकार	५७
आध्यात्मिक विजय	५८
इंद्रिय-शुद्धि	६१
आधिभौतिक विजय	६४
स्वप्न	६७
विजय	६९

सप्तदश काण्डकी विषयसूची ।

१ लोकप्रिय ।	७२
२ ऋषि, देवता और छन्द ।	७३
३ अपने अभ्युदय के लिये प्रार्थना ।	७५
४ सप्तदश काण्डका मनन ।	८२
लोकप्रिय बनना	८३
वीरके गुण	,,
उपास्य के गुण उपासकमें	८५
अभ्युदय	८५
पराक्रम, बडा सौभाग्य	८६
न दब जाना, सत्यका मार्ग	८७
आत्मा और संसार	८८
भूत भविष्य वर्तमान	८९
आत्मतेज	९०
अपना यश	९१

अष्टादश काण्डकी विषयसूची ।

१ तपस्वियों का लोक ।	९४
२ ऋषि, देवता और छन्द ।	९५
३ यम, पितर और अन्त्येष्टि ।	९७
४ अष्टादश काण्डका मनन ।	२०६
(१) पितर ।	,,
पितृलोक ।	,,
पितृलोक-पृथिवी ।	२०७
पितृलोक अंतरिक्ष ।	२०७
,, द्यु ।	,,
,, पितरोंका कुल वा घर ।	२०९
,, पितरोंका देश ।	,,
पितृयाण ।	,,
पितरोंके कार्य ।	२१२
रक्षा करना ।	,,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सूर्य-प्रकाश देना। २१४
पापसे छुडाना। २१६
सुख व कल्याण करना। २१७
गर्भ-धारणा करना। ,,
संतति बढाना आदि। २१८
पुनर्जन्ममें सहायता। ,,
पितरोंके स्तोत्र। ,,
पितरोंसे दीर्घायु। २१९
पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य। २२०
पितरोंके लिये नमस्कार। ,,
,, ,, स्वधा। २२१
पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ। २२३
जलद्वारा पितृतर्पण। ,,
पितरोंका भाग। २२४
,, के शर्मका विस्तार। ,,
पितर और यज्ञ। २२५
पितरोंका यज्ञमें धनदान। २२६
,, के लिये प्रत्येक मासमें दान। २२८
,, का आसन। २२९
अग्नि और पितर। ,,
यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाना ,,
,, ,, हवि खानेको ले आना। ,,
अग्नि दूरगत पितरोंको जानता है। २३१
,, मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुंचाना। २३२
मरनेपर पितृलोकमें जाना। २३३
क्रव्यात् अग्नि। २३४
अग्निके शरीरका पितरों में प्रवेश २३६
पितरोंकी रक्षार्थ अग्निकी उत्पत्ति। २३७
अग्निका पितरोंको धारण करना। ,,
अग्निष्वात्त पितर। २३८
बर्हिषत् पितर। २३९
प्रेत व अन्त्येष्टि। २४०
प्राण निकलनेके कुछ समय पूर्व। ,,
,, ,, पर प्रेतका जलस्नान। २४१
स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना। ,,
स्मशानभूमि की तरफ प्रमाण। ,,
स्मशान का ग्रामसे बाहर होना ,,
,, से विघ्नकारियोंको भगाना। २४२
प्रेतको जलाना, गाडना आदि। २४३
अंत्येष्टि-संस्कार। २४५
प्रार्थनायें। २४६
भिन्न भिन्न अर्थमें पितृशब्द। २४७
गो-संयामक पितर। २५१
सोम और पितर। ,,
अंगिरस् पितर। २५२
पितरोंकी उत्पत्ति। २५३
दक्षिणा व पितर। २५४
मरनेपर पितरोंमें गणना। २५५
अश्विनौ तथा पितर। ,,
सरस्वती और पितर। ,,
गौ व पितर। २५६
इंद्र व पितर। २५७
नवग्व पितर। ,,
काम और पितर। ,,
मणि ,, ,, २५८
ब्रह्मौदनपाचक पितर। ,,
ब्रह्मचारी व पितर। ,,
पितरोंकी शक्ति का नियंत्रण। ,,
देवोंके पितर। २५९
पितरों के ऊर्ज आदि को नमस्कार ,,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पितरों का इष्टापूर्त। २६०
,, से मिलकर श्रेष्ठ होना। ,,
,, के लिये धन, बल व आयु। ,,
पितर व तृतीय ज्योति। २६१
पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना। ,,
मृत पितरोंका अनुगमन-निषेध। ,,
यक्ष्मा दूर करनेकी प्रार्थना। २६२
वधूदर्श पितर। ,,
कन्याका पितरोंमें रहना। ,,
पूषाकी पितरोंको प्रेरणा। २६३
ब्रह्मगौके दूध पीनेमें पाप। ,,
पालक अर्थमें पितर। ,,
मेधाके उपासक पितर। २६४
पितरोंका देवत्व लाभ। ,,
यज्ञका पितरोंमें जाना। ,,
जनक अर्थमें पितर। ,,
विषाणका ओषधि व पितर। ,,
स्वर्गवर्णन। २६५
पितरोंका धन आदि देना। ,,
व्रात्य व पिता, पितामह आदि। ,,
पितरोंका जल्पिके विषयमें अज्ञान। २६६
नराशंस पितर ,,
पिता, पितामह आदि पितर। ,,
(२) यम। २६७
प्राणापहारी यम। ,,
अश्विनौ व यम। २७०
विष्टारी ओदन व यम। ,,
यमका कर्ता अग्नि। २७१
यमकी बेडी। ,,
वैवस्वत यम। २७२
यमलोक व यमराज्य। २७३
यमकी दक्षिण दिशा २७६
द्युलोकमें यमलोक। २७६
यमके दूत। २७७
यमदूत-श्वान (कुत्ते) २७८
यमका दूत-मृत्यु। २८०
यमका पितृयाण-मार्ग जानना। ,,
यमकी स्वर्गमें पहुंचानेके लिये सहमति। २८१
यमका दीर्घायु देना। ,,
यमकी मनुष्योंसे रक्षा। ,,
यमकी मृत्युसे रक्षा। ,,
यमके लिये हवि। ,,
यमके लिये अन्नकी हवि। २८२
यमकी पूजा। ,,
यमके लिये घर बनाना। २८३
यमके लिये स्वधा-नमः। ,,
यम और स्वप्न। ,,
स्वप्नका पिता यम। ,,
स्वप्न-यम का करण। २८४
यम कौन है? २८६
यम व विवस्वान्। ,,
इषुमान् यम। २८६
यम और ऋण। ,,
यमकी अग्निको स्थिर करना। ,,
यमके भाग जल। ,,
यम व पितरोंका संबंध। २८८
यम-पितरोंका अधिपति। ,,
यम-श्रेष्ठ पितर। २८९
यम व पितरोंके सहकार्य। ,,
यम के साथ हवि खाना। ,,
यम व पितरोंके साथ जाना। २९०
यम व पितरोंकी सहमतिसे सुखप्राप्ति और स्वर्गप्राप्ति। ,,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पितरोंका स्थूणा धारण करना। २९१
अंगिरस् पितर व यम। ,,
यमका अंगिरस् पितरोंके साथ आना। ,,
नियमन अर्थमें यम। २९२
जीवात्मा अर्थमें यम। २९३
ज्ञानेंद्रियां यम। ,,
आचार्य यम। ,,
वायु यम। ,,
सूर्य-यम। ,,
(३) यम और पितरोंके ऋग्वेद-सूक्त। २९४
ऋग्वेद मं. १० सू. १४ ,,
,, ,, १० ,, १५ ३०२
अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध। ३०८
अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त। ,,
ऋग्वेद मं. १० सू. १६ ३१०
,, ,, १० ,, १३५ ३१६
,, ,, १० ,, १५४ ३१९
(४) उपसंहार। ३२१
पितृलोक। ,,
पितृयाण। ३२१
पितरोंके कार्य। ३२२
पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य। ,,
पितर और यज्ञ। ,,
अग्नि और पितर। ,,
कव्यात् अग्नि। ,,
अग्निष्वात्त पितर। ३२३
प्रेत व अंत्येष्टि। ,,
भिन्न भिन्न अर्थमें पितर। ,,
यम। ,,
यमलोक व यमराज्य। ,,
द्युलोकमें यमलोक। ,,
यमदूत। ,,
यमके कार्य। ,,
यमके प्रति हमारे कार्य। ,,
यम और स्वप्न। ,,
यम कौन है? ,,
यम व पितरोंका संबंध। ,,
भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम। ,,

—:o:—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

३ सच्चे धर्मकी शिक्षा ।

(लेखक—श्रीमंत भवानराव उर्फ बालासाहेब पंडित प्रतिनिधि, बी. ए. महाराजा औंध स्टेट.)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥

गी० १८।४६

प्रत्येक प्राणी सुखकी अभिलाषा रखता है; परंतु पशुपक्ष्यादि अन्य प्राणियोंका व्यवहार, आहार, निद्रा, भय और मैथुन के बाहर नहीं जा सकता। इन चार बातोंके संबंध में भी यह कहना चाहिये कि जन्मतः इन प्राणियोंमें जो जो अंगस्वभाव रहता है उससे वे बहुत दूर नहीं जा सकते। अर्थात् अपने अपने अंगस्वभावके अनुसार प्रत्येक प्राणिका व्यवहार मर्यादित रहता है। हजार वर्ष पहिले जिस प्रकारका घोंसला कौवा बनाता था, उसी प्रकारका घोंसला वह आज बीसवीं शताब्दिमें भी बनाता है; उसमें कोई फरक नहीं हुवा। इतनाही नहीं, वरन कौवोंके अंडे कोयलों के अंडोंके सदृश रहते हैं। कोयलोंके अंडे कौवोंके घोंसलोंमें रख दिये, उन अंडोंको कौवोंने ही सेया, उन अंडोंमें से निकले हुए बच्चोंका पाषण भी कौवोंनेही किया; तथापि कोयलोंके यही बच्चे होश सम्हालकर अपने लिये जो घोंसले बनावेंगे वे कोयलोंके घोंसलोंके सदृश होंगे न कि कौवोंके घोंसलोंके सदृश। इसी लिये कोयल को "परभृत" कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पशुपक्ष्यादिकों का व्यवहार अपने अपने अंग स्वभाव के अनुसार होता है। यह न्याय मनुष्यको लागू नहीं है।

परमेश्वरने मनुष्यका एक अजीब वस्तु-बुद्धि दी है। इसके द्वारा वह हरएक वस्तु और हरएक कृतिके संबंधमें विचार कर सकता है। कोई चीज अच्छी क्यों है अथवा बुरी क्यों है इसके बारेमें वह निर्णय कर सकता है, मैं कौन हूं, क्या पसंद है और क्या नापसंद है, मैं क्या कर सकता हूं, क्या करनेसे मुझे सुखकी प्राप्ति होगी, क्या करनेसे समाजको अथवा राष्ट्रको मेरा अधिक उपयोग होगा इत्यादि अनेक बातोंपर वह विचार कर सकता है। और अपनी अकलके अनुसार प्रयत्न भी कर सकता है। ऐसा करनेसे वह अपनी बुद्धिमत्ता और कर्तबगारी अधिक कार्यक्षम कर सकता है।

मनुष्यने आजतक नानाप्रकारकी विद्या निर्माण की है, नाना प्रकारकी इमारतें, तालाव, बावली बांधी हैं,भक्ष्य भोज्य आदि पदार्थोंकी नानाप्रकारकी योजना की है, शहर बनाए हैं, गायनकला चित्रकला इत्यादि चौंसठ कलाओंमें उच्च प्रगति की है।

इन सब प्रयत्नोंका एकमात्र उद्देश सुखकी प्राप्ति है। जगत् के प्रारंभ से मनुष्यप्राणी यह सब उद्योग करता चला आया है। जिस कालमें वह पशुपक्षियोंके समान वस्त्रहीन रहता था तबसे सिविलिजेशन अथवा 'कुल्टूर' के हेतु अपनी रहनसहन, बर्ताव, अभ्यास, खानापीना, राजकारण, शास्त्र इत्यादि विषयोंमें जो जो सुधार उसने किये हैं और जो सुधार वह कर रहा है, उन सबका मुख्य उद्देश यही है कि मुझे या मेरे समाज को अथवा यथाधिकार मेरे राष्ट्रको सुख मिले।

पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेंद्रियों द्वारा जिन विषयोंका उपभोग वह ले सकता है उन्हीं विषयोंद्वारा मुझे सच्चा सुख मिलेगा, यही भावना रख-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कर प्रत्येक मनुष्य उन विषयोंकी प्राप्तिके हेतु अव्याहत प्रयत्न करता है। जिसको सुख कहते हैं वह चीज मुझे अमुक वस्तुओंको देखनेसे मिलेगी, अथवा विशिष्ट पदार्थ खानेसे मिलेगी, अथवा विशिष्ट नाद सुननेसे मिलेगी, अथवा विशिष्ट सुवास लेनेसे मिलेगी, अथवा विशिष्ट स्थानको जानेसे मिलेगी, अथवा हाथसे विशिष्टकर्म करनेसे मिलेगी, अथवा त्वचा को विशिष्ट पदार्थका स्पर्श होनेसे मिलेगी, इत्यादि इत्यादि कल्पना करके मनुष्यप्राणी तदनुकूल इंद्रियोंद्वारा उन पदार्थोंका अमर्याद सेवन करता रहता है।

परंतु अंतमें उसे यह प्रतीत होता है कि विषयेंद्रियसंयोग से होनेवाला सुख क्षणिक और केवल भासमात्र है।

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
गीता० १८।३८

इंद्रियोंद्वारा कर्म करनेही का अनेक जन्मार्जित अभ्यास मनुष्यप्राणीको रहता है। इसीलिये इंद्रियों का उपयोग किये विना कर्म कैसे करना इसकी धारणा उसे अत्यन्त दुर्घट है।

मनका व्यापार सदा जारी रहता है, वह व्यापार भी (अमुक इंद्रियोंसे अमुक पदार्थोंका सेवन करना इसप्रकार) संकल्पात्मक रहता है इसलिये मनमें केवल विषयोपभोगकी कल्पनाएं आती हैं।

और इस तरह विषयोंका उपभोग लेते रहनेसे हमें सुख होगा, ऐसी स्वार्थी भावना प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरणमें जागृत रहती है। जहां स्वार्थ है वहां काम क्रोध लोभ तीनों विद्यमान हैं। यह त्रयी नरक अर्थात् अधःपतनका द्वार है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।
गीता० १६।२१

काम क्रोध व लोभके प्रभावसे हम बचे रहें और मनमें सुविचार ही आते रहें इस हेतु अनेक सुबुद्ध ऋषियों व साधुसंतोंने नाना प्रकार के उपाय बतलाए हैं। मनुष्य सुखप्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है लेकिन भक्त कबीर कहते हैं कि जिसको सुख कहते हैं वह चीज त्रैलोक्यमें नहीं है-

सुरपुर नरपुर नागपुर, तीनोंमें सुख नहिं।
एक सुख है हरिचरणमें, बीजो संतन पायो॥

सुख या तो परमेश्वर प्राप्तिसे मिल सकता है अथवा उन सत्पुरुषोंके सहवास से जो परमेश्वर प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं। अन्यथा मनुष्य चाहे पाताल में जाय, स्वर्गमें जाय अथवा पृथ्वीमें बहुविध विषयोंका सेवन करे, उसे सुखका लाभ नहीं हो सकता। ऐसा सत्पुरुष स्पष्टतया कहते हैं।

सर्व सुखाचें आगर। बाप रखुमादेवीवर॥
"समस्त सुखोंका आगर जगत्पिता परमेश्वर है।
(ज्ञानदेव)

तुका म्हणे माझें। हेंचि सर्व सुख।
पाहीन श्रीमुख। आवडीनें॥
"तुकाराम कहते हैं कि मैं भगवान का मुख प्रीतिसे देखूं यही मेरा सुख सर्वस्व है।"
(तुकाराम।)

सारांश, मनुष्य सुख चाहता है और उसकी खोजमें अनेक प्रत्न करता है। परंतु सुख तभी मिलता है जब कि परमेश्वर प्राप्ति हो। अन्य किसी भी वस्तुकी प्राप्तिसे सुख नहीं मिलता।

सुख मनका व्यापार है। वास्तविक विचार किया जाय तो पदार्थोंका ज्ञान इंद्रियोंद्वारा पदार्थोंका ग्रहण भी मनही का व्यापार है। मनकी तंद्रा अन्यत्र लगी हो तो आंखोंके सामने पदार्थके रहते हुए उसका ज्ञान न होगा। इसी तरह अन्य किसी भी इंद्रियका व्यापार (मनकी तंद्रा अन्यत्र होनेसे) व्यर्थ होगा। अर्थात् जिसे हम सुख कहते हैं वह वस्तु, चाहे वह क्षणैक भासमान होनेवाली रहे, मन ही के द्वारा हम ले सकते हैं। यह सुख भी केवल मनका है। लेकिन मन चंचल है। कोई सुख सदैव के लिये उसी हालतमें स्थिर रह सकता है जब कि उसका अस्तित्व मनको प्रतीत हो, बुद्धिको जंचे और आत्माको मान्य हो। अन्यथा वह सुख मनके समान चंचल होगा। जो सुख बुद्धिको और आत्मा को जँचता है वह इंद्रियजन्य नहीं रहता।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥
गीता ॥ ६ । २१ ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
गीता ॥ ६ । २५ ॥

यह आत्यन्तिक सुख अथवा आत्यन्तिक दुःख-ध्वंस परमेश्वरकी पूजा करनेसे होता है; और किसी उपायसे नहीं मिलता, ज्ञानवान् मनुष्यको मानवदेह प्राप्त करनेपर जो सिद्धि प्राप्त करना है वह केवल परमेश्वर प्राप्ति है। और यह सिद्धि—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

इस भगवद्वचनके अनुसार मनुष्यमात्रको अपने कर्मसे परमेश्वरकी पूजा करके प्राप्त करना चाहिये।

जिस परमात्मासे पंचमहाभूत निर्मित हुए और जिसकी इच्छामात्रसे अनंत कोटि ब्रह्माण्डोंका विस्तार हुआ, उसकी अर्चासे यह सिद्धि मिलेगी। उस परमात्माको आकार नहीं, गुण नहीं, नाम नहीं। ऐसी हालतमें मनुष्य उसकी पूजा कैसी करेगा? क्या वह पूजा प्रचलित पूजाविधिके अनुसार ध्यान अवाहन, आसन इत्यादि षोडश उपचारोंसे की जाय या किसी अन्य प्रकारसे की जाय? यह प्रश्न विचारणीय है। यथार्थमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णोंमें जो अपना वर्ण हो; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास इनमेंसे जो अपना आश्रम हो; अथवा जो उद्योग या जो कार्य हमने परंपरासे अथवा किसी विशेष कारणसे अपनाया हो उसके अनुरोधसे हमारे कर्तव्य कर्मोंद्वारा इस परमात्माकी इस नाम-रूपातीत परमात्माकी पूजा हम करना चाहें तो वह कैसे करें यही समझना अत्यन्त कठिन है।

मानव जन्म लेनेपर आदमीको दो प्रकारका कर्तव्य करना पडता है। एक अपनी कायिक वाचिक तथा मानसिक उन्नति करना। दूसरा अत्यंत उच्च कर्तव्य यह है कि जिस समाजमें हम रहते हैं, जिस राष्ट्रमें हम रहते हैं उसकी, अथवा यथाधिकार सम्पूर्ण जगतकी, सार्वजनिक ऐहिक, पारमार्थिक उन्नतिके लिये भरसक प्रयत्न करना।

मनुष्यकी शक्ति, विद्या, द्रव्य, अधिकार जितना कम या अधिक हो उसी तरह कम या अधिक प्रमाणमें यह कर्तव्य करना उसे आवश्यक है। मनुष्य जिस कदर बडा हो उसी कदर उसके कार्यका क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक रहता है। साधारण मनुष्य केवल अपनाही स्वार्थ देखता है। ज्यादासे ज्यादा वह अपने कुटुंबका स्वार्थ देखता है। गांवके पटवारी अथवा मुकदमको अपने ग्रामके स्वास्थ्यकी ओर प्रथम देखना चाहिये। डिस्ट्रिक्ट कौंसिल अथवा लोकल बोर्डके मेम्बरको अपने जिलेकी अथवा तहसीलकी व्यवस्थाको प्रथम देखना चाहिये। प्रांतीय कौंसिलके सदस्यको समस्त प्रांतके हिताहितकी ओर ध्यान देना चाहिये।

हमारा जो व्यवसाय हो; पूर्वजोंकी प्रणालीसे जो उद्योग हम करते हों, अथवा शोकसे या मनकी प्रवृत्तिसे जो उद्योग हमने अंगीकृत किया हो, उस उद्योग अथवा व्यवसायसे ऊपर लिखे हुए अधिकार क्षेत्रके अनुसार अपने समाजकी अथवा राष्ट्रकी ऐहिक तथा परमार्थिक उन्नति कैसे होगी इसका योग्य विचार करके तदनुसार कर्म करना प्रत्येक विचारवान मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है और यही परमेश्वरकी उपासना है। अपना स्वार्थ हरकोई देखता है। पशु पक्षी कीटक भी अपना स्वार्थ देखते हैं। परंतु मनुष्यत्वका सच्चा लक्षण यह है कि केवल स्वार्थी दृष्टि न रखकर लोक कल्याण करनेके लिये अपने शारीरिक शक्तिका, विद्याका, गुणोंका अथवा अधिकारका विनियोग किस प्रकार हो इसका विचार करके तदनुसार आचरण करे।

समाजकी ऐहिक उत्क्रांति यह है कि समाजके अंतर्गत प्रत्येक मनुष्यका, गरीबसे लेकर धनवान तकका, अत्यन्त हलका काम करनेवालेसे अध्ययन अध्यापनादि उच्च काम करनेवाले ब्राह्मणका, समाज व राष्ट्रकी रक्षा करनेवाले क्षत्रियका, द्रव्योत्पादन पशुपालन करनेवाले वैश्यको भरपूर अन्नवस्त्रादि मिले।

समाजकी, राष्ट्रकी और जगत्की पारमार्थिक उत्क्रान्ति यह है कि मुझे अपने समाजके लिये,

*

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

राष्ट्रके लिये अथवा जगतके कल्याणके लिये निरंतर उद्योग करना चाहिये। मेरा मनुष्यत्व इसीमें है। इसीमें जनतारूपी जनार्दनकी पूजा है। ऐसा ठानकर प्रत्येक स्त्री पुरुष आचरण करे।

सत्पुरुषोंका लक्षण यही है कि—

जगाच्या कल्याणा, संतांच्या विभूति।
देह कष्टवीती, उपकारें॥ तुकाराम

[जगतके कल्याणके हेतु संतोंकी विभूतियां उपकार करके अपने देहको कष्ट देतें हैं।] इसी बर्तावको सन्मार्ग कहते हैं। सन्मार्गकी ओर लोगों को प्रवृत करना यही श्रेष्ठ पुरुषोंका लक्षण है। इसी लिये भगवान् श्रीकृष्णनें अर्जुनसे कहा है कि—

लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ ३।२०

लोगोंकी प्रवृत्ति सन्मार्गकी ओर कराना इतना आवश्यक है कि जो बात हमें आवश्यक नहीं वह भी प्रसंगवशात् उक्त हेतु साध्य करनेके लियेहमको करना पडती है। इस संबंधमें भगवान् कहते हैं-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

गीता ३।२२॥

इसका कारण यह है कि—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

गीता ३।२३॥

क्योंकि लोग जिसको श्रेष्ठ, विद्वान् समंजस नेता समझते हैं वह जैसा बर्ताव करता है वैसा बर्ताव करनेमें लोग भूषण मानते हैं। और ऐसे श्रेष्ठ पुरुषको जैसी योग्यता प्राप्त हुई है वैसी योग्यता उस प्रकारके बर्तावसे हमें भी प्राप्त होगी, ऐसी लोगोंकी भावना रहती है। अंशतः यह सच भी है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः॥ ३।२१

इसीलिये वह जो करता है वही उत्तम मार्ग समझकर प्रत्येक विषयमें लोग उसकी नकल करते हैं। और—

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ ३।२१

हम (अर्थात् समाज) जिसको श्रेष्ठ कहते हैं ऐसा पुरुष यदि अपनी मूंछोंकी नोंकें ऊपर रखने लगे तो अनेक लोक अपनी मूंछें वैसीही रखने लगते हैं। वह अपनी मूंछे साफ करके बालकोंके समान अपना चेहरा चिकना रखें तो लोग समझते हैं कि ऐसा करनेमें भूषण है। इसीलिये जित राष्ट्रके लोग अनेकवार अपनी अच्छी परंपराको छोडकर अपने जेता राष्ट्रके पोशाख, रहन सहन, विद्या इत्यादि बातोंमें अन्धानुकरण करते हैं। और ऐसा करनेमें अपने देशके हवामान तथा अन्य परिस्थितिका क्या असर होता है यह विचार भी नहीं करते।

तात्पर्य यह कि अपने समाजकी ऐहिक व पारमार्थिक उत्क्रांति हमारी समझसे जिस प्रकारके आचरणसे होगी वैसा आचरण सावधानतासे हमें स्वयं करना चाहिये। हमें उसकी आवश्यकता न हो तब भी करना चाहिये किंबहुना, समाज योग्य मार्गका अवलंब करे इस हेतु उसमें जो अज्ञानी हैं उनका बुद्धिभेद करना अनुचित है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्॥

गीता ३। २६॥

ऐसे मनुष्यों को अपने समाज अथवा राष्ट्रकी ऐहिक उत्क्रांति के मार्ग में पहिले प्रवृत्त करना चाहिये। इसके पीछे योग्य समय पाकर, पारमार्थिक उत्क्रान्तिका मार्ग कौनसा, परमेश्वर की पूजा कैसे करना, "जनता यही जनार्दन" यह तत्व क्या है, ऐसी बातें समझाकर उनसे परमार्थ का साधन करा लेना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने परमेश्वर पूजाका जो यह सच्चा तत्व बतलाया है उसका योग्य आकलन न होनेसे इस जगत् में परमेश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्तिके लिये नाना पंथ उत्पन्न हुए हैं। नाना पंथोंके प्रवर्तक अपनी अपनी ओर से कहते हैं। "मैं बतलाता हूं वैसी परमेश्वरकी पूजा करो, समस्त लोगोंको वैसी पूजा करने के लिये बाध्य करो। न करेगा वह नरकमें जायगा। जो जो करेगा वह

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्वर्गको जायगा, वहां उसको इंद्रियोंसे ग्राह्य अमुक सुख मिलेंगे।" अर्थात् इससे स्पष्ट होता है कि "इंद्रियजन्य भोगोंका अतिरेक" यही उनकी आत्यंतिक सुखकी कल्पना है।

इसके विपरीत धर्मकी कल्पना यह है कि "इंद्रिय जन्य सुख सच्चा सुख नहीं, सुखका भास है। ज्योंही मोहका क्षण समाप्त हुवा त्योंही ऐसे सुखका परिणाम दुःखहीमें होगा।" सच्चा सुख बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय है। सच्चे धर्मकी यही शिक्षा है।

सच्चा धर्म यह कभी नहीं कहता कि किसी विशिष्ट देवताकी आराधना करनेहीमें तुम्हारा कल्याण है। उसका यह आग्रह नहीं कि तुम केवल गणेशजीकी पूजा करो, अथवा केवल शंकरजीका अभिषेक करो या दुर्गादेवी या कालीमाईको ही बलिदान चढाओ।

आत्यन्तिक दुःखध्वंस यदि चाहिये हो, यदि मोक्षकी अभिलाषा हो तो जिस परमात्मासे यह जगत् उत्पन्न हुआ जिसमें सर्वत्र उसीका चैतन्य भरा है उसकी पूजा पूर्वोक्त पद्धतिसे करना चाहिये। पदार्थमात्रमें जो चैतन्य भरा हुवा है उसे जानकर और स्वकीय वर्णवृत्तिको समझकर उसकी उत्क्रान्तिके लिये प्रयत्न करनेसे स्वकर्म द्वारा उसकी पूजा करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। यही सच्चे धर्मकी शिक्षा है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥

---

४ कर्मयोग

(ले०—श्री० माननीय न्यायमूर्ति नारायण गोविंद चापेकर, हाइकोर्ट जज्ज, औंध.)

गीताकी कर्मयोग विषयक कल्पना अपूर्व है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञान में इस कल्पनाका उद्गम भी नहीं दीख पडता, यहां भी गीताव्यतिरिक्त अन्य ग्रंथोंमें इस कल्पनाका ऊहापोह किसीने नहीं किया। तथापि यह हमारे आर्यसंस्कृतिका एक विशिष्ट अंग है और हमारा जीवन, हमारे समस्त आचार इस विशिष्ट सिद्धांतपर स्थिर हुए हैं। हमारे अज्ञान के कारण हम इस तत्त्वको भूल गए हैं और परकीय संस्कृतिके संसर्गसे विपरीत तत्त्वका ग्रहण हमनें किया है। सुशिक्षित लोग ऐसा समझते हैं कि हमारी बुद्धिही हमारे बर्तावके लिये आधार है। अर्थात् सब लोग ऐसा समझते हैं कि जैसा हमारी बुद्धि बतलाती है वैसा बर्ताव करना हमारा पवित्र कर्तव्य हैं। राष्ट्रमें कर्मविषयक जो अव्यवस्था आज होगई है वह इसीका परिणाम है।

"जितने व्यक्ति उतनेही भिन्न भिन्न कर्म"

समाजधारणा के लिये यह तत्त्व विघातक है। यदि एकही मनुष्य प्रत्येक दिन भिन्न भिन्न उद्देश रखकर तदनुसार भिन्न भिन्न कार्य करे तो अवश्यमेव उसका जीवन विफल होगा। कोई भी मनुष्य जिस कार्य को करना चाहे, उसकी सिद्धीको पोषक ऐसाही कर्म उसे करना चाहिये। राष्ट्रकार्य एक प्रकारका और व्यक्तिकर्म उसके विपरीत हो तो वह समाज अथवा राष्ट्र अपने विनाश के मार्ग-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पर जा रहा है ऐसा समझना चाहिये। इसलिये गीताका उपदेश है कि " अपनी अपनी बुद्धिसे कोई कर्म न करे। " किंतु प्रत्येक मनुष्यके लिये शास्त्रने जो कर्म नियत किया है वही करे, अन्यथा न करे। इसपर गीताका कटाक्ष है। जिसका जन्म जिस वर्ण अथवा जातिमें हुवा हो उस जाति अथवा वर्णके लिये जो कर्म शास्त्रमें बतलाया हो वही उस का नियत कर्म है। श्री शंकराचार्य "नियत" शब्द-का अर्थ "शास्त्रोपदिष्ट" करते हैं। यह नियत कर्म करना प्रत्येक का धर्म है। गीताका आग्रह है कि चाहे प्राण जावे, परंतु अपना नियत कर्म छोड दूसरे का कर्म स्वीकृत न करे।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

गीता ३।३५

इसलिये श्रीकृष्णने अर्जुन को जताया है कि तू नियत कर्म कर।

नियतं कुरू कर्म त्वं॥ गीता ३।८

परमेश्वरने सबको समान बुद्धि नहीं दी। यह बात संशयातीत है। इसके लिये परमेश्वर को दोष नहीं दे सकते। बुद्धिविषयक समता सर्वत्र हो तो कोई भी व्यवहार न होगा। इतना ही नहीं परंतु बहुतसे व्यवहार बंद हो जायगे। शिक्षण, लेखन, व्याख्यान इत्यादि व्यवहारोंकी जरूरत न रहेगी। राष्ट्रकी सर्वांगीण उन्नति तभी होसकती है जब कि भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें भिन्न भिन्न गुण हों। यदि एकही मनुष्य में सकल गुण, सब विद्या, समस्त कला होतीं तो इस सृष्टिमें अनेक मनुष्योंको जन्म लेनेका कोई कारण न था। एकही मनुष्यमें सब प्रकारकी कर्तबगारी रही तो अन्य मनुष्योंकी जरूरत क्या है? कल्पना करें कि जगत् में एकही मनुष्य है वह सर्व गुणोंसे परिपूर्ण हो तब भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसके गुणोंका, विद्याओंका, कलाओंका उप-योग किसके खातर हो? ये सब गुण होते हुए नहीं के बराबर हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि जगत् का चक्र जारी रहनेके लिये अनेकोंमें अनेक गुणों का पृथक् वास्तव्य होना आवश्यक है।

गुणोंके बाबत यह कथन हुआ। इसके सिवाय जो बुद्धि निसर्गतः मनुष्यमें रहती है, वह भी पहिले हीसे परिणत नहीं होती। वह प्रयत्नसे परिणत की जाती है; अन्य इंद्रियोंकी वृद्धि नहीं होती, बुद्धींद्रिय की वृद्धि होती है। यौवनावस्थामें श्रवणेन्द्रिय अथवा दृगिन्द्रियकी शक्ति जैसी व जितनी होती है उतनीही शक्ति (यद्यपि जन्मतः न हो तब भी) बच-पनमें होती है। इन इंद्रियोंपर कोई संस्कार करना नहीं पडते। इसके विपरीत बुद्धीन्द्रियकी वृद्धि शिक्षणादि संस्कारोंके अभाव में हो नहीं सकती और प्रत्येक मनुष्यके बुद्धीन्द्रियकी संस्कारक्षमता मर्यादित होती है। बुद्धीन्द्रिय की शक्ति अगाध होनेको अनेक जन्म प्रयास करना पडते है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते॥

गीता ७।१९

इसका कारण स्पष्ट है। जन्मतः मर्यादित बुद्धि-सामर्थ्य और प्रयत्नोंका न्यूनाधिकत्व इन कारणोंसे मनुष्यों मनुष्योंमें फरक होता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

गीता ७।३

जगत् के प्रारंभसे मानवी बुद्धिकी वृद्धि अवि-श्रांत हो रही है। जगत्का इतिहास प्रायः मानवी बुद्धिकी वृद्धिका इतिहास है। मनुष्यों और पशु-पक्षियों में जो भेद है वह इसी में प्रतीत होता है। सृष्टिके आरंभमें पशु जैसा था वैसा आज भी है। पशुपक्षियोंका इतिहास नहीं है। इसके विपरीत बौद्धिक क्षेत्रमें देखिये कि मनुष्यकी मजल कहांतक गई है। सारांश बुद्धि परिणतिक्षम है। परिणत बुद्धिवाले मनुष्योंको परमेश्वरने निर्माण नहीं किया। समाज में न्यूनाधिक बुद्धिवाले मनुष्य हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी बुद्धिकी मर्यादा जान लेना चाहिये। परंतु अनुभव ठीक इसके विरुद्ध है। अज्ञान जितना अधिक उतनाही अधिक घमंड मनुष्यको अपने बुद्धिसामर्थ्यके विषयमें रहता है। जिनको तत्त्वज्ञान अथवा राजकारण में कुछ भी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

गम्य नहीं वे अपने को बडे तत्त्वज्ञानी व राजकारणी समझते हैं।

सब मनुष्योंकी बुद्धि परिपक्व नहीं होती, और न वह समान दर्जेकी होती। आगे चलकर हम यह कहेंगे कि परमेश्वरने हमें जो बुद्धि दी है उसे निर्मल रखनेकी खबरदारी हम नहीं रखते। यह बुद्धि मनोविकारोंसे अवगुंठित रहती है। लोभ, मोह, मत्सर; द्वेष, प्रेम इत्यादि मनोविकार प्रबल होकर इसे मलीन कर देते हैं। जिस आयनेपर मैल जमा हो वह देखनेके काममें नहीं आता। इसी प्रकार मलिन बुद्धिके कारण सुविचारोंके निर्गमन को प्रतिबंध होता है।

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥
गीता ३।४०॥

बहुतेक लोग अपने मनोविकारोंके आधीन रहते हैं। क्या अंग्रेज लोग यह नहीं समझते कि उनकी राज्यव्यवस्था अन्यायमूलक है? निःसंदेह उनकी बुद्धि इतनी संकुचित नहीं है। परंतु स्वार्थकी बाधा होनेसे उन्हें सुविचार नहीं सूझते। यही मनोविकार सब व्यवहारोंमें विघ्न डालते हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यकी बुद्धि उसके बर्तावके लिये कसोटी हो नहीं सकती। यह बात सच है कि अच्छे या बुरेका निर्णय करनेके लिये एक मात्र साधन मानवी बुद्धि है। परंतु वह ऐरगैर आदमीकी बुद्धि नहीं। जिसने मनोविकारोंको जीत लिया ऐसे संयमी मनुष्यकी ही बुद्धि सदाचार ठहरानेमें समर्थ हो सकती है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्॥
गीता॥ ५।२६॥

ऐसे यतियोंका ही शब्द शिरसावंद्य होता है। सारा संसार मनोविकारोंपर अधिष्ठित रहनेसे दुसरोंको आदर्शपाठ देनेकी पात्रता संसारी मनुष्योंमें नहीं रहती। इस प्रकार बुद्धीन्द्रियका कार्य निर्दोष होनेमें अनेक बाधाएं रहनेसे हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार बर्ताव मत करो, शास्त्रके अनुसार बर्ताव करो।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
गीता १६।२४

शास्त्रमें जो हमारा विहित कर्म कहा है उसे छोड हम यदि भलताही कर्म मनमाना करने लगें, तो कोई पुरुषार्थ हम प्राप्त न कर सकेंगे।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
गीता॥ १६।२३॥

इसलिये मनुष्यको वही कर्म करना चाहिये जो शास्त्रमें बतलाया गया हो।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
गीता १६।२४॥

शास्त्रोक्त कर्म करनेसे अपनी वासनाको, हेतुको अवकाश नहीं मिलता। ऐसे कर्मोंमें अपने मनका संकल्प नहीं रहता। हेतुके अभावमें आत्मवांछित फलकी अभिलाषा कोई नहीं करता। धर्मयुद्ध करना ही क्षत्रियका शास्त्रोक्त कर्तव्य है। अर्जुन क्षत्रिय होनेसे युद्ध करनेका काम उसपर शास्त्रनेंही लाद दिया है, उस कामकी योजना उसके मनसे नहीं हुई। युद्धसे प्राप्त होनेवाला फल जो उसको मिलना है वह आपहीसे मिलेगा। उस फलकी प्राप्तिके उद्देशसे वह युद्ध नहीं करता। इसलिये जिसमें फलका हेतु न हो ऐसा कर्म करनेका उपदेश गीताकार करते हैं।

मा कर्मफलहेतुर्भूः॥ गीता २।४७
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः॥
गीता ६।१
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च॥
गीता १८।६॥

अपना कर्तव्य करते रहनेसे फलकी इच्छा नहीं रहती, इसी लिये भगवानने जो कहा है "न मे कर्मफले स्पृहा" वह युक्त है। समझदार मनुष्यको अपने मन माना, अथवा जैसी वासना उत्पन्न हो तदनुसार, अथवा संकल्प करके कोई कर्म नहीं करना चाहिये।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यस्य सर्वे समारंभाः काम संकल्पवर्जिताः ।
... ... तमाहुः पंडितं बुधाः॥ गीता. ४।१९॥

हमें अमुक फल मिले इस गरजसे कर्म करनेवाले मूर्ख समझना चाहिये ।

कृपणाः फलहेतवः गीता २।४९।

मनसोक्त कर्म- अर्थात् जो कर्म शास्त्रविहित नहीं हैं ऐसा कर्म निष्काम रीतिसे करना अशक्य है। ऐसा नादानी का विधान गीताकार नहीं करते। अर्थात् भगवानने अर्जुनसे यह नहीं कहा कि संकल्प न करके, फलका हेतु मनमें न रखकर शास्त्रके व्यतिरिक्त कर्म करना संभवनीय है। शास्त्रोक्त कर्मके दूसरे नाम गीतामें " कार्य-कर्म, नियत-कर्म, अथवा स्वभावज-कर्म " बतलाए हैं। आर्यतत्त्वज्ञान ऐसा है कि जिसका जैसा स्वभाव हो, उसके अनुरूप वर्णमें मनुष्य जन्म लेता है। क्षत्रियका स्वभावज-कर्म यह है-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च ... ॥ गीता १८।४३

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको कहते हैं कि यदि तू

" शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च "

इस ब्रह्मकर्मका अंगिकार करेगा तो तुझे पाप लगेगा। परंतु नियत कर्म करनेसे कोई दोष न लगेगा-

स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥

केवल इतनाही नहीं किंतु शास्त्रोक्त कर्म करनेही से मनुष्य मुक्तिके पात्र होता है ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

शास्त्रोक्त कर्मोंकी चिकित्सा करनेका अधिकार हमें नहीं है। कोई भी कर्म लीजिये। वह अवश्य दोषयुक्त रहेगा। इसलिये दोषके बहानेसे वर्णोक्त कर्मोंका त्याग करना नहीं चाहिये।

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥

वर्णाश्रमी लोगोंके व्यतिरिक्त समस्त लोग "कामकारतः " आचरण करनेवाले हैं। उन्हें मुक्ति दूर रही, सुखका भी लाभ न होगा ऐसा गीताने दावेके साथ कहा है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
गीता १६।२३

इसको आसुरी बुद्धि कहते हैं क्योंकि ऐसा कर्म दंभ व अहंकारसे प्रेरित रहता है। पाश्चात्योंके सब कर्म इसी नमूने के हैं। इसीलिये आजतक हजारों समाज लुप्तप्राय हुए। शास्त्रकार ऐसे कर्मोंका विचार ही नहीं करते। यह अधम कर्म है। कर्मयोग का पहिला पाठ यह है कि शास्त्रोक्त कर्म करो। ऐसा कर्म बुद्धिको शुद्ध करता है।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

तथापि इन कर्मोंमें एक दोष रहता है। वह यह है कि उनमें पावनत्व रहता है। इसी कारण धर्मनिष्ठ अथवा कर्मठ लोग यह कर्म बडी आसक्ति से करते हैं। परंतु यही आसक्ति उनके मोक्षमार्गमें बाधा डालती है। शास्त्रोक्त कर्मोंके फल हमें मिलें ऐसी उनकी इच्छा रहती है। गीतामें इसे "कर्मज फल" कहा है। इसलिये कर्मयोग का दूसरा पाठ यह है कि कर्मविषयक आसक्ति और कर्मसे प्राप्त होनेवाले फल इन दोनोंसे मुमुक्षु अलिप्त रहे।

एतान्यपि (यज्ञ दान व तप) तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यनीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
गीता १८।६

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
गीता ३।१९

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ॥
गीता ६।४

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥
गीता १८।९

जो कर्म आसक्ति छोडकर किया जाता है वह जन्ममरणके लिये कारणीभूत नहीं होता ।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ गीता ९।९

अनासक्तबुद्धिसे कर्म करनेवाला मुमुक्षु उन कर्मोंकी सिद्धि अथवा असिद्धिके विषयमें बेफिकिर रहता है। इसलिये सिद्धिकी पर्वा न रखकर संग-रहित कर्म करना यही मुमुक्षुका धर्म है। मुमुक्षु के कर्मयोग की यह पहिली सिढ़ी है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ॥

सारांश, शास्त्रोक्त कर्मोंके फलकी भी आकांक्षा मुमुक्षु को रखना न चाहिये। क्योंकि वह मार्ग उन कर्मठोंका है, जिनके अंतःकरण में मोक्षकी वासना उत्पन्न नहीं हुई।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ॥
गीता ४।१२

इस प्रकार अमुमुक्षु और मुमुक्षु के कर्मोंमें जो भेद है उसका गीतामें वर्णन किया है इसके पश्चात् मुक्तोंके कर्मके संबंधमें गीताकार क्या कहते हैं इस का विचार करें। मुक्त होनेहीसे उसका देह नहीं छूटता, और जबतक देह है तबतक कर्म हुए विना न रहेगा।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥
गीता १८।११

प्रथमतः शारीरिक कर्म जारी रहता है, क्योंकि वह वासनानिरपेक्ष रहता है। इसलिये वह मौक्षिक दोष उत्पन्न कर नहीं सकता।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन्
स्वपन् श्वसन्। प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्
उन्मिषन् निमिषन्नपि ॥ लिप्यते न स पापेन...।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

इसके उपरान्त शारीरिक कर्मोंके व्यतिरिक्त दूसरे कर्म यदि मुमुक्षु करे तो वे कर्म के श्रेणीके रहेंगे। मुमुक्षु के कर्ममें और मुक्त के कर्म में हेतु व फल की दृष्टिसे कोई भेद नहीं। मुमुक्षु का कर्म भी बंधनकारक नहीं होता। अभी उसे ज्ञान नहीं हुवा इससे वह अमुक्त स्थितिमें रहता है तथापि मुमुक्षु वर्णधर्मकाही आचरण करता रहता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ॥
गीता ३।१९

मुक्त पुरुष यज्ञार्थ- अर्थात् ईश्वरविषयक-कर्महो करेगा। देशकार्य में और आत्मकार्य में तत्त्वतः भेद नहीं मान सकते। दोनोंकी प्रवृत्ति रजोगुण से होती है। मुक्त पुरुष में रजोगुण रहना न चाहिये। रामदास स्वामीने इसे स्पष्ट किया है-

माझा देश, माझा गांव। माझा वाडा,माझा ठाव।
ऐसी मनीं धरी हांव। तो रजोगुण ॥

(यह मेरा देश है, यह मेरा गांव है, यह मेरी बखरी है, यह मेरा ठिकाना है; इस प्रकारकी हवस (लालच) रखना, यही रजोगुण है।)

इससे स्पष्ट होता है कि मुक्त पुरुष देशकार्य करनेको प्रवृत्त न होगा। मुक्त पुरुष निर्मम और निरहंकार रहता है।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
गीता २।७१

निर्मम अर्थात् जिसका ममत्व नष्ट हुआ है। मुक्त पुरुषका ममत्व निजदेहपर भी नहीं रहता, फिर देशपर ममत्व कहांसे रहेगा ? परंतु मुमुक्षु का ममत्व अपने देहपर अवश्यही रहेगा। अपने शरीरका संरक्षण करना उसका कर्तव्य है, क्योंकि अभी उसे ज्ञान प्राप्त करना है। इसी कारण श्रीकृष्ण को अर्जुनसे कहना पडा कि "तू यदि कर्म न करेगा, तो तेरी शरीरयात्रा नहीं चल सकती।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥
गीता ३।८

और यदि तेरा शरीर गया तो इस जन्ममें तुझे ज्ञानप्राप्तिकी आशा छोड देनी चाहिये। इसी तरह मुमुक्षु को ज्ञानस्पृहा रहती है; ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहता।

तस्य कार्यं न विद्यते ॥ गीता ३।१७

क्रिया का उगम उसके प्रयोजन में रहता है। विना प्रयोजन के कर्म नहीं होता। कर्म को प्रेरणा मनके द्वारा अथवा शास्त्रके द्वारा मिलती है। परंतु ज्ञानीको इन दोनोंमेंसे किसीका आश्रय लेनेका कोई कारण नहीं रहता।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
गीता ३।१८

मुमुक्षु सत्त्वनिष्ठ रहता है, क्योंकि मोक्षज्ञान अथवा आत्मज्ञान सात्त्विक रहता है। परंतु मुक्त पुरुष गुणातीत रहता है। ज्ञानमार्गके लिये जो अनुकूल व इष्ट हो उसीका अवलंब मुमुक्षुको करना पडता है। परंतु ज्ञानसे इष्टानिष्टादि का द्वंद्व का विलय हो जाता है। इसलीये ज्ञानी—

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
गीता १३।९॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
गीता १४।२५॥

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
गीता १३।१०॥

इस स्वरूपका होता है। इनमेंसे कुछ लक्षण मुमुक्षुको, भक्तको तथा ज्ञानीको समान ही लागू हो सकते हैं, इसलिये उनका अधिक विचार यहां नहीं करते। इस दृष्टिसे स्वामी रामदासने जो तीन वर्ग मुमुक्ष, साधक और सिद्ध किये हैं, वे विशेषतया उपयुक्त होंगे। ज्ञान होनेपर कर्म समाप्त होता है।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
गीता ४।३३॥

ज्ञानी अर्थात् स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका वर्णन दूसरे अध्यायमें किया गया है (श्लोक ५५ से ५७ तक) उससे सिद्ध है कि ज्ञानी नित्य आत्मतुष्ट रहता है। आत्मतुष्ट मनुष्य स्वयं कोई कर्म न करेगा।

ज्ञानोत्तर कर्मकी चिकित्सा करना इस लेखका उद्देश नहीं। ज्ञानीको कौनसा कर्म करना चाहिये यह असमंजस प्रश्न गीतामें भी उपस्थित किया नहीं गया। गीतामें प्रमुखतः इसीपर विचार किया गया है कि, नित्यानित्यविवेक जिनमें उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे अज्ञ जनोंको तथा जिनमें यह विवेक उत्पन्न हुवा ऐसे मुमुक्षु जनोंको कौनसा कर्म करना चाहिये। इसका निष्कर्ष ऊपर बतलाया गया है कि अज्ञ जनोंको नियत कर्म करना चाहिये और मुमुक्षुको वही कर्म संगरहित और कर्मज फलकी इच्छा छोडकर करना चाहिये। 'निष्काम कर्म' ऐसेही कर्मको कह सकते हैं। इसीका दूसरा नाम 'प्रवृत्ति' है। संकल्पज कर्मको प्रवृत्ति नहीं कह सकते। कर्म करनेकी समझ पशुपक्षियोंको भी है। वे कुछ ना कुछ कर्म करते ही रहते हैं। तब ऐसा कैसा कह सकते हैं कि असुरोंको कर्म करना मालूम न था? परंतु गीताकार कहते हैं कि असुरोंको प्रवृत्ति भी मालूम नहीं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः॥
गीता १६।७॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस कर्मका पर्यवसान निवृत्तिमें हो उसीको प्रवृत्ति कहना चाहिये। हमें यह भूलना न चाहिये कि शास्त्रोंमें शास्त्रकारोंका भी समावेश होता है। शास्त्रका मतलब केवल स्मृति नहीं है। मनुजीने धर्मके प्रमाण यों बतलाए हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः॥
श्लोक २।१२॥

(१) वेद, (२) स्मृति, (३) सत्पुरुषोंके आचार, (४) अपना प्रेय.

सामान्य मनुष्योंको स्थितप्रज्ञकी इस बुद्धिसे बर्ताव करना चाहिये-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
गीता २।५७

स्थितप्रज्ञ जो कहे वही उनका (सामान्य मनुष्योंका) शास्त्र है। स्वतः स्थितप्रज्ञ को केवल अपनी बुद्धि का आश्रय किये विना गत्यंतर नहीं। अपनी बुद्धिकी प्रेरणाके अनुसार बर्ताव करनेका अधिकार केवल स्थितप्रज्ञको है, अन्य जनोंको नहीं। इस कर्मयोगका अभ्यास, मनन और तदनुसार बर्ताव तरुणोंको करना चाहिये। मनमाना बर्ताव करनेसे राष्ट्रकार्य होगा नहीं, पारतन्त्र्यमें फँसा हुआ पाँव बाहेर नहीं निकलेगा और राष्ट्रका उत्कर्ष न होगा।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

५ गीतामें कर्मयोग का स्थान।

(लेखक—श्री० शंकर गणेश लवाटे, पूना)

'फलासक्ति न रखकर कर्मका अनुष्ठान करना' इसको कर्मयोग कहनेका प्रघात लोकमान्य तिलकसे शुरू होकर अभीतक जारी है। प्रस्तुत उसीका अवलंब करके अपन चलें।

अर्जुनको विश्वरूप बतलाने पर भगवानने यह उपदेश किया कि 'मैं जो विश्वरूप परमेश्वर हूं उस मेरे प्रति—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२।८)

इस श्लोक का अर्थ व स्पष्टीकरण इस तरह है—"मैं जो विश्वरूप हूं उसीमें (मुझमें) अपने चित्त को रखना। अपनी बुद्धिको मुझमें स्थापित करना, इससे मरणोत्तर तुम मेरेही स्थान में स्थित होगे, इसमें कोई संदेह नहीं।"

विचार करनेपर मनकी जो निश्चित वृत्ति होती है उसीको बुद्धि कहते हैं। चराचररूप जो भगवान् उसीमें यह बुद्धि स्थापित करनेको कहा गया है (अन्यत्र नहीं)। अर्थात् उस बुद्धिका यह दृढ निश्चय हो जाना चाहिये कि भगवान् के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। सर्वत्र परमेश्वर भरा हुआ है ऐसी दृढ भावना होनेपर ही यह कहा जा सकता है कि विश्वरूप परमेश्वर में बुद्धि स्थिर हुई। अंतःकरणका एकमात्र विषय नारायण होना चाहिये। जहां देखें वहां ईश्वर यही भाव होजाना चाहिये। वृत्ति तदाकार बन जाना चाहिये।

"पांडुरंग ध्यानीं, पांडुरंग मनीं।
जागृति स्वप्नीं पांडुरंग॥"

(ध्यानमें ईश्वर, मनमें ईश्वर, जागृतिमें ईश्वर, स्वप्नमें ईश्वर) ऐसा जब ध्यान लगे तब वृत्ति तदाकार बनती है और संपूर्ण जगत् विष्णुमय दीखने लगता है। इसीका अर्थ है विश्वरूप परमेश्वर में बुद्धि स्थित होना।

'यत् पश्यति, शृणोति, स्पृशति वा,
सर्वमेव भगवान् वासुदेवः॥'

(जो कुछ दिखता है, सुन पडता है, शरीरको लगता (स्पर्श करता) है, वह सब भगवान् वासुदेव है)। ऐसी जहां दृढ भावना हुई, संपूर्ण आत्मभाव उसको अर्पण किया, वहां सच्चा ईश्वरभक्त हुआ ऐसा श्रीमत् आचार्य कहते हैं। ईश्वरमें ऐसेही मनुष्य की बुद्धि स्थापित हुई कहना चाहिये। इस प्रकार निश्चल चिन्मय बुद्धि जिसकी हुई वह ज्ञानी हुआ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठतं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति॥

भगवान् के इस वाक्यका भी अर्थ यही है कि जिसकी बुद्धि परमेश्वर में स्थिर हुई वह सच्चा ज्ञानी है। "मयि बुद्धिं निवेशय" इस भगवद्वाणी से यही स्थिति संपादन करनेको कहा गया है। सोनेके आभूषण में नामरूपको भूलकर सुनार जैसा केवल सुवर्णदृष्टिसे देखता है, वैसेही ज्ञानी पुरुष अथवा निःसीम भक्त विनाशी नामरूपात्मक विश्वमें परमेश्वररूप को ही अवलोकन करता है। इस प्रकार जब अंतःकरण ईश्वरमय होता है, मैं और तू यह द्वंद्व लुप्त होता है, तब मन व बुद्धिके साथ अहंकार लुप्त होता है जैसे दीपक के साथ उसका तेज नष्ट होता है, अथवा सूर्यके साथ उसका प्रकाश नष्ट होता है अथवा प्राणके साथ उसके इंद्रिय नष्ट होते हैं। इस प्रकार ज्योंही भक्ति अथवा ज्ञान की पूर्णावस्था हुई त्योंही उस पुरुषको ईश्वरस्वरूप

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

में मिल जानेके लिये केवल उस देह के पतनकी अवधि रह जाती है, जो (देह) प्रारब्ध भोगनेको निर्माण हुवा था। इसीलिये प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्धमें कहा है- " अत ऊर्ध्व " अर्थात् मरणोत्तर " निवसिष्यसि मय्येव " तू मेरेही स्वरूपमें वास्तव्य करेगा अर्थात् तद्रूप हो जायगा। इसीका नाम है मोक्षसिद्धि।

ऊपर जो श्लोक उद्धृत किया है उसका अर्थ ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम प्रभृति साक्षात्कारी भक्तोंकी वाणीके साहाय्य से जिस कदर युक्त मालूम हुआ वैसा स्फुट करके बतलाया। परंतु उसमें निवेदित की हुई चित्तवृत्ति जिन्होंने कमाई है ऐसे भाग्यशाली पुरुष आजतक कौन हुए कितने हुए यह कौन जाने! तथापि यह बात सिद्ध है कि यह चित्तवृत्ति साध्य हुए बिना मोक्षप्राप्ति हो नहीं सकती। हमारे आचारविचारोंका, धर्मशास्त्रका, प्रत्येक धार्मिक हलचल का ध्येय केवल मोक्ष है। वही रहना चाहिये और लोकमान्यादि थोर पुरुषों को भी यह बात सर्वथैव मान्य है कि गीताका भी वही ध्येय है। इसलिये परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये कैसी और कितनी ऊंची मजल गांठनी पडती है। (जैसा कि भगवान् ने प्रस्तुत श्लोकमें कहा है।) वह अच्छीतरह ध्यानमें रखना चाहिये। हमसरीखे सामान्य लोगोंकी नजर भी उस उच्च पदतक पहुंच नहीं सकती, किंबहुना हमारी बुद्धि इतनी संकुचित है कि हमें ऐसा भास कभी कभी होता है कि यह अंतःकरणवृत्ति बहुधा काल्पनिक होगी। परंतु भगवान् की वाणी अमोघ है ऐसी अमोघ श्रद्धा हमें रखना चाहिये, तभी हम किसी लायक होंगे। साथ ही हमें याद रखना चाहिये कि मोक्ष संपादन करने के लिये कितना अपूर्व और उच्च मनःस्थैर्य हासिल करना पडता है।

ऊपर लिखे श्लोकमें वर्णन की हुई स्थिति उन्हीं लोकोत्तर सत्पुरुषोंका साध्य है जो भगवान् के अतिनिकट पहुंचे हों। परंतु उस पदवीको पहुंचे बिना परम पद प्राप्त नहीं होता, ऐसा सोचकर वह स्थिति साध्य करनेका उपाय उसीके आगे बतलाया है। भगवान् कहते हैं-

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥
गीता १२।९

इस श्लोकका भाव यह है कि "मैं जो विश्वमूर्ति हूं उस मुझ में अंतःकरण स्थिर, अचल, कायम करने की शक्ति यदि तुझे न हो तो उस मुझे, अर्थात् विश्वाकार सगुण ब्रह्मको, पहुंचनेके लिये तू अभ्यासयोग का आश्रय कर।"

विश्व में अनंत और नानाविध वस्तुएं भरी हैं। उन सबके विषय में एकत्व की भावना करना बहुत कठीन है। 'वासुदेवः सर्वमिति' ऐसी दृष्टि बहुत जन्मोंके प्रयत्न के बाद प्राप्त होती है और ऐसी दृष्टि जिसको मिली ऐसा महात्मा अत्यंत दुर्लभ है। ऐसा श्रीभगवान् कृष्ण गीतामें अन्यत्र कहते हैं। परंतु मोक्षप्राप्ति के लिये वह अवस्था प्राप्त किये विना न चलेगा। उस प्रकार जब चित्त स्थिर होगा तभी मनुष्य 'पक्का भागवत' हो सकेगा। और वह जब पक्का भागवत होगा तभी उसको मोक्षका मार्ग मिलेगा। भगवत्प्राप्ति की अंतिम सिढी अथवा अंतरंगसाधन भगवन्मयता है। इसलिये अनंत विपरित प्रत्ययोंसे भरा हुवा यह जगत् सब झूठा है ऐसी वृत्ति होनेके लिये अभ्यास की जरुरत है। इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि यदि अनंत वस्तुओंमें मनकी एकाग्रता नहीं होती तो आंतर अथवा बाह्य एकही वस्तु में अर्थात् प्रतिमादिक में इस भटकनेवाले मन को स्थापित करनेका प्रयत्न करो। यही अभ्यास कहलाता है। परमेश्वर जैसे सर्वत्र है वैसेही एक वस्तुमें भी है इस लिये जब एक मूर्तिमें चित्त एकाग्र होने लगेगा, और समय पाकर वह अभ्यास जब दृढ होगा, तब वही अभ्यास तुम्हारे चित्तकी एकाग्रता विश्वरूप परमेश्वर में स्थिर करने में समर्थ होगा। ऐसा आश्वासन भगवान् इसी श्लोक में अर्जुन को देते हैं। इस अभ्यास से चित्तैकाग्र्य अर्थात् चित्तकी स्थिरता संपादन करना यही 'अभ्यासयोग' का अर्थ है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विश्वरूप परमेश्वर में चित्तका लय होनेके लिये भगवान् ने यह 'अभ्यासयोग' का मार्ग बतलाया। जिन पुरुषोंका यह साध्य हो वे इसका अवलंब करें। यह सिद्धी जिन्हें दुर्गम हो उन्हें क्या करना चाहिये? जिनका ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ और जो ध्यानाभ्यास भी नहीं कर सकते ऐसे पुरुषों के लिये मार्ग कौनसा है? जिन लोगों की तंद्रा मनःकल्पित अथवा प्रत्यक्ष मूर्ति के विषयमें लगकर एकरूप नहीं होती ऐसे पुरुषों को भगवत्प्राप्ति के लिये कौनसा उपाय करना चाहिये? परम कारुणिक भगवान् ऐसे मनुष्यों की भी उपेक्षा नहीं करते। विश्वरूप परमेश्वरविषयक ऐक्यरूपी ज्ञान जिन्हें अगम्य है, किंबहुना उस ज्ञान की प्राप्ति के हेतु एक वस्तु के अंतर्गत अपनी चित्तवृत्तिको स्थिर करना जिन्हें अशक्य है, अर्थात् इतना भी चित्तसाधनरूपी योग वारंवार प्रयत्न (अभ्यास) करनेपर जिन्हें असाध्य है, जिनका द्वैताभिनिवेश कहीं भी लुप्त नहीं होता, उनके लिये भगवान् कहते हैं कि ज्ञानयोग अथवा ध्यानयोग का आचरण मत करो, अपने जीव को असह्य कष्ट मत दो, इंद्रियोंको मत रोको, भोगों का त्याग मत करो, देहाभिमान मत छोडो, जैसे हो वैसेही रहो; परंतु एक बात करो—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
गीता १२। १०

यदि अभ्यासयोग अथवा योगाभ्यास तुम्हें नहीं बनता, तो जो कर्म तुम्हें करना है वह तुम मेरेलिये करो ईश्वर के लिये कर्म करना तुम अपना मुख्य कर्तव्य समझ। केवल परमेश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करने से भी तुम्हें सिद्धि मिलेगी, अर्थात् तुम ब्रह्मभाव अथवा मोक्षपद को प्राप्त होगे।

अभ्यासयोग जिस श्लोकमें बतलाया है उसीके आगे यह उपदेश भगवान् ने दिया है। अभ्यासयोग जिनके शक्तिके बाहर है उनको हरएक कृत्य ईश्वरप्रीत्यर्थ करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर का स्मरण प्रतिक्षण रखकर सदैव आचरण करना चाहिये। स्वार्थ के हेतुसे अथवा अन्य किसी भी हेतुसे प्रेरित न होकर प्रत्येक कार्य ईश्वरसमर्पण बुद्धिसे करना चाहिये। जैसे हम बेलपत्री, फूल, तुलसी इत्यादि परमेश्वरको चढाते हैं उसी प्रकार जो जो कार्य अहोरात्र हम करते हैं वह सब उसी को समर्पण करना चाहिये। भगवान् स्वयं कहते हैं कि-

"यत्करोषि यदश्नासि...तत्कुरुष्व मदर्पणम्"

ऐसा करने में न तो अहंबुद्धि समूल नष्ट होनेकी आवश्यकता है और न व्यवहार को छोडनेकी आवश्यकता है। राजाका सिपाही जैसे अपना समस्त कर्तव्य केवल राजाके लिये करता है, उसमें उस सिपाहीका न कोई लाभ है और न हानि, उसीतरह हम केवल ईश्वर के बंदे गुलाम हैं ऐसा समझकर हमें प्रत्येक व्यवहार उसीके लिये करना चाहिये। अपना निजी स्वार्थ कुछ न रहे। "अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्" इस श्लोकमें जो योगमार्ग बतलाया है उसमें जैसे बहुभांति विघ्न आनेका संभव है वैसी आपत्तियां ईश्वरसमर्पण मार्गमें बिलकुल नहीं है।

"नाम विठोबाचें घ्यावें, पुढें पाऊल टाकावें।" (ईश्वरका नाम लेना और आगे पैर रखना) इतना मंत्र प्रत्येक कार्य करनेमें ध्यानमें रहे, और कुछ नहीं करना। प्रत्येक धार्मिक कृत्य के अंतमें "तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु" इतने शब्दोंका उच्चारण मात्र हम मुखसे कर लेते हैं। परंतु ये शब्द सचमुचमें त्यागपूर्वक अर्थपूर्ण भावनासे, और जो कुछ किया वह ईश्वरको दिया इस निश्चित बुद्धिसे निकलना चाहिये। विषयोंका उपभोग लेना यही ईश्वरकी पूजा, अपने पैरोंसे कहीं जाना यही ईश्वरकी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) और मुखसे बोलना यही ईश्वरका स्तोत्र, सारांश जो कुछ हम करें वह सब शंकरजीका आराधन है ऐसी बुद्धि जहां स्थिर हुई वहां अगला एकएक मार्ग आसानी से खुला होकर हम परमेश्वर की प्राप्ति कर सकते हैं। हमें अच्छी तरह ध्यानमें रखना चाहिये कि इसप्रकार ईश्वरप्रीणनार्थ किया हुआ जो कर्म उसीका नाम यज्ञ है। इसके अतिरिक्त यज्ञ शब्दका कोई दूसरा मतलब

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नहीं है। यज्ञ शब्दमें यज् धातुका अर्थ है पूजा करना। ऐसा नित्य यज्ञ करते रहनेसे सत्वशुद्धि होती है। तथापि ईश्वरसमर्पित कर्माचरणसे अंतःकरण शुद्धि होते ही परमेश्वर अर्थात् मोक्ष हमारे हस्तगत होगया ऐसा ख्याल करना न चाहिये। ऐसा समझना बिलकुल गलत है। सत्वशुद्धि होनेसे मन का मोह याने मल नष्ट होता है, और मल जानेसे वैराग्य उत्पन्न होता है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्यच ॥
गीता २। ५२॥

इस श्लोक में यह बात भगवान् ने स्पष्टतया बतलाई है, इसपर दुर्लक्ष्य न हो। इसीप्रकार यह भी निराबाध सिद्ध है कि सत्वशुद्धि होकर वैराग्य प्राप्त किये विना ज्ञानोत्पत्ति हो नहीं सकती। ज्ञान परिपक्व होनेको अभ्यासयोगकी आवश्यकता है। "अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय" इस श्लोक से यह स्पष्ट होती है। यह अभ्यास परिपूर्ण होकर—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

ऐसी ब्रह्मात्मैक्यबुद्धि निश्चल होनेसे ज्ञानपरिपाक होजाता है। समस्त क्रियाएं प्रकृतिज गुणोंके द्वारा होती हैं; ब्रह्म अर्थात् आत्मा केवल अक्रिय है। वह किसी भी क्रिया का न तो कर्ता है और न कर्म है। वह आत्मा मैं हूं, मैं अकर्ता हूं, मैं कुछ नहीं करता, ऐसी जो निश्चित बुद्धि वही सर्वकर्मसंन्यास है। सर्वकर्मसंन्यास कोई निराला विधि नहीं है। इस संबंधमें "कर्म छोडना" ऐसी भाषा लागू नहीं होती। सर्वकर्मसंन्यासीका मन, बुद्धि व इंद्रिय अपने अपने काम भलीभांति करते रहेंगे, सर्वकर्मसंन्यास से उनका कोई सरोकार नहीं। निष्क्रिय आत्मस्वरूप से रहना यही सर्वकर्मसंन्यास का स्वरूप है। ऐसे सर्वकर्मसंन्यास को ही नैष्कर्म्य कहते हैं। इसीको ज्ञानयोगनिष्ठा कहते हैं। इसीका दूसरा नाम ज्ञानपरिपाक है। यही अवस्था मोक्षका अंतरंग साधन है। और इसीका प्रतिपादन "मय्येव मन आधत्स्व" इस श्लोक में किया गया है।

इस विवेचनसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि बारहवे अध्याय के तीन श्लोक (८,९,१०) कार्यकारणभावसे निगडित हैं। नीचेका हरएक श्लोक ऊपरके श्लोकका कारण है; अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म करके अंतःकरण निर्मल और वैराग्ययुक्त होकर ज्ञानोत्पत्ति होनेपर भी उस सिढी से परमात्माको पहुंचनेके लिये अभ्यासयोग और सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा ऐसी दो ऊपरकी सिढीयां चढनाही पडेंगी।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

इस श्लोक में स्वयं भगवान् कहते हैं कि कर्माचरण योगका साधन है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अभ्यास-योग ज्ञाननिष्ठाका साधन है। और सब के मतसे यह सिद्ध है कि "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्"। इसतरह यह सिद्ध हुवा कि परमेश्वर को पहुंचनेकी सबसे ऊंची सिढ्ढी ज्ञाननिष्ठा, उससे कनिष्ठ अभ्यासयोग और उससे निकृष्ट ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्मयोग। साधक एक एक सिढ्ढी चढकर अंतमें मोक्षका अधिकारी होगा।

इन तीनों सिढ्ढीयों में ईश्वरार्थ कर्माचरण ब्रह्मप्राप्तिके लिये सबसे नीचेकी सिढ्ढी है। इसके लिये सबूत आखिरी (१० वें) श्लोकमें मिलता है। प्रार्थना है कि उस पर तत्त्वजिज्ञासु ध्यान देवें। "मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि" इस चरणमें "अपि" शब्द का स्वारस्य ध्यानमें रहे। ज्ञाननिष्ठा और अभ्यासयोग ऐसे दो उपाय बतलानेपर भगवान् कहते हैं कि मेरे लिये कर्म करनेसे भी तुम्हें मोक्षकी प्राप्ति होगी। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि पहिले दो उपायोंकी अपेक्षा यह तीसरा मार्ग कनिष्ठ है। "अपिरिहावधिसूचनार्थ' ऐसा आनंदगिरीने भी कहा है।

परंतु ईश्वरके आराधनार्थ कर्म करनेकी पदवी प्राप्त करने को अर्जुनकी तैयारी न हो तो उसके नीचेकी पदवीपर स्थित होने को भगवान् कहते हैं।

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥
गी० १२।११

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ईश्वरार्थ कर्माचरणरूपी तीसरी श्रेणीका मार्ग भी यदि तुम्हें दुस्तर हो तो मदेकशरणताका आश्रय करके, अर्थात् अंतमें मुझे मिलना है यह ध्यानमें रखकर मनका निग्रह करके तुम समस्त कर्मोंके फलका त्याग करो, अर्थात् निष्काम कर्मयोगका आचरण करो।

बाह्य विषय चित्तको आकर्षित कर लेते हैं इस कारण ईश्वरके निमित्त कर्माचरण करनेकी जिन्हें ताकत न हो उनके लिये भगवानने इस श्लोकमें मार्ग बतलाया है; इतनी बात स्पष्ट है। इस मार्गमें भी, जो जो कर्म हम करते हैं वह ईश्वरसमर्पित न होता हो तथापि ईश्वरको शरण जाने तथा अपने मनको स्वाधीन रखनेका उपदेश भगवान्ने किया है। ऐसा करनेमें भगवान्का यह उद्देश स्पष्ट दीखता है कि विषयोन्मुख मनुष्य यदि ईश्वरपर श्रद्धा रखेगा, मनको अपने स्वाधीन रखेगा और कर्मफलकी फिकर न रखेगा, तो समय पाकर वह मनुष्य भी सर्वथा ईश्वरप्रवण हो; और जहां वह ईश्वरप्रवण होकर उसके समस्त कर्म ईश्वरार्पण होने लगें, वहीं से वह मोक्षमार्गमें रुजू हो जाय।

मोक्षमार्गका प्रारंभ ईश्वरार्पित कर्मसे होता है। जबतक विषयोंकी ओर दृष्टि रहती है तबतक ईश्वर नहीं दिखता। ईश्वरार्थ होनेवाले कर्मोंके व्यातिरिक्त सब कर्म बंधनकारक हैं। वे मोक्षके उपयोगी नहीं हैं। ऊपर जो चार श्लोक विवेचनार्थ उद्धृत किये हैं उनमेंसे पहिले तीन श्लोकोंके अंतमें कहा है कि मोक्षसिद्धि होगी; परंतु चौथे श्लोकमें, जिसमें कहा है, भगवान् यह नहीं कहते कि इससे मोक्षप्राप्ति होगी। निष्काम अर्थात् फलासक्तिविरहित कर्म जब ईश्वरार्थ हो तभी वह मोक्षावह होगा; तब तक वह व्यर्थ है, ऐसा गीताका सिद्धान्त है। ऐसा समझा जाता है कि निष्काम कर्म और ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म दोनों एकही हैं; परंतु यह गलत है। ध्यान रहे कि इनका विवेचन दो पृथक श्लोकमें अलग अलग किया है। निर्हेतुक कर्म केवल ईश्वरकर्मकी पूर्व तय्यारी है;उसकी कीमत तभी है जब उसका ईश्वरप्रीणनार्थ संक्रमण होगा। केवल निष्काम कर्म, अर्थात् फलासक्तिविरहित कर्म, जीवका उद्धार कभी नहीं कर सकता। हम समझते हैं कि इस संपूर्ण विवेचनसे कोई भी समझ लेगा कि गीतामें "कर्मयोग" का स्थान कौनसा है।

यह सब ठीक हुआ, तथापि इसपर यह सवाल आता है कि गीतामें निष्काम कर्मयोग सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है; मोक्षको पहुंचानेवाले कर्ममार्गही श्रेष्ठ है ऐसा जगह जगह बतलाया है, इसका परिहार कैसे हो? हमारी समझमें उसका उत्तर देनेको हम मजबूर नहीं हैं। जबतक गीतामें वे चार श्लोक उपस्थित हैं जिनका विवेचन ऊपर किया गया है, और जिनमें निष्काम कर्मपर अधिष्ठित (१) ईश्वरार्थ कर्म (२) अभ्यासयोग व (३) ज्ञाननिष्ठा ऐसी मोक्षमार्गकी एकसे एक ऊंची सिढ़ियां निःसंदेह रीतिसे बतलाई गई हैं, तबतक हमें दूसरी ओर देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। उक्त चार श्लोकोंका अर्थ जबतक निराबाध सिद्ध है और जबतक इस अर्थको कोई बदल नहीं सकता, तबतक हम यही कहेंगे कि ज्ञानमार्गकी अपेक्षा कर्ममार्गकी श्रेष्ठता दर्शानेवाले जितने गीतावचन हमें बतलायें जाँय, या तो सब वचन अर्थवादात्मक होना चाहिये अथवा उनका अर्थ वैसा न होना चाहिये जैसा कर्ममार्गी बतलाते हैं। जबतक उक्त चार श्लोकोंका अर्थ बदल नहीं सकता, अथवा जबतक यह न कहा जाय कि ईश्वरने परस्परविरुद्ध वचन कहे हैं, तबतक समस्त अन्य वचनोंकी राह वही होगी जो हम ऊपर कह चुके हैं। जबतक ये चार श्लोक उक्त अर्थसे अचल हैं तबतक यह कहनेमें कोई डर नहीं कि अन्य सब वचन अर्थवादात्मक हैं अथवा भलतेही अर्थसे उनका ग्रहण किया गया है। यह सिद्ध करनेका बोझा किसी प्रकार हमपर नहीं है।

तथापि, यह भी देखलिया जाय कि ज्ञानमार्गकी अपेक्षा कर्ममार्गकी श्रेष्ठता सूचित करनेवाले कौनसे वचन बतलाये जाते हैं और उनकी ताकत कसौटी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पर कहांतक उतरती है। इससे वह भी खुटका न रहेगा।

गीतारहस्यमें कहा गया है कि गीतामें संन्यास-मार्गसे कर्ममार्गको श्रेष्ठ कहनेवाले वचन ये हैं-

(१) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ २।४७

(२) बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥२।५०

(३) यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ३।७

(४) नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥ ३।५

(५) एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ ४।१५

(६) तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४।४२

(७) संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ ५।२

(८) तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि
मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।६।४६

(९) तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ८।७

(१०)श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् १२।११

(११)एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानिति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥१८।६

(१२) नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्यपरित्यागस्तामसः परिकीर्तितः। १८।७

ऐसे बारा वचन हमें उक्त पुस्तकमें (गीतारहस्य में) मिले हैं, वेही हमने यहां उद्धृत किये हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि इन्हें ध्यानपूर्वक देखें।

इन बारा श्लोकोंमेंसे नंबर (२) (५) (६) (९) व (११) इन पांच श्लोकोंमें हमें कहीं नजर नहीं आता कि संन्यासमार्गकी अपेक्षा कर्मयोगका महत्त्व कहां बतलाया है। यदि कोई महाशय देख सकते हों तो देख लेवें। यह स्पष्ट है कि इन श्लोकोंमें अर्जुनको कर्म करनेका आग्रह किया गया है; परंत क्या इन श्लोकोंमें कहीं संन्यास का नाम अथवा गंध भी है? मैं कर्ता, मैं हंता ऐसी भावना अर्जुनकी कायम थी; और जिसकी यह भावना है उसको विहित कर्म करनाही चाहिये ऐसा कहनेमें कर्मयोगी कहलाने-वालोंका जितना आग्रह है उसके दसगुने आग्रहसे यही बात कहनेको संन्यासवादी हमेशा तत्पर रहते हैं। यह बात संन्यासमार्ग के उपपादन में समाविष्ट है। इसे भूलना न चाहिये। उनपर इन वचनोंकी भरमार करना पागलोंका लक्षण है। यह बतलाना कि लोकमान्य तिलकने यह पागलपन कैसे किया हमारी शक्तिके बाहर है।

इसके उपरान्त श्लोक नंबर (१) (४) (१२) पर विचार करें। इनमें कहा है कि विहित कर्म करो, उन्हें छोडकर सब हलचल बंद करके सुस्तीसे पडे रहना गर्ह्य है। परंतु इसे कौन मंजूर नहीं करता? आज दिनतक संन्यासवादी अट्टहाससे कहते आए हैं कि जिसको देहात्मबुद्धि हैं (यह बुद्धि प्रायः हम सबको है) उसे कर्म छोडना उचित नहीं। तब ऐसे आक्षेप क्यों हों? क्या बात ऐसी है कि जिन वाक्योंका उच्चार भी किसीने किया न हो। उसके मत्थे वही वाक्य मढे विना अपना पक्ष सुसज्जित नहीं होता? अस्तु, ध्यान रहे कि इन श्लोकोंके अंतर्गत उपदेश आत्मज्ञोंके लिये नहीं है। क्योंकि (इनमें जिनका उल्लेख किया गया है ऐसे) नियत-कर्म आत्मज्ञोंके लिये नहीं हैं। यह बात संन्यास-वादी को ही नहीं किंतु लोकमान्य आदि को भी सम्मत है।

इसके उपरांत श्लोक नं. ३ की जांच करें। इसमें कहा है कि कर्मयोगका आचरण करनेवाला (वि-शिष्यते) अधिक है। लोकमान्यने 'विशिष्यते' का भाषांतर 'उसकी योग्यता विशेष है' ऐसा किया है, उसीको लेकर चलें। यह सच है कि यहां कर्म-योग श्रेष्ठ बतलाया गया है; परंतु किससे? लोक-मान्य का प्रतिपादन है कि वह संन्यासमार्गसे श्रेष्ठ है, लेकिन इस प्रतिपादन में सत्य कितना है? इसके पिछला श्लोक लीजिये—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

THE

Vedic Magazine

is the most powerful English journal of publicity which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas.

The journal circulates among the whole of English speaking population throughout India and abroad.

The journal was started in 1885 and has a record of religious service for over 40 years.

SUBSCRIPTION
Rs. 5 in India
Rs. 6 abroad

Advertisement Rates–
Rs. 5 full page per insertion.
Rs. 50 " " per annum.
Manager,

The VEDIC MAGAZINE,
GURUKULA KANGRI (Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखनेलायक है। नमूनेका अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर–व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

R.N.B. 1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन ,,	॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ "	।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सव	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७ " १०७]	११	१०७६	६	१)

कुल मूल्य. ५८।) कुल डा. व्य. १०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि०सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्म

वर्ष १३.

अंक ११

क्रमांक १५५

कार्तिक

संवत १९८९

नवंबर

सन १९३२

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

आप संस्कृत सीखना चाहते हैं ?

तो आप "संस्कृत-पाठ-माला" के २४ भाग मंगवाइये और प्रतिदिन आधा घंटा पढकर एक वर्षमें महाभारत समझनेकी योग्यता प्राप्त कीजिये। २४ भागोंका मूल्य ६॥।); १२ भागोंका मूल्य ४); ६ भागोंका मूल्य २।); ३ भागोंका मूल्य १।); और एक भागका मू०॥) है। वी० पी० द्वारा।) अधिक मूल्य होगा। —मंत्री, स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५॥)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयसूची

१	एक अद्वितीय ईश्वर ।	८९
२	मांसभक्षणकी अधार्मिक प्रथा ।	९०
३	श्रीमद्भगवद्गीता ।	४०१
४	अथर्ववेदका स्वाध्याय । (कां. १४)	१
५	श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला ।	४१

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१ । २ । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । ९ ये नौ कांड तैयार हैं । प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा.)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है । प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है । अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है । इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लियें जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं । इतना होनेपर भी मूल्य केवल१) है और डा-व्य, -) जिल्द अच्छी बनाई है ।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की श्लोकार्धसूची ।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धों की अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है । इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है । भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते । परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है । इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपने पास रखें । मूल्य केवल ।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक ११
क्रमांक
१५५

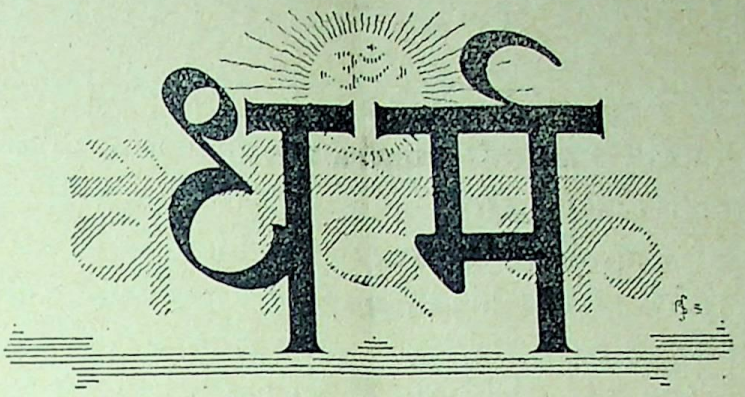

कार्तिक
संवत् १९८९
नवंबर
सन १९३२

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

एक अद्वितीय ईश्वर।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥४४॥

ऋग्वेद १०।८१।३

"(विश्वतः चक्षुः) जिसके नेत्र सर्वत्र हैं, (उत विश्वतः मुखः) और जिसके मुख सर्वत्र हैं, (विश्वतः बाहुः उत विश्वतः पात्) जिसके बाहु और पांव सर्वत्र हैं, वह सर्व-व्यापक देव (बाहुभ्यां पतत्रैः सं धमति) बाहु और पावोंसे सब जगत् को गतिमान् करता है, यह (द्यावाभूमी जनयन् देवः) द्युलोक और भूलोक को निर्माण करनेवाला देव केवल (एकः) एक ही है।"

परमेश्वर एक ही है,वह दूसरेकी सहायता के विना स्वयं अपनी शक्तिसेहि सर्वत्र रहा है। वही ईश्वर द्युलोक की रचना करता है, और वही अपनी शक्तिस सब जगत् को घुमा रहा है। तथा वह अपनी शक्ति से सर्वत्र उपस्थित होकर, नेत्र,मुख हस्त,पाद आदि इंद्रियोंके सब कार्य कर रहा है। ऐसा सर्वसमर्थ वह प्रभु इस जगत् में सर्वत्र उपस्थित है। वही सब का कर्ता, धर्ता और हर्ता है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मांसभक्षणकी अधार्मिक प्रथा।

श्रीयुत पंडित साहित्याचार्य महेन्द्र मिश्रजी, "मग" उपनामधारी, छतहार, तारापुर, भागलपुर, निवासी वेद के बडे विद्वान्, हिंदीके सुप्रसिद्ध लेखक और शास्त्रोंके प्रख्यात पण्डित हैं। आपके दो लेख 'गंगाके वेदांक' में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से एक लेख 'ऋग्वेदकी कुछ उल्लेखनीय बातें' इस शीर्षक का विशेष मननीय है। इस लेखमें दर्शाया गया है कि- "आर्योंके भोजन में मांस शामिल था। घोडा, गाय, बैल, सूअर, सांड, भेंडा, भैंसा और बकरा आदिका मांस उनका प्रिय भोजन था।"

इस विधान की पुष्टिके लिये आपने कई वेदमंत्र पेश किय हैं और अपने आपका बचाव करने के लिये प्रारंभमें हि लिखा है कि, "सनातन धर्मियोंके प्रधान आचार्य सायणके ऋग्वेद भाष्य के साथ साथ ऋग्वेदसंहिताका मन्थन करनेपर मुझे जो बातें मालूम हुई हैं, उन्हें लिखता हूँ। उद्धृत मंत्रोंपर सायण भाष्य देखकर पाठक अपना कौतूहल दूर करें। मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं लिखता-केवल सायणभाष्यका सारांश दे रहा हूं।"

हमें इस लेखको पढनेसे मांसभक्षणकी प्रथाके विषयमें कोई कौतूहल नहीं हुआ, परंतु इस बात का कौतूहल अवश्य हुआ कि, ऋग्वेद जैसे ऋषियोंको परमानन्दसे मुग्ध करनेवाले प्राचीनतम धर्मपुस्तकका मन्थन करनेका संकल्प हो, मन्थनकर्ता साहित्याचार्यजी जैसे बडे विद्वान् हों, मन्थनदण्डके स्थानपर सायणभाष्य हो और उससे कोई ज्ञानामृत न निकलते हुए केवल कुछ पशुओंका मांसहि मन्थनकर्ताके सन्मुख उपस्थित हो! यह घटना बडी विचित्र है!! विषय का शीर्षक "ऋग्वेद की कुछ उल्लेखनीय बातें" है। सब ऋग्वेदमें से जो उल्लेखनीय बातें पं० महेन्द्र मिश्रजी के मतसे हैं वे केवल 'कई पशुओं के मांस' हि हैं।

हम जिस समय उपनिषद पढते हैं, तब हमें पता लगता है उपनिषद् सिद्धान्त स्थिर करनेवाले ऋषिसंघ अपने सिद्धांन्त को परिपुष्ट करने के लिये वदके मंत्र पेश करते हैं और मानते हैं कि हमने जो ब्रह्मविद्याका सिद्धान्त निश्चित किया वह वेदमंत्रसे भी परिपुष्ट हुआ है। प्रायः अनेक उपनिषदोंमें

तदेतदृचाभ्युक्तम्।

ऐसा कहकर वेदका हवाला दिया है। उपनिषद् ग्रंथ ब्रह्मविद्याका भण्डार है और यदि वे अपने सिद्धान्तकी पुष्टि वेदमंत्रसे कर रहे हैं, तो हम मान सकते हैं ऋग्वेदमें ब्रह्मसिद्धान्तप्रतिपादक कुछ मंत्र अवश्य होंगे, क्योंकि हम पं० महेद्र मिश्रजीकी अपेक्षा उपनिषद् प्रणेता ऋषियोंको कम माननीय नहीं मान सकते। परंतु साहित्याचार्यजीने जो मन्थन किया उसमें उनको कोई ब्रह्मसिद्धान्तप्रतिपादक मंत्र मिला नहीं!!

अग्निसूक्तोंमें साहित्याचार्यजीको कोई उच्च ब्राह्मणका आदर्श मिला नहीं, इन्द्रसूक्तोंमें उच्च क्षत्रिय आदर्श नहीं प्राप्त हुआ, अश्विनी सूक्तोंमें कोई वैद्यविद्या तथा शस्त्रविद्या (सर्जरी) के विषयमें कुछभी उल्लेखनीय बातें उनको न मिलीं, न नासदीय जैसे अद्भुत सूक्तोंमें कोई उल्लेखनीय ब्रह्मसिद्धान्त उनको न मिला, नगररचना की बातें और उनको भी छोडा जाय तो लोहेके बने सुंदर कीले जो वेदमें हैं वे भी अद्भुत विद्या करके उनके सामने उपस्थित न हुए, राज्यविद्याकी बातें तो जाने दीजिये, परंतु ऋग्वेदमें स्वराज्यस्थापना की जो जो विशेष उल्लेखनीय बातें हैं और स्वराज्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शब्दप्रयोग भी विशेष अर्थ से ऋग्वेदमें हुआ है, परंतु ये सब बातें साहित्याचार्यजी की दृष्टिसे उल्लेखनीय नहीं हैं, और 'गंगा' जैसे हिंदी साहित्यके अत्यंत उत्तम मासिक के विशेष महत्त्वपूर्ण 'वेदांक' में उल्लेखनीय करके जो बातें पं० महेन्द्र-मिश्रजी की दृष्टिसे हैं वे केवल "सूअर बैल आदि पशुओंके मांस हैं!!"

हमारी दृष्टिसे उल्लेखनीय बातें वह हो सकती हैं कि जिनका उल्लेख न किया जाय तो पाठकोंकी हानि होगी, पाठकोंका ज्ञान त्रुटित रहेगा। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि कोई बडा महात्मा पूर्ण पुरुष किसी स्थानपर है उसके अन्तःकरण आत्मा बुद्धि में तो ब्रह्मज्ञान है, मनमें सद्विचार हैं, इंद्रियोंमें तेज है, शरीर शुद्ध है तथापि उसमें चर्म, अस्थि, रक्त, मांस, मूत्र तथा विष्ठा भी है। इस महात्मा का दर्शन करने के लिये कोई साधक गया तो वस्तुतः उसको उचित है कि उस महात्मासे वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे और उसे अपने में स्थिर करे, कमसे कम शरीरशुद्धि का ज्ञान तो प्राप्त करे। इन सब का त्याग करके यदि कोई दर्शक केवल 'विष्ठामूत्र' ही प्राप्त करके बाहर आवे, तो उसके विषयमें हम क्या कहेंगे, उसका वर्णन करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं।

क्षणभर के लिये 'दुर्जन-तोष-न्यायसे' हम मानते हैं कि जो सूअर आदिके मांसभक्षण-विषयक प्रमाण दिये गये हैं वे सत्य होंगे, परंतु क्या ऋग्वेद जैसे धर्म पुस्तकमें उल्लेखनीय बातें' येही हैं? संभवतः 'उल्लेखनीय' शब्द का अर्थ हम समझते नहीं होंगे, क्यों कि हम 'साहित्याचार्य' नहीं हैं। ऋग्वेद में जितना उल्लेखनीय बातें होंगी, उतनी सब की सब कहने के लिये पं० साहित्याचार्यजी के पास समय नहीं होगा और 'गंगा' में स्थान भी नहीं होगा। अतः जब कोई विद्वान् 'कुछ उल्लेखनीय बातें' अर्थात् 'थोडीसी उल्लेखनीय बातें' कहनेका यत्न करेगा, तो सबसे प्रथम उसको 'सुअर के मांस का उल्लेख' करना आवश्यक होगा, इसी लिये आपने अपने लेख में इसी को सबसे प्रथम स्थान दिया है!!

धन्य है यह मन्थन और धन्य है यह उल्लेखनीय ज्ञान! परंतु यह उल्लेखनीय ज्ञान जितना लेखक के पासही गुप्त रहे, उतनाही अच्छा है, क्यों कि यही उनकी दृष्टिसे 'गुह्याद्गुह्यतरं महत्' है। परंतु यह अब प्रकाशित हुआ है, अतः इसकी कुछ समालोचना करना अत्यंत आवश्यक है। देखेंगे कि कहांतक आर्योंके भोजन में मांस शामील था। बैल के मांस का भोजन करनेके विषयमें ये मंत्र पेश हुए हैं—

वृषाकपायि रवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१३॥
उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १४॥ ऋग्वेद १०।८६

"हे (रेवति) धनवाली, (सुपुत्रे सुस्नुषे) उत्तम पुत्रोंवाली और उत्तम स्नुषावाली (वृषाकपायि) इन्द्राणि! (प्रियं काचित्करं हविः) प्रिय और सुखकर हवि तयार कर। (ते इन्द्रः उक्षणः घसत) तेरा इन्द्र उक्षाओंको भक्षण करे, क्यों कि इन्द्र सब विश्वसे श्रेष्ठ है॥ (मे) मुझ इन्द्र के लिये (हि उक्षणः पंचदश) पंदरह उक्षा तथा (साकं विंशतिं पचन्ति) साथ साथ बासको पकाते हैं। (उत अहं अस्मि पीवः) इससे मैं पुष्ट हूं (मे उभा कुक्षी पृणन्ति) मेरी दोनों कुक्षियां पूर्ण हुई हैं क्योंकि मैं (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) इन्द्र सब विश्वसे श्रेष्ठ हूं।"

यदि ये दोही मंत्र किसी विद्वान् के सन्मुख रख, और उससे कहा कि इनमेंसे कुछ उल्लेखनीय बातें कहो तो वह कहेगा कि—

(१) (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) = संपूर्ण विश्वसे प्रभु अधिक श्रेष्ठ है, इन्द्र की शक्ति विश्वकी अपेक्षा अधिक है।

(२) स्त्री (सु-पुत्रा) सुसंतान उत्पन्न करे, अथवा अपनी सन्तान सुशिक्षाद्वारा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुयोग्य बनावे,

(३) स्त्रीको उचित है कि वह अपनी (सु-स्नुषा) बहुको सुशिक्षा द्वारा सुयोग्य बनावे,

(४) (रे-वती) स्त्री अपने घरकी धनसंपत्ति सुव्यवस्थित रखे, अपनी संपत्ति सुरक्षित रखे,

(५) (वृषा-क-पायि) स्त्री अपने (वृषा) पतिको (क) सुख देवे, अपने पतिको जिससे सुख होता है, स्त्री उस उपाय का अवलंबन करे, तथा

(६) (प्रियं काचित्करं हविः) दैनिक हवन के लिये ऐसा हवि तैयार रखे कि जो प्रिय और सुख बढानेवाला हो।

इत्यादि बोध विशेष मननीय और गृहस्थियों को लाभदायक हैं,इसलिये ये बातें विशेष रीतिसे उल्लेखनीय हैं, ऐसा कोई कह सकता है, परंतु हमारे साहित्याचार्य कहते हैं कि, इन मंत्रों में यदि कोई उल्लेखनीय बात है, तो केवल 'इन्द्र बैलका मांस खाता है' यही है। शेष बातें उल्लेखनीय नहीं हैं !! अस्तु वैसाही सही, परंतु इस में भी हम पूछ सकते हैं कि, इनमें आपका अर्थ स्वीकारनेपरभी 'आर्य बैलका मांस खाते थे' इस विधानकी पुष्टी किस तरह होगी? यहां किसी आर्यके बैलका मांस खानेका उल्लेख नहीं है, यहां तो केवल इन्द्रके बैलका मांस खानेका उल्लेख है और चूंकी आपने स्पष्ट लिखा है कि, यह विवेचन ऐतिहासिक दृष्टिसे किया गया है, अतः हम कह सकते हैं कि, ऐतिहासिक दृष्टिसे 'इन्द्र' वीर 'देवजाति' का था, 'आर्यजाति' का नहीं। यदि वैदिक कालका निरीक्षण कोई इतिहास की दृष्टि से करेगा, तो उसको मानना पडेगा कि, त्रिविष्टप् (तिब्बत) में 'देवजाति,' आर्यावर्त में 'आर्यजाति,' अफगानिस्थान (अहि-गण-स्थान) में 'अहि' अथवा 'सर्पजाति,' भूतानके भाग में 'भूतजाति,' हिमालयपर 'गंधर्वजाति,' पश्चिम कश्मीर के भागों में 'पिशाच जाति,' भारत के दक्षिण और पश्चिम में 'राक्षस और असुर जातियां' थीं। इन जातियोंके व्यवहार परस्पर विभिन्न थे।

दुर्जनतोषन्यायसे क्षणभर यह मान लिया जाय कि, उक्त मंत्रोंमें इन्द्रके मांसभक्षण का विधान है, तोभी इससे आर्य जातीके भोजन का पता नहीं लग सकता; क्योंकि इन्द्र देवजातिका मुखिया था आर्य जातिका नहीं। और इन्द्रके भोजनका पता लगनेपर भी संपूर्ण देवजातिके भोजन का भी पता नहीं लग सकता, क्यों कि देवोंमें अनेक-कमसे कम ३३ जातियां तो थीं, और वे देव परस्परके घरमें भी नहीं जाते थे और न परस्परके घरमें भोजन खाते पीते थे। देखिये—

न वै देवाऽन्योन्यस्य गृहे वसन्ति। ऐ०ब्रा०५।९

देवजातिमें इस तरह का जातिभेद था, और इस कारण इस ऋग्वेदके ब्राह्मणमें कहा है कि, 'वे परस्परके घरको भी नहीं जाते थे,' फिर दूसरेके घरका भोजन करना तो दूर रहा। ऐसी अवस्थामें एक इन्द्रके भोजन का पता लगनेपर दूसरे देवजातिके लोक क्या खाते पीते थे, इसका पता लगाना असंभव है। अतः इससे देवजातिके भोजन के विषयमें साकल्यसे कहना भी असंभव है। इन्द्र क्षत्रदेव है अतः इसका भोजन वृषभमांस है, ऐसा माननेपरभी बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति आदि ब्रह्मदेव क्या खाते थे, इसका निश्चय करनेके लिये स्वतंत्र प्रमाण उद्धृत करने चाहिये।

यह लिखने का तात्पर्य यह है कि, इन्द्र का भोजन निश्चित होनेपर भी देवजातिका भोजन फलाना था, ऐसा कहनेका साहस कोई कर नहीं सकता; परंतु हमारे पं०महेन्द्र मिश्रजीका साहस ऐसा है कि, उनके पास देवजातिके एक वीरके भोजनका वचन मिलते ही, उन्होंने उस वचनसे 'संपूर्ण आर्यजातिके भोजनका सिद्धान्त' निश्चित किया !!! ऐतिहासिक दृष्टि ऐसी विलक्षण है कि, वे मुसलमीन बादशहाओंके भोजन के प्रमाणसे हिंदुओं के भोजन का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं !! परमेश्वर करे और ऐसी दृष्टि दूसरे किसी मनुष्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

को प्राप्त न हो।

इतिहासकी दृष्टिसे निरीक्षण करनेवाले कहते हैं कि, देवजाति त्रिविष्टपमें रहती थी और वहां से इन्द्रादि वीर आर्यावर्तादि भूभागोंपर अपना साम्राज्य करते थे। यह बात हम आज भी देख सकते हैं। अंग्रेजोंका साम्राज्य भारतवर्ष पर इस समय है, भारतवासी राजा महाराजा अपने हित-साधन के लिये सम्राट्के प्रतिनिधिभूत लाट साहेब आदिकों को निमंत्रण देते हैं, उनको खाना भी देते हैं, और उस खाने में कई प्रकारके मांस भी होते हैं, वे मांस स्वयं वे राजा महाराजा खाते नहीं, परंतु लाट साहेबोंको खिलाते हैं। यदि इस आज की घटतासे कोई कहे कि, चूंकि बडे लाट के भोजन के लिये इस मांस का उपयोग किया गया, इस लिये हिंदूजाति इस मांस को खाती थी। तो क्या यह ऐतिहासिक दृष्टि सच्ची कही जायगी? छोटी श्रेणीका विद्यार्थी भी कह सकता है कि, यह अनुमान अशुद्ध है। आजके अंग्रेजी सम्राट् के प्रतिनिधि यहां आकर अथवा अपने देशमें जो भोजन करते हैं, वैसा भोजन भारत-वासी लोक करते नहीं। भारतवासियों का भोजन और ही है और भारतमें तो शाकाहारको हि श्रेष्ठ स्थान मिला है। आज कल कई भारतवासी यूरोपीयनोंकी संगत में आने से मांसभोजी होनेपर भी भारतीयोंका श्रेष्ठ भोजन शाकाहार ही है। अब यही इतिहासकी दृष्टि पूर्व काल में ले जाईय और उस समय क्या हुआ था, इसकी कल्पना करिये। देवजातिका एक वीर फलाना मांस खाता था, इतना कहने मात्रसे न तो संपूर्ण देवजातिका भोजन ज्ञात हो सकता है और न ही आर्योंका। जो कहेगा कि, देववीर के भोजन के ज्ञानसे हमें आर्योंके भोजनका पता लगा, वे भ्रम में होंगे। कमसे कम उनमें ऐतिहासिक दृष्टिसे खोज करनेकी योग्यता नहीं,ऐसा हम निःसंकोच कह सकते हैं।

और भी एक कठिनता है। देवोंके नामों में 'अ-मृतान्धसः' ऐसा एक नाम है। 'अमृत-अन्धस्' का अर्थ 'न मरा हुआ अन्न आने-वाला' है। मांस तो निःसन्देह 'मृतान्धस्' अर्थात् मुर्दोंसे प्राप्त होनेवाला है, वह तो देव खातेहि नहीं थे। क्यों कि वे 'अ-मृत-अन्धस्' अर्थात् 'न मरा अन्न खानेवाले' थे। यह नाम जैसा अन्य देवोंका है, वैसा इन्द्रका भी है। यदि इन्द्र 'अ-मृतान्धस्' है तो वह मांस नहीं खायेगा, और यदि उसने मांस खाया तो वह 'अ-मृतान्धस्' नहीं रहेगा। देवोंके नामोंमें 'आज्यप' एक नाम है,उस का अर्थ 'घी पीनेवाले' है। देवोंका तीसरा नाम 'हविर्भुज्' है। इसका अर्थ हविष्यान्न खानेवाले। हवि में चावल, मूंग, गेहूं, कुछ सबजी ऐसे थोडेसे शाकाहारके पदार्थ आते हैं, सब शाकभोजन हविष्यान्न नहीं है। जिस अन्न का हवन किया जाता है वह हविष्यान्न है। इसमें प्याज लसन आदि शाक होनेपर भी संमिलित नहीं होते। यही अन्न देव खाते थे ऐसा पता इन नामोंसे चलता है। अब इसकी संगति उक्त मंत्र के साथ किस तरह लगाई जावे, यह एक विचा-रणीय प्रश्न संशोधकों के सामने है। मॉनियर वुइलियम् तथा दूसरे कोशकार अपने कोशोंमें हविष्यान्न का अर्थ इस प्रकार देते हैं — Food fit for oblation(esp. rice or other kinds of grain,clarified butter &c.)इसमें मांसका समावेश नहीं है। आश्चर्य की बात है कि देवोंके नामोंमें एक भी नाम ऐसा नहीं है कि, जिसका अर्थ वे मांसभोजी थे' ऐसा हो। अग्नि सर्व भक्षक होनेसे केवल उसके नामोंमेंहि मांसभक्षक नाम हैं, क्यों कि मुर्दे जलानेका कार्य उसका होनेसे उसको सब के मुर्दे जलाना अथवा अलं-कारसे खाना ही आवश्यक था। परंतु वैसे नाम किसी अन्य देव के नहीं हैं। यदि इन्द्र पशुमांस खानेवाला होता, तो उसके नाम भी अग्नि जैसे मांसभोजनका अर्थ बतानेवाले होने चाहिये थे,परंत् वैसे नहीं हैं। इस से अनुमान हो सकता है कि उक्त मंत्र का अर्थ कुछ और होना संभव है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यहां पाठक स्मरण रखें की, राक्षक, असुर, पिशाच इन जातियों के नाम 'क्रव्याद्, पिशाच्, असृतृप्, गर्भाद्, मांसाद्, कौणप, आशर, कर्बुर' ये हैं, इनका अर्थ मांसभक्षक होना स्पष्ट है। अग्नि के नाम भी 'क्रव्याद, विश्वाद्, (सर्व-भक्षक), उक्षान्न' आदि मांस जलानेके वाचक हैं। अग्निके मुर्दे जलानेके कार्यसे ये नाम सार्थक हैं, राक्षसादि जातियां मांसभक्षण करती थीं, इस लिये उनके नाम भी सार्थ हैं, यदि देव अथवा इन्द्र इसी तरह मांस भक्षक होते, तो उनके नाम भी इसी तरह मांसभोजन वाचक चाहिये थे। यदि हमारे साहित्याचार्यजीने ऋग्वेदका मन्थन किया है, तो वे कृपा करके बतावें कि इन्द्रके नामोंमें अथवा अग्निको छोडकर अन्य देवोंके नामों में कोई ऐसा नाम है कि जिसका अर्थ उनका मांसभोजन सिद्ध कर सके।

हम कहते हैं कि वैसा नहीं है, और इसका एक मात्र कारण यही है कि, देवजातिके वीर मांसभोजी नहीं थे। यदि ऐसा है तो उक्त मंत्रों-की संगति कैसी लग सकती है? उनमें तो 'इन्द्रः उक्षणः घसत्' कहा है अर्थात् 'इन्द्र उक्षाओंको खाता है' ऐसा है। यहां 'उक्षा' शब्दके अर्थका विशेष विचार करना योग्य है। कोई कोश खोल कर देखिये, वहां आपको 'उक्षा' शब्दके अर्थ ये मिलेंगे— "(१) सोम, (२) ऋषभ औषधि (मुख्य आठ औषधियोंमें से एक), (३) बैल, (४) मरुत्, (५) सूर्य, (६) अग्नि, (७)बडा, सिंचन करनेवाला (मेघ.)।

इन अर्थोंमें सोम और ऋषभ औषधि ये दो अर्थ शाकभोजनके साथ मिलनेवाले हैं, और बैल अर्थ मांसभोजनके साथ मिलनेवाला है। अब यहां कौनसा अर्थ लेना योग्य है? बडी सावधान-ताके साथ इसका मनन करना चाहिये। उक्त मंत्रमें 'इन्द्रः घसत्' ऐसा प्रयोग है। 'घसत्' इस क्रिया में 'घस्' धातु शाकभोजन करनके अर्थ में हि केवल प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग मांसभोजनके लिये होना सर्वथा असंभव है। ऋग्वेदके या वैदिक वाङ्मयके किसी भी वचन में 'घस्' धातुका प्रयोग मांस खानेके अर्थमें नहीं है, जहां प्रयोग है वहां केवल घांस खानेके अर्थमें हि है। इसीसे तो 'घास' शब्द 'घांस(grass)' के अर्थमें बनता है। 'घास' का अर्थ कभी मांस नहीं है, केवल साक भाजी तथा फलभोजही है। इसी तरह 'घसत्' का अर्थ 'मांसभक्षण' नहीं है, परंतु 'शाकभक्षण' है।

यदि यह 'घसत्' क्रिया यहां न होती तो बात दूसरी होती। 'उक्षा' शब्द का अथ सोम और ऋषभ औषधि है और 'घसत्' का अर्थ भी शाकभोजन करना ही है। अतः 'इन्द्रः उक्षणः घसत्' का अर्थ 'इन्द्रने सोम या ऋषभ औषधि का अन्न खाया' ऐसा सरल होता है।

सोम और ऋषभ औषधि बहुत बडी नहीं होती, इस लिये एकके खान में एक समय में भी अनेक सोमवल्लियां अथवा अनेक ऋषभ औष-धियां आ सकती हैं। जब इन औषधियों का रस निकालते हैं तब उस प्रसंगमें भी अनेक औष-धियां साथ साथ पीसी जाती हैं और सबका निचोड कर रस निकाला जाता है। ऋषभ औषधि वीर्यवर्धक है अतः इसका उपयोग वाजी-करण में विशेष रीतिसे किया जाता है, इस संबंध में वैद्यक ग्रंथकी साक्षी ले सकते हैं—

ऋषभकः— गौडे काश्मीरे प्रसिद्धः। जीव-कर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ। रसोन-कन्दवत्कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ। जीवकः कूर्चकाकारः ऋषभो वृषशृंगवत्। बल्यौ शुक्र-प्रदौ। (भा० प्र० १)

यह ऋषभक औषधि गौड और कश्मीर में हिमालय शिखरपर होती है। इसका कन्द बैलके सींग के समान होता है, इसक पत्त बारीक होते हैं और यह वीर्यवर्धक है। इसके नाम ये हैं— 'वृष, वृषभ, गोपति, विषाणी, ककुद्मान्, पुंगव, वोढा, शृंगी, ऋषभ, धूर्य, उक्षा, लांगली गौ।"

ये सब नाम गाय तथा बैल के वाचक संस्कृत-में हैं। ये बैल के नाम होते हुए ऋषभक औषधि

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

के भी वाचक हैं। ये सब नाम कलकत्ता-मुद्रित 'वैद्यकशब्दसिंधु' में हैं, वहां पाठक देख सकते हैं। वेदमंत्रोंका अर्थ करनेके समय 'गौ, वृष, ऋषभ, उक्षा' शब्द आगये तो लोग उनका अर्थ पशु करते हैं, परंतु विचार करके देखना चाहिये कि, यहां पशुवाचक अर्थ है वा वनस्पतिवाचक अर्थ है। पूर्वोक्त इन्द्रसूक्त के मंत्रों में पशुवाचक अर्थ असंबद्ध है, और औषधिवाचक अर्थ सुसंबद्ध है, इसके कारण हमने ऊपर दिये ही हैं।

पूर्वोक्त मंत्रमें 'उक्षा' से (प्रियं काचित्करं हविः)प्रियकर और सुखकर हवि बनानेका उल्लेख है। वह तो हवि होनेसे सोमका अथवा ऋषभक औषधिका ही होना संभव है, क्योंकि हविष्यान्न शाकान्न होता है अथवा घृत दुग्ध आदि होता है, परंतु उसका संबंध मांससे नहीं हो सकता।

आगके मंत्रमें (उक्षणः हि पञ्चदश साकं विंशतिं पचन्ति) उक्षाके पंदरह या बीस साथ साथ पकाते हैं ऐसा कहा है। यहां बीस बैल पकाते हैं, ऐसा अर्थ करना योग्य है वा बीस ऋषभक कन्द पकाते हैं ऐसा अर्थ योग्य है, इसका विचार स्वयं हो सकता है। इन्द्रवीर कितना भी बडा हुआ, तोभी उसके पेटमें बीस बैल रहना असंभव है, परंतु बीस ऋषभ कन्द रह सकते हैं। एक वीर इतने कन्द खा सकता है। आगे १५ वें मंत्र में (सुनोति) रस निचोडता है ऐसा कहा है, उससे भी यहां सोमादि औषधियोंके रस का संबंध है न कि मांस का, यह विषय इससे यहां स्पष्ट हो सकता है।

हम इस संपूर्ण सूक्तका अर्थ समय मिलनेपर पूर्ण रूपसे प्रकाशित करना चाहते हैं, उस समय क्रमपूर्वक सब बातें बतायीं जायगीं, परंतु यहां इन मंत्रोंके आगे पीछे वाजीकरण और गर्भाधान का संबंध आता है और वाजीकरण में ऋषभ औषधिका ही प्रयोग होता है, न कि बैलका। इस विचार से भी यहां औषधिका संबंध है यह बात स्पष्ट होगी।

संभावना की दृष्टिसे एक मनुष्य बीस बैलोंको एक समय खा नहीं सकता, परंतु बीस ऋषभक कन्द खा सकता है, अतः यही अर्थ संभवनीय है।

कई लोग यह वनस्पतिवाचक अर्थ न पसंद करेंगे, तो मांसपरक अर्थ उनकी तृप्ति के लिये क्षणभर माननेपर भी, इसमें आर्योंके बर्ताव का उल्लेख न होनेके कारण इन मंत्रोंसे 'आर्य लोग बैल का मांस खाते थे' इस विधान की पुष्टि नहीं होती, अतः साहित्याचार्यजीका पक्ष उनका अर्थ माननेपर भी खंडित ही हो जाता है, इसका विचार वे करें।

यहां कई कहेंगे कि वेद में यह मंत्र है, और वेदका प्रत्यक विधान 'आर्यधर्म' है इस लिये 'बैल का मांस खाना आर्यधर्म है।' इस प्रकारके विधान की परीक्षा करने के लिये बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। वेदमें अनेक विधान हैं, उनमें एक यहां देखिये—

गर्भान्खादन्ति केशवाः ॥ अथर्व ८।६।२३

"केशवाले लोग गर्भों को खाते हैं।" ऐसा एक विधान है। इस विधानसे गर्भिणियों को मारकर गर्भों को खाना भी आर्यों का धर्म बन जायगा!!इस से तो प्राचीन आर्य नरमांस खानेवाले थे ऐसा कोई साहित्याचार्य कह सकता है, परंतु ऐसा कहनेके पूर्व इस का आगे पीछे का विचार करना चाहिये, देखिये यही मंत्र—

गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि।

अथ० ८।६।२३

"जो बालवाले लोग गर्भोंको खाते हैं, उनको समाजसे नाश करते हैं।" अर्थात् उनको इस समाजमें रखना योग्य नहीं, क्योंकि वे धर्मबाह्य कर्म करते हैं। इस तरह पूर्वापरसंबंध देखनेसे यह बात सिद्ध होती है कि "गर्भ खानेका पाप वैदिकधर्मी आर्यसमाज में वधदण्डके लिये योग्य समझा जाता था।" जिसके लिये वधदण्ड हो वह पाप कौन करेगा? इस तरह देखा जाय तो हि वेदकी धर्मव्यवस्था का पता लग सकता है

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

और इस रीतिसे पूर्वापर विचार करनेसे जो सिद्ध होगा वही वैदिक धर्म होगा। यह कसौटी बैलके मांसभक्षणके विषयमें अब हम देखेंगे। इसमें निम्नलिखित मंत्र देखना यहां योग्य है—

आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु ॥ ऋ०७।५६।१६
आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम् ॥ ऋ० १।११४।१०
अश्व··· मा हिंसीः ॥ गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥
अविं··· मा हिंसीः ॥ इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्।
इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनम् ॥
इममूर्णायुं···मा हिंसीः ॥ वा० यजु० १३।४१-५०

" गायका (और बैलका भी) वध करनेवाला, मनुष्य का वध करनेवाला समाजसे दूर किया जावे। घोडा, गाय, बकरा, मेंढा, द्विपाद पक्षी, इनकी हिंसा कोई न करे। "

मृत्यवे मृगयुं। मृत्यवे गोव्यच्छम् । मृत्यवे गोघातम्। वा० यजु० ३०।१८

" मृगया करनेवाले, गौ (बैल) को छिन्न भिन्न करनेवाले, अथवा उनका घात करनेवाले को मृत्युदण्ड दिया जावे। " इस तरह ऋग्वेदमें और यजुर्वेदमें मनुष्य, घोडा, गाय और बैल के वधकर्ताको मृत्युका दण्ड कहा है,समाजसे दूर करने का दण्ड कहा है, अतः इसके विरुद्ध कोई मनुष्य इनकाही वध करे और उनका मांस खाये, यह कैसे हो सकता है? अतः जो मंत्र अन्यत्र होंगे, उनका अर्थ इन मंत्रोंके साथ संगत होने योग्य ही करना चाहिये। और इस संगतिकरणकी रीति हमने ऊपर बताई है कि, उक्षा आदि शब्दोंका जो औषधिवाचक अर्थ है, वह यहां लेनेसे वेद के सब वचनोंकी संगति उत्तम प्रकार लग सकती है और कोई परस्परविरोध नहीं हो सकता।

यदि किसी स्थानपर मांस, हड्डी, चरबी, रक्त आदि पदार्थ खाने आदिका संबंध हो, तो उस स्थानपर पशुमांसपरक अर्थ करना योग्य है, अन्य स्थानोंमें जहां वैसा साक्षात् संबंध नहीं है, वहां उक्षा आदि शब्दोंका अर्थ ऋषभ औषधि लेकरहि करना योग्य है, क्योंकि ऐसा करने से वेदकी साक्षात् आज्ञाका विरोध नहीं होता।

इस विषयमें और भी एक बात विचारणीय है वह यह कि वेदमें एक सर्व सामान्य नियम कह दिया है—

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्। पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ॥
अथर्व० १९।३१।५

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ। अथर्व० ४।२७।३

" चतुष्पाद और द्विपाद पशुओंसे तथा धान्य से मैं पुष्टि प्राप्त करता हूं। क्योंकि पशुओंसे दूध और औषधियोंसे रस बृहस्पति सविताने मुझे दिया है। गौओंसे दूध लो, औषधियोंसे रस लो, और घोडोंसे वेग लो, इस तरह ज्ञानियोंका कथन है। "

इन मंत्रोंसे एक वैदिक नियमका पता लग सकता है। वह नियम यह है कि जहां पशु का नाम आये वहां उस जातिके पशुका दूध लेना, और जहां औषधिका नाम आये वहां उस औषधिका रस लेना। जहां दूध और रस न होगा, वहां वेद स्पष्टताके साथ कहेगा कि फलाना पदार्थ यहां अपेक्षित है। जहां वेद केवल पशु या औषधिके नामका निर्देश करता और पदार्थविशेषका उल्लेख नहीं करता, वहां दूध और रस का ग्रहण करना चाहिये, यह वैदिक परिभाषा यहां स्पष्ट हुई। इस परिभाषा को लेकर यदि हम पूर्वोक्त उक्षावाले मंत्र देखेंगे तो उक्षाका पशुवाचक अर्थ लेनेपर गोदुग्ध लेना पडेगा, क्यों कि उक्षा का अर्थ 'गौ' ऐसा पूर्वस्थानपर उक्षा के पर्यायोंमें दिया ही है और औषधिवाचक अर्थ लेनेपर औषधिरस लेना पडेगा। कोई अर्थ लेनेपर पशुमांसभक्षण का अर्थ सर्वथा असंभव प्रतीत होता है।

श्री० पं० साहित्याचार्यजीने और भी अनेक विधान मांसभोजन विषयमें किये हैं। उनका क्रमशः विचार करना आवश्यक है। यह कार्य हम अगले लेखोंमें यथावकाश करते रहेंगे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

१० अक्षय सुख।

बाह्य सुखोंपर अनासक्ति, ब्रह्मयोग (५।२१); कर्म संन्यास (५।१३); योगाचरण (६।२८); मनः शान्ति, भोगवासनानाश (६।२७); कामक्रोधोंके वेग को सहना (५।५३)।

११ अमृतकी प्राप्ति।

सुखदुःखविषयमें समता (२।१५); गुणातीत होना (१४।२०); ब्रह्मज्ञान (१३।१२)।

१२ अनामय शाश्वत पद की प्राप्ति।

बुद्धियोग, कर्मफलत्याग (२।५१); मानमोह का त्याग, आसक्ति दोष का त्याग, आत्मनिष्ठा, काम का त्याग, निर्द्वन्द्वता, मोहत्याग (१५।५); ईश्वर का आश्रय (१८।५६); ईश्वरशरण (१८।६२)।

१३ परम-धाम।

सतत योगाचरण (६।४५); ओंकारजप (८।१३)। सर्वत्र समदर्शन, आत्मघात न करना, (१३।२८); ईश्वरशरण (९।३२); कामक्रोधलोभत्याग (१६।२२); शास्त्रविधिके अनुसार आचरण (१६।२३)।

१४ कृतकृत्यता।

ज्ञान (१५।२०)।

१५ श्रेष्ठ अवस्था।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान, भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका उपाय (१३।३४); अनासक्ति, कर्तव्यकर्माचरण (३।१९)।

१६ ज्ञानचक्षुकी प्राप्ति।

सर्वत्र आत्मदर्शन (१५।१०-११); विराट् देहमें सब जगत् को देखना (११।६-१३); अष्टधा प्रकृति को ईश्वर का देह मानना (७।४); इस विराट् पुरुषका ज्ञानसे दर्शन करके उसमें प्रविष्ट होना (११।५४); सर्वत्र समदृष्टि, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन (६।२९;३०;१३।२७;५।१८); आत्माको अकर्ता और प्रकृति कर्मकर्त्री है इसका अनुभव (१३।२९); अपने अन्दर परमात्मदर्शन (१३।२४); आत्मदर्शन से आश्चर्यका अनुभव (२।२९); सर्व भूतों में परमेश्वर का दर्शन (६।३१)।

१७ ईश्वरप्राप्ति।

एकाग्रचित्त (८।८); भक्ति (८।२२); योगसाधन, स्थिर मन (८।१०); ईश्वरशरण (१५।४); परमेश्वर-ज्ञान (४।९); अपने मन बुद्धिको ईश्वरमें लगाना (८।७); ईश्वरपूजन (९।२५); संन्यासयोग (९।२८); ज्ञान (७।१८); सर्व ईश्वर है इसका अनुभव (७।१९); ईश्वरके लिये कर्म करना, ईश्वर की भक्ति करना, भोगसंगत्याग, वैरत्याग (११।५५); इंद्रियसंयम, सर्वत्र समबुद्धि, सर्व भूतों के हित करनेमें तत्परता (१२।४); सतत योगाचरण, प्रीतिपूर्वक भक्ति (१०।१०); इस ज्ञान का प्रचार (१८।६९); ईश्वरमें मन बुद्धि को लगाना (१२।८); अनन्यचित्त होना, ईश्वरका नित्य स्मरण (८।१४); भोग, भय, क्रोध दूर करना, ईश्वरमयता, ईश्वरका आश्रय, ज्ञानतपसे पवित्रता (४।१०); ईश्वर स्मरण (८।५); क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का अनुभव (१३।१८); गुणातीत आत्माका ज्ञान (१४।१९)।

१८ ब्रह्म--प्राप्ति।

योगयुक्त संन्यास (५।६); प्रकाशमार्ग से जाना (८।२४)।

१९ ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति।

अपने अन्दर सुख, शान्ति और ज्योति का अनुभव (५।२४); निष्पाप होना, द्वैतनिवृत्ति, आत्मसंयम, सर्वभूतहितमें तत्परता (५।२५); कामक्रोधत्याग, चित्तसंयम, (५।२६); एकनिष्ठ भक्ति, गुणातीत होना (१४।२६); अहंकार, गर्व, कामक्रोध, संग्रह और ममता इनका त्याग (१८।५३); सर्वत्र समता, परा भक्ति (१८।५४); प्रियसे प्रेम और अप्रियसे द्वेष न करना, बुद्धिकी स्थिरता, मोहत्याग, ब्रह्मज्ञान (५।२०); भेद में अभेद का अनुभव (१३।३०)

साधनमार्ग का विचार करनेवाले पाठकों को ये शब्द इस विषयका स्पष्ट बोध करा सकते हैं। सब भूतों में ब्रह्मकी प्रत्यक्षवत् उपस्थिति का ज्ञान होनेसे और सब भूतों में एक आत्मा है और उसी आत्मामें सब भूत हैं, इसका प्रत्यक्षवत् ज्ञान होनेसे मनुष्य का मोह दूर होता है, यह नर नारायणरूप हो जाता है, क्योंकि उस अव-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्थामें विश्वरूप नारायण में वह भी एकरूप हुआ होता है। जब नारायण विश्वरूप है तब उससे भिन्न नर का अस्तित्व ही कैसा होगा? क्यों कि विश्वरूप में इस नर का रूप भी तो संमिलित है। इसकी यथावत् प्रत्यक्षता करना ही अन्तिम अनुभव है, जो होनेके बाद और कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता, और जो अनुभव होतेहि यह शोकमोहादि से मुक्त होता है। यही परम पदकी प्राप्ति है।

चतुर्थ अध्यायका विचार समाप्त।

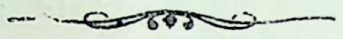

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता-सुभाषित।

चतुर्थ अध्याय।

(१) श्रेष्ठका आत्मयज्ञ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ (४।६)

"मैं अजन्मा, अविनाशी और भूतोंका ईश्वर होनेपर भी (जगत्कल्याण करनेके लिये) अपनी शक्तिसे जन्म लेता हूं॥"

जगत् के कल्याणके लिये ईश्वर स्वयं इतना आत्मयज्ञ करता है, यह देखकर राजा, महाराजा, सरदार, साहुकार, धनी और बडे समझे जानेवाले लोगोंको भी सर्वभूतोंका हित करनेके कार्य में अपना समर्पण करना चाहिये। जो ऐसा करेंगे वे ही श्रेष्ठ बनेंगे, अन्य स्वार्थी लोग गिरते जायंगे। बडे लोग कनिष्ठोंके सुधारके लिये आत्मयज्ञ नहीं करते, इसी लिये जगत् में दुःख बढ रहे हैं।

(२) विपत्ति-निवारणार्थ कर्म।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (४।७)

"जहां धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी प्रबलता होती है, वहां (धर्मस्थापनाके लिये) मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं।"

जहां अधर्म, अनीति, अन्याय, और सज्जनोंका छल होता है, वहां श्रेष्ठोंको पहुंचना चाहिये और वहां धर्म न्याय आदिकी स्थापना करनेके लिये आत्मार्पण करना चाहिये। तथा पराधीन लोगोंको स्वाधीनता प्राप्त करनेकेलिये जो कार्य करने होते हैं, उस में स्वयं यत्नवान् होना चाहिये।

(३) तीन कर्तव्य।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥(४।८)

"साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना करने के लिये मैं युगयुगमें आता हूं।"

मनुष्यको सत्पक्षकी रक्षा, असत्पक्षका नाश और धर्मस्थापना के कार्यमें अपने आपको लगाना योग्य है। इसीसे मनुष्य कृतकृत्य होता है।

(४) योग-आचरण।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (४।११)

"जो जैसे मुझे शरण आते हैं उनको वैसाही फल मैं देता हूं।"

मनुष्यको उचित है कि वह दूसरोंके साथ यथायोग्य आचरण करे।

(५) कर्मसिद्धि।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। (४।१२)

"मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे शीघ्रहि सिद्धि प्राप्त होती है।"

मनुष्यको कर्म करनेसे हि सिद्धि मिल सकती है।

(६) स्वार्थ से दोष।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। (४।१३)

"कर्मके फलपर मेरी दृष्टी नहीं है, इस लिये कर्मोंका दोष मुझे नहीं लगता।"

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

फलभोगकी इच्छा होनेसे कर्मका दोष लगता है। स्वार्थके कारण दोष लगता है।

(७) गहन कर्मतत्त्व।

गहना कर्मणो गतिः ॥ (४।१७)

" कर्मका तत्त्व बडा गहन है। "

कर्म अच्छा है या बुरा, इसका निश्चय करना बडा कठिन काम है।

(८) पण्डित।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
(४।१९)

" जो भोगेच्छा छोडकर कर्म करता है, उसके सब दोष ज्ञानसे जल जाते हैं, अतः उसीको ज्ञानी पंडित कहते हैं। "

भोगेच्छा छोडनेसे कर्मके दोष दूर होते हैं।

(९) यज्ञार्थ कर्म।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥
(४।२३)

" यज्ञके लिये जो कर्म होता है, उस कर्मका दोष पूर्णतासे नष्ट होता है। "

सर्व भूतोंके हित करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म यज्ञरूप होते हैं, वैसे कर्म करनेसे किसी प्रकार का दोष नहीं होता है।

(१०) ब्रह्मकर्म।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(४।२४)

"कर्ता, कर्म, विधि,और साधन ये सब जिसको ब्रह्मरूप प्रतीत होते हैं, उसको सर्वत्र ब्रह्म दीखनेके कारण वह स्वयं ब्रह्म ही बनता है।"

संपूर्ण जगत् में और संपूर्ण व्यवहार में जिसको परमात्माका रूप दिखाई देता है, वह स्वयं परमात्मा बनता है।

(११) कर्महीन की दुर्गति।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः॥ (४।३१)

" कर्म न करनेवालेको यहां सुख नहीं होता, फिर उसको परलोक कहांसे प्राप्त होगा?"

कर्म न करनेसे अपना भी हित नहीं होगा और दूसरे की भी उन्नति नहीं होगी और न परलोक मिलेगा। अतः सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिये।

(१२) ज्ञानदान श्रेष्ठ है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः॥ (४।३३)

" द्रव्यदानसे ज्ञानदान अधिक कल्याण करनेवाला है। "

द्रव्य देनेसे ज्ञान देना दोनोंका भला करनेवाला है।

(१३) ज्ञानसे पापनाश।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
(४।३६)

" ज्ञानकी नौका सब पापसमुद्रके पार ले जायगी।"

ज्ञानसे हि सब दोष दूर होंगे और सब सुख प्राप्त होंगे।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते॥ (४।३७)

" ज्ञानरूप अग्निसे सब कर्मोंके दोष जल जाते हैं।"

ज्ञानसे सब दोष दूर होते हैं और गुण पास आते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
(४।३८)

"ज्ञानके समान कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है।"

ज्ञान सब से पवित्रता करनेवाला है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(१४) श्रद्धासे ज्ञानप्राप्ति।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ॥
(४।३९)

"श्रद्धालु, तत्पर और जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।"

(१५) ज्ञानसे शान्ति।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(४।३९)

"ज्ञानसे शीघ्रही शान्ति मिलती है।"

(१६) संशयसे नाश।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
(४।४०)

"अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयी मनुष्य का नाश होता है।"

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(४।४०)

"संशयी मनुष्यको न इस लोकमें सुख होता है और न परलोकमें।"

क्योंकि संशयसे नाश निश्चित है।

(१७) आत्मबलसे निर्दोषता।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति। (४।४१)

"आत्मिक बल से युक्त हुए मनुष्यको कर्मोंका दोष नहीं लगता।"

(१८) अज्ञान दूर कर।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
(४।४२)

"हे भारतीय! हृदयस्थ अज्ञानजन्य संशयको ज्ञानसे दूर कर और उद्योग करनेके लिये उठ।"

ज्ञान प्राप्त कर, अपना संदेह दूर कर और अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेके लिये प्रबल प्रयत्न करने की इच्छासे सिद्ध हो।

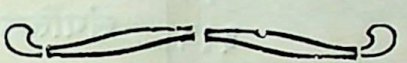

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

चतुर्थ अध्यायकी विषयसूची।

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग ३०६
श्लोक १-३ ,,
(१) पूर्व इतिहासका महत्त्व ,,
सार्वभौमिक तत्त्वज्ञान ३०६
ज्ञानका लोप ,,
प्राचीन इतिहासकी साक्षी ,,
पूर्वजोंका अनुभव ३०८
(२) पुनर्जन्म ३१०
श्लोक ४-५ ,,
पूर्वजन्मका स्मरण ३११
श्लोक ६ ,,
मनुष्यके तीन शरीर ,,
पुनर्जन्मके भेद ३१२
मुक्तका पुनर्जन्म ३१४
बद्धका ,, ,,
अजका ,, ३१५
श्लोक ७-८ ३१६
(३) भगवानके जन्मका उद्देश्य ,,
अवतारके पांच उद्देश्य ,,
देवोंका अंशावतार ३१७
जनताका उद्धार ,,
अनुभवकी बात ३१८
श्लोक ९-१० ३१९
(४) दिव्य जन्म और कर्म ,,
दिव्य जन्म और दिव्य कर्म ,,
दिव्य जन्मका ज्ञान ३२०
दिव्य कर्मका ज्ञान ३२२
जन्ममरण छूटना ३२२
परमेश्वरप्राप्ति ३२३
उन्नतिकी चार अवस्थाएं ३२५
मन्मयः ,,
मां उपाश्रितः ,,
वीतरागभयक्रोधः ३२६
ज्ञानतपसा पूतः ,,
मद्भावं आगतः ,,
(५) कर्मकी सिद्धि ३२७
श्लोक ११-१२ ,,
कर्मका अटल नियम ,,
अर्थका अनर्थ ,,
ईश्वरका मार्ग ३२८
देवोंका यजन ३३०
संगतिकरण ,,
(६) चातुर्वर्ण्य का संगतिकरण ३३१
श्लोक १३ ,,
संगतिकरण और व्यवस्था ,,
पिण्ड और ब्रह्माण्डमें चातुर्वर्ण्य ,,
सहज कर्म ३३२
संगतिकरण ३३४
अव्यय कर्ता और अकर्ता ३३५
शक्ति की रक्षा ,,
(७) फलासक्तिसे बन्धन ३३६
श्लोक १४-१५ ,,
आसक्तिका दोष ,,

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(८) कर्म के भेद	३३८
श्लोक १६	,,
कर्म के तीन भेद	,,
श्लोक १७-१८	३३९
कर्म का और एक अर्थ	३४०
(९) कर्ममें अकर्मता	३४१
श्लोक १९-२०	,,
कर्म के दोष	,,
श्लोक २१-२३	३४२
त्यागमार्ग	३४३
कर्म में अकर्मता	३४५
भोगमार्ग	,,
शारीर कर्म	,,
ईशदास्य के कर्म	,,
शरीरनिर्वाह के कर्म	३४६
कर्मेन्द्रियोंके कर्म	,,
अतिसंग्रह का दोष	३४७
(१०) यज्ञ-विचार	३४८
श्लोक २४-२९	,,
श्लोक ३०-३३	३४९
विविध यज्ञ	३५०
ब्रह्मयज्ञ	३५१
परमात्माका आत्मयज्ञ	३५२
विश्वकर्माका ,,	,,
नारायणका ,,	३५३
मनुष्यका ,,	३५४
दैवयज्ञ	३५६
यज्ञ का यज्ञ	३५७
संयमाग्निमें हवन	३५८
प्राणायाम	३६०
(११) ज्ञान का महत्त्व	३६२
श्लोक ३४-३७	,,
ज्ञानप्राप्तिके साधन	३६२
ज्ञान के फल	३६३
मोह नाश	३६४
कर्मदोषक्षय	,,
सर्वभूतात्मभाव	३६५
(१२) ज्ञानप्राप्ति के उपाय	३६८
श्लोक ३८-४०	,,
ज्ञानप्राप्तिके हेतु	,,
संशयसे नाश	३६९
(१३) संदेहनिवृत्ति	३७०
श्लोक ४१-४२	,,
कर्मबन्धनिवृत्ति	,,
समता	३७१
कुशलता	,,
प्रभुकी उपस्थिति	,,
आत्मबल	३७२
कर्मफलका समर्पण	,,
श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायपर थोडासा विचार	३७३
ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	,,
पूर्ववृत्तकथन	,,
पिताका पुनर्जन्म	,,
ईश्वरभाव की प्राप्ति	३७४
परम सिद्धि	,,
विशेषता	३७५
श्रेयःप्राप्ति	३७६
मायाके पार होना	३७७
पुनर्जन्म न होना	,,
निर्लेपता	३७८
कर्मबन्धनिवृत्ति	३७९
मुक्ति अथवा मोक्ष	३८१
शान्तिकी प्राप्ति	३८२
अक्षय सुख	३८४

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अमृतत्वकी प्राप्ति	३८६
अनामय-अव्यय-शाश्वत पद	३८६
परम धाम और परम गति	३८७
कृतकृत्यता	३८८
श्रेष्ठअवस्थाकी प्राप्ति,	,,
ज्ञानचक्षुसे देखना	३८९
परमेश्वरप्राप्ति	३९२
ब्रह्मप्राप्ति	३९५
ब्रह्मनिर्वाण	,,
सिद्धिके साधन	३९८
चित्तकी एकाग्रता	,,
संयम	,,
अनासक्ति	३९९
निर्द्वन्द्वता	,,
अद्वेष	,,
आत्मवद्भाव	,,
गुणातीतता	,,
समबुद्धि	,,
कर्मयोग	,,
ज्ञानयोग	,,
ईश्वरभक्ति	४००
सिद्धिकी प्राप्ति	४००
विशेषताकी प्राप्ति	,,
श्रेयःप्राप्ति	,,
मायाके पार होना	,,
पुनर्जन्ममरण दूर करना	,,
निर्लेपता	,,
कर्मबन्धनिवृत्ति	,,
मुक्ति	,,
शान्ति	,,
अक्षय सुख	४०१
अमृतकी प्राप्ति	,,
अनामय शाश्वत पद	,,
परम धाम	,,
कृतकृत्यता	,,
श्रेष्ठ अवस्था	,,
ज्ञान चक्षुकी प्राप्ति	,,
ईश्वरप्राप्ति	,,
ब्रह्मप्राप्ति	,,
ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति	,,
श्रीमद्भगवद्गीता-सुभाषित।	४०३
विषयसूची	४०६

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।)

चतुर्दशं काण्डम्

लेखक और प्रकाशक ।
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

प्रथम वार

संवत् १९८९, शक १८५४, १९३२.

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

❀

❀ ❀

दम्पती वियुक्त न हो।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥

अथर्व० १४। १। २२

"हे वर व वधू! हे विवाहित स्त्रीपुरुषो! (इह एव स्तं) तुम दोनों इस गृहस्थाश्रममें रहो। (मा वि यौष्टं) तुम कभी वियुक्त न हुआ करो। (पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ) पुत्रों और नातियोंके साथ खेलते हुए और (मोदमानौ) उनके साथ आनन्द करते हुए (सु-अस्तकौ) उत्तम घरदारसे युक्त होकर (विश्वं आयुः व्यश्नुतं) पूर्ण आयुतक उपभोग करते रहो।"

❀ ❀

❀

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडल,
भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

(अथर्ववेद सुबोध भाष्य)

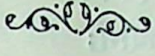

चतुर्दश काण्ड ।

यह चतुर्दश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय बृहद्विभागमें द्वितीय है। इस काण्डमें 'विवाह-संस्कार' यही एक महत्त्वपूर्ण विषय है। अतः जो पाठक इस काण्डका विशेष मनन-पूर्वक अध्ययन करेंगे, उनको "वैदिक विवाह-पद्धति" का यथायोग्य ज्ञान हो सकता है।

इसमें दो अनुवाक् हैं। प्रथमानुवाकमें ६४ मंत्रोंका एक सूक्त है और द्वितीयानुवाकमें ७५ मंत्रोंका एक सूक्त है। सब मिलकर १३९ मंत्र इस काण्डमें हैं। ये दोनों सूक्त दशतिविभागसे विभक्त हुए हैं, प्रथम सूक्तमें १० मंत्रोंकी ५ दशतियां हैं और छटी दशति १४ मंत्रोंकी है; इसी तरह द्वितीय सूक्तमें ७ दशतियां दस मंत्रोंकी हैं और आठवी दशति ५ मंत्रोंकी है। परंतु यह दशतिविभाग केवल मंत्रोंकी संख्याके अनुसार है,इसका अर्थके साथ विशेषसा संबंध नहीं है। अब इस काण्डके ऋषि, देवता और छंद देखिये—

ऋषि देवता और छन्द ।

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	सावित्रीसूर्या	६४	आत्मदैवत्यं (स्वयं १-५ सोम; ६ स्वविवाहः, २३ सोमार्कौ, २४ चन्द्रमाः; २५विवाहमंत्रशिषः;	अनुष्टुभ्, १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः; १५आस्तारपंक्तिः; १९, २०, २३, २४,३१-३३, ३७, ३९, ४०, ४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, [५८, ५९ ६१] त्रिष्टुभः (२३, ३१, ४५ बृहतीगर्भा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

	२५, २७वधूवास-संस्पर्शमोचनं;	त्रि०;) २१, ४६, ५४, ६४; जगत्यः (५४, ६४ भुरिक् त्रिष्टुभौ); २९, ५५ पुरस्ताद्बृहत्यौ; ३४ प्रस्तारपंक्तिः; ३८ पुरोबृहती त्रिपदा पुरोष्णिक्; [४८ पथ्यापंक्तिः] ६० परानुष्टुभ्

द्वितीयोऽनुवाकः।

२ सावित्रीसूर्या ७५	आत्मदैवत्य (स्वयं) १० यक्ष्मनाशनं; ११दंपत्योः परिपंथिनाशनं; ३६ देवाः	अनुष्टुभ्; ५, ६, १२, ३१, ३७, ३९, ४० जगत्यः; (३७, ३९ भुरिक् त्रिष्टुभौ;) ९ त्र्यवसाना षट्पदा विराडत्यष्टिः; १३, १४, १७–१९ [३४, ३६ ३८] ४१, ४२, ४९, ६१, ७०, ७४, ७५ त्रिष्टुभः; १५, ५१ भुरिजौ; २० पुरस्ताद्बृहती, १३, २४, २५, ३२, ३३ पुरोबृहती; [२६ त्रिपदा विराण्नाम गायत्री;] ३३ विराडास्तारपंक्तिः; ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; ४३ त्रिष्टुब्गर्भापंक्तिः; ४४ प्रस्तारपंक्तिः; [४७ पथ्याबृहती;] ४८ सतः पंक्तिः; [५० उपरिष्टाद्बृहती निचृद्;] ५२ विराट्पुरोष्णिक्; ५९, ६०, ६२ पथ्यापंक्तिः; [६८ पुरोष्णिक्;] ६९ त्र्यव० षट्प० अतिशक्करी; ७१ बृहती।

इस सूक्तमें 'आत्मादेवता' का अर्थ जो ऋषि है वही देवता है। अर्थात् सावित्री-सूर्याने अपनेहि विवाहका वर्णन, जैसा विवाह हुआ, वैसा किया है। इस विवाहका स्पष्टीकरण इस काण्डके अन्तमें दिया जायगा। इस चतुर्दश काण्डके दोनों सूक्त विवाह-प्रकरण का वर्णन करनेवाले होनेके कारण इन दोनों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात् हम इस वैदिक विवाहका स्पष्टीकरण करेंगे। प्रथम पाठक इन दोनों सूक्तोंका अर्थ देखें–

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

चतुर्दशं काण्डम् ।

विवाह-प्रकरण ।

[१]

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

अर्थ— (सत्येन भूमिः उत्तभिता) सत्यने भूमिको उठाया है । और (सूर्येण द्यौः उत्तभिता) सूर्यने द्युलोक उठाया है । (ऋतेन आदित्याः तिष्ठन्ति) ऋतसे आदित्य रहते हैं । और (सोमः दिवि अधिश्रितः) सोम द्युलोकमें आश्रित हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ— सत्यसे मातृभूमिका उद्धार किया जाता है, सूर्यके प्रकाशसे आकाश तेजस्वी होता है, सरलता के कारण आदित्य अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं और सोम द्युलोक के प्रकाशमें आश्रय लेकर रहा है । (इसी प्रकार ये वधुवर सत्य, सूर्यप्रकाश, सरलता और द्युलोक अर्थात् स्वर्ग के आधारसे अपना जीवनक्रम चलावें ।) ॥ १ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥
सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥ ३ ॥
यत् त्वा सोम प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ४ ॥

अर्थ- (सोमेन आदित्याः बलिनः) सोमसे आदित्य बलवान् हुए हैं। तथा (सोमेन पृथिवी मही) सोमसेहि पृथ्वी बडी हुई है। (अथो एषां नक्षत्राणां उपस्थे) और इन नक्षत्रोंके पास (सोमः आहितः) सोम रखा है ॥२॥

(यत् ओषधिं संपिंषन्ति) जब सोम नामक औषधिको पीसते हैं, तब (पपिवान् सोमं मन्यते) सोमपान करनेवाला सोमरस पीया ऐसा मानता है। (ब्रह्माणः यं सोमं विदुः) ज्ञानी लोग जिसको सोम करके समझते हैं, (तस्य पार्थिवः न अश्नाति) उसका भक्षण कोई पृथ्वीपर रहनेवाला मनुष्य नहीं करता ॥ ३ ॥

हे (सोम) सोम ! (यत् त्वा प्रपिबन्ति) जब तुझे पीते हैं, (ततः पुनः आप्यायसे) उसके पश्चात् पुनः तू वृद्धिको प्राप्त करता है। (वायुः सोमस्य रक्षिता) वायु सोमका रक्षक है, और (समानां आकृतिः मासः) वर्षोंकी आकृति महिना ही है ॥ ४ ॥

भावार्थ-सोमसे आदित्यमें बल आया और पृथ्वीका विस्तार हुआ है, और नक्षत्रों में भी सोम ही तेज बढा रहा है। इसी तरह ये वधूवर सोम आदि वनस्पति भक्षण कर अपने बल,महत्त्व और तेज की वृद्धि करें ॥२॥

जब यज्ञमें सोमका रस निकालने लगते हैं, तब सोमरस पीनेका निश्चय सबको होता है। परंतु जिसको ज्ञानी जन सोम समझते हैं, वह भिन्नही है, कोई साधारण मनुष्य उसका रस पी नहीं सकता। (ये वधूवर उसी सोमरसको पीनेका पुरुषार्थ करें) ॥ ३ ॥

यह सोम जब पीया जाता है, तब पुनः वृद्धिको प्राप्त होता है। यह नष्ट नहीं होता है। क्यों कि प्राण हि इसका रक्षक है। जैसे क्रमसे महिने आनेसे वर्ष होता है, (इसी तरह नये पत्ते आनेसे सोम वल्ली पूर्ववत्

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ५ ॥
चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ ६ ॥
रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्यायाः भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता ॥ ७ ॥

अर्थ- हे सोम! (आच्छद् विधानैः गुपितः) आच्छादनोंसे सुरक्षित (बार्हतः रक्षितः) बडोंसे रक्षित हुआ तू (ग्राव्णां इत् शृण्वन् तिष्ठसि) इस रस निकालनेवाले पत्थरोंका शब्द सुनता हुआ रहता है। (पार्थिवः ते न अश्नाति) कोई मनुष्य तेरा रस भक्षण नहीं करता ॥ ५ ॥

(यत् सूर्या पतिं अयात्) जब सूर्या अपने पतिके पास गयी, तब (चित्तिः उपबर्हणं आः) संकल्प सिरोना हुआ, (चक्षुः अभि अञ्जनं आः) आंख अञ्जन बना तथा (द्यौः भूमिः कोशः आसीत्) द्यौ और पृथिवी खजाना था ॥ ६ ॥

(रैभी अनुदेयी आसीत्) रैभी ऋचा विदायीकी भाषा हो गई, (नाराशंसी न्योचनी) नाराशंसी मंत्र स्वागतका भाषण बने, (सूर्यायाः वासः भद्रं इत्) सूर्याका वस्त्र बहुत कल्याणकारी है। वह सूर्या (गाथया परिष्कृता एति) गाथाओंसे सुशोभित होकर जाती है ॥ ७ ॥

हरीभरी हो जाती है, ऐसे हि वधूवर सांसारिक आपत्ति आनेपर हताश न हों, परंतु द्विगुणित उत्साहसे अपना जीवन व्यतीत करें।) ॥ ४ ॥

सोम सब प्रकारसे सदा सुरक्षित है, आंतरिक और बाह्य रक्षणसाधनोंसे वह सुरक्षित हुआ है। इस सुरक्षित हुए दिव्य सोमका भक्षण कोई साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। (ये वधूवर इसी तरह अपने आपको सुरक्षित रखें और अपने आपको किसीका भक्ष्य होने न दें।) ॥ ५ ॥

जब वधू वरके घर जाती है, तब उसका मनही उसका सिरोना और आंख ही अञ्जन होता है, (अर्थात् बाह्य साधन उसके सुखके कारण नहीं होते, उसके मनके भावहि उसको सुख देते हैं) मानो उसके लिये यह सब आकाश का अवकाश खजानेके समान प्रतीत होता है, क्यों

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः ॥ ८ ॥
सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादादात ॥ ९ ॥
मनो अस्या अनं आसीद द्यौरासीदुत च्छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या पतिम् ॥ १० ॥ (१)

अर्थ- (स्तोमाः प्रतिधयः आसन) स्तुतिके मंत्र अन्न बना था, (कुरीरं छन्दः ओपशः) कुरीर नामक छन्द उसके सिरके भूषण बने। (अश्विनौ सूर्यायाः वरौ) दोनों अश्विदेव सूर्याके साथी थे और (अग्निः पुरोगवः आसीत्) अग्निदेव अग्रेसर था ॥ ८ ॥

(सोमः वधूयुः अभवत्) सोम वधूकी इच्छा करनेवाला था, (उभौ अश्विनौ वरौ आस्तां) दोनों अश्विदेव साथी थे। (यत् सविता मनसा शंसन्तीं सूर्यां पत्ये अदात्) जब सविताने मनसे स्तुति करनेवाली सूर्याको पतिके हाथमें दान किया ॥ ९ ॥

(अस्या मनः अनः आसीत्) इसका मन रथ बना था, (उत द्यौः छदिः आसीत्) और द्युलोक छत हुआ। (शुक्रौ अनड्वाहौ आस्तां) दो बलवान् बैल जोते थे। (यत् सूर्या पतिं अयात्) जब सूर्या पतिके पास गयी ॥१०॥

कि पतिका घर हि उसका सब सुख होता है।) ॥ ६ ॥

वेदमंत्रोंसे उस वधूकी पितृगृहसे बिदाई होती है और उसी प्रकार मंत्रोंसे हि उसका पतिगृहमें स्वागत होता है। मंत्रोंद्वारा पुनीत हुआ पतिके घरका वस्त्र उस वधूका कल्याण करनेवाला होता है ॥ ७ ॥

पतिके घरके यज्ञ ही वधूके लिये भोग और वेदमंत्रही उसके भूषण होते हैं। जो वधूकी मंगनी के लिये जाते हैं, वे मानो अश्विदेव होते हैं। और जो पहिले बातचीतके लिये जाता है, वह सबका प्रकाशक अग्निदेव ही है ॥ ८ ॥

जो वर है वह मानो सोम है, मंगनी करनेवाले अश्विनीदेव हैं और वधूका पिता सूर्य है, जो अपनी पुत्रीको वरके हाथमें दान करता है। वधू भी पतिके विषयमें मनमें प्रशंसाके भाव रखती है। (वधूवरकी परि-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावेताम्।
श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥
सूर्यायां वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
माघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥ १३ ॥

अर्थ-(ऋक्-सामाभ्यां अभिहितौ ते गावौ) ऋग्वेद मंत्रों और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा प्रेरित हुए तेरे दोनों बैल (सामनौ एतां) शान्तिसे चलते हैं। (श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां) दोनों कान तेरे रथके दो चक्र थे। (दिवि पन्थाः चराऽचरः) द्युलोकमें तेरा मार्ग चर और अचर रूप समस्त संसार है ॥११॥

(ते यात्याः चक्रे शुची) तेरे जानेके रथके दोनों चक्र शुद्ध हैं। (अक्षे व्यानः आहतः) उसके अक्षके स्थानपर व्यान नामक प्राण रखा है। (पतिं प्रयती सूर्या) पतिके पास जानेवाली सूर्या इस (मनः-मयं आ रोहत्) मनोमय रथपर चढती है ॥ १२ ॥

(यं सविता अवासृजत्) जिसको सविताने भेजा था वह (सूर्यायाः वहतुः प्रागात्) सूर्याका दहेज आगे गया है। (मघासु गावः हन्यन्ते) मघा नक्षत्रोंमें गौवें भेजीं जाती हैं। और (फल्गुनीषु व्युह्यते) फल्गुनी नक्षत्रोंमें विवाह होता है ॥ १३ ॥

स्थिति ऐसी होनी चाहिये।) ॥ ९ ॥

जब वधू अपने पतिके घर जाये तब वह रथमें बैठकर जाये। उसको दो उत्तम बैल (या घोडे) जोते हुए हों। संभव हुआ तो ये उत्तम श्वेत-वर्ण के हों। (वस्तुतः वधूका मनही यह रथ है, बाह्य रथकी अपेक्षा वधूका मनही ऐसा चाहिये कि जिसमें ये रथ आदि बाह्य आडम्बर कल्पनासेहि पूर्ण हों।) ॥ १० ॥

इस वधूके रथके वाहक वेदमंत्रों द्वारा चलाये जांय, साथसाथ सामवेद-मंत्रोंका गायन होता रहे। यह वधू इसलिये गृहस्थाश्रम स्वीकारने के लिये पतिके घर जाती है, कि इसका स्वर्गका मार्ग सुगम्य हो अर्थात् पतिपत्नी मिलकर ऐसा आचरण करें कि जिससे उनको सहज स्वर्ग प्राप्त हो जाय ॥ ११ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १४ ॥
यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
विश्वे देवा अनु तद् वामजानन् पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥ १५ ॥

अर्थ- हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (यत् सूर्यायाः वहतुं) जब सूर्याका दहेज लेकर (पृच्छमानौ त्रिचक्रेण अयातं) तुम दोनों पूछते हुए तीन चक्रोंवाले रथसे चले, तब (वां एकं चक्रं) तुम्हारा एक चक्र (क्व आसीत्) कहां था, और तुम दोनों (देष्ट्राय क्व तस्थतुः) दर्शानेके लिये कहां ठहरे थे ? ॥ १४ ॥

हे (शुभस्पती) शुभ करनेवाले ! तुम दोनों (यत् वरेयं सूर्यां उप अयातं) जब वरके द्वारा पूछने योग्य सूर्याके समीप गये, (वां तत् विश्वे देवाः अन्वजानन्) तुम्हारा वह कर्म सब देवोंने पसंद किया था, (पूषा पुत्रः पितरं अवृणीत) पूषाने पुत्र पिताको स्वीकार करनेके समान तुम्हारा स्वीकार किया ॥ १५ ॥

भावार्थ- यह वधू पतिके घर जाते समय जिस मनोमय रथपर बैठती है, उसके चक्र शुद्ध हों। (यहां चालचलनकी शुद्धता और मनोरथों की पवित्रता वधू धारण करे यह बात सूचित की है।) ॥ १२ ॥

वधूका पिता वरको समर्पण करनेके लिये गौरूपी दहेज पहिले वरके स्थानपर पहुंचावे। वह पहिले वहां पहुंचे और पश्चात् विवाह हो। जैसा मघा नक्षत्रमें गौवीं भेजां जांय, तो फल्गुनी नक्षत्रमें विवाह होवे ॥१३॥

वधूकी ओरसे जो दहेज वरके पास लेजाना हो वह कोई दो सज्जन (यहां दो अश्विनी देव) अपने रथमें बैठकर ले जावें। पूछ पूछ कर ठीक वरके स्थानपर पहुंच जाय। ये ही वधूके रथको वरके स्थानका मार्ग दर्शानेवाले होंगे, इसलिये ये किसी योग्य स्थानपर ठहरें ॥ १४ ॥

वरकी ओरसे मंगनी करनेवाले (दोनों अश्विनीकुमार) दो वैद्य वधूके पिताके पास कन्याकी मंगनी करनेके लिये जांय, अन्य सब लोग उनको संमति देवें। जैसा पुत्र पिताका आदरके साथ स्वागत करता है, वैसा उन मंगनी करनेके लिये आये हुओंका स्वागत वधूका पिता करे ॥ १५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद् विदुः ॥ १६ ॥
अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥ १७ ॥
प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १८ ॥

अर्थ-हे (सूर्ये) सूर्या! (ते द्वे चक्रे ब्रह्माणः ऋतुथा विदुः) तेरे दोनों चक्रों को ज्ञानी लोग ऋतुके अनुसार जानते हैं। (अथ यत् एकं चक्रं गुहा) और जो एक चक्र गुप्त है, (तत् अद्धातय इत् विदुः) उसको विशेष ज्ञानी हि जानते हैं ॥ १६ ॥

(सुबन्धुं पतिवेदनं) उत्तम बन्धुबांधवोंसे युक्त पतिका ज्ञान देनेवाले (अर्यमणं यजामहे) श्रेष्ठ मनवालेका हम सत्कार करते हैं। (उर्वारुकं बन्धनात् इव) खरबुजा जैसा वेलके बन्धनसे दूर होता है, उस प्रकार (इतः प्र मुञ्चामि) इस पितृकुलसे तुझे छुडाता हूं, (न अमुतः) परंतु पतिकुलसे नहीं अलग करता, अर्थात् पतिकुलसे जोडता हूं ॥ १७ ॥

(इतः प्रमुञ्चामि न अमुतः) यहां [पितृकुल] से तुझे मुक्त करता हूं, परंतु वहां (पतिकुल) से नहीं। (अमुतः सुबद्धां करं) वहांसे तो मैं उत्तम प्रकार बंधी हुई करता हूं। हे (मीढ्वः इन्द्र) दाता इन्द्र! (यथा इयं) जिससे यह वधू (सुपुत्रा सुभगा असति) उत्तम पुत्रवाली और उत्तम भाग्यसे युक्त होवे ॥ १८ ॥

भावार्थ- सूर्या नामक सविताकी पुत्री तीन चक्रोंवाले रथपर बैठकर अपने पतिके घर गई थी। इसी तरह वधू रथमें बैठकर पतिके घर जाये। रथके व्यक्त और गुप्त चक्रोंको ज्ञानी लोग जानें ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ मनवाला बन्धुबांधवोंसे युक्त सज्जनहि वरका पता देवे। वरका पता किसी हीन मनुष्यसे कभी न लिया जाय। जैसा फल अपने बंधनसे मुक्त होता है, उस प्रकार वधू अपने पितृकुलसे अपना संबन्ध छोड देवे, परंतु पतिकुलसे वधूका संबंध कभी न छूटे ॥ १७ ॥

वधूका संबंध पितृकुलसे छूटे, परंतु पतिके कुलसे न छूटे। पतिकुलसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ॥ १९ ॥
भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २० ॥ [२]

अर्थ-(त्वा वरुणस्य पाशात् प्र मुञ्चामि) तुझको मैं वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं (येन त्वा सुशेवाः सविता अबध्नात्) जिससे तुझे सेवा करने योग्य सविताने बांधा था। (ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके) सदाचारीके घरमें और सत्कर्म कर्ताके लोकमें (सह-संभलायै ते) पतिके सहवर्तमान तुझे (स्योनं अस्तु) सुख होवे ॥ १९ ॥

(भगः त्वा हस्तगृह्य इतः नयतु) भग तुझे हाथ पकडकर यहांसे चलावे, आगे (अश्विनौ त्वा रथेन प्रवहतां) अश्विदेव तुझे रथमें बिठलाकर पहुंचावें। अपने पतिके (गृहान् गच्छ) घरको जा। (यथा त्वं गृहपत्नी वशिनी असः) वहां तू घरकी स्वामिनी और सबको वशमें रखनेवाली हो। वहां (त्वं विदथं आवदासि) तूं उत्तम विवेकका भाषण कर ॥ २० ॥

संबंध सुदृढ होवे। परमेश्वर इस वधूको पतिकुलमें उत्तम पुत्रोंसे युक्त और उत्तम भाग्यसे युक्त करे ॥ १८ ॥

विवाह होते हि कन्या वरुणके बन्धनोंसे मुक्त होती है। सविता देवने हि कन्याको वरुणके धर्मपाशोंसे बांधा होता है। कन्याका विवाह होते ही वह पतिके घर सदाचारी और सत्कर्म करनेवालोंके घरमें पहुंचती है। पतिका घर वधूको धर्मशिक्षा देनेवाला बने ॥ १९ ॥

वधूका हाथ पकडकर भाग्यका देव उसको पहिले चलावे, अश्विनीदेव रथमें बिठलाकर विवाहके पश्चात् पतिके घर पहुंचावे। इस तरह वधू पतिके घर पहुंचे। वहां पतिके घरकी स्वामिनी और सबको अपने वशमें रखनेवाली होकर रहे। ऐसी स्त्री हि योग्य प्रसंगमें उत्तम संमति दे सकती है ॥ २० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं १ सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ २१ ॥

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २२ ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ २३ ॥

अर्थ- (इह ते प्रजायै प्रियं समृध्यतां) यहां तेरे संतानके लिये प्रिय की वृद्धि हो, (अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि) इस घरमें गृहस्थधर्मके लिये जागती रह। (एना पत्या तन्वं संस्पृशस्व) इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर। (अथ जिर्विः) और तू वृद्ध होनेपर (विदथं आवदासि) उत्तम उपदेश कर ॥ २१ ॥

(इह एव स्तं) यहांही रहो (मा वि यौष्टं) कभी वियुक्त न हो। (पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ) पुत्रों और नातियोंसे खेलते हुए (मोदमानौ स्वस्तकौ) आनन्दित होकर अपने घरदारसे युक्त होते हुए (विश्वं आयुः व्यश्नुतं) पूर्ण आयुका भोग करो ॥ २२ ॥

(एतौ शिशू क्रीडन्तौ) ये दोनों बालक खेलते हुए (मायया पूर्वापरं चरतः) शक्तिसे आगे पीछे चलते हैं और (अर्णवं परि यातः) समुद्र तक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं। (अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे) उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और (अन्यः ऋतून् विदधत् नवः जायते) दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनता है ॥ २३ ॥

भावार्थ- इस धर्मपत्नीके संतान उत्तम सुखमें रहें। यह धर्मपत्नीअपना गृहस्थाश्रम उत्तम रीतिसे चलावे। यह धर्मपत्नी अपने पतिके साथ सुखसे रहे। जब इस तरह धर्ममार्गसे गृहस्थाश्रम चलाती हुई यह स्त्री वृद्ध होगी, तब यह योग्य संमति देने योग्य होगी ॥ २१ ॥

स्त्रीपुरुष अपनेहि घरमें रहें, कभी विभक्त न हों। अपने बालबच्चोंके साथ खेलें, अपने घरमें आनंद मनावें और धर्मानुसार गृहस्थाश्रम चलाते हुए संपूर्ण आयुका उपभोग लें ॥ २२ ॥

इन गृहस्थियोंके बालक छोटी बडी आयुवाले अपनी शक्तिसे खेलते

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २४ ॥
परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु ।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥ २५ ॥

अर्थ- (जायमानः नवः नवः भवसि) प्रकट होता हुआ नया नया होता है। (अह्नां केतुः उषसां अग्रं एषि) दिनोंको बतानेवाला और उषाओंके अग्र भागमें होता है। (आयन् देवेभ्यः भागं विदधासि) आता हुआ देवोंके लिये विभाग समर्पण करता है। तथा हे चन्द्रमा ! (दीर्घं आयुः प्र तिरसे तू दीर्घ आयु देता है ॥ २४ ॥

(शामुल्यं परा देहि) यह उत्तम वस्त्र दान कर। (ब्रह्मभ्यः वसु विभज) ब्राह्मणोंको धन दे। जब (एषा पद्वती कृत्या जाया भूत्वा) यह पांववाली कृत्या अर्थात् विनाशक स्वभाववाली स्त्री बनकर (पतिं विशते) पतिके पास आती है ॥ २५ ॥

कुदते हुए बडे होकर समुद्रतक पुरुषार्थ करते हुए चलें। एकने सब जगत् को प्रकाशित किया, तो दूसरा ऋतुके अनुसार नवीन नवीन होकर उदयको प्राप्त हो। अर्थात् गृहस्थियोंके पुत्र अपने पुरुषार्थसे जगत् को प्रकाशित करें ॥ २३ ॥

गृहस्थी लोग नये नये उत्साहसे पुरुषार्थ करते हुए उषाओंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यके समान सबके मार्गदर्शक बनें। यज्ञमें देवोंका भाग उनको समर्पण करें और यज्ञमय जीवन व्यतीत करते हुए संपूर्ण आयुका उपभोग लेवें ॥ २४ ॥

विवाहके समय उत्तम उत्तम वस्त्र विद्वान् ब्राह्मणोंको दान दिये जांये, और उनको धन भी बांटा जाये। (ये ब्राह्मण वधूको सुशिक्षा देवें। यदि वधूको उत्तम शिक्षा न मिली) तो यह वधू पतिके घर प्रवेश करके सब कुलका विनाश कर सकती है। (वधूके अधर्माचरणसे कुलका नाश होता है) ॥ २५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २६ ॥
अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ २७ ॥
आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥ २८ ॥

अर्थ-(नीललोहितं भवति) नीला और लाल बनता है, क्रोधयुक्त होता है तब (कृत्यासक्तिः व्यज्यते) विनाशक इच्छा बढती है, (अस्या ज्ञातयः एधन्ते) इसके जातिके मनुष्य बढते हैं। और (पतिः बन्धेषु बध्यते) पति बन्धनमें बांधा जाता है ॥ २६ ॥

(यत् वध्वः वाससः) जब स्त्रीके वस्त्रसे (पतिः स्वं अंगं अभि ऊर्णुते) पति अपने शरीरको आच्छादित करता है, तब (अमुया पापया) इस पापी रीतिसे (रुशती तनूः) सुन्दर शरीर हुआ तो भी (अश्लीला भवति) शोभारहित होता है ॥ २७ ॥

(आशसनं विशसनं) धारीवाला वस्त्र, सिरका वस्त्र तथा (अथो अधिविकर्तनं) और सर्वांगपर रहनेवाला वस्त्र इनमें (सूर्यायाः रूपाणि पश्य) सूर्यके रूप देख। (उत तानि ब्रह्मा शुम्भति) इनको ब्राह्मण तेजस्वी करता है ॥ २८ ॥

भावार्थ- (पति कुलमें वधूका अधर्माचरण होने लगा, तो) खून खराब होता है, उस दुराचारी वधूकी विनाशक बुद्धि बढ जाती है, उसके पिताके संबंधी लोग जमा हो जाते हैं, और इस प्रकार बिचारा पति बन्धनमें फंसता है। (इस लिये कन्याको सुशिक्षा देनी चाहिये।) ॥ २६ ॥

स्त्रीका वस्त्र पुरुष कभी न पहने। यदि किसीने पहना तो उससे पतिका तेजस्वी शरीरभी शोभारहितसा होजाता है ॥ २७ ॥

एक वस्त्र धारीवाला होता है, दूसरा दुशाला जैसा चमकदार होता है, तीसरा ओढनेका वस्त्र होता है। इन वस्त्रोंसे वधूके रूपको सुंदरता लायी जावे। इन वस्त्रोंके संबंधका योग्य ज्ञान ब्राह्मण गृहस्थियोंको देवे, जिससे वस्त्रोंके दोष दूर हो जांय ॥ २८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे ।
सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥
स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम् ।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति ॥ ३० ॥ (३)
युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु ।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥ ३१ ॥

अर्थ-(एतत् तृष्टं) यह तृषा उत्पन्न करनेवाला है, (कटुकं) यह कडुवा है, (अपाष्टवत् विषवत्) यह घृणित और यह विषयुक्त अन्न है अतः (एतत् अत्तवे न) यह खानेके योग्य नहीं है। (यः ब्रह्मा सूर्यां वेद) जो ब्राह्मण सूर्याको इस तरह सिखाता है, (सः इत् वाधूयं अर्हति) वह निःसंदेह वधुकी ओरसे वस्त्र लेने योग्य है ॥ २९ ॥

(सः इत्) वही निश्चयसे (तत् सुमंगलं स्योनं वासः हरति) उस मंगल और सुखकर वस्त्राको लेता है। (यः प्रायश्चित्तिं अध्येति) जो प्रायश्चित्त प्रकरण अर्थात् चित्त शुद्ध करनेका अध्ययन कराता है, (येन जाया न रिष्यति) जिससे पत्नी नष्ट नहीं होती ॥ ३० ॥

(युवं ऋत-उद्येषु ऋतं वदन्तौ) तुम दोनों सत्य व्यवहारोंमें रह कर सत्य बोलते हुए (समृद्धं भगं संभरतं) समृद्धियुक्त भाग्य प्राप्त करो। हे ब्रह्मणस्पते ! (पतिं अस्यै रोचय) पतिके विषयमें इस स्त्रीके मनमें रुचि उत्पन्न कर। (संभलः एतां वाचं चारु वदतु) पति इस वाणीको सुंदरता से बोले ॥ ३१ ॥

भावार्थ- एक अन्न तृष्णाको बढानेवाला, दूसरा कडुवा, तीसरा सडा हुआ और चौथा विषयुक्त होता है। इस प्रकारके अन्न गृहस्थियोंको खाने योग्य नहीं हैं। इस तरह की शिक्षा देनेवाले ब्राह्मणको वधूकी ओरसे वस्त्र दिया जावे ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण चित्त शुद्ध करनेका ज्ञान जानता है, जिस ज्ञानके प्राप्त होनेसे स्त्री का बिघाड नहीं होता, इस प्रकारकी सुशिक्षा देनेवाले अध्यापक ब्राह्मणको ही मंगल और सुंदर वस्त्र देना योग्य है और ऐसा ब्राह्मण ही वस्त्रका दान लेवे ॥ ३० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ।
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥ ३२ ॥
इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम्।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥ ३३ ॥
अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥ ३४ ॥

अर्थ-हे (गावः) गौवो ! (इह इत् असाथ) तुम यहां ही रहो। (न परः गमाथ) मत दूर जाओ। (इमं प्रजया वर्धयाथ) इसको उत्तम संततिके साथ बढाओ। हे (उस्रियाः) गौवो ! आप (शुभं यतीः सोमवर्चसः) शुभ को प्राप्त करानेवाली और चन्द्रके समान तेजस्वितासे युक्त होवो। (विश्वे देवाः वः मनांसि इह क्रन्) सब देव तुम्हारे मनोंको यहां स्थिर करें ॥ ३२ ॥

हे (गावः) गौवों ! (इमं प्रजया सं विशाथ) इसके घरमें अपनी संतानके साथ प्रवेश करो। (अयं देवानां भागं न मिनाति) यह देवोंके भागका लोप नहीं करता है। (पूषा सर्वे मरुतः) पूषा और सब मरुत (धाता सविता) विधाता और सविता (अस्मै अस्मै वः वः सुवाति) इसी मनुष्यके लिये तुमको उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

(पन्थानः अनृक्षराः ऋजवः सन्तु) सब मार्ग कण्टकरहित और सरल हों, (येभिः नः सखायः वरेयं यन्ति) जिनसे हमारे सब मित्र कन्याके घरके प्रति पहुंचते हैं। (धाता भगेन अर्यम्णा वर्चसा सं सं सं सृजतु) विधाता, भग और अर्यमाके द्वारा तेजसे इसे संयुक्त करे ॥ ३४ ॥

भावार्थ- गृहस्थी स्त्रीपुरुष सीधे व्यवहार करें, सदा सत्य बोलें, और धनसंपत्ति कमावें। पत्नीके मनमें पतिके विषयमें बडा आदरभाव रहे और पति भी सुंदर और मधुर भाषण करे ॥ ३१ ॥

गृहस्थीके घरमें गौवें रहें, गौवें भाग न जावें। गौवें बछडे देती रहें। उनकी संख्या बढ जाय। गौवें सुस्वभाववालीं और तेजयुक्त हों और गौवें भी घरवालोंपर प्रीति करें ॥ ३२ ॥

गौवें अपने बछडोंके साथ घरमें प्रवेश करें। गृहस्थ देवयज्ञ प्रतिदिन

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम् ।
यद् गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३५ ॥
येन महान्घन्या जघनमश्विना येन वा सुरा ।
येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३६ ॥
यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास इडते अध्वरेषु ।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्यावान् ॥ ३७ ॥

अर्थ-हे अश्विनौ) अश्विदेवो! (यत् वर्चः अक्षेषु) जो तेज आंखोंमें होता है और (यत् सु-रायां आहितं) जो संपत्तिमें रखा होता है, (यत् च वर्चः गोषु) जो तेज गौवोंमें है, (तेन वर्चसा इमां अवतं) उस तेजसे इसकी रक्षा करो ॥ ३५ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो! (येन महान घन्याः जघनं) जिससे बडी गौका जघन अर्थात् नीचला दुग्धाशयका भाग, (येन वा सुरा) जिससे संपत्ति, (येन अक्षाः अभ्यषिच्यन्त) जिससे आंख भरपूर रहते हैं (तेन वर्चसा इमां अवतं) उस तेजसे इस वधूकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

(यः अप्सु अन्तः अनिध्मः दीदयत्) जो जलोंमें इन्धनोंके विना चमकता है, (यं विप्रासः अध्वरेषु ईडते) जिसकी ज्ञानी लोग यज्ञोंमें स्तुति करते हैं। हे (अपां नपात् ! मधुमतीः अपः दाः) जलोंको न गिरानेवाले देव! वैसा मधुर जल हमें दो। (याभिः वीर्यावान् इन्द्रः वावृधे) जिनसे वीर्यवान् इन्द्र बढता है ॥ ३७ ॥

करे, कभी यज्ञका लोप न हो। सब देव इस गृहस्थी के घरमें गौवोंकी संख्या बढावें ॥ ३३ ॥

वरके तथा वधूके घर जानेके मार्ग कंटकरहित और सरल हों। परमेश्वर इन गृहस्थियोंको तेजस्वी करके समृद्ध करे ॥ ३४ ॥

जो तेज आंखोंमें, ऐश्वर्य में और गौवोंमें होता है, उस तेजसे यह वधू युक्त हो। यह स्त्री तेजस्विनी हो ॥ ३५ ॥

जिस तेजसे गौका दुग्धाशय तेजस्वी हुआ है, जो तेज ऐश्वर्यमें और आंखमें होता है, उस तेजसे यह स्त्री युक्त होवे और यह स्त्री धर्माचरणमें सुरक्षित रहे ॥ ३६ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि ।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ ३८ ॥
आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥ ३९ ॥
शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्म्म ।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं १ सं स्पृशस्व ॥४०॥ (४)

अर्थ-(इदं अहं तनूदूषिं रुशन्तं ग्राभं आपोहामि) यह मैं शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले विनाशक रोगको दूर करता हूं। और (यः भद्रः रोचनः तं उदचामि) जो कल्याणमय तेजस्वी है, उसको पास करता हूं ॥ ३८ ॥

(ब्राह्मणाः अस्यै स्नपनीः आपः आहरन्तु) ब्राह्मण लोग इसके लिये स्नानका जल ले आवें। (अवीरघ्नीः आपः उदजन्तु) वीरका नाश न करनेवाला जल वे लावें। (अर्यम्णः अग्निं पर्येतु) वह अर्यमाकी अग्निकी प्रदक्षिणा करे। हे (पूषन्) पूषा ! (श्वशुरः देवरः च प्रतीक्षन्ते) ससुर और देवर प्रतीक्षा करें ॥ ३९ ॥

(ते हिरण्यं शं) तेरे लिये सुवर्ण कल्याणकारी होवे, (उ आपः शं सन्तु) और जल सुखकर होवे, (मेथिः शं भवतु) गौ बांधनेका स्तंभ सुखदायी हो। तथा (युगस्य तर्म्म शं) युगका छिद्र सुखकर हो, (ते शतपवित्राः आपः शं भवन्तु) तेरे लिये सौ प्रकारसे पवित्रता करनेवाला जल सुखदायी होवे। (पत्या तन्वं शं संस्पृशस्व) पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श सुखकारक रीतिसे कर ॥ ४० ॥

भावार्थ-जलोंमें इन्धनोंके विना चमकनेवाला तेज है, यज्ञोंमें द्विजोंका ज्ञानरूप तेज है, और जलोंमें मधुरता है और वीर्य भी है। इन तेज, ज्ञान, माधुर्य और वीर्यसे ये गृहस्थी युक्त हों। इन्द्र इन्हींके आधिक्यसे सबसे महान् हुआ है ॥ ३७ ॥

शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगबीजोंको दूर करना चाहिये और जिससे शरीर नीरोग और आनन्दप्रसन्न होता है, उनको पास करना चाहिये ॥ ३८ ॥

ब्राह्मण लोग बतावें की यह जल स्नान करने योग्य है, यह जल

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो ।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥
आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥
यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥ ४३ ॥

अर्थ-हे (शतक्रतो इन्द्र) सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्र! (रथस्य खे) रथके छिद्रमें, (अनसः खे) गाडेके छिद्रमें और (युगस्य खे) युगके छिद्रमें (अपालां त्रिः पूत्वा) अयोग्य रीतिसे पाली हुई युवतीको तीन वार पवित्र करके (सूर्यत्वचं अकृणोः) सूर्यके समान तेजस्वी त्वचावाली तूने किया ॥ ४१ ॥

(सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं आशासाना) उत्तम मन, संतान, सौभाग्य और धन की आशा करनेवाली तू (पत्युः अनुव्रता भूत्वा) पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होकर (अमृताय कं सं नह्यस्व) अमरत्वके लिये सुखपूर्ण रीतिसे सिद्ध हो ॥ ४२ ॥

(यथा वृषा सिन्धुः) जैसा बलशाली समुद्र (नदीनां साम्राज्यं सुषुवे) नदियोंका साम्राज्य चलाता है, (एवा त्वं पत्युः अस्तं परेत्य) वैसी तू पतिके घर पहुंचकर (सम्राज्ञी एधि) सम्राज्ञी होकर वहां रह ॥ ४३ ॥

भीरुता का नाश करके बल बढानेवाला है। वधूवर श्रेष्ठ मन धारण करके अग्निको प्रदक्षिणा करें। श्रेष्ठ गुणवाली वधूकी प्रतीक्षा पतिगृहमें ससुर और देवर करते रहते हैं ॥ ३९ ॥

सुवर्ण, जल, गौका बंधनस्तंभ, जुगके भाग आदि सब कुटुंबके कल्याण करनेवाले हों। जल तो सौ प्रकारसे पवित्रता करनेवाला है। गृहस्थके घरमें धर्मपत्नी पतिके साथ दिल जमाकर रहे ॥ ४० ॥

गृहस्थ तथा स्त्री अपनी तीन प्रकारकी शुद्धता प्रभुकी कृपासे कराके सूर्यके समान तेजस्वी बनकर यहां विराजे ॥ ४१ ॥

गृहस्थके घरमें स्त्री उत्तम मन, संतान, सौभाग्य व धन की इच्छा करती हुई, पतिके अनुकूल कर्म करती हुई, अमरत्व प्राप्तिके श्रेष्ठ सुखदायी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्युत श्वश्वाः ॥ ४४ ॥
आ अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोददन्त ।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥ ४५ ॥
जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥ ४६ ॥

अर्थ- (श्वशुरेषु सम्राज्ञी एधि) ससुरोंमें स्वामिनीके समान होकर रह। (उत देवृषु सम्राज्ञी) देवरोंमें भी महारानीके समान आदरसे रह। (ननान्दुः सम्राज्ञी एधि) ननदके साथ भी रानीके समान रह और (उत श्वश्वाः सम्राज्ञी) सासके साथ भी सम्राट्की स्त्रीके समान होकर रह ॥ ४४ ॥

(याः देवीः अकृन्तन्) जिन देवियोंने स्वयं सूत कांता है, (याः च अवयन्) जिन्होंने बुना है, (याः च तत्निरे) जो ताना तानती हैं, (याः च अभितः अन्तान् ददन्त) और जो चारों ओर अन्तिम भागोंको ठीक रखती हैं, (ताः त्वा जरसे सं व्ययन्तु) वे तुझे वृद्धावस्थातक रहनेके लिये बुनें। तू (आयुष्मती इदं वासः परि धत्स्व) दीर्घ आयुवाली होकर इस वस्त्रको धारण कर ॥ ४५ ॥

(जीवं रुदन्ति) जीवित मनुष्यके बिदाई पर लोग रोते हैं, (अध्वरं विनयन्ति) यज्ञको साथ ले जाते हैं, (नरः दीर्घां प्रसितिं अनु दीध्युः) मनुष्य दीर्घ मार्गका विचार करते हैं। (ये पितृभ्यः इदं वामं समीरिरे) जो लोग अपने मातापिताके लिये यह सुन्दर कार्य करते हैं, वह (पतिभ्यः मयः जनये परिष्वजे) पतिके लिये सुखदायी है, जो स्त्रीको आलिङ्गन करना है ॥ ४६ ॥

मार्गका आक्रमण करे ॥ ४२ ॥

जैसा महासागर नदीयोंका सम्राट् है, इस प्रकार पतिके घर पहुंचकर यह वधू गृहस्थको सम्राट् और अपनेको उसकी सम्राज्ञी बनाकर व्यवहार करे ॥ ४३ ॥

ससुर, देवर, ननद और सास आदि सबके साथ रानीके समान बर्ताव करे और सबको सुख देवे ॥ ४४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे ।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥ ४७ ॥
येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥ ४८ ॥

अर्थ- (देव्याः पृथिव्याः उपस्थे) पृथ्वी देवीके पास (ते प्रजायै स्योनं ध्रुवं अश्मानं धारयामि) तेरी संतानके लिये सुखदायी स्थिर पत्थर जैसा आधार करता हूं। (तं आतिष्ठ) उसपर खडा रह, (अनुमाद्याः) आनंदित हो, (सुवर्चाः) उत्तम तेजसे युक्त हो। और (सविता ते आयुः दीर्घं कृणोतु) सविता तेरी आयु लंबी बनावे ॥ ४७ ॥

(येन अग्निः) जिससे अग्निने (अस्याः भूम्याः दक्षिणं हस्तं जग्राह) इस भूमिका दायां हाथ ग्रहण किया, (तेन ते हस्तं गृह्णामि) उसी उद्देश्यसे तेरा हाथ मैं पकडता हूं, (मा व्यथिष्ठाः) दुःख मत कर, (मया सह प्रजया च धनेन च) मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह॥ ४८ ॥

भावार्थ— घरमें देवियां सूत कातें, कपडा बुनें, ताना तानें, कपडेके अन्तिम भाग ठीक करें। ऐसा उत्तम कपडा बुनें कि जो वृद्धावस्थातक काम देवे। स्त्री दीर्घायु बनकर इस कपडेको पहने ॥ ४५ ॥

विदाईपर मनुष्य रोया करते हैं। परंतु यह कन्या यद्यपि पितृकुलसे विदा होती है, तथापि पतिके घरमें गृहयज्ञ करनेके लिये जा रही है, अतः इस गृहस्थाश्रमके दीर्घ मार्गका लोग विचार करें और न रोयें। पितृघरके लोगोंको तो यह सुख का दिन है, क्यों कि यह वधूके यज्ञका प्रारंभ है। यह वधु पतिको सुख देती है और पति इसको आलिंगनसे सुख देता है। परस्पर सुखवृद्धि करनाही गृहस्थका यज्ञ है ॥ ४६ ॥

इस भूमिपर तेरी संतान सुखपूर्वक दीर्घ काल रहे इसलिये यह पत्थर का आधार रखता हूं। इसपर चढ, आनंदित और तेजस्वी हो। इस तरह गृहस्थाश्रममें सुदृढ रहनेसे तेरी आयु दीर्घ होगी ॥ ४७ ॥

जैसा अग्नि और भूमिका संबंध है, वैसे संबंधके लिये मैं इस वधूका पाणिग्रहण करता हूं। वधूको कष्ट न हों। वह वधू मेरे साथ प्रजा, धन और ऐश्वर्यसे युक्त हो ॥ ४८ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु ।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥ ४९ ॥
गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ ५० ॥ (५)
भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ ५१ ॥

अर्थ- (सविता देवः ते हस्तं गृह्णातु) सविता देव तेरा पाणिग्रहण करे। (राजा सोमः सुप्रजसं कृणोतु) राजा सोम उत्तम सन्तानयुक्त करे। (जातवेदाः अग्निः पत्ये सुभगां पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु) जातवेद अग्नि पतिके लिये सौभाग्ययुक्त स्त्री वृद्धावस्थातक जीनेवाली करे ॥ ४९ ॥

(ते हस्तं सौभगत्वाय गृह्णामि) तेरा हाथ मैं सौभाग्यके लिये पकडता हूं। (यथा मया पत्या जरदष्टिः असः) जिससे तू मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक जीनेवाली होकर रह। भग, अर्यमा, सविता, पुरंधि। और सब देवोंने (त्वा मह्यं गार्हपत्याय अदुः) तुझको मेरे हाथमें गृहस्थाश्रम चलानेके लिये दिया है ॥ ५० ॥

(भगः ते हस्तं अग्रहीत्) भगने तेरा हाथ पकडा है, (सविता हस्तं अग्रहीत्) सविताने हाथ पकडा है, (त्वं धर्मणा पत्नी असि) तू धर्मसे मेरी पत्नी है, (अहं तव गृहपतिः) मैं तेरा गृहपति हूं ॥ ५१ ॥

भावार्थ- सविता जैसा तेजस्वी बनकर पति स्त्रीका पाणिग्रहण करे, और सोम जैसा कलायुक्त होकर धर्मपत्नीमें संतान उत्पन्न करे। पतिपत्नी मिलकर दोनों इस गृहस्थाश्रममें वृद्धावस्थातक आनन्दसे रहें ॥ ४९ ॥

हे स्त्री! मैं पति तेरा पाणिग्रहण सौभाग्यप्राप्तिके लिये करता हूं। मुझ पतिके साथ तू वृद्धावस्थातक रह। सब देवोंने तुझको गृहस्थाश्रम चलानेके लिये मेरे हाथमें सौंप दिया है ॥ ५० ॥

भग अर्थात् धनवान् होकर और सविता जैसा समर्थ और तेजस्वी होकर तेरा पाणिग्रहण मैं करता हूं। अबसे तू धर्मके अनुसार मेरी धर्मपत्नी हो और मैं तेरा गृहपति हूं ॥ ५१ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥ ५२ ॥
त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥ ५३ ॥
इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥

अर्थ- (इयं मम पोष्या अस्तु) यह स्त्री मेरी पोषण करने योग्य हो। (बृहस्पतिः त्वा मह्यं अदात) बृहस्पतिने तुझे मुझको दिया है। हे (प्रजावति) संतानवाली स्त्री ! (मया पत्या शरदः शतं संजीव) मुझ पतिके साथ तूं सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ५२ ॥

(त्वष्टा वासः) त्वष्टाने वस्त्र, (शुभे कं) कल्याण और सुख होनेके लिये (बृहस्पतेः कवीनां प्रशिषा) बृहस्पति और कवियोंके आशीर्वादके साथ (व्यदधात्) बनाया है। (तेन इमां नारीं) उससे इस स्त्रीको (सविता भगः सूर्यां इव) सविता और भग सूर्याको जैसा पहिनाता है, उस प्रकार (प्रजया परिधत्तां) संतानके साथ संयुक्त करे ॥ ५३ ॥

इन्द्र, अग्नि, (द्यावापृथिवी) द्युलोक, भूमि, (मातरिश्वा) वायु, मित्र, वरुण भग, (उभौ अश्विनौ) दोनों अश्विनीकुमार, बृहस्पति, मरुत, ब्रह्म, सोम ये सब (इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु) इस स्त्रीको संतानके साथ बढावें ॥ ५४ ॥

भावार्थ- यह धर्मपत्नी मुझे (पतिके) द्वारा पोषण होने योग्य है। परमेश्वरने यह मेरे हाथमें दी है। यहां यह सन्तानोंसे युक्त हो और मुझ पतिके साथ सौ वर्ष रहे ॥ ५२ ॥

इस कारीगरने इसके लिये बनाया यह वस्त्र है, ज्ञानी ब्राह्मणोंने इसको आशीर्वाद दिया है। यह धर्मपत्नी इसको पहने और ईश्वरकी कृपासे उत्तम संतानोंसे युक्त होवे ॥ ५३ ॥

सब दैवी शक्तियां इस नारी को उत्तम संतानों के साथ बढावें ॥ ५४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
अ०३। ६

जो मूढ मनुष्य केवल हस्तपादादि कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनमें विषयोंका चिंतन करता रहता है वह झूठा अथवा ढोंगी है। इसीके आगे प्रस्तुत श्लोक सं० ३ में पक्षांतरबोधक अव्यय "तु" रखकर ऐसा कहा है कि इन्द्रियसंयम करके अनासक्त बुद्धिसे कर्माचरण करनेवालेकी योग्यता अधिक है। अब प्रश्न यह आता है कि यह निष्काम कर्म करनेवाला किससे अधिक समझा जाय? हस्तपादादि इंद्रियों को रोककर हमेशा विषयोंका ध्यान करनेवाले ढोंगीसे अथवा ज्ञानमार्गीय मुमुक्षु से? इसका निपटारा कोईभी कर लेवे। हम नहीं कह सकते कि लोकमान्यने जो यह विपर्यास किया वह किस को और कबतक धोका दे सकता है।

इसके बाद श्लोक नं० ८ लीजिये। इसमें कहा है कि तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी इन सबकी अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है। परंतु योगी का मतलब क्या है? रहस्यकार कहते हैं कि हमारा कर्मयोगी। पाठकगण कृपा कर मूल ही में देख लें कि वास्तवमें क्या प्रकार है। समग्र छठवें अध्याय में ध्यानयोग का वर्णन है। इस अध्यायके अंतमें प्रस्तुत श्लोक आया है। इसके पिछले सब श्लोकोंका संदर्भ ध्यानयोगपर है; और इस श्लोक में योगी शब्दका अर्थ अपरोक्षज्ञानवान् ध्याननिष्ठ ऐसाही है। अगला पिछला सब संदर्भ देखकर कोई भी जांच सकता है कि योगीका वास्तविक अर्थ कर्मयोगी है जैसा कि लोकमान्य बतलाते हैं अथवा अपरोक्षज्ञानवान् ध्याननिष्ठ है जैसा कि हम बतलाते हैं। यहां इसका विस्तृत विवेचन करना संभव नहीं है। हम समझते हैं कि इस श्लोक में योगीका अर्थ कर्मयोगी करनेसे अर्थका अनर्थ होता है। स्वयं अंधे बनकर दूसरोंको अंधे बनाते हैं। यहांतक बात आनेपर इस श्लोकके संबंध में अधिक वाच्यता करने का कोई कारण नहीं रहता। जहां यह प्रकार है वहां तपस्वी ज्ञानी, कर्मी इन सबसे कर्मयोगी श्रेष्ठ है, ऐसा विधान सर्वथा निरर्थक है।

जिन बारा श्लोकों द्वारा संन्यासयोगकी अपेक्षा कर्मयोगकी श्रेष्ठता सूचित की जाती है उनमेंसे दस श्लोकोंकी छानबीन होगई। अब रहे दो श्लोक; उनसे भी क्या अर्थ निकलता है वह देखें।

प्रथमतः श्लोक नं.७ को लेवे। यह पांचवे अध्यायका दूसरा श्लोक है। अर्जुनका प्रश्न था कि "एक वार तुम कहते हो कि कर्म करना छोड दो; फिर कहते हो कि कर्म करो। मुझे स्पष्ट निःसंदिग्ध रीतिसे यह बतलाओ कि दोमेंसे कौनसी बात कल्याणप्रद है।" इसका उत्तर भगवानने प्रस्तुत श्लोकमें दिया है। इस श्लोकका मतलब यह है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्षप्रद हैं। परंतु इनमेंसे कर्म त्यागने की अपेक्षा कर्म करते रहना अधिक प्रशस्त है। कर्मयोगवादी कहलानेवाले समझते हैं कि संन्यासवादियोंपर छोडनेके लिये यह उत्तर मानो एक बडा भारी शस्त्र है। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि अन्य वचनोंका उपयोग यदि कुछ न न हुवा तो इस एकही वचनसे हम संन्यासमार्गियों के मुंह बंद कर देंगे। वे कहते हैं कि "यह लीजिये भगवान् का स्पष्ट और निःसंदिग्ध वचन। संन्यासयोग से कर्मयोगकी श्रेष्ठता स्थापित करने को इससे अधिक सबूत क्या हो सकता है?" परंतु ऐसे विजयोद्गार निकालने में उन्हें यह खबर नहीं रहती कि जिसको संन्यासमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग कहते हैं उसको अर्थ हम नहीं समझे और हम अपना अज्ञान प्रकट कर रहे हैं। वस्तुतः संन्यास अथवा ज्ञानयोगकी कल्पना थोडेसे शब्दोंमें ऐसे हो सकती है- सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक केवल ज्ञाननिष्ठासे मोक्ष मिल सकता है। कर्म मोक्षप्राप्तिका अंतरंग साधन नहीं है। 'सर्वकर्मसंन्यास' शब्दकी परिस्फुटता इस लेख में पहिलेही हम कर चुके हैं। सर्वकर्मसंन्यास आत्मज्ञानियोंकी सहजावस्था है। आत्मवेत्ताको हमेशा यह प्रतीति रहती है कि निर्विकार ऐसा जो ब्रह्म है वह मैं हूं। इस अवस्थामें वह न तो कर्म करनेकी क्रिया करता और न वह कर्म

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

न करनेकी क्रिया करता है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि उसका देह और इंद्रिय कर्म नहीं करते। केवल उसकी कर्तृत्वबुद्धि नष्ट होती है। "मैं करता हूं" ऐसा अज्ञान उसमें नहीं रहता। "मैं कर्म छोडता हूं" अथवा "मैं करता हूं" यह भावना आत्मवेत्ताकी नहीं, अनात्मज्ञ की है। श्रीमद् आचार्यने सर्वकर्मसंन्यासकी व्याख्या इस तरह की है-निष्क्रियात्मस्वरूपेण अवस्थानम्। सर्वकर्मसंन्यास का मतलब है निष्क्रियब्रह्मस्वरूपकी अवस्थामें स्थित रहना। कर्म स्वरूपतः छोडने अथवा स्वीकृत करनेका इस अवस्थासे कोई सरोकार नहीं। कर्म मेंसे अहंबुद्धि जहां लुप्त हुई वहां सर्वकर्मसंन्यास सिद्ध होगया। इस आत्मस्थितिको अन्य लोक सर्वकर्मसंन्यास कहते हैं; परंतु आत्मवेत्ताको संन्यासकी खबर नहीं रहती और कर्मयोगकी खबर नहीं रहती। वह केवल एक सर्वस्थित और अकर्तृ ब्रह्मको जानता है; और वह मैं ही हूं ऐसा समझता है।

संन्यास शब्दका प्रयोग जैसे सर्वकर्मसंन्यस्त स्थितिके अर्थमें किया जाता है वैसे अज्ञ मनुष्य वैराग्य वृत्तिसे संन्यासधारणा करता है, उसके अर्थमें भी यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है। यह संन्यासधारणा चतुर्थाश्रम स्वीकार है। इस अर्थमें इस शब्दका ज्ञानयोगवाचक संन्याससे (सिवाय नामसादृश्यके) कोई संबंध नहीं। इसमें ज्ञानका साहचर्य नहीं रहता, वह सर्वकर्मसंन्यासमें रहता है। इसलिये उस संन्यासको ज्ञानयोग कहते हैं, इस (चतुर्थाश्रमस्वीकार)को ज्ञानयोग नहीं कहते। इसे संन्यास कहनेका कारण यही है कि इसका स्वीकार करनेपर गृहस्थाश्रमके कर्म छूट जाते हैं। इसमें सर्वकर्मोंका संन्यास नहीं होता और आत्मैक्य बुद्धि नहीं होती; यह ज्ञानयोगका साधन है, ज्ञानयोग नहीं। कर्मयोग जिस प्रकार ज्ञान द्वारा मोक्षका एक साधन है, उसी प्रकार और उसी रीतिसे यह संन्यासाश्रम भी एक साधन है। इसका स्वीकार आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। वैराग्य उत्पन्न न हुवा हो तो यह संन्यासभी लेना नरकको निकट करना है। शास्त्रकी अनुज्ञा यह है कि संन्यास तभी लिया जाय जब कि ऐहिक व आमुष्मिक सब विषयसुखके संबंधमें वितृष्णा उत्पन्न हो। वह लेनेसे जब गृहस्थाश्रमके सब कर्म और व्याप छूट जाते हैं तब आत्मज्ञान संपादन करनेको मनुष्य अधिक स्वतंत्र होता है। इस संन्याससे आगे आत्मज्ञान संपादन करना है इसीसे यह स्पष्ट होता है कि इसे स्वीकार करनेवाला अनात्मज्ञ रहता है। उसे यह अहंबुद्धि रही है कि मैंने संन्यास लिया, मैं श्रवणमनन करता हूं। जिसकी कर्तृत्वबुद्धि कायम हो वह अनात्मज्ञ है।

अस्तु; संन्यासाश्रम और सर्वकर्मसंन्यास दो सर्वथा भिन्न वस्तु हैं; यह बात ऊपरके विवेचनसे सहज ध्यानमें उतरेगी। इनके अधिकारी क्रमशः अनात्मज्ञ और आत्मज्ञ ऐसे भिन्न भिन्न हैं। अज्ञ मनुष्य विरागी होता हुवा संन्यासदीक्षा लेकर कर्म त्याग करता है; ज्ञानी पुरुष केवल कर्ममेंसे अहंबुद्धि लुप्त कर देता है। अब इन दो प्रकारके संन्यासमेंसे कौनसे संन्यासके विषयमें अर्जुनने भगवानको प्रश्न किया और भगवानने उत्तर दिया? अर्जुन पूछते हैं "हे भगवान्! यहां तुम कर्म छोडनेके कहते हो और यहां कर्म करनेका उपदेश करते हो; इनमेंसे अधिक ग्राह्य कौनसा है?"

भगवान् कहते हैं, "कर्म छोडनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक प्रशस्त है।" इस उत्तरमें भगवान्ने अर्जुनको आत्मज्ञानका संन्यास कहा है कि अनात्मज्ञका संन्यास कहा है? सर्वकर्मसंन्यास कोई क्रिया नहीं है। मैं अकर्ता हूं ऐसी जो आत्मज्ञकी निश्चित बुद्धि उसीका नाम है सर्वकर्मसंन्यास। इतना कहनेपर क्या ऐसी भाषा संभाव्य है कि ज्ञानीको कर्म छोडना चाहिये अथवा कायम रखना चाहिये? इसके अतिरिक्त अर्जुनमें वह कर्तृत्वबुद्धि जो अनात्मज्ञता की निशानी है, स्पष्ट रूपसे विद्यमान थी। वह भगवान्से पूछता था कि मैं युद्ध करूं अथवा न करूं? ऐसी हालतमें यह बतलानेकी जरूरत नहीं कि जिस संन्यासकी अपेक्षा भगवान्ने कर्मयोगको श्रेष्ठ कहा वह संन्यास कौनसा है। स्पष्टसे स्पष्ट है कि संन्यास शब्दसे आत्मवेत्ताका कर्मसंन्यास नहीं

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

किंतु अनात्मज्ञका कर्मसंत्याग उद्दिष्ट है। इससे यह सिद्ध हुवा कि अनात्मज्ञका कर्मयोग अनात्मज्ञके संन्याससे श्रेष्ठ है। उससे ज्ञानका अथवा ज्ञानमार्ग का कोइ संबंध नहीं। इतना निश्चित होनेपर, इस श्लोकसे कर्मयोगवादियोंने जो निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञानमार्गसे कर्ममार्ग श्रेष्ठ है वह बिलकुल झूठा सिद्ध होता है।

ज्ञानमार्गसे अथवा संन्यासमार्गसे कर्ममार्गको श्रेष्ठ कहनेवालोंका अब एक किला बाकी रहा; देखते हैं, यह भी सरल रीतिसे काबिज हो सकता या नहीं। यह किला (अर्थात् नं. १०) बारहवे अध्यायका बारहवां श्लोक है।

भगवान्ने इस श्लोकमें स्पष्ट कहा है कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। हमने उपपादनके लिये बारहवे अध्यायके जो चार श्लोक (८।९।१०।११) लिये थे उनके आगे प्रस्तुत श्लोक आता है। यह देखा गया है कि श्लोक ८। ९। १०। ११। में जो मार्ग बतलाये गए हैं वे एकसे एक नीचे उतरते हैं और प्रत्येक नीचेवाला श्लोक उपरवाले का उपायभूत है और सबसे कनिष्ठ निष्काम कर्मयोग है। ऐसा होनेपर यह प्रश्न उठता है कि प्रस्तुत श्लोकमें कर्मफलत्याग अर्थात् निष्काम कर्मयोग ज्ञान व ध्यानकी अपेक्षा श्रेष्ठ कैसे कहा गया? मोक्षसाधन की सबसे नीची भूमिका कर्मफलत्याग है ऐसा जोरोंसे प्रतिपादन करनेपर कर्मफलत्यागको सबसे सरल उपाय कहनेका हेतु यही होना चाहिये कि निदान पक्ष इसका आचरण लोग करें। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई उपपत्ति लागू नहीं होती। कर्मफलत्यागके विषयमें लोगोंको अभिरुचि उत्पन्न हो इस गरजसे उसकी यह स्तुति की गई है। अर्थात् यह अर्थवाद है। "अर्थवाद" शब्दपर नाराज होनेकी जरूरत नहीं। अर्थविवरणमें अर्थवादके लिये भी स्थान है; और इसका प्रयोग तब किया जाता है जब कि वक्ता चाहता है कि श्रोता किसी विहित कामको करे। प्रस्तुत प्रसंग वैसाही है। अर्जुनको किसी तरह निःश्रेयसके मार्गमें उद्युक्त करनेके लिये भगवान्का यह भरसक प्रयत्न है। यदि श्लोक ८। ९। १०। ११ का अर्थ जिस प्रकार हमने ऊपर विवेचन किया है, अचल है, तो प्रस्तुत बारहवें श्लोकका अर्थ स्तुतिपर लगाना चाहिये; इससे दूसरा कोई मार्ग नहीं रहता। अन्यथा भगवान्के माथेपर असंबद्ध प्रलापका दोष पडता है। ऐसा न होना चाहिये, और विवरणरचना उपरि-निर्दिष्ट प्रकारसे किये विना यह हो नहीं सकता। ज्ञानयुक्त ध्यान ब्रह्मसाक्षात्कारका अत्यंत संनिकृष्ट साधन है; कैवल्यप्राप्ति केवल उसीसे होती है, यह सर्वमान्य है। तथापि जब यह कहा जाता है कि वैसे ध्यानसेभी निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है तब यह माननाही पडेगा कि श्रोताओंको अभिमुख करनेके हेतु यह उसकी केवल स्तुति की गई है। श्लोक ८। ९। १०। ११ में वर्णित समस्त मोक्षसाधनोंका पर्यवसान कर्मफलत्यागही पर किया है, इससे उसीकी प्रशंसा युक्त भी है। यदि संन्यासमार्गियोंका तथा कर्मयोगवादियोंको यह मानना पडता है कि ज्ञानयुक्त ध्यानसे कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ कहनेमें केवल अभिरुचि उत्पन्न करनेके लिये उसकी स्तुति की गई है, तब वही न्याय ज्ञानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग जहां श्रेष्ठ बतलाया वहां क्यों न लगाया जाय 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' यह सिद्धांत कर्मयोगवादियों कोभी शिरसा मान्य है। मोक्षका साधन ज्ञानही है, अन्य कोई नहीं: ज्ञान व मोक्षके बीचमें कोई चीज बैठ नहीं सकती ऐसा निश्चित मत कर्मवादियोंका भी है; तब वे कैसे कह सकेंगे कि ज्ञानसे कर्मयोग श्रेष्ठ है? उनको भी यह मानना ही पडेगा कि यह केवल कर्मफलत्यागकी स्तुति की गई है। चाहे वे मंजूर करें अथवा न करें। एकबार कहना कि ज्ञानहीसे मोक्षप्राप्ति होती है; फिर कहना मोक्षप्राप्तिके लिये ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ उपाय कर्म है; ये दोनों बातें एकही मुखमें जमतीं नहीं। अतएव सब प्रकारके मतवादियोंका, जैसे संन्यासमार्गियोंको वैसेही कर्मयोगवादियोंका भी, इस वचनका अर्थ मानना आवश्यक है। सूज्ञ महाशय सोच लेवें कि ऐसी हालतमें इसे अर्थवाद माननेवाला प्रामाणिक

*

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

है अथवा जो ऐसा नहीं मानता और माननेवालोंको गालियां देता वह प्रामाणिक है।

अस्तु; कर्मफलत्यागका कर्मफलविषयक आसक्तिका त्याग ऐसा एकही अर्थ लेकर यह विवरण किया गया। वामनपंडितने कर्मफलत्याग शब्दके अर्थका विशेष रूपसे परिस्फोट करके जो व्याख्यान दिया वह भी बहुत सरस और मननीय है। उनके परिस्फोटके आधारपर अब विवेचन करते हैं।

भगवानने अर्जुनको ग्यारहवें श्लोकमें कहा कि यदि तुम ईशपर कर्म करनेमें असमर्थ हो तो इंद्रियनिग्रह करके तुम परित्याग करो। बारहवें श्लोकमें वर्णन है कि ज्ञानकी अपेक्षा और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। ग्यारहवें श्लोकमें कृति करनेको कहा है, बारहवें में ज्ञानध्यान व कर्मफलत्याग इन दोनोंमें जो सहजस्थिति है वह बतलाई है।

पूर्वश्लोकीं म्हणे कृष्ण वाचा।
कीं तूं करीं त्याग कर्माच्या फलाचा।
या श्लोकीं म्हणे त्याग हा साचा।
ध्यानें होतसे म्हणोनी॥

[अर्थ—पिछले श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि तुम कर्मके फलका त्याग करो। इस श्लोकमें वे कहते हैं कि त्याग यथार्थ में ध्यानसे होता है।]

त्याग करना और त्याग होना इनमें भेद है, और यह भेद अत्यंत महत्त्वका है। एक कृत्रिम है, दूसरा स्वतःसिद्ध है; एक बनावटी है दूसरा असल है, एक मुमुक्षुस्थितिका है, दूसरा मुक्तावस्था का है। इस प्रकार इन दोनोंमें अत्यंत महदंतर है। कर्म, उपासना, ध्यान इनमेंसे कुछ न होसके तो कमसे कम मनोनिग्रह करके, अर्थात् इंद्रियोंको रोक रखकर कर्मफलका त्याग करना यह बात यद्यपि साधककी प्रथमावस्था में युक्त है, तथापि यह केवल जबरदस्तीका उपाय है। परंतु साधकावस्था से उत्तीर्ण होकर ज्ञानसे और ध्यानसे जहां सिद्धावस्था प्राप्त हुई वहीं कर्मफलत्याग आपसे आप होता है।

कीं जालिया जान। जेवां घडे ध्यान। ध्यानीं पावतां समाधान। आपोआप बिंबे हो त्याग॥

(अर्थ-ज्ञान होनेपर जब ध्यान हो जाता है और जब ध्यानमें समाधान प्राप्त होता है, तब यह त्याग आपही आप बद्धमूल होता है।)

इस प्रकार इन दोनोंमें जमीनआस्मानका फरक है। अज्ञस्थितिमें पहिले त्यागका आचरण करना है, दूसरा त्याग ज्ञाननिष्ठ को सहज प्राप्त होनेवाला है। ग्यारहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि तुम कर्मफलत्याग करो, बारहवें श्लोकमें यह अभिप्राय है कि ज्ञानध्यानके पश्चात् कर्मफलत्याग होजाता है। इन दो श्लोकोंका यह सरल अर्थ है, इसमें अर्थवाद का आश्रय कहीं नहीं लिया गया। अज्ञ स्थितिवाले मनुष्यको फलका त्याग करनेको कहा जाय तो ज्यादा से ज्यादा वह मनका संयमन करके विषयोंसे दूर रहेगा अथवा उनपर जो आसक्ति है उसे छोड देगा, परंतु विषयोंकी उसकी वासना नष्ट होना अशक्य है। वह नष्ट होनेको ध्याननिष्ठाही प्राप्त होनी चाहिये और वह जब नष्ट होगी तभी मुक्तिसुखका लाभ होगा।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

यह श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध है। ध्याननिष्ठ अवस्थामें कर्मफलत्याग आपही आप होता है, इसका अर्थ यह होता है कि उसकी इच्छा भी नष्ट होती है, और तभी ज्ञानी पुरुष मुक्तिरूप शांतिके लिये पात्र होता है। "त्यागाच्छांतिरनंतरम्" इसका यही अर्थ है। वांच्छा कायम रहते हुए फलत्याग करना साधकावस्था में चाहे कितना भी आवश्यक हो, वह एक प्रकारसे मिथ्याचार ही है, परंतु सच्चे फलत्याग का मतलब इच्छाका भी अभाव है। यह ज्ञान ध्यान के बादही प्राप्त होना है, और ऐसे सद्यःमुक्तिप्रद फलत्यागको अन्य सब साधनोंसे श्रेष्ठ स्थान देनेको कौन इनकार करेगा? यहांभी नामसादृश्यने घुटला कर दिया था, परंतु वामनपंडितने जो योग्य खुलासा किया है उससे वह घुटला रह नहीं सकता। जो जिज्ञासु इससे अधिक परिस्फोट चाहते हों उनको वामनपंडितकी शरणमें जाना चाहिये, इससे उनके मनको पूर्ण समाधान होगा। निष्कामकर्मयोग का मतलब है फलासक्तिका त्याग, न कि फलेच्छा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

का त्याग। यह अर्थ कर्मयोगवादियोंका ही है परंतु उस निष्कामकर्मयोगकी अब कितनी कीमत रह गई यह ऊपरके विवरण से हरएक के ध्यान में आवेगा। अर्थवादका अथवा स्तुतिवाक्योंका आश्रय किये विना सरल व खुला अर्थ करनेपर भी हमने इस प्रकार यथामति बतलाया है कि गीतामें निष्काम कर्मयोगका स्थान कहां है। सूक्ष्म जन इसपर विचार करें।

---

६ श्रीमद्भगवद्गीतांतर्गत योगत्रयका समन्वय।

(लेखक—श्री० ह० भ० प० धुंडिराज रामचंद्र महाराज, श्री गुंडामहाराज संस्थान देगलूर.)

'श्रीमद्भगवद्गीता' न केवल भरतभूमिके, किंतु यावद् जगत् के साहित्य भांडारमें एक अमूल्य रत्न है। अनेक परीक्षकोंने आजतक इस रत्नका मूल्य जांचनेका प्रयत्न किया है, परंतु यह कहना अयोग्य न होगा कि इसको योग्य कीमत कोई भी न ठहरा सका। विचारी पुरुष जब जब श्रीमद्भवगद्गीता का अवलोकन करेगा तबतब उसे नावीन्यका अनुभव होगा। श्री ज्ञानेश्वर महाराजने कहा है—

तेथ हरू म्हणे नेणिजे। देवीं जैसें का स्वरूप तुझें।
तैसें हें नित्य नूतन देखिजे। गीतातत्त्व॥
—ज्ञानेश्वरी १।७१

जें 'भगवद्गीता' म्हणिजे। जें ब्रह्मेशांनीं प्रशंसिजे।
जें सनकादिकीं सेविजें। आदरेंसी॥ —१।५५

[अर्थ- महादेवजी कहते हैं कि जैसे तुम्हारा स्वरूप कोई जान नहीं सकता, वैसेही यह गीतातत्त्व नित्य नूतन दीख पडता है॥

जिसे भगवद्गीता कहते हैं, उसकी प्रशंसा ब्रह्मदेव करते हैं, सनकादिक उसका सेवन आदरसे करते हैं।]

गीतापर टीका लिखते समय श्री ज्ञानेश्वर महाराज के निम्नलिखित उद्गार हैं—

हें अपार कैसें कवळावें। महातेज कवणें धवळावें। गगन मुठीं सुवावें। मशकें केंवि॥ १।७४

(अर्थ- इस अपार "गीता"का आकलन कैसे हो, इस महातेज का सामना कौन करे, मच्छर अपनी मुट्ठीमें आकाश को कैसे रखे ?)

इनके समान महानुभावों को जब 'श्रीमद्भगवद्गीता' के विषयमें इतनी अगाधता प्रतीत होती है, तब हमसरीखे अनधिकारी गीताका आकलन कैसे कर सकेंगे ? तथापि 'नभः पतंत्यात्मसमं पतत्रिणः' इस न्यायसे विचार करनेका हमारा उद्देश्य है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में अनेक विषय आये हैं, तथापि यह कोई भी कबूल करेगा कि उसमें प्रमुखतासे 'कर्मयोग, ज्ञानयोग व भक्तियोग' इस योगत्रयीपर विचार किया गया है। बहुतसे लोगों का मत है कि इन तीनों का परस्पर कोई संबंध नहीं है। परंतु हम ऐसा नहीं समझते। गीताके कर्मयोगका ज्ञानयोग व भक्तियोग से पूर्ण संबंध है, हमारी समझमें कर्मयोग भक्तिज्ञानरहित नहीं है।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि॥२।३९
योगस्थः कुरु कर्माणि॥ २।४८
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः॥२।५१
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर॥ ३।१९
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तः॥ ३।२५
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा॥ ३।३०
न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ ४।१४
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥ ४।१५
कर्मण्यकर्म यः पश्येत् ॥ ४।१८
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥ ४।२०
नीराशीर्यतचित्तात्मा-
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४।२१
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ॥ ४।२४
योगसंन्यस्तकर्माणं ॥ ४।४१
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥४।३३

इत्यादि इत्यादि वचन यह बतलाते हैं कि किस प्रकार कर्मयोग ज्ञानरहित नहीं किंतु ज्ञानसहकृत है। इसी तरह हम यह प्रमुखतासे सिद्ध करना चाहते है कि कर्मयोग भक्तिरहित नहीं है, बल्कि उसका भक्तियोगसे क्या संबंध है वह बतलाना चाहते हैं। यह भी देखना आवश्यक है कि यदि कर्मयोग भक्तिसहकृत हो तो उसका स्वरूप कैसा है।

इस प्रश्नपर विचार करनेके पहिले यह देख लें कि कर्मका स्वरूप क्या है। यद्यपि कर्मके अनेक प्रकार हैं तथापि उसके तीन विभाग होते हैं—(१) निषिद्ध कर्म, (२) काम्य कर्म, (३) कर्तव्य कर्म। चोरी, हिंसा व्यभिचार, असत्य, कपट, छल इत्यादि निषिद्ध कर्म हैं। स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि प्रियवस्तुप्राप्त्यर्थ जो कर्म किये जाते हैं उन्हें काम्य कर्म कहते हैं। ईश्वरभक्ति, देवतापूजन, यज्ञ, दान, तप, मातापितागुरुजनोंकी सेवा, वर्णाश्रमधर्मका आचरण, तथा शरीरसंबंधी स्नानपानादि व्यवहार कर्तव्यकर्म कहलाए जाते हैं। कर्तव्यकर्म यदि कामनायुक्त हों तो उनका भी अंतर्भाव काम्य कर्मोंमें हो सकता है। परंतु उन कर्मोंमें स्वाभाविक धर्म तथा जीवनपोषक कर्म भी समाविष्ट हैं, इसलिये मनुष्यमात्रपर उन कर्तव्यकर्मोंके पालन की विशेष जबाबदारी रहती है। कुछ विशेष विषयोंकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्य कर्मका आचरण करना कर्ताकी इच्छापर निर्भर है।

इन त्रिविध कर्मोंमेंसे निषिद्ध कर्म सबके लिये सर्वस्वी त्याज्य हैं।

मोक्षकी इच्छा धारण करनेवाले मुमुक्षुको काम्य कर्मोंकी आवश्यकता नहीं।

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।

अब रहा कर्तव्यकर्म। वह भी भावनाभेदसे सकाम और निष्काम ऐसा दो प्रकारका है। मनुष्यको जब सकाम कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तबसे लेकर कर्मारंभ करके कर्मसमाप्तिके पश्चात् चिरकालतक उसके अंतःकरणमें केवल फल हीका अनुसंधान रहता है। ऐसे काम्य कर्मका आचरण करनेवालेकी चित्तवृत्तियां पदपद पर अपना लक्ष्य जो फल है उसीको विषय बनाती रहती हैं। धनप्राप्तिके लिए कर्म हुआ तो क्षणक्षणमें उसको धनस्मृति रहती है, उसका चित्त धनाकार बनता है। कर्मसिद्धिके बाद जब उसे धनप्राप्ति होती है तब वह आनंदित होता है। परंतु किसी अंतरायके कारण जब उसे उस कर्मका फल नहीं मिलता, अर्थात् द्रव्यलाभ न होकर कोई दूसरीही आपत्ति आती है, तब उसे अत्यंत क्लेश होते हैं; उसका चित्त फलानुसंधानयुक्त रहनेसे सदैव व्यथित और अशान्त रहता है। ऐसे पुरुषका विषयविमोहित चित्त क्वचित् समयपर उसे निषिद्ध कर्ममें भी प्रवृत्त करेगा। शास्त्रानुसार कर्म करनेवाला सकाम पुरुष यद्यपि निषिद्ध कर्म न करेगा, तथापि विषयलोभके कारण उसे निषिद्ध कर्मकी ओर पतनकी भीति है। कभी कभी क्रियाचरणमें कोई त्रुटि होती है (और ऐसी त्रुटि होना असंभाव्य नहीं) तब उसे उस कर्मकी सिद्धि मिलना दूरही रहा, किंतु उसे प्रायश्चित्त अथवा दुःखफलका भागी होना पडता है।

निष्काम कर्मयोगका आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामी की अपेक्षा अत्यंत विलक्षण रहती है। उसके अंतःकरणमें किसी भी प्रापंचिक कामनाका प्रवेश नहीं होता। वह जो जो कर्म करता वह फलेच्छाका त्याग करके अनासक्त बुद्धिसे ही करता है। यहां भी साहजिक एक शंका होती है कि यदि वह पुरुष फलेच्छारहित है तो कर्म करता ही क्यों?" सर्वसामान्य नियम है कि व्यवहारमें हेतुके विना

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मनुष्यके द्वारा कर्म नहीं होते। "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते।" और हेतु जब रहता तब किसी न किसी फलके विषयमें रहता है। ऐसी स्थितिमें विना फलेच्छाके कर्म होना असंभाव्य है। शंका योग्य है। इसका उत्तर इतनाही है कि साधारण मनुष्यकी कर्मप्रवृत्तिके लिये हेतुका अस्तित्व अनिवार्य है; परंतु उस फलहेतुके स्वरूप भिन्नभिन्न रहते हैं इसलिये फलकामनाके अनुसार वह अनेक प्रकारके कर्मोंका आचरण करता है। उसके कर्मोंमें केवल एक हेतु विषयवासना रहता है और उसीके लिये आसक्त बुद्धिसे वह कर्म करता है। (गीता. २। ४२, ४३, ४४ व ९।२०-२१) उसकी बुद्धि कामनापरिपूरित रहनेसे कर्मकी सिद्धि असिद्धिके कारण वह स्वतःको सुखी अथवा दुःखी समझता है। निष्काम कर्मी पुरुषके कर्मोंका एकमात्र हेतु परमात्मप्राप्ति रहता है (निष्कामकर्मयोगी की परमात्मप्राप्तिकी कामना परिणामतः परम कल्याणहेतुक रहती है इसलिये उसे कामनाकी संज्ञा लागू नहीं है। भगवत्प्राप्ति की इच्छा धारण करनेवाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है।) "न हि मय्यर्पितधियां कामः कामाय कल्पते। (भा०) वह नित्य नवीन उत्साहसे आलस्यप्रमादरहित होकर कर्माचरणमें प्रवृत्त होता रहता है। सांसारिक फलकामनाओंके अभावसे वह आसक्त नहीं होता, और कर्मकी सिद्धि असिद्धिके विषयमें उसे हर्ष शोक नहीं होता।

आत्मलाभासारिखें। गोमेटें कांहींच न देखे।
म्हणोनि भोगविशेखें। हरिखेना जो॥
ज्ञानेश्वरी १२-१९२

(अर्थ- आत्मलाभसरीखा सुहावना कुछ नहीं दीखता;इसलिये जो भोगविशेषसे हर्षित नहीं होता।

वैं आपुलें जें साचें। हें कल्पांतींही न वचे।
हें जाणोनि गताचें। न शोची जो॥
ज्ञानेश्वरी १२-१९२

(अर्थ- परंतु वास्तविक जो अपना है वह कल्पांतमें भी नहीं टलता ऐसा जानकर जो गत वस्तुके लिये शोक नहीं करता।

उसकी दृष्टिमें व्यवहारके सब पदार्थ तुच्छ, अनित्य, मलिन, क्षुद्र प्रतीत होते हैं। परंच सकाम पुरुषके सदृश उससे निषिद्ध कर्माचरण हो नहीं सकता, वह असंभवनीय है। पहिले लिख चुके हैं कि निषिद्ध कर्मका कारण आसक्ति अथवा लोभ है। निष्काम पुरुष जगत्के संपूर्ण पदार्थोंका लोभ छोडकर उनसे अनासक्त रहनेकी इच्छा करता है परमात्मप्राप्तिके अनुकूल जो जो कर्म हों उन्हें बडे प्रेमसे वह करता है। परमात्म प्राप्तिके अनुकूल कर्म वही हैं जिनके लिये भगवानने अथवा भगवदाज्ञारूप वेदने परवानगी दी है। यह निर्विवाद है। जो कर्म शास्त्रविहित हैं,जो किसीके लिये अनिष्टकारक नहीं, ऐसे कर्मोंमें निषिद्ध कर्मोंका समावेश कदापि नहीं होता; इसलिये निष्काम पुरुषका अधिकार सकामी की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ कोटिका रहता है। सकाम पुरुष जगत्के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझकर उनकी प्राप्तिकी इच्छासे ममतायुक्त मनसे आसक्तिपूर्वक कर्म करता रहता है; निष्काम कर्मी प्रत्येक वस्तु भगवानकी है ऐसा मानकर सिद्धि और असिद्धिमें समत्वभावना रखकर आसक्ति व फलेच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञाके अनुसार समस्त कर्माचरण केवल भगवत्प्राप्तिके हेतु करता रहता है। सकाम व निष्काम कर्मी के बीचमें यही अंतर है।

"श्रीमद्भगवद्गीतामें" निष्काम कर्मयोगका विवेचन दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकसे शुरू होता है। श्लोक ११ से ३० तक सांख्ययोगका प्रतिपादन करनेपर ३१ वें श्लोकमें क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करके ३९ वें श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥२।३८

मोहके कारण पापभयसे युक्त ऐसे अर्जुनको भगवान्ने कहा कि सुखदुःख, जयापजय,लाभहानि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

रूप सिद्धि-असिद्धिविषयक समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं लगता। इतना कहकर आगेके श्लोकसे कर्मयोगके विवेचनको प्रारंभ किया।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि॥२।३९

'हे पार्थ, यह बुद्धि तुम्हारे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गई। अब निष्काम कर्मके विषयमें उसे तुम श्रवण करो। इस बुद्धिसे युक्त होकर यदि तुम कर्म करोगे तो योग्य रीतिसे कर्मबंधका नाश करनेमें तुम समर्थ होगे।'

इसके आगेके श्लोकमें श्रीकृष्ण भगवान्ने निष्कामकर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि निष्काम कर्मयोगरूपी धर्मका आचरण थोडाभी हो तो वह महान् भयसे रक्षण करनेवाला है। "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" आगे ४७ वें श्लोकमें कर्मका अधिकार और फलके विषयमें अधिकार बतलाकर ४८ वें श्लोकमें कहा कि जो कुछ कर्म किया जाय उसकी पूर्णता अथवा अपूर्णताके विषय में तथा उसके फलके विषयमें जो समभाव उसीका नाम समत्व; इस समत्वभावका कर्मसे संबंध आने से वह कर्मयोग होता है। तत्पश्चात् अर्जुनको आज्ञा दी है कि आसक्ति छोडकर सिद्धि-असिद्धिके विषयमें समबुद्धि धारण करके कर्म करो; और इसका फल ५१ वें श्लोकमें बतलाया है। वह यह है कि "जन्मबंधसे मुक्त होकर अमृतमय ऐसे परमात्मपदकी प्राप्ति होगी।"

इस प्रकार दूसरे अध्याय के श्लोक ४७ से ५१ तक योगका विवेचन किया है। इस विवेचन में यद्यपि कहीं भक्तिका नामनिर्देश नहीं, तथापि ऐसा न समझना चाहिये कि यह कर्मयोग भक्तिशून्य है। गीतोक्त निष्कामकर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है। इतना जरूर ध्यानमें रहे कि कहीं कहीं वह भावप्रधानरूपसे योग्य रीतिसे व्यक्त किया है, और कहीं गौण रीतिसे अव्यक्त रूपसे उनका उल्लेख किया गया है।

परमात्मप्राप्तिकी शुभवासना सामान्यतः प्रत्येक कर्मयोगान्तर्गत उपदेश में भरी है। निष्कामकर्मयोगके आचरणका प्रारंभ उसी वक्त होता है जब कि साधक अपने अंतःकरणमें परमात्मप्राप्तिकी शुभ व दृढ भावना रखकर सांसारिक भोगोंके प्राप्ति-अप्राप्तिके विषयमें हर्षशोकरहित होकर फलालक्षित का त्याग करनेकी इच्छा करे। जो कर्म भगवत्प्रीति अथवा प्राप्ति के लिये उपयोगी हों उन कर्मोंको कर्मयोग नहीं कह सकते। कर्मयोग नामकी सार्थकता तबही होती है जब कि उस कर्मका परमात्मासे संबंध आता है। गीतामें कर्मयोगका वर्णन दो प्रकारसे नजर आता है। कोई श्लोकोंमें भक्ति प्रधानरूपसे प्रगट दिखती है, कोई कोई श्लोकोंमें अप्रगट रीतिसे उसका अस्तित्व प्रतीत होता है। जहां प्राधान्यसे भक्तिका कथन है वहां "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य" [सब कर्मों को मुझे समर्पण करके] "मेरा स्मरण करते हुए कर्म करो" "समस्त कर्म मुझे अर्पण करो" "मदर्थ कर्म करो" "स्वाभाविक कर्म के द्वारा परमात्माकी पूजा करो" "मदाश्रय होकर कर्म करो" "मत्परायण हो" इत्यादि इत्यादि वाक्य आए हैं। [देखो गीता ३।३०, ५।१०, ८।७, ९।२७२८, १२।९-१०-११, १८।४६५६-५७ इ० इ०] जहां भक्तिका सामान्यतः अप्रगट रीतिसे विवेचन हुवा है वहां ऐसे वाक्य नहीं आए. [देखो गीता—२।४७ से ५१ तक, ३।७-१९, ४।१६, ९।१६, १८।६-९ इ. इ.]

इससे यह सिद्ध हुवा कि भगवद्भावना दोनों वर्णनोंमें है; इसलिये भगवन्नाम, भगवच्चरण, भगदर्थ इ० भावनोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोंमें स्पष्टतया नहीं आते, उन श्लोकोंके अनुसार आचरण करनेसेभी भगवत्प्राप्ति हो सकती है; तथापि इसमें संदेह नहीं कि कर्मयोगाचरण के साथ यदि स्मरणकीर्तनादि भक्तिका संयोग हुवा तो भगवत्प्राप्ति बहुतही शीघ्र होगी, और समस्त कर्मयोगी पुरुषोंमें इसी भांति के योगी उत्तम समझे गए हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥६।४७

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भगवान् कहते हैं, "संपूर्ण कर्मयोगियोंमें जो श्रद्धावान् योगी मत्स्वरूप में स्थिर ऐसे अंतःकरण से निरंतर भक्ति करता है, उसे मैं सर्व प्रकारके योगियों से श्रेष्ठ समझता हूं।"

यह बात नहीं कि भक्तियुक्त कर्मयोगका आचरण जो नहीं करते उन्हें भगवत्प्राप्ति नहीं होगी। परंतु बहुत विलंब से होगी। (गी०४।३८; ६।४५)

गीतामें निष्काम कर्मयोग का वर्णन समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थ कर्म, मदर्थ कर्म, मदर्पण, मत्कर्म, सात्विक त्याग इत्यादि अनेक नामोंसे किया किया गया है। इन सबका फल एक है, तथापि उनके साधनक्रिया में किंचित् भेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ मदर्पण, व मदर्थ इन दोनों में जो भेद है वह सहज गम्य है। इसी तरह तदर्थ अथवा भगवदर्थ दोनों समानार्थक हैं। मदर्पण कर्मका स्वरूप यह है कि जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे उद्देश्यसे धनसंग्रह करता है और पहिले का भी कुछ द्रव्य उसके पास है। वह अपने द्रव्यसंग्रहका उद्देश्य बदल सकता है और संग्रहीत धनका स्वेच्छानुसार व्ययभी कर सकता है। मदर्पण कर्ममें उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार कर्मका आरंभ करने पर बीचमें अथवा कर्मसमाप्तिके बाद भी वह कर्म भगवदर्पण हो सकता है।

भक्तराजध्रुवने राज्यप्राप्ति के हेतु तपश्चर्यारूप कर्मका आरंभ किया था। परंतु बीचही में उसकी भावना में बदल हुवा और वह तपरूप कर्म उसने भगवान् को अर्पण किया; इसी कारण उसे भगवत्प्राप्ति हुई। इसके अतिरिक्त उसकी कर्मप्रारंभकालीन इच्छाके अनुसार उसे राज्य भी मिला, परंतु वह उसे बाधक नहीं हुवा; यह भगवदर्पण बुद्धिसे किये हुए कर्मका फल समझना चाहिये। इसलिये प्रारंभमें अन्य उद्देश्य रहनेपर भी बीचमें अथवा कर्मसमाप्ति के बाद जो कर्म भगवदर्पण किया जाता वह मदर्पण कर्मस्वरूप है। तदर्थ अथवा भगवदर्थ कर्मका स्वरूप ऐसा नहीं होता, वह आरंभहीसे भगवत्प्रीत्यर्थ किया जाता है। किसी देवताके उद्देश्यसे हविर्भाग तयार करना अथवा ब्राह्मणभोजनके लिये सामग्री तयार करना ऐसे काम किसी विशिष्ट उद्देश्यसे किये जाते हैं, उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधक के हरएक कर्मका आरंभ भगवदुद्देश्य से ही होता है। 'भगवदर्थ' कर्मोंमें भी कुछ विभाग होंगे। जैसे भगवत्प्राप्त्यर्थ कर्म करना, भगवदाज्ञाके अनुसार कर्म करना, और भगवत्सेवास्वरूप कर्मोंमें नियुक्त रहना और भगवत्प्रीतिसंपादनार्थ कर्माचरण में प्रवृत्त होना। इ० इ०

भक्तिप्रधान कर्मयोगविषयक यह विचार हुआ। इसके सिवाय समत्वयोग, कर्मयोग और सात्त्विक त्याग आदि शब्दोंमें भी एकवाक्यता है। दूसरे अध्याय के श्लोक ४७ से ५१ तक जिस कर्मयोगका विवेचन हुआ है उसे १८ वे अध्याय के श्लोक ६ व ९ में त्याग कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवत्प्राप्त्यर्थ किया हुआ कर्मयोगही निष्कामकर्मयोग कहलाया जाता है। निष्काम कर्मयोगी को भगवत्प्राप्ति के लिये कर्मका त्याग करके एकांतमें रहकर भजन ध्यान वगैरे करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। वह साधक भगवच्चिंतनसहित शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता हुआ भगवान् की कृपासे परम गति को प्राप्त होता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥१८।५६
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७

"जो मत्परायण होगया ऐसा निष्काम कर्मयोगी सर्व कर्मोंका निरंतर आचरण करता हुआ भी मेरी कृपासे अविनाशी परम पद को प्राप्त होता है। इसलिये मनसे सब कर्मोंको मदर्पण करके मत्परायण होकर समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगका अवलंब करके निरंतर मेरे स्वरूप में चित्तको स्थिर करो"। श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको कहते हैं–

स्वकर्माच्या चौखाळी। मज पूजा करूनी भली।
तेणें प्रसादें आकळो। ज्ञाननिष्ठेतें॥ ४७॥
ते ज्ञाननिष्ठा जेथ हतवसे। तेथ भक्ति माझी उल्लासे।
तिया मजसी समरसें। सुखिया होय॥ ४८॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अर्थ— स्वकर्मके द्वारा मेरा पूजन भली भांति करके उसके प्रसादसे ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करो। वह ज्ञाननिष्ठा जहां हस्तगत हुई वहां मेरी भक्ति उल्लसित होती है। उसके द्वारा मुझसे समरस होकर सुखी हो।

वस्तुतः कर्मयोगका आचरण बंधनकारक नहीं है। फलेच्छा व आसक्ति को ही कर्मबंध कहते हैं।

तैसा कर्तृत्वाचा मद। आणि कर्मफलाचा आस्वाद। या दोन्हीं तै नांव बंध। कर्माचा कीं॥

—ज्ञानेश्वरी॥

फलेच्छा व कर्तृत्वके मद ही से वह बद्ध होता है। ये न हों तो कोई भी कर्म मनुष्यको बंधनकारक नहीं हो सकता।

यह बात श्रीकृष्णने अनेक वार अर्जुनको स्पष्ट रीतिसे कही है कि अपने अपने वर्णधर्मके अनुसार निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेवाला मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर सकता है; परंतु कर्म करते समय कर्ताका लक्ष्य परमात्मस्वरूपमें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥

गी० १८। ४६॥

जिस परमात्मासे सर्व प्राणिमात्रकी उत्पत्ति हुई है, जो इस सकल जगत्में व्याप्त है, उसकी स्वकर्माचरण रूपसे पूजा करके साधक परमसिद्धीको प्राप्त होता है। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिहीको अपना सर्वस्व मानकर उसीका अखंड चिंतन करती हुई पतिकी आज्ञानुसार पतिके ही लिये कायावाचामनसे संसारके सब कार्य करती हुई पतिकी प्रसन्नता संपादन करती है, उसी तरह निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिंतन करता हुआ काया-वाचा मनसे उस परमात्माके ही लिये सब कर्मोंका आचरण करता हुआ भगवत्प्रसाद संपादन करता है।

तरि एक प्रियोत्तम। वाचोनि वाढों नेदी काम।
जैसा का मनोधर्म। पतिव्रतेचा॥ १७१॥
नाना सिंधूतें गंगा। वृढारा न करीचि रिगा।
का आत्मा देखोनि उगा। वेद ठेला॥१७२॥
तैसें जें आपुलया स्वहितीं। वेंचूनियां चित्तवृत्ति।
नुरवितीचि अहंकृति। फळालागो॥१७३॥

ज्ञा० १७

अर्थ— एक प्रियोत्तमके अतिरिक्त अपनी कामनाको कहीं बढने नहीं देते, जैसा कि पतिव्रताका मनोधर्म है। एक समुद्रको छोडकर गंगा कहीं आगे नहीं बढती, जैसे आत्माको देखकर वेद स्तब्ध होते हैं। उसी तरह जो अपनी चित्तवृत्तियों को अपने परमहितमें खर्च कर डालते हैं, उनका अहंकार बाकी नहीं रहता जो फलकी इच्छा कर सके।

समस्त चराचर सृष्टिमें प्रत्येक वस्तु भगवत्स्वरूप मानकर निष्काम कर्मयोगी भगवानकी पूजा करता है। किसी महाराजाधिराज सम्राट्की प्रसन्नता संपादन करनेके लिये सब सेवकोंको एकही प्रकारका काम करनेकी आवश्यकता नहीं। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को प्रधान अथवा सेनापति होना नहीं पडता; किंतु अपनी अपनी योग्यताके अनुसार जो काम जिसके लिये नियुक्त हो वही उसको राजाकी मर्जीके अनुसार करना चाहिये। दूसरोंके भले बुरे कर्मोंकी ओर दुर्लक्ष्य करके अपना काम उत्कृष्टतासे करना चाहिये। राजदरबारमें कोई कुशल गवैया अपनी गायनपटुतासे राजाको जहांतक प्रसन्न कर सकता है वहांतक एक सामान्य वेतनका झाडूवाला भी अपने कर्तव्य योग्य रीतिसे करके राजा को प्रसन्न कर सकता है। किसीको अपना कर्म छोडनेकी आवश्यकता नहीं; केवल परमात्माकी प्रसन्नता हासिल करनेको स्वार्थप्रवृत्ति रोककर समस्त कर्म उसे समर्पण करनेकी आवश्यकता है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९।२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

गीता ९। २७॥

निष्काम पुरुषका लक्ष्य केवल एक परमात्मा रहता है। जैसे धनकामी पुरुष अपनी प्रत्येक क्रिया में धनप्राप्तिका उपायही ढूंढता रहता है, किसी भी

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उपायसे धन संपादन करना यही भावना उसके अंतःकरणमें वास करती रहती है। जिसमें द्रव्य-प्राप्ति न हो ऐसा रूक्ष व्यवहार करनेको वह कभी प्रवृत्त न होगा, किंतु धनप्राप्तिके जो अनुकूल अथवा सहायक हों ऐसेही प्रयत्न वह नित्य करता है। जैसे निष्काम कर्मयोगी सदैव कायावाचामनसे केवल उन्हीं कर्मोंका आचरण करता है, जो ईश्वर तुष्टिके कारणीभूत हों। भूलसे भी वह ईश्वरप्राप्तिके बाधक ऐसे चोरी, असत्य, कपट, व्यभिचार, अभक्ष्यभक्षण इत्यादि निषिद्ध कर्मोंका आचरण नहीं करता। वह अहर्निश उसी न्याययुक्त व शास्त्रीय कर्मविचारके विषयमें यत्नप्रवण रहता है जिसका पर्यवसान भगवत्प्राप्तिमें ही होगा। अमुक कर्म श्रेष्ठ अथवा अमुक कर्म कनिष्ठ ऐसा भेद-भाव वह नहीं रखता। उसे इतना ज्ञान रहता है कि परमात्मप्राप्तिके लिये कर्मका श्रेष्ठत्व अथवा कनिष्ठत्व कारणीभूत नहीं, किंतु अंतःकरणमें वास करनेवाली व्यापक व शुद्ध भावना कारणी भूत है। भावना ही जीवके उत्थान-पतन की प्रेरक है; इसलिये वह दूसरे को देखकर स्वतः को जो विहित नहीं ऐसे श्रेष्ठ कर्मकाभी आचरण करनेकी इच्छा नहीं करता। इसी तरह वह यहभी नहीं देखता कि दूसरे के कर्म को अपेक्षा मेरे कर्म में अमुक एक दोष है। दूसरे के गुणयुक्त (अर्थात् अपने कर्मसे श्रेष्ठ) कर्म की अपेक्षा अपना कर्म गुण-रहित हो (वास्तविक वह वैसा नहीं है) तथापि उसको वही आदरणीय व आचरणीय रहता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ १८।४७

अपने लिये नियुक्त ऐसे स्वधर्म के आचरण से साधक निष्पाप होता है। इसके आगे भगवान् कहते हैं—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥१८।४८

"हे अर्जुन! अपने जन्मके साथ जो उत्पन्न हुवा ऐसा अपना कर्म यद्यपि दोषयुक्त हो तथापि उसका त्याग करना न चाहिये। क्यों कि जैसे अग्नि धूम्रसे आच्छादित रहता है, वैसेही समस्त कर्म दोषसे आच्छादित रहते हैं।"

जो मनुष्य जिस वर्णमें जन्म लेता है उस वर्णका विहित धर्म ही उसका स्वधर्म है। भारतवर्ष की सुव्यवस्थित वर्णव्यवस्था परम आदर्शभूत है। लाचारीसे कहना पडता है कि जो इस वर्णव्यवस्था का नाश करनेका प्रयत्न करते हैं उन्हे वर्णव्यवस्था का स्वरूप यथार्थ रीतिसे ज्ञात नहीं हुआ। जगत् में भेद बनाही रहेगा, वह कभी मिटनेवाला नहीं। वर्णव्यवस्थामें यदि विसंगतता उत्पन्न हुई तो वह औरभी दुःखकी कारणीभूत होगी। जिस जाति-समूह में मनुष्य जन्म लेता है अथवा जिन माता-पिता के रजवीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर स्वकर्तव्य भावनाका ज्ञान होने योग्य उसकी बुद्धि प्रगल्भ होवे तबतक जिन विशिष्ट संस्कारोंमें उसका परिपालन होता है, प्रायः उन्हीं संस्कारों के कारण तदनुकूल कर्मों ही में उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। इसी प्रवृत्ति को स्वभाव अथवा प्रकृति कहते हैं। इस स्वभाव अथवा प्रवृत्ति के अनुकूल कर्म को गीता में स्वधर्म, सहज कर्म, स्वकर्म नियत कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म इ०इ० नाम दिये गए हैं। इसी स्वधर्म के अनुसार आसक्ति और स्वार्थ से रहित होकर, अखिल विश्वमें केवल परमात्मा व्याप्त है ऐसी भावना रखकर, हमारे हिस्सेमें जो कर्तव्यकर्म आया हो उसे करना चाहिये। जिस दिन अंतःकरणमें सांसारिक स्वार्थ की जगह परमात्मा का स्थान मिलेगा, उसी दिन उसके वह कर्म परमात्मप्राप्ति के कारणीभूत होंगे।

सोमल, बचनाग, पारा इत्यादि विषैले पदार्थ भी अमृतके समान कार्यकारी होते हैं; परंतु कब? चतुर वैद्यके द्वारा जब उनकी शुद्धि होती है, तब। जिन सोमलादि विषयुक्त पदार्थोंके सेवनसे मृत्यु होता है, वही सोमल अथवा बचनाग (उनमेंसे मारक अंश निकल जानेपर) अमृतके समान गुण-कारी होता है। इसी तरह जबतक कर्मोंमें स्वार्थ व फलासक्ति रहती है, तभीतक वे बंधनकारक होते हैं। जिस दिन स्वार्थ व आसक्तिरूपी मारक अंश

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

निकलजाने से वे कर्म शुद्ध होते हैं, उसी दिन उनमें अमृतत्वप्रापक गुण उत्पन्न होता है। इसीलिये स्पष्ट रीतिसे भगवान्ने कहा है कि किसीभी कर्तव्यकर्म का त्याग करनेकी जरूरत नहीं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥१८।६

अंतःकरणकी शुद्धता आवश्यक है। कोई एक पुरुष सकाम भावनासे यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मोंका आचरण करता है, और दूसरा एक साधक केवल वर्णाश्रम के अनुसार नित्यकर्म जानकर भिक्षा, युद्ध, व्यापार, सेवा इत्यादि कर्मोंको परमात्मा व्यापक है ऐसा समझकर सबके सुखहेतु करता है। यह दूसरा पुरुष यज्ञदानतपादि कर्म करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्यों कि कामनारहित होनेसे उसका सिद्धि-असिद्धि के विषयमें समभाव रहता है; उसके अंतःकरणमें आत्मभावनापूर्वक भगवदाज्ञाकी यथार्थ स्मृति रहती है। इसलिये लोभ व आसक्ति उसके समीप नहीं आ सकती। लोभ व आसक्ति के अभावमें पाप अथवा निषिद्ध-कर्माचरण उससे न होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि यज्ञदानतप करना न चाहिये अथवा वे क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा श्रेष्ठ हैं।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८।५

इतनाही नहीं किंतु अंतःकरणशुद्धिद्वारा ये परमात्मप्राप्ति के सहायक हैं, परंतु निष्काम रीतिसे जब उनका आचरण होगा, तभी यह सामर्थ्य उनमें आ सकता है। ऊपर जो लिखा गया वह कर्मयोगी का यथार्थ स्वरूप बतलाने के लिये ही लिखा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुवा कि निष्काम कर्मयोगी पुरुष से जानबूझकर कोई पापकर्माचरण नहीं होता। कदाचित् अदृष्ट स्वभाव अज्ञानसे यदि कोई पाप हुवा तोभी वह उसे बाधक नहीं होता; क्यों कि उस कर्ममें उसका कोई स्वार्थ नहीं रहता। स्वार्थरहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको बंधनकारक नहीं होता। "न लिप्यते कर्मणा पापकेन" श्रुति॥

न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥४।१४

'कर्म मुझे संलग्न नहीं करते। कर्मके विषयमें मेरी इच्छा नहीं। इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह कर्मोंसे बंधन नहीं पाता।'

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा॥ गी० ५।१०

समस्त कर्म ब्रह्मको अर्पण करके, ब्रह्मकी सत्ता से इंद्रिय अपने अपने काम करते हैं ऐसा समझकर फलकी आसक्ति छोडकर, जो कर्म करता है, वह कमलपत्रवत् पापसे अलिप्त रहता है।

तो कर्मे करी सकळे। परी कर्मबंधना नाकळे।
जैसे न लिंपे जळीं जळे। पद्मपत्र ॥ ज्ञा० ५।५०

और भी एक दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि उसका प्रत्येक कर्म भगवदर्पण होता है, इससे वह परमात्मा का कृपापात्र होता है, उसे सब पातकोंसे मुक्त करनेकी जिम्मेदारी परमात्मा अपने ऊपर लेता है, इस विषयमें श्रीकृष्णजी की प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
गी० १८।६६

'सर्व धर्मोंका (अर्थात् धर्म अधर्म के कारणीभूत होनेवाले अज्ञानका) त्याग करके मुझे शरण आओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त करूंगा। शोक मत करो।'

राजाके अनेक सेवक रहते हैं और अपने अपने अधिकारानुसार उन्हें सेवाके बदले वेतन भी मिलता है। इसी तरह प्रत्येक सेवकपर राजाके किसी न किसी कामकी जिम्मेदारी रहती है, इस लिये प्रत्येक सेवक राजनियमोंसे बंधा है यदि अज्ञान से अथवा प्रमादसे किसी सेवक के हाथ राजाज्ञाका भंग हुवा तो वह राजशासनानुसार दंड के पात्र होगा। ठीक है; परंतु ऐसा भी एक पुरुष है जो विना किसी महनताने के निःस्वार्थ बुद्धिसे राजसेवापरायण है। अपनी अहैतुकी सेवासे जिसने

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

राजाको संतुष्ट किया है, उसके हाथ यद्यपि किसी वक्त कोई प्रमाद अथवा त्रुटि होगई तबभी राजा उसे शासन करनेकी इच्छा नहीं करता। राजाके अंतःकरणमें यह भाव रहता है कि यह अपना निःस्वार्थी सेवक है। वह अपने अपराध के लिये सजा पानेकी इच्छा भलेही करे तथापि राजा उसे कहता है कि "मित्र, मैं तो तुम्हारे उपकारसे बद्ध हूं।" इतनाही नहीं किंतु उसके उपकार से राजा अपने को ऋणी समझकर सब प्रकार उसका भला ही करनेकी इच्छा रखता है। इसतरह जो भगवान्‌की निष्काम सेवा करता है, वह भगवत्प्रीतिसंपादनार्थ भगवच्चरणोंमें अपने समस्त कर्मोंको अर्पण करता है। किसी समय भूलसे उसके हाथ कोई प्रमाद होनेपर भी परमात्मा उसे प्रेमसे क्षमा करता है। तात्पर्य यह है कि निष्कामकर्मयोग जब भक्तिकी सहकारितासे हो तभी उसमें कोई विघ्न आनेका संभव नहीं रहता; उस कर्मयोगीका उद्धार स्वतः भगवान् करते हैं–

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १२।६
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
१२।७

"हे पार्थ, सर्व कर्म मुझे अर्पण करके मत्पर होकर अनन्य योगसे मेरा ध्यान करते हुए जो लोग उपासना करते हैं, जिन्होंने अपना चित्त मुझ में रख दिया है, ऐसे लोगोंको मैं अल्पसमयमें मृत्यु व जन्मरूपी संसारसागर से बाहर निकलता हूं।"

अंतःकरणमें भगवद्भावना न रखकर जो कर्म होंगे, वे सब व्यर्थ हैं, उनसे कोई स्वार्थ प्राप्त न होगा।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानंति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥९।२४

ऐसा श्रीकृष्ण भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है। जिस कर्मके आचरण में शुरूसे अखीरतक परमात्माका ऐसा नित्य और अविच्छिन्न संबंध रहता है, वह कर्म भक्तिरहित कैसा हो सकता है? इससे यह सिद्ध हुवा कि श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मयोग ज्ञान-भक्तिरहित नहीं किंतु भक्तिसहकृतही है। ऐसा इस योगत्रयीका योग्य समन्वय योगेश्वर श्रीकृष्ण परमात्माने जो गीताका कथन किया उसीमें देखनें मिलता है।

---

७ गीता का योगशास्त्र।

(लेखक–श्री० ना० कृ० गोगटे, चालीसगांव.)

प्राणिमात्र को स्वातंत्र्य अथवा मोक्षकी प्राप्ति करादेनेवाली विद्या को ब्रह्मविद्या कहते हैं। इस ब्रह्मविद्या से मिलनेवाले मोक्ष के दो प्रकार हैं। पहिला प्रकार यह है कि मृत्यु के बाद फिर जन्म, जन्मके बाद मृत्यु, जरा व्याधि इत्यादि की खटखट हमें न हो इस हेतु इस संसारचक्रसे छुटकारा पाना। इस मोक्षप्राप्तिके लिये गीतामें उपाययोजना कर रखी है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
(गी० ७।२९)

ऐसे लोगोंके लिये भगवान् ने आठवें अध्याय के श्लोक ५।६।७।१२।१३ में खुलासेवार बतलाया है कि मरणसमय में क्या करना चाहिये, कैसा बर्ताव रखना चाहिये, किसका चिंतन करना चाहिये। परंतु इसीके साथ ऐसा इशारा कर दिया है कि, मरणके समय मनकी उस प्रकार धारणा रहे इसलिये मनुष्य

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

को निरंतर वही भावना मनमें कायम रखना चाहिये। मनुष्यको 'सदातद्भावभावित' हुए विना विवक्षित समयपर विवक्षित प्रकारकी मनोवृत्ति कायम रखना दुर्घट है। विशेषतः मृत्युकी प्राणान्तिक वेदना जब होती है तब यह हो नहीं सकता।

भगवान्ने भगवद्गीतामें यह भी बतला दिया है कि इस जन्ममें जीवित अवस्थामें स्वातंत्र्य अथवा मोक्षकी प्राप्ति कैसे कर लेना चाहिये, जीवनक्रम कैसा रहनेसे मनुष्यको सदेह मुक्ति मिलती है। इतनाही नहीं, किंतु यही सिखापन गीताका विशेष है। मृत्युके बाद क्या होता है और क्या होगा इसकी अधिक चिकित्सा न करके, मरना कैसे और मरने तक जीना कैसे, आयुष्य किस दृष्टीसे व्यतीत करना, संसार करते हुए कौनसी दृष्टि हमेशा सामने रखना यही बतलानेके लिये भरतखंडमें भगवानने योगशास्त्रकी फिरसे एक वार स्थापन की है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण को "योगेश्वर" की पदवी मिली है, और योगधर्मकी यही स्थापना भगवान्के कृष्णावतारका कार्य और धर्मविषयक अवतारकृत्य है, ऐसा कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं। गीताशास्त्रको 'योगशास्त्र' इसी नामसे संबोधन करते हैं। इस योगशास्त्रसे जैसे मृत्युके आगेका प्रश्न हल हो सकता है वैसेही मृत्युके पहिले जीवित स्थितिका प्रश्न भी हल होसकता है। इस लिये इसे निष्ठा भी कह सकते हैं। इस शास्त्रके लिये अनधिकारी कोई नहीं। जिसको जन्म है, जिसको जीवित, संसार, व्यवहार और अंतमें मरण है, वह प्रत्येक मनुष्य इस योगशास्त्रका अधिकारी है। इतनाही नहीं, किंतु थोर विभूतियोंका ऐसा मत है कि इस योगशास्त्रको अवगत किये विना बुद्धिमान् और समजदार मनुष्यको अन्य कोई भी व्यासंग करना न चाहिये।

'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना' मनुष्य प्राणी अनंत प्रकारके होते हैं। कोई प्रवृत्तिपर होते हैं, कोई निवृत्तिपर होते हैं। गीताका ध्येय है कि जिसकी जैसी श्रद्धा हो, जिसका जैसा सहज धर्म और नैसर्गिक प्रवृत्ति हो, उस श्रद्धाको आधार देना और उसीका पोषण करना। भगवान्का आग्रहपूर्वक कहना है कि 'स्वधर्म मत छोडो'। इस जगह 'स्वधर्मका अर्थ केवल अपना हिंदुधर्म ऐसा संकुचित नहीं, किंतु अंतःकरणप्रवृत्ति, स्वभावधर्म, साहजिक मनका झुकाव, यही अर्थ विवक्षित है। 'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' ऐसा भगवान् कहते हैं। गीताका यह विश्वास है कि कोई भी मनुष्य किसी भी धर्मका अथवा मार्गका अवलंब करता हो अंतमें वह श्रेष्ठ सनातन योगमार्ग परही आवेगा। वस्तुतः सब ही मार्ग शुरूसे अखीर तक एकहीसे सनातन योगमार्ग हैं। परमेश्वर सनातन, पुरुष सनातन और प्रकृति भी सनातन है। प्रकृतिसे संलग्न जो 'क्षर पुरुष' निर्गुण निराकार ब्रह्मसे संलग्न जो 'अक्षर पुरुष' और इन दोनोंसे (चाहे भिन्न कहला परंतु) श्रेष्ठ और इनका अपनेमें पूर्ण अंतर्भाव करके इन्हें पूर्णतया व्यापकर जो बचता है ऐसा 'पुरुषोत्तम' ये सब पुरुष सनातन हैं (गीता अन्याय १५ श्लोक १५ व आगे) इसलिये गीता किसीको त्याज्य नहीं ठहराती, किसी मार्गका अनादर नहीं करती। गीताका इतनाही कहना है कि ईश्वरप्राप्तिके लिये, मोक्षप्राप्तिके लिये, स्वातंत्र्यप्राप्तिके लिये जिसको जो मार्ग स्वीकृत करना हो वह शुरूसे अखीरतक सरल एकसा रहा तो घुटाला अथवा बुद्धिभ्रंश नहीं होता और मनुष्य अपने इच्छित स्थानको शीघ्र व अल्पायाससे पहुंचता है। ऐसा अत्यंत सुगम, अत्यंत सरल व अत्यंत गुणकारी 'आत्मसमर्पणयोग' भगवान्ने निश्चित शब्दोंमें अर्जुनको निमित्त करके, संपूर्ण जगत्को बतलाया है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'स्वतः को शरण जानेके संबंधमें स्पष्टीकरण पूर्व श्लोकमें हो गया है।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

स्वातंत्र्य अथवा मोक्ष कोई जड पदार्थ नहीं है। वह मनकी एक स्थिति अथवा दृष्टि है। जैसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

स्वतंत्रोंको शरीर रहते है वैसेही परतंत्रोंको रहते हैं। मुक्त पुरुषोंसे शरीर छूटा नहीं, वैसे बद्धोंको भी शरीरका निर्वाह करना पडता है। सब जीते आदमियोंको शरीर रहता ही है। मोक्षप्राप्तिके बाद देहपात होताही है अथवा होनाही चाहिये। गीता यह नहीं मानती कि वैसा देहपात जबतक न हो तबतक मनुष्य मुक्त नहीं हुवा अथवा उसे आत्मसाक्षात्कार नहीं हुवा। इसलिये बद्धोंको तथा मुक्तोंको, परतंत्रोंको तथा स्वतंत्रोंको समान उपयोगी ऐसे योगमार्ग अथवा योगशास्त्रका उपदेश गीतामें किया है। इस योगशास्त्रमें शरीरका (व्यापार) कर्म करना, मनका मनन करना, हृदयका अथवा अंतःकरणका प्रेम व भक्ति करना, बुद्धिका ज्ञान संपादन करना और अनेक इंद्रियोंका अपने अपने व्यापार करना इन सबका विचार योगशास्त्रमें किया हुआ नजर आता है। गीता और गीताका योगशास्त्र इकंगी नहीं किंतु सर्वांगीण, सर्वव्यापी और सनातन है। गीताका आग्रह है कि मनुष्य प्राणीका सदासर्वकाल सर्व प्रकारसे युक्त रहना चाहिये। 'नित्ययुक्त' हो 'सर्वभावेन युक्त' हो 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' ऐसा कहके, मनुष्य सर्वभावेन व नित्ययुक्त कैसे हो सकेगा इसीका विवेचन विस्तृत रीतिसे सुगम भाषामें, आबालवृद्धोंकी समझमें आवे इस रीतिसे गीताने किया है। गीताका योगशास्त्र कर्तव्यपराङ्मुखता नहीं सिखलाता। वह यह माननेको नहीं सिखलाता कि ज्ञानका गंध भी नहीं चाहिये अथवा यह कि भक्ति एक प्रकारकी सनक है। गीताका विशेष कटाक्ष स्वार्थपराङ्मुखता व अहंकारत्याग इन्हींपर है। जहां अहंभावनाका त्याग हुवा, मैं और मेरा ऐसी भावना और भाषा नष्ट हुई; मनुष्य जहां निराशीः, निःस्पृह, निर्द्वंद्व, अनासक्त हुवा वहीं उसमें समत्वभाव स्थिर होकर वह ब्रह्मनिष्ठ होता है और वही मुक्त व स्वतंत्र होता है। गीताके योगशास्त्रमें समत्वबुद्धिका मान बहुत उच्च प्रतिका है; और यह समत्वबुद्धि निर्दोष और सम ऐसे ब्रह्मसे बहुत ही निगडित है।

गीताकी दृष्टिसे ब्रह्म केवल निर्गुण, निराकार, अक्षर व कूटस्थ नहीं, अथवा केवल सगुण, साकार, क्षर व गतिमान् नहीं; किंतु इन सबका जिसमें अंतर्भाव हो सकता ऐसा अत्यंत व्यापक, सर्वव्यापक व पुरुषोत्तमस्वरूपी है। इसी अर्थकी अद्वैत सिद्धि गीताको मान्य है। निरा शून्याकार ब्रह्म गीताको मान्य नहीं। सुप्त बालक हलचल नहीं करता; शांत, स्तब्ध अचल रहता है; इसी तरह जब वह जागता है तब ऊधम करके स्वतः हँसता व दूसरोंको भी हँसाता है। ऐसे सब प्रकार करने वाला ही बालक रहता है। इसी प्रकार गीताका ब्रह्म कूटस्थ व अचल रहकर भी गतिमान् है। सच्चिदानंद पुरुषोत्तम अकेला सर्वव्यापी और सबसे श्रेष्ठ है। गीताका अखिल मानव जातिको उपदेश है कि ऐसे सर्वव्यापी, ज्ञानरूप, तपरूप व आनंदघन पुरुषोत्तमसे, परमेश्वरसे, परमात्मासे, सर्वकाल 'सर्वभावेन' युक्त हो। जिस प्रमाणमें, जितना समय इस स्थितिमें रह सके उतना रहनेका हरएकको प्रयत्न करना चाहिये। यही गीताभक्तोंका कर्तव्य है, यही उनका धर्म है। योगेश्वर श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा है कि "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" इस प्रकारसे हमसे जो नित्ययुक्त रहेगा वह हमें आकर मिलेगा।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या अपना यह अशक्त व मर्यादित शरीर, मर्यादित व उच्छृंखल मन और पंगु, घबडानेवाली और गलतियां करनेवाली बुद्धि उस अमर्याद, सर्वशक्तिमान् व ज्ञानपूर्ण परमेश्वरसे युक्त हो सकेगी और युक्त होनेके पश्चात् उनका क्या होगा? नमक की पुतली महासागरकी गहराई नापनेकी महत्त्वाकांक्षा रखकर किनारेपर गई; और समुद्रके पानीका उसके पैरको स्पर्श होतेही नीचे पानीमें गिरी और घुलकर तद्रूप व तदाकार हुई। देहपातका यह प्रकार संभवनीय है। किंतु अणिमा लघिमादि सिद्धियों द्वारा शरीर, मन और बुद्धिका सामर्थ्य व रूप बिलकुल बदला हुआ बतला सकते हैं। परंतु योगीको ऐसे रूपांतर

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

की आवश्यकता नहीं है। जीवन्मुक्त अपने पहिले स्थूल शरीरसे समस्त व्यवहार विश्वव्यापक दृष्टिसे ईश्वरयुक्त भावनासे कर सकता है। स्वतःको परमेश्वरका अंकित समझकर जीवन्मुक्त अपने हिस्सेके ईश्वरनियोजित सब कर्म केवल ईश्वरार्पणबुद्धिसे, ईश्वरपूजनबुद्धिसे और लोकसंग्रहार्थ करता हुआ आमरण रह सकता है।

ऐसा स्थितप्रज्ञ कौनसे कर्म करता है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने योगी के बाह्य आचरणका, अथवा उसके सांसारिक कृत्योंका अथवा दिनचर्या का वर्णन नहीं किया, और न किसी राजकीय, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक अथवा शिक्षणविषयक कार्यक्रमका उपदेश किया है। भगवाननें इतनाही कहा है कि प्रत्येक मनुष्यके हिस्सेमें परिस्थितिके अनुरूप जो जो कार्य आया हो वह उसे हमेशा मनसे, बुद्धिसे, अंतःकरणसे, परमेश्वरसे 'सर्वभावेन' युक्त होकर करते रहना चाहिये। "परमेश्वरका अंकित बनकर सब कर्म करते जाओ, सब कर्म परमेश्वरको ही अर्पण करते जाओ, उनका फल भी परमेश्वर को अर्पण करो; अर्थात् तुम्हें सुखदुःख, आशानिराशा, मानापमान, सिद्धि असिद्धि इत्यादि द्वंद्वों की बाधा कदापि न होगी" इस तरह प्राणिमात्रके लिये गीताका उपदेश है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥

यही अपना मत भगवानने अन्वयव्यतिरेक से तीसरे अध्याय में कह दिया। अपना शरीर छोटा, मर्यादित जैसा हो वैसा परमेश्वरकार्य के लिये चलेगा। जिस शरीरमें जन्म लिया उसे देहपात होनेतक विशिष्ट प्रमाण के बाहर बदलने की जरूरत नहीं, अथवा चतुर्थाश्रम लेनेकी भी जरूरत नहीं। मनसा व बुद्धया परमेश्वरसे युक्त अर्थात् परमेश्वर-के बराबर व्यापक जब हम होंगे तब अपने साडेतीन हाथकी मर्यादा हमारे कार्यमें बाधक न होगी। मैं मायने देह ऐसा हमारा अहंकार नष्ट होगा। मनका व बुद्धिका देहके संसर्ग से जो मर्यादित अहंभावना का कवच लिपटा हुवा है वह फूट जायगा। स्थूल शरीरके, मनके, बुद्धिके, जीवके, समस्त व्यवहार ईश्वरी ढंग के, ईश्वरी दृष्टिके और ईश्वरी कार्य के सिद्धिके लिये ही होते रहेंगे। उस शरीर-मन-बुद्धि-द्वारा विश्वका अपना इष्ट कार्य ईश्वरही करता रहेगा। "निमित्तमात्रं भव" इसका अर्थ क्या यही नहीं है कि अर्जुन के शरीर-मन-बुद्धिद्वारा भगवान् श्रीकृष्ण अपना अवतार कार्य कुरुक्षेत्रपर कर रहे थे? हम लोगों को जो ये शरीर मिले हैं वे हमारे नहीं किंतु ईश्वर के हैं ऐसा स्पष्ट दिखना, इसीका नाम अहंकारनाश। यही अहंकारत्याग है। इसे कोई संन्यास कहे तो वह संन्यास गीताको पूर्णतया मान्य है। सर्व प्रकारसे स्वतःको ईश्वरार्पण करके व्यवहार करना, संसारके सब कर्म ईश्वरपूजन समझके करना, यही गीताका लिखापन भगवान् ने गीताके अंतिम दो श्लोकोंमें कह रखा है-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

THE
Vedic Magazine

is the most powerful English journal of publicity which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas.
The journal circulates among the whole of English speaking population throughout India and abroad.
The journal was started in 1885 and has a record of religious service for over 40 years.

SUBSCRIPTION
Rs. 5 in India
Rs. 6 abroad

Advertisement Rates–
Rs. 5 full page per insertion.
Rs. 50 " " per annum.
Manager,

The VEDIC MAGAZINE,
GURUKULA KANGRI (Saharanpur)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक-श्रीमान् कुवलयानंदजी महाराज

कैवल्यधाम आश्रममें योगशास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पणें)

कुस्ती, लाठी, पट्टा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखनेलायक है। नमूनेका अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाई	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आने	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढेतीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०७]	११	१०७६	६)	१)

कुल मूल्य. ५८।) कुल डा. व्य.१०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि०सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

धर्म

वर्ष १३
अंक १२

क्रमांक
१५६

मार्गशीर्ष
संवत १९८२
दिसंबर
सन १९३२

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

आप संस्कृत सीखना चाहते हैं ?

तो आप "संस्कृत-पाठ-माल।" के २४ भाग मंगवाइये और प्रतिदिन आधा घंटा पढकर एक वर्षमें महाभारत समझनेकी योग्यता प्राप्त कीजिये। २४ भागोंका मूल्य ६॥); १२ भागोंका मूल्य ४); ६ भागोंका मूल्य २।); ३ भागोंका मूल्य १।); और एक भागका मू०॥) है। वी० पी० द्वारा ।) अधिक मूल्य होगा। —मंत्री, स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५॥)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

१ शत्रु भयभीत होकर भाग जावें। ९७
२ मांस-भक्षणकी अधार्मिक प्रथा (ले.२) ९८
३ अथर्ववेदका स्वाध्याय। (कां. १४) २५
४ भगवद्गीता-लेखमाला। ५७
५ श्रीमद्भगवद्गीता (पंचमाध्याय) ४०९

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

१।२।३।४।५।६।७।८।९ ये नौ कांड तैयार हैं। प्रत्येक कांड का मू० २ रु.) और डा. व्य. ॥)

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद, पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठा करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा व्य. -) जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद्गीता की

श्लोकार्धसूची।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकार्धों की अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तक की सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताका कोई श्लोक कहां है, यह जान सकता है। भगवद्गीताका नित्यपाठ करनेवाले भी कोई श्लोक किस स्थानपर है यह नहीं कह सकते। परंतु इस पुस्तक की सहायतासे साधारण मनुष्य भी कौनसा श्लोक कहां है यह विना आयास जान सकता है। इसलिये जो लोग भगवद्गीताका मनन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य अपने पास रखें। मूल्य केवल ।=) है। डा० व्य. =)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वर्ष १३
अंक १२
क्रमांक
१५६

धर्म

मार्गशीर्ष
संवत् १९८९
दिसंबर
सन १९३२

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

शत्रु भयभीत होकर भाग जावें।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप निलयन्ताम् ॥४५॥

ऋग्वेद १०।८४।७

" (वरुणः मन्युः) वरुण और उत्साहप्रदाता आत्मा (संसृष्टं समाकृतं उभयं धनं) उत्पन्न हुआ और इकट्ठा किया दोनों प्रकार का धन (अस्मभ्यं दत्तां) हमें देवें। और हमारे (शत्रवः) वैरी (हृदयेषु भियं दधानाः) हृदयोंमें भयको धारण करते हुए (पराजितासः) पराजित होकर (अप नि लयन्तां) दूर भाग जावें ॥ "

सबका नियन्ता ईश्वर और प्रत्येकको उत्साह देनेवाला आत्मा ये दोनों अनुकूल होकर दोनों प्रकारका धन देवें। अर्थात् भौतिक और आत्मिक दोनों प्रकारका सब ऐश्वर्य हमें प्राप्त होवे। इस तरह अभ्युदय और निःश्रेयस के स्वामी हम बनें। जो ऐश्वर्य इस भूमंडलपर प्राप्त होना संभव है, वह सब ऐश्वर्य हमें प्राप्त होवे। इसी तरह हमारे सब शत्रु हमारे साथ युद्ध करते हुए पराजित होवें और हृदयोंमें भयभीत होकर भाग जावें और पुनः कष्ट देनेके लिये हमारे पास न आवें।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

मांस-भक्षणकी अधार्मिक प्रथा!

(द्वितीय लेख)

पं० महेन्द्र मिश्रजीका अक्षम्य असत्य विधान!!

श्री पूजनीय पंडित महेन्द्र मिश्रजीके लेखका विचार हमने गत लेखमें किया और उसमें बताया कि (१) देवजातिका सर्वसाधारण भोजन मांस नहीं था, प्रत्युत-

सोमो वै देवानामन्नम् । (ब्राह्मण)

"सोम सब देवोंका मुख्य अन्न था। (२) देवोंमें अनेक जातियां थीं, और वे परस्परके घर नहीं जाते थे, इसलिये सब देवोंका एकही प्रकारका अन्न था ऐसा कहना कठिन है; (३) एकदेव वीरके अन्नका पता लगनेसे सब देव जातिके अन्नका पता नहीं लग सकता, और देव वीरके भोजनके ज्ञानसे आर्य जातिके भोजनका अनुमान भी असंभव है। (४) देव मुर्दोंसे प्राप्त होनेवाला अन्न नहीं खाते थे इसलिये वे मांसभोजी नहीं हो सकते, (५) उक्षा, वृषभ आदि शब्दके अर्थ जैसे वनस्पति परक हैं वैसे पशुपरक भी हैं, अतः उनका अर्थ प्रकरणानुकूल दोनों प्रकारका हो सकता है, (६) जहां एक वीर अनेक उक्षाओंको खाता है ऐसा उल्लेख होगा है, वहां संभावनाकी दृष्टिसे पशुपरक अर्थकी अपेक्षा शाकभोजनका अर्थ अधिक संभवनीय है। (७) वेदमें उल्लेख आने मात्रसे वह धर्म नहीं बनता, परंतु वेदमें उस प्रथाका आदर होना चाहिये और विधान भी होना चाहिये, तथा जिनका निषेध निंदा या तिरस्कारसे किया है वे वेदके उल्लेख कर्तव्य धर्म नहीं हो सकते। जैसा वेदमें मनुष्य, गाय, बैल, घोडा आदि पशुवधका निषेध है, वधकर्ताको मृत्युदण्डतक कहा है, इसलिये जिन मंत्रोंमें इनका वध होनेका उल्लेख आजाय वह धर्म नहीं हो सकता किंवा ऐसे स्थानोंपर इनका वानस्पत्य अर्थ मानकर मंत्रार्थ करना चाहिये, जिससे विरोध टल सकता है। (८) वेदमें पशु शब्दसे उस जातिके स्त्री पशुका दूध और औषधि शब्दसे औषधि रस लेना चाहिये ऐसी स्पष्ट परिभाषा वेदमंत्रमें कही है, इससे अर्थके विषयमें कोई संदेह ही नहीं हो सकता।

पहिले लेखमें इतनी बातें हमने अनेक प्रमाणोंसे बतायीं हैं। जो पाठक इनका विचार करेंगे, वे श्री० साहित्याचार्यजीके अनुमानसे सहमत नहीं हो सकते। तथापि उनके लेखका विचार इसीसे समाप्त नहीं हुआ है, अतः उनके अन्यान्य विधानोंका विचार अब करते हैं। श्री साहित्याचार्यजीने "भैंसे और सूअर का मांस आर्योंके भोजनमें शामिल था," इस बातकी पुष्टि करनेके लिए निम्न लिखित मंत्र दिया है-

विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र
एमुषम् ॥ ऋ० ८।७७।१०

पाठक यहां स्मरण रखें कि " पं० महेन्द्रमिश्रजी इस मंत्रमें भैंसके या भैंसेके मांस और सुअरके मांस आर्योंके खानेमें शामील थे " यह बात देखते हैं। और श्रीमान् सायनाचार्यजीके भाष्यसे आप यह अनुमान निकालते हैं। अब देखना है कि श्रीमान् सायनाचार्य जीके भाष्यमें मांसकी बू आती हैं, या यह साहित्याचार्यजी की अपनी कल्पना है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्रथम इस मंत्रका शब्दार्थ देखिये-

शब्दार्थ- " हे इन्द्र! (त्वेषितः) तेरे द्वारा प्रेरित हुआ (उरु-क्रमः) बडा पराक्रमी (विष्णुः) विष्णु (ता विश्वा इत आभरत्) उन सब भोगोंको भर देताहै। वे कौनसे भोग हैं? उसने (शतं महिषान्) सौ भैंसें दिये, (क्षीरपाकं) दूधकी खीर दी, (ओदनं) पके चावल दिये और (ए-मुषं वर-आहं) शत्रुने चुराकर भगाया श्रेष्ठ धनका समूह भी वापस ला दिया।"

इस शब्दार्थमें भैंसे और सूअरके मांस खानेका कोई उल्लेख हमें नहीं दीखता, परंतु हमारे विद्वान् साहित्याचार्यजीको इसमें भी मांसके ढेर दीखते हैं !! किस शब्दसे वे यहां मांसका संबंध लाते हैं इसका पता हमें अबतक नहीं लगा है !! आपका कहना है कि " पाठकों को जो कौतूहल हो वह सायनभाष्य देखकर दूर करें, " परंतु इस मंत्रका सायनभाष्य देखनेसे भी हमारा कौतूहल दूर नहीं हुआ परंतु बढ गया, अतः हम इस मंत्रका संपूर्ण सायनभाष्य पाठकोंके सन्मुख रखते हैं, पाठक भी देखें कि वे किसी प्रकारका मांस उसमें सूंघ सकते हैं या नहीं-(पाठक सायनभाष्यका अर्थ स्वयं जान सकें, इसलिये वह भाष्य यहां पदच्छेदपूर्वक दिया है, जिसके पाठसे पाठक स्वयं अर्थ जान सकते हैं)-

सायनभाष्य (प्रथम खंड)— " अस्या ऋचो नैरुक्त-ऐतिहासिक-भेदेन द्विधा योजना। नैरुक्तपक्षे तावत्। हे इन्द्र ता तानि यानि, त्वया स्रष्टव्यानि उदकानि सन्ति, तानि विष्णु व्यापनशील आदित्यः आभरत्। आभरति। लोकाय प्रयच्छति इत्यर्थः। कीदृशो विष्णुः। उरुक्रमः बहुगतिः। किं स्वनिरोधेन इति आह। त्वेषितः त्वया प्रेरितः। न केवलं उदकानि एव, अपि च शतं महिषान् शत संख्याकान् पशून्। महिषशब्दो गवादेः अपि उपलक्षकः। अथवा शतशब्दो अपरिमितवचने। महिष इति महत् नाम। असंख्यातान् महतः यज्ञान् यजमानेभ्यः आभरत् ददाति इति अर्थः। किं च क्षीरपाकं क्षीरपक्वं ओदनं पायसं। एतत् चरुपुरोडाशादेः उपलक्षकं। तत् यजमानेभ्यः आभरत्। अथवा सर्वार्थं वृष्टिप्रदानद्वारा ओदनं प्राहरत्। किं च इन्द्रः वराहं जलपूर्णं मेघं हन्ति इति शेषः। कीदृशं तं। एमुषं। आमुषं उदकस्य मोषकं इति अर्थः। निरुक्तपक्षे एवं॥ "

इस सायनभाष्यका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है- " इस मंत्रका अर्थ निरुक्तपक्ष और ऐतिहासिकपक्ष इन दो भेदोंसे दो प्रकार का है। निरुक्तपक्षका अर्थ यह है—हे इन्द्र ! वह जलप्रवाह, जो तू उत्पन्न करता है, उन जलोंको, विष्णु अर्थात् व्यापनशील आदित्य भर देता है। अर्थात् लोगोंको समर्पित करता है। विष्णु कैसा है ? उसकी गति बडी तीव्र है। क्या यह अपनीही इच्छासे देता है ? यह तेरी प्रेरणासे प्रेरित होता है। और केवल जलही देता है ऐसा नहीं, प्रत्युत सौ भैंसोंको भी देता है। यहां महिष शब्दका अर्थ गाय आदि पशु है। किंवा शत शब्द यहां अपरिमित ऐसा अर्थ बतानेवाला है और महिष शब्दका अर्थ महत् है। असंख्य बडे यज्ञ यजमानोंको देता है ऐसा इसका अर्थ है। और क्या देता है ? खीर अर्थात् दूधमें पकाये चावल जिसको पायस कहते हैं। इसका अर्थ चावल और आटेके बनाये पदार्थ ऐसा है। यह सब यजमानोंको देता है। किंवा वृष्टि कराके सब अन्न देता है। और इन्द्र वराह अर्थात् जलसे परिपूर्ण मेघको हनन करता है। यह मेघ कैसा होता है ? यह मेघ उदककी चोरी करनेवाला है। इस तरह यह निरुक्तपक्षका अर्थ है। "

पाठक मननपूर्वक देखें कि यहां मांस खानेका उल्लेख कहां है ? इस मंत्रमें इतनाही कहा है कि "इन्द्रकी प्रेरणासे सूर्य जनताको जलके प्रवाहोंका दान करता है, सैकडों दूध देनेवाले गाय आदि पशु दूध पीनेके लिये देता है, जिनके दूधसे लोग खीर बनाते हैं और खाते हैं। इस जलसे धान्य बहुत होता है और लोग चावल आदि पकाकर खाते हैं। भूमिपर जो जल होता है उस जलरूपी श्रेष्ठ धनको मेघरूपी शत्रु चुराता है, उस शत्रुको

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

छिन्नभिन्न करनेका कार्य इन्द्र करता है और इस तरह शत्रुका वध करके फिर उसका चुराया धन वापस लाकर सब प्रजाजनोंको देता है।"

इस अर्थमें निम्नलिखित बातें उल्लेख करनेयोग्य हमें प्रतीत होती हैं—

(१) मनुष्य (उरु-क्रमः) अपनी गति शत्रुसे अधिक करे, क्यों कि जिसके पास गति अधिक होती है उसका विजय होता है।

(२) राजा (इन्द्र) अपने अधिकारी को प्रेरणा करे और वह अधिकारी सब प्रजाको उत्तम जल देनेका प्रबंध करे।

(३) राजाको उचित है कि वह अपनी प्रजाके (वर-आ-हं एमुषं) श्रेष्ठ संरक्षणीय धनकी चोरी करके विदेशमें लेजानेवाले शत्रुका पराभव करे, उससे वह धन वापस लावे और अपनी प्रजाको देवें।

शत्रु अनेक प्रकार से प्रजाको लूटते हैं, उनका धन नाना मिषोंसे छीनते हैं और सब धन इकट्ठा करके अपने देशोंमें ले जाकर वहां बहुत उपभोग लेते हैं। राजा इन शत्रुओंका नाश करे और अपनी प्रजाको धन वापस ला देवे। इत्यादि उल्लेखनीय बातें इस मंत्रमें हमें दीखती हैं। परंतु पं० महेद्रमिश्र जीकी बुद्धि ऐसी विलक्षण है कि उनको इस मंत्रमें भैंस का और सूअर का मांस ही केवळ दिखाई देता हैं !!! मंत्रमें स्पष्टतया भैंसके दूधको खीर बनने और दूधमें चावल पकानेका उल्लेख है और भैंसको काटकर मांस खानेका किंचित् भी निर्देश नहीं है। इस मंत्रके 'महिष' शब्दका अर्थ 'गाय' ऐसा यहां भाष्यमें दिया है और 'बडा, महान् यज्ञ, ऐसा दूसरा अर्थ सायनाचार्यने दिया है। यहां 'वराह' का अर्थ सूअर नहीं है, परंतु उदकसिंचन करनेवाला मेघ है। सायनाचार्य तो यही अर्थ यहां कहते हैं, ऐसा होते हुए भी हमारे साहित्याचार्यजी इसमें मांसभोजन देखते हैं, अतः हमें अनुमान होता है कि उनका संस्कृतभाषाका ज्ञान कुछ दूसरी जातिका होगा। जो जिस स्थानपर नहीं है, वही वहां देखना यह अगाध विद्वत्ताके विना नहीं हो सकता। ऐसे लेखोंसे यदि अज्ञ जन वैदिक तत्त्वज्ञान जानेंगे तो और अर्थका अनर्थ करनेका साधन दूसरा कौनसा हो सकता है ?

अब सायणाचार्यजीके भाष्यका दूसरा खंड देखते हैं—

"ऐतिहासिकपक्षे चरकब्राह्मण इतिहास आम्नायते। विष्णुः यज्ञः। स देवेभ्य आत्मानं अंतरधात्। तं अन्यदेवता न अविदन्, इन्द्रः तु अवेत्। स इन्द्रं अब्रवीत् कः भवान् इति। तं इन्द्रः प्रत्यब्रवीत् अहं दुर्गाणां असुराणां च हन्ता, भवान् तु कः इति। सो अब्रवीत् अहं दुर्गात् आहर्ता, त्वं तु यदि दुर्गाणां असुराणां हन्ता, ततो अयं वराहो वाममुष एकविंशत्याः पुरां पारे अश्ममयीनां वसति, तस्मिन् असुराणां वसु वामं अस्ति, तं इमं जहि इति। तस्य इन्द्रः ताः पुरः भित्वा हृदयं अविध्यत्। अधि तत्र यत् आसीत्, तत् विष्णुः आ हरत् इति। सः अयं इतिहासः 'अस्य इत् उ मातुः सवनेषु' (ऋ० १।६१।७), 'विश्वा इत् ता विष्णुः' (ऋ० ८।७७।१०) इति आभ्यां प्रतिपादितः। तयोः मध्ये अस्य इत् उ मातुः इत्यत्र विष्णुना हे इन्द्र त्वं दुर्गाणां हन्ता इति आत्मानं कथयसि, तर्हि वाममुषं वराहं असुरं जहि इति उक्तार्थो विध्यत् वराहं इति पादेन प्रतिपादितः। इन्द्रेण च त्वं दुर्गात् आहर्ता इति ब्रूषे, मया पुराणि जितानि, असुरः च घातितः तस्य वामं वसु आनय इति उक्तः विष्णुमूर्तिः तस्य वराहासुरस्य धनं मुमोष। सः अर्थः मुषायत् विष्णुः पचतं इति पादेन सूचितः। स किं पुनः मुषितवान् इति तत् अत्र उच्यते। विश्वेत्ता इति। हे इन्द्र त्वेषितः त्वया प्रेरितो विष्णुः यज्ञरूपी त्वेषितः त्वं दुर्गात् आहर्ता किल तर्हि त्वं तस्य धनानि आहर इति त्वया प्रेरितः सन्, उरुक्रमः भूत्वा, विश्वेत्ता यानि त्वया आहर्तव्यानि इति उक्तानि यानि च तत्र स्थितानि सर्वाणि आभरत्। आभरतु। कानि तानि इति। शतं महिषान् अपरिमितान् प्र-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

शस्तान् पदार्थान् तेषां वाहनरूपान् महिषान् वा क्षीरपाकं ओदनं च पक्वमात्रं एव ओदनं च आभरत्। विध्यद्वराहं इत्यत्र उक्तो अर्थः च चरमपादेन उच्यते। इन्द्रः तु वराहं वराहारं स्वीकृत-असुरसर्वस्वं वराहरूपिणं वा एमुषं एमुष नामानं अथवा एमुषं धनानां आमोषकं वराहं असुरं हृदये अविध्यत् इति शेषः।"

सायनभाष्यके इस द्वितीय खण्डका अर्थ—

"इस ऐतिहासिक पक्षमें चरक ब्राह्मणमें ऐसा कहा है। विष्णु यज्ञ है। उसने देवोंसे अपने आपको गुप्त रखा। उसे अन्य देवताओंने नहीं जाना, परंतु इन्द्रने जाना। पश्चात् इन्द्र और विष्णुका संवाद इस तरह हुआ—

विष्णु बोला- आप कौन हैं?

इन्द्रने उत्तर दिया- मैं असुरोंका और राक्षसोंका नाश करनेवाला हूं, परन्तु आप कौन हैं?

विष्णु- मैं शत्रुके कीलोंसे धन वापस लानेवाला हूं, यदि तू असुरोंका और उनके कीलोंका नाश करनेवाला है, तो यह वराह नामक असुर सब लोगोंके उत्तम धन चुराकर पत्थरोंसे बने इक्कीस कीलोंके अन्दर निवास करता है, उनमें असुरोंका श्रेष्ठ धन भी है, अतः इस असुरका नाश कर।

यह सुनकर इन्द्रने उन दुर्गोंका भेद कर उस असुरका हृदय विद्ध किया। पश्चात् उसमें जो धन था वह विष्णुने भर लाया। यह इतिहास निम्नलिखित मंत्रमें है—

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना। मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥ ऋ० १।६१।७

इस मंत्रका अर्थ-

"(अस्य इत् उ मातुः सवनेषु) इस विश्व निर्माण करनेके यज्ञमें (महः पितुं सद्यः पपिवान्) श्रेष्ठ सोमरस तत्काल पीकर और (चारु अन्ना) सुंदर अन्न खाकर (विष्णुः) विष्णुने शत्रुकी (पचत मुषायत्) परिपक्व संपत्ती हरण की और (सहीयान् अद्रिं अस्ता) बलवान् और वज्र चलानेवाले इन्द्रने (वराहं तिरः विध्यत्) वराह नामक शत्रुका वेध किया।"

"विष्णुने इन्द्रसे कहा कि यदि तू अपने आपको दुर्गोंका नाश करनेवाला कहता है तो सब लोगोंका श्रेष्ठ धन हरण करके अपने कीलोंमें रखनेवाले इस वराह नाम महाशत्रुका नाश कर। यह सुनकर इन्द्रनेभी विष्णुसे कहा कि यदि तू शत्रुओंसे धन वापस लानेवाला करके अपने आपको कहता है, तो मैंने शत्रुओंके नगर जीत लिये हैं, असुरका भी वध किया है, अतः तू उसके कीलोंमें जो उत्तम धन भरा रखा है उसे वापस ला। इस तरह इन्द्र द्वारा प्रेरित हुआ विष्णु वराह नामक असुरका धन ले आनेमें प्रवृत्त हुआ।"

"कौनसे धन विष्णुने लाये? अपरिमित प्रशंसनीय पदार्थसमूह विष्णुने लाये, साथ उनके अनेक वाहन लाये, बहुत अन्न लाया। इन्द्रने तो असुरकी छातीमें बाण मार कर उसका वध किया।"

पूर्वोक्त सायन भाष्यका यह अर्थ है। भाष्यमें अर्थके स्पष्टीकरणके लिये दो दो वार तीन तीन वार शब्दोंके अर्थ दिये हैं, उनका अर्थ करनेसे कोई लाभ नहीं, इस लिये जितना अर्थ ज्ञान होनेके लिये आवश्यक है उतनाही अर्थ ऊपरके स्थानपर दिया हैं। शेष बातें पाठक संस्कृत भाष्य ऊपर दिया है उसमें देख सकते हैं। इस मंत्रपर जितना सायण भाष्य है उतना सब ऊपर दिया है। उस भाष्यमें न तो किसीके भैसेके मांस खानेका उल्लेख है और ना ही सूअरके मांस खानेका। किसी अन्य पशुका मांस खानेका भी इसमें कोई निर्देश नहीं। इतना स्पष्ट होते हुए हमारे विद्वान पण्डित महेन्द्र मिश्रजी साहित्याचार्य कहते हैं कि, इससे सिद्ध होता है कि "आर्य लोग भैंसोंका और सूअरका मांस खाते थे।" और यह बात सायन भाष्यसे सिद्ध होती है ऐसा भी उनका आग्रह है!!!

हमारे पास ऋग्वेद सायन भाष्यके भारत वर्षमें छपे तथा युरोपमें छपे सब पुस्तक हैं। उनमें जो सायण भाष्य है वह ऊपर दिया है। इससे अधिक भाष्य हमारे पासके पुस्तकोंमें नहीं है। यदि कोई

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पुस्तक श्रीमान् साहित्याचार्यजीके पास हो, तो वह कृपा करके बतावें। यदि आप नहीं बता सकें तो आप पर भ्रष्टप्रतिज्ञ होनेका और अज्ञ जनोंको धोखा देनेका अपराध लग सकता है।

जो बात मंत्रमें नहीं और सायन भाष्यमें भी नहीं वह वहां है, और वह सायन भाष्यमें है ऐसा कहना किसी भी विद्वानको उचित नहीं है। पं० महेन्द्र मिश्रजी स्वयं वेदमंत्रके अर्थका जितना अनर्थ करना चाहें उतना अनर्थ वे कर सकते हैं, वैसा अधिकार उनको है, परंतु जब वे सायनाचार्यके सिरपर उनका न किया अर्थ मढ देते हैं, तब हमें पं० महेन्द्र मिश्रजीकी अलदिच्छाके विषयमें क्या कहें यह समझमें नहीं आता।

इस मंत्रके सायन भाष्यमें 'वराह' शब्द है, परंतु वह यहां 'मेघ और वराह नामक शत्रु' इन दो अर्थोंमें हि आया है। सूअर ऐसा अर्थ यहां नहीं है। इन्द्रनें इस वराहका वध किया है, परंतु अपने खाने के लिये नहीं, परंतु देशको स्वतंत्र करनेके लिये और उस शत्रुसे धन वापस लानेके लिये। गत महा युद्धमें या अन्य युद्धोंमें लाखों शत्रुवीर परस्परकी ओरसे काटे जाते हैं, परंतु वे खानेके लिये नहीं। जैसा यह है वैसाही इन्द्रने अपने शत्रुको मारा वह उसका मांस खानेके लिये नहीं, अपितु अपने राज्यकी रक्षाके लिये।

विष्णुने इन्द्रकी प्रेरणासे शत्रुके कीलोंमेंसे अगणित धन लाया, उसमें भैसे, वाहन, गौवें, दूध, दूधके पदार्थ, चावल तथा अन्य प्रकारका धान्य भी शामील था। परंतु इनमेंसे किसीने भैसे काटकर खाये ऐसा अर्थ दर्शानेवाला एक भी शब्द न मंत्रमें है और न भाष्यमें। फिर जो हमारे साहित्याचार्य कहते हैं कि इस मंत्रसे आर्योंका भैसोंका मांस खाना सिद्ध होता है, वह किस तरह सिद्ध हो सकता है?

विद्वान् साहित्याचार्य मंत्रके अर्थका कितनाभी अनर्थ करें परंतु वे सायनाचार्यके पीछे क्यों पडते हैं और सायनाचार्यको साथ लेते हुए क्यों गिरते हैं? जितना उनको गिरना हो स्वयं गिरें वह तो उनके अधिकारमेंहि है। परंतु अपने साथ सायनाचार्यजीको क्यों गिराते हैं?

आपका लेख 'गंगा' के वेदाङ्कमें प्रकाशित हुआ। 'गंगा' मासिक भाषाका एक सुप्रसिद्ध श्रेष्ठ स्थानमें विराजने योग्य मासिक है। उनके संपादक महाशयको प्रत्येक मंत्रका सायन भाष्य देखनेकी फुर्सत नहीं है। अतः उन्होंने बडे प्रेमसे पं० महेन्द्र मिश्रजीकी सत्यप्रियतापर विश्वास रखकर उनका लेख प्रकाशित किया। 'गंगा' मासिकके सब पाठक भी सायन भाष्य कहां देखते रहेंगे? कई लोग तो संस्कृत जानते भी नहीं होंगे, वे केवल भाषाहि पढ सकते हैं। वैसे सहस्त्रों पाठकोंने पंडितजीकी "ऋग्वेदकी कुछ उल्लेखनीय बातें" श्रद्धासे पढी होगी, और मान लिया होगा कि, इस मंत्रके सायन भाष्यमें सचमुच भैसों और सूअरोंका मांस आर्य लोग खाते थे इसका निर्देश अवश्य होगा। क्योंकि इतने बडे विद्वान् असत्य नहीं लिखेंगे, यह सबका विश्वास है। परंतु अब बात उलट गयी, पं० महेन्द्र मिश्रजीको सायन भाष्यने बडा धोका दिया। आपने तो इस मंत्रमें (महिष) भैस और (वराह) सूअर ये शब्द देखे और सायन भाष्यमें भी ये शब्द हैं ऐसा देखा और लिख मारा कि यहां उक्त मांस खानेका उल्लेख है!

यदि वे उक्त मंत्रका तथा पूर्वोक्त भाष्यका अर्थ जान सकते अथवा जाननेका प्रयत्न करते, तो उनसे ऐसी अशुद्धि होना सर्वथा असंभव था। जब किसी दूसरे विद्वानका हवाला देना होगा, तब दो तीन वार देखभालकर लिखना चाहिये। नहीं तो ऐसा कलंक लगता है। इस भाष्यके संबंधमें तो पं० महेन्द्र मिश्रजीके ऊपर असत्यकथन करने और भ्रष्टप्रतिज्ञ होनेका दोष या कलंक लगा है और वह धोया जाना असंभव है। क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा है कि "(१) मैंने स्वयं कुछ नहीं लिखा और (२) जो लिखा है सायन भाष्यानुसार लिखा है।" यह कथन या यह प्रतिज्ञा इस मंत्रके विषयमें गलत सिद्ध हुई है। और हम यहां निःसंकोच कह सकते हैं कि साहित्याचार्यजीने सब भाषाभाषियोंको और

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

'गंगा' मासिकके पाठकोंको बडा धोखा दिया है, ऐसा धोखा देनेका साहस कोई अन्य लेखक कर नहीं सकता, इतना साहस आपने किया है। इससे उनको क्या लाभ हुआ होगा, इसका पता हमें नहीं है।

सायन भाष्यका नाम वे न लेते तो वे जो चाहे सो लिख मारनेमें समर्थ थे। फिर किसी मंत्रसे किसी भी प्राणोंके मांस निकालनेमें उनको प्रतिबंध करनेका सामर्थ्य हममें न होता। परंतु अब वे लिख चुके हैं "जहां कौतूहल हो वहां पाठक सायन भाष्य देखकर दूर करें।" सचमुच इस मंत्रको देखते हि हमें बडा कौतूहल हुआ, और हमने सायन भाष्य देखा, परंतु सायन भाष्यसे हमारा कौतूहल तो दूर नहीं हुआ, परंतु हमें पं०साहित्याचार्यजीके बडे साहसपूर्ण असत्य विधानका पता लगा!! और बडी हैरानी हुई कि ऐसे विद्वान् लेखक भी इतना असत्य लिख सकते हैं!!! जब कोई लाभ न होते हुए भी इतना असत्य लिखा गया, तब लाभ का प्रलोभन आनेपर ये क्या नहीं करेंगे?

संक्षेपसे तात्पर्य यह है कि इस मंत्रमें और इसके भाष्यमें कोई किसी प्रकार मांस खानेका थोडासा भी संबंध नहीं है। यह बात और है कि साहित्याचार्यजी को सर्वत्र मांस देखनेका बहुत अभ्यास हुआ है, इसलिये उनको निर्मांस स्थानमें भी मांस की बू आती है!

इस मंत्रपर की चरक ब्राह्मण की व्याख्यामें हमें बडी राजकीय घटनाका पता लगता है और चरक ब्राह्मणकी राजनीतिका भी यहां ज्ञान होता है। इन्द्र नामका कोई राजा किसी देशका है, उसका प्रतिनिधि विष्णु नामक है, इसका नाम 'उपेन्द्र' है, अर्थात् जब इन्द्र स्थानपर नहीं होता है तब यह विष्णु उसका कार्य देखता है। जैसे अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, मंत्री और उपमंत्री, सभापति और उपसभापति होते हैं, इसी प्रकार इस वैदिक परिभाषामें 'इन्द्र और उपेन्द्र' हैं। इन्द्र अध्यक्ष है और उपेन्द्र उसका उपाध्यक्ष है। इनके कार्य भी पूर्वोक्त स्थानमें लिखे हैं। विष्णु अर्थात् उपेन्द्र किंवा देवसभा का उपाध्यक्ष प्रथम अपने राज्यमें भ्रमण करता है, सब की सांपत्तिक अवस्था का स्वयं निरीक्षण करता है, अपनी प्रजा संपत्तिसे परिपूर्ण है या प्रतिदिन गरीब होती जाती है इसका विचार करता है। यदि कोई शत्रु अपनी प्रजाका धन लूटता हो, तो उसका पता यह उपेन्द्र लगाता है और सम्राट् इन्द्रदेव के पास उस शत्रुकी कपटनीतिका संपूर्ण वृत्त निवेदन करता है।

इस तरह पूर्वोक्त स्थानमें उपेन्द्रने पता लगाया कि कोई वराह नामक असुर अपनी सब प्रजाको कपटनीतिसे ठगाकर अपनी प्रजाका धन लूट रहा है और यह सब धन इकट्ठा करके अपने इक्कीस कीलोंके अंदर रख कर वहां उसका भोगविलास करता है। यह सब बात उपेन्द्रने इन्द्रसे कही। तब इन्द्रने उसके इक्कीस कीलोंको तोड डाला और उस शत्रुका भी वध किया। यहां ऐसा पता चलता है कि ये इक्कीस कीले एक दूसरेके अंदर होंगे, अथवा ऐसे स्थानपर होंगे कि जहांसे इस शत्रुका स्थान सुरक्षित होता हो। कीलेमें रहा हुआ शत्रु कीलेके बाहर से लडनेवालेसे सौगुना सामर्थ्यवान् कीलेके कारण होता है। ऐसे शत्रुपर हमला करके उसका नाश करनेके लिये बडी सेना और बडा शस्त्रास्त्रसंग्रह चाहिये, तभी तो शत्रुका नाश हो सकता है। उपेन्द्र विष्णुने यह सब इन्द्रसे निवेदन किया और इन्द्रने उस शत्रुका पूर्ण पराभव किया। इससे बोध यह मिलता है कि राजा अपनी सेना और अपना शस्त्रसंग्रह ऐसा सिद्ध रखे कि शत्रुपर विजय निश्चयसे प्राप्त हो और कभी पराभव की आशंका न हो।

शत्रुका पराजय इन्द्रके पराक्रमसे होनेके बाद उपेन्द्र विष्णु अपने अनुयायियोंको साथ लेकर शत्रुदेशमें जाता है और अपने देशसे जो जो धन शत्रुके लोगोंने लूटा था, उसको वापस लाता है और अपने देशवासियों में उस धन को बांट देता है। इस तरह अपना देश धनधान्य और पशुओं से संपन्न करता है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

राजा का कर्तव्य है कि वह प्रथम देखे कि कोई अपनी प्रजाको लूटता तो नहीं है। यदि लूटता है तो उसका पहिलेही प्रतिबंध करे। उसे लूटने न दें। अच्छा, यदि लूटकर धन शत्रुने हरण किया, तो उस शत्रुका पराभव करे और अनेक उपायोंसे उस धनको अपने राष्ट्रमें वापस लावे। राजनीतिशास्त्र का यह बडाभारी सिद्धान्त इस मंत्रमें अथवा इस चरक ब्राह्मणमें किंवा सायनभाष्यमें कहा है। प्रत्येक समयमें इसका उपयोग है। प्रत्येक देश अन्न, वस्त्र व धन से स्वावलंबनी होना चाहिये। कोई जाति किसी विदेशीय जातिद्वारा लूटी न जाय। हरएक जाति अपने देशमें आनंद से रहे। दूसरे देशको लूटकर धनी बनने की चेष्टा जगत् में युद्ध उत्पन्न करनेवाली है, अतः इस कुनीतिका अवलंब कोई न करे। यदि कोई ऐसा आचरण करेगा तो उसको समर्थ राजा योग्य दण्ड देवे और जगत् में बलिष्ठ के द्वारा अशक्तकी लूट न हो।

यह राजनीतिका बोध इस स्थानमें मिलता है और यह हरएक राष्ट्रके लोगोंको जानने योग्य है। परंतु पं० महेन्द्र मिश्रजीका आग्रह यह है कि यहां वैसा कोई बोध उल्लेखनीय नहीं है, प्रत्युत यहां केवल 'भैसोंका मांस और सूअरका मांस है!!' कहां जमीन और कहां आसमान!! कहां किसी ठग से राष्ट्र न लूटे जानेका उत्तम उपदेश और कहां सूअर का मांस? कोई संबंध नहीं, परंतु यह वेदमंत्र और उसका भाष्य ऐसे पंडितके हाथमें दुर्दैवसे गया है, कि उसका जो चाहे सो बन रहा है। श्रीमान् पूजनीय सायनाचार्यजीका आत्मा यदि ऊपरसे इस 'गंगा'में प्रसिद्ध हुए लेखको देखेगा, तो निःसन्देह उनकी आंखोंसे रक्तके अश्रू नीचे गिर सकते हैं। इतना विचित्र अनुमान इस मंत्रके भाष्यसे इस साहित्याचार्यजीने निकाला है! यदि ऐसेहि अनुमान निकालने हैं तो किसीसे मनमाने अनुमान निकल सकते हैं। इसलिये ऐसे लेखोंकी समीक्षा करना भी उनका मूल्य व्यर्थ बढाना है।

इस सायनभाष्यानुसार महिष और वराहके जो अर्थ होते हैं वे भी यहां स्पष्ट शब्दोंसे लिखने चाहियें ताकि पाठकोंकी शंका पूर्णतया दूर हो जाय—

(१) महिष- महान् यज्ञ, बडा धन, प्रशंसनीय धनादि पदार्थ, वाहन, गाडी रथ आदि, गाय बैल घोडा आदि पशु, (महा-इष) जिसके विषयमें बडी इच्छा होती है ऐसे भोग्य पदार्थ।

(२) वराह- (वर-आह) जलका हरण करनेवाला मेघ, जलसे भरपूर हुआ मेघ, भूमिपरसे जल ले जानेवाला मेघ, (वाम-मुष) उत्तम धन को चोरनेवाला शत्रु, धन लूटनेवाला शत्रु, (वर आ-हा) शत्रुसे श्रेष्ठ धन वापस लाकर अपनी प्रजाको वापस देनेवाला प्रशंसनीय वीर।

यहां 'वराह' के अर्थमें तो पशुवाचक अर्थ है हि नहीं, सायनाचार्यजीने इसका पशुवाचक अर्थ यहां दिया ही नहीं है, फिर सूअरके मांस खानेका उल्लेख इसमें कैसा संभवनीय है? महिष शब्दके अर्थमें पशुवाचक अर्थ हैं, परंतु वह तो पशुधन शत्रुका पराभव करके उससे वापस लाकर अपनी प्रजाको वापस करना है न की बीचमें स्वयं खाजाना। अतः इसमें पशुमांस का संबंध नहीं है। पाठक इसका अच्छी प्रकार विचार करें और वेदके विषयमें कैसे निराधार विधान किये जाते हैं यह जान कर वैदिक ज्ञानको जाग्रति करनेके लिये अपना तन मन धन अर्पण करनेको तैयार हों।

पं० महेन्द्र मिश्रजीके लेखमें और जो विधान हैं, उनका विचार आगेके लेखमें करेंगे।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥
इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम् ।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चर्चर्त पाशान् ॥ ५६ ॥
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेदादित् पश्यन् मनसः कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥ ५७ ॥

अर्थ-(बृहस्पतिः प्रथमः) बृहस्पतिने सबसे प्रथम (सूर्यायाः शीर्षे केशान् अकल्पयत्) सूर्याके सिरपर केशोंको बढाया। (तेन) उस तरह (अश्विनौ) अश्विनीकुमार (इमां नारीं पत्ये संशोभयामसि) इस स्त्रीको पतिके लिये सुशोभित करें ॥ ५५ ॥

(यत् योषा अवस्त, तत रूपं इदं) जो स्त्रीने वस्त्र धारण किया उसका रूप यह है। (मनसा चरन्तीं जायां जिज्ञासे) मनसे भ्रमण करनेवाली स्त्रीको मैं जानता हूं। (नवग्वैः सखिभिः तां अन्वर्तिष्ये) यज्ञों और ऋत्विजोंके साथ उनका मैं अनुसरण करता हूं। (कः विद्वान् इमान् पाशान् विचर्चत) कौन ज्ञानी इन पाशोंको काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

(अहं विष्यामि) मैं खोलता हूं (अस्याः मयि रूपं) जो इसका रूप मुझमें है। (मनसः कुलायं पश्यन् इत् वेदत) मनका घोंसला देखकर ही ज्ञान होता है। (न स्तेयं अद्मि) मैं चोरी करके अन्न नहीं खाता हूं। मैं (स्वयं वरुणस्य पाशान श्रथ्नानः) स्वयं वरुणके पाशोंको शिथिल करता हुआ (मनसा उत् अमुच्ये) मनसे मुक्त होता हूं ॥ ५७ ॥

भावार्थ-कन्याके सिरपर उत्तम बाल हों और वह नारी पति की प्राप्तिके लिये सुशोभित हो ॥ ५५ ॥

स्त्रीका उत्तम वस्त्र धारण करनेसे जो रूप बनता है, वही देखने योग्य है। मनका चालचलन कैसा है, यही स्त्रीके विषयमें देखना चाहिये। पति यज्ञकर्मोंमें धर्मपत्नीको अपने साथ सदा रखे। विषयोंके पाशोंको कौन विद्वान् काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

मैं इन बन्धनोंको खोलता हूं। इस मेरी धर्मपत्नीका रूप केवल मेरे लिये है। इसके मन की परीक्षा करके हि मैंने यह जान लिया है। मैं जो

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥ ५८ ॥
उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥ ५९ ॥
भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ ६० ॥

अर्थ- हे (वधु) स्त्री! (त्वा वरुणस्य पाशात् प्रमुञ्चामि) तुझको वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं। (येन सुशेवाः सविता त्वा अबध्नात्) जिससे सेवा करने योग्य सवितासे तुझे बांध दिया था। (तुभ्यं सहपत्न्यै) तुझ सहधर्मचारिणीके लिये (अत्र उरुं लोकं सुगं पन्थां कृणोमि) यहां विस्तृत स्थान और उत्तम गमनयोग्य मार्ग करता हूं ॥ ५८ ॥

(उद् यच्छध्वं) अपने शस्त्रोंको ऊपर उठाओ। (रक्षः अपः हनाथ) राक्षसोंको मारो। (इमां नारीं सुकृते दधात) इस स्त्रीको पुण्य कर्ममें रखो। (विपश्चित् धाता अस्यै पतिं विवेद) ज्ञानी विधाताने इसके लिये पति प्राप्त कराया है। (भगः राजा प्रजानन् पुरः एतु) राजा भग जानता हुआ आगे बढे ॥ ५९ ॥

(भगः चतुरः पादान् ततक्ष) भगने चार पावोंको बनाया, उनपर (भगः चत्वारि उष्पलानि ततक्ष) भगने चार कमलोंको बनाया। (त्वष्टा मध्यतः वर्ध्रान् अनुपिपेश) त्वष्टाने मध्यमें कमरपट्टोंको बनाया। (सा:

भोग करता हूं वह स्वकष्टसे कमाये धनका भोग करता हूं, चोरीके धनका भोग मैं नहीं करता। मैं वरुणके पाशोंको शिथिल करता हुआ मनके बलसे मुक्त होता हूं ॥ ५७ ॥

सविताने तुझे इस समयतक जिन पाशोंसे बांध रखा था, उन वरुणके पाशोंको मैं खोलता हूं। तुझ जैसे सुयोग्य धर्मपत्नीके लिये यहां विस्तृत लोक प्राप्त हुआ है और उन्नतिका मार्ग सुगम हुआ है ॥ ५८ ॥

इस धर्मपत्नीको कष्ट देनेवाले राक्षसोंका नाश करनेके लिये तुम लोगोंके हथियार सदा सुसज्जित रखो। सदा इस स्त्रीको पुण्यकर्ममें लगाओ, ज्ञानी विधाताकी संमति से इसको यह पति प्राप्त हुआ है, राजा भी यह जानता हुआ विवाहमें अग्रगामी हुआ था ॥ ५९ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥ ६१ ॥
अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते।
इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥ ६२ ॥
मा हिंसिष्टं कुमार्यं १ स्थूणे देवकृते पथि।
शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥ ६३ ॥

नः सुमंगली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ।६०॥

हे (सूर्ये) सूर्ये ! (सुकिंशुकं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुव्रतं सुचक्रं वहतुं आरोह) उत्तम पुष्पोंसे युक्त, अनेक रूपवाला, सोनेके रंगके समान चमकनेवाला, उत्तम वेष्टनोंसे युक्त, उत्तम चक्रोंसे युक्त इस रथपर चढ। (अमृतस्य लोकं आरोह) अमृतके लोकपर चढ। (त्वं वहतुं पतिभ्यः स्योनं कृणु) तू इस विवाह दहेज या रथको पतियोंके लिये सुखदायी कर ॥ ६१ ॥

हे (वरुण बृहस्पते इन्द्र सवितः) देवो ! (अभ्रातृघ्नीं) यह वधू भाईयोंका वध न करनवाली, (अपशुघ्नीं, अपतिघ्नीं, पुत्रिणीं अस्मभ्यं वह) पशुका वध न करनेवाली, पतिका नाश न करनेवाली और पुत्र उत्पन्न करनेवाली हमारे लिये प्राप्त कर ॥ ६२ ॥

हे (स्थूणे) दोनों स्तंभो ! (देवकृते पथि) देवोंके बनाये मार्गपर (कुमार्यं मा हिंसिष्टं) इस कुमारी वधुकी हिंसा न कर। (देव्याः शालायाः द्वारं वधूपथं स्योनं कृण्मः) घर रूप देवताके द्वारमें वधू आनेके मार्गको हम सुखकर करते हैं ॥ ६३ ॥

भावार्थ-भगने पांवोंके चार आभूषण और शरीरपर धारण करनेके चार फूल बनाये और कमरमें धारण करनेयोग्य कमरपट्टा बनाया है। इनको धारण करके यह स्त्री उत्तम मंगलमयी बने ॥ ६० ॥

यह वधू उत्तम फूलोंसे युक्त, सुंदर, सोनेके नकशी कामसे सुशोभित उत्तम चक्रवाले रथपर चढकर अमर पदके मार्गका आक्रमण करे। यह धर्मपत्नीका विवाहमंगल पतिके घरवालोंके लिये सुखकारक होवे ।६१॥

यह स्त्री पतिके घरमें पतिके भाई, पशु आदिकोंको सुख देवे। पति

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥ ६४ ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[२]

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ १ ॥

अर्थ-(अपरं पूर्वं अन्ततः मध्यतः सर्वतः ब्रह्म युज्यतां) आगे पीछे अन्तमें बीचमें अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म अर्थात् ईशप्रार्थनाके मंत्रोंका प्रयोग किया करो। हे वधू ! तू (अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य) व्याधीरहित देवनगरीको प्राप्त होकर (पतिलोके शिवा स्योना विराज) अपने पतिके स्थानमें कल्याण-कारिणी और सुख देनेवाली होकर प्रकाशित हो ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

हे अग्ने ! (अग्ने तुभ्यं) आरंभमें तेरे लिये (वहतुना सह सूर्यां पर्यवहत्) दहेज के साथ सूर्याको ले जाते थे । (सः) वह तू (नः पतिभ्यः) हम सब पतियोंको (प्रजया सह जायां दाः) संतानसहित पत्निको प्रदान कर ॥ १ ॥

को सुख देवे। पुत्रों को उत्पन्न करे। और सब का आनन्द बढानेवाली बने ॥ ६२ ॥

यह वधू देवोंके मार्गसे जा रही है, अतः इसको किसी तरह कष्ट न हों। इसके पतिके घरका मार्ग और इसके पतिके घरका द्वार इसके लिये सुखदायी होवे ॥ ६३ ॥

इस वधूके चारों ओर ज्ञान और ईशप्रार्थनाका वायुमंडल हो। जहां व्याधि नहीं है ऐसी पतिके घररूप देवनगरीको यह वधू प्राप्त हो। पति के घरमें सुखयुक्त और कल्याणयुक्त बनकर यह विराजे ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

दहेज पतिके घर भेजनेके पूर्व कन्या अग्निकी उपासना प्रथम करती है, जिससे उस कन्याको पतिके घर सुख और उत्तम संतान प्राप्त होता है ॥ १ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ २ ॥
सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ३ ॥
सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥ ४ ॥
आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनी वसून्यश्विना हृत्सु कामा अरंसत।

अर्थ–(आयुषा वर्चसा सह) दीर्घायुष्य और तेजके साथ (अग्निः पत्नीं पुनः अदात्) अग्निने पत्नीको पुनः प्रदान किया। (अस्याः यः पतिः) इसका जो पति है, वह (दीर्घायुः शरदः शतं जीवाति) दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित रहता है ॥ २ ॥

(प्रथमं सोमस्य जाया) सबसे प्रथम सोमकी स्त्री है, (ते अपरः पतिः गन्धर्वः) तेरा दूसरा पति गन्धर्व है। (ते तृतीयः पतिः अग्निः) तेरा तीसरा पति अग्नि है और (ते तुरीयः मनुष्यजाः) तेरा चतुर्थ पति मानव है ॥ ३ ॥

जिसको (सोमः गन्धर्वाय ददत्) सोमने गन्धर्वको दी, (गन्धर्वः अग्नये ददत्) गन्धर्वने अग्नि को दी (अथो इमां) और इसी कन्याको तथा (रयिं च पुत्रान् च अग्निः मह्यं अदात्) धन और पुत्रोंको अग्निने मुझे प्रदान किये ॥ ४ ॥

(वां सुमतिः आगन्) आपकी उत्तम मति प्राप्त हुई है। हे (वाजिनी

भावार्थ-अग्नि उपासना अर्थात् यजन अथवा हवन करनेसे दीर्घ आयुष्य, और शारीरिक कान्ति प्राप्त होती है। कन्याका पति भी इस हवनसे दीर्घजीवी अर्थात् शतायु हो सकता है ॥ २ ॥

सोम, गन्धर्व, अग्नि ये बचपनमें कन्याके तीन पति हैं। और पश्चात् उस कन्या का विवाह मनुष्य पतिके साथ होता है ॥ ३ ॥

सोम गन्धर्वको देता है, गन्धर्व अग्निके हाथमें समर्पण करता है और अग्नि पुत्रोत्पादनशक्तिके साथ मनुष्यके स्वाधीन इस कन्याको करता है ॥ ४ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्याँ अशीमहि ॥ ५ ॥
सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम् ।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥ ६ ॥
या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना ।
तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥ ७ ॥

वसू अश्विनौ) बल और धनयुक्त अश्विनी देवो ! (कामाः हृत्सुनि अरंसत) हमारी शुभ इच्छाएं हृदयोंमें स्थिर हो गई हैं। हे (शुभस्पती) हे शुभके पालको ! (मिथुना गोपा अभूतं) तुम दोनों इन्द्रियोंके पालक बनो। (अर्यम्णः प्रियाः दुर्यान् अशीमहि) आर्य मनवाले श्रेष्ठ देवके प्रिय होकर हम उत्तम घरोंको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

(सा मन्दसाना) वह आनन्दित रहनेवाली तू स्त्री (शिवेन मनसा) शुभ भावनायुक्त मनसे (सर्ववीरं वचस्यं रयिं धेहि) सर्व वीरोंसे युक्त प्रशंसनीय धन की धारणा कर। (हे शुभस्पती) शुभके पालको ! हमारे लिये (तीर्थं सुगं) तैरनेका स्थान सुगम हो, (सु प्रपाणं) उत्तम जल पीनेका स्थान हो, तथा (पथिष्ठां स्थाणुं) मार्गमें प्रतिबंध करनेवाले स्तंभ जैसी (दुर्मतिं) दुष्ट बुद्धिवाले शत्रुको (हतं) मार कर दूर करो ॥ ६ ॥

हे वधु ! (या ओषधयः) जो औषधियां, (या नद्यः) जो नदियाँ, (यानि क्षेत्राणि) जो क्षेत्र, और (या वना) जो वन हैं (तां) वे सब पदार्थ (पत्ये प्रजावतीं त्वा) पतिके लिये संतानयुक्त तुझको (रक्षसः रक्षन्तु) राक्षसोंसे सुरक्षित रखें ॥ ७ ॥

भावार्थ- उक्त देवोंके आधिपत्यमें कन्याको उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है। पश्चात् उसके हृदयमें कामको स्थान मिलता है। उस समय अश्विनी देव इन वधुवरोंके रक्षक होते हैं। इस समय अपना मन श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त करके अपने घरोंमें सबको वास करना उचित है ॥ ५ ॥

अपने पतिके घरमें आनन्दसे रहनेवाली धर्मपत्नी अपने मनमें शुभसंकल्प धारण करे और वीरभावयुक्त संतान और प्रशंसायोग्य धन की स्वामिनी बने। इस दंपतीके मार्ग सुगम हों, इनको पर्याप्त खान पान प्राप्त हो, और इनके उन्नतिके मार्ग निष्कण्टक हों और दुष्ट बुद्धि इनसे दूर हो ॥ ६॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

एवं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम् ।
यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥ ८ ॥
इदं सु मे नरः शृणुत यथाशिषा दंपती वाममश्नुतः ।
ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येधि तस्थुः ॥
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुद्यमानम् ॥ ९ ॥
ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु ।

अर्थ- (इमं पन्थां आरुक्षाम) इस मार्गसे चलें, यह (सुगं स्वस्तिवाहनं) सुगम और गाडीके लिये भी सुखकर है, (यस्मिन वीरः न रिष्यति) जिसमें वीरका नाश नहीं होगा और (अन्येषां वसु विन्दते) दूसरों की अपेक्षा यहां धन अधिक मिलता है ॥ ८ ॥

हे (नरः) मनुष्यो ! (मे इदं सुशृणुत) मेरा यह भाषण सुनो। (यथा आशिषा) जिस आशीर्वादसे (दम्पती वामं अश्नुतः) ये वर और वधू सुखको प्राप्त होते हैं। (एषु वानस्पत्येषु) इस वनमें (ये गन्धर्वाः देवीः अप्सरसः अधि तस्थुः) जो गन्धर्व और अप्सराएं ठहरी हैं, (ते अस्यै वध्वै स्योना भवन्तु) वे इस वधूके लिये सुखदायी हों और (उह्यमानं वहतुं मा हिंसिषुः) दहेज ले जानेवाले इस रथका नाश न करें ॥ ९ ॥

(ये यक्ष्माः जनान् अनु) जो रोग मनुष्योंके संबन्धसे (वध्वः चन्द्रं वहतुं यन्ति) वधूके तेजस्वी दहेज रथके पास पहुंचते हैं, (तान् आगताः

भावार्थ- औषधियां, नदियां, खेत, स्थान, बन आदि सब स्थानोंमें संतानोंवाली और पतिके घर जानेवाली इस स्त्रीकी रक्षा हो, अर्थात् कोई राक्षस इसको दुःख न पहुंचावे ॥ ७ ॥

जो मार्ग सुगम और निर्भय हो उससे आगे बढो। और उस मार्गसे जाओ कि जिसमें उत्तम निवासके साधन मिलते हों ॥ ८ ॥

सब लोग इस घोषणाको सुनें, कि यह विवाहित स्त्रीपुरुष इस संसार में सुखपूर्वक रहें। बनवासी तथा ग्रामवासी कोईभी इनको दुःख न देवे। ये ग्रामान्तरमें चलने लगें, तो भी किसी प्रकार इनको दुःख न हो ॥ ९ ॥

जनसमुदायमें जानेसे जो रोग संसर्गके कारण होते हैं, और वधूको

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

पुनस्तान यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥ १० ॥ (७)
मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ११ ॥
सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु ॥ १२ ॥
शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।

यज्ञियाः देवाः) उन रोगोंको यहां आये यज्ञके देव (पुनः यतः आगताः नयन्तु) फिर से जहांसे आये थे वहां ले जावें ॥ १० ॥

(ये परिपन्थिनः आसीदन्ति) जो लुटेरे समीप प्राप्त होंगे, वे (दम्पती मा विदन्) इस पतिपत्नीको न जानें । ये वधूवर (सुगेन दुर्गं अतीतां) सुगमतासे कठिन प्रसंगसे पार हों जांय । और इनके (अरातयः अपद्रान्तु) शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

(वहतुं) वधूके दहेजयुक्त रथको (गृहैः ब्रह्मणा अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा) चारों ओरके घरवाले लोग ज्ञानपूर्वक शांत और मित्रदृष्टिके आंखसे देखें, ऐसा मैं (सं काशयामि) इनको प्रकाशित करता हूं । (यत् विश्वरूपं पर्यानद्धं अस्ति) जो विविध रूपवाला बन्धा हुआ है, उसको (सविता पतिभ्यः स्योनं कृणोतु) ईश्वर पतिके लिये सुखदायी बनावें ॥ १२ ॥

(इयं शिवा नारी अस्तं आगन्) यह कल्याणकारिणी स्त्री पतिके घर आगयी है । (धाता अस्यै इमं लोकं दिदेश) ईश्वरने इस पतिलोक का

मार्गमें भी जो रोग होना संभव है, वे सब रोग यज्ञसे दूर होंगे ॥ १० ॥

मार्गपर जो लुटेरे होंगे, उनसे इस दम्पतिको कष्ट न हों, ये पतिपत्नी सुगमतया कठिन प्रसंगोंके पार हो जांवे । और इनके सब शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

जब दहेजका रथ या पत्नीका पतिके घर जानेका रथ मार्गसे चला जावे, तब दोनों ओरके घरवाले उस कन्याको प्रेमकी मित्रदृष्टिसे देखें । जो भी कुछ विविध रंगरूपवाले पदार्थ हों, वे सब ईश्वरकी कृपासे इस पतिपत्नीके लिये सुखदायी बनें ॥ १२ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

तमर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥ १३ ॥
आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यौ नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥ १४ ॥
प्रतिं तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति ।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ १५ ॥

मार्ग दर्शाया है। (अर्यमा भगः उभा अश्विना प्रजापतिः) ये सब देव (तां प्रजया वर्धयन्तु) उसको प्रजाके साथ बढावें ॥ १३ ॥

(आत्मन्वती ऊर्वरा इयं नारी आगन्) आत्मिक बलसे युक्त तथा सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली यह नारी पतिके घर आगई है। (नरः तस्यां अस्यां बीजं वपत) हे मनुष्यो ! उस स्त्रीमें बीज बोओ, वीर्यका आधान करो। (सा वः) वह तुम्हारे लिये (ऋषभस्य दुग्धं रेतः बिभ्रती) वीर्यवान् पुरुषका वीर्य धारण करती हुई (वक्षणाभ्यः प्रजां जनयत्) अपने गर्भाशयसे संतान उत्पन्न करे ॥ १४ ॥

हे स्त्री ! तू (प्रतितिष्ठ) यहां प्रतिष्ठित हो, तू (विराट् असि) विशेष तेजस्वी है। तुम्हारा पति (विष्णुः इव इह) विष्णुके समान यहां है। हे (सरस्वति, सिनीवालि) विद्यादेवी और अन्नवती देवी ! इसे (प्रजायतां) संतान हो और यह (भगस्य सुमतौ असत्) भाग्यके देवकी सुमतिमें रहे ॥ १५ ॥

भावार्थ–यह सुस्वभाववाली स्त्री पतिके घर जाती है, क्यों कि विधाताने यही स्थान इसके लिये निर्दिष्ट किया था। सब देव इसको उत्तम संतान दें ॥ १३ ॥

यह स्त्री आत्मिक बलसे युक्त है और पुत्र उत्पन्न होनेकी शक्तिसे युक्त है अर्थात् यह वंध्या नहीं है। पति इस स्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है और पश्चात् वह स्त्री उस वीर्यको धारण करती हुई अपने गर्भाशयसे संतानोत्पत्ति करती है ॥ १४ ॥

स्त्री अपने पतिगृहमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हो, स्त्री घरकी सम्राज्ञी है, उसका पति देव है और यह उसकी देवी है। इस पतिपत्नीको उत्तम संतान प्राप्त हो और ये दोनों उत्तम बुद्धि धारण करें ॥ १५ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उद् व॑ ऊ॒र्मिः शम्या॑ हन्त्वाप॒ो योक्त्रा॑णि मुञ्चत ।
मादु॑ष्कृतौ व्ये॒नसाव॒घ्न्यावशु॒न॒मार॑ताम् ॥ १६ ॥
अघो॑रचक्षुरपतिघ्नी स्यो॒ना शग्मा सु॒शेवा॑ सुयमा॑ गृ॒हेभ्यः॑ ।
वी॒र॒सू॒र्दे॒वृ॒का॒मा॒ सं त्वयै॑धिषीमहि सुमन॒स्यमा॑ना ॥ १७ ॥
अदे॑वृघ्न्यपति॒घ्नीहै॑धि शि॒वा प॒शुभ्यः॑ सुयमा॑ सुवर्चीः ।
प्र॒जाव॑ती वीर॒सू॒र्दे॒वृ॒का॒मा स्यो॒नेम॒ग्निं गार्ह॑पत्यं सपर्य ॥ १८ ॥

अर्थ-(वः ऊर्मिः शम्याः उत् हन्तु) आपकी लहर शान्तिका-स्थिरताका भंग करे। हे (आपः) जलो! (योक्त्राणि मुञ्चत) युगोंको छोड दो। (अदुष्कृतौ व्येनसौ अघ्न्यौ) दुष्ट कर्म न करनेवाले गाडीसे छोडे हुए दोनों बैल (अशुनं मा आरतां) अशुभको न प्राप्त हों ॥ १६ ॥

(गृहेभ्यः) अपने घरोंके लिये (अघोरचक्षुः अपतिघ्नी स्योना) क्रूर दृष्टि न करनेवाली, पतिहत्या न करनेवाली, सुखकारिणी (शग्मा सुशेवा सुयमा) कल्याणकारिणी, सेवा करने योग्य, सुनियमोंसे चलनेवाली, (वीरसूः देवृकामा) वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, देवरकी इच्छा पूर्ण करनेवाली, और (सुमनस्यमाना) उत्तम अन्तःकरणसे युक्त (त्वया एधिषीमहि) तुझसे हम संपन्न हों ॥ १७ ॥

(अदेवृघ्नी अपतिघ्नी) देवरका नाश न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली, (पशुभ्यः शिवा) पशुओंका हित करनेवाली, (सुयमा सुवर्चाः) उत्तम नियमोंसे चलनेवाली और उत्तम तेजसे युक्त (प्रजावती वीरसूः) संतानयुक्त, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, (देवृकामा स्योना) देवर-

भावार्थ-प्रवासमें जब शान्तिका भंग होवे, अर्थात् मनको कष्ट प्रतीत हों, उस समय वाहनके बैल छोडे जांय और उनको उत्तम स्थानमें सुरक्षित रखा जाय ॥ १६ ॥

यह स्त्री पतिके घरमें आकर आनन्दसे रहे, आंखें क्रोधयुक्त न करे, पतिकी हितकारिणी बने, धर्मनियमोंका पालन करे, सबको सुख देवे, अपने संतानोंको वीरताकी शिक्षा देवे, देवर आदिको संतुष्ट रखे, अन्तःकरणमें शुभ भाव रखे। ऐसी स्त्रीसे घर सुसंपन्न होता है ॥ १७ ॥

स्त्री पतिगृहमें आकर देवर और पतिका हित करे, पशुओं की उत्तम

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् ।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्धोत्तिष्ठारातेे प्र पत मेह रंस्थाः ॥ १९ ॥
यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् ।
अधा सरस्वत्यै नारी पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ २० ॥ (८)
शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्यै उपस्तरे ।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ २१ ॥

की कामना पूर्ण करनेवाली सुखदायिनी तू (इमं गार्हपत्यं अग्निं सपर्य) इस गार्हपत्य अग्निकी पूजा कर ॥ १८ ॥

हे (निर्ऋते) दरिद्रते ! (उत् तिष्ठ) उठ, कहो कि (किं इच्छसि) तू क्या चाहती हुई (इदं आगाः) यहां आगई है। (अहं अभिभूः) मैं तेरा पराभव करनेवाला (स्वात् गृहात् त्वा ईडे) अपने घरसे तुझे हरा देता हूं। (या शून्य-एषि) जो तू घरको शून्य करना चाहती हुई तू (आजगन्धाः) यहां आगई है, हे (अ-राते) शत्रुभूत दरिद्रते! (उत्तिष्ठ) यहांसे उठ और (प्र पत) दूर भाग जा। (इह मा रंस्थाः) यहां मत रममाण हो ॥ १९ ॥

(यदा इयं वधूः) जब यह स्त्री (गार्हपत्यं अग्निं पूर्व असपर्यैत्) गार्हपत्य अग्निकी पहिले पूजा करे, (अधा) तत्पश्चात हे (नारि) स्त्री! तू (सरस्वत्यै पितृभ्यः च नमस्कुरु) सरस्वतिको और पितरोंको नमन कर ॥ २० ॥

(अस्यै नार्यै) इस स्त्रीके लिये (उपस्तरे एतत् शर्म वर्म) बिछानेके लिये यह सुख और संरक्षण (आहर) ले आ। हे (सिनी-वालि)

पालना करे, धर्मनियमोंके अनुसार चले, तेजस्विनी बने, अपने संतानोंको वीरताकी शिक्षा देवे और अग्निकी हवनद्वारा उपासना करे ॥ १८ ॥

गृहस्थीके घरमें दरिद्रता न रहे। गृहस्थ अपने प्रयत्नसे दारिद्र्य दूर करे। जो घर पुरुषार्थसे शून्य होता है, उसमें दारिद्र्य रहता है। अतः प्रयत्नद्वारा दरिद्रताको दूर करना योग्य है ॥ १९ ॥

स्त्री पतिघरमें प्रतिदिन सबसे पहिले गार्हपत्याग्निकी हवनद्वारा उपासना करे, पश्चात् विद्यादेवीकी और पश्चात् पितरोंकी पूजा करे ॥ २० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन ।
तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥ २२ ॥
उप स्तृणीहि बल्बजमधि चर्मणि रोहिते ।
तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥ २३ ॥
आरोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्ते एषः ॥ २४ ॥

अन्न देनेवाली देवी ! (प्र जायतां) यह स्त्री उत्तम रीतिसे संतति उत्पन्न करे और (भगस्य सुमतौ असत्) भगवान् की उत्तम मतिमें रहे ॥ २१ ॥

(यं बल्बजं न्यस्यथ) जो चटाई नीचे बिछाते हैं (च चर्म उपस्तृणीथन) और चर्म ऊपर बिछाते हैं। (या कन्या पतिं विन्दते) जो कन्या पतिको प्राप्त करती है, वह (सुप्रजा तत आरोहतु) उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली उसपर चढे ॥ २२ ॥

(बल्बजं उपस्तृणीहि) पहिले चटाई फैला दो, पश्चात् (अधि चर्मणि) रोहिते) मृगचर्मके ऊपर (तत्र सुप्रजा उपविश्य) वहां सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली यह स्त्री (इमं अग्निं सपर्यतु) इस अग्निकी उपासना करे ॥ २३ ॥

(चर्म आरोह) इस चर्मपर चढ, (अग्निं उप आसीद) अग्निके समीप बैठ। (एषः देवः सर्वाः रक्षांसि हन्ति) यह देव सब राक्षसोंका नाश करता है। (इह अस्मै पत्ये प्रजां जनय) यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। (ते एषः पुत्रः सुज्यैष्ठ्यः भवत्) तेरा यह पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

भावार्थ– पति अपनी स्त्रीके लिये हरएक प्रकारसे सुख देवे, और उसकी उत्तम रक्षा करे। यह स्त्री उत्तम अन्न सेवन करके उत्तम संतान उत्पन्न करे और ऐसा आचरण करे कि ईश्वर का आशीर्वाद इसे प्राप्त हो ॥ २१ ॥

पहिले घासकी चटाई बिछाई जावे, उसपर कृष्णाजिन बिछाया जावे। जो स्त्री पतिको प्राप्त करती है, वह सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली स्त्री इस बिछोनेपर चढे ॥ २२ ॥

पहिले चटाई फैलाओ, उसपर चर्म बिछा दो, वहां उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री बैठकर अग्नि की उपासना करे ॥ २३ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान् ॥ २५ ॥
सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्रूवै प्र गृहान् विशेमान् ॥ २६ ॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्यै गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ २७ ॥

अर्थ-(अस्याः मातुः उपस्थात) इस माताके पास (जायमानाः नाना रूपाः पशवः वि तिष्ठन्तां) उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पशु ठहरें। (सुमंगली संपत्नी इमं अग्निं उपसीद) उत्तम मंगल कामनावाली और उत्तम पतिके साथ यह स्त्री इस अग्निकी उपासना करे। और (इह देवान् प्रतिभूष) यहां देवोंकी सेवा करे, शोभा बढावे ॥ २५ ॥

(सुमंगली) उत्तम मंगल आभूषण धारण करनेवाली (गृहाणां प्रतरणी) घरोंको दुःखसे दूर करनेवाली (पत्ये सुशेवा) पतिकी उत्तम सेवा करनेवाली (श्वशुराय शंभूः) श्वशुरको सुख देनेवाली, (श्वश्रूवै स्योना) सासको आनंद देनेवाली तू (इमान् गृहान् प्रविश) इन घरोंमें प्रविष्ट हो ॥ २६ ॥

(श्वशुरेभ्यः स्योना भव) श्वशुरोंके लिये सुख देनेवाली हो, (पत्ये गृहेभ्यः स्योना) पति और घरके लिये हितकारिणी हो, (अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना) इस सब प्रजासमूहको सुखदायिनी, (स्योना एषां पुष्टाय भव) सुखदायक होकर इन सबकी पुष्टिके लिये हो ॥ २७ ॥

भावार्थ- उस चर्मपर चढ, अग्निकी पूजा कर। यह अग्निदेव सब दुष्ट राक्षसोंका नाश करता है। इस संसारमें अपने पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। यह तेरा पहिला पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

जब यह स्त्री माता होगी, तब उसके साथ विविध रंगरूपवाले गौ आदि पशु रहेंगे। यह स्त्री उत्तम मंगल कामना धारण करके अग्निकी उपासना करे और देवोंको सुभूषित करे ॥ २५ ॥

उत्तम मंगल कामनावाली, गृहवालोंको दुःखसे छुडानेवाली, पतिकी सेवा करनेवाली, श्वशुरको सुख देनेवाली, सासका हित करनेवाली स्त्री अपने घरमें प्रविष्ट हो ॥ २६ ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥ २८ ॥
या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।
वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ २९ ॥
रुक्मप्रस्तरणं वह्निं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् ।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥ ३० ॥] ९]

अर्थ- (इयं सुमंगली वधूः) यह मङ्गलयुक्त वधू है। (सं एत, इमां पश्यत) इकट्ठे होओ और इसको देखो। (अस्यै सौभाग्यं दत्त्वा) इसको सौभाग्यका आशीर्वाद देकर (दौर्भाग्यैः वि परेतन) दुष्ट भाग्यको दूर करते हुए वापस जाओ ॥ २८ ॥

(याः दुर्हार्दः युवतयः) जो दुष्ट हृदयवाली स्त्रियां हैं और (याः च इह जरतीः अपि) जो यहां वृद्ध स्त्रियां हैं, वे (अस्यै नु वर्चः सं दत्त) इसको निश्चयपूर्वक तेज देवें, (अथ अस्तं विपरेतन) और अपने घरको वापस जावें ॥ २९ ॥

(रुक्मप्रस्तरणं) सोनेके बिछोनेसे युक्त (विश्वा रूपाणि बिभ्रतं) अनेक सुंदर सजावटोंको धारण करनेवाले, (कं वह्निं) सुखदायक रथपर (सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय आरोहत्) सूर्या सावित्री बडे सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये चढी है ॥ ३० ॥

भावार्थ- यह स्त्री श्वशुरोंका हित करे, पतिको सुख दे, सब घरवालोंका हित करे और सबको पुष्ट रक्खे ॥ २७ ॥

सब भाईबंधु इकट्ठे होकर यहां आवें और इस वधूका दर्शन करें। यह वधू बहुत कल्याण करनेवाली है। अतः वे इस वधूको शुभाशीर्वाद देकर, इसके जो दुष्ट भाग्य हैं, उनको दूर करके वापस अपने घर जावें ॥ २८ ॥

जो दुष्ट हृदयवालीं और बूढी स्त्रियां हैं, वे भी सब स्त्रियां इस वधूको अपना तेज अर्पण करें और अपने घरको वापस चली जावें ॥ २९ ॥

जिसपर सोनेके जरतारीका काम किया है ऐसे गद्दे जिसमें लगे हैं और विविध हुनरोंसे जिसकी शोभा बढाई है, ऐसे सुन्दर रथपर यह वधू चढे और पतिके घर प्राप्त होकर बडा सौभाग्य प्राप्त करे ॥ ३० ॥

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥ ३१ ॥
देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारी विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥ ३२ ॥
उत्तिष्ठतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।

अर्थ– (सुमनस्यमाना तल्पं आरोह) उत्तम मनके भाव धारण करती हुई स्त्री विस्तरेपर चढे । (इह अस्यै पत्यै प्रजां जनय) यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर । (इन्द्राणी इव सुबुधा) इन्द्राणीके समान उत्तम ज्ञानवाली होकर (ज्योतिः अग्रा उषसः बुध्यमाना) जिसके बाद सूर्यकी ज्योति आनेवाली है ऐसी उषाओंके पूर्व जागकर (प्रति जागरासि) निद्रा छोडकर उठ ॥ ३१ ॥

(अग्रे देवाः पत्नीः नि अपद्यन्त) पूर्व समयमें देव लोग अपनी स्त्रियों के साथ सोते थे । (तन्वः तनूभिः सं अस्पृशन्त) अपने शरीरोंसे स्त्रियोंके शरीरको स्पर्श करते थे । उस प्रकार हे (नारि) स्त्री ! तू (इह) इस संसारमें (सूर्या इव) सूर्यप्रभाके समान (महित्वा विश्वरूपा) महत्त्वसे अनेक रूपवाली होकर (प्रजावती पत्या संभव) प्रजायुक्त होकर पतिके साथ संतान उत्पन्न कर ॥ ३२ ॥

हे (विश्वावसो) सब धनसे युक्त वर ! (इतः उत्तिष्ठ) यहांसे उठ, हम (त्वा नमसा ईडामहे) तेरी नमस्कारोंसे पूजा करते हैं । (पितृषदं

भावार्थ– यह स्त्री मनके उत्तम भाव धारण करती हुई बिस्तरेपर चढे, और पतिके लिये उत्तम संतान निर्माण करे । उत्तम ज्ञान संपादन करके उषःकालके पूर्व जागकर निद्रासे निवृत्त होकर उठे ॥ ३१ ॥

पूर्व समयमें देवभी अपनी धर्मपत्नियोंके संग सोते रहे, अपने शरीर से स्त्रीके शरीरको आलिंगन देते रहे । उसी प्रकार यह स्त्री भी अनेक प्रकार अपने रूपकी सजावट करती हुई, उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी इच्छासे पतिके साथ मिलकर रहे ॥ ३२ ॥

हे धनवाले पुरुष ! वहांसे उठकर यहां आ, हम आपका स्वागत करते हैं । यह वधू इस समयतक पिताके घर रहती थी, आप इस वधूको प्राप्त

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स तै भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥ ३३ ॥
अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वतुना कृणोमि ॥ ३४ ॥
नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृण्मः ।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोभि जाया अप्सरसः परेहि ॥ ३५ ॥

न्यक्तां जामिं इच्छ) पिताके घरमें रहनेवाली सुशोभित वधूको तू प्राप्त करनेकी इच्छा कर। (सः ते भागः) वह तेरा भाग है। (तस्य जनुषा विद्धि) उसका जन्मसे ज्ञान प्राप्त कर ॥ ३३ ॥

(हविर्धानं अन्तरा सूर्यं च) हविर्धान और सूर्यके मध्यमें (अप्सरसः सधमादं मदन्ति) अप्सराएं साथ साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले कर्ममें आनन्दित होती हैं। (ताः ते जनित्रं) वह तेरा जन्मस्थान है। (ताः अभि परेहि) उनके पास जा। (गन्धर्व-ऋतुना ते नमः कृणोमि) गन्धर्वके ऋतुओंके साथ तुझे मैं नमन करता हूं ॥ ३४ ॥

(गंधर्वस्य नमसे नमः) गंधर्वके नमस्कारको हम नमस्कार करते हैं। उसके (भामाय चक्षुषे च नमः कृण्मः) तेजस्वी आंखके लिये हम नमन करते हैं। हे (विश्वावसो) सब धनसे युक्त ! (ते ब्रह्मणा नमः) तुझे हम ज्ञानके साथ नमन करते हैं। (अप्सरसः जायाः अभि परेहि) अप्सरा जैसी स्त्रियोंके साथ परे जा ॥ ३५ ॥

करनेकी इच्छा करते हैं, तो यह आपका भाग हो सकता है। इस आपके भाग के— इस स्त्रीके-जन्मसे सब वृत्तान्त आप चाहे तो जान सकते हैं ॥ ३३ ॥

इस यज्ञस्थानभूमि और सूर्य इनके बीच अन्तरिक्षमें अप्सराएं (सूर्य प्रभाएं) एक घरमें आनन्दसे रहकर बहुत आनन्द प्राप्त करती हैं। इस प्रकार गृहस्थ अपने घरमें आनन्दसे रहे। स्त्रियां ही सबकी उत्पत्तिका स्थान है, अतः उनके साथ पुरुष रहे। और ऋतुके अनुसार आदरपूर्वक ऋतुगामी होवे ॥ ३४ ॥

दूसरेके नमस्कार करनेपर उसको नमन करना उचित है, उसके तेजस्वी आंखके साथ अपनी आंख मिलाकर नमन करना उचित है। इस

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

८ गीतान्तर्गत शास्त्रार्थका मूल स्वरूप।

(अध्याय १।२।३)

(लेखक—श्री० वे० शा० सं० सदाशिवशास्त्री भिडे, गीताधर्म मंडल, पूना।)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

मनुष्यने चाहे एकही शास्त्रका अभ्यास किया हो, तथापि उसे अनेक शास्त्रग्रंथ पढने पडते हैं, उसके बिना बहुश्रुतता नहीं आती। और बिना बहुश्रुतता के किसी विषयपर व्यापक दृष्टिसे विचार कर नहीं सकते। सारांश, व्यापक दृष्टिके लिये बहुश्रुतता चाहिये और बहुश्रुतताके लिये अनेक ग्रंथोंका वाचन चाहिये; ऐसी यह कारणमाला कह सकते हैं। अनेक ग्रंथोंके वाचनसे बहुश्रुतता संपादन करते समय उसमें एकसूत्रता रखना अत्यंत आवश्यक है। यह एकसूत्रता रखनेमें गीताशास्त्र के समान उपयोगी दूसरा ग्रंथ क्वचित् ही मिलेगा। इसलिये कोईभी समझ सकता है कि शिरोभाग में उद्धृत किया हुवा वचन केवल अर्थवादात्मक नहीं है। ब्रह्मविद्या के अभ्यास में दशोपनिषद् और गीता इन मूल ग्रंथोंके साथही स्मृति, पुराण, इतिहास इत्यादि ग्रंथोंके अभ्यासकी आवश्यकता रहती है। किंबहुना राजनीति, अर्थशास्त्र इत्यादि व्यवहारप्रधान शास्त्रोंका तथा संगीतादि कलाओंका भी उपयोग ब्रह्मविद्या के लिये होता है। इसीलिये इन सब विषयोंका समावेश दशोपनिषदों ने ब्रह्मविद्याके अंगकलापमें किया है। इन विषयोंका अवलोकन करते समय यदि उनमें एकसूत्रता उत्पन्न न हो सके, तो अभ्यासक की बुद्धि चकराने लगती है। अपने संगृहीत ज्ञानका संकलीकरण वह नहीं कर सकता। इसलिये अभ्यासक को चाहिये कि वह अपने विचारोंमें हमेशा एकसूत्रता कायम रखनेकी बहुत फिकर रखे। इस काममें गीताशास्त्रकाही उपयोग होता है। जिस ग्रंथके साहाय्य से ज्ञानविज्ञान का संकलन करना हो, उस ग्रंथका अध्ययन सावधानीसे करना चाहिये; इससे अपनी बहुश्रुततामें हम एकसूत्रता उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिये अन्य शास्त्रग्रंथोंका वाचन करनेके पहिले गीताशास्त्रका सम्यक् अध्ययन करना चाहिये; उसके बाद अन्य ग्रंथोंका अवलोकन करना। शिरोभाग में दिये हुए वचनका यह अभिप्राय है।

स्वतंत्र अभ्यास।

अभ्यास की दो पद्धतियां प्रचलित हैं। एकमें भाष्यग्रंथ और टीकाग्रंथपर अभ्यासकी पूरी दारमदार रहती है; अर्थात् भाष्यों और टीकाओंको प्रायः मूलग्रंथके बराबर महत्त्व देकर उन्हींपर विशेष विचार करना, ऐसी एक पद्धति रूढ है। दूसरी पद्धति ऐसी है कि भाष्य व टीकाग्रंथों को विशेष महत्त्व न देकर मूल ग्रंथपरही पूरा भार रखना। अर्थज्ञान के लिये कोशग्रंथोंके सदृश यद्यपि भाष्यों तथा टीकाग्रंथोंका उपयोग भलेही करना पडे, तथापि शब्द, वाक्य अथवा प्रकरणोंके अर्थका निश्चय करनेमें मूल ग्रंथके अंतःप्रमाणोंकाही उपयोग करना। थोडे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि गीताका विवरण गीताके आधारसेही करना। इसी पद्धतिको स्वतंत्र अभ्यासपद्धति अथवा स्वतंत्र बुद्धिसे किया हुवा अभ्यास कहते हैं।

अभ्यासक का ज्ञानसामर्थ्य बढानेके लिये और उसके विचारोंकी दिशा निश्चित करनेके लिये यह पद्धति अत्यंत आवश्यक है। अध्यात्मविचारोंकी परंपरा भरतखंडमें लगभग पांच हजार वर्षोंसे जारी है। इस अध्यात्मविद्याके अनेक संप्रदाय अथवा ग्रंथ प्रचलित हुए हैं; इसलिये अध्यात्मके

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

विषयमें अनेकविध कल्पनाएं मनुष्य सुनता रहता है। मनुष्यका अंतःकरण ऐसी नानाविध कल्पनाओंसे भरा रहता है; इससे अध्यात्मविषयक किसी भी ग्रंथका अध्ययन करनेमें परंपरागत विचार उसके मनको घबडा देते हैं। विशेषतः स्वतंत्र बुद्धिसे अभ्यास करनेवालेको ये पूर्वग्रह बहुतही बाधक होते हैं। इसलिये गीता शास्त्रका स्वतंत्र अभ्यास करनेवालेको इन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

गीताशास्त्रमें कौनसे विषय गृहीत माने हैं और कौनसे विषय विवेचनीय माने गए हैं यह अच्छीतरह ध्यानमें रखकर गीताके विषयोंका प्रकरणवार अभ्यास बडी सावधानीसे करना चाहिये। इससे गीताके अंतःप्रमाणोंका सम्यक् ज्ञान होकर यह अच्छी तरह समझमें आवेगा कि उन प्रमाणोंका उपयोग कैसा होता है और कैसा करना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि इस रीतिसे जो स्वतंत्र अभ्यास किया जायगा वही अभ्यासक को अत्यंत श्रेयस्कर होगा।

गीताका प्रामाण्य।

स्वतंत्र बुद्धिसे अभ्यास करना हो तबभी यह न समझ लेना चाहिये कि उसमें शब्दप्रामाण्य को कम महत्त्व दिया जाता है। शास्त्रीय विचार करते समय गृहीत कृत्य, पूर्वविद्वानों के मत इत्यादि बातें समझनेके लिये इन्हीं शब्दप्रमाणोंका उपयोग होता है। शब्दप्रमाणके अनेक प्रकार होते हैं। उन सबमें श्रुति ही श्रेष्ठ प्रमाण है। श्रुतिमें भी मंत्र और ब्राह्मण नामके विभाग होते हैं। इसी तरह वेदान्त शास्त्रमें भी एक भाग दशोपनिषद् व गीता और दूसरा भाग अवान्तर उपनिषद्, अन्य स्मृतिपुराणादि ग्रंथ इत्यादि मिलकर होता है। पहिले भाग का प्रामाण्य मुख्य और दूसरे का गौण है। पहिले कह चुके हैं कि इस प्रथम विभागमें दशोपनिषद् व गीता का समावेश होता है। गीता और दशोपनिषदोंमें यदि तुलना करना हो तो इतना निर्विवाद है कि गीता की अपेक्षा दशोपनिषदों के प्रामाण्य को अधिक महत्त्व देना चाहिये। तथापि दशोपनिषदों को छोडकर वेदान्त के अन्य किसी भी ग्रंथ को गीताके बराबर प्रामाण्य नहीं मिल सकता। गीता ग्रंथ उपनिषदों के समान ही प्रमाण ग्रंथ है। इसलिये गीताका वचन प्रमाण मानना चाहिये। पूर्वकालीन ऋषि, आचार्य, पंडित, साधुसंत, इन सबोंने गीताका प्रामाण्य शिरसामान्य किया है। हिंदुधर्ममें अनेक पंथ और संप्रदाय भले ही होवें तथापि उन सबोंने प्रामाण्यकी दृष्टिसे गीता कोही अग्रस्थान दिया है। किंबहुना परधर्मीय विद्वानों ने भी गीता के प्रति अत्यंत आदर व्यक्त किया है। इस तरह अध्यात्मशास्त्र ऐसा शास्त्र है जो गीता जगत् के समस्त विद्वज्जनोंको पूर्णतया मान्य है। इस से इस गीताशास्त्र का प्रामाण्य सुप्रतिष्ठित हुआ है। ऐसे सर्व शिष्टसंमत शास्त्रविषयक प्रामाण्य यदि किसी व्यक्तिको मान्य न हों तो उसपर ख्याल करनेकी कोई जरूरत नहीं।

प्रामाण्य के विषय में एक शंका।

स्वभावतः ऐसी एक शंका उपस्थित हो सकती है कि यदि गीता ग्रंथको इस प्रकार सर्वतः प्रामाण्य है, तो गीताके अभ्यास में बुद्धिको स्वातंत्र्य क्या मिलेगा? इसका उत्तर यह है कि, वचनको प्रामाण्य होनेपर भी वाक्यार्थ के विषयमें अभ्यासक की बुद्धिको पूर्ण स्वातंत्र्य रहता है। न्याय, व्याकरण, मीमांसा इत्यादि शास्त्रोंकी सहायता से और सृष्टिनिरीक्षण व आत्मनिरीक्षण करके उनसे जो अनुभव प्राप्त होंगे उनकी सहायतासे गीता के वचनोंका और प्रकरणोंका अर्थ स्वतंत्र बुद्धिसे निश्चित करना चाहिये, इसी रीतिसे अभ्यासक संपूर्ण ग्रंथके तात्पर्य का निर्णय कर सकता है। यहां यह कहना अनवश्यक है कि पुराने टीकाकारोंका किया हुआ पुराना अर्थ है इसीलिये उसे त्याज्य कहनेकी धृष्टता कोई भी सरल हृदय अभ्यासक न करेगा। परंतु ध्यान रहे कि "युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं न ग्राह्यं गुरुगौरवात्" यह न्याय वाक्यार्थोंके अथवा प्रकरणार्थोंके विषयमें स्वीकृत करनेपर भी अभ्यासके मूलग्रंथ विषयक प्रामाण्यबुद्धिको बाधा नहीं पहुंच सकती। इस प्रकार गीताविषयक प्रामाण्यबुद्धि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कायम रखकर पूर्वकथितानुसार इस शास्त्रका स्वतंत्र बुद्धिसे अध्ययन किया जाय। इसमें संदेह नहीं कि यही अध्ययन साधकके लिये अधिक श्रेयस्कर होगा। ऐसे स्वतंत्र अध्ययनमें प्रकरणोंके ज्ञानको बहुत अधिक महत्त्व रहता है, इसलिये गीताके प्रकरणोंका तथा प्रकरणवार विषयोंका संक्षेपतः विचार करनेका प्रस्तुत लेखका उद्देश्य है।

अर्जुनका पूर्वपक्ष।

गीताका पहिला अध्याय और दूसरे अध्यायके दस श्लोक इतने विभागमें अनेक विषय आए हैं; उनमेंसे मुख्य विषय अर्जुनका पूर्वपक्ष है; बाकी सब विषय इस पूर्वपक्षके अनुषंगसेही आए हैं। स्थूल मानसे अर्जुनके पूर्वपक्षके तीन विभाग हो सकते हैं- मुख्य विभाग पहिले अध्यायके श्लोक ३१ से ३७ तक में आया है। इस प्रकरणमें अर्जुन कहते हैं- "जिस उद्देशसे हम लढनेको तैयार हुए, वह उद्देश इस युद्धसे साध्य नहीं होता। प्रस्तुत युद्धमें हमारे उद्देश विजय, राज्य और सुख हैं, परंतु जिनके लिये हम विजय, राज्य इत्यादि प्राप्त करनेवाले हैं, इन्हींपर शस्त्र चलानेका प्रसंग इस युद्धमें है। उभय सैन्योंमें मुख्यतः आप्त, इष्ट, पुत्रपौत्र, बापदादे, गुरुजन इत्यादि लोग ही सम्मिलित हुए हैं। इस युद्धमें मुख्य कर्तव्य है उन्हें मारना। ऐसे प्रेमास्पद, उपकारकर्ता और परम पूज्य स्वजनोंको मारकर यदि हमें केवल पृथ्वीका ही नहीं किंतु त्रैलोक्यकाभी राज्य मिलता हो तोभी मुझे नहीं चाहिये। भाईबंदोंका अथवा स्वजनोंका घात करनेसे मुझे इस जन्ममे सुख मिलेगाही नहीं, किंतु मैं पापका धनी अवश्य होऊंगा। इसलिये यह युद्ध ऐहिक तथा पारलौकिक दृष्ट्या अवश्यमेव हानिकारक है।" इस प्रकरणका अभिप्राय संक्षेपतः यह है।

पहिले अध्यायके श्लोक ३८से ४६ तकमें अर्जुनने वर्णन किया है कि कुलक्षय का स्वरूप कितना घोर है। कुलक्षयसे उत्पन्न होनेवाली अनर्थपरंपरा, उसके दुष्परिणाम अर्थात् संपूर्ण कुटुंबोंका धूलमें मिल जाना, इससे कुलक्षयकर्ताको जो पाप लगेंगे इन सबका पर्यवसान अर्थात् नरकप्राप्ति है। इन बातोंका अर्जुनने सयुक्तिक प्रतिपादन किया है; और ४५ वें श्लोकमें "राज्यसुखके लोभसे यह स्वजनघातरूपी महापातक करनेको हम कैसे तैयार हुए" इसपर उद्वेग, खेद इत्यादि विकारोंसे मिश्रित आश्चर्य प्रगट करके ४६ वें श्लोकमें यह निश्चय स्थिर किया है कि ऐसे पापकारक युद्धमें शामिल होनेकी अपेक्षा मैं इस क्षात्र धर्मका संन्यास पसंद करता हूं, क्योंकि वही मेरे लिये अधिक श्रेयस्कर है। ऐसा निश्चय करके शोकग्रस्त अंतःकरणसे प्रत्यक्ष शस्त्रसंन्यास करके अर्जुन रथमें स्वस्थ बैठ गए। ऐसा श्लोक ४७ में संजयने कहा और अध्याय समाप्त हुआ।

शोकग्रस्त होकर स्वस्थ बैठनेवाले अर्जुनकी संन्यासवृत्तिका अत्यंत तीव्र शब्दोंमें श्रीकृष्णने निषेध किया और ऐसा न करनेके लिये उसे आग्रह किया, तथापि अर्जुन अपनी बातसे अणुमात्र विचलित न हुआ। उसने इतना जरूर किया कि अपने पूर्वपक्षमेंसे चुना हुवा मुद्दा श्रीकृष्णके सामने रखकर उनसे प्रार्थना की कि इसका सशास्त्र उत्तर देकर सच्चा श्रेयस्कर मार्ग कौनसा है, तो मुझे समझा दीजिये। इस प्रकार अर्जुनके भाषणके मुख्यतः तीन प्रकरण हुए हैं। उनमेंसे पहिला प्रकरण मुख्य है और दूसरे प्रकरणमें पहिले प्रकरणके विषयोंका ही स्पष्टीकरण और समर्थन किया है। तीसरा प्रकरण दूसरे अध्यायके १० वें श्लोक तक आया है; इसमें अर्जुनने अपनी उक्तिका अनुवाद करके अंतमें प्रार्थना की है कि यह गलत हो तो मुझे सत्यज्ञानका उपदेश कीजिये। अर्जुन द्वारा प्रतिपादित इन तीन प्रकरणोंको सिद्धान्त, समर्थन और अनुवाद नाम दे सकते हैं।

अपने उच्च कुलके-कुरु कुलके-प्रति अर्जुनके अंतःकरणमें अत्यंत आदर और निःसीम प्रेम वास करते थे। अपने कुलका सर्वांगीण उत्कर्ष जिस प्रकार हो सके उसी प्रकार संपादन करना ही गृहस्थका श्रेष्ठ धर्म है। परंतु इस अवसरपर जो युद्ध उपस्थित हुआ है, उसमें शरीक होनेसे ऐसे श्रेष्ठ

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

गृहस्थधर्मपर तिलांजलि देनी पडती है। जिस प्रकार अपने कुलका कल्याण करना श्रेष्ठ गृहस्थधर्म है, उसी प्रकार रणभूमिमें खडे होनेपर रणनीतिके अनुसार युद्ध करना भी क्षत्रियोंका श्रेष्ठ धर्म है। क्षात्रधर्मका आचरण करूं तो गृहस्थधर्म डूबता है, और यदि गृहस्थधर्मको सम्हालने जाता हूं तो मुझे क्षात्रधर्मका पूर्ण त्याग करना पडता है। इस तरफ कूवां उस तरफ बावली; ऐसी दुविधामें अर्जुन पडा था। क्षात्रधर्मका आचरण उसे बहुत भीषण मालूम पडने लगा, इसलिये उसने क्षात्रधर्म का त्याग करना ही उचित समझा।

क्षात्रधर्म अर्थात् वर्णधर्म। इस वर्णधर्मके अंतर्गत प्राचीन कालमें आर्योंके निर्वाहके साधन समाविष्ट किये गए थे। इस वर्णधर्मका त्याग करनेसे अपनी उपजीविका के लिये कोई मार्ग नहीं रहता, तब गृहस्थाश्रम कैसे चलेगा? यह प्रश्नभी अर्जुनके सामने उपस्थित था। इसीलिये उसने साफ कह दिया कि मैं भिक्षा मांगने को तैयार हूं। अर्जुनके प्रतिपादन में न केवल व्यवहारशास्त्र है किंतु धर्मशास्त्र व तत्त्वज्ञान भी भरे हुए हैं। उसकी व्यवहारिक विचारप्रणाली आधुनिक समाजशास्त्र की दृष्टिसे भी सयुक्तिक है। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि पापपुण्यकी जो चिकित्सा उसने की वह व्यक्तिधर्म की नीतिकी दृष्टिसे अयोग्य थी। इसी प्रकार उसका तत्त्वज्ञान निःसंदेह संन्यासमार्ग के अनुकूल था। मनुष्य का सच्चा कल्याण मोक्षप्राप्ति से ही होता है; इस मोक्षप्राप्ति के मार्गमें कर्म प्रतिबंधक है, उसका त्याग कभी कभी करनाही पडेगा और ऐसे समय कोई न कोई कर्म प्राप्त रहेगाही; इससे सिद्ध होता है कि संन्यासमार्ग में प्राप्तकर्मका त्याग अपरिहार्य है।

अर्जुनकी यह दशा आ गई थी कि वर्णधर्म भी नहीं और आश्रमधर्म भी नहीं। तथापि अंतिमसाध्यपर उसकी दृष्टि निश्चल थी। मानवजातिका अंतिम ध्येय मोक्ष है। अर्जुन समझता था कि मोक्षप्राप्तिके लिये कभी न कभी कर्मोंका त्याग आवश्यक है, वह त्याग इसी समय करनेका उसने निश्चय किया। आत्यंतिक श्रेय का सच्चा मार्ग कौनसा है और उस मार्गकी दृष्टिसे युद्ध करना श्रेयस्कर है अथवा युद्ध न करना श्रेयस्कर है इस विषयमें अर्जुन को तीव्र जिज्ञासा थी। मनका झुकाव संन्यासमार्ग की ओर था, परंतु वह मार्ग श्रीकृष्णको पसंद न था इसलिये वह यहीं रुक गया और उसने भगवान् को साफ कह दिया कि जबतक मुझे पूर्णतया अपने कल्याण का सच्चा मार्ग न समझेगा तबतक मैं एक कदमभी आगे न बढूंगा।

गीताकाल में संन्यासमार्ग को सांख्य कहते थे। वैदिक कालमें संन्यासमार्गका पुरस्कार सांख्योंनेही किया था; इसलिये संन्यासमार्ग को सांख्य कहने की रूढि पड गई होगी। वस्तुतः औपनिषद् विद्याके तत्त्वज्ञान में और सांख्यों के तत्त्वज्ञान में अंतर है। परंतु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि गीता में जो सांख्य शब्द आया है वह बहुतसे स्थानोंमें संन्यासमार्गका वाचक है। सांख्यों की विचारप्रणालि उपनिषत्कर्ता ऋषियोंने बहुतांश में खंडित कर दी थी; तथापि उस काल (गीताकाल) तक सुशिक्षितवर्गमें सांख्यों के तत्त्व अथवा मार्ग का प्रादुर्भाव कहीं कहीं दृष्टिगोचर होता था। अर्जुनकी विचारप्रणालि का यही प्रकार था और उसने अपने मनमें मान लिया कि कर्मसंन्यासका मार्गही सबसे अच्छा। अर्जुन के पूर्वपक्षका संक्षेपमें यह तात्पर्य है।

अर्जुन के हृदयमें जो विलक्षण विचारक्रांति हुई उसका कारण प्रस्तुत युद्धही है। इस रणभूमिपर प्रमुखतः कुरुकुल के लोग ही दिखते थे! इस युद्ध को भाईबंदोंकी लडाई का स्वरूप आया था। यह युद्ध आपसके स्वजनोंमें होनेवाला था। ऐसे स्वजनविध्वंसक युद्धही के कारण अर्जुन के मनको धक्का पहुंचथा। युद्धका यह स्वरूप स्पष्ट होनेके लिये पहिले अध्यायके अवांतर विषयोंका उपयोग होता है। किंबहुना पहिलेही श्लोक में जो धृतराष्ट्रका उल्लेख करके उनके मुखसे प्रश्न आया है वह इसी मुख्य विषयका आनुषंगिक मालूम होता है। इस तरह मुख्य विषयपर दृष्टि स्थिर रखकर अवांतर विषयोंका अभ्यास सावधानीसे किया जाय, तो

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अर्जुन का प्रतिपादन पूर्णतया सयुक्तिक मालूम होगा।

व्यक्ति और समाज के जीवनक्रमपर जिसमें शास्त्रीय दृष्टिसे विचार किया जाता है उस समाज-शास्त्रको प्राचीन समय में आर्योंने "वर्णाश्रमधर्म-शास्त्र" के नामसे प्रगट किया था। आधुनिक भाषामें उसीको "समाजशास्त्र" कह सकते हैं। अर्जुन के पूर्वपक्षमें समाजशास्त्र तथा वेदान्तशास्त्र (तत्त्वज्ञान) का पूर्ण संबंध आता है। अर्जुन का पूर्वपक्ष गीताशास्त्रका उत्थापक है इसलिये उसका सावधानीसे अध्ययन करना बहुतही आवश्यक है। ऊपर कहे हुए तीन शास्त्र और इस क्रांतिकारक भारतीय युद्धका पूर्वेतिहास इस दृष्टिसे यदि अर्जुन के पूर्वपक्षका सविस्तर विचार करने लगें तो एक बडा भारी स्वतंत्र ग्रंथ तैयार होगा। यह विषय इतना गहरा और शास्त्रगम्य है। इसीलिये हमने यहां इसका विचार संक्षेपमें किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश।

पहिला प्रकरण।

'तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।'

भगवान् श्रीकृष्णका प्रतिपादन गीताके दूसरे अध्यायके १० वें श्लोकसे शुरू हुआ है। यह पहिला प्रकरण श्लोक ११ से ३० तक है। अर्जुनको श्रेयस्कर मार्गका ज्ञान चाहिये था; परंतु स्वजनों के मरणकी कल्पना उछल पडनेसे उसका अंतःकरण शोकग्रस्त हुवा था। श्रीकृष्णने यह सोचकर कि उसके हृदयकी यह शोक की ऊर्मि जरा शांत होगी तभी उसकी बुद्धि तात्त्विक विचार ग्रहण करनेमें समर्थ होगी, उसका शोक निवारण करनेके हेतु, इस प्रकरण के विषयका प्रतिपादन किया है। अर्थात् इस प्रकरण का मुख्य विषय अर्जुनका शोकनिवारण है। श्रीकृष्णने आत्माके अविनाशित्व, अमरत्व, अविकार्यत्व इत्यादि धर्म बतलाकर यह तत्त्व समझाया कि मरण केवल कार्यरूप पदार्थका नाश है, आत्माका नाश नहीं;और इन्हीं कारणोंसे तुम्हें शोक करना उचित नहीं। "शोक करना योग्य नहीं" इस अर्थके वाक्य इस प्रकरण में पांच वार आये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रकरणका मुख्य उद्देश शोकनिवारण है।

आत्मतत्त्व नित्य है, उसका नाश नहीं होता और वह किसीका नाश नहीं करता। इन्द्रियविषयसंयोग से उत्पन्न होनेवाले सुखदुःख अनित्य हैं तथापि अपरिहार्य हैं, उन्हें शांततासे सहनाही चाहिये। इसी सहनशीलताको तितिक्षा कहते हैं; मोक्षमार्गमें इसका अच्छा उपयोग होता है। "अमृतत्त्व" वैदिक कालकी मोक्षकी संज्ञा है। अमृतत्व ही मानवी जीवित का मुख्य ध्येय है। पिण्डब्रह्माण्डात्मक सृष्टिका कार्यकारणदृष्टिसे विचार करनेपर यह मालूम होगा कि कार्य अस्वतंत्र पदार्थ है,सच्चा स्वातंत्र्य कारणको है। इस प्रकार विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि सृष्टिका आदिकारण जो आत्मतत्त्व वही पूर्णतया स्वतंत्र है। जिसका अस्तित्व स्वतंत्र हो वही सत् कहलाया जाता है। कार्य को स्वतंत्र अस्तित्व नहीं इसलिये वह असत् है। इस नियमके अनुसार यह सिद्ध हुआ कि पिण्डब्रह्माण्डक सृष्टिका जो मूल कारण है वही सत् है बाकी सब असत् है। सत् का नाश नहीं होता और असत् का नाश नहीं टलता। मानवी देह कार्यरूप होनेसे उसका नाश-अर्थात् मृत्यु-अनिवार्य है। इसलिये स्वजनमरण की कल्पना को लेकर युद्धका त्याग करना अयोग्य है। तुम्हें युद्ध करनाही उचित है। मरण (अथवा नाश) कार्यका धर्म है, आत्मा से उसका कोई संबंध नहीं आता। जिस प्रकार अविनाशित्व आत्माका स्वभाव है उसी प्रकार नश्वरता देहका स्वभावही है। इसलिये किसीभी पदार्थका नाश होनेसे तुम्हें शोक करना अनुचित है। ऐसा कहकर भगवान् ने इस प्रकरणका समारोप किया है।

दूसरा प्रकरण।

श्लोक ३१ से ३८ तक इस प्रकरणमें सांख्यमार्ग (संन्यासमार्ग) की दृष्टि से कर्मविषयपर विचार किया गया है। पिछले प्रकरणमें किये हुए उपदेशद्वारा अर्जुनके शोककी ऊर्मि कम हुई। ऐसा देखकर

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

भगवान् ने इस प्रकरण के पूर्वपक्षपर विचार प्रगट किया है। युद्ध करनेसे कौनसे दोष होते हैं इसका ऐहिक व पारलौकिक दृष्टिसे अर्जुनने पूर्ण विचार किया था। उसका यह विचार संन्यासमार्गके अनुसार था। उसको यह विचार करना आवश्यक था कि जैसे युद्ध करनेसे हानि है, वैसेही संन्यासमार्ग की दृष्टिसे युद्ध न करनेमें भी दोष हैं। यह विचार नहीं किया गया; यही पूर्वपक्षकी विचारसरणीमें त्रुटि रह गई, और वह भगवान् ने अर्जुन को बतलाई। जिस सांख्यमार्ग के आधारपर अर्जुन बोलता था, उसी मार्ग की दृष्टिसे युद्ध न करनेमें जो दोष हैं वे भगवान् ने यहां बतलाए हैं। युद्ध न करनेसे क्षत्रिय को स्वर्गदायक क्षात्रधर्मका त्याग करना पडता है, और यह स्वधर्मत्याग तुम्हें पापकारक होगा। युद्ध करनेसे स्वजनहत्याका पाप होता है और युद्ध न करनेसे स्वधर्मत्यागका पाप लगता है। इसी प्रकार युद्ध करनेसे यदि आप्तइष्टोंका नाश होकर सांसारिक सुखका नाश होगा, तो युद्ध न करनेसे जो अपकीर्ति अथवा लोकनिंदा होगी उससे तुम्हें अपना जीवन असह्य होगा। सारांश, तुम जिस सांख्यमार्ग की दृष्टिसे विचार करते हो, उस मार्गकी दृष्टिसे युद्ध करना न करना प्रायः बराबर है। सांख्यमार्ग के आश्रय से युद्ध के विषयमें तुम यह कह सकते हो कि युद्धमें यदि मरण आजाय तो स्वर्ग मिलेगा, और यदि जयप्राप्ति हो तो साम्राज्यका उपभोग मिलेगा। यह नियम सांख्योंने न केवल युद्ध के लिये किंतु समस्त कर्मोंके लिये लागू किया है। संन्यासमार्गका यह सिद्धान्त है कि कर्मका फल केवल विषयसुखका उपभोग है, वह चाहे ऐहिक हो अथवा पारलौकिक हो। कर्मयोगकी दृष्टिसे यह नियम बिलकुल गौण है। कर्मयोगशास्त्र का यह निश्चित मत है कि बुद्धिमानीसे उसका उपयोग किया जाय तो वह मोक्षमार्ग में अंततक उपयुक्त होगा। ध्यान रहे कि "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" यह वाक्य सांख्यबुद्धिके अंतर्गत है न कि कर्मयोग के। यह बात शक्य न थी कि इस वाक्यसे अर्जुनके मनपर कुछ परिणाम होनेकी भगवान् उम्मीद रखते हों। क्यों कि उसने यह कहा था कि "अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धम् राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्" इतना कहकर यह भी स्पष्ट कर दिया कि संन्यासमार्गमें बतलाया हुवा कर्मोंका फल मुझे सर्वस्वी त्याज्य है।

संन्यासमार्ग की दृष्टिसे मोक्ष के विषय में कर्म प्रायः निरुपयोगी है। किंबहुना मोक्षमार्ग को वह प्रतिबंधक है। यह प्रतिबंधकता निर्मूल करने का उपाय यही है कि लाभहानि, सुखदुःख और यशापयश के विषयमें समबुद्धि रखकर कर्म करना। इस से प्रतिबंधकता नष्ट होगी और वह कर्म मोक्षमार्ग के लिये विघातक न होगा। यह है कर्म के विषयमें सांख्यबुद्धि अर्थात् संन्यासमार्ग की दृष्टि। इस विचारसे अर्जुन के प्रश्न को कोई बाधा नहीं पहुंचती; क्यों कि उसका प्रश्न यह न था कि "मोक्षमार्ग में कर्म प्रतिबंधक कैसे न होगा"? अर्जुन का प्रश्न ऐसा था कि जिस मनुष्य को श्रेय-अर्थात् मोक्ष-की इच्छा है उसके लिये कर्मका उपयोग क्या है? क्या मोक्षके लिये कर्म उपयोगी हो सकता है? सांख्यबुद्धिसे किये हुए कर्मविवेचन में अर्जुन के इस प्रश्नका उत्तर बिलकुल नहीं आता। और कर्मविषय में भगवान् ने जो सांख्यदृष्टि का स्वीकार किया था वह इस प्रश्न का उत्तर देनेके लिये नहीं। अर्जुन के पूर्वपक्ष की न्यूनता बतलाकर उसकी बुद्धि श्रीकृष्णने यहां मध्यबिंदुपर लाकर रखी है। युद्ध करना और न करना इनमें कोई बडा फरक नहीं है। मोक्षकी दृष्टिसे जब प्रस्तुत युद्धका विचार करना है तब वह आध्यात्मिक कर्ममीमांसा के आधारपरही करना होगा; और ऐसा करनेमें संन्यास और कर्मयोग का तुलनात्मक विचार करना आवश्यक है। क्यों कि इन दोनों मार्गोंमें कर्म (मीमांसा) का विचार बिलकुल भिन्न भिन्न प्रकारसे किया गया है। कर्मके विषयमें सांख्यबुद्धि यही है कि मोक्षमार्गमें कर्मका उपयोग नहीं है, किंबहुना मोक्षमार्गके लिये वह विरुद्ध है। बहुत हुवा तो उसकी प्रतिबंधकता निर्मूल करके उसे अकिंचित्कर बना सकते हैं।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(सूचना- ध्यान रहे कि मोक्षमार्गका सच्चा प्रारंभ चित्तशुद्धि होनेपर ही होता है।)

तीसरा प्रकरण।

बुद्धियोग अथवा कर्मयोग का तात्त्विक स्वरूप।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

सभी विद्वानों का यह मत है कि गीताका दूसरा अध्याय समग्र शास्त्रार्थ की बुनियाद है। इस दृष्टि से विचार करनेपर स्वतंत्रबुद्धिके अभ्यासक को निश्चयपूर्वक ज्ञात होगा कि दूसरे अध्याय के श्लोक ३९ से ५३ तक का यह प्रकरण इस सारे अध्यायमें मुख्य है। इस प्रकरणके पहिले श्लोक प्रास्ताविक हैं। इस प्रस्तावनामें योगनिष्ठाकी विशिष्टता बतलाई गई है; और यह कहा गया है कि जो अपनी बुद्धि को थोडी बहुत स्थिर रख सकेगा उसीको यह बुद्धियोग साध्य होगा; बुद्धिकी चंचलता इस मार्ग को अत्यंत विघातक है। इतना कहकर बुद्धिकी चंचलता के कारण बतलाए गए हैं। चंचल अर्थात् उच्छृंखल बुद्धिवाला मनुष्य बुद्धियोग का साधन कर न सकेगा। इस विभाग का अभिप्राय यह है कि इस मार्गमें प्रवेश मिलनेका साधन बुद्धिस्थैर्य है और उपभोग की वासना इस मार्गमें एक बडा विघ्न है। श्लोक ३९ से ४४ तक प्रास्ताविक भाग है, इसमें बुद्धियोग को अनुकूल क्या है और प्रतिकूल क्या है इसका खुलासा किया है। श्लोक ४५ से ४८ तक में बुद्धियोगका प्रधान सिद्धान्त बतलाया है। इसीलिये इस विभागको कर्मयोगशास्त्रकी चतुःसूत्री कह सकते हैं। इन चार श्लोकोंमेंसे ४५वां श्लोक मुख्य उपदेशवाक्य है। वह यह है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

इस श्लोकमें कर्मका प्रतिपादन करनेवाले वैदिक भागका निषेधात्मक उल्लेख करके आगे पांच तत्त्वोंका उपदेश किया है। इस श्लोकमें नौ पद (शब्द) हैं। इनमें से "त्रैगुण्यविषया वेदाः" ये दो पद पिछले भाग में जो निषेध आया है उसके दर्शक हैं; इसलिये यह समझना चाहिये कि ये दो पद उपदेशवाक्य में समाविष्ट नहीं हैं। बाकी सात पदोंमेंसे "अर्जुन" और "भव" ये दो पद क्रमशः कर्ता और क्रियापदस्वरूप हैं। उनका अर्थ है कि "हे अर्जुन, तुम ऐसे हो जाओ (बनो)।" कैसे हो जाओ सो बाकी के पांच पदोंमें बतलाया है। इन पांच पदोंमें पांच तत्त्व आए हैं। उनमेंसे तीन दोषाभवस्वरूप हैं और दो गुणस्वरूप हैं। "निस्त्रैगुण्य" "निर्द्वंद्व" और "नियोगक्षेम" इन शब्दों से तीनों प्रकारकी उपभोगवासना, रागद्वेषादि मनोविकारोंकी जोडियां और योगक्षेम की तलफ इतने दोषोंका उच्छेद करना बतलाया है। "नित्यसत्त्वस्थ" और "आत्मवान्" इन शब्दोंसे समस्त सद्गुण और आत्मज्ञान संपादन करने को कहा है। उपर्युक्त तीन दोषोंमें सब दुर्गुणों का मूल है, इसलिये वे सर्वस्वी त्याज्य हैं; आत्मज्ञान तथा सर्व सद्गुण ही संपादनीय हैं। ऐसा इस उपदेशवाक्य का तात्पर्य है। ४६ वें श्लोक में आत्मज्ञानका स्वरूप स्पष्ट करके उसका महत्त्व बतलाया है। कर्म करना मनुष्यकी शक्ति के भीतर है, परंतु उसका फल प्राप्त करना सर्वस्वमें उसके आधीन नहीं है, इस फलकी इच्छा न रखकर ही कर्म करना चाहिये। ४७ वें श्लोक में कहा है कि फल की इच्छा छोडनेपरभी कर्म छोडनेका आग्रह करना नहीं चाहिये; और ४८ वें श्लोक में यह बतलाया है कि फलेच्छा का त्याग करनेपर कर्म कैसे किया जाय। इसप्रकार इन चार श्लोकोंमें बुद्धियोगका प्रधान सिद्धान्त पूर्ण होता है। इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि तुम अपनी बुद्धि योगयुक्त करो और ऐसी योगयुक्त बुद्धि से ही कर्माचरण करो। ४५ वे श्लोकमें जो बुद्धियोग का स्वरूप बतलाया गया है, उसके पांच अंश हैं। इन पांचों अंशोंसे बुद्धिको परिपूर्ण करना ही बुद्धियोग है और वही मोक्षका प्रत्यक्ष साधन है। इन पांचोंमें मुख्य आत्मज्ञान है, इसमें विज्ञानका भी अंतर्भाव होता है; ऐसा ४९ वें श्लोक में बतलाकर

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उसीमें आत्मज्ञान को महत्त्व भी दर्शाया है। ४८ वें श्लोक में यह बतलाकर कि कर्म को बुद्धियोग की जोड देना आवश्यक है, यह मुख्य विभाग समाप्त किया है।

कर्म को योगयुक्त बुद्धि की जोड क्यों देना चाहिये इसका खुलासा ४९ वें श्लोक में किया है। बुद्धियोगरहित कर्म अत्यंत कनिष्ठ दर्जेका है; इस लिये बुद्धियोग संपादन करनेमें भूल न करना, केवल कर्मको अथवा उससे प्राप्त होनेवाले उपभोगात्मक फलोंको अणुमात्र कीमत नहीं है। कर्मको यदि बुद्धियोग की जोड मिले तो वही कर्म मोक्षमार्ग में अत्यंत उपयोगी होगा। इसीलिये कर्म में से उसकी प्रतिबंधकता नष्ट करके उसमें मोक्षोपयोगित्व उत्पन्न करनेकी कुशलता केवल बुद्धियोगमें है (श्लोक १०)। इस दोनों श्लोकों में नवीन उपदेश कुछ नहीं है; केवल पूर्वोपदिष्ट बुद्धियोग का महत्त्व इनमें भलीभांति समझाया गया है।

बुद्धि योगसे परम पदकी प्राप्ति होती है इसलिये बुद्धियोगपूर्वक कर्माचरण ही मोक्षमार्ग है, ऐसा ५१ वें श्लोक में बतलाकर उपदेशका समारोप किया है। वस्तुतः यह प्रकरण ३९ वें श्लोकसे शुरू होकर यहां समाप्त होता है; परन्तु अपने व्यक्तिधर्मके अभिमानसे स्वजनमरण के शोकसे और तज्जन्य मोहसे बुद्धि बावरी होगई थी इससे उसके मनमें संन्यासवृत्ति उछल पडी, और मोक्षमार्गमें कर्मका क्या उपयोग है यह उसके समझ में न आया; किंतु कर्म मोक्षमार्गको बाधक है इससे उसने कर्मसंन्यास करनेका निश्चय किया था। अर्जुन को यह असमंजसता बुद्धिक्षोभके ही कारण से हुई थी। कर्म और उससे मिलनेवाला वैषयिक फल इन्हींमें वह गोते खा रहा था। इनमेंसे बाहर निकलने के लिये बुद्धियोग ही का विचार करना आवश्यक था। तुम्हारी बुद्धिकी स्थिरता नष्ट हुई है, तुम अपनी बुद्धि स्थिर करोगे तभी तुम्हारा योगनिष्ठामें-कर्मयोग में-प्रवेश होना संभवनीय है। इसलिये तुम अपनी बुद्धि स्थिर करके यह बुद्धियोग संपादन करो। ऐसा श्लोक ५२ व ५३ में कहकर भगवान्ने यह मुख्य उपदेशप्रकरण समाप्त किया है। अर्जुन के प्रश्न करनेपर (श्लोक ५४) स्थितप्रज्ञका वर्णन शुरू हुवा और वह अध्यायकी समाप्तितक जारी रहा। इस अठारह श्लोकके प्रकरणमें जिसका बुद्धियोग पूर्ण हुवा है ऐसे स्थितप्रज्ञके -जीवन्मुक्त के लक्षण बतलाए हैं। उनमें वासनात्याग, संतोष, बुद्धिकी समता, इंद्रियनिग्रह, ईश्वरोपासना, मनःप्रसाद इत्यादि सद्गुण आए हैं। इन सब सद्गुणोंसे युक्त होनेसे जो जीवन्मुक्तावस्था प्रकट होती है उसीको ब्राह्मी स्थिति कहा है। ब्रह्मसाक्षात्कारसंपन्न स्थितप्रज्ञपुरुषमें यह ब्राह्मी स्थिति प्रगट होती है। उसे प्राप्त करना मानवी जीवितका ध्येय है और उसका प्रत्यक्ष साधन बुद्धियोग है। अखीर के प्रकरणमें यह समझा दिया गया है कि बुद्धियोगकी परिपूर्णता क्या चीज है।

चौथा प्रकरण।

कर्मयोग।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

दूसरे अध्याय में योगनिष्ठा के तात्त्विक स्वरूप का प्रतिपादन हुवा है। कोई शास्त्रीय सिद्धान्त हो, उसके दो स्वरूप बतलाने पडते हैं; एक तात्त्विक और दूसरा व्यावहारिक। ऐसा किये विना उस सिद्धान्तकी पूर्तता नहीं होती। बुद्धियोग का तात्त्विक विचार करनेपर उसका व्यावहारिक दृष्ट्या विचार करना क्रमप्राप्त है। इस विचारके लिये अर्जुन का प्रश्न उत्थापक हुवा है। मोक्षका प्रत्यक्ष साधन बुद्धियोग ही है; उसके संपादन किये विना मुमुक्षुको गत्यंतर नहीं ऐसा सिद्ध होता है। परन्तु ऐसा बुद्धियोग संपादन करके अर्थात् योगस्थ होकर कर्माचरण करना चाहिये ऐसा उपदेश करनेका कारण क्या है? ऐसा प्रश्न सहजही उत्पन्न होता है और वही अर्जुनने किया है। योगयुक्त बुद्धिसेही यदि मोक्षप्राप्ति का काम होता है तो उस के गलेमें यह कर्मका पाश काहेको चाहिये? बुद्धि की अपेक्षा कर्म अत्यंत कनिष्ठ है। ऐसे कनिष्ठ दर्जेवाले कर्मका विचार करनेकी क्या जरूरत है? अर्जुन के प्रश्न का तात्पर्य यह है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

कर्म छोडना अथवा अख्त्यारना यदि मनुष्यकी मर्जीपर निर्भर होता तो इस कनिष्ठ दर्जेवाले कर्मके विषयमें यह अर्जुनका प्रश्न योग्य समझा जाता। परंतु यह बात (कर्म छोडना अथवा करना)मनुष्य के स्वाधीन नहीं है। स्थूल सूक्ष्म इत्यादि सब सृष्ट पदार्थ मूळ प्रकृति व उसके गुणोंसे बने हुए हैं। मनुष्यके इंद्रिय, मन व बुद्धिकी बनावट भी इन्हीं कारणोंसे हुई है। कर्म प्रकृतिका स्वभावसिद्ध धर्म है। इसलिये इंद्रियों का, मनका और बुद्धिका अस्तित्व जबतक है, तबतक उनके स्वभावानुसार कर्म होना अपरिहार्य है। इस कर्मको विशिष्ट आकार देने अथवा न देनेका सामर्थ्य केवल बुद्धिमें रहता है। कर्मको स्थगित करना अथवा चालू करना बुद्धिकी शक्ति के बाहर है;क्यों कि यह उन्हीं प्रकृति गुणोंका अथवा सृष्टिचक्रका सहज परिणाम है जिनसे इंद्रिय, मन व बुद्धिका उगम हुवा है। जहाज समुद्रमें स्थित होनेपर उसे स्थिर रखना नाविक के हाथकी बात नहीं हैं। समुद्रकी गतिसेही जहाज की गति अथवा चलन उत्पन्न होता है। उस गति को योग्य दिशा देना नाविक के स्वाधीन जरूर है। इसी प्रकार सृष्टिचक्रसे इंद्रियादिकोंमें जो कर्म उत्पन्न होता है उसे बंद करना बुद्धिके स्वाधीन नहीं है। सिर्फ उसे विशिष्ट प्रकारसे झुकाना बुद्धि के हाथमें है। कर्मका मोक्षमार्ग के विरुद्ध अथवा अनुकूल होना उसको जैसा झुकाव दिया जायगा उसपर अवलंबित है। इसलिये योग्य प्रकारका कर्म मोक्षका साधक होता ह और अयोग्य कर्म बाधक होता है। ऐसा है तो कर्म का निर्मूलन करना क्या बुरा है!?इसका उत्तर यही है कि कर्मको बंद करना असंभाव्य है। वस्तुतः कर्मका अभाव मोक्षके लिये आवश्यक नहीं है। कर्म कोईभी छोड नहीं सकता, इसलिये उसका योग्य उपयोग करनाही सच्ची बुद्धि का लक्षण है।

कर्म छोडना जब अशक्य है, तब उसे छोडने का प्रयत्न करना मूर्खता का लक्षण है। मानवी जीवनक्रम में परमेश्वरने मनुष्यकी बुद्धिको ही सर्वथा प्राधान्य दिया है। इस बुद्धिके आधीन मन है, मनके आधीन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय हैं; ऐसी सृष्टिकर्ता की योजना है। इस योजनाके अनुसार जीवनक्रम चलनेसे वह अवश्यमेव मोक्षपर्यवसायी होगा। यह योजना योग्य रीतिसे चलाने के लिये मनुष्यकी बुद्धि पूर्णतया समर्थ होनी चाहिये। ऐसी सामर्थ्यसंपन्न बुद्धिके आधीन रहनेवाले इन्द्रियादिकों द्वारा जो कर्म होगा, वही विधाताकी योजना के अनुसार रहेगा, इसलिये उसीको नियत कर्म कहते हैं। कर्मको योग्य आकार देना ही उसीको नियत करना है। कर्मको नियत अथवा अनियत करना मनुष्यके स्वाधीन है। कर्मको नियत करनेका सामर्थ्य बुद्धिहीमें रहनेसे उसकी पूरी जिम्मेदारी बुद्धिपरही रहती है।

वासना बुद्धिका विशिष्ट स्वरूप है। इनमें अच्छा और बुरा दोनों प्रकार हो सकते हैं। बुरी वासनाओंके द्वारा बुद्धि दुर्बल होती है और अच्छी वासनाओंके द्वारा बुद्धि सामर्थ्यसंपन्न होती है। इन शुभ वासनाओंमें ईश्वरोपासनाकी वासना अत्यंत श्रेष्ठ है। इसलिये ईश्वरोपासनाकी वासनाका जतन करना मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है।(सूचना- हेतु, इच्छा और वासना ये शब्द अन्वर्थक समझना चाहिये।) ईश्वरोपासनाका हेतु अंतःकरणमें दृढतर रखकर मनुष्यको कर्म करना चाहिये। इसलिये इसी हेतुको रखकर जो कर्म होगा वही यज्ञार्थ कर्म है ऐसा गीताने कहा है। ईश्वरोपासना के हेतुसे मनुष्यकी बुद्धिका सामर्थ्य वृद्धिंगत होता है और ऐसी समर्थ बुद्धिसे किया हुवा कर्मही नियत होता है। इससे यह पाया जाता है कि नियत कर्म और यज्ञार्थकर्म में तात्त्विक भेद नहीं है। यज्ञार्थ कर्म भी निष्काम बुद्धिसेही करना चाहिये। क्यों कि ईश्वरोपासना सकाम बुद्धिसेभी किये जानेका संभव रहता है। इसलिये ईश्वरोपासनाके हेतुको ऐसे कामनिक वासनाओंका संपर्क लगने देना नहीं चाहिये।

वैदिक धर्ममें मूलतः ऐसी व्यवस्था की गई है कि मनुष्यका सामाजिक तथा वैयक्तिक कर्म ईश्वरोपासना के हेतुसेही चलता जाय। वैयक्तिक कर्मोंमें दो व्यावहारिक बातें मुख्य हैं- (१) सुखकारक

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जीवन (२) संततिवर्धन। ये भी ईश्वरोपासनाकी मर्यादा छोडकर न की जावें। मनुष्यके वैयक्तिक अथवा कौटुंबिक व्यवहार को ईश्वरोपासनाकी मर्यादा जरूर रहनी चाहिये। अर्थात् इन व्यवहारोंमें भी ईश्वरोपासना के हेतु को ही प्राधान्य दिया जाय ऐसा धर्मसंस्थापक ईश्वरका उद्देश है। इस वैयक्तिक धर्मको धर्मशास्त्रकारोंने "आश्रमधर्म" नाम दिया है, और मनुष्य के सामाजिक धर्मको "वर्णधर्म" संज्ञा दी है। वर्णधर्म में ईश्वरोपासना के हेतुको सर्वस्वी प्राधान्य देना चाहिये, मनुष्य अपने सामाजिक व्यवहार यदि ईश्वरोपासनाके हेतुसे और योगयुक्त बुद्धिसे करे तो वह वर्णधर्मही उसे मोक्षदायक होता है। समाज में श्रेष्ठ कनिष्ठ भाव अपरिहार्य है तथापि यदि वह इस उपासना के तत्त्वपर चले तो उससे अनर्थ उत्पन्न नहीं होंगे, किंतु समाज के लिये वह कल्याणकारक होता हैं और व्यक्तिके लिये मोक्षदायक होता है। यहां "देव" शब्द श्रेष्ठ अथवा पूज्यके अर्थसेही आया है (अ० ३ श्लोक ११) श्रेष्ठोंने कनिष्ठोंसे और कनिष्ठोंने श्रेष्ठोंसे व्यवहार करते समय यह उपासना का तत्त्व ध्यानमें रखना चाहिये। राजा प्रजाको और धनिक कारखानदार मजदूरों को जो सहाय्य करता है वह इस उपासना की बुद्धिसे किया जाय तभी वह व्यवहार मोक्षोपयोगी होता है। क्यों कि मनुष्योंका जीवनक्रम चलने में सब देवता उपयोगी हैं; इसी तरह जगत् के प्राणि और अपना समाज इनकी भी आवश्यकता मानवी जीवनक्रम में बहुत है। इसलिये वैदिक धर्म सिखाता है कि मनुष्यको कृतज्ञतापूर्वक उपासनाबुद्धिसेही अपने सामाजिक कर्म करना चाहिये।

एकमेकां साह्य करूं। अवघे धरूं सुपंथ॥

हम एक दूसरेकी सहायता करें और सब मिलकर सन्मार्गका अवलम्बन करें। यह तुकाराम महाराज के उद्गार गीताके इस वचन के अनुरोधसे हैं, "परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ।" इसमें संदेह नहीं। जगत् अथवा समाजके विषयमें बिलकुल फिकर न करना और केवल स्वार्थ के आधीन होकर विषयों का उपभोग करना निरा पापाचरण है। ऐसे लोगोंको अघाशी कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको अपना सामाजिक कर्म उपासना के तत्त्वपरही चलना चाहिये।

यज्ञचक्र और कर्मका मोक्षदायित्व।

मनुष्य के जीवनके लिये प्रत्यक्ष उपयोगी साधनसामग्री अन्न है। प्राणीमात्र अन्नपरही अवलंबित है। अन्न पर्जन्यसे पैदा होता है। पर्जन्यका साधन केवल यज्ञ-ईश्वरोपासना है। यज्ञ की निष्पत्ति कर्म ही से होती है। कर्मकी मूल उत्पत्ति सगुण ब्रह्मसे होती है और यह सगुण ब्रह्म अविकारी अक्षर तत्त्वसे प्रगट होता है। सगुण ब्रह्मही सब सृष्टिका मूल कारण है इससे वह सर्वव्यापी सिद्ध होता है। यही सगुण ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर यज्ञमें उपास्य के नाते से प्रतिष्ठित रहता है। "यज्ञाद्भवति पर्जन्यः" इस वाक्यके विषयमें बहुतसे लोगोंका मन साशंक होता है। पर्जन्य और यज्ञ में कार्यकारणभाव कैसे आता है? इस प्रश्नका उत्तर अनेक सज्जनोंने अनेक प्रकारसे देनेका प्रयत्न किया है। बुद्धिवादकी दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा कह सकेंगे कि पर्जन्यसरीखी जो बातें प्रयत्नसाध्य नहीं हैं उनकी प्राप्ति के लिये सिवाय ईश्वरोपासना के दूसरा मार्ग नहीं है। यह कहने की जरूरत नहीं कि प्राणी के जीवन के लिये पर्जन्य कितना आवश्यक है। पर्जन्य जीवनका मुख्य आधार है सही, परंतु वह मानवी प्रयत्न की कक्षामें आ नहीं सकता। सृष्टिकर्ताका यह एक चमत्कार ही समझना चाहिये। जिस चीजके बाबत मनुष्यके ऐहिक प्रयत्न नहीं चलते उसके लिये ईश्वरोपासना का सहारा लेना मानवी स्वभावको योग्य ही है। ऐसे प्रसंगपर जगच्चक्र चलानेवाले जगन्नियंता की प्रार्थना एकमात्र साधन है। इसी दृष्टिसे 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' इस वाक्य की संगति लग सकती है। इस प्रकार यज्ञका संबंध जगत्, समाज और व्यक्ति इन तीनों से आता है। अन्न और पर्जन्य, व्यक्ति और समाज से समानतः व्यापक हैं और उनका कार्यकारणभाव यज्ञसे जमता है। इस लिये

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वह एक प्रकारसे चक्र होता है। वह ऐसा कि यज्ञ से पर्जन्य, पर्जन्य से अन्न (संपत्ति),अन्नके योगसे फिरसे यज्ञ; ऐसा यह चक्र सृष्टिकर्ताने जारी किया है। उसे चलाना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। ऐसा न करनेसे मनुष्य पाप का भागी जरूर होगा।

श्लोक १७ व १८ में जीवन्मुक्त का वर्णन आया है। इनमेंसे १७ वां श्लोक मुख्य है और १८वें श्लोक में उसीका विशेष स्पष्टीकरण किया है। अर्थात् इन दो श्लोकों का विषय तत्त्वतः एकही है। ग्रंथ का विवरण करने की दृष्टिसे यह विषय नये पुराने सब टीकाकारोंको कुछ कठीन मालूम होता है। इस लिये आगे पीछेवाले श्लोकोंसे उसका संबंध जोडना आवश्यक है। संन्यासमार्ग की दृष्टिसे इस विषय का संबध १९ वे श्लोकसे जोडनेमें अडचन मालूम होने लगती है। और पिछले १९वे श्लोकसे संबंध जोडने में कर्मयोग को अडचन पडती है। सोलहवें श्लोकमें कहा है कि यज्ञचक्र का अनुवर्तन करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। ऐसा न करे तो वह पापभागी होता है। १७ वें श्लोकमें कहा है कि ज्ञानी मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं बचता। इसलिये श्लोक १६ व १७ का मेल नहीं जम सकता क्यों कि १६ वे श्लोक का नियम अत्यंत व्यापक दीखता है। उसमेंसे ज्ञानी मनुष्य को वर्ज करना हो तो उस नियम की भाषा अधिक संकुचित होनी चाहिये थी। वैसी संकुचित भाषा न होने से कर्मयोगदृष्टया इन दोनों में संबंध जोडना बहुत मुश्किल हो गया है। यदि ये दो श्लोक संन्यासमार्ग के निदर्शक समझे जांय तो १९ वें श्लोक में "तस्माद-सक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" इस उपदेशवाक्य से इन दो श्लोकोंका संबंध जोडना दुरापास्त है। कई विद्वानोंका मत है कि महाभारत के कूट श्लोकों के समान ये दो भी कूट श्लोक हैं। परंतु उनका यह मत ठीक नहीं है। कूट श्लोक की कल्पना करने में हम अप्रत्यक्ष रीतिसे यह कबूल करते हैं कि हम योग्य रीतिसे शास्त्रार्थ की संगति नहीं लगा सकते। शास्त्रार्थ के विषयमें ऐसा आडपडदा रखना ठीक नहीं। इस लिये कूट श्लोक की यह कल्पना छोडकर इन श्लोकोंकी संगतिके विषयमें हम निम्नलिखित उपपत्ति देते हैं। अन्य ग्रंथकारों की उपपत्ति से इसका मुकाबला करके इसका योग्यायोग्य निर्णय अभ्यासक करें।

रति, तृप्ति और संतोष मनके धर्म हैं। मनुष्य-प्राणियों के जीवनको इनकी अत्यंत आवश्यकता है। अज्ञानी मनुष्य के रति आदि मनोधर्म अधिकांश में विषयोपभोगों ही पर अवलंबित हैं। परंतु ज्ञानी मनुष्य की बात निराली है। ज्ञानी मनुष्यके रत्यादि धर्म आत्मा अथवा आत्मज्ञान पर अवलंबित रहते हैं। ज्ञान की पूर्णताका यह एक लक्षण है। इस लक्षण का गर्भित अर्थ है विषयवासनाओंका पूर्ण निरास। ऐसे वासनाशून्य ज्ञानवान् मनुष्य को अब मोक्षकी भी आकांक्षा नहीं रहती। इस जीवन्मुक्त मनुष्य को स्वतः के लिये किसी भी ऐहिक अथवा पारमार्थिक कर्मोंकी गरज नहीं रहती। ऐसा ज्ञानी मनुष्य यज्ञचक्र को यदि नहीं चलाता, तो क्या वह १६ वें श्लोक के अनुसार पापका भागी है? १७ वें श्लोकमें इसका उत्तर दिया है- नहीं। क्योंकि पुण्य, पाप अथवा विधिनिषेध ऐसी बातें ज्ञानी मनुष्यको ब्राह्मी स्थिति तक पहुंचही नहीं सकतीं। यज्ञचक्रका चलाना उसके स्वतःके लिये तभीतक आवश्यक है जबतक कि उसे ऐहिक अथवा पारमार्थिक किंबहुना मोक्षकी इच्छा रहती है। परंतु जिसके लिये यज्ञचक्र चलाना हो ऐसी कोई आकांक्षा बाकी न रही, तब यह कहना अयोग्य है कि उसे यज्ञचक्र चलाना ही चाहिये। ऐसी शुद्ध मुक्तावस्था अर्थात् ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेका एकमात्र साधन यज्ञचक्र है। साध्य पूर्णतया प्राप्त होनेका मुख्य लक्षण यह है कि साधनकी आवश्यकता समूल नष्ट हो जावे। यही बात १७ वें श्लोक में कही है। और वही स्पष्ट रीति से बतलाने के लिये "तस्य कार्यं न विद्यते" यह वाक्य आया है। जीवन्मुक्त को कर्म करना न चाहिये, अथवा जिस ज्ञानी पुरुषको ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई हो उसके हाथ के कोई कर्म न होगा, अथवा यह कर्म करेगाही नहीं, इत्यादि कल्पनाओं का इस वाक्यसे कोई संबंध नहीं आ सकता। १७

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

वें श्लोकका उद्देश केवल पूर्णसाध्यप्राप्ति दर्शाना है। और यह बात प्रत्येक मनुष्यको ध्यान में रखनी चाहिये। यह शुद्ध मुक्तावस्था निष्काम बुद्धिसे यज्ञचक्र चलाकर अर्थात् कर्तव्याचरण करकेही साध्य करनी है। यह विषय अध्याय ३ श्लोक ११ में स्पष्ट बतलाया है। उसीका विशेष स्पष्टीकरण आगेके श्लोकोंमें करनेपर १७ वें व १८ वें श्लोक में साध्य की प्राप्ति का वर्णन किया है। इसलिये १९वें श्लोक के पूर्वार्ध में कहा है कि इस निष्कामकर्माचरणसेही यह साध्य तुम प्राप्त करो और यही निष्कामकर्माचरण १७ वें श्लोकमें वर्णन किये हुए परमप्राप्तिका साधन है, ऐसा सामान्य नियम के रूपसे बतलाया है। इस प्रकार श्लोक १६ से १९ तक आए हुए श्लोकोंकी संगति बराबर लग सकती है। साधनोंकी अनवश्यकता साध्यप्राप्ति की पूर्णता का लक्षण है यही तात्पर्य- "तस्य कार्यं न विद्यते" इस वाक्यसे सूचित किया गया है। वह अच्छी तरह ध्यानमें रखनेसे उपर्युक्त उपपत्ति आनेमें कोई अडचन न होगी। इस प्रकार इस अध्याय के तीसरे श्लोकसे प्रारंभित इस प्रकरण के पृथक् पृथक् विषयोंका विवेचन करके कर्मयोगका सिद्धान्त प्रस्थापित किया है। इस अठारह श्लोकोंके प्रकरण में जो विवेचन किया गया है उसमें मुख्य बातें ये हैं—

(१) मोक्षके लिये कर्म प्रतिबंधक नहीं है, इसलिये उसका अभाव मोक्षको आवश्यक नहीं है।

(२) कर्मका त्याग करना अशक्य बात है; क्यों कि आत्मतत्त्वको छोडकर बाकी सब पदार्थोंका वह स्वभाव ही है।

(३) इंद्रिय, मन व बुद्धि ये बातें एकसे एक वरिष्ठ हैं और बुद्धिही कर्मकी नियामक है।

(४) बुद्धि में नियामक सामर्थ्य आनेके लिये उपासना की आवश्यकता है।

(५) मनुष्य के सामाजिक और वैयक्तिक कर्म के लिये अर्थात् वर्णाश्रमधर्म के लिये ईश्वरोपासना एकमात्र अधिष्ठान है। निष्काम ईश्वरोपासनाकी बुद्धिसे वर्णधर्मका (सामाजिक कर्तव्योंका) आचरण करना यही मोक्षमार्ग है।

(६) मानवी जीवित का अंतिम साध्य मोक्ष है। यह स्थिति पूर्णतया प्राप्त होनेपर साधन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यही साध्यप्राप्तिकी पूर्तता है।

(७) इसलिये ईश्वरोपासनाबुद्धिपूर्वक निष्काम-कर्तव्याचरण ही मोक्षका मार्ग है।

इस प्रकार १९ वें श्लोकतक प्रस्थापित किये हुए सिद्धान्त को २९ वें श्लोकमें जनकादिकों का इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण देकर यह प्रकरण समाप्त किया है।

पांचवां प्रकरण।

लोक-संग्रह।

(अध्याय ३ श्लोक २० से २९ तक)

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'।

यद्यपि यह बात सच है कि मोक्षकी आकांक्षा भी पूर्ण होनेपर साधनरूप कर्मकी आवश्यकता नहीं रहती, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि मुक्तस्थिति को पहुंचे हुए मनुष्यके हाथसे कर्म होना असंभाव्य है। जीवन्मुक्त यदि कर्म करे तो उसका लोककल्याण के लिये अतिशय उपयोग होता है; और लोकसंग्रह की ओर पूर्ण ध्यान देने को ज्ञानी पुरुषही योग्य है। इससे यह निष्कर्ष होता है कि ज्ञानी मनुष्यको स्वतः के लिये न हो तथापि लोकसंग्रह के लिये कर्म करना इष्ट है। मनुष्यका स्वभाव है कि श्रेष्ठ मनुष्य जैसा बर्ताव करे वैसा अपन भी करेगा। गीताका उपदेश है कि इस मनुष्यस्वभावको ध्यानमें रखकर जीवन्मुक्त को ऐसा आचरण करना चाहिये जिससे समाज को अच्छी रीति लगे। लोकसंग्रह की पर्वा न करके ज्ञानी मनुष्य यदि अमर्याद आचरण करे तो यद्यपि उसका व्यक्तिशः कोई नुकसान न होगा तथापि उसके इस अमर्याद आचरणसे बहुजन-समाजकी भयंकर हानि होती है। इसलिये लोक-

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

संग्रहकी जबाबदारी सर्वथा ज्ञानी मनुष्यपर पडती है। इस विषय में श्रीकृष्णने स्वतःका उदाहरण दिया है। ज्ञानी मनुष्य लोकसंग्रह के लिये कर्म करता हो तथापि उसके मनमें कर्मके अथवा कर्म फल के विषयमें अणुमात्र आसक्ति नहीं रहती। कर्म करनेके बारेमें ज्ञानी और अज्ञानी समान दिखेंगे। परंतु उनके अंतःकरणोंमें जमीनआस्मान का फरक रहता है। लोकसंग्रह करनेवाले ज्ञानवान् मनुष्यको अपने आचार विचारमें, वेषमें अथवा रहनसहन में ऐसी कोई भी विशेषता नहीं दर्शाना चाहिये कि जिससे समाज की यह भावना हो कि यह कोई अलौकिक पुरुष है। किसी महापुरुष के बारेमें ऐसी अलौकिक कल्पना समाज में उत्पन्न हुई तो महा पुरुषोंका अनुकरण करने की समाज की बुद्धि नष्ट हो जाती है। यही बुद्धिभेद है। अलौकिक दिखनेवाले इस पुरुषकी मूर्ति अथवा तसबीर को लोग पूजा भी करेंगे;परंतु उसके बर्ताव का अनुकरण न करेंगे। उसके नाम-का जयजयकार करेंगे परंतु उसके उपदेशानुसार बर्ताव न करेंगे। लोगोंमें उसकी ओर परमावधि-की पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है परंतु उसके चारित्र्य का अनुकरण करनेकी बुद्धि लुप्त हो जाति है। क्या कि लोगों की यह धारणा रहती है कि अमुक महा पुरुष अलौकिक अथवा अवतारी है, उसका अनुकरण हमसे न हो सकेगा। हमको केवल भक्ति-भावसे उसका भजन-पूजन करना चाहिये। इसी धारणा में लोकसंग्रह की इतिश्री होती है। भगवान् ने यह धोखेकी सूचना दे रखी है कि ज्ञानी मनुष्य को ऐसे बुद्धिभेद के बारेमें बहुत सावधान रहना चाहिये। यह भूल दूर करनेपर ज्ञानी मनुष्यको लोकसंग्रह के विषयमें हिचकिचाने का कोई प्रयो-जन नहीं है, क्यों कि गुणकर्मोंका तत्त्व भलीभांति उसका जाना हुवा रहता है इसलिये कर्म करके भी वह अलिप्तही रहता है। अज्ञानी मनुष्य कर्मों में आसक्त जरूर होता है। ज्योंही उसकी आसक्ति छूटने लगती है त्योंही वह कर्मोंका भी त्याग करने लग-ता है। ऐसा होने न पावे और निष्काम कर्तव्याचर-णकी योग्यता क्रमक्रमसे सामान्य मनुष्य की समझमें आवे ऐसे ढंग से ही ज्ञानवान् पुरुषको कर्म करना चाहिये; इससे समाजका अत्यंत कल्याण होगा। समाज को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करना ही लोक-संग्रहका तत्त्व है। इस लोकसंग्रह की आवश्यकता और उसका सोपपत्तिक विवेचन जैसा गीताशास्त्र ने किया है वैसा दूसरी जगह क्वचितही देखने मिलेगा।

२९ वें श्लोकतक लोकसंग्रह का विवेचन हुवा है और ३० वें श्लोक में कर्मयोग के समस्त विवेचन का समारोप किया है। श्लोक ३१ व ३२ में बतला-या है कि कर्मयोग के अनुकूल गुण कौनसे हैं और प्रतिकूल गुण कौनसे हैं। श्लोक ३३-३४ व ३५ में पूरे कर्मयोग का संक्षेपमें अनुवाद किया है। मनो-विकारों के स्वाधीन न होकर शुद्ध बुद्धिसे कर्म करना चाहिये। अपनी प्रकृतिसे मिलता जुलता हो ऐसा कोई भी सत्कर्म करनेके लिये गीताकी अनुज्ञा है, प्रकृतिसदृश वर्णधर्म ही स्वधर्म है। शुद्ध अंतः-करणसे इस स्वधर्मका आचरण करनेमें ही सच्चा कल्याण है। प्रसंगविशेषपर दूसरेका वर्णधर्म हमें अच्छा लगता हो तबभी वह प्रकृतिविसदृश और विकारजन्य होनेसे वह हमें श्रेयस्कर नहीं होगा;यह भूलना न चाहिये;; ऐसा ३५ वें श्लोक में बतलाकर कर्मयोग का यह विवेचन श्रीकृष्णने समाप्त किया है। दूसरे अध्याय में कर्मयोग का तात्त्विक स्वरूप बतलाया है।(अ० २ श्लो० ३९ से ५३) उस तत्त्वके व्यावहारिक स्वरूपका विवेचन तीसरे अध्याय के ३५ वें श्लोक तक किया गया है। यही योगनिष्ठा है। बुद्धियोग इस योगनिष्ठा का व्याव-हारिक स्वरूप है। यह कर्मयोग का प्रतिपादन दो प्रकरणोंमें हुवा है और श्लोक ३१ से ३५ तक में आया हुवा विषय कर्मयोगका संग्रहित स्वरूप पूर्व के विवेचन में जोड दिया ऐसा समझना चाहिये।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

उपसंहार।

भवद्भिरावसरप्रदानाय वचांसि नः।

गीतांतर्गत शास्त्रार्थ के मूल स्वरूपके दो विभाग तात्त्विक और व्यावहारिक- इस निबंधमें बतलाए हैं। इसके आगे गीतामें जो विषयविवेचन हुवा है वह बुद्धियोग के पांच अंशोंके अनुरोधसेही हुवा है। स्वतंत्रबुद्धिके अभ्यासक ये दो विभाग ध्यानमें रखकर यदि समग्र ग्रंथपर विचार करें तो अवश्यमेव उन्हें प्रतीत होगा कि गीता अत्यंत सुसंबद्ध, अतिशय सोपपत्तिक और अनुभवसिद्ध ऐसा उत्कृष्ट शास्त्र है। स्वतंत्र बुद्धिके अभ्यासकों को प्रस्तुत लेख कहांतक उपयोगी होगा यह देखने के लिये फिलहाल यहां ठहरना अच्छा होगा। इस प्रयत्न को यदि अभ्यासक उपयुक्त समझेंगे तो गीताके उर्वरित भागपर ऐसेही तुलनात्मक निबंध लिखने का संकल्प करके और माघ कविके (ऊपर दिये हुए) शब्दोंमें वाचकोंकी प्रार्थना करके यह लेख समाप्त करते हैं।

---

१ भगवद्गीता और जागतिक धर्म।

(लेखक—श्री० पंडित रघुनाथशास्त्री कोकजे, काव्यतीर्थ, लोणावला।)

इस बीसवीं शताब्दिमें जो अनेक नूतन आकांक्षाएं उत्पन्न हुई हैं, उनमेंसे एक आकांक्षा 'एक धर्म' है। शासनैक्य, भाषैक्य इसी तरह धर्मैक्य अस्तित्व में आजाय ऐसी लोगोंकी इच्छा है। संपूर्ण जगत् का एक धर्म कैसे हो इसपर अनेक प्रकारसे विचार चल रहा है। इतनाही नहीं किंतु कोई कोई सज्जन इस विचार को मूर्तस्वरूप देने का प्रयत्न करने लगे हैं। विचारतरंगोंपर डुलनेवाला विषय यदि मूर्तिस्वरूप धारण करके आचार में आजाय तो किसको हर्ष न होगा? जागतिक धर्म की स्थापना होनेसे किसीको भी होगा तब आनंद ही होगा; परंतु इस हर्षातिरेक में एक बात का विस्मरण न होवे। जिस धर्मका "जागतिक धर्म" के नामसे जयजयकार होनेवाला है, वह सचमुच में इस संज्ञा के पात्र है या नहीं, इतना अवश्य और बडी होशियारी से देखना चाहिये। अन्यथा वैसा ही होगा जैसा तुकाराम महाराजने भगवान् के विषय में कहा है (यहां थोडासा फरक किया गया है)

विश्वधर्म हें नांव ऐकुनी आलों शेजारा।
विश्वधर्म परि नाहिंस म्हणुनी जातों माघारा॥

(अर्थ- तुम्हारा 'विश्वधर्म' नाम सुनकर मैं तुम्हारे पास आया; परंतु तुम विश्वधर्म नहीं हो इसलिये मैं वापिस जाता हूं।) इस तरह निराश होकर वापिस जानेकी नौबत आवेगी। इससे बचना हो तो पहिलेसे उसकी परीक्षा होना वाजिब है। इसीलिये हमें देखना चाहिये कि जिस धर्मपर "विश्वधर्म" अथवा "जागतिक धर्मकी" छाप मारने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी सच्ची कीमत क्या है।

प्रत्येक धर्मके अच्छे तत्त्वोंको लेकर, उनका एक गठ्ठा बांधकर उसपर "जागतिक धर्म' की छाप लगाने में कोई कोई लोग मग्न हो गए हैं। परंतु न मालूम उनके ध्यानमें यह बात कैसे नहीं आती कि

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ऐसा करनेमें हम जगत्की धर्मसंख्या केवल बढा रहे हैं! जिस मनुष्यकी सिवाय ईसामसीह के अन्य किसीपर श्रद्धा नहीं अथवा सिवाय बाइबल के जिसको कोई धर्मग्रंथ प्रमाणभूत नहीं, उसके आगे अनेक धर्मोंमेंसे चुनी हुई मेवामिठाई की थाली रखनेसे इतनाही होगा कि वह उसमें उतनाही हिस्सा उठा लेगा जितना ईसामसीह को संमत है। बाकी चीजोंके तरफ वह ढूंककर भी न देखेगा। इसी तरह अन्य धर्मोंके श्रद्धावानों की होगी! ऐसी हालत में सर्वसंग्रह की खटपट से क्या फायदा निकलेगा? इसीतरह किसी वचनपर श्रद्धा आनेके लिये उस वचन के प्रणेतापर श्रद्धा होना आवश्यक है; क्यों कि वक्तापर यदि श्रद्धा न हो तो उसके वचन निरर्थक हैं। इसलिये इस 'खिचडीधर्मग्रंथ' पर लोग श्रद्धा रखें ऐसी इच्छा हो तो जिन जिनके वचनोंका उसमें समावेश किया गया है ऐसे-मनु, मुहंमद, झरथुष्ट्र इत्यादि-सब महात्माओंपर उनकी श्रद्धा होना आवश्यक है। परंतु क्या इतनी व्यक्तियों-पर एक व्यक्तिकी श्रद्धा होना शक्य है।? हम नहीं समझते कि ऐसी बात कभी भी हो सकेगी। इस कारण तथा दूसरी कई अडचनों के कारण इस प्रकार जागतिक धर्म निर्माण करनेकी आशा रखना मानो मृगजलके पीछे दौडना है।

ख्रिस्तीधर्म और बौद्धधर्म।

सांप्रत काल में बहुतसे मिशनरी अपने धर्म की तारीफ करके ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि "सकल जगत् का उद्धार करने में यही धर्म समर्थ होनेसे वह मान इसीको मिलना चाहिये;" और अखिल जनोंको उपदेश करते हैं कि 'तमेव शरणं गच्छ सर्व-भावेन।" कोई कोई विद्वानों के मतसे यह सब पूजा पुरस्कार बौद्ध धर्मके मस्तकपर रखना उचित होगा। कोई कोई कण्ठरवसे ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि मुहंमद का चांद ही अवनीतलवर्ति-परिताप-नाशक है। परंतु ये धर्म भी इस मान्यता के पात्र नहीं मालूम होते। ख्रिस्तीधर्म, बौद्धधर्म इ० में से एक एक धर्म लिया जाय तोभी ऊपर बतलाये हुए दोषोंमें से कुछ दोष जरूर रहेंगे। "पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना" ऐसी मनुष्य के मनकी रचना होनेसे यह नहीं हो सकता कि ईसामसीह अथवा बुद्ध का बतलाया हुवा मार्ग सभी को रुचेगा अथवा पचेगा। ईसामसीह कितनेभी श्रेष्ठ महात्मा क्यों न हों, उनकी यह शिक्षा कि "एक गाल में थप्पड लगनेपर दूस-रा गाल आगे करो" किसी रजोगुणी प्रवृत्तिवाले मनुष्य के (जिसकी यह धारणा है कि विना युद्ध के स्वातन्त्र्य नहीं मिल सकता) कैसे पसंद होगी? प्रायः ऐसे धर्मकी अपूर्णता बतलाने के ही हेतुसे अर्जुन को भगवान् ने जताया है "प्रकृतिस्त्वां नियो-क्ष्यति," ईसामसीहकी उपरिनिर्दिष्ट आज्ञामें इस बातपर ध्यान नहीं दिया गया। इसमें संदेह नहीं कि एक प्रकारकी विशिष्ट मनोवृत्तिवाले लोगोंको यह आज्ञा रुचेगी और पचेगी भी। परंतु इतना खूब ध्यानमें रखना चाहिये कि कतिपय धर्मोंका समावे-श करनेवाला धर्म सब धर्मोंका समावेश नहीं कर-ता इस लिये वह जागतिक धर्म होनेके पात्र नहीं है।

इस विवेचन से इतना समझमें आगया होगा कि कोई भी विद्यमान धर्म अथवा सर्व धर्मों की खिचडी जागतिक होनेके पात्र नहीं है। अब यहां स्वभाविक ऐसा प्रश्न उपस्थित होगा कि "सच्चा जागतिक धर्म कौनसा है?" इस प्रश्नका उत्तर दिये विना इस विवेचन की पूर्ति हो नहीं सकती। "अन्योंकी कुचेष्टा करना जितना सहल है उतनाही सर्व दोष-विनिर्मुक्त ऐसा धर्म बतलाना कठिन है" ऐसा भी कोई लोग कहेंगे। इस लिये हम अपने मत के अनुसार जो धर्म 'जागतिक' संज्ञाके पात्र है उसको पाठकों के सामने उपस्थित करेंगे ही। परंतु उसके पहिले सच्चे जागतिक धर्म की पहिचान अच्छी-तरह होलके इस लिये प्रथम इस बातपर विचार करें कि जागतिक धर्म कैसा होना चाहिये। जाग-तिक धर्म ऐसा होना चाहिये कि वह जगत् के सब लोगोंके लागू हो सके। अर्थात् उसकी व्याप्ति इतनी संकुचित न हो कि वह विशिष्ट व्यक्ति अथवा विशिष्ट समाजको लागू पडे। ये दो सिद्धांत दिखने में सीधे दिखते हैं, परंतु धीरे धीरे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यह समझ में आवेगा कि उनका महत्त्व कितना है। ये दो सिद्धान्त ध्यानमें रखनेसे सच्चे जागतिक धर्मकी कल्पना आजायगी; क्यों कि ये सिद्धान्त मान्य करनेपर जो धर्म विशिष्ट परिस्थिति में उत्पन्न हुआ हो अथवा जिसका आचरण केवल विशिष्ट मनोवृत्ति के लोग कर सकते हैं वह जागतिक हो नहीं सकता। हमने जो ऊपर कहा है कि ईशुखिष्ट का अथवा बुद्धका धर्म जागतिक होने के पात्र नहीं, वह इसी कारण से कहा है। इसी प्रकार जो धर्म विशिष्ट व्यक्तिपर अथवा विशिष्ट ग्रंथपर प्रामाण्यबुद्धि रखनेका आग्रह करे वह भी जागतिक होनेके पात्र नहीं। इसीलिये "काफिरों को स्वर्गका दरवाजा खुला नहीं है जबतक कि वे मुसलमान न हो जांय" ऐसा प्रतिपादन करनेवाला मुहंमद का धर्म भी जागतिक नहीं हो सकता। अनेकविध मनोवृत्ति के अनन्त मानवों को एकही रस्से से बांधना केवल हास्यास्पद है, किंबहुना+ अशक्य है। एकही ग्रंथरूपी कपडे में (वह चाहे जितना बडा कपडा हो) अखिल जगत् की धर्म बुद्धिकी गठडी बांधना अशक्य है। जो धर्म किसी व्यक्तिका अथवा ग्रंथका आश्रय न करके प्रत्येक व्यक्तिके ऐहिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष का मार्ग बतलावेगा वही सच्चा जागतिक धर्म है।

धर्माचरण के दो प्रकार।

धर्माचरण दो प्रकारका होता है। मानसिक और शारीरिक। पहिले प्रकार में उपासना आदिका अंतर्भाव होता है; दूसरेमें भिन्न भिन्न विधि और संस्कारोंका अंतर्भाव होता है। पहिला प्रकार विशेषतया वैयक्तिक अथवा पारलौकिक हित साध्य करता है, दूसरा प्रकार सामाजिक अथवा ऐहिक उत्कर्षका होता है। पहिले को व्यक्तिश्रद्धा की आवश्यकता रहती है, दूसरेको समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, मानस शास्त्र इत्यादि शास्त्रों का आश्रय लेना पडता है। अस्तु। जागतिक धर्म के लक्षण और धर्माचरण के दो प्रकार देखलिये गए। अब यह देखा जाय कि इस द्विविध धर्माचरण के विषय में गीताके सिद्धांत क्या हैं। इन सिद्धान्तोंको देखनेसे (इनका विवेचन यदि साथ हो तो) यह प्रतीत होगा कि गीतोक्त धर्मही जागतिक धर्म है; क्यों कि इस द्विविध धर्माचरणके विषयमें गीताके सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक और मानवी प्रवृत्तिके अनुसार होनेसे हमारी समझ में गीतोक्त धर्ममंदिर में संपूर्ण जगत् का समावेश होने में कोई अडचन न पडेगी। गीतोक्त धर्म की यह व्यापकता सर्वमान्य हो इस गरज से इन दोनों अंग के विषयमें गीताका मत क्रमक्रमसे यहां बतलानेका विचार है।

गीता का उपासना-मार्ग।

उपर्युक्त प्रकारमेंसे 'पहिला धर्मांग उपासना। इस उपासनाको प्रतीककी आवश्यकता रहती है। अन्य धर्मोंका ऐसा कटाक्ष रहता है कि यह प्रतीक किसी विशिष्ट प्रकारकाही रहना चाहिये। अन्य धर्मोंका यह दंडक है कि अमुक प्रकारका ईश्वर और उसका अमुक प्रेषित; इनपर श्रद्धा न हो तो सद्गति न मिलेगी। परंतु ऐसी संकुचित वृत्तिको गीतामें स्थान नहीं है। किसी भी विभूतिकी उपासना करो! वह गीताको सर्वथा मान्य है। किंबहुना जिस व्यक्तिपर साधक की श्रद्धा हो उसीपर वह श्रद्धा दृढ करनेमें गीता को कोई प्रत्यवाय नहीं है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
यस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
गीता ७।२१॥

+ अन्य धर्मोंमें एक ईश्वर, एकही प्रेषित और एकही धर्मग्रंथ का आधार रहता है। परंतु वैदिक धर्म की यह बात नहीं है। इस धर्म में अनंत देवता, अनंत प्रेषित और अनंत ग्रंथ प्रमाणभूत माने जाते हैं, इसका सच्चा कारण इससे मालूम होगा।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ऐसा भगवान् स्वतः कहते हैं। मुसलमान यदि मूर्तिपूजा करे, विशेषतः यदि वह हिंदूके देवताओं को भजने लगे, तो वह तुरंत काफिर ठहराया जाता है। परंतु कोई हिंदू स्वधर्ममें अनिर्दिष्ट किसी देवता की अथवा व्यक्तिकी उपासना करे तो केवल इसी कारण से उसे बहिष्कृत समझने को गीता तैयार नहीं है। गीताका स्पष्ट कहना है कि—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
गीता ९।२३॥

येशू, मुहंमद, बुद्ध इत्यादि किसी भी व्यक्तिकी उपासना तुम करो, मुझे वह मान्य है; ऐसा स्पष्ट रीतिसे गीता कहती है। प्रतीकोपासना के बाबत इतनी उदारता धारण करनेवाला दूसरा कौनसा धर्म है? गीताकी यह निराग्रही वृत्ति होनेका कारण गीतामेंही दिया है। गीता सर्वत्र परमात्माका अस्तित्व मानती है, इसलिये उसको ऐसा कोई स्थान नहीं दीखता, जहां परमेश्वर न हो। तब विभूति किसी देशकी अथवा किसी कालकी हो, उसमें वह परमेश्वर को देखेविना कैसी रहेगी? यह बात भी गीताने स्पष्ट शब्दोंमें कही है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

गीताको किसी भी प्रतीक का तिरस्कार नहीं है। सब प्रतीक, सर्व विभूति गीतोक्तधर्ममंदिरमें राजी-खुशीसे रह सकते हैं। दूसरे कौनसे धर्ममें ऐसा औदार्य और गांभीर्य देखने मिलता है?

गीता और बाह्याचरण।

गीतोक्त धर्मके उपासनारूपी आंतर अंगको जैसे किसी विशिष्ट व्यक्तिका बंधन नहीं है, उसी प्रकार बाह्याचरणके लिये विशिष्ट ग्रंथका पारतंत्र्य नहीं है। धर्मग्रंथोक्त आचारोंका पालन करनेके लिये गीता भी उपदेश करती है, परंतु वह परिपालन करते समय केवल ग्रंथकाही विचार करनेसे काम न होगा। कर्म करनेके पहिले उसका परिणाम, स्वतःका सामर्थ्य, इत्यादि बातोंका विचार अवश्य करना चाहिये। इस प्रकारसे विचार न करके जो कर्म किया जाता है, उसको गीता तामस अतएव निंद्य कहती है।

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ १८।२५

गीताको 'वचनात्प्रवृत्तिः' 'वचनान्निवृत्तिः' ऐसी प्रवृत्तिनिवृत्ति पसंद नहीं है। गीता का कहना है कि खुली आंखवाली श्रद्धासेही कर्म करो। इसीलिये वह धर्माधर्मका निर्णय करते समय ग्रंथवचनोंकी ओर ध्यान नहीं देती, किंतु अभ्युदय के तरफ पूरा ध्यान देती है। दुर्दैवसे इस गीताके विषयकी उपेक्षा की जा रही है। धर्ममार्तंडोंको ऐसी आदत पड गई है कि वचनप्रामाण्यरूपी वृक्षको मीमांसापद्धति से पानी देकर वृद्धिंगत करके उसपर आरूढ होकर समन्वयपद्धतिका चष्मा लगाकर प्रत्येक ग्रंथको देखना; इसीलिये गीताका यह वैशिष्ट्य उनके गले नहीं उतरता। यह बात भिन्न है, तथापि इससे वस्तुस्थिति छिप नहीं सकती। बाह्याचरणरूपी धर्माधर्मका निर्णय कैसे करना, इस विषयमें गीताकी पद्धति बिलकुल निराली है और इसी कारण गीतोक्त धर्म जागतिक होनेके लिये पात्र है, ऐसा इस लेखकका मत है। परंतु यह बात अच्छी तरह समझने के लिये यह देखनेकी आवश्यकता है कि धर्माधर्मनिर्णय के विषयमें गीता शब्दप्रामाण्य को कहांतक आश्रय देती है। इसलिये इस बातका निर्णय यहां थोडेमें करेंगे।

गीता और शब्दप्रामाण्य।

शब्दप्रामाण्यकी तरफदारी करनवाले महाशय धर्मनिर्णय के प्रान्तमें शब्दों के अतिरिक्त किसीको प्रवेश करने नहीं देते। "धर्म अधर्म, पवित्र अपवित्र, हिंसा अहिंसा इन सब बातोंका निर्णय केवल धर्मपुस्तकोंको देखकर करना चाहिये। इन बातों का निर्णय करने में पवित्र ग्रंथही समर्थ हैं, इसलिये आक्षेपोंको जो उत्तर देना है, वह शब्दोंके आधार-पर स्थित होकर ही देना चाहिये; इसमें पुरुष-बुद्धिकी हिकमत नहीं चलेगी और न ऐसी हिकमत

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

चलाई जाय।" इस प्रकारके सिद्धान्तों को गलेसे लिपटकर आजकल सनातन धर्मका निर्णय किया जाता है। अगर यह मत सच है, विशेषतः गीताको भी यदि मान्य है, तो यह कहना पडेगा कि गीता भी जागतिक धर्म नहीं बतला सकती! क्यों कि ग्रंथ किसी भी कालमें लिखा गया हो; वह एक-कालीन और विशिष्ट सामाजिक परिस्थितिमें लिखा गया है, इस कारण उसका सार्वकालिक और सार्वदेशिक उपयोग होना अशक्य है; इतनाही नहीं, किंतु ऐसा उपयोग करना घातक भी है।

शब्दप्रामाण्य के दुष्परिणाम।

एक कालमें लिखे हुए शब्दका तत्त्व ध्यानमें न रखते हुए उस शब्दको सर्व कालमें लागू करने से क्या अनर्थ होते हैं, यह समझने के लिये "अहिंसा-धर्म" के विषय में सनातनधर्म और ईसाई धर्म में जो मतभेद फैला है, उसका दिग्दर्शन संक्षेपमें करते हैं। किसी समयमें अखिल मानवजाति मांसाहारी थी। उस समय नित्य व्यवहारमें जो अन्न प्रचलित था, उसीका उपयोग देवतोद्देश्यक यज्ञप्रसंगोंपर भी होना अपरिहार्य था। कुछ समयके बाद वह मांसा-हारी व हिंसक प्रवृत्ति बहुत घट गई, और अब अपना पेट भरनेके लिये किसी प्राणीकी हिंसा करना पाप समझा जाने लगा है। ऐसी स्थितिमें यज्ञमें भी प्राणिवध गर्ह्य समझा जाता है और यह स्वाभाविक है। अनन्त वर्षोंतक मांसनिवृत्ति होनेके कारण और नैतिक कल्पनाओंकी अभिवृद्धिके कारण यज्ञका वध भी सदभिरुचिको ग्राह्य नहीं होता। इस सदभिरुचिको आश्रय देकर, और साथही यज्ञसंस्था को डुबा देना इष्ट नहीं यह ध्यान में रखकर, वैष्णवोंने पिष्टपशुकी प्रथा डाल दी। परंतु इसमें एक प्रकारकी गौणता है ऐसा देखकर सांप्रत एक नयी प्रथा निकाली गई है। परमपूज्य ब्रह्मश्री नारायणशास्त्री मराठे और सदाशिवशास्त्री भिडे महाशयकी सहायतासे वे० शा० संपन्न धुंडि-राजशास्त्री दीक्षितने घृताहुति देकर यागपूर्ति करनेकी प्रथा शुरू कर दी है। कौन कहेगा कि यह उपक्रम स्तुत्य नहीं है? परंतु इंदौर में जो यज्ञ हुआ उसके बारेमें बडेबडे शिष्टोंने (?) बोंब मचा दी कि यह अधर्म हुआ! तथापि इसमें शिष्टोंका दोष क्यों देना? जहां यह निश्चित हुआ कि 'शब्द' को अक्षरशः प्रमाण मानना चाहिये, वहां ऐसा होनाही चाहिये। ख्रिस्तानुयायिओंमेंसे रोमन कॅथॉलिकोंने भी एक समय ऐसाही दुराग्रह लिया था, उसकी यथार्थ कल्पना आनेके लिये एक ख्रिश्चन धर्मगुरुके निबंधमेंसे यह भाग पाठकोंके सामने रखते हैं—

During the agitation against the cruelties practised in Plumage trade a lady, who was working for the Plumage Bill, tried to enlist the sympatheis of Roman Catholies and failed completely. The answer which she received was "The lower animals were made for our use, we have no duties towards them." This is I am sorry to say, the common view among Roman Catholcs.

शब्दप्रामाण्यने रोमन कॅथॉलिकोंको कैसे अंधे बना दिया था, इसका उत्तर इस उद्धृतांशमें मिलेगा! "समस्त सृष्ट पदार्थोंमें मनुष्यप्राणि श्रेष्ठ है और उसके उपयोगके लिये और सुखके लिये अन्य सब पदार्थ ईश्वरने उत्पन्न किये हैं।" बाइबल के इस विधान के आधीन होनेहीसे उक्त धर्मगुरुने एक स्त्रीकी नम्र विनतिको इस तरह ठुकरा दिया है। इस बातपरसे रोमन कॅथॉलिकों को हंसनेका कोई कारण नहीं। अपने यहां भी यज्ञीय हिंसाका समर्थन करते समय अनेक श्रुतिवचन और "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" "तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः" ऐसे स्मृतिवचन प्रमाणमें दिये जाते हैं। बादरायणाचार्यने भी इसी शब्द के शरण में जाकर ऐसा निर्णय दिया है कि यज्ञीय हिंसा हिंसा नहीं है। (ब्र. सू. ३।१।२५।) तात्पर्य यह है कि ज्योंही तत्त्व की ओर लक्ष्य न देकर शब्द को प्रमाण मानना निश्चित हुआ, त्योंही यह दोष अनिवार्य हो जाता है! इसलिये सच्चे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

जागतिक (सार्वदेशिक व सार्वकालिक) धर्मकी इमारत एकशब्दरूपी खंभेपर उठाना इष्ट नहीं है। निम्नलिखित विवेचनसे मालूम होगा कि गीतोक्त धर्म इस अनिष्ट बातसे अलिप्त है।

शब्द को महत्त्व देकर गीता धर्माधर्मका निर्णय नहीं करती। धर्मको यदि केवल शब्दही प्रमाण होता तो अठारह अध्याय कहनेका कोई प्रयोजन न था। अर्जुनने जब कहा कि "मैं युद्ध नहीं करता, क्योंकि युद्ध करनेसे सुहृद्वध, गुरुजनवध, कुलक्षय, कुलधर्मनाश, वर्णसंकर इत्यादि अनेक पाप मेरे माथे पडेंगे।" तब उसपर भगवान्ने क्या जबाब दिया? श्रीकृष्ण भगवान् यदि सच्चे ग्रंथप्रामाण्यके पक्षपाती होते तो "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" ऐसा तत्त्वज्ञान बतलानेमें वे वृथा कालक्षेप न करते। उन्होंने जोरदार शब्दोंमें यही कहा होता कि "तुम्हारी जाति क्षत्रिय है, क्षत्रियके लिये उचित धर्म युद्धही कहा गया है। इसलिये फुजूल नुक्ताचीनी मत करो और युद्धके लिये कटिबद्ध हो।" परंतु श्रीकृष्णने इस सरल (?) मार्गका स्वीकार न किया। इससे क्या पाया जाता है? यह तात्त्विक विवेचन समाप्त होनेपर भी भगवान्को धर्मग्रंथोंकी याद आई होती। वह बात दूरही रही, किंतु "अथ चैनं नित्यजातम्" इत्यादि नास्तिक मतोंकाही पुरस्कार उन्होने किया है। आगे चलकर "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" इत्यादि वाक्य जरूर कहे हैं; परंतु उनमें 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ संदिग्धही है। शिवाय इसके इस श्लोकमें "अपि च" इस शब्द समुच्चयसे इस उत्तरका गौणत्व प्रतीत होता है। दूसरा अध्याय छोडकर आगे चलनेसे यही दीखता है। शब्दप्रामाण्यको मातब्बरी कहीं नजर नहीं आती। इतनाही नहीं, किंतु कई स्थानोंमें-

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।"

इस प्रकार वेदकी प्रत्यक्ष निंदा करनेवाले वचन दिखाई देते हैं। ऐसी हालतमें यह कैसे कहा जा सकता है, कि गीता शब्दप्रामाण्य माननेवाली है? गीतामें शब्दप्रामाण्यवादियोंके लिये निम्नलिखित श्लोक आशाका एक तन्तु है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
गीता १६।२४

परंतु टीकाकारोंने इस श्लोकका जो अर्थ दिया है वह बराबर नहीं। क्योंकि उस दृष्टिसे देखनेसे उत्तरार्धमें पूर्वार्धकी पुनरावृत्ति है। इसके अलावा पीछे जो आसुरी संपत्तिका विवेचन किया है उसमें 'यक्ष्ये' 'दास्यामि' ऐसे शास्त्रोक्त यज्ञ और दान क्रियाओंकाभी समावेश होताही है, इससे ऐसे आसुर कर्मोंकाही विधान करना कैसे योग्य होगा? इसी तरह इस श्लोकका 'तस्मात्'पद शब्दप्रामाण्यवादियोंको प्रगट विरोध करनेवाला है। उनके मतसे शब्द स्वतः प्रमाण है, उन्हें यह बात मान्य न होगी कि "कामकारतः वर्तन करनेवालेको सिद्धि, सुख और श्रेष्ठ गति नहीं मिलती, इसलिये शास्त्र को प्रमाण मानो।" 'स्वतःप्रामाण्य' और वेदका 'अपौरुषत्व' इनका प्रथम विवेचन होकर उसके आगे 'तस्मात्' शब्द आया होता, तभी वह शब्द. प्रामाण्यको अनुकूल हुआ होता। तात्पर्य, यह श्लोक मीमांसकोंके शब्दप्रामाण्यका प्रतिनिधि हो नहीं सकता। हम कहही चुके हैं कि इस श्लोकके आगे अथवा पीछे उसको आधार नहीं है; और यही ठीक है। क्योंकि गीता यदि आजकलकी रूढ पद्धतिके अनुसार उपदेश करनेवाली होती तो प्रारंभही में ऐसा श्लोक आता कि—

युद्धं तव स्वधर्मोऽयं स कथं त्यज्यते त्वया?
मा श्रुत्यवज्ञां कुर्वीथाः स्वतः तस्याः प्रमाणता॥

ऐसा सीधा जबाब अर्जुनको मिला होता। परंतु आजकल चला हुवा शब्दप्रामाण्यका स्तोम मान्य न होनेसे गीतामें इस प्रकारका श्लोक ग्रथित नहीं किया गया। इतने विवेचनसे यह स्पष्ट होगा कि उपरिनिर्दिष्ट दूसरे धर्मांगके संबंधमें गीता किसी विशिष्ट धर्मग्रंथका आग्रह नहीं करती। पहिले अंगके संबंधमें हम विश्वधर्मयोग्यता बतला चुके हैं। अतएव यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं कि प्रारंभमें निर्दिष्ट किये हुए विश्वधर्मके लक्षण गीतोक्त धर्मको पूर्ण रीतिसे लागू होते हैं।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

यहांतक गीतोक्त धर्मके दो विशेष देख लिये गए- (१) प्रतीकाग्रहाभाव, (२) ग्रंथाग्रहाभाव। तथापि इससे एक प्रकारकी गैरसमझ होनेकी संभावना है। किसी धर्मग्रंथको जो प्रमाण नहीं मानता, अर्थात् जिस धर्ममें कोई विवक्षित आचारधर्म नहीं अथवा "मनःपूतं समाचरेत्" यही जिसका नियम है, वह धर्म कैसा? और ऐसाही उपदेश यदि गीता करती हो तो उसमें ऐसा नावीन्य क्या है? "ग्रंथोंका बंधन मत मानो" "जैसा मनको योग्य दिखे वैसा करो" इस प्रकार बंधनके पार जानेका उपदेश गीताके मुखसे सुननेके पहिलेही सब लोग अमलमें ला रहे हैं। इस वास्ते ऐसा तत्त्वज्ञान कहनेके लिये गीताकी आवश्यकता नहीं; ऐसाही स्वभावतः लोग समझेंगे। गीतोक्त आचारधर्म अच्छी तरह ध्यानमें न आनेसे ऐसे प्रश्नोंका उपस्थित होना अपरिहार्य है। इसीलिये अब यह देखना चाहिये कि आचरणात्मक धर्मके विषयमें गीताके सिद्धान्त क्या हैं।

आचरणात्मक धर्मकी बुनियाद।

गीतोक्त आचरणात्मक धर्मकी नींव इतनी विस्तृत और दृढ है कि वह कितने और कैसेभी आघात पडनेसे जरी भी हिल नहीं सकती। "बाप्तिस्मा लेनेसे सर्व पाप क्यों नष्ट होंगे?" इस प्रश्नसे पाद्री लोक जितने घबडाते हैं, उतनेही अपने यहांके + धर्ममार्तंड घबडा गए हैं। संध्या क्यों करना चाहिये? पुरुषोंके लिये दो विवाह करनेमें कोई आपत्ति नहीं है, तो स्त्रियोंने क्याने अपराध किया है? अस्वच्छ ब्राह्मणकी (?) बनाई हुई रसोई पवित्र मानी जाती है, तो स्वच्छ शूद्र की रसोई पवित्र क्यों न मानी जाय? हिंदुओंके सिवाय गोत्रव्यवस्था कोई नहीं पालता, तब हिंदुओंको वह पालनेकी क्या जरूरत? इस तरह के प्रश्न उपस्थित होतेही धर्ममार्तंडोंके क्रोध का पारा चढ जाता है। इस क्रोधाग्निरूपी ज्वालामुखीका स्फोट होकर उसमेंसे यही उत्तर बाहर निकलता है कि "यह नास्तिक है।" सच पूछा जाय तो इन प्रश्नोंका नास्तिकता से कोई संबंध नहीं है। ❀ परंतु इतना विवेक जागृत कहां है? यह क्रोध, यह संताप और यह भय अल्पाधिक प्रमाणमें प्रत्येक धर्ममें देखा जाता है। जो धर्म इस भयको नष्ट करनेमें असमर्थ है, वह निडर होकर स्वैर संचार नहीं कर सकता। इस भयको जिसने

+ सनातन धर्मके विषयमें जो मत और जो आचार सांप्रत रूढ हैं, उन्हींके अनुसार यह शब्द और इस लेखके अन्य शब्दप्रयोग किये गए हैं। सनातन धर्म, हिंदूधर्म इत्यादि शब्द भी इसी रूढ अर्थसे नियुक्त किये गए हैं। यह बात स्पष्ट है, कि इन शब्दोंके सच्चे अर्थ लिये जांय, तो ये आक्षेप लागू न होंगे, क्योंकि इस लेखमें "गीताधर्म" के नामसे जिस धर्मका वर्णन किया गया है वह सच्चे सनातन धर्मसे भिन्न नहीं है। इस लेखकका यह मत है। और यही मत विस्तारपूर्वक उपस्थित करनेके हेतु प्रस्तुत लेखककी लेखमाला केसरी पत्रमें प्रसिद्ध हो रही है।

❀ ऐसा कहीं नहीं कहा है कि प्रश्न पूछनेवाले को नास्तिक कहना चाहिये। प्रश्न करनेवालेके तरफ कोई भी शास्त्र क्रोधदृष्टिसे नहीं देखता; किंतु आतुरतासे ही देखता है; क्यों कि ऐसेही लोगोंके लिये शास्त्र लिखे गए हैं। किसी विषयका प्रतिपादन करना होता तब प्राचीन पद्धतिके अनुसार किसी अधिकरण में रखकर उसका विवेचन करना पडता है। इस अधिकरण के पांच अवयव रहते हैं—(१) विषय, (२) संदेह, (३) संगति, (४) पूर्वपक्ष और (५) सिद्धान्त। इनमें दूसरा अवयव संदेह है। सर्व भारतीय शास्त्रकारों का एक मत है कि इस संदेह के विना किसी विषयके विवेचन का प्रारंभ ही नहीं हो सकता। उनका यह पूर्ण विश्वास था कि प्रत्येक संशय का योग्य निवारण किये विना शास्त्र परिपूर्ण और परिणामकारी न होगा।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नष्ट किया; ऐसे प्रश्न सुनकर जो संतप्त नहीं होता, किंतु इन प्रश्नोंद्वारा व्यक्त होनेवाला पृच्छक का अज्ञान देखकर वात्सल्यसे जिसका हृदय पनपता है, और स्नेहपूर्ण कृपादृष्टिसे प्रसन्न और 'प्रहसन्निव' जो धर्म उन प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है वही, सच्चा धर्म है। और ऐसेही धर्मको कह सकते हैं कि "अभयं वै धर्म प्राप्तोसि।" गीतोक्त धर्मने यह अभय प्राप्त करलिया है, क्यों कि उसकी बुनियाद अप्रतिष्ठित + शब्द नहीं है, सुप्रतिष्ठित शास्त्रदृष्टि है। "शब्दैकशरणा वयम्" ऐसी गर्जना करनेवाला जितना भयसे और संतापसे पीडित रहता है; उतनाही "शास्त्रैकशरणा वयम्" कहनेवाला निर्भय और शांत वृत्तिका रहता है। गीतामें इसी शांत वृत्तिसे धर्मकी इमारत रची गई है। इस बात का प्रत्यन्तर देखना हो तो गीताका सोलहवां अध्याय जरूर पढना चाहिये।

सोलहवें अध्याय का महत्त्व।

इस अध्याय का नाम "दैवासुरसंपद्विभागयोग" है। इसमें दैवी संपत्तिका थोडेमें परंतु निःसंदिग्ध रीतिसे विवेचन किया है। और इसीमें गीतोक्त धर्म के आचरणात्मक अंगकी बुनियाद है। इस अध्याय का संपूर्ण विवेचन करनेका यह स्थल नहीं है; तथापि एक श्लोकका दिग्दर्शन करनाही चाहिये। कौनसा आचरण धर्म्य है और वह धर्म्य क्यों है, इसी प्रकार कौनसा आचरण अधर्म्य है और वह अधर्म्य क्यों है, इन सब प्रश्नोंका उत्तर इस श्लोकार्ध में स्पष्टतया दिखेगा-

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ॥ १६।५

इस श्लोकार्धमें यथानुक्रम चार बातें बतलाई गई हैं-

(१) जिस प्रकारसे दैवी संपत्तिकी वृद्धि होगी ऐसा आचरण करना।

(२) दैवी संपत्ति विमोक्ष देनेवाली है।

(३) आसुरी संपत्तिकी जिससें वृद्धि होगी ऐसा आचरण त्याज्य मानना।

(४) आसुरी संपत्ति अतिशय बंधन बढानेवाली है।

ये चार सिद्धान्त ध्यानमें रखनेसे गीताके आचरणधर्मका रहस्य भलीभांति समझमें आवेगा। ये चार सिद्धान्त गीतोक्त धर्मकी चतुःसूत्री है। इस चतुःसूत्री में समस्त गीतोक्त धर्मका सार है; इतना ही नहीं, किंतु वह जागतिक धर्म होनेके पात्र क्यों है इसका भी उत्तर इसीमें है।

गीता धर्माधर्मनिर्णय केवल कर्मके तरफ देखकर नहीं करती, परंतु यह देखकर करती है कि उस कर्मके द्वारा संपत्तिद्वय में से कौनसी संपत्ति वृद्धिगत होगी। इसके लिये मजबूत सबूत इसी अध्याय में मिलेगा। दैवी संपत्तिका वर्णन करते हुए दान और यज्ञ के नाम आए हैं। (१६।१) आगे चलकर आसुरी संपत्ति के वर्णन में फिरसे 'यक्ष्ये' 'दास्यामि' ऐसा उल्लेख आया है! एकही आचरण विमोक्ष देनेवाला और बंधन में डालनेवाला कैसे कहा जा सकता है? गीताका अभिप्राय ऐसा है कि केवल आचरणको (कर्मको) कोई मूल्य नहीं है; उसका धर्म्याधर्म्यत्व इस बातपर निर्भर है कि वह कर्म किस बुद्धिसे किया जाता है? कर्तापर और समाज स्थितिपर उस कर्मके क्या परिणाम होंगे? केवल कर्म को देखकर गीता कभी धर्माधर्मनिर्णय नहीं करती। इसीलिये यज्ञ, दान, तप इत्यादि की त्रिविधता गीताकाराने वर्णित की है। कोई भी कर्म अनुबंधादिकोंका विचार करनेपरही किया जाय, ऐसा जो गीताका उपदेश है, वह इसीलिये है।

+ "तर्काप्रतिष्ठानात्" ऐसा कहकर तर्क की कुचेष्टा की गई है। परंतु निबंधकारोंने अपनी इच्छा के अनुसार गौणत्व अथवा मुख्यत्व मानकर मतमतांतरों की जो धूम मचाई है, वह देखनेसे मालूम होगा कि तर्ककी अपेक्षा शब्दही अधिक अप्रतिष्ठित हैं। इस विषयपर हमें स्वतंत्र लेख लिखना है, इसलिये यहां इतना विवेचन बस है।

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ १८।२५

इस श्लोक में अनुबंधादिक न विचार कर किया हुवा कर्म त्याज्य ठहराया गया। इसका कारण यही है कि वह आसुरी संपत्तिको बढाता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

इस श्लोकका भी यही रहस्य है। अस्तु।

इस पर शायद कोई पूछेगा कि "तुम्हारे गीता-धर्मका रहस्य हम समझ गये, परंतु उसपर भी आक्षेप हैं। तुम कहते हो कि दैवी संपत्तिका अनुसरण करनेको गीता कहती है; परंतु यह आज्ञा हम क्यों माने? जब हम किसी भी ग्रंथको प्रमाण नहीं मानते तब तुम्हारी गीताको हम क्यों मानें? अन्य धर्मग्रंथ विशिष्ट हैं इसलिये तुमने उनको खूब पछाडा; परंतु अब तुम स्वतः वही बात कर रहे हो। गीता ग्रंथको भी तुम प्रमाण ही मानते हो न?" इन सब प्रश्नोंको हमारा उत्तर "नहीं" है। गीता यह उपदेश जरूर करती है कि "दैवी संपत्तिका अनुसरण करो" परन्तु हम यह नहीं कहते कि वह गीताका उपदेश है इसीलिये उसे मानो। हमारा कहना है कि उसका फल है विमोक्ष, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता प्रत्येक मनुष्यको है; इसीलिये उसे मानो। इसी तरह "दैवी संपत्ति विमोक्षका साधन है" यह बात (अर्थात् यह कार्यकारण-भाव) गीता बतलाती है, इस कारण मान लेनेके लिये हमारा आग्रह नहीं है। 'अभयादि दैवी संपत्ति विमोक्ष देनेवाली है" यह बात सूक्ष्म निरीक्षणसे ध्यानमें आसकती है। और हम जो कहते हैं कि गीताको प्रमाण मानो, उसका यही कारण हैं कि गीताने वही बात कही है जो कि इस प्रकार अनुभवसे और शास्त्रीय दृष्टिसे सिद्ध हो सकती है। तात्पर्य, गीतोक्त धर्मपर कोई भी आक्षेप लेनेका प्रयत्न करना मानो सूर्यपर थूंककर अपनी शोभा कर लेना है, अथवा स्वतःका गाढ अज्ञान प्रगट करना है। पाठकोंके समझमें इतनी बात आगई होगी।

केवल गीताही जागतिक धर्म कह सकेगी।

गीताके धार्मिक सिद्धान्त शास्त्रीय आधारपर रचे गए हैं। मानसशास्त्र, मानवी प्रवृत्ति, विश्वका अन्तिम तत्त्व इन सब बातोंपर ध्यान रखकर मजबूत नैसर्गिक बुनियादपर गीताधर्ममंदिर बनाया गया है। इसके लिये अर्जुनका ही उदाहरण दे सकते हैं। "किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा" इस प्रकार जब अर्जुनको वैराग्य प्राप्त हुवा था तब श्रीकृष्णने संमति नहीं दी। उनके स्थानमें यदि ईसामसीह अथवा बुद्ध होते, तो वे ऐसा कहते कि "शाबास! अच्छा हुवा कि तुम्हें वैराग्य प्राप्त होगया! सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ ऐसे संन्यासाश्रमकी दीक्षा मैं तुम्हें देता हूं। जगत्में सच्चा सुख है ही नहीं, सुखका त्यागही करनेमें प्रत्येक मानवी जीवका सच्चा कल्याण है। इतना जरूर है कि तुम्हें यह क्षणिक वैराग्य प्राप्त हुवा है। तथापि कोई हर्जा नहीं है। अरणीमेंसे निकली हुई चारपांच चिनगारियोंको इंधनका योग देनेसे जिस तरह उनमें पूरा जंगल जला देनेका सामर्थ्य आता है, उसी तरह यह वैराग्यकी चिनगारी आध्यात्मिक ग्रंथादिकोंके श्रवणसे तुम बढाओगे, तो यह संसाररूपी महारण्यभी उससे भस्म होगा। इत्यादि।" परंतु भगवान्ने ऐसा उपदेश नहीं दिया। उन्होंने यह जानकर कि "पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना" अर्जुनको आग्रहपूर्वक कहा–

'मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।'

मानवी प्रवृत्तिका, तथा मानसशास्त्रका पूर्ण विचार करके यथाधिकार उपदेश करना अखिल आर्यसंस्कृतिका ब्रीद है। परंतु दुर्दैवसे इन अमोल तत्त्वोंको फेंककर हम आज अनेक वर्षोंसे सब धान बारा पसेरीका व्यवहार कर रहे हैं। इस कारण समाजकी अपरिमित हानि हुई है। "वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः" इस वैदिक आज्ञाको सब लोगोंने

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ठुकराकर "अर्थमनर्थं भावय नित्यम्" का जप शुरू कर दिया। परंतु वह सब लोगोंकी प्रकृतिको मान्य हो नहीं सकता था, इसलिये 'अल्पसंतोष' का उपाय सुझाया गया। संन्यासाश्रमका प्रचार यहांतक कसरतसे बढने लगा है कि उत्तर हिंदुस्थानमें 'उदासी' के सदृश सांप्रदाय बेहद फैल रहे हैं। कहां वह "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति" ऐसा उच्च सात्त्विक ध्येय और कहां यह नालायकीसे होनेवाली तामसी वृत्ति! 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' यह नियम केवल आद्य शंकराचार्यके समान श्रेष्ठ विभूतियोंके लिये है;परंतु केवल सांप्रदायिक अंधत्वसे वह नियम ५-१०वर्षके बालकोंको लागू किया जाता है। ये सब प्रमाद धर्मके व्यापक स्वरूपकी ओर दुर्लक्ष्य करनेहीसे हुए हैं। ये त्रुटियां न होने पावें ऐसी खबरदारी गीताने रखी है। गीताको यह तत्त्व मान्य है कि "कामात्मता न प्रशस्ता" इसी लिये वह जगह जगह पर ऐसा उपदेश करती है कि "कामात्मनः" को सद्गति प्राप्त नहीं होती "तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्"। तथापि गीता यह भी जानती है कि यह उपदेश सार्वत्रिक करना अशक्य है; क्योंकि "न चैवेहास्त्यकामता" यह मानवी प्रवृत्ति गीताको अच्छी तरह मालूम है। इसीलिये वह स्पष्ट रीतिसे कहती है कि "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।" अस्तु। परमात्मा जितना अनन्त है उतनाही उसका उपदेशित धर्म अनन्त है। इसका सांगोपांग विवेचन एकही लेखमें कैसे हो सकता है? इसलिये इस विवेचनको यहीं समाप्त करनेका विचार निश्चित हुआ। अंतमें इस धर्मके प्रसारकी दिशा बतलाना हमें अत्यावश्यक मालूम होता है,इसलिये उसके संबंधमें थोडासा लिखेविना हम पाठकोंसे छुटी ले नहीं सकते।

गीताभक्तोंका कर्तव्य।

गीतोक्त धर्मका जागतिकत्व किसको मान्य न होगा अथवा किसको न रुचेगा? सच्चे गीताभक्तका उत्साह सात्त्विक आनंदसे निःसंदेह द्विगुणित हो जायगा। सुदैववशात् आजकल गीताका प्रसार बढता जाता है इससे गीतापर भक्ति भी बढतीपर है। ऐसे समय उपर्युक्त गीताधर्मका महत्त्व मान्य होकर श्रद्धा-धैर्य-वीर्य-संपन्न धर्म प्रचारक आगे आवें तो आजकलके नास्तिक युगमें बडा ही कार्य होगा, इसमें संदेह नहीं। यह जागतिक धर्म सचमुचमें सब जगतका धर्म होनेकी आकांक्षा हो, तो प्रथम हम हिंदुओंकोही कटिबद्ध होना चाहिये। वस्तुतः गीताधर्म ही हिंदुओंका सच्चा धर्म है। वैदिक परंपराके सच्चे धर्मतत्त्व इसी धर्ममें भली भांति ग्रथित किये गए हैं। इसलिये सब हिंदुओंको इस धर्मका प्रथम आचरण करने के लिये प्रवृत्त होना चाहिये। इससे संपूर्ण जगत् भर इस धर्मका प्रसार बडी सुलभता से होगा। वैदिक धर्म, सनातन धर्म और हिंदुधर्म ये सब वस्तुतः एकही हैं और इनका संपूर्ण रहस्य इसी गीताधर्म में संग्रहित है। इसलिये सब हिंदुओं को इस धर्म का प्रथम अनुसरण करना चाहिये।

विकट धार्मिक प्रश्न कैसे हल होंगे?

सांप्रत सुधारक व कुधारक, आस्तिक व नास्तिक,अस्पृश्य व स्पृश्य,ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर इनके बीचमें जितने द्वंद्व हैं उन सब को नष्ट करने का भी सामर्थ्य इसी धर्म में है। उस दृष्टिसे धर्मशास्त्रका अभ्यास जरूर होना चाहिये। स्मृतिशास्त्रके शब्दों ही को लेकर यदि हम बैठेंगे तो आग्रहवृत्ति बढती जायगी और ये झगडे भयंकर स्वरूप धारण करेंगे। परंतु गीतामें बतलाए हुए संपत्तित्रय का संबंध दिखलाते हुए धर्मशास्त्री यदि स्मार्तधर्माधर्म का विवेचन करने लगेंगे, तो शीघ्रही दोनों पक्षोंमें सलोखा के साथ सुलहनामा हो जायगा। धर्माचार्य यदि शब्दमय व्यासपीठपर बैठकर उपदेश करना छोडदें, पुरुष बुद्धिका आश्रय करें, शास्त्रीय व्यासपीठपर आरूढ होकर धर्मनिर्णय जाहिर करें तो सांप्रत जो मतमतांतरोंकी धूम मच रही है वह शांत होकर इस भारतवर्ष को आनंदके दिन देखने मिलेंगे। अंग्रेजी शिक्षा चाहे जितनी फैलती रहे, उससे कोई भय न मालूम होगा। क्यों कि शास्त्रीय

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

नींवपर अधिष्ठित धर्मश्रद्धा मामूली हवाके तूफानों से उड न सकेगी। तात्पर्य इस सर्वोत्कृष्ट धर्मको जागतिक स्वरूप प्राप्त कराना केवल भारतयोंके हाथ में है। भारतवर्षपर परमात्मकी कृपा है इसी-लिये उसे इस जागतिक धर्मकी प्राप्ति हुई है। धर्म के लिये आशा लगाकर दूसरे का मुंह ताकनेकी उन्हें आवश्यकता नहीं। दूसरे धर्मकी भारतीयोंने अपेक्षा करना मानों घरमें कामधेनु रहते हुए दूसरे के पास मही की याचना करना है। इसलिये समस्त भारतियों को हमारी आग्रहपूर्वक प्रार्थना है कि स्वयं आचरण करके, दूसरोंके सामने स्वाचरणका उदाहरण रखकर इस गीतोक्त धर्मको जागतिक स्वरूप देनेमें सहाय्य करो। जागतिक धर्म होनेके लिये गीताधर्मही समर्थ है। क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त केवल गीताको ही निम्नलिखित वाक्य प्रतिज्ञापूर्वक कहनेका अधिकार है, अन्यों को नहीं। वह श्लोक मानो गीता स्वतः के लिये कहती है-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
गीता १८।६६॥

इसीलिये "समस्त भारतवर्षको वैसेही संपूर्ण जगत् को एकही धर्म चाहिये" ऐसा कहकर कोई इस प्रकारके धर्म को शरण जानेको तैयार हो तो उसको हम गीता के शब्दोंमें ऐसा कहेंगे-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
गीता १८।६२

"सकल जनों के अंतःकरणमें इस सच्चे धर्म की जागृतिके लिये प्रेम उत्पन्न हो" ऐसी प्रार्थना उस दयाघन प्रभूसे करके हम पाठकोंसे छुट्टी लेते हैं।

गीताका सुभाषित।

प्रवेशद्वारोंका रक्षण।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः। ... अभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥
भ० गी० १।११

"सब प्रवेशद्वारोंमें अपने अपने स्थानमें दक्षतासे रहकर शत्रुओंसे तुम सब प्रकार संरक्षण करो।"

देहद्वार, गृहद्वार, नगरद्वार, राष्ट्रद्वार ऐसे अनेक द्वार हैं। इन द्वारोंमेंसे शत्रु गुप्त रीतिसे भीतर प्रवेश करते हैं। इन प्रवेशद्वारोंमें यदि उत्तम व्यवस्था रखी जाय और यहां के रक्षक इन द्वारोंका अच्छा रक्षण करें, तो शत्रुका प्रवेश भीतर नहीं हो सकता। और शत्रु अंदर आकर धूम न मचा सकेंगे। इसलिये इन सब प्रवेशद्वारोंपर उत्तम रक्षक रखना चाहिये। स्वसंरक्षणका यह मुख्य सूत्र है। इससे व्यक्ति, घर, नगर और राष्ट्र इनका रक्षण अच्छी तरह हो सकेगा।

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

कर्मसंन्यासयोग ।

कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है?

अर्जुन उवाच-- संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अन्वयः- अर्जुनः उवाच- हे कृष्ण ! कर्मणां संन्यासं, पुनः योगं च शंससि; एतयोः यत् एकं श्रेयः, तत् मे सुनिश्चितं ब्रूहि ॥१॥

अर्जुनने पूछा— हे कृष्ण! आप एक वार कर्मोंके संन्यासकी और दूसरी वार कर्मके योगकी प्रशंसा करते हो, इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग निश्चयसे मेरे लिये कल्याणकारी होवे, वह मुझे निश्चित रीतिसे कहिये ॥ १ ॥

भावार्थ— गुरुको उचित है कि वह शिष्यको एकहि निश्चित और श्रेयस्कर मार्गका उपदेश करे। अनेक मार्गोंकी प्रशंसा करके शिष्यके मनमें भ्रम उत्पन्न न करे।

(१) पूर्व अध्यायमें कई श्लोकोंमें सर्वकर्म-संन्यास करनेकी प्रशंसा की है जैसे—

संन्यासकी प्रशंसा ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् ॥ गी० ४।१८
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं ॥ गी० ४।१९
यदृच्छालाभसंतुष्टः गी० ४।२२
सर्वं कर्म...ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ गी० ४।३३
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते०॥गी४।३७

"जो कर्ममें अकर्म देखता है, जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हुए हैं, जो सहजप्राप्त वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है, सब कर्म ज्ञानमें समाप्त होते हैं, ज्ञानाग्निसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं।" इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानमार्ग अर्थात् सर्वकर्म-संन्यास-मार्गकी प्रशंसा की है। यह प्रशंसा पढनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य संन्यासका आश्रय करे। क्यों कि सब कर्मोंका अन्त यदि संन्यासमें हि होना है, तो वही संन्यास प्रारंभसेहि क्यों न लिया जावे? इस तरह पाठककी प्रवृत्ति इस संन्यासप्रशंसाके उपदेशोंसे कर्मसंन्यास करने की ओर होती है।

इस प्रकार कर्मसंन्यासकी ओर प्रवृत्ति करके अन्तमें भगवान्ने कहा कि—

कर्मयोगकी आज्ञा ।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
गी० ४।४२

"हे भारतका हित करनेके लिये प्रवृत्त हुए वीर! इस सन्देहको काटकर कर्मयोगका आचरण करनेके लिये उठ।" इस उपदेश द्वारा फिर कर्मयोगमें प्रवृत्त हो ऐसा कहा है। यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि कर्मका संन्यास किया जाय अथवा कर्मयोगका आचरण किया जाय? दोनों मार्ग परस्परभिन्न हैं, 'ठहरो और भागो' इन दो आज्ञाओंमें जितना परस्परविरोध है, उतना ही विरोध 'कर्म करो और कर्मत्याग करो' इन

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(२) कर्म और संन्यास एकही हैं।

श्रीभगवानुवाच-- संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः— संन्यासः कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ; तयोः तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगः विशिष्यते ॥ २ ॥ यः न द्वेष्टि, न (च) कांक्षति, सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः, हे महाबाहो ! हि निर्द्वंद्वः बन्धात् सुखं प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् बोले— कर्मोंका संन्यास और कर्मोंका योग ये दोनोंही मनुष्यका कल्याण करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें कर्मोंके संन्यासकी अपेक्षा (तेरे लिये) कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है ॥ २ ॥ जो मनुष्य किसीसे द्वेष नहीं करता और किसीकी प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करता, उसे नित्यसंन्यासी समझना उचित है। जो द्वन्द्वोंसे दूर रहता है, वही सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

आज्ञाओंमें है। जिस समय गुरु कर्मयोग और कर्मसंन्यास इन दोनोंकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करते हैं, उस समय शिष्य क्या करे, कर्म करे वा कर्म छोड देवे ? मार्ग पूछनेवालेसे यदि कोई कहे कि तुम पूर्वकी ओर जानेवाले मार्गसे जाओ अथवा पश्चिमकी ओर जानेवाले मार्गसे जावो, तो वह पांथस्थ किस मार्गसे जावे? उसी तरह यहां अर्जुनके मनमें पूर्वोक्त कारणसे बडा संदेह उत्पन्न हुआ। अतः वह कह रहा है कि " कर्मयोग और ज्ञानयोग इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग मेरे लिये श्रेयस्कर होगा, उसका उपदेश मुझे करो " अर्थात् अनेक मार्गोंका उपदेश करके पहिलेसे भ्रान्त हुए मेरे चित्तको अधिक भ्रममें न डालो, इस समय मेरा निश्चित रीतिसे कल्याण किस तरह होगा, इसका ही उपदेश करना आपको उचित है। इस प्रकार अर्जुनका प्रश्न श्रवण करके भगवान् उसका सन्देह दूर करनेके लिये समझाते हैं—

(२-३) पूर्व अध्यायमें ज्ञान और कर्मकी समान प्रशंसा सुनकर अर्जुनके चित्तमें संशय उत्पन्न हुआ, यह जानकर, इस सन्देहको दूर करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

संन्यास और कर्म।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ॥(५।२)

" संन्यास और कर्मयोग ये दोनों निःसंदेह मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाले हैं" यहां गीताशास्त्रमें संन्यास और कर्मयोग ये शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त किये हैं। निम्न लिखित कोष्टक देखनेसे इनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है—

कर्म	संन्यास
,, योग.	सांख्य, ज्ञान
कर्ममार्ग	संन्यासमार्ग
,,	सांख्यमार्ग
कर्मयोग	संन्यासयोग
,,	सांख्ययोग
,,	ज्ञानयोग

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अन्वयः— सांख्ययोगौ पृथक् (इति) बालाः प्रवदंति, न पंडिताः; एकं अपि सम्यक् आस्थितः (पुरुषः) उभयोः फलं विन्दते ॥ ४ ॥ यत् स्थानं सांख्यैः प्राप्यते, तत् योगैः अपि गम्यते; यः सांख्यं योगं च एकं पश्यति, सः (एव) पश्यति ॥ ५ ॥

अज्ञानी लोग सांख्यमार्ग (संन्यासयोग) और योगमार्ग (कर्मयोग) को पृथक् पृथक् मानते हैं, परंतु ज्ञानी जन ऐसा नहीं मानते। क्यों कि इनमेंसे किसी एकका अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेसे, मनुष्यको दोनोंका फल प्राप्त होता है॥४॥ जो स्थान सांख्यमार्गियोंको प्राप्त होता है, वह योगमार्गियोंको भी प्राप्त होता है, अतः जो सांख्य और योगको एकरूप देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—ज्ञान और कर्म ये दोनों मार्ग मनुष्यमात्र का कल्याण करनेवाले निःसन्देह हैं। तथापि सर्वसाधारण मनुष्यके लिये कर्महि विशेष लाभकारी है ॥ जो किसीका द्वेष नहीं करता अथवा किसीपर प्रेम भी नहीं करता, वही सच्चा संन्यासी है, फिर वह ज्ञानमें तत्पर हो अथवा कर्ममें लगा हुआ हो। द्वन्द्वोंसे जो दूर रहता है वह सुखसे बन्धनोंसे छूट जाता है ॥ ज्ञान और कर्म ये दोनों भिन्न भिन्न हैं ऐसा मूढ लोग मानते हैं, परंतु ज्ञानी लोगोंका मत वैसा नहीं है। इस का कारण यह है कि, इनमें से किसी एकका भी यथायोग्य रीतिसे अनुष्ठान किया जाय, तो दोनोंका फल प्राप्त होता है ॥ जो उच्च स्थान ज्ञानियोंको मिलता है, वही कर्ममार्गियों को भी प्राप्त होता है। अतः अन्तिम साध्यकी दृष्टिसे इनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं है। इस तरह ज्ञान और कर्मको फल-की दृष्टिसे एक जानना ही सत्य ज्ञान है ॥२—५॥

कर्मयोग	बुद्धियोग
योगबुद्धि	सांख्यबुद्धि
कर्म	अकर्म

इस तरह इन दोनों मार्गोंके नाम हैं। यदि पाठक इन नामोंको स्मरण रखेंगे तो उनको किस शब्दसे किसका बोध होता है इसका उत्तम ज्ञान हो सकता है। इससे पूर्व तृतीयाध्यायमें कहा है कि—

दो निष्ठा।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(गी० ३। ३)

"इस संसारमें दो प्रकारकी प्रवृत्तिवाले लोक होते हैं। सांख्योंकी प्रवृत्ति ज्ञानकी ओर और योगीयोंकी प्रवृत्ति कर्मकी ओर होती है।" यह मनुष्यका स्वभाव धर्म है। जो जिसकी निसर्ग-प्रवृत्ति होती है, उसके अनुकूल चलनेसेहि उसका कल्याण होता है। निसर्गप्रवृत्तिके विरुद्ध चलने-से, अर्थात् प्रकृतिका विरोध करनेसे बडी हानि होती है, अतः कहा है—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गी० ३।३३)

"ज्ञानीभी अपने प्रकृति स्वभावके अनुसार बर्तता है। सब प्राणिमात्र अपने स्वभावके अनुसार चलते हैं, ऐसी अवस्थामें बलात्कार करनेसे क्या लाभ हो सकता है?" इस कारण अपने निज निसर्गस्वभावके अनुकूल मार्गसे चलना उचित है, यह पहिले दर्शाया है। इस नियमके अनुसार जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ज्ञानमार्गकी ओर हो वह ज्ञानमार्गसे जावे और जिसकी निज प्रवृत्ति कर्ममार्गकी ओर हो वह कर्ममार्गका अनुष्ठान करे। ये दो मार्ग पूर्वोक्त दो प्रवृत्तिवाले मनुष्योंके लिये होनेसे, दोनोंकी समान प्रशंसा होनेपर भी मनुष्यको संदेहमें पडनेका कोई कारण नहीं है। क्यों कि मनुष्यको उचित है कि वह अपनी निज प्रवृत्ति देखे और उस प्रवृत्तिके अनुकूल जो मार्ग हो उसका अनुष्ठान करे और अपनी निज प्रवृत्तिके विरुद्ध मार्ग से न जावे। भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजने चतुर्थ अध्यायमें संन्यासयोग और कर्मयोगकी समानतया प्रशंसा की है, यह सत्य है, परंतु इससे उसके चित्तको भ्रम होनेका कोई प्रयोजन नहीं है। अर्जुनको उचित था कि, वह अपनी निज प्रवृत्ति देखता और उस निज प्रवृत्तिके अनुकूल जो मार्ग है उसपर चलता। परंतु अर्जुन प्रारंभमेंहि युद्धरूप स्वभावोचित कर्म छोडनेको अर्थात् अपना कर्म छोडनेको प्रवृत्त हुआ था, और भिक्षावृत्तिसे रहनेके लिये उत्सुक हुआ था। भैक्ष्यचर्यसे अकिंचन संन्यासवृत्तिसे रहना उसका प्रवृत्तिधर्म नहीं था, युद्धरूप कर्ममार्गका अवलंबन करके, शत्रूपर विजय प्राप्त करके, राजा बनना उसके प्रवृत्तिके अनुकूल था। परंतु अर्जुन स्वाभाविक प्रवृत्तिका कर्म त्याग रहा था और बलात्कारसे भिन्न प्रवृत्तिका शमदमादि संन्यासधर्मका आश्रय करनेमें दत्तचित्त था। इसी लिये अर्जुन से श्रीकृष्ण महाराजने आगे कहा है कि—

प्रवृत्तिकी प्रबलता।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०
गी० १८

"यदि अहंकार वश होकर 'मैं नहीं लडूंगा' ऐसा तू निश्चय करेगा, तो यह तेरा निश्चय व्यर्थ होगा, क्योंकि तेरा स्वभावही तुझे उस ओर घसीट ले जायगा। अपने स्वभावानुकूल स्वकर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता, उसे तूहि विवश होकर करेगा।" यह अन्तमें उपदेश इस लिये किया कि अर्जुन अपनी प्रवृत्तिके विरुद्ध चल रहा था। बलात्कारसे वैसे प्रकृतिधर्मका विरोध करना अन्तमें लाभदायक नहीं होता है। यदि मनुष्य अपनी प्रवृत्तिको जानकर अपनी प्रवृत्तिके अनुकूल कर्म करेगा, तो उसको कभी अयश नहीं प्राप्त होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें आगे सत्त्व रज तम आदि गुणोंका विचार करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रकृतिका स्वभावगुण धर्म जाननेका आदेश दिया है। यदि मनुष्य सत्त्व प्रकृतिवाला हो तो सात्त्विक ज्ञानमार्गसे जानेका निश्चय करे और यदि रजोगुणी प्रकृतिवाला हो तो कर्ममार्गमें प्रवृत्त होवे। सोलहवें अध्यायमें दैवी गुणोंवाले और आसुर गुणोंवाले लोगोंकी प्रवृत्ति कैसी भिन्न होती है इसका वर्णन है। इसका विचार करके मनुष्य अपनी कौनसी प्रवृत्ति है इसका निश्चय कर सकता है। इसीतरह सतरहवें और अठारहवें अध्यायमें सत्त्व रज और तम प्रवृत्तिवाले लोगोंका वर्णन है, इसका विचार करके मनुष्य जान सकता है कि अपनी प्रवृत्ति कौनसी है। इन अध्यायोंमें जो विचार किया है वह मनुष्यको आत्मपरीक्षा करनेके लिये साधक हो सकता है। इसके मनन

CC0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

से मनुष्य अपनी परीक्षा करके निश्चय करे कि निज प्रवृत्ति सात्त्विक है वा राजस है अथवा तामस है? इसी तरह अपनी ज्ञाननिष्ठा है वा कर्मनिष्ठा है? इस प्रवृत्तिको जानकर उस प्रवृत्ति के अनुकूल जो कर्तव्य हो वह करनेमें प्रवृत्त हो। अर्जुनने इस अपनी स्वभावप्रवृत्तिका विचार नहीं किया और एकदम विकारवश होकर स्वभावोचित युद्धकर्मका त्याग कर बलात्कारसे ध्याननिष्ठ संन्यास लेकर भिक्षावृत्तिका आश्रय करनेमें प्रवृत्त हुआ। इसीलिये उसने यही समझा कि भगवान् श्रीकृष्णजीने जो संन्यास और कर्म इन दोनों मार्गोंकी प्रशंसा की, वह अपने लियेहि है, ये दोनों मार्ग मेरे लियेहि कहे गये हैं, ऐसा समझकर भ्रममें पडा और प्रश्न करने लगा कि इन दोनों मार्गोंमेंसे कोनसा मार्ग अपने लिये अधिक श्रेयस्कर है? यदि अर्जुन अपनी प्रवृत्ति को जान लेता, तो यह प्रश्नहि उसके मनमें न उठता, क्यों कि उसकी निसर्गप्रवृत्ति शमदमादि साधन की ओर झुकनेवाली नहीं थी, भोगप्रधान प्रवृत्ति थी। इस तरह अर्जुनके मनमें अहंकार की प्रधानता होनेके कारण उसने अपना सहजप्राप्त कर्तव्य छोड दिया और दूसरा भिक्षुधर्म स्वीकारना चाहा, अतः उसके मनमें सन्देह हुआ और उसने शंका की, जिसका उत्तर भगवान् दे रहे हैं। वे कहते हैं कि "संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग ये दोनों निःसन्देह कल्याण करनेवाले हैं।" यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या ये दोनों मार्ग प्रत्येक मनुष्यका हित करनेवाले हैं? अथवा प्रत्येक मार्ग भिन्नभिन्न प्रवृत्तिवालोंकाहि हित करनेवाला है?

पूर्वापरसंबंधका विचार करनेसे यह बात स्पष्ट है कि संन्यासमार्ग ज्ञाननिष्ठावालोंके लिये कल्याणकारी है और योगमार्ग कर्मनिष्ठावालोंके लिये हितकारी है। इसी उद्देश्यसे "संन्यास और कर्मयोग ये दोनों मार्ग मनुष्योंका कल्याण करनेवाले हैं" ऐसा सामान्यतया उपदेश यहां कहा है। इसमें किन लोगोंका कल्याण ये दो मार्ग करते हैं यह बात गुप्त है। इसके आगे भी ऐसा ही कहा है कि—

कर्मयोगकी विशेषता।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
(गी० ५।२)

"इन दोनोंमेंभी संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष श्रेयस्कर है।" परंतु यह कर्मयोग जो श्रेयस्कर है वह सब लोगोंको श्रेयस्कर है अथवा किसी विशेष प्रकारके मनुष्योंको श्रेयस्कर है इसका विचार करना चाहिये। जनतामें दो प्रकारके मनुष्य होते हैं (गी० ३।३) एक प्रकारके पुरुषोंको कर्मनिष्ठ कहते हैं और दूसरे प्रकारके पुरुषोंको ज्ञाननिष्ठ कहा जाता है। जगत् में सब मनुष्य एकही वृत्तिके नहीं होते और उक्त दो निष्ठाओंसे तीसरी निष्ठाभी जगत् में नहीं है। एक वार यह निश्चित होनेसे संन्यासयोग और कर्मयोग किन मनुष्योंके लिये हितकारी है, यह बात स्वयं स्पष्ट होजाती है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि संन्यासमार्ग ज्ञाननिष्ठावालोंके लिये हितकारी है और कर्मयोग शेष सब लोगोंके लिये लाभकारी है। जगत् में ज्ञानी लोग बहुतही थोडे होते हैं, अतः कर्मयोग सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये लाभकारी है, यही इसकी विशेषता है।

जो मनुष्य अत्यंत विरक्त होते हैं, भोगवासनाओंसे स्वभावतः दूर रहते हैं, वैराग्य जिनका स्वभावधर्म बना है, जो मुक्त होनेकी एक मात्र कामना धारण करते हैं अथवा जगत् के व्यवहार छोडकर जो केवल ज्ञानप्राप्तिके लियेहि अपना जीवन लगानेको सिद्ध हैं, वे संन्यासमार्गसे जाकर अपना जीवन सफल कर सकते हैं। इनके लिये ही संन्यासमार्ग श्रेयस्कर है।

नामसंन्यासी।

नहीं तो जो आजकलके वेषधारी नाममात्र संन्यासी हैं, जिन्होंने आजीविकाके लिये संन्यास

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

ग्रहण किया है, संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् भी विविध भोगप्राप्तिके साधनोंमें जो फंसते रहते हैं, जिसका चित्त ब्रह्मप्राप्तिकी अपेक्षा भोगप्राप्तिमें अधिक लगा होता है, जिनको मनके अन्दर संन्यास ग्रहण करनेके कारण पश्चात्ताप होता है, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। ये वस्तुतः कर्मयोगके अधिकारी हैं। कर्म करके चित्तकी शुद्धता करनेसे इनकी उन्नतिका मार्ग सुकर होता है। ऐसे लोगोंका उद्धार कर्मयोग द्वारा होता है।

पूर्वोक्त संन्यासमार्गके अधिकारी जगत् में थोडे होते हैं। उनको छोडकर शेष सब लोग कर्मयोगसे अपनी उन्नतिका साधन कर सकते हैं, अर्थात् इस कर्मयोगके अधिकारी इस जगत् में अधिक हैं। हरएक मनुष्य कर्ममार्गसे अपना कल्याण कर सकता है, यही (कर्मयोगो विशिष्यते।५।२) कर्मयोगकी विशेषता है। मानो इस तरह सभी लोग कर्मयोगके अधिकारी हैं। यह कर्मयोग सब लोगोंका कल्याण करनेवाला है। जैसे अधिकार न रहते हुए लिये हुए संन्यास से संन्यास लेनेवाले की गिरावट होती है, वैसी गिरावट कर्मयोगसे किसीकी भी नहीं हो सकती। क्यों कि सभी लोग इसके अधिकारी हैं। ज्ञाननिष्ठावाले लोग भी यदि कर्म करेंगे तो वे गिरेंगे नहीं, परंतु कर्मनिष्ठावाले संन्यास लेंगे तो उनका अधःपात हो सकता है, क्यों कि उनसे संन्यास निभ नहीं सकता। यह कर्मयोगकी विशेषता है।

संन्यासका मुख्य लक्षण भोगेच्छाकी पूर्ण निवृत्ति है। अतः जिसमें भोगेच्छा है उससे संन्यास कदापि नहीं हो सकता। संन्यासधर्मकी यही कठिनता है, क्योंकि प्रायः मनुष्य भोगेच्छायुक्त होते हैं। अब ऐसे भोगेच्छावाले मनुष्य अपनी उन्नति किस तरह साध्य करें? उत्तरमें गीताने कहा है कि वे कर्मयोगसे अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसमें भोगेच्छाका पूर्ण त्याग करना आवश्यक नहीं है, थोडा भोग और थोडा त्याग ऐसा मेलमिलापसे साधन करते हुए, इसमें उन्नति प्राप्त करना होता है। इसलिये प्रत्येक प्रवृत्तिका मनुष्य इस कर्मयोगसे उन्नति प्राप्त कर सकता है। यह दर्शानेके लिये संन्यास के मुख्य लक्षण कहे हैं—

संन्यासीके लक्षण।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते॥

'नित्य संन्यासी' के लक्षण ये हैं— (५-३)

(१) यः न द्वेष्टि= जो किसीका द्वेष नहीं करता, किसीका शत्रुत्व नहीं करता,

(२) यः न कांक्षति= जो किसीकी इच्छा नहीं करता, जो किसी भोगकी प्राप्तिकी वासना नहीं धरण करता, जो भोगोंके विषयमें निरिच्छ है,

(३) यः निर्द्वन्द्वः= जो सुखदुःख, हानिलाभ, रागद्वेष, शत्रुमित्र, उच्चनीच आदि द्वन्द्वभावसे दूर रहता है, सुख हो अथवा दुःख हो दोनों अवस्थाओंमें जिसका मन सम रहता है,

(४) यः नित्यसंन्यासी-जो पूर्वोक्त संन्यासीके लक्षणोंसे सदा युक्त रहता है, अर्थात् थोडी-देर भोगी और थोडी देर त्यागी नहीं रहता, परंतु सदा सहजतया रागद्वेषरहित रहता है,

वही सुख प्राप्त करके बन्धनसे मुक्त होता है। यहां चार लक्षण संन्यासी के कहे हैं, (१) द्वेष न करना, (२) भोगेच्छा का न होना, (३) द्वन्द्वभावसे दूर होना और (४) इन तीनों गुणोंका सतत होना, ये चार लक्षण जहां होंगे, वह संन्यासमार्गका अधिकारी है। इसमें चतुर्थ लक्षण विशेष महत्त्वका है। कई मनुष्य थोडी देर तक किसीका द्वेष करना छोड देंगे, किसी भोगकी कामना भी नहीं करेंगे, कदाचित् शत्रुमित्र भावादि द्वन्द्वोंसे भी दूर रहेंगे, परंतु यह सब थोडी देर के लिये उनसे नाट्य होगा। इस तरह जो लोग

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

थोडी देर तक उक्त लक्षण धारण करनेका नाट्य करेंगे, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। परंतु जिनमें उक्त तीनों लक्षण 'नित्य' रहते हैं, स्वभावसे सहज वृत्तिसे और विना आयास रहते हैं वे संन्यासी हैं।

जिनमें द्वेष करनेकी प्रवृत्ति नहीं, जो स्वभाव से सन्तुष्ट हैं, अतः भोगवासना जिनमें उठती नहीं, जो अनुकूल या विपरीत अवस्थामें सम वृत्तिसे रहते हैं, और ये तीनों वृत्तियां जिनमें सदा रहती हैं, वेही सच्चा संन्यासी हैं। और येही संन्यासमार्गसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

संन्यास का अनधिकारी।

पूर्वस्थानमें संन्यासयोगका अधिकारी कौन है इसके लक्षण कहे। अब उक्त विचारसे हि संन्यासका कौन अधिकारी नहीं है, इसका विचार हो सकता है। संन्यास लेनेका जिनको अधिकार नहीं है उनमें निम्न लिखित लक्षण होंगे—

(१) यः द्वेष्टि = जो द्वेष करते हैं, निन्दा करते हैं, शत्रुत्व करते हैं, जो झगडालू हैं,

(२) यः कांक्षति= जो वासना धारण करते हैं, मुझे सुख चाहिये ऐसा मान कर जो वासना के पीछे दौडते हैं,

(३) यः द्वन्द्वयुक्तः= जो सुखदुःखादि द्वन्द्वों में फंसे होते हैं, जो सुखसे हर्षित और दुःखसे उदासीन होकर कर्तव्य छोडते हैं।

(४) यः अल्पसमयसंन्यासी= जो थोडी देर तक तो संन्यासभावको स्वीकारना चाहता है, और थोडी देर के पश्चात् पुनः भोगोंमें लिपट जाता है।

इस तरहके लक्षणोंसे जो लोग युक्त होंगे, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। उनको उचित है कि, वे कर्मयोगसे अपने चित्तकी शुद्धि करें, और क्रमशः उच्च भूमिका को प्राप्त करते जांय। ये लक्षण यद्यपि श्रेष्ठ संन्यासीके हैं तथापि कर्मयोगीभी इन लक्षणोंको अपने अन्दर क्रमशः बढा सकता है और कर्मयोग करते हुए भी संन्यासी होनेका फल प्राप्त कर सकता है। इसीलिये येही लक्षण पूर्वस्थानमें कर्मयोगीके वर्णनमें आगये हैं, देखिये—

कर्मयोगीके लक्षण	संन्यासीके लक्षण
निर्द्वन्द्वः (२।४५)	निर्द्वंद्वः (५।३)
शुभाशुभ परित्यागी (१२।१७)	,,
सिद्धयसिद्धयोः समः (२।४८)	,,
... ...	... ...
न द्वेष्टि (१२।१७)	न द्वेष्टि (५।३)
वीतक्रोधः (२।५६)	... ...
न कांक्षति (१२।१७)	न कांक्षति (५।४)
संगं त्यक्त्वा (२।४८)	,,
फलं त्यक्त्वा (२।५१)	,,
कामं जहि (३।४३)	,,

इस तरह कर्मयोगी अपने कर्ममार्गपर चलता है, और शनैः शनैः उन उच्च गुणोंको प्राप्त करता है, जो गुण ज्ञानमार्गीको प्राप्त होते हैं और इस तरह कर्मयोगीभी उसी स्थानपर पहुंच जाता है, जहां ज्ञानमार्गी पहुंच जाता है। कर्मयोगी यद्यपि भोगप्राप्तिके उद्देश्यसे प्रारंभमें कर्म करता है, तथापि उसको शनैः शनैः त्याग करनाहि पडता है, और जितना उसका स्थान उच्च होता है उतना उसको अधिक त्याग करना अत्यंत आवश्यक होता है। अर्थात् शनैः शनैः उसमें त्यागभाव बढता है और भोगभाव कम होता है, इसी तरह जिस प्रमाणसे उसमें त्यागकी मात्रा बढती है, उसी प्रमाणसे उसमें द्वेषकी मात्रा भी न्यून होती जाती है। ऐसहि उत्तम कर्मयोगी होनेके लिये उसको 'सम' बुद्धि धारण करनी पडती है, यहां उसको निर्द्वन्द्व होनेका पाठ मिलता है। इस रीतिसे उस कर्मयोगीमें कर्मयोग आचरण करते करते संन्यासीके लक्षण विकसित होने लगते हैं, मानो इस प्रकार उन्नत होनेपर कर्मयोगी और संन्यासयोगी एकहि अवस्थामें हैं ऐसा दिखाई देता है। इसीलिये कहा है कि—

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

(३) संन्यासके लिये योगकी आवश्यकता।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो! अयोगतः संन्यासः तु दुःखं आप्तुं, योगयुक्तः मुनिः नचिरेण ब्रह्म अधिगच्छति॥६॥

हे महाबाहो अर्जुन! कर्मयोगके विना संन्यास दुःखसे साध्य होनेवाला है, परंतु कर्मयोग करनेवाला मुनि शीघ्रही ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ- कर्मके विना ज्ञानयोग सिद्ध होना अत्यंत कठिण है अर्थात् सिद्ध होना प्रायः अशक्य है। परंतु पुरुषार्थरूप कर्मयोग करता हुआ मनुष्य क्रमपूर्वक उन्नत होकर अन्तमें निश्चयसे ब्रह्म प्राप्त करता है, उच्चसे उच्च पदको प्राप्त करता है, मुक्त होता है अर्थात् बन्धनसे छूट जाता है ॥६॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥५।४
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यःपश्यति स पश्यति।५।५

"मूर्ख लोग मानते हैं कि सांख्यमार्ग भिन्न है व योगमार्ग भिन्न है, परंतु ज्ञानी लोग जानते हैं कि दोनों का फल एक ही है। क्यों कि इनमें से किसी एक मार्गका अच्छी प्रकार आक्रमण किया जाय, तो दोनोंका फल प्राप्त होता है। जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होता है, वही योग-मार्गियों को भी प्राप्त होता है, अतः फलकी दृष्टि-से दोनों मार्ग एकही हैं, ऐसा जो जानता है वही सच्चा ज्ञानी है।"

यहां स्पष्ट रीतिसे कहा है कि सांख्य और योग, किंवा ज्ञान और कर्म, अथवा संन्यास और कर्मयोग एक ही अन्तिम फल देनेवाने हैं। जो फल एकसे प्राप्त होता है, वही दूसरेसे मिलता है। दोनों मार्गोंसे एकहि अन्तिम साध्य सिद्ध होता है। यदि ऐसा है, तो दोनोंकी समानतया प्रशंसा करनेमें कोई हानि नहीं है, क्यों कि प्रशंसा सुननेसे मनुष्य उन मार्गोंसे जांयगे और अन्तिम सिद्धि दोनों मार्गोंसे जानेवालोंको समानतया प्राप्त होगी। इसलिये मनुष्य इस मार्गसे गये अथवा उससे गये, तो, उसमें कोई हानिकी संभावना नहीं है। मनुष्य चलनेके समय विचार करे कि, अपने लिये सुगम कौनसा मार्ग है? अपनी स्वभावतः कर्मनिष्ठा है या ज्ञाननिष्ठा है। अपनी स्वभावतः जो निष्ठा होगी, उसके अनुकूल अपने योग्य मार्ग द्वारा आगे बढनेसे मार्गक्रमण विना कष्ट हो जाता है, अन्यथा थोडे कष्ट होंगे। जो विचार करना चाहिये केवल इस ही बात का विचार सबसे प्रथम करना चाहिये।

'दोनों मार्ग फलकी दृष्टिसे समान हैं' ऐसा भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजका भाषण श्रवण करके अर्जुन को बडी प्रसन्नता होगई, और वह मनही मनमें मानने लगा कि, "जो मैंने स्वयं भैक्ष्यचर्य स्वीकारने द्वारा भिक्षु या संन्यासी होकर तपस्वी होनेका मार्ग आक्रमण करनेका निश्चय किया है, वह भी निःसंदेह उन्नति करने-वाला है, अतः अब युद्ध न करते हुए उसी संन्यास-मार्गपर चलना मेरे लिये अच्छा है।" इस तरह अर्जुनके मनमें संन्यासी बननेके विचार चलहि रहे थे इतनेमें उसके भावोंको उसके मुखविभाव-से जानकर कुशल वक्ता तत्त्वज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं—

(३) पूर्वस्थानमें ज्ञानयोग और कर्मयोग का फल एकहि है, किंवा फल प्राप्त होनेकी दृष्टिसे ये दोनों मार्ग एकही हैं, ऐसा कहा। इस कथनसे

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

THE

Vedic Magazine

is the most powerful English journal of publicity which aims at revival of Aryan culture and the repropagation of the religion of the Vedas. The journal circulates among the whole of English speaking population throughout India and abroad.

The journal was started in 1885 and has a record of religious service for over 40 years.

SUBSCRIPTION
Rs. 5 in India
Rs. 6 abroad

Advertisement Rates–
Rs. 5 full page per insertion.
Rs. 50 " " per annum.
Manager,

The VEDIC MAGAZINE,
GURUKULA KANGRI (Saharanpur)

गीता–समीक्षा

ले० प० अनंत शंकर कोल्हटकर बी० ए०

पृ० ३६ चित्र १ मूल्य =) ॥ की टिकर भेजकर मंगवाइये। इस पुस्तकमें लेखकने संसारको गागरमें भर दिया है। गीताका अतरंग तथा बहिरंग संबंधी कुछ मार्केकी बातें इसे पढनेपर आपको मालूम होंगी। पढकर देखिये।

स्वाध्याय-मंडल, औंध (सातारा) से प्राप्य।

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में। प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखनेलायक है। नमूनेका अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

"वैदिक धर्म" R. N. B. 1463

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	१)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाई	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आने	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढेतीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७"१०७]	११	१०७६	६)	१)

कुल मूल्य. ५८।) कुल डा. व्य.१०।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि०सातारा.)

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

151425
ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

CCO, Gurukul Kangri Collection, Haridwar, Digitized by eGangotri